॥ श्री ॥

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

बालकाण्ड—१

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० ओ० ए० एल०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press,

Allahabad.

अनुवादक की सूचना

छोटे छोटी पुस्तकों में भी जब भूमिका देना, प्रचलित प्रथा के अनुसार अनिवार्य समझा जाता है ; तब इतने बड़े ग्रन्थ के आरम्भ में भी भूमिका का होना परमावश्यक है। किन्तु भूमिका या तो स्वयं ग्रन्थकार की लिखी होनी चाहिये अथवा ग्रन्थकार से घनिष्ट परिचय रखने वाले उसके किसी आत्मीय, सम्बन्धी अथवा मित्र की लिखी हुई। ये दोनों प्रथाएँ आज ही प्रचलित हुई हैं, यह कहना उचित न होगा। इस देश में ये दोनों ही प्रथाएँ प्राचीनकाल से प्रचलित जान पड़ती हैं। इस इतिहास-ग्रन्थ-रत्न श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में भी भूमिका है और यह भूमिका स्वयं आदिकवि की लिखी हुई नहीं, प्रत्युत उनके किसी शिष्य प्रशिष्य की लिखी हुई है। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग को छोड़, दूसरे से ले कर चौथे सर्ग तक—तीन सर्ग आदिकाव्य के भूमिकात्मक हैं। इसको रामायण के टीकाकारों में श्रेष्ठ, आचार्यप्रवर गोविन्दराज जी ने भी स्वीकार किया है।

"सर्गत्रयमिदं केनचिद्वाल्मीकिशिष्येण रामायण निर्वृत्त्यनन्तरं निर्माय वैभव प्रकटनाय संगमितं। यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ तथैव तत्र विज्ञानेश्वरेण व्याकृतं।"

उक्त तीन सर्गों में यत्र तत्र इस अनुमान की पुष्टि करने वाले प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यथा चतुर्थ सर्ग का प्रथम श्लोक है:—

"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्॥"

इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि जी के लिये "भगवान्" और "आत्मवान्" जो दो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे आदि काव्यरचयिता जैसे मार्मिक एवं सर्वज्ञ ग्रन्थरचयिता, शिष्टतावश स्वयं अपने लिये कभी व्यवहार में नहीं ला सकते। फिर इस श्लोक के अर्थ पर ध्यान देने से भी स्पष्ट विदित होता है कि, इस श्लोक का कहने वाला ग्रन्थ रचयिता नहीं, प्रत्युत कोई अन्य ही पुरुष है। अतः ग्रन्थ की भूमिका पढ़ने के लिये उत्सुक जनों को, बाल-काण्ड के दूसरे तीसरे और चौथे सर्ग को पढ़ अपना सन्तोष कर लेना चाहिये। क्योंकि ग्रन्थ की भूमिका में जो आवश्यक बातें होनी चाहिये, वे सब इसमें पायी जाती हैं। यथा, ग्रन्थ की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन, ग्रन्थ में निरूपित विषयों का संक्षिप्त वर्णन, ग्रन्थ-निर्माण का कारण, ग्रन्थनिर्माण का स्थान, ग्रन्थनिर्माण का समय, ग्रन्थ का प्रकाशनकाल और ग्रन्थ पर लोगों की सम्मति। ये सभी बातें उक्त तीन सर्गों में पायी जाती हैं। अतएव इसमें नयी भूमिका जोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

तब हाँ, इस ग्रन्थ के पढ़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, धार्मिक दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से पढ़ने वाले किन सिद्धान्तों पर उपनीत हो सकते हैं, यह बात दिखलाने की आवश्यकता है। प्राचीन टीकाकारों ने इस प्रयोजनीय विषय की उपेक्षा नहीं की। उन महानुभावों ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किये हैं। उन्हींके पथ का अनुसरण कर, इस ग्रन्थ के अनुवादक ने भी यथास्थान अपने स्वतंत्र विचारों को व्यक्त करने में अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं की। किन्तु स्थान स्थान पर जो विचार प्रकट किये गये हैं, वे सूत्ररूप से होने के कारण उनको विशद रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता का अनुभव कर, अनुवादक का विचार, ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में, अपने विचारों को

विषयानुक्रम से विस्तार पूर्वक लिपिवद्ध करने का है। अतएव ... ग्रन्थ के पाठकों को परिशिष्ट भाग छपने तक धैर्य धारण करने अनुवादक की ओर से साग्रह अनुरोध है।

अनुवादक को अनुवाद के विषय में विशेष कुछ भी व नहीं है। जो कुछ भला बुरा अनुवाद वह कर सकता है, वह प्रका शक महोदय की सहायता से सर्वसाधारण के सन्मुख उ किया जाता है। हिन्दू जाति की इस शोच्य अधःपतित अवस्था में, इस ग्रन्थरत्न के सुलभ मूल्य पर प्रचार करने से हिन्दुओं की प्राचीन सभ्यता, प्राचीन संस्कृति और प्राचीन पद्धतियों क जीर्णोद्धार हो, इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में अनुवाद कर, प्रकाशित करने का अनुवादक और प्रकाशक, दोनों ही का, यह उद्देश्य है।

दारागंज–प्रयाग
कार्तिक शुक्ला १४शी सं० १९८२

अनुवादक

विषयानुक्रमणिका

पहला सर्ग १–२५

नारदजी द्वारा वाल्मीकि जी को रामचरित्र का संक्षिप्त उपदेश।

दूसरा सर्ग २५–३

तमसा नदी के तट पर वाल्मीकि का वहेलिया को शाप देना। रामायण बनाने के लिये ब्रह्मा जी का वाल्मीकि जी को प्रोत्साहित करना।

तीसरा सर्ग ३६–४

समाधि द्वारा ऋषि का सम्पूर्ण रामचरित को "प्रत्यक्ष-मिव" देखना।

चौथा सर्ग ४५–५

आश्रमवासी श्रीरामचन्द्र जी के पुत्र कुश और लव को वाल्मीकि द्वारा रामायण का पढ़ाया जाना और कुश और लव का राजसभा में रामायण गाना।

पाँचवाँ सर्ग ५२–५९

अयोध्या नगरी का विस्तृत वर्णन।

छठवाँ सर्ग ५९–६६

अयोध्या में महाराज दशरथ के शासनकाल का वर्णन।

सातवाँ सर्ग ६६–७१

अमात्यों, पुरोहितों ऋत्विजों के साथ महाराज दशरथ के व्यवहार का वर्णन।

आठवाँ सर्ग ७१–७६

महाराज दशरथ का पुत्रप्राप्ति के लिये यज्ञ करने का विचार करना और कुलपुरोहित वशिष्ठ जी से परामर्श करना।

नवाँ सर्ग ७७–८१

ऋष्यशृङ्ग की कथा और सुमंत्र का उनको बुलवाने की आवश्यकता प्रकट करना।

दसवाँ सर्ग ८१–८८

राजा रोमपाद के यहाँ ऋष्यशृङ्ग के आगमन की कथा। रोमपाद की कन्या शान्ता के साथ ऋष्यशृङ्ग के विवाह की कथा।

ग्यारहवाँ सर्ग ८८–९४

महाराज दशरथ का यज्ञ करवाने के लिये अंगदेश में जाकर ऋष्यशृङ्ग को अयोध्या में लाना।

बारहवाँ सर्ग ९५–९९

ऋष्यशृङ्ग की आज्ञा से महाराज दशरथ का ब्राह्मणों को बुलवा कर सरयू के दक्षिण तट पर यज्ञविधान के लिये मंत्रियों को आज्ञा देना।

तेरहवाँ सर्ग ९९–१०७

यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये देश देशान्तरों के राजाओं तथा ब्राह्मणों का बुलवाया जाना।

चौदहवाँ सर्ग १०७–११९

यज्ञ का वर्णन और ऋष्यशृङ्ग की भविष्यद्वाणी।

पन्द्रहवाँ सर्ग ११९–१२६

दशरथ के यज्ञ में यज्ञभाग लेने को आये हुए देवताओं का ब्रह्मा जी के साथ वार्तालाप।
दशरथ के घर में भगवान विष्णु की मनुष्यरूप में अवतीर्ण होने की घोषणा।

सोलहवाँ सर्ग १२६–१३३

अग्निकुण्ड से अग्निदेव का प्रकट हो कर, महाराज दशरथ को दिव्य पायस (खीर) का देना और उसे विभाजित कर महाराज की रानियों का खाना।

सत्रहवाँ सर्ग १३३–१३९

ब्रह्मा जी की आज्ञा से देवताओं की वानरयोनि में उत्पत्ति।

अठारहवाँ सर्ग १३९–१५१

यज्ञ समाप्त कर दशरथ का रानियों सहित नगर में प्रवेश। यज्ञ समाप्त होने के बारहवें महीने में श्रीरामचन्द्रादि चार पुत्रों का जन्म। पुत्रों का नाम करण विद्याभ्यास। राजकुमारों के विवाह के लिये महाराज का चिन्तित होना। विश्वामित्र जी का आगमन।

उन्नीसवाँ सर्ग १५२–१५६

विश्वामित्र जी का श्रीरामचन्द्रजी को यज्ञरक्षार्थ महाराज से माँगना और महाराज दशरथ का दुःखी होना। विश्वामित्र जी के मुख से श्रीरामचन्द्र जी की महिमा का वर्णन किया जाना।

बीसवाँ सर्ग १५६–१६२

श्रीरामचन्द्र जी बालक हैं, बलवान राक्षसों से लड़ने योग्य नहीं हैं, इस आधार पर महाराज का श्रीरामचन्द्र जी को विश्वामित्र के साथ भेजना अस्वीकार करना।

इक्कीसवाँ सर्ग १६३–१६८

विश्वामित्र का क्रुद्ध होना, वशिष्ठ जी का महाराज को समझाना और यह कह कर कि, विश्वामित्र जी के साथ जाने से श्रीरामचन्द्र जी का बड़ा अभ्युदय होगा, प्रोत्साहित करना।

बाइसवाँ सर्ग १६८–१७३

वशिष्ठ जी के समझाने से महाराज का श्रीरामचन्द्र जी को भेजना। स्वीकार करना। श्रीराम और लक्ष्मण। की विश्वामित्र के साथ यात्रा। विश्वामित्र द्वारा दोनों राजकुमारों को बला और अतिबला नाम्नी दो विद्याविशेष की प्राप्ति।

तेइसवाँ सर्ग १७३–१७८

गङ्गा और सरयू के सङ्गम पर पहुँच कर विश्वामित्र का दोनों राजकुमारों को शिवाश्रम दिखलाना और उस आश्रम का वृत्तान्त सुनाना।

चौबीसवाँ सर्ग १७८–१८५

तीनों का गङ्गा के पार होना। सरयू नदी का वृत्तान्त। ताड़का के वन का वर्णन।

पच्चीसवाँ सर्ग १८६–१९१

ताड़का का पूर्ववृत्तान्त। ताड़का के वध के लिये विश्वामित्र का श्रीरामचन्द्र जी को उत्साहित करना।

छब्बीसवाँ सर्ग १९१–१९९

ताड़कावध और ताड़कावध पर देवताओं का सन्तोष प्रकट करना। विश्वामित्र के साथ दोनों राजकुमारों का रात भर ताड़कावन में वास।

सत्ताइसवाँ सर्ग १९९–२०४

विश्वामित्र का श्रीरामचन्द्र जी को समस्त अस्त्रों का देना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग २०४–२०९

विश्वामित्र का राजकुमारों को अस्त्र चला कर उनको लौटाने की विधि बतलाना। यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों का वर्णन करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी की विश्वामित्र जी से प्रार्थना।

उन्तीसवाँ सर्ग २०९–२१६

सिद्धाश्रम में विश्वामित्र और दोनों राजकुमार। सिद्धाश्रम की कथा।

तीसवाँ सर्ग २१६–२२१

राजकुमारों द्वारा विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा। मानवास्त्र से मारीच को सागर में फेंकना। आग्नेयास्त्र से सुबाहु का और वायव्यास्त्र से अन्य राक्षसों का वध।

इकत्तीसवाँ सर्ग २२२–२२७

जनक के यहाँ यज्ञ और धनुष देखने के लिये आश्रमवासी मुनियों का विश्वामित्र जी से प्रार्थना करना। समस्त मुनियों और दोनों राजकुमारों के साथ कौशिक की जनकपुर-यात्रा। सोन नदी के तट पर सायङ्काल को निवास। वहाँ रात में

उस प्रान्त का वृत्तान्त सुनने की श्रीरामचन्द्र द्वारा इच्छा प्रकट किया जाना।

बत्तीसवाँ सर्ग २२७–२३३

विश्वामित्र जी के वंश का विस्तृत वृत्तान्त वर्णन।

तेतीसवाँ सर्ग २३३–२३९

कुशनाभ की कन्याओं के विवाह का वर्णन।

चौतीसवाँ सर्ग २३९–२४४

गाधि की उत्पत्ति। विश्वामित्र और विश्वामित्र की बहिन की उत्पत्ति का वर्णन।

पैंतीसवाँ सर्ग २४४–२४९

विश्वामित्र जी के मुख से गङ्गा और उमा की कथा का वर्णन।

छत्तीसवाँ सर्ग २५०–२५६

क्रुद्ध उमा का देवताओं को शाप देना।

सैंतीसवाँ सर्ग २५६–२६३

कार्तिकेय की उत्पत्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन।

अड़तीसवाँ सर्ग २६४–२६९

सगर के साठ हज़ार पुत्रों की उत्पत्ति। सगर का यज्ञ।

उनतालीसवाँ सर्ग २६९–२७४

सगर के यज्ञीय पशु का इन्द्र द्वारा हरण। यज्ञीय पशु की खोज में सगर के साठ हज़ार पुत्रों की यात्रा। सगर पुत्रों द्वारा पृथिवी का खोदा जाना। देवताओं का विचलित हो ब्रह्मा जी के पास जा, प्रार्थना करना।

चालीसवाँ सर्ग २७४–२८१

ब्रह्मा जी का घबड़ाए हुए देवताओं को धीरज बंधाना। यज्ञीय पशु के न मिलने के कारण महाराज सगर की आज्ञा से पुनः सगरपुत्रों द्वारा पृथिवी का खोदा जाना। अन्त में कपिल जी का दर्शन और कपिल के हुँकार शब्द से साठ हज़ार सगरपुत्रों का भस्म होना।

इकतालीसवाँ सर्ग २८१–२८

साठ हज़ार पुत्रों की खोज में अंशुमान का जाना। सगर-पुत्रों की भस्म को देख उसका दुःखी होना। यज्ञीय पशु का कपिल आश्रम में अंशुमान द्वारा देखा जाना तथा दग्ध हुए सगरपुत्रों के उद्धारार्थ गङ्गा लाने के लिये गरुड़ जी द्वारा अंशुमान को उपदेश मिलना। यज्ञीय पशु ले जा कर अंशुमान का महाराज को दे कर यज्ञ को पूरा कराना और उनसे अपने पितृव्यों के भस्म होने का वृत्तान्त कहना।

बयालीसवाँ सर्ग २८७–२९

अंशुमान का कुछ दिनों तक राज्य कर के अपने पुत्र दिलीप को राज्य सौंप स्वयं तप करने के लिये हिमालयशृङ्ग पर जाना और वहाँ से स्वर्ग सिधारना। दिलीप का अनेक यज्ञ करना और पुरखों के उद्धार के लिये चिन्तित हो, अपने पुत्र भगीरथ को राज्य सौंप, स्वयं स्वर्ग सिधारना। तदनन्तर भगीरथ का उग्रतप कर वर पाना।

तेतालीसवाँ सर्ग २९२–३०

गङ्गा के वेग को धारण करने के लिये भगीरथ का एक वर्ष तप कर महादेव जी को प्रसन्न करना। गङ्गावतरण। गङ्गा को अपने जटाजूट में शिव जी का लोप कर लेना।

तब भगीरथ का पुनः तप द्वारा शिवजी को प्रसन्न करना। तब शिवजी का गङ्गा को विन्दुसरोवर में छोड़ना। गङ्गा का भगीरथ के पीछे पीछे वह कर उनके पूर्वजों का उद्धार करना।

चौवालीसवाँ सर्ग ३०१–३०६

भगीरथ पर ब्रह्मा जी का अनुग्रह। रसातल में गङ्गाजल से भगीरथ का अपने पितरों का तर्पण करना।

पैंतालीसवाँ सर्ग ३०६–३१६

अगले दिन गङ्गा को पार कर उत्तर तट पर पहुँच कर कौशिकादि का विशालापुरी को देखना। श्रीरामचन्द्र जी के पूंछने पर विश्वामित्र जी का विशालापुरी का इतिहास सुनाना। दिति और अदिति के पुत्रों का वृत्तान्त वर्णन। समुद्रमंथन की कथा। समुद्र से निकले हुए हलाहल को शिवजी का अपने कण्ठ में रखना। धन्वन्तरादि की समुद्र से उत्पत्ति।

छयालीसवाँ सर्ग ३१६–३२१

दिति का दुःखी हो मारीच से इन्द्रहन्ता पुत्र के लिये याचना करना। मारीच का दिति को ईप्सितवर देना। दिति की सेवा करते हुए इन्द्र का दिति के गर्भ में घुस कर गर्भस्थ बालक के वज्र से टुकड़े टुकड़े कर डालना।

सैंतालीसवाँ सर्ग ३२१–३२६

वायु को उत्पत्ति। विशाला की उत्पत्ति का वृत्तान्त। राजा सुमति की इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की नामावली। राजा सुमति और विश्वामित्र का समागम।

अड़तालीसवाँ सर्ग ३२६–३३४

सुमति का दोनों राजकुमारों के सम्बन्ध में विश्वामित्र से प्रश्न और विश्वामित्र का उत्तर। राजा सुमति द्वारा दोनों राजकुमारों का सत्कार। तदनन्तर सब का मिथिला के लिये विशाला से प्रस्थान। मिथिला के निकटस्थ एक आश्रम के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का विश्वामित्र से प्रश्न। उस आश्रम में पूर्वकाल में वसने वाले गौतम की कथा। अहल्या और कपट रूपधारी इन्द्र का समागम। गौतम का इन्द्र को अपने आश्रम से अहल्या के साथ व्यभिचार करके निकलते हुए देखना। गौतम का अहल्या और इन्द्र को शाप देना। श्रीरामचन्द्र जी के पादस्पर्श से अहल्या के शापोद्धार की बात गौतम द्वारा अहल्या से कहा जाना।

उनचासवाँ सर्ग ३३५–३४०

गौतम के शाप से इन्द्र के अण्डकोशों का गिर पड़ना। अग्नि आदि देवताओं की प्रार्थना से पितृ देवताओं से इन्द्र को मेष के अण्डकोशों की प्राप्ति। विश्वामित्र के प्रोत्साहन प्रदान से श्रीरामचन्द्र जी का गौतम के आश्रम में जाना। शाप से छूट कर अहल्या का श्रीरामचन्द्र जी का सत्कार करना और गौतम तथा अहल्या का मिल कर श्रीरामचन्द्र जी का पूजन करना।

पचासवाँ सर्ग ३४०–३४

श्रीरामचन्द्र जी सहित विश्वामित्र का जनक महाराज की यज्ञशाला में जाना और वहाँ ठहरना। जनक द्वारा विश्वामित्रजी का आतिथ्य। दोनों राजकुमारों का परिचय

पाने के लिये राजा जनक का विश्वामित्र से प्रश्न। विश्वामित्र जी का उत्तर।

इक्यावनवाँ सर्ग ३४७–३५३

विश्वामित्र के मुख से अपनी माता का शाप छूट जाने का वृत्तान्त सुन शतानन्द का प्रसन्न होना। शतानन्द कृत श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति। शतानन्द द्वारा कौशिक वंश का वृत्तान्त कहा जाना। गाधिनन्दन राजा विश्वामित्र का ससैन्य वशिष्ठाश्रम में प्रवेश।

बावनवाँ सर्ग ३५४–३५९

कौशिक और वशिष्ठ का परस्पर कुशल प्रश्न। कौशिक आतिथ्य करने के लिये, वशिष्ठ जी का शवला को सामग्री का प्रस्तुत करने के लिये प्रेरणा करना।

त्रेपनवाँ सर्ग ३५९–३६५

वशिष्ठ जी द्वारा शवला की सहायता से विश्वामित्र का अपूर्व सत्कार। कौशिक का वाशिष्ठ जी से शवला को माँगना। वशिष्ठ जी का शवला देना अस्वीकृत करना।

चौअनवाँ सर्ग ३६५–३७०

कौशिक का वरजोरी शवला को बाँध कर पकड़ ले जाना। शवला का बंधन छुड़ा कर वशिष्ठ जी के पास आना और दुःख प्रकट करना। वशिष्ठ जी का शवला को धीरज बँधाना। विश्वामित्र का सामना करने के लिये शवला का म्लेच्छ यवनादि का उत्पन्न करना।

पचपनवाँ सर्ग ३७१–३७७

वशिष्ठ और विश्वामित्र का युद्ध। विश्वामित्र का पराजय। विश्वामित्र का अपने पुत्र को राज्य सौंप कर तप करने को

हिमालय पर जाना। वरदान में महादेव जी से समस्त अस्त्रों को प्राप्त कर, विश्वामित्र का पुनः वशिष्ठाश्रम पर आक्रमण करना और आश्रम को उजाड़ना।

छप्पनवाँ सर्ग ३७७–३८२

वशिष्ठ जी का अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र के चलाये समस्त अस्त्रों को निष्फल कर देना। विश्वामित्र के चलाये ब्रह्मास्त्र तक को अपने ब्रह्मदण्ड से वशिष्ठ जी का निष्फल कर डालना। तब ब्रह्मबल को सर्वोत्कृष्ट जान विश्वामित्र का ब्रह्मबल सम्पादन करने की प्रतिज्ञा करना।

सत्तावनवाँ सर्ग ३८२–३८७

रानी को साथ ले विश्वामित्र का महर्षिपद प्राप्त करने के लिये दक्षिण दिशा में जा घोर तप करना। वहाँ उनको अपनी रानी से हविःष्यन्दादि पुत्रों की प्राप्ति और एक हज़ार वर्ष तप करने के बाद ब्रह्मा जी का प्रकट हो।कर उनको "राजर्षि" की पदवी प्रदान करना। इसी बीच में राजा त्रिशङ्कु का सदेह स्वर्ग जाने के लिये वशिष्ठ जी से यज्ञ कराने की प्रार्थना करना। उनके निषेध करने पर त्रिशङ्कु का वशिष्ठ जी के पुत्रों के पास जाना।

अट्ठावनवाँ सर्ग ३८८–३९३

गुरु-आज्ञा-उल्लङ्घन-कारी राजा त्रिशङ्कु को वशिष्ठपुत्रों द्वारा चण्डालत्व को प्राप्त होने का शाप। तब त्रिशङ्कु का विश्वामित्र के निकट गमन और उनसे अपना अभीष्ट निवेदन।

उनसठवाँ सर्ग ३९४–३९८

विश्वामित्र का त्रिशङ्कु को सदेह स्वर्ग भेजने की प्रतिज्ञा करना। त्रिशङ्कु को यज्ञ करवाने के लिये अपने शिष्य

भेज कर विश्वामित्र का अन्य ऋषियों को बुलवाना। वशिष्ठपुत्रों का तथा महोदय नामक ऋषि का बुलाने पर न आना। अतः विश्वामित्र का उनको शाप देना।

साठवाँ सर्ग ३९९–४०६

त्रिशङ्कु के यज्ञ का वर्णन। यज्ञभाग लेने के लिये उस यज्ञ में बुलाने पर भी देवताओं का न आना। इस पर क्रुद्ध हो विश्वामित्र जी का अपने तपोबल से त्रिशङ्कु को सदेह स्वर्ग भेजना। किन्तु इन्द्रादि देवताओं को त्रिशङ्कु का सदेह स्वर्ग में आना भला न लगने पर त्रिशङ्कु का पृथिवी पर गिरना और "बचाइये बचाइये" कह कर चिल्लाना। तब क्रोध में भर विश्वामित्र का नयी सृष्टि रचने में प्रवृत्त होना। तब घबड़ा कर देवताओं का विश्वामित्र जी को मनाना। त्रिशङ्कु सदा आकाश में सुख पूर्वक रहैं, देवताओं के यह स्वीकार कर लेने पर, नयी सृष्टि रचना से विश्वामित्र का निवृत्त होना।

इकसठवाँ सर्ग ४०६–४११

दक्षिण दिशा में तप में विघ्न होने पर विश्वामित्र जी का उस दिशा को छोड़ पश्चिम में पुष्कर में जा कर उग्र तप करना। इस बीच में अम्बरीष राजा का यज्ञ करना। उनके यज्ञपशु का इन्द्र द्वारा चुराया जाना। यज्ञ पूरा करने के लिये पुरोहित का अम्बरीष से किसी यज्ञीय नरपशु को लाने का अनुरोध करना। गौओं के लालच में आ ऋचीक का अपने बिचले पुत्र शुनःशेप को राजा के हाथ बेचना। शुनःशेप को ले राजा अम्बरीष का प्रस्थान करना।

बासठवाँ सर्ग ४११–४१७

राजा अम्बरीष का पुष्कर में आगमन। शुनःशेप का विश्वामित्र के निकट जा प्राण बचाने और अम्बरीष का अधूरा यज्ञ पूर्ण होने के लिये प्रार्थना करना। विश्वामित्र का शुनःशेप के बदले अपने पुत्रों को नरपशु बन कर राजा के साथ जाने की आज्ञा देना। आज्ञा न मानने पर विश्वामित्र का पुत्रों को शाप देना। विश्वामित्र के बतलाये मंत्रों का जप करने से शुनःशेप की यज्ञ में रक्षा और अम्बरीष के यज्ञ की समाप्ति।

तेसठवाँ सर्ग ४१८–४२४

विश्वामित्र का और मेनका का समागम। पीछे पुष्कर-क्षेत्र छोड़ विश्वामित्र का उत्तर दिशा में जा कौशिकी के तट पर रह कर तप करना। किन्तु वहाँ भी अभीष्ट सिद्ध न होना। उनका पुनः घोर तप करना।

चौंसठवाँ सर्ग ४२४–४२९

विश्वामित्र को तप से डिगाने के लिये इन्द्र का रम्भा अप्सरा को विश्वामित्र के पास भेजना। विश्वामित्र का क्रोध में भर रम्भा को शाप देना। क्रोध के कारण तप नष्ट होने पर विश्वामित्र का आगे कभी क्रोध न करने का सङ्कल्प करना।

पैंसठवाँ सर्ग ४२९–४३९

एक हज़ार वर्षों तक निराहार तप करने के पीछे विश्वामित्र का आहार करने को बैठना और उस समय ब्राह्मण का रूप धर इन्द्र का आ कर विश्वामित्र से भोजन माँगना और विश्वामित्र का उनको अपने सामने परोसा सारा अन्न

उठा कर दे देना। तब विश्वामित्र का घोर तप करना। उनके तप से तीनों लोकों के नष्ट हो जाने की शङ्का से ब्रह्मा का विश्वामित्र को ब्रह्मर्षिपद प्रदान करना। वशिष्ठ जी द्वारा विश्वामित्र के ब्रह्मर्षि होने का अनुमोदन। शतानन्द के मुख से विश्वामित्र का वृत्तान्त सुन राजा जनक का हर्षित हो और विश्वामित्र से आज्ञा माँग कर वहाँ से विदा होना।

छियासठवाँ सर्ग ४४०–४४६

विश्वामित्र का राजा जनक को दोनों राजकुमारों का धनुष देखने के लिये वहाँ आना बतलाना। राजा जनक का उस शिवधनुष का पूर्व वृत्तान्त कहना। फिर हल चलाते हुए सीता की प्राप्ति का वृत्तान्त राजा जनक द्वारा कहा जाना। जनक का यह भी कहना कि, दूसरों से न चढ़ाये गये धनुष पर यदि श्रीरामचन्द्र जी रोदा चढ़ा देंगे तो, वीर्य शुल्का सीता उनको विवाह दी जायगी।

सरसठवाँ सर्ग ४४६–४५२

विश्वामित्र जी के कहने पर राजा जनक का शिवधनुष मँगवा कर दिखलाना। श्रीरामचन्द्र जी का अनायास उसे उठा लेना और उस पर रोदा चढ़ा कर खींचना। खींचने में बड़े धड़ाके के साथ धनुष के दो टुकड़े हो जाना। विश्वामित्र जी की अनुमति से बरात सजा कर लाने के लिये, राजा जनक का अपने दूतों को अयोध्या भेजना।

अड़सठवाँ सर्ग ४५२–४५७

मिथिलेश्वर के दूतों से शुभ संवाद सुन महाराज दशरथ का मंत्रियों और पुरोहितों से सलाह कर अगले दिन प्रातः काल जनकपुर के लिये प्रस्थान करना।

उनहत्तरवाँ सर्ग ४५७–४६१

महाराज दशरथ की जनकपुरयात्रा। जनकपुर में दशरथ और जनक की भेंट और दोनों का दोनों को देख हर्ष प्रकट करना।

सत्तरवाँ सर्ग ४६२–४७२

सांकाश्यपुर से राजा जनक का दूत भेज कर अपने भाई कुशध्वज को बुलवाना। राजा जनक श्रीकुशध्वज का पुत्रों तथा पुरोहित वशिष्ठ सहित महाराज दशरथ से समागम। वशिष्ठ जी का दशरथ की वंशावली का निरूपण करना और श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण के विवाह के लिये कन्याओं का माँगना।

इकहत्तरवाँ सर्ग ४७२–४७७

जनक के मुख से अपने वंश का परिचय। श्रीराम और लक्ष्मण को सीता और ऊर्मिला देने की राजा जनक की प्रतिज्ञा।

बहत्तरवाँ सर्ग ४७७–४८३

वशिष्ठ की अनुमति से विश्वामित्र जी का कुशध्वज की लड़कियों को भरत और शत्रुघ्न के लिये माँगना। जनक का देना स्वीकार करना। अगले दिन विवाह करने का निश्चय करने पर महाराज दशरथ का जनवासे में जाना और गोदानादि करना।

तिहत्तरवाँ सर्ग ४८३–४९३

राजा जनक के राजभवन में श्रीरामचन्द्रादि के विवाह होने का वर्णन।

चौहत्तरवाँ सर्ग ४९३–४९९

अगले दिन श्रीरामचन्द्रादिकों का आशीर्वाद दे कर विश्वामित्र का विदा होना। महाराज दशरथ की जनकपुर से विदाई और जनक द्वारा दायजे का दिया जाना। महाराज दशरथ की यात्रा और मार्ग में विघ्न। परशुराम जी का आगमन। परशुराम और श्रीरामचन्द्र का परस्पर वार्तालाप।

पचहत्तरवाँ सर्ग ४९९–५०५

परशुराम की श्रीरामचन्द्रजी से कुछ गर्मागर्मी की बातें। महाराज दशरथ की परशुराम जी से बालकों को अभयदान देने की विनती। परशुराम का शिवधनुष की अपेक्षा वैष्णवधनुष का अधिक प्रभाव बतलाना।

छियत्तरवाँ सर्ग ५०५–५११

श्रीरामचन्द्रजी का वैष्णवधनुष पर बाण रख उसे खींचना और परशुराम को परलोकगति को नष्ट कर देना। तब गर्व त्याग कर परशुराम जी का श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करते हुए महेन्द्र पर्वत पर गमन।

सतत्तरवाँ सर्ग ५१२-५१८

महाराज दशरथ का प्रसन्न हो अयोध्या की ओर पुनः प्रस्थान। महाराज दशरथ के राजधानी में पहुँचने पर नगरनिवासियों का हर्ष प्रकट करना। शत्रुघ्न सहित भरत का ननिहाल जाना। सीता और श्रीराम के पारस्परिक प्रेम की वृद्धि।

इति

ग्रन्थ में व्यवहृत सङ्केताक्षरों की व्याख्या

(गो०) गोविन्दराजीय भूषणटीका ।

(रा०) नागेश भट्ट की रामाभिरामी टीका ।

(शि०) शिवसहायराम की शिरोमणिटीका ।

(वि०) विषमपदविवृतिटीका ।

( ) जो वाक्य ऐसे कोष्ठक के भीतर हैं वे अनुवादक के अपने हैं और कथा की असङ्गति दूर करने के लिये जोड़ दिये गयेहैं ।

[नोट] ऐसे कोष्ठक के भीतर मिहीन अक्षरों में जो " नोट " अर्थात् टिप्पणियां दी गयी हैं, वे अनुवादक के स्वतंत्र विचार हैं ।

(शि० गो०) अनुवाद के जिस श्लोक के अन्त में (शि०) या (गो०) अक्षर दिये गये हैं, वहाँ समझना चाहिये कि वह श्लोक शिरोमणि टीकाकार के मतानुसार अथवा गोविन्दराजीय भूषणटीका के अनुसार अनूदित किया गया है ।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीरामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:*:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चिह्नैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरलङ्कृतैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजातलक्ष्मूलवासिनं
भाएयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुचरितमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ।

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं वभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
सप्रसादनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

यागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

पार्श्वे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१२॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

श्रीरामचन्द्रायनमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

आचार्यं सकलोपदेशिकमथ प्राचार्यपारंपरीम्,
श्रीमल्लक्ष्मणयोगिवर्यमुनिवास्तव्यनाथादिकान् ।
वाल्मीकिं सह नारदेन मुनिना वाग्देवताबल्लभं,
सीतालक्ष्मणवायुसूनुसहितं श्रीरामचन्द्रं भजे ॥ १ ॥

पितामहस्यापि पितामहाय,
प्राचेतसादेशफलप्रदाय ।
श्रीभाष्यकारोत्तमदेशिकाय,
श्रीशैलपूर्णाय नमोनमस्तात् ॥ २ ॥

जन्मोनाथ समारंभाम्,
नाथयामुनि मध्यमां ।
अस्माद्दाचार्य पर्यन्ताम्,
वंदे गुरुपरम्पराम् ॥ ३ ॥

श्रीवत्सचिह्नकुलचारिधिशीतभानुं,
श्रीधीनिवासगुरुवर्यसुतंसुतांसम् ।
गोविन्ददेशिकपदाम्बुजभृङ्गराजम्,
रामानुजार्य गुरुवर्यमहं भजामि ॥ ४ ॥

आमाद्य नगरी दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

[illegible] ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:❀:—

बालकाण्डः

ॐ

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्[1] ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

तपस्या और स्वाध्याय (वेदपाठ) में निरत और बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीनारद मुनि जी से वाल्मीकि जी ने पूँछा ॥ १ ॥

को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥
आत्मवान्को[2] जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥

इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ* (किये हुए उपकार को न भूलने वाले) सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक

---

१ यावद्विवक्षितार्थप्रतिपादनक्षमशब्दप्रयोगविदः तेषां वरम् श्रेष्ठं (गो०)

२ आत्मवान् —धर्मवान् (गो०)

* कई उपकारों की अपेक्षा न कर, एक ही उपकार को बहुत मानने वाले। (रा००) ।

प्रकार के चरित्र करने वाले, प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान्, समर्थ* अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी, ईर्ष्या-शून्य, और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले, कौन हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥

हे महर्षे ! यह जानने का मुझे बड़ा चाव है (उत्कट इच्छा है) और आप ऐसे पुरुष को जानने में समर्थ हैं । अर्थात् ऐसे पुरुष को बतला भी सकते हैं ॥ ५ ॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः ।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

यह सुन, तीनों लोकों का (भूत, भविष्य, और वर्तमान्) वृत्तान्त जानने वाले देवर्षि नारद प्रसन्न हुए और कहने लगे ॥ ६ ॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥

हे मुनि ! आपने जिन गुणों का बखान किया है, वे सब दुर्लभ हैं, किन्तु हम अपनी समझ से ऐसे गुणों से युक्त पुरुष को बतलाते हैं, सुनिये ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा[1] महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्[2]वशी[3] ॥ ८ ॥

---

१ नियतात्मा—नियतस्वभावः (गो०) वशीकृतान्तःकरणः (रा०)

२ धृतिमान्—निरतिशयानन्दः(गो०) ३ वशी—सर्वजगतवशेऽस्यास्तीति वशी, सर्वस्वामीत्यर्थः (गो०)

* लौकिक व्यवहार = प्रजारञ्जनादिक, उसमें कुशल । (रा०)

महाराज इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को जन जानते हैं। वे नियतस्वभाव (मन को वश में रखने वाले बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, सब के स्वामी ॥ ८ ॥

[1]बुद्धिमान्नीतिमान्[2]वाग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिवर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः[3] कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, मधुरभाषी, श्रीमान्, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले, और मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुषधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियाँ (हसुली हड्डियाँ) मांस से ढ़िपी हुई हैं, उनकी दोनों बाँहें घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर है और वे बड़े पराक्रमी हैं ॥९॥१०॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो [4]लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥ ११ ॥

उनके समस्त अङ्ग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े हैं, (जो अंग जितना लंबा या छोटा होना चाहिये वह उतना ही लंबा या छोटा है।) उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है, वे प्रतापी या तेजस्वी हैं। उनकी छाती मांसल है, (अर्थात् हड्डियां नहीं दिखलायी पड़तीं) उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, उनके सब अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥ ११ ॥

---

१ बुद्धिमान्—सर्वज्ञः (गो०) २ नीतिमान्—मर्यादावान् (गो०) ३ महाबाहुः—वृत्तपीवरबाहुः (गो०) ४ लक्ष्मीवान्—अवयवशोभायुक्तः (गो०)

धर्मज्ञः[1] सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्[2] ॥ १२ ॥

वे शरणागत की रक्षा करना, इस अपने धर्म को जानने वाले हैं। प्रतिज्ञा के दृढ़ (वादे के पक्के) अपनी प्रजा (रियाया) के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में कीर्ति प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिये चिन्तावान् अथवा निज तत्व का चिन्तमन करने वाले हैं ॥ १२ ॥

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य[3] च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥

वे ब्रह्मा के समान प्रजा का रक्षण करने वाले, अति शोभावान् सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् वेदद्रोही और धर्मद्रोही उनके शत्रु हैं उनका नाश करने वाले, धर्मप्रवर्तक, स्वधर्म* और ज्ञानी जन के रक्षक हैं। वेद वेदाङ्ग के तत्वों को जानने वाले तथा धनुर्विद्या में अति प्रवीण हैं। ॥ १३ ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः[4] ॥ १५ ॥

---

१ धर्मज्ञः = शरणागतरक्षणरूपं जानातीति धर्मज्ञः (गो०) २ समाधिमान्—समाधिः आश्रितरक्षणचिन्तातद्वान् (गो०) ३ स्वजनः—स्वभूतोजनः स्वजनः, ज्ञानी (गो०) ४ विचक्षणः—लौकिकालौकिक क्रियाकुशलः (गो०)

* अपने धर्म, अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, दण्ड और युद्ध की विशेष रूप से रक्षा करने वाले हैं।

वे सब शास्त्रों के तत्वों को भली भाँति जानने वाले,* अच्छी स्मरण शक्ति वाले, महा प्रतिभाशाली, सर्वप्रिय, परमसाधु, कभी दैन्य प्रदर्शित न करने वाले, अर्थात् बड़े गम्भीर, और लौकिक अलौकिक क्रियाओं में कुशल हैं ॥ १५ ॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार सज्जन जन उन तक सदा पहुँचते हैं अर्थात् क्या अस्त्राभ्यास के समय, क्या भोजन काल में, उन तक अच्छे लोगों को पहुँच सदा रहती है। अच्छे लोगों के लिये उनके पास जाने की मनाई कभी नहीं है। वे परम श्रेष्ठ हैं, वे सबको अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र—पशु पक्षी—जो कोई उनका हो, उसको समान दृष्टि से देखने वाले हैं और सदा प्रियदर्शन हैं ॥ १६ ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥ १७ ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १८ ॥

वे सब गुणों से युक्त कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु की तरह, प्रियदर्शनत्व में चन्द्रमा की तरह, क्रोध में कालाग्नि के समान, और क्षमा करने में पृथिवी के समान हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

* धर्मशास्त्रं पुराणं चमीमांसाऽऽन्वीक्षिकी तथा ।
चत्वार्येतान्युपाङ्गानिशास्त्रज्ञाः संप्रचक्षते ॥

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १९ ॥

वे दान देने में कुवेर के समान अर्थात् जब देते हैं तब अच्छी तरह देते हैं, सत्यभाषण में मानों दूसरे धर्म हैं। ऐसे गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्र जी हैं ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां[1] हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥ २० ॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः ।
तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याऽथ कैकयी ॥ २१ ॥

(ऐसे) श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्यारे तथा प्रजा के हित को चाहने वाले ज्येष्ठ (पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी को, प्रजा की हितकामना के उद्देश्य से, महाराज दशरथ ने प्रीति पूर्वक युवराज पद देना चाहा। श्रीरामाभिषेक की तैयारियां देख, महाराज दशरथ की प्रिय महिषी कैकेयी ने ॥ २० ॥ २१ ॥

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥ २२ ॥

पहिले पाये हुए दो वरदान (महाराज दशरथ से) मांगे। एक वर से श्रीरामचन्द्र जी के लिये देश निकाला और दूसरे से (अपने पुत्र) भरत का राज्याभिषेक ॥ २२ ॥

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥ २३ ॥

---

१ प्रकृतीनां...युक्तं—अनेन सर्वानुकूल्यमुक्तं । (गो०)

धर्मपाश से बद्ध, (अर्थात् अपनी बात के धनी होने के कारण) सत्यवादी महाराज दशरथ ने, प्राणों से भी बढ़ कर अपने प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन की आज्ञा दी ॥ २३ ॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥ २४ ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी, पिता की आज्ञा का पालन करने और कैकेयी का प्रसन्न करने के लिये, पितृआज्ञानुसार वन को गये ॥ २४ ॥

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद्विनयसंपन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ २५ ॥

माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले* स्नेह और विनय से सम्पन्न श्रीलक्ष्मण जी (भ्रातृ-स्नेह-वश)† श्रीरामचन्द्र जी के पीछे हो लिये ॥ २५ ॥

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६ ॥

जनकस्य कुले जाता [1]देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ॥ २७ ॥

---

१ देवमायेवनिर्मिता —अमृतमथनानन्तरमसुरमोहनार्थंनिर्मितावैष्णुमा-येवस्थिता (गो०)

* विनय से सम्पन्न । † सुभ्रातृभाव का प्रदर्शन करते हुए ।

दोनों भाइयों को जाते देख, श्रीराम जी की प्राणों के समान सदा हितैषिणी, राजा जनक की बेटी, साक्षात् लक्ष्मी का अवतार और स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीता जी भी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वैसे ही गयीं, जैसे चन्द्रमा के साथ रोहिणी ॥ २६ ॥ २७ ॥

पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ।
शृङ्गिबेरपूरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत ॥ २८ ॥

इन तीनों के पीछे दूर तक महाराज दशरथ और पुरवासी भी गये। शृङ्गबेरपुर में पहुँच कर गङ्गा जी के किनारे श्रीरामचन्द्र जी ने (रथ सहित अपने) सारथी (सुमंत) को भी लौटा दिया ॥ २८ ॥

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ।
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ॥ २९ ॥
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ३० ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी निषादों (मल्लाहों) के मुखिया अपने प्यारे गुहु से मिले। श्रीरामचन्द्र जी, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीसीता जी और गुहु बहुत जलवाली अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों को पार कर, अनेक वनों में घूमें फिरे और भरद्वाज मुनि के बतलाये हुए चित्रकूट में पहुँचे ॥ २९ ॥ ३० ॥

रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ।
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम् ॥ ३१ ॥

उस रम्य स्थान में तीनों (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और सीता) रम गये अर्थात् बस गये। देवता और गन्धर्वों की तरह वहाँ ये तीनों सुख पूर्वक रहने लगे ॥ ३१ ॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम् ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चित्रकूट में पहुँच जाने बाद (उधर) अयोध्या में पुत्र-वियोग से विकल महाराज दशरथ हा राम ! हा राम कह कर विलाप करते हुए स्वर्ग सिधारे ॥ ३२ ॥

मृते तु तस्मिन्भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः ॥ ३३ ॥

महाराज के (इस प्रकार) स्वर्गवासी होने पर वशिष्ठादि प्रमुख द्विजवर्यों ने श्रीभरत जी के राजतिलक करना चाहा, किन्तु भरत जी ने यह स्वीकार न किया ॥ ३३ ॥

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः[1] ।
गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३४ ॥

और वे पूज्य श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न कर मनाने वन को गये । सत्यपराक्रमी महात्मा श्री रामचन्द्र जी के पास पहुँच कर ॥ ३४ ॥

अयाचद्[2]भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ।
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ॥ ३५ ॥

---

१ रामपादप्रसादकः पूज्यं रामं प्रसादयितुमित्यर्थः (गो०) २ अयाचत्—प्रार्थयामास (गो०)

उन्होंने अत्यन्त विनय भाव से प्रार्थना की हे राम ! आप धर्मज्ञ हैं (अर्थात् यह धर्म शास्त्र की आज्ञा है कि वड़े भाई के सामने छोटा भाई राज्य नहीं पा सकता) अतः आपही राजा होने योग्य हैं ॥ २५ ॥

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः[1] सुमहायशाः[2] ।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महावलः ॥ २६ ॥

किन्तु श्रीराम जी के अति उदार अत्यन्त प्रसन्नवदन और अति यशस्वी होने पर भी, उन महावली श्रीराम जी ने पिता के आदेशानुकूल राज्य करना स्वीकार नहीं किया ॥ २६ ॥

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ॥ २७ ॥

राज्य का कार्य चलाने के लिये अपनी (प्रतिनिधि रूपी) खड़ाऊ भरत को दीं और अनेक वार उनको समझा कर लौटाया ॥ २७ ॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ॥ २८ ॥

भरत जी श्रीराम जी द्वारा अपने मनोरथ को इस प्रकार प्राप्त कर, उनके चरणों को स्पर्श कर तथा श्रीरामचन्द्र जी के लौटने की प्रतीक्षा करते हुए, नन्दिग्राम में रह कर, राज्य करने लगे ॥ २८ ॥

गते तु भरते श्रीमान्सत्यसंधो जितेन्द्रियः[3] ।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ॥ २९ ॥

---

१ सुमुखः—अर्थिजनलाभेनप्रसन्नमुखः (गो०) २ सुमहायशाः "नह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः काकुत्स्थवंशे विमुखाःप्रयान्ति" विष्णुपुराणे (गो०) ३ जितेन्द्रियः—मातृभरतादि प्रार्थना व्याजेसत्यपि राज्यभोगलौल्यरहितः (गो०)

भरत जी के लौट आने पर, सत्य प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय श्रीमान् रामचन्द्र जी ने * यह विचार कर कि, चित्रकूट में (हमारा वास जान कर) अयोध्यावासियों का आना जाना शुरू हो गया है, (और उन लोगों के आने से चित्रकूट वासी तपस्वियों के जप तप में विक्षेप पड़ता है) ॥ ३९ ॥

तत्रागमनमेकाग्रो[1] दण्डकान्प्रविवेश ह ।
प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः ॥ ४० ॥

पितृआज्ञा के पालन में दत्तचित श्रीरामचन्द्र (चित्रकूट छोड़) दण्डकारण्य वन में चले गये और दण्डकवन में पहुँच राजीव-लोचन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ ४० ॥

विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ।
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा ॥ ४१ ॥

विराध नामक एक राक्षस को जान से मारा और तत्पश्चात् वे शरभङ्ग ऋषि से मिले । तत्पश्चात् वे सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और अगस्त्य के भाई से मिले ॥ ४१ ॥

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ।
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ ॥ ४२ ॥

---

१ एकाग्रः पितृवचन पालने दत्तावधानः (गो०)

* किसी टीकाकार ने ऐसा लिखा है—श्री रामचन्द्र जी ने यह सोच कर कि, चित्रकूट में हमारी स्थिति को जान कर निकट होने के कारण अयोध्या-वासी और ख़ास कर महाराज दशरथ के साथ में रहने वाले वृद्ध मन्त्रि-गण आने लगेंगे, फिर चित्रकूटवासियों का यह कहना कि, आप लोग यहाँ से जायँ, अच्छा न होगा; इसलिये उन्होंने चित्रकूट छोड़, दण्डकवन में प्रवेश किया ।

अगस्त्य जी के कहने पर उनसे उन्होंने इन्द्र का धनुष ग्रहण किया (अर्थात् लिया) साथ ही परम प्रसन्न हो कर, एक अति पैनी तलवार और तरकस जिसमें बाण कभी चुकते ही न थे, (श्री रामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से) लिये ॥ ४२ ॥

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः[1] सह ।
ऋषयोऽभ्यागमन्सर्वे वधायासुररक्षसाम् ॥ ४३ ॥

उस वन में, उन वानप्रस्थ ऋषियों के साथ रहते समय, राक्षस और असुरों का नाश करवाने की कामना रखने वाले, ऋषि रामचन्द्र के पास गये ॥ ४३ ॥

स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां[2] वधं वने ।
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति[3] रक्षसाम् ॥ ४४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, ने दण्डकारण्यवासी राक्षसों के वध कराने के लिये जैसी कि, ऋषियों ने प्रार्थना की थी, तदनुसार युद्ध में उनको मारने के लिये प्रतिज्ञा की ॥ ४४ ॥

ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ।
तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ॥ ४५ ॥

इस प्रतिज्ञा को सुन अग्नि के समान तेजस्वी दण्डकवासी ऋषियों ने जाना कि अब राक्षस अवश्य मारे जायँगे । इसके पश्चात् उसी जनस्थान में रहने वाली ॥ ४५ ॥

विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ।
ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान्सर्वराक्षसान् ॥ ४६ ॥

---

१ वनचरैः—वानप्रस्थैः (रा०) २ राक्षसानांवने—दण्डकारण्ये ।
३ संयति—युद्धे (गो०)

खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ।
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्[1] ॥ ४७ ॥

कामरूपिणी (अपनी इच्छानुसार अपना रूप बदलने वाली) राक्षसी सूपनखा को, उन्होंने विरूप किया। तत्पश्चात् सूपनखा के वाक्यों से उत्तेजित हो लड़ने के लिये आये हुए खरदूषण त्रिशिरादि तथा उनके सब अनुचरों को श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में मार डाला ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ।
रक्षसां निहतान्यासन्सहस्राणि चतुर्दश ॥ ४८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में वसते हुए, चौदह हज़ार जनस्थानवासी राक्षसों को मार डाला ॥ ४८ ॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्छितः ।
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ४९ ॥

अपनी जाति वालों के वध का संवाद सुन, रावण बहुत क्रुद्ध हुआ और मारीच नाम राक्षस से सहायता माँगी ॥ ४९ ॥

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ।
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ॥ ५० ॥

मारीच ने रावण को बहुत मना किया और कहा कि हे रावण! अपने से अधिक बलवान के साथ शत्रुता करनी अच्छी बात नहीं है ॥ ५० ॥

---

१ पदानुगान—अनुचरांश्च (गो०)

अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ।
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ॥ ५१ ॥

किन्तु कालवशवर्त्ती रावण ने मारीच की वातों का अनादर किया और उसी समय मारीच को साथ ले वह उस आश्रम में गया जहां श्रीरामचन्द्र जी रहते थे ॥ ५१ ॥

तेन मायाविना[1] दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ।
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ॥ ५२ ॥

मारीच दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर हटा ले गया । उसी समय रावण जटायु नामक गिद्ध को मार श्रीरामचन्द्र जी की भार्या श्रीजानकी जी को हर ले गया ॥ ५२ ॥

गृध्रं च निहतं[2] दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ।
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ५३ ॥

जटायु को मृत्युप्राय दशा में देख और उससे सीता जी का हरा जाना सुन, श्रीरामचन्द्र वहुत शोकसन्तप्त हुए और विकल हो उन्होंने विलाप किया । ॥ ५३ ॥

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ।
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् उस शोक से व्याकुल श्रीरामजी ने, जटायु की दाहक्रिया कर, वन में सीता जी को ढूँढ़ते समय, एक राक्षस को देखा ॥ ५४ ॥

कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ।
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ॥ ५५ ॥

---

१ मायाविना—मारीचेन (रा०) २ निहतं—मुमूर्षुं (गो०)

उस राक्षस का नाम कबन्ध था और वह बड़ा विकराल भयङ्कर रूप का था। श्रीरामचन्द्र जी ने उसे मार कर दग्ध जिससे वह स्वर्ग गया ॥ ५५ ॥

स चाऽऽख्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ।
श्रमणीं[1] धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघवम् ॥ ५६ ॥

स्वर्ग जाते समय कबन्ध ने तपस्विनी धर्मचारिणी शबरी के पास जाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ५६ ॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ।
शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ॥ ५७ ॥

शत्रु के नाश करने वाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी शबरी के पास गये। शबरी ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का भली भाँति पूजन किया ॥ ५७ ॥

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह[2] ।
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ॥ ५८ ॥

पंपासर के समीप उनकी भेंट हनुमान नामक बंदर से हुई और हनुमान जी के कहने पर श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव से समागम हुआ ॥ ५८ ॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ।
आदितस्तद्यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ॥ ५९ ॥

पराक्रमी श्रीरामजी ने आदि से लेकर और विशेष कर सीता जी के हरे जाने का सब हाल सुग्रीव से कहा ॥ ५९ ॥

---

१ धमणां—तपस्विनीं (गो०) २ धर्मनिपुणाम्—धर्मसूक्ष्मज्ञां (गो०)
३ ह—इति हर्षे (शि०)

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ।
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ॥ ६० ॥

वानर सुग्रीव ने भी श्रीरामचन्द्र का सारा वृत्तान्त सुन और अग्नि को साक्षी कर मैत्री की ॥ ६० ॥

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ।
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद्दुःखितेन च ॥ ६१ ॥

तदनन्तर वानरराज ने श्रीरामचन्द्र जी पर विश्वास कर और दुःखी हो उनसे वाली की शत्रुता का सम्पूर्ण हाल कहा ॥ ६१ ॥

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ।
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ॥ ६२ ॥

उसे सुन श्रीरामचन्द्र जी ने वाली के वध की प्रतिज्ञा की । तब सुग्रीव ने वाली के वल पराक्रम का वर्णन किया ॥ ६२ ॥

सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ।
राघवप्रत्ययार्थं[1] तु दुन्दुभेः काय[2]मुत्तमम्[3] ॥ ६३ ॥

सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के अत्यन्त वली होने में शङ्का थी, अतः श्रीरामचन्द्र जी की जानकारी के लिये दुन्दुभी राक्षस के बड़े लंबे शरीर की हड्डियों का ॥ ६३ ॥

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ।
उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ॥ ६४ ॥

---

१ राघवप्रत्ययार्थं—रामविषयज्ञानार्थं (गो०) २ कायं—कायाकास्थि (गो०) ३ उत्तमं— उन्नतं (गो०)

ढेर, जो एक बड़े पहाड़ के समान था, सुग्रीव ने लंबी भुजाओं वाले श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया। उसको देख महा बलवान् श्रीरामचन्द्र मुसक्काये ॥ ६४ ॥

पादांगुष्ठेन चिक्षेप[1] संपूर्णं दशयोजनम् ।
विभेद च पुनः सालान्सप्तैकेन महेषुणा ॥ ६५ ॥

और पैर के अंगूठे की ठोकर से उस हड्डियों के ढेर को वहां से दस योजन दूर फेंक दिया। फिर एक ही बाण सात ताल वृक्षों को छेदता हुआ, ॥ ६५ ॥

गिरिं रसातलं चैव जनयन्प्रत्ययं तदा ।
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ॥ ६६ ॥

पहाड़ फोड़, रसातल को चला गया। तब तो सुग्रीव का सन्देह दूर हो गया। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो और विश्वास कर ॥ ६६ ॥

किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां[2] तदा ।
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ॥ ६७ ॥

श्रीरामजी को साथ ले गुफा की तरह पर्वतों के बीच बसी हुई किष्किन्धा पुरी को गये। वहाँ पहुँच पीले नेत्र वाले सुग्रीव ने ज़ोर से गर्जना की ॥ ६७ ॥

तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ।
अनुमान्य[3] तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ॥ ६८ ॥

---

१ उच्चिक्षेप—उद्यम्यचिक्षेप (गो०) २ गुहां—गुहावत्पर्वतमध्यवर्तिनीपुरीं (गो०) ३ अनुमान्य—परिसान्त्व्य ; सन्तोष्य (गो०)

उस महागर्जन को सुन महाबली वाली बाहिर निकला। (तारा के मना करने पर) वालि ने तारा को समझाया और वह सुग्रीव से आ भिड़ा ॥ ६८ ॥

निजघान च तत्रैनं[1] शरेणैकेन राघवः ।
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे[2] ॥ ६९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इसी बीच में एक ही बाण से युद्ध करते हुए वाली को मार डाला। तदनन्तर सुग्रीव के कहने से सुग्रीव से युद्ध करते समय वाली को मार कर, ॥ ६९ ॥

सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ।
स च सर्वान्समानीय वानरान्वानरर्षभः ॥ ७० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया। तब बन्दरों के राजा सुग्रीव ने वानरों को एकत्र कर ॥ ७० ॥

दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ।
ततो गृध्रस्य वचनात्संपातेर्हनुमान्बली ॥ ७१ ॥

उनको सीता जी को खोजने के लिये चारों ओर भेजा। तब सम्पाति नामक गृद्ध के बतलाने पर महाबली हनुमान, ॥ ७१ ॥

शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम् ।
तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम् ॥ ७२ ॥

सौ योजन चौड़े खारी समुद्र को लाँघ, रावणपालित लङ्का पुरी में पहुँचे ॥ ७२ ॥

---

१ एनं—परेणयुद्धकृतमपिवालिनं (गो०)

२ आहवे—सुग्रीवस्ययुद्धे (गो०)

ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ।
निवेदयित्वाऽभिज्ञानं प्रवृत्तिं च निवेद्य च ॥ ७३ ॥

अशोकवन में श्री रामचन्द्र जी के ध्यान में मग्न सीता जी को देखा। फिर श्रीरामचन्द्र जी की दी हुई अंगूठी सीता जी को दे दी और श्रीरामचन्द्र जी का सब हाल कह ॥ ७३ ॥

समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम्[1] ।
पञ्च सेनाग्रगान्हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि ॥ ७४ ॥

सीता जी को धीरज बँधाया। फिर अशोकवाटिका के बाहिर वाले फाटक को तोड़ डाला तथा (रावण के) पाँच सेनापतियों को, सात मंत्रि-पुत्रों को ॥ ७४ ॥

शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ।
अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद्वरात् ॥ ७५ ॥

और शूरवीर (रावणपुत्र) अक्षयकुमार को पीस कर, (अर्थात् मार कर) आत्मसमर्पण किया। हनुमान जी ने ब्रह्माजी के वरदान के प्रभाव से अपने को ब्रह्मास्त्र से मुक्त जान कर भी ॥ ७५ ॥

मर्षयन्राक्षसान्वीरो यन्त्रिणस्तान्यदृच्छया ।
ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम् ॥ ७६ ॥

राक्षसों की इच्छानुसार अपने को बँधवाया और उनके सब अनादर सहे, फिर श्रीसीता जी के स्थान को छोड़ समस्त लङ्का भस्म कर ॥ ७६ ॥

---

१ तोरणं—अशोकवनिकयहिर्द्वारं (गो०)

रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ।
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम् ॥ ७७ ॥

हनुमान जी, श्रीराम जी को यह सुखदायी संवाद सुनाने को लौट आये। श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर अपरमित धैर्य और बलवान् हनुमान जी ने ॥ ७७ ॥

न्यवेदयदमेयात्मा[1] दृष्ट्वा सीतेति तत्त्वतः[2] ।
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः ॥ ७८ ॥

सीता जी के देखने का ज्यों का त्यों समस्त वृत्तान्त उनसे कहा। तब सुग्रीव आदि को साथ ले (श्रीरामचन्द्र जी) समुद्र के तट पर पहुँचे ॥ ७८ ॥

समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ।
दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितांपतिः ॥ ७९ ॥

और सूर्य के समान चमचमाते (अर्थात् पैने) बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर डाला। तब नदीपति समुद्र सामने आया ॥ ७९ ॥

समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ।
तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे ॥ ८० ॥

और उसके कथनानुसार नल ने समुद्र का पुल बाँधा। उस पुल पर हो कर श्रीरामचन्द्र लङ्का पहुँचे और रावण का युद्ध में वध कर ॥ ८० ॥

रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ।
तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि[3] ॥ ८१ ॥

---

१ अमेयात्मा—अपरिमितधैर्ययत्नादिवान् (गो०) २ तत्त्वतः—यथावत् (गो०) ३ जनसंसदि—देवादिसभायां (गो०)

सीता जी को प्राप्त कर वे बहुत सङ्कोच में पड़ गये। जी ने सब के सामने सीता जी से कठोर वचन कहे ॥ ८१ ॥

अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ।
ततोऽग्निवचनात्सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम् ॥ ८२ ॥

कठोर वचनों को न सह कर सीता जी ने जलती आग में प्रवेश किया। तब अग्निदेव की साक्षी से सीता को निष्पाप मान ॥ ८२ ॥

बभौ रामः संप्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः ।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ८३ ॥

सब देवताओं से पूजित श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। ८३॥ श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से (रावणवध से) तीनों लोकों चर अचर, ॥ ८३ ॥

सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः ।
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥ ८४ ॥

देव और ऋषि सन्तुष्ट हुए। तदनन्तर राक्षसराज विभीषण लङ्का के राजसिंहासन पर बिठा ॥ ८४ ॥

कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ।
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान् ॥ ८५ ॥

श्रीरामचन्द्र कृतार्थ हुए, सन्ताप से छूटे और हर्षित हुए। ताओं से वर पा और मृत वानरों को फिर जीवित कर, ॥ ८५ ॥

अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ।
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः ॥ ८६ ॥

सुग्रीव विभीषणादि सहित पुष्पक विमान में बैठ कर अयोध्या को रवाना हुए। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुँच सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने,॥ ८६ ॥

भरतस्यान्तिकं रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत् ।
पुनराख्यायिकां[1] जल्पन्सुग्रीवसहितस्तदा ॥ ८७ ॥

हनुमान जी को भरत जी के पास भेजा फिर सुग्रीव से अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए ॥ ८७ ॥

पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ।
नन्दिग्रामे जटां हित्वा[2] भ्रातृभिः सहितोऽनघः[3] ॥८८॥

(श्रीरामचन्द्र) पुष्पक पर सवार हो नन्दिग्राम में पहुँचे। अच्छी तरह पिता की आज्ञा पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र जी भाइयों सहित जटा विसर्जन कर अर्थात् बड़े बड़े बालों को कटवा ॥ ८८ ॥

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ।
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ॥ ८९ ॥

सीता को प्राप्त कर अयोध्या की राजगद्दी पर विराजे। श्रीरामचन्द्र जी के राज-सिंहासनासीन होने पर सब प्रजाजन आनन्दित सन्तुष्ट और पुष्ट तथा सुधार्मिक हो गये हैं ॥ ८९ ॥

निरामयो[4] ह्यरोगश्च[5] दुर्भिक्षभयवर्जितः ।
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ॥ ९० ॥

---

१ आख्यायिकां—पूर्ववृत्तकथां (गो०) २ हित्वा—शोधयित्वा (गो०)
३ अनघः—सम्यगनुष्ठितपितृवचनः ४ निरामयः—शरीररोगरहितः (गो०)
५ अरोगः—मानसव्याधिरहितः (गो०)

उनको न तो शारीरिक कोई व्यथा ही रही और न मानसिक चिन्ता रही और न दुर्भिक्ष का ही भय रह गया है। किसी पुरुष को पुत्रशोक नहीं होता ॥ ९० ॥

नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ।
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ॥ ९१ ॥

और न कोई स्त्री कभी विधवा होती है और सब स्त्रियाँ पतिव्रता ही हैं न कभी किसी के घर में आग लगती है और न कोई जल में डूब कर ही मरता है ॥ ९१ ॥

न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ।
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ॥ ९२ ॥

इसी प्रकार न तो कभी आँधी तूफान से हानि होती है और न ज्वर आदि महामारी का भय उत्पन्न होता है। न कोई भूखों मरता है और न किसी के घर चोरी होती है ॥ ९२ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥ ९३ ॥

राजधानी और राष्ट्र धन धान्य से भरे पूरे रहते हैं।* सब लोग इसी प्रकार आनन्द सहित दिन बिताते हैं जैसे सत्ययुग में लोग बिताया करते हैं ॥ ९३ ॥

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ।
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥ ९४ ॥

---

* यह रामायण उस समय बनी थी जिस समय श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक हो चुका था और वे राज्य कर रहे थे। इस लिये यहाँ पर वर्त्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है।

श्रीरामचन्द्र जी ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं और ढेरों सुवर्ण का दान दिया है। नारद जी वाल्मीकि जी से कहते हैं, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी करोड़ों गौएँ दे कर वैकुण्ठ को जाँयगे ॥ ९४ ॥

असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्रह्मणेभ्यो महायशाः ।
राजवंशाञ्शतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः ॥ ९५ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ब्राह्मणों को अपरमित धन दे कर, राजवंश की प्रथम से सौ गुनी अधिक उन्नति करेंगे ॥ ९५ ॥

चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वेस्वे धर्मे नियोक्ष्यति ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ ९६ ॥

और चारों वर्णों के लोगों को अपने अपने वर्णानुसार कर्त्तव्य पालन में लगावेंगे। ११,००० वर्ष, ॥ ९६ ॥

रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ।
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च संमितम्[1] ॥
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९७ ॥

फलस्तुति

राज्य कर, श्रीरामचन्द्र जी वैकुण्ठ जाँयगे। इस पुनीत, पाप छुड़ाने वाले, पुण्यप्रद, रामचरित्र को जो पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है। क्योंकि यह सब वेदों के तुल्य है ॥ ९७ ॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन्रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते[2] ॥ ९८ ॥

---

१ वेदैश्चसंमितम्—सर्ववेदसदृशमित्यर्थः(गो०) २ महीयते—पूज्यते (गो०)

आयु बढ़ाने वाली बालरामायण की कथा को जो श्रद्धा भक्ति पूर्वक पढ़ता है, वह अन्त में पुत्र पौत्र और नौकर चाकरों सहित स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ ९८ ॥

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात्[1]-
त्स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ ९९ ॥

इति प्रथमः सर्गः

इस बालरामायण को ब्राह्मण पढ़े तो वह वेद शास्त्रों में पारङ्गत हो, क्षत्रिय पढ़े तो पृथ्वीपति हो, वैश्य पढ़े तो उसका अच्छा व्यापार चले और शूद्र पढ़े तो उसका महत्व अर्थात् अपनी जाति में श्रेष्ठत्व बढ़े या उन्नति हो ॥ ९९ ॥

बालकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

[इन ९९ श्लोकों के प्रथमवर्ग की का नाम "मूलरामायण या बाल-रामायण है । इसका स्वाध्याय प्रायः आस्तिक हिन्दू नित्य किया करते हैं । इसको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी पढ़ें, यह बात ९९ वें श्लोक से सिद्ध होती है ।]

—※—

द्वितीयः सर्गः

नारदस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः[2] ।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिः ॥ १ ॥

---

१ ईयात्—प्राप्नुयात् (गो०) २ वाक्यविशारदः—वाक्येविशारदो विद्वान् (गो०)

देवर्षि नारद के मुख से यह वृत्तान्त सुन चुकने पर, महर्षि वाल्मीकि ने अपने शिष्य भरद्वाज सहित नारद जी का पूजन किया ॥ १ ॥

यथावत्पूजितस्तेन [1]देवर्षिर्नारदस्तदा ।
आपृच्छयैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम्[2] ॥ २ ॥

देवर्षि नारद जी वाल्मीकि जी से यथाविधि पूजे जाकर और उनसे जाने की अनुमति प्राप्त कर, वहाँ से आकाश की ओर चले गये ॥ २ ॥

स मुहूर्ते गते तस्मिन्देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥ ३ ॥

वाल्मीकि जी, नारद जी के देवलोक चले जाने के दो घड़ी बाद, उस तमसा नदी के तट पर पहुँचे, जो श्रीगङ्गा जी से थोड़ी ही दूर पर थी ॥ ३ ॥

स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४ ॥

नदी के तट पर पहुँच और नदी का स्वच्छ जल (अर्थात् कीचड़ रहित) देख महर्षि वाल्मीकि जी पास खड़े हुए अपने शिष्य भरद्वाज से बोले ॥ ४ ॥

अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय[3] ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु[4] सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥

---

१ "नारदाद्यासुरर्षयः" । २ विहायसम्—आकाशं जगाम (गो०) ३ निशामय—पश्य (गो०) ४ प्रसन्नाम्बु—स्वच्छजलम् (गो०)

हे भरद्वाज ! देखो तो इस नदी का जल वैसा ही स्वच्छ और रम्य है जैसा सज्जन जन का मन ॥ ५ ॥

न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये[1] तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे वत्स ! कलसे को तो ज़मीन पर रख दो और हमारा वल्कल वस्त्र हमें दो । हम इस उत्तम तीर्थ तमसा नदी में, स्नान करेंगे ॥ ६ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना ।
प्रायच्छत[2] मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो[3]गुरोः ॥ ७ ॥

महर्षि वाल्मीकि के इस कथन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने उनको वल्कल वस्त्र दिया ॥ ७ ॥

स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः ।
विचचार ह पश्यंस्तत्सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥

शिष्य के हाथ से वल्कल ले महर्षि विशाल वन की शोभा निरखते हुए टहलने लगे ॥ ८ ॥

तस्या[4]भ्याशे[5] तु मिथुनं चरन्तम[6]नपायिनम्[7] ।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९ ॥

---

१ अवगाहिष्ये—अत्रैवस्नास्यामि (गो०) २ प्रायच्छत—प्रादात् (गो०)
३ गुरोर्नियतः—परतंत्रःभरद्वाजः (गो०) ४ तस्य—तीर्थस्य (गो०)
५ अभ्याशे—समीपे (गो०) ६ चरन्तम्—विहरन्तम् (रा०) ७ अनपायिनम्—वियोगशून्यम् (गो०)

नदी के समीप ही उस वन में महर्षि वाल्मीकि जी ने मीठी बोली बोलने वाले वियोगशून्य एवं विहार करते (जोड़ा खाते) हुए क्रौंच पक्षी के एक जोड़े को देखा ॥ ९ ॥

तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः[1] ।
जघान वैरनिलयो[2] निषादस्तस्य पश्यतः ॥ १० ॥

इतने में पक्षियों के शत्रु एक बहेलिये ने उस जोड़े में से नर क्रौंच पक्षी को वाल्मीकि जी के सामने ही मार डाला ॥ १० ॥

तं शोणितपरीताङ्गं वेष्टमानं महीतले ।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥ ११ ॥

तब उस क्रौंच पक्षी की मादा अपने नर को रक्त से लहू फद और पृथिवी पर छटपटाते हुए देख, करुणस्वर से विलाप करने लगी ॥ ११ ॥

वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन[3] सहचारिणा ।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्रिणा[4] सहितेन वै ॥ १२ ॥

वह क्रौंची अब उस लाल चोटी वाले काममत्त और सम्भोग करने के लिये पर फैलाये हुए नर से रहित हो गयी अथवा उससे उसका वियोग हो गया ॥ १२ ॥

तथा तु तं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥ १३ ॥

---

१ पापनिश्चयः—रतिसमयेपिहननकरणात्क्रूरनिश्चयः (गो०) २ वैर-निलयः—अकारणगेहाश्रयः (रा०) ३ द्विजेन—पक्षिणा (गो०) ४ पत्रिणा—सम्भोगार्थं विस्तारितपत्रिणा (शि०)

बहेलिया द्वारा पत्नी को गिरा हुआ देख, धर्मात्मा ऋषि के मन में बड़ी दया आयी ॥ १३ ॥

ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः ।
निशाम्य रुदतीं क्रौंचीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस पाप पूरित हिंसा कर्म और विलाप करती हुई क्रौंची को देख, महात्मा वाल्मीकि ने यह कहा ॥ १४ ॥

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ १५ ॥

हे बहेलिये ! तूने जो इस कामोन्मत्त नर पक्षी को मारा है, इस लिये अनेक वर्षों तक तू इस वन में मत आना ; अथवा तुझे सुख शान्त न मिले ॥ १५ ॥

तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥ १६ ॥

यह कह चुकने पर और मन में इसका अर्थ विचारने पर, वाल्मीकि जी को बड़ी चिन्ता हुई कि, इस पक्षी के कष्ट से कष्टित हो, मैंने यह क्या कह डाला ! ॥ १६ ॥

चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्[1] मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ १७ ॥

बड़े बुद्धिमान् और शास्त्रज्ञ वाल्मीकि जी सोचने लगे, तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ ने निज शिष्य भरद्वाज से यह कहा ॥ १७ ॥

---

१ मतिमान्—शास्त्रज्ञानवान् (गो)

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८ ॥

देखो, यह श्लोक हमने मुख से शोकार्त्त हो निकाला है, इसमें चार पाद हैं, प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं और वीणा पर भी यह गाया जा सकता है। अतः यह यशोरूप हो अर्थात् यह प्रसिद्ध हो कर मेरा यश बढ़ावे, अपयश नहीं ॥ १८ ॥

शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद्गुरुः ॥ १९ ॥

वाल्मीकि जी के इस वचन को सुन, उनके शिष्य भरद्वाज ने अति प्रसन्न हो यह श्लोक कण्ठाग्र कर लिया। इस पर गुरु जी शिष्य पर प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन्यथाविधि ।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥ २० ॥

यथाविधि उस तीर्थ में स्नान कर और उसी बात को मन ही मन सोचते विचारते ऋषिप्रवर वाल्मीकि अपने आश्रम में लौट आये ॥ २० ॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान्[1] मुनिः ।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥ २१ ॥

उनके पीछे पीछे अति नम्र और शास्त्रज्ञ भरद्वाज जी भी जल का भरा कलसा लिये हुए, चले आये ॥ २१ ॥

---

१ श्रुतवान्—शास्त्रवान्, अवधृतवान्वा (गो०)

स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित्[1] ।
उपविष्टः कथाश्चान्या[2]श्चकार ध्यानमास्थितः ॥२२॥

आश्रम में पहुँच और देवपूजनादि धर्मक्रियाएँ कर तथा शिष्य के सहित बैठ ऋषिप्रवर विविध पौराणिक कथाएँ मनोयोग पूर्वक कहने लगे ॥ २२ ॥

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः ।
चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इसी बीच में महातेजस्वी, चारमुखवाले, लोककर्त्ता ब्रह्मा जी वाल्मीकि जी से भेंट करने को उनके आश्रम में स्वयं पहुँचे ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः[3] ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः ॥ २४ ॥
पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः ।
प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वाऽनामयमव्ययम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मा जी को आते देख, वाल्मीकि जी झट उठ* खड़े हुए और नम्र हो उनको प्रणाम किया और अत्यन्त आदर पूर्वक आसन,

---

१ धर्मवित्—कृतदेवपूजादिधर्मः (गो०) २ अन्याकथाः—पुराण-पारायणनि (गो०) ३ वाग्यतः—अतिसभ्रमवशायतवाक् मौनव्रतेन प्रयतोऽति नम्रः (रा०)

* बड़े लोगों को सामने देख लोग क्यों उठ खड़े होते हैं, इसका कारण एक श्लोक में यह बतलाया गया है ।

ऊर्ध्वं प्राणात्क्रमन्ते यूनःस्थविरआगते ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनःस्तान्प्रतिपद्यते । (गो०)

अर्घ्य, और पाद्यादि से उनकी यथाविधि पूजा कर कुशल पूँछी ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते ।
वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥

पूजा ग्रहण कर, ब्रह्मा जी आसन पर विराजे और वाल्मीकि जी से भी बैठने को कहा ॥ २६ ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने ।
उपविष्टे तदा तस्मिन्साक्षाल्लोकपितामहे ॥ २७ ॥

ब्रह्मा जी की आज्ञा पाकर, महर्षि भी बैठ गये । जब साक्षात् लोकपितामह ब्रह्मा जी आसन पर विराज चुके, ॥ २७ ॥

तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः ।
पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥ २८ ॥

यस्तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात् ।
शोचन्नेव मुहुः क्रौञ्चीमुप श्लोकमिमं पुनः ॥ २९ ॥

तब महर्षि का ध्यान उसी बात की ओर गया कि, पापी बहेलिये ने वैरबुद्धि से आनन्द से बोलते हुए पक्षी का बध व्यर्थ ही कर डाला और क्रौंची को याद कर, वे बार बार वही श्लोक-अर्थात् "मानिषाद" पढ़ सोचने लगे ॥ २८ ॥ २९ ॥

जगावन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहस्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार वाल्मीकि को चिन्तातुर और शोकान्वित देख, ब्रह्मा जी ने हँस कर कहा, ॥ ३० ॥

श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।
मच्छन्दादेव[1] ते ब्रह्मन्प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥ ३१ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! यह तो तुमने श्लोक ही बना डाला है, इस पर कुछ विचार न कीजिये । मेरी ही प्रेरणा से या इच्छा से वह श्लोक तुम्हारे मुख से निकला है ॥ ३१ ॥

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
धर्मात्मनो गुणवतो लोके रामस्य धीमतः ॥ ३२ ॥

वृत्तं कथय वीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥

लोकों में धर्मात्मा, गुणवान् और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र जी के छिपे हुए अथवा प्रकट सम्पूर्ण चरित्रों का वर्णन, तुम वैसे ही करो जैसे कि, तुम नारद जी के मुख से सुन चुके हो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

रामस्य सह सौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः ।
वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति ।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र, श्रीलक्ष्मण और श्रीजानकी जी के तथा राक्षसों के प्रकट अथवा गुप्त जो कुछ वृत्तान्त हैं—वे तुमको प्रत्यक्ष देख पड़ेंगे और इस काव्य में कहीं भी तुम्हारी कही हुई कोई बात मिथ्या न होगी ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

---

१ मच्छन्दादेव—मदभिप्रायादेव (गो०)

कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥ ३६ ॥
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।
यावद्रामायणकथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।
इत्युक्त्वा भगवान्ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३८ ॥

अतएव तुम श्रीरामचन्द्र की मनोहर और पवित्र कथा श्लोक-बद्ध (पद्यों में) बनाओ । जब तक इस धराधाम पर पहाड़ और नदियाँ रहेंगी, तब तक इस लोक में श्रीरामचन्द्र जी की कथा का प्रचार रहैगा और जब तक तुम्हारी रची हुई इस रामायण-कथा का प्रचार रहैगा, तब तक तुम भी मेरे बनाये हुए लोकों में से जब तक शरीर रहैगा तब तक पृथिवी पर और तदनन्तर ऊपर के लोक में स्थिर रहोगे । यह कह कर ब्रह्मा जी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

ततः सशिष्यो भगवान्मुनिर्विस्मयमाययौ ।
तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः[1] श्लोकमिमं पुनः ॥ ३९ ॥

यह देख महर्षि को तथा उनके शिष्यों को बड़ा आश्चर्य हुआ । महर्षि के शिष्य प्रसन्न हो बार बार वह श्लोक पढ़ने लगे ॥ ३९ ॥

मुहुर्मुहुः प्रीयमाणा प्राहुश्च भृशविस्मिताः ।
समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो[2] महर्षिणा ॥ ४० ॥

वे प्रसन्न हो और बड़े विस्मित हो, आपस में कहने लगे कि, महर्षि ने समान अक्षरों और चार पद वाले जिस श्लोक में महाशोक

१ पुनर्जगुः—पुनःकथितवन्तः । २ गीतः—उक्तः (गो०)

प्रकट किया है उसको बार बार पढ़ने से वह तो श्लोक ही बन गया है ॥ ४० ॥

सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।
तस्य बुद्धिरियं जाता वाल्मीकेर्भावितात्मनः[1] ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥४१॥

तदनन्तर अपने मन में परमात्मा का चिन्तन करते हुए वाल्मीकि जी को समझ में यह बात आयी कि, इसी ढंग के श्लोकों में, मैं सारा रामायणकाव्य बनाऊँ ॥ ४१ ॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्ततः स रामस्य चकार कीर्त्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनां
यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनिः ॥ ४२ ॥

यह विचार, यशस्वी वाल्मीकि जी परम उदार और अति मनोहर श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र, समान अक्षर वाले तथा यश को बढ़ाने वाले श्लोकों में वर्णन करने लगे ॥ ४२ ॥

तदुपगतसमाससंधियोगं
समधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ४३ ॥

इति द्वितीयः सर्गः

---

१ भावितात्मनः—चिन्तितपरमात्मनः (गो०)

सन्धियों समासों तथा अन्य व्याकरण के अंगों से सम्पन्न, मधुर और प्रसन्न करने वाले वाक्यों से युक्त, श्रीरामचरित्र एवं रावणवध रूपी काव्य को महर्षि वाल्मीकि जी ने लोकोपकारार्थ रचा ॥ ४३ ॥

बालकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ—

—※—

तृतीयः सर्गः

—:: ※ ::—

श्रुत्वा वस्तु[1] समग्रं तद्धर्मात्मा धर्मसंहितम्[2] ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देने वाला, बुद्धिमान श्रीरामजी का चरित्र, नारद जी के मुख से सुन और उससे भी अधिक चरित्र जानने की कामना से, ॥ १ ॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणा[3]न्वीक्षते गतिम्[4] ॥ २ ॥

जल से हाथ पैर धो, आचमन कर, हाथ जोड़, कुशासन पर पूर्व की ओर मुख कर बैठे हुए महर्षि, योगबल से श्रीरामचन्द्रादि के चरित्रों को देखने लगे ॥ २ ॥

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत्प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥

---

१ वस्तु—कथाशरीरं (गो०) २ धर्मसंहितम्—धर्मसहितम् (गो०) ३ धर्मेण—ब्रह्मप्रसादरूपश्रेयस्साधनेन (गो०), योगजबलेन (रा०) ४ गतिम्—रामादिवृत्तं (गो०)

हसितं भाषितं चैव गतिर्या यच्च चेष्टितम् ।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण[1] यथावत्संप्रपश्यति ॥ ४ ॥
स्त्रीतृतीयेन च तथा यत्प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसंधेन रामेण तत्सर्वं चान्ववेक्षितम् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, सीता और कौशिल्यादि सहित महाराज दशरथ का और सम्पूर्ण राज्यमण्डल का जो कुछ हँसना, बोलना, आदि वृत्तान्त और चरित्र थे और सत्यव्रत श्रीरामचन्द्र जी ने वन में जो कुछ चरित किये थे सो महर्षि वाल्मीकि को ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से ज्यों के त्यों सब देख पड़ने लगे ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥

योगाभ्यास द्वारा महर्षि वाल्मीकि ने उन सब चरित्रों को जो पहले हो चुके थे, हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह देखा ॥ ६ ॥

तत्सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महाद्युतिः ।
अभिरामस्य रामस्य चरितं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥

सब वृत्तान्तों को ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से यथार्थतः (ज्यों का त्यों) जान लेने के पश्चात् महाद्युतिमान् महर्षि वाल्मीकि लोकाभिराम श्रीराम जी के चरित्रों को श्लोकबद्ध करने के लिये तत्पर हुए ॥ ७ ॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥

---

१ धर्मवीर्येण—ब्रह्मवरप्रसादशक्त्या (गो०)

स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महर्षिणा ।
रघुनाथस्य चरितं चकार भगवानृषिः ॥ ९ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाला समुद्र की तरह रत्नों से भरा पूरा और सुनने से मन को हरने वाला; श्रीरामचन्द्र जी का चरित्र जैसा कि नारद जी से सुन चुके थे, वैसा ही महर्षि वाल्मीकि जी ने बनाया ॥ ८ ॥ ९ ॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥१०॥
नानाचित्रकथाश्चान्या विश्वामित्रसहासने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥११॥

श्रीरामचन्द्र का जन्म, उनका पराक्रम, सब का उन पर प्रसन्न रहना, उनके किये लोक-प्रिय कार्य, उनकी क्षमा, सौम्यता, सत्य-शीलतादि-गुण-सम्पन्नता, विश्वामित्र की सहायता करना, विश्वामित्र का श्रीरामचन्द्र जी से नाना प्रकार की कथाएँ कहना वा उनका सुनना, धनुष का तोड़ना, जानकी जी के साथ उनका विवाह होना, ॥ १० ॥ ११ ॥

रामरामविवादं च गुणान्दाशरथेस्तथा ।
तथा रामाभिषेकं च कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी व परशुराम जी का वादविवाद, श्रीरामचन्द्र जी के गुण तथा उनके राज्याभिषेक की तैयारियां, कैकेयी का उसमें बाधा डालना, ॥ १२ ॥

विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकविलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥

अभिषेक के कार्य्य में विघ्न का पड़ना, श्रीरामचन्द्र जी का वनगमन, महाराज दशरथ का विलाप तथा उनका परलोक-गमन, ॥ १३ ॥

भक्तीनां विषादं च मन्त्रीणां विसर्जनम् ।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥

अयोध्यावासियों का शोकमग्न होना, फिर उनका मार्ग से अयोध्या को लौट आना, निषादराज का संवाद, सुमन्त की विदाई, ॥ १४ ॥

गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम् ।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥

श्री रामचन्द्रादि का श्री गङ्गा जी के पार उतरना, भरद्वाज जी का दर्शन, उनकी अनुमति से चित्रकूट गमन, ॥ १५ ॥

वास्तुकर्म[1]विधेश्चं च भरतागमनं तथा ।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

वहाँ (चित्रकूट में) शास्त्रोक्त विधि से पर्णकुटी बना कर उसमें वास करना । भरत जी का श्रीराम जी के मनाने के लिये आगमन, श्रीराम जी का पिता को जलदान, ॥ १६ ॥

पादुकाभ्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् ।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं का भरत जी द्वारा अभिषेक । उनका अर्थात् पादुकाओं का राजसिंहासन पर अभिषेक कर नन्दि-

---

१ वास्तुकर्म—शास्त्रोक्तप्रकारेणयथोचितमन्दिरनिर्माणं (गो०)

ग्राम में रह अयोध्या का शासन करना, श्रीरामचन्द्र जी का दण्ड-कारण्य-गमन, विराध-वध, ॥ १७ ॥

दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेनापि संगतिम् ।
अनसूयानमस्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥

शरभङ्ग का दर्शन, सुतीक्ष्ण से भेंट, अनुसूया जी से मिलना और उनके द्वारा सीता जी को अंगराग का दिया जाना, ॥ १८ ॥

अगस्त्यदर्शनं चैव जटायोरभिसंगमम् ।
पञ्चवट्याश्च गमनं शूर्पणख्याश्च दर्शनम् ॥ १९ ॥

अगस्त्य जी का दर्शन, जटायु से भेंट, पंचवटी में जाना, शूर्पनखा का दिखलाई पड़ना, ॥ १९ ॥

शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ।
वधं खरत्रिशरसोरुत्थानं[1] रावणस्य च ॥ २० ॥

शूर्पनखा से बातचीत और उसको विरूप करना, खर त्रिशिरादि का मारा जाना (वध) रावण का निकलना, ॥ २० ॥

मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ।
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम् ॥ २१ ॥

मारीचवध, सीताहरण, श्रीरामचन्द्र जी का (सीता के वियोग में) विलाप करना, जटायु की रावण द्वारा हिंसा, ॥ २१ ॥

कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ।
शबर्या दर्शनं चैव हनूमद्दर्शनं तथा ॥ २२ ॥

---

१ उत्थानं—निर्गमनम् (गो०)

कबंध का मिलना व पंपासर देखना, शबरी का मिलना और हनुमान से भेंट होना, ॥ २२ ॥

ऋश्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम् ।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥

ऋष्यमूक पर्वत पर गमन, सुग्रीव से समागम, सुग्रीव को वालि-वध का विश्वास दिलाना, उनके साथ मैत्री का होना, वालि-सुग्रीव की लड़ाई, ॥ २३ ॥

वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम् ।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥ २४ ॥

वालि का वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक, तारा का विलाप, वर्षाऋतु में पर्वत पर श्रीरामचन्द्र जी का निवास, ॥ २४ ॥

कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥ २५ ॥

सुग्रीव पर श्रीरामचन्द्र जी का कोप, वानरी सेना को जमा करना । वानरों को सीता जी का पता लगाने के लिये भूमण्डल का वृत्तान्त समझा कर भेजा जाना, ॥ २५ ॥

अंगुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम् ।
प्रायोपवेशनं चापि संपातेश्चैव दर्शनम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का हनुमान जी को अंगूठी देना, वानरों का (स्वयंप्रभा के) बिल में प्रवेश, उपवासादि कर समुद्रतट पर मृत्यु की आकांक्षा करना, सम्पाति का दर्शन, ॥ २६ ॥

पर्वतारोहणं चैव सागरस्य च लङ्घनम् ।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्यापि दर्शनम् ॥ २७ ॥

पर्वत पर हनुमान जी का चढ़ना, और सागर का लाँघना, समुद्र के कथनानुसार मैनाक पर्वत का समुद्रजल के ऊपर निकलना, ॥ २७ ॥

सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ।
रात्रौ लङ्कामवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ॥ २८ ॥

छायाग्रहण करने वाली सिंहिका राक्षसी का वध, लङ्का को देखना, रात्रि में हनुमान जी का लङ्का में प्रवेश करना, अकेले सोचना, ॥ २८ ॥

दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य[1] दर्शनम् ॥ २९ ॥

रावण का देखना, पुष्पक विमान को देखना, उस घर में जहाँ रावण शराब पीता था वहाँ हनुमान जी का जाना और अन्तःपुर अर्थात् रावण की स्त्रियों के रहने की जगह का अवलोकन, ॥ २९ ॥

अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापिदर्शनम् ।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥ ३० ॥

अशोकवाटिका में जाकर सीता जी का दर्शन करना, राक्षसियों का सीता जी को डराना, त्रिजटा राक्षसी का स्वप्न देखना, ॥ ३० ॥

अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चाभिभाषणम् ।
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ॥ २१ ॥

---

१ अवरोधस्य —अन्तःपुरस्य (गो०)

हनुमान जी का सीता जी को पहिचान की अंगूठी देना, सीता जी के साथ हनुमान जी की बातचीत, सीता जी का हनुमान जी को चूड़ामणि देना, हनुमान जी द्वारा अशोकवाटिका के वृक्षों का नष्ट किया जाना, ॥ ३१ ॥

राक्षसीविद्रवं चैव किङ्कराणां निबर्हणम् ।
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम् ॥ ३२ ॥

राक्षसियों का भागना, और रावण के नौकरों का मारा जाना, हनुमान जी का पकड़ा जाना तथा हनुमान जी के द्वारा गरज गरज कर लङ्का का दग्ध किया जाना, ॥ ३२ ॥

प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ।
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं[1] तथा ॥ ३३ ॥

समुद्र को पुनः नांघना, मधुवन के मधु फल को खाना, श्रीरामचन्द्र जी को धीरज बंधाना, तथा उनको चूड़ामणि का दिया जाना, ॥ ३३ ॥

संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ।
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का समुद्र तट पर पहुँचना, और नल नील का समुद्र पर पुल बाँधना, समुद्र के पार होना, रात्रि में लङ्का को घेरना, ॥ ३४ ॥

विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ।
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम् ॥ ३५ ॥

---

१ मणिनिर्यातनम्—रामायचूड़ामणिप्रदानं (गो०)

रावण के भाई विभीषण का श्रीरामचन्द्र जी से समागम होना, और रावण के वध का उपाय वतलाना, कुम्भकर्ण का मारा जाना और मेघनाद का वध, ॥ ३५ ॥

रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः[१] पुरे ।
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य निवेदनम् ॥ ३६ ॥

रावण का नाश तथा शत्रुपुरी लङ्का में सीता जी का मिलना, विभीषण का लङ्का की राजगद्दी पर अभिषेक, पुष्पक विमान का विभीषण द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को भेंट में दिया जाना, ॥ ३६ ॥

अयोध्यायाश्च गमनं भरतेन समागमम् ।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्यागमन, वहाँ भरत से समागम, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक तथा वानरी सेना को विदाई, ॥३७॥

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ।
अनागतं च यत्किंचिद्रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३८ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

श्रीराम जी का, राज्य सिंहासनासीन होने पर प्रजाजन को खुशी करना, वैदेही का त्याग, इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र जी ने इस भूमण्डल पर और जो जो चरित्र आगे किये, उन सब का वर्णन भी इस काव्य में भगवान् वाल्मीकि जी ने किया ॥ ३८ ॥

वालकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

---

१ अरेः पुर इति शौर्यातिशयोक्तिः उत्तरत्रचान्वयः (गो०)

चतुर्थः सर्गः

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या के राज-सिंहासन पर आसीन हो चुके थे, तब महर्षि वाल्मीकि जी ने विचित्र पदों से युक्त इस सम्पूर्ण काव्य की रचना की ॥ १ ॥

[नोट—इस श्लोक से स्पष्ट है कि, यह इतिहास श्रीरामचन्द्र जी का समकालीन इतिहास है।]

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥

चौबीस हज़ार श्लोक पाँच सौ सर्ग, छः काण्ड और साथ ही उत्तरकाण्ड की भी रचना महर्षि ने की ॥ २ ॥

कृत्वापि तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।
चिन्तयामास को न्वेतत्प्रयु[1]ञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥

इस प्रकार जब वे छः काण्ड और उत्तरकाण्ड बना चुके तब वे विचारने लगे कि यह काव्य पढ़ावें किसे ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥

वे यह सोच ही रहे थे कि, इतने में कुश और लव ने आकर वाल्मीकि जी के चरण छूए ॥ ४ ॥

---

१ प्रयुञ्जीयात्—वाग्विधेयं कुर्यात् इतिचिन्तयामास (गो०)

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥

उन यशस्वी धर्मात्मा दोनों राजपुत्रों (श्रीरामचन्द्र जी के पुत्रों) को महर्षि ने देखा जिनका कण्ठस्वर बड़ा मधुर था और जो उन्हीं के आश्रम में उन दिनों वास करते थे ॥ ५ ॥

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान और वेदों में निष्ठा रखने वाले जान कर, वेद के अर्थ को श्लोकों में प्रकट कर, महर्षि ने उन दोनों को वह काव्य पढ़ाया ॥ ६ ॥

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येव चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥

महर्षि ने सीताराम के सम्पूर्ण चरित रावणवध के वृत्तान्त सहित इस काव्य का नाम "पौलस्त्यवध" काव्य रखा ॥ ७ ॥

[नोट—रावण का जन्म पुलस्त्य ऋषि के वंश में हुआ था, अतः रावण को पौलस्त्य भी कहते हैं। पौलस्त्यवध अर्थात् रावण का वध, जिसमें वर्णन किया गया वह पौलस्त्यवध काव्य कहलाया।]

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥

यह चरित्र पढ़ने तथा गाने में मधुर, तीनों प्रमाणों से युक्त अर्थात् द्रुत, मध्य, विलंबित सहित), सातों स्वरों से बंधा हुआ, और वीणादि बजा कर गाने योग्य है ॥ ८ ॥

हास्यशृङ्गारकारुण्यरौद्रवीरभयानकैः ।
बीभत्साद्भुतसंयुक्तं काव्यमेतद्गायताम् ॥ ९ ॥

शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स, अद्भुत शान्त ; इन नव रसों से युक्त काव्य को कुश और लव ने गाया ॥ ९ ॥

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ मूर्छनास्थानकोविदौ ।
भ्रातरौ स्वरसंपन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ ॥ १० ॥

वे दोनों राजकुमार गान विद्या में निपुण, ताल और स्वर को भली भाँति जानने वाले, स्वरसम्पन्न और गन्धर्वों की तरह सुन्दर थे ॥ १० ॥

रूपलक्षणसंपन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ ।
बिम्बादिवोद्धृतौ बिम्बौ रामदेहात्तथापरौ ॥ ११ ॥

सुस्वरूप और सुलक्षणों से सम्पन्न, मीठे कण्ठ वाले दोनों राजकुमार ऐसे जान पड़ते थे, मानों श्रीरामचन्द्र की देह के प्रतिबिम्ब अलग रखे हों ॥ ११ ॥

तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
वाचो विधेयं[1] तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ ॥१२॥

प्रशंसनीय उन दोनों राजकुमारों ने अत्युत्तम धर्म को बतलाने वाले रामायणकाव्य को बार बार पढ़ कर कण्ठाग्र कर डाला ॥ १२ ॥

ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे ।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥ १३ ॥

वे ऋषि, ब्राह्मण और साधुओं के सामने रामचरित्र को जैसा कि उन्हें बतलाया गया था, बड़ी सावधानी से गाया करते थे ॥१३॥

---

१ वाचोविधेयं—आवृत्तिबाहुल्येनत्वाग्वशवर्तिं कृत्वा (गो०)

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ ।
तौ कदाचित्समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्[1] ॥१४॥
आसीनानां समीपस्थाविदं काव्यमगायताम् ।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः ॥ १५ ॥

एक बार अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के अश्वमेधयज्ञ में, महात्मा महाभाग तथा सर्वलक्षणयुक्त दोनों भाइयों ने प्रौढ़-विचार-सम्पन्न महात्मा ऋषियों की सभा में बैठ कर यह काव्य गाया, जिसको सुन कर मुनियों के शरीर रोमाञ्चित हो गये और उनके नेत्रों से आँसू टपकने लगे ॥ १४ ॥ १५ ॥

साधु साध्विति चाप्यूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥ १६ ॥

व आश्चर्य चकित हो "साधु साधु" कह कर उन दोनों राज-कुमारों की प्रशंसा करते हुए वे धर्मवत्सल ऋषि, अत्यानन्दित हुए ॥ १६ ॥

प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १७ ॥

उन गाते हुए प्रशंसा करने योग्य राजकुमारों की प्रशंसा कर, वे बोले कि, गान बड़ा मधुर है और श्लोकों का माधुर्य तो बहुत अधिक चढ़ बढ़ कर है ॥ १७ ॥

चिरनिर्वृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथा भावमगायताम् ॥ १८ ॥

---

१ भावितात्मनाम्—निश्चितधियं (गो०)

क्योंकि बहुत दिनों की बीती घटना प्रत्यक्ष की तरह दिखलाई सी पड़ती है। इस प्रकार ऋषियों द्वारा प्रशंसित दोनों राजकुमार उनके मन के भावानुकूल ॥ १८ ॥

सहितौ मधुरं रक्तं[1] संपन्नं स्वरसंपदा ।
एवं प्रशस्यमानौ तौ स्तपःश्लाघ्यैर्महात्मभिः ॥ १९ ॥

अति मधुर वाणी से अर्थात् राग से उस काव्य को गाने लगे। उसे सुन ऋषियों ने उन गाने वालों की बड़ी बड़ाई की ॥ १९ ॥

संरक्ततरमत्यर्थमधुरं तावगायताम् ।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां सस्मितः कलशं ददौ ॥२०॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महातपाः ।
अन्यः कृष्णाजिनं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः ॥२१॥
कश्चित्कमण्डलुं प्रादाद्यज्ञसूत्रमथापरः ।
औदुम्बरीं व्रसीमन्यो जपमालामथापरः ॥ २२ ॥
आयुष्यमपरे चोचुर्मुदा तत्र महर्षयः ।
आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम् ॥ २३ ॥

राग सहित मधुर कण्ठ से गाने वाले उन राजकुमारों के मधुर गान पर प्रसन्न हो, सुनने वालों में से किसी ने हँस कर उनको कलसा, किसी ने वल्कल, किसी ने मृगचर्म, किसी ने यज्ञोपवीत, किसी ने कमण्डलु, किसी ने मौंजी मेखला, किसी ने आसन विशेष, किसी ने कौपीन, किसी ने कुल्हाड़ी, किसी ने कषाय वस्त्र, किसी ने चीर, किसी ने जटा बांधने का डोरा, किसी ने कोई

१ रक्तं—रागयुक्तं (गो०)

यज्ञपात्र, और किसी ने माला दी। किसी ने प्रसन्न हो कर स्वस्ति और आयुष्मान कह कर आशीर्वाद ही दिया। इस आश्चर्यप्रद काव्य के प्रणेता की प्रशंसा कर वे कहने लगे, ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम् ।
अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतेषु कोविदौ ॥ २४ ॥

यह काव्य पीछे के कवियों का आधर स्वरूप है और यथाक्रम समाप्त किया गया है। यह ग्रन्थ जैसा अद्भुत है वैसा ही गीत-विशारद इन दोनों राजकुमारों ने इसे गाया भी है ॥ २४ ॥

आयुष्यं पुष्टिजनकं सर्वश्रुतिमनोहरम् ।
प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित्तत्र गायनौ ॥ २५ ॥

यह काव्य श्रोताओं की आयु वढ़ाने वाला तथा उनकी पुष्टि करने वाला और सुनने से सब के मन को हरने वाला है। इस प्रकार मुनियों से प्रशंसित दोनों राजकुमारों को, ॥ २५ ॥

रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः ।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ च कुशीलवौ ॥ २६ ॥

राजमार्ग पर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा और वे उन दोनों भाई कुश और लव को अपने भवन में लिवा ले गये ॥ २६ ॥

पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिवर्हणः ।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः ॥२७॥

शत्रु का नाश करने वाले श्रीराम जी ने घर पर उन सत्कार करने योग्य दोनों कुमारों का भली भाँति आदर सत्कार किया और आप सुवर्ण के दिव्य सिंहासन पर बैठे ॥ २७ ॥

उपोपविष्टः सचिवैर्भ्रातृभिश्च परंतपः ।
दृष्ट्वा तु रूपसंपन्नौ तावुभौ नियतस्तदा ॥ २८ ॥

मंत्रियों व भाइयों सहित बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी उन रूपवान और सुशिक्षित दोनों भाइयों को देख कर ॥ २८ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा ।
श्रूयतामिदमाख्यानमनयोर्देववर्चसोः[1] ॥ २९ ॥

लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत से कहने लगे कि, इन देव समान तेजस्वी, गायकों के गान किये हुए इतिहास को सुनो ॥ २९ ॥

विचित्रार्थपदं सम्यग्गायनौ समचोदयत् ।
तौ चापि मधुरं व्यक्तं स्वञ्चितायतनिःस्वनम् ।
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् ॥ ३० ॥

इसमें नाना प्रकार के विचित्र अर्थ सहित पद हैं, यह कह उन्होंने उन बालकों को अच्छे प्रकार गाने की आज्ञा दी। तब उन दोनों ने उस भली भाँति सीखे हुए काव्य को वीणा के साथ स्वर मिला कर ऊँचे स्वर में स्पष्ट गाया ॥ ३० ॥

ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद्बभौ जनसंसदि ॥ ३१ ॥

उस सभा में बैठे हुए लोगों के मन और हृदय उस गान को सुन कर अत्यन्त आह्लादित हो गये ॥ ३१ ॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।

---

१ देववर्चसोः—देवतुल्यतेजसोः (गो०)

ममापि तद्भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी कहने लगे कि, राजलक्षणों से युक्त इन बड़े तपस्वी कुश और लव ने प्रभावोत्पादक जो चरित गाये हैं वे मुझे बहुत अच्छे जान पड़ते हैं ॥ ३२ ॥

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसंपदा ।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषया सक्तमना बभूव ह ॥ ३३ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्रोत्साहित हो, दोनों भाई, गायन विद्या की रीति को सरसा कर, बड़ी अच्छी तरह गाने लगे। सभा में बैठे श्रीरामचन्द्र उनका गान सुन धीरे धीरे उनके गान पर मोहित हो गये ॥ ३३ ॥

चौथा सर्ग पूरा हुआ

—※—

पञ्चमः सर्गः

—※—

सर्वा पूर्व[1]मियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुंधरा ।
प्रजापतिमुपादाय[2] नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥

---

१ अपूर्वं—दुर्लभं (गो०) २ उपादाय—आरभ्य (गो०)

राजा वैवस्वत मनु आदि जयशाली राजाओं के समय से यह सप्तद्वीपात्मिका अखिल पृथ्वी, अपूर्व ही चली आती है, अथवा महात्मा मनु जी से लेकर जयशाली राजाओं के समय से इस सप्तद्वीपात्मिका समस्त पृथिवीमण्डल पर एकछत्र शासन रहा है ॥ १ ॥

येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन्[1] ॥ २ ॥

जिस वंश में वे सगर नाम के राजा हुए, जिनके साथ साठ हज़ार पुत्र चला करते थे और जिन्होंने समुद्र खोदा था (समुद्र का सागर नाम सगर राजा ही से हुआ है) ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम् ।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

उन महात्मा इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं के वंश में यह महा-कथा उत्पन्न हुई है, जो रामायण के नाम से जगत में प्रसिद्ध है (अर्थात् इसमें उन्हीं सगर राजा के वंश वालों का इतिहास दिया गया है) ॥ ३ ॥

तदिदं वर्तयिष्यामि[2] सर्वं निखिलमादितः ।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्य[3]मनसूयया[4] ॥ ४ ॥

१ पर्यवारयन्—परितोऽगच्छन् (गो०) २ वर्तयिष्यामि—प्रवर्तयिष्यामि (गो०) ३ श्रोतव्यं—ननुत्वयंलिखितपाठेननिरीक्षितव्यं (गो०) ४ अनसूयया—असूयाभिन्नया श्रद्धयेत्यर्थः (गो०)

उसी रामायण की कथा को हम आद्यन्त (आदि से अन्त तक) कहेंगे। अतः इसे ईर्ष्या अर्थात् डाह को छोड़ अर्थात् श्रद्धा सहित सुनना चाहिये* ॥ ४ ॥

कोसलो नाम मुदितः[1] स्फीतो[2] जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥

सरयू नदी के तट पर सन्तुष्ट जनों से पूर्ण धनधान्य से भरा पूरा, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त, कोसल नामक एक बड़ा देश था ॥ ५ ॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥

इसी देश में मनुष्यों के आदिराजा प्रसिद्ध महाराज मनु की नगरी बसाई हुई, तीनों लोकों में विख्यात अयोध्या नामक एक थी ॥ ६ ॥

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥

यह महापुरी बारह योजन (४८ कोस यानी ९६ मील) चौड़ी थी। नगरी में बड़ी सुन्दर लंबी और चौड़ी सड़कें थीं ॥ ७ ॥

---

१ मुदितः—सन्तुष्टजनः (गो०) २ स्फीतः—समृद्धः (गो०)

* इस श्लोक का भाव यह है कि, यह ग्रन्थ ब्रह्मा जी का बनाया हुआ होने के कारण, मुझे केवल इसके प्रचार करने का अधिकार है। अतः विचारशीलों को इसे मेरा बनाया हुआ समझ इस ग्रन्थ से डाह न करना चाहिये, किन्तु श्रद्धा भक्ति के साथ इसे सुनना चाहिये।

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥

वह पुरी चारों ओर फैली हुई बड़ी बड़ी सड़कों से सुशोभित थी। सड़कों पर नित्य जल छिड़का जाता था और फूल बिछाये जाते थे ॥ ८ ॥

तां तु राजा दशरथो महान्राष्ट्रविवर्धनः ।
पुरीमावासयामास दिवं देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

इन्द्र की अमरावती की तरह महाराज दशरथ ने उस पुरी को सजाया था। इस पुरी में राज्य को खूब बढ़ाने वाले महाराज दशरथ उसी प्रकार रहते थे जिस प्रकार स्वर्ग में इन्द्र वास करते हैं ॥ ९ ॥

कवाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम् ।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुपेतां सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥

इस पुरी में बड़े बड़े तोरण द्वार (पौलें) सुन्दर बाज़ार और नगरी की रक्षा के लिये चतुर शिल्पियों द्वारा बनाए हुए सब प्रकार के यंत्र और शस्त्र रखे हुए थे ॥ १० ॥

सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम् ।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥

उस में सूत, मागध वंदीजन भी रहते थे, वहाँ के निवासी अतुल धन सम्पन्न थे, उसमें बड़ी बड़ी ऊँची अटारियों वाले मकान, जो ध्वजा पताकाओं से शोभित थे, बने हुए थे, और परकोटे की दीवालों पर सैकड़ों तोपें चढ़ी हुई थीं ॥ ११ ॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ १२ ॥

स्त्रियों की नाट्य समितियों की भी उसमें कमी नहीं थी और सर्वत्र जगह जगह पार्क यानी उद्यान थे और आम के बाग़ नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे। नगर के चारों ओर साखुओं के लंबे लंबे वृक्ष लगे हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों अयोध्या रूपिणी स्त्री करधनी पहने हो ॥ १२ ॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥ १३ ॥

यह नगरी दुर्गम किले और खाई से युक्त थी तथा उसे किसी प्रकार भी शत्रु जन अपने हाथ नहीं लगा सकते थे। हाथी घोड़े बैल ऊँट खच्चर जगह जगह देख पड़ते थे ॥ १३ ॥

सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥

करद राजाओं और पहलवानों का यहां सदा जमाव रहता था। उस पुरी में अनेक देशों के लोग व्यापारादि धंधों के लिये बसते थे ॥ १४ ॥

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम् ।
कूटागारैश्च[1] संपूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ १५ ॥

रत्न खचित महलों और पर्वतों से वह पुरी शोभायमान हो रही थी। वहाँ पर स्त्रियों के क्रीड़ागृह भी बने हुए थे, जिनकी सुन्दरता देख यही जान पड़ता था मानों यह दूसरी अमरावती पुरी है ॥ १५ ॥

---

१ कूटागारैः—स्त्रीणांक्रीडागृहैः (गो०)

चित्रा[1]मष्टा[2]पदाकारां वरनारीगणैर्युताम् ।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥ १६ ॥

राजभवनों का सुनहला रंग था। नगरी में सुन्दर स्वरूपवती स्त्रियाँ रहती थीं। रत्नों के ढेर वहाँ लगे रहते थे और आकाशस्पर्शी सतखने मकान (विमान गृह) जहाँ देखो वहाँ दिखलाई पड़ते थे ॥ १६ ॥

गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम् ।
शालितण्डुलसंपूर्णामिक्षुदण्डरसोदकाम् ॥ १७ ॥

उसमें चौरस भूमि पर बड़े मज़बूत और सघन मकान अर्थात बड़ी सघन बस्ती थी। नगरी में साठी के चाँवलों के ढेर लगे हुए थे और कुओं में गन्ने के रस जैसा मीठा जल भरा हुआ था ॥ १७ ॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा ।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥ १८ ॥

नगाड़े, मृदङ्ग, वीणा, पनस आदि बाजों की ध्वनि से नगरी सदा प्रतिध्वनित हुआ करती थी। पृथ्वीतल पर तो इसकी टक्कर की दूसरी नगरी थी नहीं ॥ १८ ॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशित[2]वेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥ १९ ॥

---

१ चित्रां—नानाराजगृहवर्ती (गो०)। २ अष्टापदाकारां—अष्टापदं सुवर्णं तज्जलेन कृतः आकारः अलङ्कारो यस्याहत्येके (रा०) २ सुनिवेशिताः—सुष्टु-निर्मिताः (गो०)

उस पुरी में, तप द्वारा स्वर्ग में गये हुए सिद्ध पुरुषों के विमानों जैसे सुन्दर घर वने हुए थे, जिनमें उत्तम कोटि के मनुष्य रहा करते थे ॥ १९ ॥

ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरावरम् ।
शब्दवेध्यं च वितत[1] लघुहस्ता विशारदाः ॥ २० ॥

उसमें ऐसे भी वीर थे जो असहाय और युद्ध छोड़ कर भागने वाले शत्रु का कभी वध नहीं करते थे, जो शब्दवेधी वाण चलाते थे, जो वाण चलाने में वड़े फुर्तीले थे तथा जो अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पूर्ण निपुण थे ॥ २० ॥

सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नर्दतां वने ।
हन्तारो निशितैर्बाणैर्वलाद्धाहुवलैरपि ॥ २१ ॥

सिंह, व्याघ्र, वराह आदि वन्य पशु जो वनों में दहाड़ते हुए घूमा करते थे, उनको अस्त्र शस्त्रों से तथा उनके साथ मल्लयुद्ध करके उनको मारने वाले भी वीर इस नगरी में अनेक थे। अर्थात् हस्तलाघवता में तथा शारीरिक वल में यहां के वीरगण वहुत चढ़े वढ़े थे ॥ २१ ॥

तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः ।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥ २२ ॥

ऐसे हज़ारों महारथी वहाँ रहते थे । महाराज दशरथ ने इस प्रकार से अयोध्यापुरी वसायी थी ॥ २२ ॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः ।

---

१ विततं—पलायितं च (गो०)

सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः[1] ॥ २३ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

अयोध्यापुरी में सहस्रों साग्निक (नित्य अग्निहोत्र करने वाले द्विज) सब प्रकार के गुणी, षडङ्ग वेद का पारायण करने वाले विद्वान् ब्राह्मण, सत्यवादी महात्मा और जप तप में निरत हज़ारों ऋषि महात्मा ही मुख्यतया वास करते थे ॥ २३ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—:०:—

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित्सर्वसंग्रहः ।
दीर्घदर्शी[2] महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥ १ ॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मरतो वशी ।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ २ ॥
बलवान्निहतामित्रो मित्रवान्विजितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥ ३ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ ४ ॥

---

१ केवलै—मुख्यैः (वि०) २ दीर्घदर्शी—चिरकालभाविपदार्थेद्रष्टुशील-मस्यास्तीति तथा (गो०)

उस अयोध्यापुरी में वेदवेदार्थ जानने वाले, सब वस्तुओं का संग्रह करने वाले (सत्य संग्रहः—धर्म का विचार रखते हुए सब का संग्रह करने वाले) सत्यप्रतिज्ञ, दूरदर्शी, महातेजस्वी, प्रजाप्रिय, इक्ष्वाकुवंश में महारथी, अनेक यज्ञ करने वाले, धर्म में रत सब को अपने वश में रखने वाले, महर्षियों के समान, राजर्षि, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, बलवान, शत्रुरहित, सब के मित्र, इन्द्रियों को वश में रखने वाले, धनादि तथा अन्य वस्तुओं के सञ्चय करने में इन्द्र और कुबेर के समान, महाराज दशरथ ने, अयोध्यापुरी में राज्य करते हुए उसी प्रकार प्रजापालन किया जिस प्रकार महाराज मनु किया करते थे ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ॥ ५ ॥

सत्यसन्ध, तथा त्रिवर्ग प्राप्ति (धर्म, अर्थ और काम) के लिये अनुष्ठानादि करने वाले महाराज दशरथ अयोध्यापुरी का पालन उसी प्रकार करते थे, जैसे इन्द्र अपनी अमरावती पुरी का करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन्पुरवरे हृष्टा[1] धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ॥ ६ ॥

उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरी में सुख से बसने वाले, धर्मात्मा बहुश्रुत अर्थात् बहुत सा ज़माना देखे भाले हुए, अपने अपने धन से सन्तुष्ट, निर्लोभी, तथा सत्यवादी पुरुष रहते थे ॥ ६ ॥

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे ।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ॥ ७ ॥

---

१ हृष्टाः—वाससौख्येनप्रीताः (गो०)

उस उत्तम पुरी में ग़रीब यानी धनहीन तो कोई था ही नहीं, अधिक कम धन वाला भी कोई न था, वहां जितने कुटुम्ब वाले लोग वसते थे, उन सब के पास धन धान्य, गाय, बैल, और घोड़े थे ॥ ७ ॥

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः ॥८॥

अयोध्यापुरी में लम्पट, कायर, नृशंस, मूर्ख, नास्तिक आदमी तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते थे ॥ ८ ॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
उदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासी क्या स्त्री और क्या पुरुष, सब के सब धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। वे अपने शुद्ध और निष्कलङ्क आचरणों में निष्पाप महर्षियों से टक्कर लेते थे अर्थात् इन बातों में वहां के रहने वाले सब लोग ऋषियों के समान थे ॥ ९ ॥

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्प[1]भोगवान् ।
नामृष्टो[2] नानुलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ॥ १० ॥

वहाँ ऐसा एक भी जन नहीं था जो कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट तथा गले में पुष्प माला धारण न करता हो, और जो तेल, फुलेल, चन्दन न लगाता हो या जो हर प्रकार से सुखी न हो। ऐसा तो कोई भी न था जिसके (स्वच्छता न रहने के कारण) शरीर से बदबू निकलती हो ॥ १० ॥

---

१ अल्पभोगवान् —अल्पसुखवान् (गो०) २ मृष्टः—अभ्यङ्गस्नान-शुद्धः (गो०)

नामृष्ट[1]भोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वाऽपि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ॥ ११ ॥

वहाँ ऐसा एक भी जन न था जो *अशुद्ध अन्न खाता हो (य. अच्छे पदार्थ न खाता हो) या जो भूखे को अन्न न देता हो या जिसके गले और हाथों में सोने के गहने न हों या जिसने अपने मन को न जीत रखा हो ॥ ११ ॥

नानाहिताग्निर्नायज्वा[2] न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न.च निर्वृत्तसंकरः[3] ॥ १२ ॥

अयोध्या में न तो कोई पुरुष ऐसा ही था जिसे अग्निहोत्र वलि-वैश्वदेव करना चाहिये और न करता हो या जो क्षुद्रचेता यानी नीच स्वभाव का हो, या चोर हो, या वर्णसङ्कर हो ॥ १२ ॥

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥

वहाँ पर तो अपने वर्णाश्रम धर्मों का नित्य अनुष्ठान करने वाले, जितेन्द्रिय. दान और अध्ययनशील तथा दान (प्रतिग्रह) लेने में हिचकने वाले ब्राह्मण वसते थे ॥ १३ ॥

न नास्तिकों नानृतको न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाऽशक्तो नाविद्वान्विद्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

---

१ नामृष्टभोजी—अशुद्धान्नभोजी (शि०) २ नायज्वा—सोमयागरहितश्च (शि०) ३ निर्वृत्तसङ्कराः—निर्वृत्तः अनुष्ठितः, सङ्करः परक्षेत्रेबीजावापादियेंन सः (गो०)

* बलिवैश्वदेवादि कर्म किये बिना अन्न शुद्ध नहीं होता ।

अयोध्या में न तो कोई नास्तिक ही था, न कोई असत्यवादी था, न कोई अल्प अनुभवी था, न कोई परनिन्दाप्रिय था, न कोई अशक्त था और न कोई अशिक्षित मूर्ख ही था ॥ १४ ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो[1] नासहस्रदः[2] ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥१५॥

वहां न कोई ऐसा ही द्विज था जो नित्य षडङ्गवेद का स्वाध्याय न करता हो, या जो एकादशी आदि व्रतों को न रखता हो, या जो पढ़ाने में कोताई करता हो, या दीन हो या पागल हो, या व्यथित हो, अथवा दुखिया हो ॥ १५ ॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥१६॥

अयोध्या में बसने वाले क्या पुरुष और क्या स्त्रियां कोई भी निर्धन और कुरूप न थीं। उस पुरी में ऐसा भी कोई पुरुष नहीं देख पड़ता था, जो राजभक्त न हो कर राजद्रोही हो ॥ १६ ॥

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥

वहां तो चारों वर्ण वाले लोग बसते थे, जो देवता और अतिथियों का पूजन किया करते थे, जो कृतज्ञ, वदान्य, (वचन को पूरा करने वाले, दाननिपुण) शूरवीर और विक्रमशाली थे ॥ १७ ॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥ १८ ॥

---

१ एकादश्यादिव्रतःरहितः (वि०) । २ नासहस्रदः—अबहुप्रदः (गो०)

सब अयोध्यावासी दीर्घायु वाले, धर्म और सत्य का आश्रय लेने वाले, पुत्र, पौत्र और स्त्रियों से भरे पूरे थे ॥ १८ ॥

क्षत्रं ब्रह्ममुखं[1] चासीद्वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वधर्म निरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥

वहाँ के क्षत्रियगण ब्राह्मणों के आज्ञाकारी, वैश्यगण क्षत्रियों के अनुवर्ती (अर्थात् कहने में चलने वाले) और शूद्रगण अपने वर्ण धर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के लोगों की सेवा करने वाले थे ॥ १९ ॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥

महाराज दशरथ उसी प्रकार अयोध्यापुरी का पालन किया करते थे, जिस प्रकार उनके पूर्वज बुद्धिमान नरेन्द्र महाराज मनु कर चुके थे ॥ २० ॥

योधानामग्निकल्पानां पेशलानां[2] अमर्षिणम् ।
संपूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी, सरलचित्त, शत्रु बल को न सहने वाले, अस्त्र शस्त्र परिचालन में निपुण योद्धाओं से अयोध्यापुरी उसी प्रकार भरी हुई थी, जिस प्रकार पर्वत-कन्दराएं सिंहों से भरी हुई होती हैं ॥ २१ ॥

काम्भोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥

---

१. ब्रह्ममुखं—ब्राह्मणप्रधानंआसीत् (गो०) २ पेशलानाम्—अकुटिलानाम् ।

इन्द्र के घोड़ों के समान कम्बोज, वाल्हीक, वनायुज और सिन्धु नदी के समीपवर्ती देशों में उत्पन्न हुए घोड़ों की जाति के उत्तमोत्तम घोड़ों से अयोध्यापुरी सुशोभित थी ॥ २२ ॥

विन्ध्यपर्वतजैर्वृत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥
ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जनादपि निष्पन्नैर्वामनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥
भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने च द्वे भूयः सत्यनामा प्रकाशते ॥ २६ ॥

विन्ध्याचल और हिमालय पर्वतों में उत्पन्न मदमस्त, अति बलशाली तथा पहाड़ों की नाईं ऊँचे और महापद्म कुल वाले; भद्र, मन्द्र और मृग जाति वाले और इन तीनों जातियों के मिश्रित लक्षणयुक्त; भद्रमन्द्र, भद्रमृग और मृगमन्द्र—इन दो दो जातियों के मिश्रित लक्षण युक्त, पर्वताकार हाथियों से भरी, दो योजन वाली, अपने नाम को सार्थक करने वाली अयोध्यापुरी थी। (अयोध्या का अर्थ है—जिससे कोई युद्ध न कर सके अर्थात् अजेया) ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ।
तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

इस प्रकार की अयोध्या नगरी में महाराज दशरथ रह कर राज्य करते थे। उस पुरी में महाराज दशरथ राज्य करते हुए उसी प्रकार शोभायमान होते थे, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा ॥ २७ ॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

अपने नाम को चरितार्थ करने वाली अयोध्यापुरी में, जो दृढ़ तोरण अर्गलादि से युक्त थी, जिसमें चित्र विचित्र घर बने हुए थे और जिसमें हज़ारों धनी मनुष्य वास करते थे, महाराज दशरथ इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तमः सर्गः

—:०:—

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोस्तु महात्मनः ।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥

उन इक्ष्वाकुवंशोद्भव महाराज दशरथ के मंत्रिगण, सर्वगुण सम्पन्न, सत्परामर्श देने में निपुण, अपने स्वामी (अर्थात् महाराज दशरथ) के मन की गति को समझाने वाले, अर्थात् इशारों

पर काम करने वाले और महाराज की सदा भलाई चाहने वाले थे ॥ १ ॥

अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में आठ मंत्री थे। वे सब बड़े यशस्वी, ईमानदार और नित्य राज्यकार्य में निरत रहने वाले थे ॥२॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः ।
अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽभवत् ॥ ३ ॥

आठ मंत्रियों के नाम ये थे—(१) धृष्टि, (२) जयन्त (३) विजय (४) सिद्धार्थ (५) अर्थसाधक (६) अशोक (७) मंत्रपाल और (८) सुमंत्र ॥ ३ ॥

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥

इनके अतिरिक्त ऋषिवर्य वशिष्ठ, और वामदेव * महाराज को यज्ञ भी कराते थे और मंत्रिपद का भी काम करते थे ॥ ४ ॥

विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ।
परस्परानुरक्ताश्च नीतिमन्तो बहुश्रुताः ॥ ५ ॥
श्रीमन्तश्च महात्मानः शास्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ।
कीर्त्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ६ ॥

---

* किसी किसी रामायण की पुस्तक में सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, और कात्यायन महर्षियों को भी कुलपरम्परा से महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में सम्मिलित लिखा है ।

तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ।
क्रोधात्कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥ ७ ॥

तेषामविदितं किंचित्स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ८ ॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं तु ते दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ ९ ॥

ये सब मंत्री विद्या-विनय-सम्पन्न, सलज्ज, कार्य-कुशल, जितेन्द्रिय, आपस में सद्भाव रखने वाले, नीतिविशारद, बड़े अनुभवी, धन सम्पत्ति से भरे पूरे, महात्मा, शास्त्र के मर्म को जानने वाले, बड़े पराक्रमी, प्रसिद्ध, (जागरूक) सावधान, राजा के कथनानुसार कार्य करने वाले अथवा अपने वात के धनी (जो कहै वही करै भी) तेजस्वी, क्षमावान्, यशस्वी और सदा प्रसन्न मुख हो वचन कहने वाले, क्रोध अथवा लोभवश हो कभी झूठ न बोलने वाले थे। अपनी प्रजा तथा दूसरे राज्यों की प्रजा का कोई भी हाल इन मंत्रियों से छिपा न था, क्योंकि वे चरों द्वारा सब वृत्तान्त जानते रहते थे। वे व्यवहारकुशल, सौहार्द्र में जाँचे हुए और अन्याय कार्य करने पर अपने पुत्र को भी न्यायोचित दण्ड देने वाले थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे ।
अहितं वापि पुरुषं न विहिंस्युरदूषकम् ॥ १० ॥

वे सब मंत्री अर्थ और सैन्य विभागों के कामों में चतुर, निरपराध शत्रु को भी न सताने वाले थे ॥ १० ॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुव्रताः ।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥ ११ ॥

वे वीर और उत्साह को नियमित रखने वाले, राजनीति में निपुण और राज्य में बसने वाले पवित्रात्माओं की रक्षा करने वाले थे ॥ ११ ॥

अब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समवर्धयन् ।
सुतीक्ष्णदण्डा संप्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १२ ॥

वे ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बिना सताये ही राजकोष की वृद्धि करने वाले थे, और अपराधी का बलाबल विचार कर कठोर दण्ड की व्यवस्था करने वाले थे ॥ १२ ॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां संप्रजानताम् ।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् ॥१३॥

कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत्परदाररतो नरः ।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद्राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥ १४ ॥

मंत्रियों में परस्पर ऐक्य और आतङ्क ऐसा था कि, राजधानी और राज्य भर में न तो कोई झूठा और न कोई लम्पट और दुराचारी ही मनुष्य रहने पाता था। राज्य भर में अमनचैन विराजता था ॥ १३ ॥ १४ ॥

सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे सुशीलिनः ।
हितार्थं च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ॥ १५ ॥

वे लोग अच्छे वस्त्र पहनते थे और अच्छा वेशभूषा रखते थे तथा बड़े सुशील थे। वे सदा राजा का हित चाहने वाले और नीति से चलने वाले थे ॥ १५ ॥

गुरौ गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमे ।
विदेशेष्वपि विख्याताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयात् ॥१६॥

वे अच्छे गुणों के ग्राहक, और प्रसिद्ध पराक्रमी थे। वे अपने बुद्धिबल से विदेशस्थ पुरुषों के भी गुण दोष ताड़ लेने के लिये विख्यात थे ॥ १६ ॥

संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या संपदान्विताः ।
मन्त्रसंवरणे युक्ताः श्लक्ष्णाः सूक्ष्मासु बुद्धिषु ॥१७॥

वे संधि और विग्रह की नीति के मर्मज्ञ, वास्तविक संपत्ति वाले राजकाज सम्बन्धी सलाह को क्षिपा कर रखने वाले, प्रतिभावान् और सूक्ष्म विचार करने के लिये सदा तत्पर रहते थे ॥ १७ ॥

नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ।
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः ॥ १८ ॥

उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद्वसुंधराम् ।
अवेक्षमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रञ्जयन् ॥ १९ ॥

वे नीति शास्त्र के विशेषज्ञ और सदैव प्रियवचन बोलने वाले थे, इस प्रकार के गुणयुक्त मन्त्रिमण्डल से युक्त, महाराज दशरथ भेदिया पुलिस द्वारा राज्य के समाचार जान कर, प्रजा का मनोरंजन करते हुए, पृथ्वी पर राज्य करते थे ॥ १८ ॥ १९ ॥

प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ।
विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः ॥ २० ॥

वे अधर्म त्याग कर प्रजा का पालन करते थे। वे सत्य बोल और वदान्यता के लिये तीनों लोकों में विख्यात थे ॥ २० ॥

स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ।
नाव्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः ॥२१॥

वे पुरुषसिंह महाराज दशरथ इस पृथ्वी का शासन करते हुए, अपने से अधिक व अपने समान, शत्रु को कभी न देखते थे ॥ २१ ॥

मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः ।
स शशास जगद्राजा दिवं देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

अपने अधीनस्थ छोटे राजाओं से सम्मानित और मित्रों से युक्त महाराज दशरथ, अपने प्रताप से इन्द्र की तरह राज्य करते थे ॥ २२ ॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते नियुक्तै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः ।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥ २३ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हितकारी, तेजस्वी, समर्थ, अनुरागी, मंत्रियों सहित, महाराज दशरथ अयोध्या की रक्षा करते हुए, सूर्य की तरह तपते थे ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टमः सर्गः

—:※:—

तस्य त्वेवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद्वंशकरः सुतः ॥ १ ॥

ऐसे प्रतापी, धर्मज्ञ महाराज दशरथ के तपस्या करने पर भी वंशवृद्धि करने वाला कोई पुत्र न था ॥ १ ॥

चिन्तयानस्य तस्येयं बुद्धिरासीन्महात्मनः ।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥ २ ॥

तब बुद्धिमान महाराज दशरथ ने मन में सोचा कि, मैं पुत्र-प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ क्यों न करूँ ॥ २ ॥

स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान् ।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरेव कृतात्मभिः ॥ ३ ॥

इस प्रकार यज्ञ करने का भली भांति निश्चय करके, परमज्ञानी महाराज ने अपने बुद्धिमान् मंत्रियों को बुलाया ॥ ३ ॥

ततोऽब्रवीदिदं राजा सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
शीघ्रमानय मे सर्वान्गुरूंस्तान्सपुरोहितान् ॥ ४ ॥

सब मंत्रियों में श्रेष्ठ सुमंत्र से महाराज दशरथ ने कहा कि, तुम हमारे सब गुरुओं और पुरोहितों को शीघ्र बुला लाओ ॥ ४ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्सर्वान्गुरूंस्तान्वेदपारगान् ॥ ५ ॥

शीघ्रगामी सुमंत्र अति शीघ्र उन सब वेदपारग गुरुओं को बुला लाये ॥ ५ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥ ६ ॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, और पुरोहित वशिष्ठ के अतिरिक्त अन्य उत्तम ब्राह्मणों को भी सुमंत्र बुला ले गये ॥ ६ ॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उन सब का धर्मात्मा महाराज दशरथ ने सम्मान किया और धर्म और अर्थ युक्त उनसे यह मधुर वचन कहे ॥ ७ ॥

मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

पुत्र के लिये बहुत विलाप करने पर भी मुझे पुत्रसुख प्राप्त नहीं हुआ । इस लिये पुत्रप्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करने की मेरी इच्छा है ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥ ९ ॥

किन्तु मैं शास्त्र की विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहता हूँ । आप लोग सोच विचार कर बतलावें कि हमारी इष्टसिद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥ ९ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम् ॥ १० ॥

महाराज के यह वचन सुन कर, सब उपस्थित ब्राह्मणों ने महाराज के विचार की प्रशंसा की, और वशिष्ठादि बोले कि, आपने बहुत अच्छा कार्य करना विचारा है ॥ १० ॥

ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥११॥

वे सब अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज से बोले कि, यज्ञ की सामग्री एकत्र करके घोड़ा छोड़िये ॥ ११ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥ १२ ॥

सरयू नदी के उत्तर तट पर यज्ञमण्डप बनवाइये । हे राजन् ! ऐसा करने से आपका पुत्र-प्राप्ति का मनोरथ अवश्य पूरा होगा ॥ १२ ॥

यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ।
ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वैतद्द्विजभाषितम् ॥ १३ ॥

पुत्र-प्राप्ति के लिये आपने यह उपाय बहुत ही अच्छा विचारा है । उन ब्राह्मणों की ये बातें सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए ॥१३॥

अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षपर्याकुलेक्षणः ।
संभाराः संभ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥ १४ ॥

और प्रसन्न हो मंत्रियों को आज्ञा दी कि मेरे गुरु की आज्ञा के अनुसार यज्ञ की तैयारियाँ की जायँ ॥ १४ ॥

समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥

उपाध्याय के साथ समर्थ रक्षकों सहित घोड़ा छोड़ा जाय, और सरजू के तटपर यज्ञ के लिये स्थान ठीक किया जाय ॥ १५ ॥

शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ।
शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥ १६ ॥

विघ्ननिवारक क्रियाकलाप यथाक्रम और यथाविधि किये जाँय। क्योंकि सब राजाओं के लिये अश्वमेध यज्ञ करना सहज काम नहीं है ॥ १६ ॥

नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे ।
छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥ १७ ॥

एक बात का ध्यान रखा जाय कि, इस यज्ञ की विधि पूरी करने में न तो कोई अपचार हो और न किसी को कष्ट होने पावे। यदि कहीं ऐसा हुआ तो छिद्रान्वेषी विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञ में बड़ा विघ्न खड़ा कर देंगे ॥ १७ ॥

विहतस्य च यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥ १८ ॥

विधिहीन यज्ञ करने से यज्ञकर्त्ता का नाश होता है। अतएव विधिपूर्वक यज्ञ पूरा होना चाहिये ॥ १८ ॥

यथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ।
तथेति चाब्रुवन्सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ॥ १९ ॥

आप लोग ऐसा प्रयत्न करें जिससे यह यज्ञ यथाविधि हो। यह कार्य आप ही लोगों पर निर्भर है। महाराज के इन वचनों को सुन सब मंत्री लोगों ने कहा—"जो आज्ञा," ॥ १९ ॥

पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तं निशम्य ते ।
तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।
विसर्जयित्वा तान्विप्रान्सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं यथावत्क्रतुराप्यताम् ।
इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान्समुपस्थितान् ॥ २२ ॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ।
ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयप्रियाः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणगण भी महाराज को आशीर्वाद दे और महाराज से विदा मांग अपने अपने घरों को लौट गये। ब्राह्मणों को विदा कर महाराज अपने मंत्रियों से कहने लगे—ऋत्विजों ने जैसी विधि बतलाई है यह यज्ञ उसी विधि के अनुसार निर्विघ्न पूरा हो—इसका भार आप ही लोगों पर है। यह कह कर महाराज ने उपस्थित मंत्रियों को भी विदा किया और आप भी वहाँ से उठ कर रनिवास में चले गये और अपनी प्राणप्यारी रानियों से बोले ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।
तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

हम पुत्र-प्राप्ति के लिये यज्ञ करेंगे, तुम भी यज्ञदीक्षा के नियमों का पालन करो। महाराज के मुख से यह प्यारे वचन सुन रानी बहुत प्रसन्न हुई। इस सुखदायी संवाद को सुन रानियों के मुख-कमल ऐसे सुशोभित हो गये, जैसे वसन्तकाल में खिले कमल के फूल शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

नवमः सर्गः

—:*:—

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः ॥ १ ॥

यज्ञ की चर्चा सुन, सुमंत्र ने एकान्त में महाराज से कहा कि, मैंने ऋत्विजों से एक पुरानी बात सुनी है ॥ १ ॥

सनत्कुमारो भगवान्पूर्वं कथितवान्कथाम् ।
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति ॥ २ ॥

आपके सन्तान के बारे में भगवान् सनत्कुमार ने ऋषियों से यह कथा कही थी ॥ २ ॥

कश्यपस्य तु पुत्रोऽस्ति विभण्डक इति श्रुतः ।
ऋश्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति ॥ ३ ॥

कश्यपपुत्र विभण्डक के ऋष्यशृङ्ग नामक पुत्र होंगे ॥ ३ ॥

स वने नित्यसंहृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ।
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात् ॥४॥

वे वन ही में रहेंगे और सदा वन में पिता के पास रहने के कारण अन्य किसी पुरुष वा स्त्री को नहीं जान पावेंगे ॥ ४ ॥

द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ।
लोकेषु प्रथितं राजन्विप्रैश्च कथितं सदा ॥ ५ ॥

ऋष्यशृङ्ग दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य, जो ब्राह्मणों के लिये बतलाये गये हैं, और लोक में प्रसिद्ध हैं, धारण करेंगे ॥ ५ ॥

[नोट—मेखला अजिन धारण करके गुरुकुल में नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में रहना मुख्य ब्रह्मचर्य है और सन्तान कामना से ऋतु में ही पत्नी का समागम करना गौण ब्रह्मचर्य है। पर है यह ब्रह्मचर्य ही। इस पर योगी याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि, षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणांतस्मिन् युग्मासुसंविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्चवर्जयेत् ॥]

तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तते।
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् ॥ ६ ॥

अग्नि और अपने यशस्वी पिता की सेवा करते हुए जब ऋष्य-शृङ्ग को बहुत समय बीत जायगा ॥ ६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान्।
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः ॥ ७ ॥

तब अङ्गदेश में महाबली और प्रतापी रोमपाद नाम का एक प्रसिद्ध राजा होगा ॥ ७ ॥

तस्य व्यतिक्रमाद्राज्ञो भविष्यति सुदारुणा।
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वभूतभयावहा ॥ ८ ॥

कुछ दिनों बाद रोमपाद के अत्याचार से वर्षा बंद होने के कारण महा विकराल सब प्राणियों को भयदायी दुर्भिक्ष पड़ेगा ॥८॥

अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः।
ब्राह्मणाञ्श्रुतवृद्धांश्च समानीय प्रवक्ष्यति ॥ ९ ॥

तब वह राजा उस अनावृष्टि से दुःखी हो, सुविज्ञ एवं शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर पूछेगा ॥ ९ ॥

भवन्तः श्रुतधर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ।
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ॥ १० ॥

आप लोग लोकाचार और वैदिकधर्मों के जानने वाले हैं। अतः आप हमारे उन कर्मों का जिनके कारण वर्षा नहीं हो रही, प्रायश्चित्त बतलाइये ॥ १० ॥

वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
विभण्डकसुतं राजन्सर्वोपायैरिहानय ॥ ११ ॥

राजा के इस प्रश्न को सुन, वेदपारग ब्राह्मण उत्तर देंगे कि, राजन् ! जैसे बने वैसे विभण्डक मुनि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग को यहां ले आइये ॥ ११ ॥

आनीय च महीपाल ऋश्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥ १२ ॥

और उनको यहां लाकर उनका सत्कार कीजिये और यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ता का विवाह कर दीजिये ॥ १२ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।
केनोपायेन वै शक्य इहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १३ ॥

उनके इस कथन को सुन राजा को यह चिन्ता होगी कि, वे जितेन्द्रिय मुनि ऋष्यशृङ्ग किस उपाय से यहां लाये जा सकते हैं ॥ १३ ॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।
पुरोहितममात्यांश्च ततः प्रेष्यति सत्कृतान् ॥ १४ ॥

बहुत सोच विचार के बाद राजा अपने पुरोहित और मंत्रियों को मुनि के पास जाने को कहैंगे ॥ १४ ॥

ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः ।
न गच्छेयुर्ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥ १५ ॥

किन्तु, वे विनीत लोग मुनि के शाप के डर से भयभीत हो राजा से निवेदन करेंगे कि, हम लोगों को स्वयं वहां जाने से ऋषि के शाप का डर लगता है ॥ १५ ॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तत्क्षमान् ।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥१६॥

परन्तु हां, हम अन्य किसी ऐसे उपाय से उन मुनि को यहां ले आवेगें कि, जिससे हमको दोष न लगेगा ॥ १६ ॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥ १७ ॥

राजा वेश्याओं द्वारा ऋषिपुत्र को बुलावेंगे और उनके आने पर वृष्टि होगी और राजा अपनी कन्या शान्ता ऋषिश्रृङ्ग को व्याह देंगे ॥ १७ ॥

ऋश्यश्रृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।
सनत्कुमारकथितमेतावद्व्याहृतं मया ॥ १८ ॥

वे ही ऋष्यश्रृङ्ग आपको पुत्र देंगे—यह बात मुझसे सनत्कुमार जी ने पहले ही कह रखी है और वही मैंने आपसे कही है ॥ १८ ॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।
यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतो विस्तरेण त्वयोच्यताम् ॥ १९ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

यह सुन महाराज दशरथ प्रसन्न हुए और सुमंत्र से बोले कि जिस प्रकार रोमपाद ने ऋष्यशृङ्ग को बुलाया वह हाल हमसे ब्योरे वार कहो ॥ १९ ॥

बालकाण्ड का नवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

दशमः सर्गः

—:०:—

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
यथर्श्यशृङ्गस्त्वानीतः शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥

महाराज दशरथ के इस प्रकार पूँछने पर सुमंत्र ने विस्तार पूर्वक वृत्तान्त कहना आरम्भ किया । सुमंत्र बोले, हे महाराज ! जिस उपाय से रोमपाद के मंत्रिवर्ग ऋष्यशृङ्ग को लाये, सो मैं कहता हूँ । उसे आप मंत्रियों सहित सुनिये ॥ १ ॥

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः ।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिमन्त्रितः ॥ २ ॥

मंत्री और पुरोहित रोमपाद से बोले कि हमने निर्विघ्न कृतकार्य होने का एक उपाय सोचा है ॥ २ ॥

ऋश्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायने रतः ।
अनभिज्ञः स नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्ग वन के रहने वाले और सदा तप और स्वाध्याय में निरत रहते हैं । उनको स्त्रीसुख और अन्य विषयों का सुख बिल्कुल नहीं मालूम है ॥ ३ ॥

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ।
पुरमानायियिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥

अतः मनुष्यों को मुग्ध करने वाली इन्द्रियों के विषयों द्वारा उनको शीघ्र नगर में ले आवेंगे। बस अब इसका शीघ्र निश्चय करना चाहिये ॥ ४ ॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥

रूपवती और अलङ्कार युक्त वेश्याएँ सत्कार पूर्वक भेजी जायँ वे मुनि को तरह तरह के प्रलोभन दिखा लिवा लावेंगी ॥ ५ ॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तथा चक्रुश्च ते तदा ॥ ६ ॥

यह सुन राजा ने पुरोहित को और पुरोहित ने मंत्रियों को तदनुसार करने को कहा ॥ ६ ॥

वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन्यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥

इस प्रकार की बातें सुन वेश्याएँ घोर वन में जहाँ ऋष्यशृङ्ग का आश्रम था गयीं और आश्रम के निकट पहुँच कर सदा आश्रम में रहने वाले और धीर ऋषिपुत्र के दर्शन करने का प्रयत्न करने लगीं ॥ ७ ॥

ऋषिपुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ।
पितुः स नित्यसन्तुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥ ८ ॥

क्योंकि ऋष्यशृङ्ग पिता के लालन पालन से सन्तुष्ट होकर कभी भी आश्रम के बाहिर नहीं निकलते थे ॥ ८ ॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान्वा यच्चान्यत्सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

तपस्वी ऋष्यशृङ्ग ने आज तक स्त्री, पुरुष, नगर व राज्य के अन्य जीवों को कभी नहीं देखा था ॥ ९ ॥

ततः कदाचित्तं देशमाजगाम यदृच्छया ।
विभाण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद्वराङ्गनाः ॥ १० ॥

दैवयोग से एक दिन अपने आप जिस जगह वे वेश्याएँ उस वन में टिकी हुई थीं, ऋष्यशृङ्ग पहुँचे और उन वेश्याओं को उन्होंने देखा ॥ १० ॥

ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरैः ।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥

चित्र विचित्र वेश बनाये मधुर स्वर से गाती हुईं वे सब वेश्याएँ ऋषिपुत्र के पास जाकर बोलीं ॥ ११ ॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने घोरे वने चरसि शंस नः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मदेव ! तुम किस जाति के हो, किसके लड़के हो, तुम्हारा क्या नाम है और तुम यहाँ क्या करते हो ? तथा हम जानना

चाहती हैं कि, तुम किस लिये इस निर्जन वन में अकेले घूमते, फिरते हो ?॥ १२ ॥

अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ।
हार्दात्तस्य मतिर्जाता ह्याख्यातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥

ऋष्यशृङ्ग ने तो इसके पूर्व कभी (कमनीय कान्ति वाली) स्त्रियां (वन में) देखी ही न थीं—उनकी बुद्धि मोहित हो गयी और वे हृदय से अपने पिता का नाम बतलाने को तैयार हो गये ॥ १३ ॥

पिता विभण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः ।
ऋश्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥१४॥

मेरे पिता विभण्डक हैं और मैं उनका औरस पुत्र हूँ। मेरा नाम ऋष्यशृङ्ग है। मैं जो यहां करता हूँ वह सब को विदित है ॥ १४ ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः ।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

हे शुभानना ! यहां से समीप ही मेरा आश्रम है । वहां चलिये, मैं विधि पूर्वक आपका सत्कार करूँगा ॥ १५ ॥

ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै ।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वाश्च तेन ताः ॥ १६ ॥

मुनि के यह वचन सुन और उनके आश्रम को देखने की इच्छा से वे वेश्याएँ मुनि से साथ उनके आश्रम में गयीं ॥ १६ ॥

आगतानां ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह ।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलमिदं फलम् ॥ १७ ॥

उनके आश्रम में पहुँचने पर ऋषिकुमार ने उनका सत्कार किया और अर्घ्य, पाद्य, फल, मूल उनको दिये ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः ।
ऋषेर्भीतास्तु शीघ्रं ता गमनाय मतिं दधुः ॥ १८ ॥

अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि वै द्विज ।
गृहाण प्रति भं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर, वे वेश्याएँ ऋष्यशृङ्ग के पिता के डर से वहां से शीघ्र लौटने की इच्छा से तरह तरह की सुस्वाद मिठाई, जो वे अपने साथ ले गयी थीं, ऋषिपुत्र को देकर बोलीं लीजिये, ये हमारे फल हैं, इन्हें आप स्वीकार कीजिये और इनको शीघ्र चखिये ॥ १८ ॥ १९ ॥

ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः ।
मोदकान्प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्शुभान् ॥२०॥

तदनन्तर उन सब ने प्रसन्न हो मुनिकुमार को गले लगा, अति स्वादिष्ट तरह तरह के लड्डू तथा खाने को अन्य विविध वस्तुएँ उनको दीं ॥ २० ॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते ।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

उन्हें चखने पर भी ऋषिपुत्र फल ही समझते रहे । क्योंकि हमेशा वन में रहने के कारण उन्होंने इसके पहले कभी मिठाई तो

खाई न थी, फिर वे क्या समझें कि, मिठाई और फल में भी कुछ अन्तर होता है ॥ २१ ॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च ।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ताः भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥२२॥

वे वेश्याएँ विभण्डकऋषि के आश्रम में लौट कर आ जाने के भय से झूट मूठ व्रत का बहाना बना आश्रम से चलो आयीं ॥ २२ ॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः ।
अस्वस्थहृदयश्चासीद्दुःखात्संपरिवर्तते ॥ २३ ॥

उन वेश्याओं के लौट आने पर ऋष्यश्रृङ्ग दुःख के मारे उदास हुए ॥ २३ ॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान् ।
मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः ॥२४॥

अगले दिन वे स्वयं फिर वहीं पहुँचे जहाँ पहले दिन उनकी भेंट उन मन को मोहने वाली बनी ठनी वेश्याओं से हुई थी ॥ २४ ॥

दृष्ट्वैव च तदा विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ।
उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः ॥ २५ ॥

ऋषि-कुमार को आते देख वेश्याएँ प्रसन्न हुईं, और उनके पास जाकर यह कहने लगीं ॥ २५ ॥

एह्याश्रमपदं सौम्य ह्यस्माकमिति चाब्रुवन् ।
तत्राप्येष विधिः श्रीमान्विशेषेण भविष्यति ॥२६॥

वे बोलीं—महाराज ! आइये, हमारा आश्रम भी देखिये। जहाँ की अपेक्षा वहाँ आपका सत्कार अधिक होगा ॥ २६ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां मुनिस्तद्धृदयंगमम् ।
गमनाय मनिं चक्रे तं च निन्युस्तदा स्त्रियः ॥ २७ ॥

यह सुन ऋषि-कुमार के मन में उनके साथ जाने की इच्छा उत्पन्न हुई और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयीं ॥ २७ ॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन्महात्मनि ।
ववर्ष सहसा देवो जगत्प्रह्लादायंस्तदा ॥ २८ ॥

मुनि के नगर में पहुँचते ही इन्द्रदेव ने रोमपाद के राज्य में जल वर्षाया जिससे सब प्राणी प्रसन्न हो गये ॥ २८ ॥

वर्षेणैवागतं विप्रं विषयं स्वं नराधिपः ।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रीतः शिरसा च महीं गतः ॥२९॥
अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै नियतः सुसमाहितः ।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रान्मा विप्रं[1] मन्युराविशेत् ॥ ३० ॥

वर्षा होते ही रोमपाद ने मुनि को आया जान, और मुनि के पास जा बड़ी नम्रता से उनको प्रणाम किया और यथाविधि अर्घ्य पाद्यादि प्रदान कर उनका पूजन किया और उनसे यह वर माँगा कि, उनके पिता विभण्डक रोमपाद पर कोप न करें ॥ २९ ॥ ३० ॥

अन्तःपुरं प्रविश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि ।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः ॥ ३१ ॥

१—विभण्डक ऋषिम् (वि०)

फिर रोमपाद, ऋषि-कुमार को रनिवास में लिवा ले गया और शान्ता का उनके साथ यथाविधि विवाह कर वह बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ३१ ॥

एवं स न्यवसत्तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ।
ऋश्यशृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥३२॥

इति दशमः सर्गः ॥

ऋष्यशृङ्ग भी शान्ता के साथ सब प्रकार से सुखी हो रोमप की राजधानी में रहने लगे ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का दसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकादशः सर्गः

भूय एव हि राजेन्द्र शृणु मे वचनं हितम् ।
यथा स देवप्रवरः कथायामेवमब्रवीत् ॥ १ ॥

इतना कह सुमंत्र ने महाराज दशरथ से कहा कि, हे राजन् ! इसके उपरान्त देवप्रवर सनत्कुमार ने जो और कहा सो भी सुनीजिये ॥ १ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः ।
राजा दशरथो नाम श्रीमान्सत्यप्रतिश्रवः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकु महाराज के वंश में बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ श्रीमान् महाराज दशरथ होंगे ॥ २ ॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।
पुत्रस्तु सोऽङ्गराजस्य रोमपाद इति श्रुतः ॥ २ ॥

उनकी मैत्री अङ्गदेशाधिपति रोमपाद से होगी ॥ ३ ॥

तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः ।
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम् ॥४॥
आहरेत त्वयाज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च ।
श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद्वाक्यं मनसापि विमृश्य च ॥ ५ ॥

अङ्गराज के पुत्र रोमपाद के पास महायशस्वी महाराज दशरथ जायंगे और कहेंगे कि, मेरे सन्तान होने के लिये यज्ञ कराने को आप शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग को मेरे यहाँ भेजिये । यह सुन रोमपाद मन में सोच विचार कर, ॥ ४ ॥ ५ ॥

प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान् ।
प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः ॥ ६ ॥

शान्ता के पति ऋष्यशृङ्ग को पुत्र सहित भेज देंगे । ऋष्यशृङ्ग को पाने से महाराज दशरथ की चिन्ता दूर होगी ॥ ६ ॥

आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तं च राजा दशरथो यष्टुकामः कृताञ्जलिः ॥ ७ ॥
ऋश्यशृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित् ।
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः ॥ ८ ॥

मन में अत्यन्त प्रसन्न हो महाराज दशरथ उन ऋषिप्रवर को साथ लावेंगे और यज्ञ करने की अभिलाषा रखने वाले महाराज

दशरथ हाथ जोड़ कर धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग को यज्ञ कराने के लिये वरण करेंगे अर्थात् पुत्र के लिये और स्वर्ग प्राप्ति के लिये उनको यज्ञ में ऋत्विज बनावेंगे ॥ ७ ॥ ८ ॥

लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद्विशां पतिः ।
पुत्रांश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः ॥ ९ ॥

इस यज्ञ के प्रभाव से अर्थात् फल स्वरूप महाराज दशरथ के अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ ९ ॥

वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वलोकेषु विश्रुताः ।
एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान्कथाम् ॥ १० ॥
सनत्कुमारो भगवान्पुरा देवयुगे प्रभुः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल तमानय सुसत्कृतम् ॥ ११ ॥

स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः ।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशम्य च ॥ १२ ॥

वे पुत्र वंश बढ़ाने वाले और सारे संसार में विख्यात होंगे । इस प्रकार सनत्कुमार जी ने यह कथा बहुत पूर्व अर्थात् इस चतुर्युगी के प्रथम सत्युग में कही थी। अतः हे नरशार्दूल आप स्वयं फौज और सवारियों सहित जाकर उन ऋष्यशृङ्ग को आदर पूर्वक लिवा लाइये । महाराज दशरथ ने सूत अर्थात् सुमंत्र की कही यह कथा अपने गुरु वशिष्ठ जी को बुला कर सुनायी ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातो राजा संपूर्णमानसः ।
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः ॥ १३ ॥

जब वशिष्ठ जी ने भी अपनी अनुमति दे दी तब महाराज दशरथ बड़ी लालसा के साथ, अपनी रानियों और मंत्रियों को अपने साथ ले वहाँ गये, जहाँ ऋष्यशृङ्ग रहते थे ॥ १३ ॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ।
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः ॥ १४ ॥

अनेक वनों और नदियों को पार कर महाराज धीरे धीरे उस देश में जा पहुँचे जहाँ वे मुनिप्रवर निवास करते थे ॥ १४ ॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ।
ऋषिपुत्रं ददर्शाथो दीप्यमानमिवानलम् ॥ १५ ॥

वहाँ जाकर महाराज दशरथ ने अग्नि के समान तेजस्वी ऋष्यशृङ्ग को रोमपाद के समीप बैठा देखा ॥ १५ ॥

ततो राजा यथान्यायं पूजां चक्रे विशेषतः ।
सखित्वात्तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १६ ॥

रोमपाद ने मित्रधर्म से प्रेरित हो अत्यन्त प्रसन्नता के साथ न्यायानुकूल महाराज दशरथ का विशेष आदर सत्कार किया ॥१६॥

रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ।
सख्यं सम्बन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत् ॥ १७ ॥

उन बुद्धिमान् ऋष्यशृङ्ग दशरथ के साथ अपनी मैत्री होने का वृत्तान्त कहा, जिसे सुन ऋष्यशृङ्ग भी प्रसन्न हुए और दशरथ की प्रशंसा की ॥ १७ ॥

एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ।
सप्ताष्ट दिवसान्राजा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार सत्कार के साथ दशरथ वहां सात आठ दिन रह कर रोमपाद से बोले ॥ १८ ॥

शान्ता तव सुता राजन्सह भर्त्रा विशांपते ।
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ १९ ॥

हे राजन् ! यदि आपकी पुत्री शान्ता अपने पति के साथ मेरी राजधानी में चलें तो बड़ी कृपा हो, क्योंकि एक बड़ा कार्य आ उपस्थित हुआ है ॥ १९ ॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ।
उवाच वचनं विप्रं गच्छ त्वं सह भार्यया ॥ २० ॥

यह सुन रोमपाद ने "ऐसा ही होगा" महाराज दशरथ से कह, ऋष्यश्रृङ्ग से कहा कि, आप अपनी पत्नी सहित महाराज दशरथ के साथ जाइये ॥ २० ॥

ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ।
स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया ॥ २१ ॥

ऋष्यश्रृङ्ग जाने को राज़ी हो गये और राजा रोमपाद की आज्ञा के अनुसार भार्या सहित महाराज दशरथ के साथ हो लिये ॥ २१ ॥

तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ।
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान् ॥ २२ ॥

तब वे दोनों राजा परस्पर हाथ जोड़ और एक दूसरे को गले लगा अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २२ ॥

ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ।
पौरेभ्यः प्रेषयामास दूतान्वै शीघ्रगामिनः ॥ २३ ॥

तब महाराज दशरथ अपने मित्र रोमपाद से विदा हो प्रस्थानित हुए और पहले ही शीघ्रगामी दूत अयोध्या भेजे ॥ २३ ॥

क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ।
धूपितं सिक्तसंमृष्टं पताकाभिरलंकृतम् ॥ २४ ॥

और उनको आज्ञा दी कि, तुम वहाँ पहुँच कर राजधानी को सफाई और अच्छी सजावट करवाओ। सड़क छिड़काना, सुगन्धित द्रव्य (गुग्गुलादि) जलवाना और ध्वजा पताकाओं से नगरी सजवाना ॥ २४ ॥

ततः महृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ।
तथा प्रचक्रुस्तत्सर्वं राज्ञा यत्प्रेषितं तदा ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ के लौटने का संवाद पा, अयोध्यावासी बहुत प्रसन्न हुए और जैसा महाराज ने दूतों द्वारा कहलाया था, तदनुसार नगरी को साफ कर उन लोगों ने सजाया ॥ २५ ॥

ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः पुरस्कृत्य द्विजर्षभम् ॥ २६ ॥

उस सजी सजाई साफ स्वच्छ नगरी में मुनिवर को आगे कर गाजे बाजे के साथ महाराज ने प्रवेश किया ॥ २६ ॥

ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा तं नागरा द्विजम् ।
प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा ॥ २७ ॥

ऋष्यशृङ्ग का धूमधाम से नगर में इन्द्र समान पराक्रमी महाराज दशरथ द्वारा आगत स्वागत हुआ देख, समस्त पुरवासी बहुत प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः ।
कृतकृत्यं तदात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥ २८ ॥

अन्तःपुर में उनके (ऋष्यशृङ्ग के) जाने पर वहाँ भी शास्त्र विधि के अनुसार उनका पूजन किया गया और महाराज ने मुनि-प्रवर के आगमन से अपने को कृतकृत्य माना ॥ २८ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम् ।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ २९ ॥

ऋषिप्रवर के साथ उनकी पत्नी बड़े बड़े नेत्र वाली शान्ता को आयी देख, अन्तःपुरवासिनी सब रानियों ने बड़ा आनन्द मनाया ॥ २९ ॥

पूज्यमाना च ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः ।
उवास तत्र सुखिता कचित्कालं सहर्त्विजा ॥ ३० ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

रानियों और विशेष कर महाराज दशरथ द्वारा पूजे जाकर शान्ता, अपने पति ऋष्यशृङ्ग सहित रनवास में कुछ दिनों तक सुख से रहे ॥ ३० ॥

बालकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वादशः सर्गः

—:*:—

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित्सुमनोहरे ।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर जब मनोहर वसन्त ऋतु आयी, तब महाराज की इच्छा यज्ञ करने की हुई ॥ १ ॥

ततः प्रसाद्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम् ।
यज्ञाय वरयामास संतानार्थं कुलस्य च ॥ २ ॥

महाराज दशरथ ने श्रृङ्गीऋषि के पास जा उनको प्रणाम किया और वंशवृद्धि के लिये होने वाले पुत्रेष्टि यज्ञ में, देवतुल्य ऋषि को यज्ञ के लिये वरण किया ॥ २ ॥

तथेति च राजानमुवाच च सुसत्कृतः ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ३ ॥

तब ऋष्यशृङ्ग ने दशरथ से कहा कि, हम आपको यज्ञ करावेंगे, आप यज्ञ की सामग्री इकट्ठी करवाइये और घोड़ा छुड़वाइये ॥ ३ ॥

ततो राजाब्रवीद्वाक्यं सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तमम् ।
सुमन्त्रावाह्य क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

यह सुन महाराज दशरथ ने मंत्रिप्रवर सुमन्त से कहा कि, वेद-पाठ करने वाले ऋत्विजों को तुरन्त बुलवाइये ॥ ४ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जावालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः ॥ ५ ॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वशिष्ठ तथा अन्य ब्राह्मणश्रेष्ठों को शीघ्र बुलवाइये ॥ ५ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत्स तान्विप्रान्समस्तान्वेदपारगान् ॥ ६ ॥

फुर्तीले सुमंत्र तुरन्त गये और वेदपारग उन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुला लाये ॥ ६ ॥

तान्पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब धर्मात्मा महाराज दशरथ ने उन सब की पूजा कर उनसे धर्म और अर्थ से युक्त मीठे वचन कहे ॥ ७ ॥

मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

पुत्र के लिये बहुत दुःखी होने पर भी मुझे सन्तान का सुख नहीं है। तदर्थ मैं चाहता हूँ कि, पुत्रप्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ करूँ ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान्प्राप्स्यामि चाप्यहम् ॥ ९ ॥

यह यज्ञ, मैं शास्त्र की विधि से करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि, ऋष्यशृङ्ग की कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण होगा ॥ ९ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम् ॥ १० ॥

यह सुन कर वशिष्ठ प्रमुख ब्राह्मणों ने महाराज के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी की बड़ी प्रशंसा की ॥ १० ॥

ऋष्यशृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा ।
संभाराः संभ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥

ऋष्यशृङ्ग आदि ब्राह्मण दशरथ से कहने लगे कि, आप अब यज्ञ करने के लिये सब सामान एकत्र करवाइये और यज्ञ का घोड़ा छोड़िये ॥ ११ ॥

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान् ।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ॥ १२ ॥

जब आपकी बुद्धि पुत्र प्राप्ति के लिये ऐसी धर्ममयी हो रही है, तब निश्चय ही आपके अमित पराक्रमी चार पुत्र उत्पन्न होंगे ॥ १२ ॥

ततः प्रीतोऽभवद्राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम् ।
अमात्यांश्चाब्रवीद्राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणों की कही इन बातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और मंत्रियों को यह शुभ आज्ञा सहर्ष प्रदान की ॥ १३ ॥

संभाराः संभ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ॥१४॥

जैसी कि, इन गुरुवर्य ने आज्ञा दी है, तदनुसार आप लोग यज्ञ की सब तैयारियां करें और चार ऋत्विजों और चार सौ रक्षकों सहित देखरेख में घोड़ा छोड़ा जाय ॥ १४ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
शान्तयश्चापि वर्तन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥१५॥

सरयू के उत्तर तट पर यज्ञशाला बनवाई जाय और विघ्न प्रशमनार्थ शास्त्रानुमोदित यथाक्रम शान्तिकर्म करवाये जायँ ॥ १५ ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वैणापि महीक्षिता ।
नापराधो भवेत्कष्टो यज्ञस्मिन्क्रतुसत्तमे ॥ १६ ॥

यह यज्ञ कर तो सभी राजा सकते हैं, किन्तु इस उत्कृष्ट यज्ञ कार्य में किसी प्रकार का अपचार या किसी को कष्ट न होना चाहिये ॥ १६ ॥

छिद्रं हि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विहतस्य हि यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १७ ॥

क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञकार्यों में छिद्रान्वेषण किया करते हैं और यज्ञ की विधि में अपचार होने से यज्ञ करने वाला तुरन्त नाश को प्राप्त होता है अर्थात् मर जाता है ॥ १७ ॥

तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥ १८ ॥

अतः अपनी शक्ति भर ऐसा उपाय कीजिए जिससे यह यज्ञ विधि पूर्वक सुसम्पन्न हो ॥ १८ ॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद्वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥ १९ ॥

महाराज के ये वचन सुन, मंत्रि लोग बहुत प्रसन्न हुए और उनके आज्ञानुसार कार्य करने में प्रवृत्त हुए ॥ १९ ॥

ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन्पार्थिवर्षभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे ब्राह्मण, धर्मात्मा नृपतिश्रेष्ठ दशरथ की प्रशंसा कर और विदा हो वहाँ से अपने अपने घरों को चले गये ॥ २० ॥

गतेष्वथ द्विजाग्र्येषु मन्त्रिणस्तान्नराधिपः ।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ॥ २१ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

ब्राह्मणों के चले जाने पर, महाद्युतिमान् महाराज ने मंत्रियों को विदा किया और आप भी अन्तःपुर में चले गये ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

त्रयोदशः सर्गः

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

एक वर्ष बाद पुनः वसन्तऋतु आने पर, पुत्रप्राप्ति के लिये प्रतापी महाराज ने यज्ञ करने की इच्छा की ॥ १ ॥

अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम् ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी को प्रणाम कर और उनका यथाविधि पूजन कर पुत्रप्राप्ति के लिये नम्रता पूर्वक उनसे महाराज दशरथ बोले ॥ २ ॥

यज्ञो मे प्रीयतां ब्रह्मन्यथोक्तं मुनिपुङ्गव ।
यथा न विघ्नः क्रियते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम् ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! प्रसन्नतापूर्वक और विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ कीजिये, जिससे यज्ञ के किसी भी कर्म में विघ्न न हो ॥ ३ ॥

भवान्स्नेहः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान् ।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः ॥ ४ ॥

क्योंकि आपका मेरे ऊपर अनिच्छिन्न स्नेह है और आप मेरे केवल हितैषी ही नहीं प्रत्युत मेरे सब से बड़े गुरु भी हैं। इस उपस्थित यज्ञ का जो बड़ा भारी बोझ है, उसे आप सम्हालिये ; अर्थात् इस महान् यज्ञ का सारा भार आपके ही ऊपर है ॥ ४ ॥

तथेति च स राजानमब्रवीद्द्विजसत्तमः ।
करिष्ये सर्वमेवैतद्भवता यत्समर्थितम् ॥ ५ ॥

यह सुन मुनिपुङ्गव वशिष्ठ जी ने दशरथ जी से कहा—आप जो निवेदन किया तदनुसार ही हम सब कार्य करेंगे ॥ ५ ॥

ततोऽब्रवीद्द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान् ।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान्परमधार्मिकान् ॥ ६ ॥
कर्मान्तिकाञ्शिल्पकरान्वर्धकीन्खनकानपि ।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान् ॥ ७ ॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान् ।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात् ॥ ८ ॥

तदुपरान्त वशिष्ठ जी ने वृद्ध और यज्ञकार्य में कुशल ब्राह्मणों को, परम धार्मिक और वृद्ध स्थापत्य विद्या (भवन-निर्माण-कला)

में कुशल कारीगरों को, शिल्पियों को, अथवा लेखकों को, नटों और नाचने वालियों को, बहुत जानने वाले और सच्चे (ईमानदार) शास्त्रवेत्ता ब्राह्मणों को इकट्ठा कर कहा कि, आप लोगों के लिये महाराज की आज्ञा है कि, यज्ञकार्य में मनोयोग पूर्वक आप लग जाँय ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

इष्टका बहुसाहस्राः शीघ्रमानीयतामिति ।
औपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञां बहुगुणान्विताः ॥९॥

बहुत सी ईंटें शीघ्र एकत्र कर, आने वाले महमान राजाओं के ठहरने के लिये तथा अन्य सम्भ्रान्त लोगों के ठहरने के लिये सब तरह के सुपास के (आराम के) अलग अलग घर बना कर तैयार करो ॥ ९ ॥

ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः ।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेताः सुनिष्ठिताः ॥ १० ॥

इसी प्रकार सैकड़ों सुन्दर मकान अच्छी अच्छी जगहों पर ब्राह्मणों के ठहरने के लिये बनाओ जिनमें भोजनादि की सब आवश्यक सामग्री रहें ॥ १० ॥

तथा पौरजनस्यापि कर्तव्या बहुविस्तराः ।
आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ ११ ॥

नगर निवासियों के ठहरने के लिये भी बड़े बड़े लंबे चौड़े मकान बनाये जायँ, जिनमें भोजन और सब प्रकार की सामग्री लाकर यथास्थान सजा दी जाय ॥ ११ ॥

तथा जानपदस्यापि जनस्य बहुशोभनम् ।
दातव्यमन्नं विधिवत्सत्कृत्य न तु लीलया ॥ १२ ॥

देहातियों के लिये भी सब सुविधाओं के मकान बनें। एक बात का ध्यान रखना कि, जिसको अन्नादि भोजन सामग्री दी जाय, उसे सत्कार पूर्वक दी जाय, देते समय किसी का भी अनादर न किया जाय ॥ १२ ॥

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः ।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ॥ १३ ॥

ऐसा प्रबन्ध हो कि, किसी वर्ण का भी मनुष्य, जो यज्ञ में आवे, उसके वर्ण के अनुरूप उसका यथोचित सत्कार किया जाय। लोभ अथवा क्रोध के वशवर्ती हो, ख़बरदार! किसी का भी अनादर न किया जाय ॥ १३ ॥

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा ।
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम् ॥ १४ ॥

यज्ञशाला के काम में जो कारीगर काम करें उनकी भी विशेष रूप से यथाक्रम ख़ातिरदारी की जाय ॥ १४ ॥

ते च स्युः संभृताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च ।
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित्परिहीयते ॥ १५ ॥
तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतिस्निग्धेन चेतसा ।
ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन् ॥ १६ ॥

सेवाकार्य में निरत नौकरों को उनकी मज़दूरी और भोजन दिया जाय, जिससे वे मन लगा कर अपना अपना काम करें और अपना काम न छोड़ बैठें। आप सब लोग मन लगा कर प्रीति पूर्वक उनके साथ वर्तें जिससे सब काम ठीक ठीक हों। यह सुन वे सब वशिष्ठ जी के समीप जा उनसे बोले ॥ १५ ॥ १६ ॥

यथोक्तं तत्सुविहितं न किंचित्परिहीयते ।
ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १७ ॥

आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार ही हम सब करेंगे, किसी काम में त्रुटि न रहने पावेगी । तब वशिष्ठ जी ने सुमंत्र को बुलवाया और उनसे बोले ॥ १७ ॥

निमन्त्रयस्व नृपतीन्पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ।
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यान्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥ १८ ॥

समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यविक्रमम् ॥ १९ ॥

निष्ठितं सर्वशास्त्रेषु तथा वेदेषु निष्ठितम् ।
तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् ॥ २० ॥

इस पृथिवीमण्डल पर जो धार्मिक राजा हैं, उनके पास निमंत्रण भेज दो । सब देशों के बहुत से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी सादर बुलवाओ । सत्यपराक्रमी, शूरशिरोमणि, वेद और सब शास्त्रों में निष्णात, महाभाग मिथलाधिपति को स्वयं जाकर आदर सहित लिवा लाओ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

पूर्वसंबन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ।
तथा काशीपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम् ॥ २१ ॥

सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ।
तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ॥ २२ ॥

श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं त्वमिहानय ।
अङ्गेश्वरं महाभागं रोमपादं सुसत्कृतम् ॥ २३ ॥
वयस्यं राजसिंहस्य समानय यशस्विनम् ।
प्राचीनान्सिन्धुसौवीरान्सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान् ॥२४॥
दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह ।
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥२५॥
तानानय ततः क्षिप्रं सानुगान्सहबान्धवान् ।
वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितस्तदा ॥ २६ ॥

उनको इस घराने का पुराना व्योहारी जान उन्हें सब से पहले बुलाने के लिये हम तुमसे कहते हैं। सदैव प्रिय बोलने वाले, सदाचारी, देवतुल्य काशीनरेश को भी सत्कारपूर्वक लिवा लाओ। इसी प्रकार वृद्ध और परम धार्मिक केकयराज, जो महाराज के ससुर हैं, पुत्र सहित यहाँ लिवा लाओ। अङ्गदेशाधिपति यशस्वी महाभाग रोमपाद को, जो महाराज के मित्र हैं, सत्कार पूर्वक लिवा लाओ। इनके अतिरिक्त पूर्व देश के, सिन्धु देश के, सौवीर के, दक्षिण देश के राजाओं तथा पृथ्वीमण्डल के अन्य अच्छे राजाओं को, भाई बंधु नौकर चाकर सहित दूत भेज कर शीघ्र बुलवालो। तब वशिष्ठ जी के इस कथन को सुन सुमंत्र ने तुरन्त ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

व्यादिशत्पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान् ।
स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रययौ मुनिशासनात् ॥ २७ ॥

देश देश के राजाओं को बुलाने के लिये दूत भेजे और स्वयं भी वशिष्ठ जी की आज्ञा के अनुसार राजाओं को लाने के लिये रवाना हुए ॥२७॥

सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महीक्षितः ।
ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय च धीमते ॥ २८ ॥

सुमंत्र वशिष्ठ जी के बतलाये विशिष्ट राजाओं को बुलाने के लिये शीघ्रता से रवाना हो गये । यज्ञ कार्य में लगे हुए मनुष्य बुद्धिमान् महर्षि वशिष्ठ जी से ॥ २८ ॥

सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम् ।
ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान्सर्वानिदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

जो कुछ यज्ञ सम्बन्धी काम करते वह सब कह दिया करते थे । तब प्रसन्न हो वशिष्ठ जी उन सब से कहते ॥ २९ ॥

अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा ।
अवज्ञया कृतं हन्याद्दातारं नात्र संशयः ॥ ३० ॥

देखना, किसी को हँसी दिल्लगी में भी कोई वस्तु अनादर करके मत देना ; क्योंकि अनादर करके देने वाले दाता का निश्चय ही नाश होता है ॥ ३० ॥

ततः कैश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः ।
बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य हि ॥ ३१ ॥

इसके कुछ ही दिनों बाद अनेक प्रकार के रत्नों की भेंटें ले ले कर राजा लोग महाराज दशरथ की यज्ञशाला में आ पहुँचे ॥ ३१ ॥

ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ।
उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ॥ ३२ ॥

तब वशिष्ठ जी राजाओं को आये हुए देख, प्रसन्न हो, महाराज दशरथ से बोले—आपके आदेशानुसार सब राजा लोग आ गये ॥ ३२ ॥

मया च सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तमाः ।
यज्ञियं च कृतं राजन्पुरुषैः सुसमाहितैः ॥ २३ ॥

हे महाराज ! मैंने भी उनका यथोचित सत्कार कर दिया और यज्ञ की भी सब तैयारी हो चुकी ॥ २३ ॥

निर्यातु च भवान्यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ।
सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः ॥ २४ ॥

द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ।
तथा वसिष्ठवचनाद्दृश्यशृङ्गस्य चोभयोः ॥ २५ ॥

अब आप भी यज्ञ करने के लिये यज्ञशाला में पधारिये और यज्ञ की सब सामग्री को देखिये कि, सेवकों ने कैसी उत्तमता और सावधानता से सब सामान सजा कर रखा है। तब वशिष्ठ जी और ऋष्यशृङ्ग दोनों के कहने से ॥ २४ ॥ २५ ॥

शुभे दिवसनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ।
ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः ॥ २६ ॥

ऋष्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा ।
यज्ञवाटवताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सहपत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥२७ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

शुभ दिन और नक्षत्र में महाराज दशरथ यज्ञशाला में गये। तब वशिष्ठ प्रमुख सब ब्राह्मणों ने ऋष्यशृङ्ग को अपना नेता बना

यज्ञशाला में यज्ञकार्य यथाविधि आरम्भ किया और महाराज ने रानियों सहित यज्ञदीक्षा ली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

बालकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—:o:—

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन्प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥

एक वर्ष बाद जब यज्ञ का घोड़ा चारों ओर घूमकर आ गया, तब महाराज दशरथ का अश्वमेधयज्ञ सरयू के उत्तरतट पर होने लगा ॥ १ ॥

ऋश्यशृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥

ऋष्यशृङ्ग प्रमुख ब्राह्मणश्रेष्ठों ने महाराज दशरथ से अश्वमेध-यज्ञ करवाया ॥ २ ॥

कर्म कुर्वन्ति विधिवद्याजका वेदपारगाः ।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥ ३ ॥

वेद जानने वाले तथा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण, (ऋत्विज) कल्पसूत्रों में कथित यज्ञ की विधि के अनुसार सब कार्य करवाते थे ॥ ३ ॥

प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः ।
चक्रुश्च विधिवत्सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ ४ ॥

अभिपूज्य ततो हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

प्रवर्ग्य और उपसद (यज्ञीयकर्म विशेष) दोनों कर्म शास्त्रानुसार विधिवत् करके, बड़ी प्रसन्नता के साथ तत् तत् कर्मों में पूज्य देवताओं की पूजा ब्राह्मणों ने की और दूसरे दिन श्रेष्ठ मुनियों ने प्रातः सवन (यज्ञीय विधि विशेष) कर के, ॥ ४ ॥ ५ ॥

ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो राजा चाभिष्टुतोऽनघः ।
माध्यंदिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

विधि पूर्वक इन्द्र का भाग दे और पाप दूर करने वाली सोमलता का रस निकाल, मध्यान्हसवन किया गया ॥ ६ ॥

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा तथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥ ७ ॥

फिर महाराज और ब्राह्मणों ने शास्त्रानुसार यथाविधि तीसरा सायंसवन किया ॥ ७ ॥

न चाहुतमभूत्तत्र स्खलितं वापि किंचन ।
दृश्यते ब्रह्मवत्सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥ ८ ॥

इस यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पायी। पूर्ण ज्ञानी यज्ञ करवाने वालों की उपस्थिति के कारण, कोई आहुति भूल से अथवा निष्प्रयोजन नहीं दी गयी, जो कुछ कर्म किया गया वह कल्याणकारक ही किया गया ॥ ८ ॥

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वाऽपि दृश्यते ।
नाविद्वान्ब्राह्मणस्तत्र नाशतानुचरस्तथा ॥ ९ ॥

यज्ञकाल में कोई भी ब्राह्मण भूखा प्यासा नहीं रहा। न तो वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण देख पड़ता जो मूर्ख हो और न वहाँ कोई ऐसा ही ब्राह्मण था जिसके पास सैकड़ों शिष्य न थे ॥ ९ ॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते ।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा ॥ १० ॥

यही नहीं कि वहाँ केवल ब्राह्मणों ही को भोजन दिया जाता था, प्रत्युत शूद्र नौकर चाकरों को भी भोजन मिलता था । इनके अतिरिक्त तपस्वी, संन्यासी भी भोजन पाते थे ॥ १० ॥

वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रियो बालास्तथैव च ।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते ॥ ११ ॥

बूढ़े, रोगी, स्त्रियाँ और बालक बारंबार भोजन करते थे तो भी भोजन कराने वाले अघाते न थे ॥ ११ ॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च ।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥ १२ ॥

महाराज की आज्ञा से भण्डारी लोग अन्न और वस्त्रादि का दान बड़ी उदारता से जी खोल कर करते थे ॥ १२ ॥

अन्नकूटाश्च बहवो दृश्यन्ते पर्वतोपमाः ।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत्तदा ॥ १३ ॥

कच्चे पक्के अन्न के ढेर पहाड़ों जैसे ऊँचे लगे रहते थे जो जैसा माँगता उसे नित्य वैसा ही भोजन दिया जाता था ॥ १३ ॥

नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा ।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन्यज्ञे महात्मनः ॥ १४ ॥

अनेक देशों से आये हुए स्त्री पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड नित्य भोजन से तृप्त होते थे ॥ १४ ॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः ।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं त इति शुश्राव राघवः ॥१५॥

स्वादिष्ट भोजनों से तृप्त हुए ब्राह्मणों के आशीर्वाद सूचक शब्द महाराज को चारों ओर से सुन पड़ते थे ॥ १५ ॥

सलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान्पर्यवेषयन् ।
उपासते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १६ ॥

वस्त्रों और गहनों से सजे हुए अन्य राजाओं के नौकर चाकर ब्राह्मणों की सब प्रकार सेवा करते और उन लोगों की परिचर्या के लिये मणिजटित कुण्डलधारी अन्य लोग थे ॥ १६ ॥

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान्बहूनपि ।
प्राहुः स्म वाग्मिनो धीराः परस्पर जिगीषया ॥ १७ ॥

एक सवन समाप्त होने पर और दूसरा सवन आरम्भ होने के बीच जो समय बचता उसमें एक दूसरे को पाण्डित्य में हरा देने की इच्छा से विद्वान् ब्राह्मण परस्पर शास्त्रार्थ करते थे ॥ १७ ॥

दिवसेदिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः ।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ १८ ॥

उस यज्ञ में कुशल ब्राह्मण शास्त्रानुकूल नित्य प्रति यज्ञकर्म करते कराते थे ॥ १८ ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नावहुश्रुतः ।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशला द्विजाः ॥ १९ ॥

इस यज्ञ में ऐसा ब्राह्मण न था जो वेद और वेदाङ्गवित् न हो, और महाराज का कोई ऐसा सदस्य न था, जो व्रतधारी न हो, अथवा बहुश्रुत न हो अथवा बोलचाल में कुशल न हो ॥ १९ ॥

प्राप्ते यूपोच्छ्राये तस्मिन्षड् बैल्वाः खादिरास्तथा ।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथाऽपरे ॥ २० ॥
श्लेष्मातकमयस्त्वेको देवदारुमयस्तथा ।
द्वावेव विहितौ तत्र बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥ २१ ॥

उस यज्ञ में लकड़ी के अँकवार भर मोटे इक्कीस खंभे गाड़े गये थे। इनमें से ६ बेल के, ६ खैर के, ६ ढाक के, १ लिसोड़े का और २ देवदारु के थे ॥ २० ॥ २१ ॥

कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालङ्कृताऽभवन् ॥२२॥

यज्ञकर्म में चतुर शास्त्रियों ने यज्ञशाला की शोभा बढ़ाने के लिये इन खंभों को सोने के पत्रों से मढ़वा दिया था ॥ २२ ॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥ २३ ॥

इक्कीसों खंभे इक्कीस इक्कीस अरत्नि* ऊँचे थे और सब कपड़ों से सजाये गये थे ॥ २३ ॥

विन्यस्ता विधिवत्सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः ।
अष्टाश्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥ २४ ॥

---

* अरत्नि—मुट्ठी ; यानी हाथ की बंधी हुई मुट्ठी ।

यथाविधि शिल्पियों ने वना, इनको वड़ी मज़वूती से पृथिवी में गाड़ा था, जिससे हिले नहीं, और ये खंभे वड़े चिकने और अठपहलू वनाये गये थे ॥ २४ ॥

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च भूषिताः ।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥ २५ ॥

इन खंभों पर वस्त्र लपेटे गये थे और ये पुष्प और चन्दन से सजाये गये थे । उस समय इनकी शोभा आकाश-मण्डल में सप्तर्षियों की तरह देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः ।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शुल्वकर्मणि ॥ २६ ॥

स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥ २७ ॥

जितनी वड़ी और जितनी अपेक्षित थीं उतनी ईंटें तैयार होने पर शिल्पनिपुण ब्राह्मणों ने उन ईंटों से अग्निकुण्ड वनाया । राजसिंह महाराज दशरथ के यज्ञ में चतुर ब्राह्मणों ने सुवर्ण की ईंटों से पंख वना अठारह प्रस्तार का एक गरुड़ वनाया ॥ २६ ॥ २७ ॥

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तद्दुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ २८ ॥

जैसी शास्त्रों में विधि वतलायी गयी है, तदनुसार जिस देवता के लिये जो पशु चाहिये वह वाँधा गया । यथाविधि सर्प और पक्षी भी यज्ञशाला में लाये गये ॥ २८ ॥

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।
ऋत्विग्भिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥ २९ ॥

ऋत्विजों ने घोड़े और जलचर जन्तु कच्छप आदि शास्त्ररीति से यथास्थान बाँधे ॥ २९ ॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तथा ।
अश्वरत्नोत्तमं तस्य राज्ञो दशरथस्य च ॥ ३० ॥

उन खंभों में तीन सौ पशु और प्रत्येक दिशा में घूम कर आया हुआ महाराज का अति उत्तम घोड़ा बाँधा गया ॥ ३० ॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥ ३१ ॥

कौशल्या जी ने उस घोड़े की अच्छी तरह पूजा की और प्रसन्न हो, तीन तलवारों से उस घोड़े के टुकड़े किये ॥ ३१ ॥

पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥ ३२ ॥

फिर धर्मसिद्धि की कामना से कौशल्या जी उस (मृत) अश्व की रक्षा करने को एक रात, शवस्पर्श की घृणा रहित मन से उसके पास रहीं ॥ ३२ ॥

होताऽध्वर्युस्तथोद्गाता ह्येन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्या च वावातां च तथा पराम् ॥ ३३ ॥

फिर होता, अध्वर्यु और उद्गाताओं ने कौशल्या जी को, परिवृति* को तथा वावाता† को अश्व के साथ नियोजित किया ॥ ३३ ॥

पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३४ ॥

जितेन्द्रिय ऋत्विजों ने उस घोड़े की चर्बी ले यथाविधि अग्नि पर चढ़ा उसे पकाया ॥ ३४ ॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन्पापमात्मनः ॥ ३५ ॥

महाराज दशरथ होमकाल में चर्बी के पकाने पर निकली हुई गन्धि को शास्त्र की विधि के अनुसार सूंघ सूंघ कर, अपने पापों को नष्ट करने लगे ॥ ३५ ॥

हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समन्त्राः षोडशर्त्विजः ॥३६॥

सोलह ऋत्विज उस घोड़े के अंग काट काट कर विधिवत् अग्नि में हवन करने लगे ॥ ३६ ॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।
अश्वमेधस्य चैकस्य वैतसो भाग इष्यते ॥ ३७ ॥

---

* राजा की शूद्रा स्त्री ; परिवृति वैश्य । † राजा की वैश्या स्त्री वावाता कहलाती है ।

अन्य यज्ञों में पाकर को लकड़ी से हवि की आहुति दी जाती है, किन्तु अकेले अश्वमेध ही में यह काम वेत से लिया जाता है ॥ ३७ ॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ३८ ॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ३९ ॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मण भाग ने, अश्वमेध यज्ञ में तीन दिन सवन-क्रिया करने के बतलाये हैं। उनमें प्रथम दिन अग्निष्टोम दिन है, दूसरा उक्थ्य, तीसरा अतिरात्रि—सो ये भी शास्त्र-विधि के अनुसार तथा अन्य बहुत से विधान किये गये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमप्तोर्यामो महाक्रतुः ॥ ४० ॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्रि अभिजित्, विश्वजित्, आप्तोर्याम महायज्ञ किये गये ॥ ४० ॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ ४१ ॥
उद्गात्रे च तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता ।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥ ४२ ॥
क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः ।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥४३॥

स्वकुल-वृद्धि-कारक महाराज दशरथ ने इस महायज्ञ को यथा-विधि समाप्ति पर पूर्व दिशा का राज्य होता को, पश्चिम का अध्वर्य्यु को, दक्षिण दिशा का ब्रह्मा को और उत्तर दिशा का उद्गाता को यज्ञ की दक्षिणा में दिया। स्वायंभुवमनु ने जिस प्रकार अपने महायज्ञ में, पूर्वकाल में, दक्षिणा दी थी, उसी प्रकार दशरथजी ने दी। तब यज्ञ को शास्त्रानुसार विधिवत् समाप्त कर, पुरुषश्रेष्ठ महाराज ने ऋत्विजों को पृथिवीदान कर दी ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

ऋत्विजस्त्वब्रुवन्सर्वे राजानं गतकल्मषम् ।
भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति ॥ ४४ ॥
न भूम्या कार्यमस्माकं न हि शक्ताः स्म पालने ।
रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप ॥ ४५ ॥
निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति ।
मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम् ॥ ४६ ॥
तत्प्रयच्छ नरश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ।
एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ४७ ॥

जब दशरथ ने अपने राज्य की सारी भूमि यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को दे दी, तब सब ब्राह्मण निष्पाप महाराज दशरथ से बोले कि, हे नरनाथ! इस भूमि की रक्षा तो आप ही कर सकते हैं। न तो हमें भूमि की आवश्यकता है और न हम इसका पालन ही करने में समर्थ हैं। क्योंकि हम लोग वेदपाठ में लगे रहते हैं अर्थात् हमें ज़मींदारी या राज्य के झंझटों में पड़ने की फ़ुरसत कहां है। अतएव आप तो हमें इस भूमिदान के बदले मणि, रत्न, सुवर्ण,

गौएँ—जो आप देना चाहें, दे दें। हम भूमि ले कर क्या करेंगे? वेदपारग ब्राह्मणों के ये वचन सुन ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः।
दशकोटीः सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम् ॥ ४८ ॥

महाराज ने एक लाख गौएँ, दस करोड़ सोने की मोहरें, चालीस करोड़ चाँदी के रुपये सब ऋत्विजों को दिये ॥ ४८ ॥

ऋत्विजस्तु ततः सर्वे मुदुः सहिता वसु।
ऋष्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते ॥ ४९ ॥

उन सब ने दक्षिणा में मिली हुई ये सब चीज़ें बाँटने के लिये वशिष्ठ जी व ऋष्यशृङ्ग जी के सामने रख दीं ॥ ४९ ॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः।
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ॥ ५० ॥

उन्होंने न्यायानुसार हिस्सा कर, सब को वह धन बाँट दिया। वे अपना अपना हिस्सा बाँट पा कर और प्रसन्न हो बोले, हम बहुत प्रसन्न हैं ॥ ५० ॥

ततः प्रणम्यकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः।
जाम्बूनदं कोटिशतं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ५१ ॥

फिर महाराज ने उन लोगों को जो यज्ञ देखने आये थे मोहरें बाँटीं और जाम्बूनद के सोने की कई करोड़ मोहरें अन्य ब्राह्मणों को दीं ॥ ५१ ॥

दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम्।
कस्मैचिद्याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ॥ ५२ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने एक दरिद्र भिक्षुक को, उसके माँगने पर, अपने हाथ का गहना उतार कर दे दिया ॥ ५२ ॥

ततः प्रीतेषु नृपतिर्द्विजेषु द्विजवत्सलः ।
प्रणाममकरोत्तेषां हर्षपर्याकुलेक्षणः ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणों को प्रसन्न देख, महाराज ने अतीव प्रसन्न चित्त से उनको प्रणाम किया ॥ ५३ ॥

तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदीरिताः ।
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां प्रणतस्य च ॥ ५४ ॥

इस पर उदार, वीरवर और पृथिवी पर पसर कर प्रणाम करते हुए महाराज को, ब्राह्मणों ने विविध आशीर्वाद दिये ॥ ५४ ॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ।
पापापहं स्वर्नयनं दुष्करं पार्थिवर्षभैः ॥ ५५ ॥

उदारचित्त महाराज दशरथ, पाप नाश करने वाले, स्वर्गप्रद एवं अन्य राजाओं के लिये दुष्कर, इस यज्ञ को कर ॥ ५५ ॥

ततोऽब्रवीद्दशरथस्तदा ऋष्यशृङ्गं राजा दशरथस्तदा ।
कुलस्य वर्धनं त्वं तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ॥ ५६ ॥

ऋष्यशृङ्ग से बोले—"हे सुव्रत ! अब आप मेरे कुल की वृद्धि के लिये उपाय कीजिये ॥ ५६ ॥

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः ।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥ ५७ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

यह सुन और तथास्तु कह कर ऋष्यशृङ्ग बोले—'हे राजन्! आपके कुल को बढ़ाने वाले चार पुत्र होंगे ॥ ५७ ॥

बालकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

पञ्चदशः सर्गः

—:※:—

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किंचिदिदमुत्तरम्।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥ १ ॥

मेधावी, वेदज्ञ ऋष्यशृङ्ग जी कुछ काल तक ध्यान कर के, महाराज दशरथ से बोले कि, ॥ १ ॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥ २ ॥

हे राजन्! मैं तेरे लिये अथर्वणवेद में कही हुई पुत्रेष्टि यज्ञ की विधि के अनुसार सिद्धि देने वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करूँगा जिससे तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा ॥ २ ॥

ततः प्रक्रम्य तामिष्टिं पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहाव चाग्नौ तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३ ॥

यह कह पुत्र-प्राप्ति के लिये, उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ प्रारम्भ किया, और विधिवत् मंत्र पढ़ कर, वे आहुति देने लगे ॥ ३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥ ४ ॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि, अपना अपना यज्ञ-भाग लेने को आ कर जमा हुए ॥ ४ ॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन्सदसि देवताः ।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं महत् ॥ ५ ॥

इस यज्ञ में यथाक्रम एकत्र हो देवताओं ने सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा जी से विनय की ॥ ५ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।
सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! आपकी कृपा से रावण नामक राक्षस, हम सब को बहुत सताता है, और हम उसका कुछ भी नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवन्पुरा ।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥ ७ ॥

क्योंकि आपने प्रसन्न हो उसे पहले वरदान दे दिया है, इस लिये हम सब सहते हैं और कुछ नहीं बोलते ॥ ७ ॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान्द्वेष्टि दुर्मतिः ।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ ८ ॥

वह तीनों लोकों को सता रहा है, और लोकपालों से शत्रुता बाँध कर, स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी नीचा दिखाना चाहता है ॥ ८ ॥

ऋषीन्यक्षान्सगन्धर्वानसुरान्ब्राह्मणांस्तथा ।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥ ९ ॥

क्या ऋषि, क्या यक्ष, क्या गन्धर्व, क्या देवता, क्या ब्राह्मण, आपके वरदान के प्रभाव से, यह दुर्धर्ष किसी को कुछ भी तो नहीं समझता ॥ ९ ॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः ।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥१०॥

उसे न तो सूर्य ही गर्मी पहुँचा सकते और न वायु देव ही उसके समीप वेग से चल सकते हैं । उसे देखते ही समुद्र भी अपना लहराना बंद कर, शान्त हो जाता है ॥ १० ॥

सुमहन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद्घोरदर्शनात् ।
यथार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

उस भयानक राक्षस को देखने ही से हमें बड़ा डर लगता है । अतः हे भगवन् ! उसके वध के लिये कोई उपाय कीजिये ॥ ११ ॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वांश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत् ।
हन्तायं विहितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥ १२ ॥

उन सब देवताओं के ये वचन सुन, ब्रह्मा जी कुछ सोच कर बोले—मैंने उस दुरात्मा के मारने का उपाय सोच लिया है ॥ १२ ॥

तेन गन्धर्वयक्षाणां देवदानवरक्षसाम् ।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥१३॥

रावण के वर माँगने पर हमने उसे गन्धर्व, यक्ष, देवता, दानव और राक्षसों द्वारा अवध्य होने का वरदान तो अवश्य दे दिया है ॥ १३ ॥

नाकीर्तयदवज्ञानात्तद्रक्षो मानुषांस्तदा ।
तस्मात्स मानुषाद्वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते ॥१४॥

किन्तु उसने मनुष्यों को कुछ भी न समझ वरदान में मनुष्यों का नाम नहीं लिया था । अतः वह सिवाय मनुष्य के और किसी के द्वारा नहीं मारा जा सकता ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम् ।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जी का यह प्रिय वचन सुन, सब देवता महर्षि आदि बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः ।
शङ्खचक्रगंदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥ १६ ॥

इतने ही में शङ्ख चक्र गदा धारण किये और पीताम्बर धारण किये महा तेजस्वी जगत्पति विष्णु भगवान् वहाँ पर आये ॥ १६ ॥

ब्रह्मणा च समागम्य तत्र तस्थौ समाहितः ।
तमब्रुवन्सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥ १७ ॥

जब विष्णु भगवान् ब्रह्मा जी से मिल कर उनके पास बैठे तब देवताओं ने बड़ी नम्रता के साथ उनकी स्तुति की और बोले ॥ १७ ॥

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ १८ ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
तस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥ १९ ॥

विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २० ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् ।
स हि देवान्सगन्धर्वान्सिद्धांश्च मुनिसत्तमान् ॥ २१ ॥

राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योत्सेकेन बाधते ।
ऋषयस्तु ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २२ ॥

हम लोग आपसे सब की भलाई के लिये यह प्रार्थना करत हैं कि आप धर्मात्मा, दानी और ऋषिवत् तेजस्वी अयोध्याधिपति महाराज दशरथ की ह्री श्री और कीर्ति के समान तीन रानियों में अपने चार अंशों से पुत्रभाव स्वीकार करें। आप मनुष्य शरीर धारण कर, महा अभिमानी लोककण्टक उस रावण को, जो हम (देवताओं) से भी अवध्य है, युद्ध में परास्त करें। क्योंकि वह मूर्ख राक्षस रावण देवता, गन्धर्व, सिद्ध और मुनियों को अपने बल से बहुत सताता है ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥

क्रीडन्तो नन्दनवने क्रूरेण किल हिंसिताः ।
वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥ २३ ॥

देखिये, उस दुष्ट ने (इन्द्र के) नन्दनवन नामक उद्यान में क्रीड़ा करते हुए अनेक गन्धर्वों तथा अप्सराओं को मार डाला। उसीको मरवाने के लिये, हम यहां मुनियों सहित आये हैं ॥ २३ ॥

सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ।
त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परन्तप ॥ २४ ॥

हम सिद्ध, गन्धर्व और यक्षों सहित आपके शरण में आये हैं। हे देव! हमारी दौड़ तो आप ही तक है ॥ २४ ॥

वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।
एवमुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुङ्गवः ॥ २५ ॥

अतः आप देवताओं के शत्रु रावण का वध करने के लिये मनुष्यलोक में अवतीर्ण हूजिये। इस प्रकार देवताओं ने भगवान् विष्णु की स्तुति की ॥ २५ ॥

पितामहपुरोगांस्तान्सर्वलोकनमस्कृतः ।
अब्रवीत्त्रिदशान्सर्वान्समेतान्धर्मसंहितान् ॥ २६ ॥

सर्वलोकों से नमस्कार किये जाने वाले अर्थात् सर्वपूज्य भगवान् विष्णु ने, शरण आये हुए एकत्रित ब्रह्मादि देवताओं से यह कहा ॥ २६ ॥

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समित्रज्ञातिबान्धवम् ॥ २७ ॥
हत्वा क्रूरं दुरात्मानं देवर्षीणां भयावहम् ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन्पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥

हे देवताओ! तुम्हारा मङ्गल हो; तुम अब मत डरो। तुम्हारे हित के लिये मैं रावण से लड़ूँगा। मैं पुत्र, पौत्र, मंत्रि, मित्र, जाति वालों तथा बन्धु बान्धव सहित, उस क्रूर, दुष्ट और देवताओं तथा ऋषियों के लिये भयप्रद रावण को मार और ग्यारह हज़ार वर्ष तक मर्त्यलोक में रह कर, इस पृथिवी का पालन करूँगा ॥ २७ ॥ २८ ॥

एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ।
मानुषे चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं को वरदान दे अपने जन्म लेने योग्य मनुष्यलोक में स्थान सोचने लगे ॥ २९ ॥

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥ ३० ॥

कमलनयन भगवान् विष्णु ने अपने चार रूपों से महाराज दशरथ को अपना पिता बनाना, अर्थात् उनके घर में जन्म लेना पसंद किया ॥ ३० ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ।
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३१ ॥

तब देवर्षि, गन्धर्व, रुद्र, अप्सरागण—इन सब ने मधुसूदन भगवान् की स्तुति कर, उनको सन्तुष्ट किया ॥ ३१ ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं
प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधु तपस्विकण्टकं
तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३२ ॥
तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं
विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं
सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३३ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

और कहा, हे प्रभो ! इस उद्दण्ड, बड़े तेजस्वी, अत्यन्त अहङ्कारी, देवताओं के शत्रु, लोकों को रुलाने वाले, साधु तपस्वियों को सताने वाले और भयदाता रावण को, नाश कीजिये । उस लोकों को रुलाने वाले और उग्र पुरुषार्थी रावण को बंधु, बान्धव तथा सेना सहित मार कर और संसार के दुःख को दूर कर, इन्द्रपालित तथा पाप एवं दोषशून्य स्वर्ग में पधारिये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

बालकाण्ड का पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

षोडशः सर्गः

—:*:—

ततो नारायणो देवो नियुक्तः सुरसत्तमैः ।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

देवताओं की स्तुति सुन, सब जानने वाले साक्षात् परब्रह्म नारायण, देवताओं के सम्मानार्थ यह मधुर वचन बोले ॥ १ ॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥ २ ॥

हे देवताओ ! यह तो बतलाओ कि, उस राक्षसों के राजा और मुनियों के कण्टक को हम किस उपाय से मारें । ॥ २ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम् ।
मानुषीं तनुमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥ ३ ॥

यह सुन देवताओं ने अव्यय विष्णु से कहा—मनुष्य रूप में अवतीर्ण हो, रावण को युद्ध में मारिये ॥ ३ ॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दम ।
येन तुष्टोऽभवद्ब्रह्मा लोककृल्लोकपूजितः ॥ ४ ॥

हे अरिन्दम ! उसने बहुत दिनों तक कठोर तप कर लोककर्त्ता और लोकपूजित ब्रह्मा को प्रसन्न किया ॥ ४ ॥

संतुष्टः ददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥ ५ ॥

तब उन्होंने प्रसन्न हो उस राक्षस को यह वर दिया कि, मनुष्य के सिवाय हमारी सृष्टि के किसी भी जीव के मारे तुम न मरोगे ॥ ५ ॥,

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदानेन मानवाः ।
एवं पितामहात्तस्माद्वरं प्राप्य स दर्पितः ॥ ६ ॥

(वह मनुष्य को तुच्छ समझता था । अतः उसने मनुष्यों से अभय होना न माँगा । ब्रह्मा जी के वर से वह गर्वित हो गया ॥ ६ ॥

उत्सादयति लोकांस्त्रीन्स्त्रियश्चाप्यपकर्षति ।
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप ॥ ७ ॥

इस समय वह तीनों लोकों को उजाड़ता है और स्त्रियों को पकड़ कर ले जाता है, अतएव वह मनुष्य के हाथ ही से मर सकता है ॥ ७ ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥ ८ ॥

देवताओं की इन बातों को सुन भगवान् विष्णु ने महाराज दशरथ को अपना पिता बनाना पसंद किया ॥ ८ ॥

स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन्काले महाद्युतिः ।
अयजत्पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः ॥ ९ ॥

उसी समय पुत्रहीन, महाद्युतिमान्, शत्रुहन्ता महाराज दशरथ ने पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टियज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम् ।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ १० ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ के घर में जन्म लेने का निश्चय कर और ब्रह्मा जी से बातचीत कर भगवान् विष्णु वहाँ से अन्तर्धान हो गये ॥ १० ॥

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम् ।
प्रादुर्भूतं महद्भूतं महावीर्यं महाबलम् ॥ ११ ॥
कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्ताक्षं दुन्दुभिस्वनम् ।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम् ॥ १२ ॥
शुभलक्षणसंपन्नं दिव्याभरणभूषितम् ।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम् ॥ १३ ॥
दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम् ।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम् ॥ १४ ॥
दिव्यपायससंपूर्णां पात्रीं पद्मीमिव श्रियम् ।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव ॥ १५ ॥

उधर महाराज दशरथ के अग्निकुण्ड के अग्नि से महाबली, अतुल प्रभा वाला, काले रंग का, लाल वस्त्र धारण किये हुए,

महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्नि से यज्ञ देव का
प्रकट हो कर महाराज को पायस देना

लाल रंग के मुँह वाला, नगाड़े जैसा शब्द करता हुआ; सिंह के रोम जैसे रोम और मूँछो वाला, शुभ लक्षणों से युक्त, सुन्दर आभूषणों को धारण किये हुए, पर्वत के शिखर के समान लंबा, सिंह जैसी चाल वाला, सूर्य के समान तेजस्वी, और प्रज्वलित अग्नि शिखा की तरह रूप वाला, दोनों हाथों में सोने के थाल में, जो चांदी के ढकने से ढका हुआ था, पत्नी की तरह प्रिय और दिव्य खीर लिये हुए, मुसक्याता हुआ एक पुरुष निकला ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

समवेक्ष्याब्रवीद्वाक्यमिदं दशरथं नृपम् ।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ॥ १६ ॥

वह महाराज दशरथ को ओर देख कर यह बोला—"महाराज ! मैं प्रजापति के पास से यहां आया हूँ ॥ १६ ॥

ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
भगवन्स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥ १७ ॥

यह सुन महाराज दशरथ ने हाथ जोड़ कर कहा—भगवन् ! आपका मैं स्वागत करता हूँ कहिये, मेरे लिये क्या आज्ञा है ॥१७॥

अथो पुनरिदं वाक्यं प्रजापत्यो नरोऽब्रवीत् ।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥ १८ ॥

इस पर प्रजापति के भेजे उस मनुष्य ने फिर कहा—देवताओं का पूजन करने से आज तुमको यह पदार्थ मिला है ॥ १८ ॥

इदं तु नरशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् ।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥ १९ ॥

हे नरशार्दूल ! यह देवताओं की वनाई हुई खीर है, जो सन्तान की देने वाली तथा धन और ऐश्वर्य की वढ़ाने वाली है इसे आप लीजिये ॥ १६ ॥

भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै ।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान्यदर्थं यजसे नृप ॥ २० ॥

और इसको अपने अनुरूप रानियों को खिलाइये । इसके प्रभाव से आपकी रानियों के पुत्र उत्पन्न होंगे, जिसके लिये आपने यह यज्ञ किया है ॥ २० ॥

तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम् ।
पात्रीं देवान्नसंपूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥ २१ ॥

इस वात को सुन महाराज ने प्रसन्न हो, उस देवताओं की वनाई हुई और भेजी हुई खीर से भरे सुवर्णपात्र को ले अपने माथे चढ़ाया ॥ २१ ॥

अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम् ।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उस अद्भुत एवं प्रियदर्शन पुरुष को महाराज ने प्रणाम किया और परम प्रसन्न हो उसकी परिक्रमा की ॥ २२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम् ।
वभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥ २३ ॥

उस देवनिर्मित खीर को पा कर महाराज दशरथ उसी तरह परम प्रसन्न हुए, जिस तरह कोई निर्धन मनुष्य धन पा कर परम प्रसन्न होता है ॥ २३ ॥

ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम् ।
संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥

वह महातेजस्वी अद्भुत पुरुष महाराज दशरथ को पायसपात्र देकर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २४ ॥

हर्परश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमावभौ ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंशुभिः ॥ २५ ॥

महाराज की रानियां भी यह सुख-संवाद सुन, शरद्कालीन चन्द्रमा की किरणों से आकाश की भाँति (प्रसन्नता से) खिल उठीं; अर्थात् शोभायमान हुई ॥ २५ ॥

सोन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् ।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ रनवास में गये और महारानी कौशल्या जी से यह बोले—"लो यह खीर है, इससे तुमको पुत्र की प्राप्ति होगी ॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥ २७ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने उस खीर में से आधी तो कौशल्या जी को और बची हुई आधी में से आधी सुमित्रा को दी ॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात् ।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ॥ २८ ॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महीपतिः ।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥ २९ ॥

कुल खीर का आधा हिस्सा कौसल्या को दिया और उस अमृतोपम खीर का बचा हुआ आधा भाग, कुछ सोचकर फिर सुमित्रा को दे दिया। इस प्रकार महाराज ने अपनी रानियों को अलग अलग हिस्से कर खीर बाँटी ॥ २८ ॥ २९ ॥

तास्त्वेतत्पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमाः स्त्रियः ।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः महर्षीदितचेतसः ॥ ३० ॥

उस खीर को खा कर, महाराज की कौसल्यादि सुन्दरी रानियाँ बहुत प्रसन्न हुईं और अपने को अत्यन्त भाग्यवती माना ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तदुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक् ।
हुताशनादित्यसमानतेजस-
श्चिरेण गर्भान्प्रतिपेदिरे तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन उत्तम रानियों ने, महाराज की पृथक् पृथक् दी हुई खीर खा कर अग्नि और सूर्य के समान तेज वाले गर्भ शीघ्र धारण किये ॥ ३१ ॥

ततस्तु राजा प्रसमीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः ।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः ॥ ३२ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ भी अपनी रानियों को गर्भवती और अपना मनोरथ पूर्ण होता देख, उसी प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार भगवान्

विष्णु देवताओं और सिद्धों से पूजित हो, स्वर्ग में प्रसन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तदशः सर्गः

—:o:—

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयंभूर्भगवानिदम् ॥ १ ॥

महात्मा महाराज दशरथ के घर में भगवान् विष्णु को पुत्र रूप से अवतीर्ण होते देख, ब्रह्मा जी ने सब देवताओं से कहा ॥ १ ॥

सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥२॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे ।
नयज्ञान्बुद्धिसंपन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥ ३ ॥
असंहार्यानुपायज्ञान्सिंहसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव ॥ ४ ॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
किंनरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ॥ ५ ॥
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥ ६ ॥

सत्यसंध, वीर, और सब का हित चाहने वाले भगवान् विष्णु की सहायता के लिये तुम लोग भी बलवान, कामरूपी (जैसा चाहे

वैसा रूप बनाने वाले) माया को जानने वाले, वेग में पवन तुल्य, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, पराक्रम में विष्णु के ही समान, जिनको कोई मार न सके, उद्यमी, दिव्य शरीर वाले, अस्त्र विद्या में निपुण और देवताओं के सदृश वानरों को ; अप्सराओं, गन्धर्व की स्त्रियों और यक्षों एवं नागों की कन्याओं, ऋक्षियों, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियों से उत्पन्न करो ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवान्ऋक्षपुङ्गवः ।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥ ७ ॥

मैंने भी पहले भालुओं में श्रेष्ठ जाम्बवान् नामक रीछ को पैदा किया था, वह जमुहाई लेते समय मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा था ॥ ७ ॥

ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान्वानररूपिणः ॥ ८ ॥
ऋक्षयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः ।
चारणाश्च सुतान्वीरान्ससृजुर्वनचारिणः ॥ ९ ॥

ब्रह्मा जी के इस आज्ञानुसार, ऋक्षों, सिद्धों, चारणों, विद्याधरों और नागों ने वानर रूपी पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमूर्जितम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥ १० ॥
बृहस्पतिस्त्वजनयत्तारं नाम महाहरिम् ।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

धनदस्य सुतः श्रीमान्वानरो गन्धमादनः ।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाहरिम् ॥ १२ ॥

पावकस्य सुतः श्रीमान्नीलोऽग्निसदृशप्रभः ।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वानरान् ॥ १३ ॥

रूपद्रविणसंपन्नावश्विनौ रूपसंमतौ ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥ १४ ॥

वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम् ।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलम् ॥ १५ ॥

मारुतस्यात्मजः श्रीमान्हनुमान्नाम वानरः ।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥ १६ ॥

इन्द्र ने महेन्द्राचल की तरह वालि, सूर्य ने सुग्रीव, वृहस्पति ने तार, जो सब वानरों में मुख्य और अति चतुर था, कुवेर ने गन्धमादन, विश्वकर्मा ने नल, अग्नि ने नील जो अग्नि के समान ही तेजस्वी था तथा यश और पराक्रम में जो अपने पिता से भी बढ़ कर था ; अश्विनी-कुमारों ने मैन्द और द्विविद, वरुण ने सुषेण, मेघ ने शरभ और पवन ने हनुमान नामक वानर उत्पन्न किया। इनकी देह वज्र के समान दृढ़ थी और यह वेग में गरुड़ के समान थे ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान्बलवानपि ।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधे रताः ॥ १७ ॥

हनुमान जी बुद्धि और पराक्रम में अन्य सब वानरों से चढ़ बढ़ कर थे। इनके अतिरिक्त हज़ारों और भी बंदर, रावण के वध के लिये उत्पन्न किये गये ॥ १७ ॥

अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः ।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥ १८ ॥

जितने वानर उत्पन्न हुए वे सब के सब अत्यन्त बलवान, स्वेच्छाचारी, गज और भूधराकार शरीर वाले हुए ॥ १८ ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे ।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः ॥ १९ ॥
अजायत समस्तेन तस्य तस्य सुतः पृथक् ।
गोलाङ्गूलीषु चोत्पन्नाः केचित्संमतविक्रमाः ॥२०॥

रीछ, बंदर, लंगूर सब ऐसे ही थे। जिस देवता का जैसा रूप, वेष व पराक्रम था, उनके अलग अलग वैसे वैसे ही पुत्र भी हुए—बल्कि इन योनियों में विशेष पराक्रमी हुए ॥ १९ ॥ २० ॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किंनरीषु च ।
देवा महर्षिगन्धर्वास्ताक्ष्र्या यक्षा यशस्विनः ॥ २१ ॥
नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः ।
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः ॥ २२ ॥

इनमें से कोई तो लंगूरिनों से कोई रीछिनियों से, और कोई किन्नरियों से उत्पन्न हुआ। यशस्वी देवता, ऋषि, गन्धर्व, उरग, यक्ष, नाग, किन्नर विद्याधर आदि ने हज़ारों हृष्ट पुष्ट पुत्र उत्पन्न किये ॥ २१ ॥ २२ ॥

वानरान्सुमहाकायान्सर्वान्वै वनचारिणः ।
सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च ॥ २३ ॥

ये सब वानर बड़े भारी डील डौल के थे और दर्प तथा बल में सिंह और शार्दूल के समान थे ॥ २३ ॥

शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पादपयोधिनः ।
नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ २४ ॥

सब के सब शिलाओं, पर्वतों, नखों और दांतों से प्रहार करने वाले तथा सब अस्त्रों के चलाने में पण्डित थे ॥ २४ ॥

विचालयेयुः शैलेन्द्रान्भेदयेयुः स्थिरान्द्रुमान् ।
क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम् ॥ २५ ॥

ये लोग बड़े बड़े पर्वतों को हिला देने वाले, बड़े बड़े जमे हुए पेड़ों को उखाड़ देने वाले, और अपने वेग से समुद्र को भी विचलित करने वाले थे ॥ २५ ॥

दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवम् ।
नभस्थलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान् ॥ २६ ॥

ये अपने पैर के प्रहार से पृथिवी को फोड़ने वाले, समुद्र के पार जाने वाले, आकाश में उड़ने वाले, और बादलों को भी पकड़ने वाले थे ॥ २६ ॥

गृह्णीयुरपि मातङ्गान्मत्तान्प्रव्रजतो वने ।
नर्दमानाश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान् ॥ २७ ॥

ये वानर, जंगलों में घूमने वाले, मदमस्त हाथियों को पकड़ने वाले, और किलकारी मार कर, आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को गिराने की सामर्थ रखने वाले थे ॥ २७ ॥

ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम् ।
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार कामरूपी वानरों की उत्पत्ति हुई । वे ऐसे महावली लाखों वानरों के यूथों के यूथपति हुए ॥ २८ ॥

ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ।
वभूवुर्यूथपश्रेष्ठा वीरांश्चाजनयन्हरीन् ॥ २९ ॥

इन प्रधान यूथपों से अनेकों वीर यूथपश्रेष्ठ वानर उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः ।
अन्ये नानाविधाञ्शैलान्भेजिरे काननानि च ॥३०॥

इनमें से हज़ारों ऋक्षवान् पर्वत के शिखरों पर और शेष वानर जगह जगह पर्वतों और वनों में वसने लगे ॥ ३० ॥

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्व एव हरीश्वराः ॥ ३१ ॥

सूर्यपुत्र सुग्रीव और इन्द्रपुत्र वालि, इन दोनों भाइयों के पास ये सब वानर रहने लगे ॥ ३१ ॥

नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान् ।
ते तार्क्ष्यबलसंपन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ३२ ॥

और बहुतों ने नल, नील, हनुमान तथा अन्य यूथपतियों का सहारा लिया । वे सब गरुड़ के समान बलवान् और युद्ध में कुशल थे ॥ ३२ ॥

विचरन्तोऽर्दयन्दर्पात्सिंहव्याघ्रमहोरगान् ।
तांश्च सर्वान्महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः ॥ ३३ ॥

जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान् ।
तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा ।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः ॥ ३४ ॥

वे सब वानर घूमते हुए सिंह व्याघ्र और साँपों को भी मर्दन करने लगे । महाबली और महाबाहु वाली अपने विपुल विक्रम और अपनी भुजाओं के बल से बंदर रीछ और लंगूरों का पालन करने लगा । उन शूरवीर कपियों से, जिनके विविध प्रकार के रूप रंग थे, पर्वत, वन, समुद्र और पृथिवी के अनेक स्थान परिपूर्ण हो गये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटकल्पै-
र्महाबलैर्वानरयूथपालैः ।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः ॥ ३५ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

मेघों और पर्वतों के समान भीम शरीर वाले महाबली जो यूथप बंदर श्रीरामचन्द्र जी की सहायता के लिये उत्पन्न हुए थे, उनसे सारी पृथिवी भर गयी ॥ ३५ ॥

बालकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

अष्टादशः सर्गः

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन्हयमेधे महात्मनः ।
प्रतिगृह्य सुरा भागान्प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ का अश्वमेध यज्ञ समाप्त होने पर देवता अपना अपना भाग लेकर अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ १ ॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः ।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥ २ ॥

महाराज भी यज्ञदीक्षा के नियमों को समाप्त कर रानियों, सेवकों, सेना और वाहनों सहित राजधानी में चले गये ॥ २ ॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा वै पृथिवीश्वराः ।
मुदिताः प्रययुर्देशान्प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

बाहिर से न्योते में आये हुए राजा भी यथोचित रीत्या सत्कारित हो और वशिष्ठ जी को प्रणाम कर, सहर्ष अपने अपने देशों को लौट गये ॥ ३ ॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वपुराणि पुरात्ततः ।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥ ४ ॥

वहाँ से अपने नगरों को राजाओं के जाने पर उन राजाओं की सेनाएँ नाना प्रकार के भूषण वस्त्रादि पा कर और प्रसन्न हो, अयोध्या से अपने अपने पुरों को विदा हुईं ॥ ४ ॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथस्तदा ।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान्पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥ ५ ॥

सब राजाओं के विदा हो जाने के बाद महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आगे कर पुरी में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृश्यशृङ्गः सुपूजितः ।
अन्वीयमानो राज्ञाऽथ सानुयात्रेण धीमता ॥ ६ ॥

ऋष्यशृङ्ग भी अपनी पत्नी शान्ता सहित महाराज से विदा हो अपने स्थान को चल दिये। महाराज उनको पहुँचाने के लिये कुछ दूर तक उनके साथ गये ॥ ६ ॥

एवं विसृज्य तान्सर्वान्राजा सम्पूर्णमानसः ।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन सब को विदा कर महाराज दशरथ सफल मनोरथ हो, सन्तानोत्पत्ति की प्रतीक्षा करते हुए रहने लगे ॥ ७ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥ ८ ॥

यज्ञ होने के दिन से जब छः ऋतुएँ बीत चुकीं और बारहवां महीना लगा, तब चैत्र मास की नवमी तिथि को ॥ ८ ॥

नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥

पुनर्वसु नक्षत्र में सूर्य, मङ्गल, शनि, वृहस्पति और शुक्र के उच्चस्थानों में प्राप्त होने पर अर्थात् क्रमशः मेष, मकर, तुला, कर्क और मीन राशियों में आने पर, और जब चन्द्रमा वृहस्पति के साथ हो गये, तब कर्क लग्न के उदय होते ही ॥ ९ ॥

प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्याऽजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥१० ॥

सर्ववन्द्य, जगत् के स्वामी दिव्य लक्षणों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का जन्म कौशल्या जी के गर्भ से हुआ ॥ १० ॥

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकवर्धनम् ।
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ॥ ११ ॥
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ।
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ॥ १२ ॥

इक्ष्वाकु वंश को बढ़ाने वाले विष्णु भगवान् का आधा भाग कौशल्या के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। इस अमित तेजस्वी पुत्र के उत्पन्न होने पर कौशल्या जी की वैसी ही शोभा हुई, जैसी कि, देवताओं के वरदान से इन्द्र द्वारा अदिति की हुई थी। सत्य पराक्रमी भरत कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥ १२ ॥

साक्षाद्विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ।
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ ॥ १३ ॥

भरत जी विष्णु भगवान् का चतुर्थांश थे और सब गुणों से युक्त थे। सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ।
पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ॥ १४ ॥

ये दोनों विष्णु के अष्टमांश थे और सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र चलाने की विद्या में कुशल शूरवीर थे। पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न में, सदा प्रसन्न रहने वाले भरत जी का जन्म हुआ ॥ १४ ॥

सार्पे जातौ च सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ।
राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ॥ १५ ॥

श्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में, सूर्योदय के समय लक्ष्मण शत्रुघ्न का जन्म हुआ। महाराज के चारों पुत्र पृथक् पृथक् गुणों वाले पैदा हुए ॥ १५ ॥

गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रूच्या प्रोष्ठपदोपमाः ।
जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १६ ॥
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खाच्च्युता ।
उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलाः ॥ १७ ॥

चारों पुत्र गुणवान् और पूर्वा व उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रों के तुल्य कान्ति युक्त थे। इनके जन्म के समय गन्धर्वों ने मधुर गान किया, अप्सरायें नाचीं, देवताओं ने बाजे बजाये और आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई। इस प्रकार अयोध्या में बड़ी धूमधाम से उत्सव हुआ और लोगों की बड़ी भीड़ हुई ॥ १६ ॥ १७ ॥

रथ्याश्च जनसंबाधा नटनर्तकङ्कुलाः ।
गायनैश्च विराविण्यो वादकैश्च तथाऽपरैः ॥ १८ ॥

अयोध्या में घर घर आनन्द की बधाई बजने लगी। गली कूचों में जिधर देखो उधर लोगों की भीड़ लगी हुई थी और वेश्या, नट नटी आदि गा बजा रहीं थीं ॥ १८ ॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः ॥ १९ ॥

इस उत्सव में महाराज दशरथ ने सूत, मागध और वन्दीगण को परितोषिक यानी "सिरोपा" और ब्राह्मणों को धन और बहुत सी गौवें दीं ॥ १९ ॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाऽकरोत् ।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥ २० ॥

बारहवें दिन चारों शिशुओं का नाम-करण संस्कार किय गया। सब से बड़े अर्थात् कौशल्यानन्द-वर्द्धन का नाम श्रीरामचन्द्र और कैकेयी के पुत्र का नाम भरत रखा गया ॥ २० ॥

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कृतवांस्तदा ॥ २१ ॥

सुमित्रा जी के पुत्रों का नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखा गया। यह नाम-करण-संस्कार बड़े हर्ष के साथ वशिष्ठ जी ने किया ॥२१॥

ब्राह्मणान्भोजयामास पौरजानपदानपि ।
अददद्ब्राह्मणानां च रत्नौघममितं बहु ॥ २२ ॥

इस दिन पुरवासियों को और बाहिर से आये हुए ब्राह्मणों को महाराज ने भोजन कराये और ब्राह्मणों को बहुत से रत्न बाँटे ॥ २२ ॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत् ।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥ २३ ॥

इन सब बालकों के जातकर्म, अन्नप्राशनादि संस्कार महाराज ने यथासमय करवाये। इन चारों में कुल की पताका के समान श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथ को अत्यन्त प्यारे थे ॥ २३ ॥

बभूव भूयो भूतानां स्वयंभूरिव संमतः ।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥ २४ ॥

यही नहीं, बल्कि वे ब्रह्मा जी की तरह सब लोगों के प्रेमास्पद थे। चारों राजकुमार वेद के जानने वाले, शूर और सब लोगों के हितैषी थे ॥ २४ ॥

सर्वे ज्ञानोपसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ २५ ॥

यद्यपि सब राजकुमार परम ज्ञानी और सर्वगुण सम्पन्न थे; तथापि उनमें महातेजस्वी और सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ॥२५॥

इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः ।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु संमतः ॥ २६ ॥

निर्मल चन्द्रमा की तरह सब के प्यारे थे। उनको हाथी के कंधे पर और घोड़े की पीठ पर तथा रथ पर बैठना बहुत पसंद था। अर्थात् हाथी, घोड़ा और रथ स्वयं हाँकने का शौक था ॥ २६ ॥

धनुर्वेदे च निरतः पितृशुश्रूषणे रतः ।
बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥२७॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥ २८ ॥

वे धनुर्विद्या में निपुण थे और सदा पिता की सेवा में लगे रहते थे। लक्ष्मी के बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी लड़कपन ही से अपने लोकहितैषी अथवा लोकाभिराम ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा में सदा रहते थे और श्रीरामचन्द्र जी को अपने शरीर से बढ़ कर चाहते थे ॥ २७ ॥ २८ ॥

लक्ष्मणो लक्ष्मिसंपन्नो बहिःप्राण इवापरः ।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥ २९ ॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।
यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः ॥ ३० ॥

लक्ष्मी से सम्पन्न लक्ष्मण जी को श्रीरामचन्द्र जी अपन दूसरा प्राण ही मानते थे और इतना चाहते थे कि, विना उनके न तो सोते और न कोई मिठाई ही खाते थे। जब श्रीरामचन्द्र जी घोड़े पर सवार हो कर शिकार खेलने जाते ॥ २९ ॥ ३० ॥

तदैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन् ।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥ ३१ ॥

प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः ।
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥ ३२ ॥

तव लक्ष्मण जी धनुप हाथ में ले उनके पीछे पीछे हो लिया करते थे। भरत जी को भी शत्रुघ्न उसी प्रकार प्राणों के समान प्रिय थे, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण। इन चारों महाभाग्यशाली पुत्रों से महाराज दशरथ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

वभूव परमप्रीतो वेदैरिव पितामहः ।
ते यदा ज्ञानसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥ ३३ ॥

वैसे ही प्रसन्न रहते थे जैसे चारों वेदों से ब्रह्मा जो। उन चारों ज्ञानी, सब गुणों से युक्त ॥ ३३ ॥

ह्रीमन्तः कीर्त्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः ।
तेषामेवंप्रभावानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥ ३४ ॥

लज्जालु, कीर्तिमन्त, सर्वज्ञ, दूरदर्शी पुत्रों का प्रभाव व तेज देख, ॥ ३४ ॥

पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा ।
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥ ३५ ॥

उनके पिता महाराज दशरथ वैसे ही प्रसन्न होते थे जैसे ब्रह्मा जी लोकपालों से अथवा दिक्पालों से । वे चारों पुरुषसिंह राजकुमार वेदाध्ययन में निरत रहते थे ॥ ३५ ॥

पितुश्शुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः ।
अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३६ ॥
चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः ॥ ३७ ॥
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥ ३८ ॥

वे पिता की सेवा किया करते थे और धनुर्विद्या में निष्ठा रखते थे । उनके विवाह के लिये महाराज दशरथ उपाध्यायों और कुटुम्बियों तथा मंत्रियों से सलाह कर रहे थे कि, इसी बीच में महामुनि महातेजस्वी विश्वामित्र पधारे । वे महाराज से मिलने की अभिलाषा से ड्योढीदार से बोले ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्रासाद्राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः ॥ ३९ ॥

तुरन्त जाकर महाराज को सूचना दो कि, गाधि के पुत्र आये हैं । यह सुन और भयभीत हो द्वारपाल राजगृह की ओर दौड़े ॥ ३९ ॥

संभ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।
ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा ॥ ४० ॥
प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायैक्ष्वाकवे तदा ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४१ ॥

विश्वामित्र जी के कहने पर उन्होंने बड़े आदर के साथ राजभवन में जाकर विश्वामित्र जी के आने का संवाद, महाराज दशरथ से निवेदन किया। उनका आगमन सुन, महाराज प्रसन्न हो और वशिष्ठ जी को साथ ले ॥ ४० ॥ ४१ ॥

प्रत्युज्जगाम तं हृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ।
स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र जी से मिलने उसी प्रकार गये, जिस प्रकार ब्रह्मा जी से मिलने इन्द्र जाते हैं। तेज से देदीप्यमान, महातपस्वी, अति कड़े नियमों का पालन करने वाले और प्रसन्नमुख विश्वामित्र जी को खड़ा देख ॥ ४२ ॥

प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यं समुपाहरत् ।
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ४३ ॥

महाराज ने प्रसन्न हो शास्त्र-विधि के अनुसार उनको अर्घ्य प्रदान किया। महाराज से अर्घ्य ले ॥ ४३ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।
पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च ॥ ४४ ॥

विश्वामित्र जी ने महाराज से पुर, कोश, राज्य, कुटुम्ब और इष्टमित्रों की कुशल पूँछी ॥ ४४ ॥

कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत्सुधार्मिकः ।
अपि ते सन्नताः सर्वे सामन्ता रिपवो जिताः ॥४५॥

विश्वामित्र ने कुशल पूँछते हुए अत्यन्त धार्मिक महाराज से पूँछा—आपके समस्त सामन्त आपके अधीन रहते हैं? आपने अपने शत्रुओं को तो जीत कर अपने वश में कर रखा है? ॥ ४५ ॥

दैवं च मानुषं चापि कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।
वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४६ ॥

यज्ञादि देवकर्म, तथा अतिथियों का सत्कार आदि कर्म, भली भाँति होते हैं? फिर विश्वामित्र जी ने मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी से कुशल पूँछी ॥ ४६ ॥

ऋषीश्चान्यान्यथान्यायं महाभागानुवाच ह ।
ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४७ ॥

इसके बाद विश्वामित्र जी ने यथाक्रम अन्य ऋषियों (जाबालादि) से कुशल मङ्गल पूँछा। तब वे सब प्रसन्नमन महाराज के सभा-भवन में गये ॥ ४७ ॥

विविशुः पूजितास्तत्र निषेदुश्च यथार्हतः ।
अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४८ ॥

वहाँ वे लोग यथोचित पूजे जा कर यथोचित आसनों पर बैठ गये । तब महाराज दशरथ प्रसन्न, हो महामुनि विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४८ ॥

उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।
यथाऽमृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ४९ ॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च ।
प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदये ॥ ५० ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः ॥ ५१ ॥

परमदाता महाराज आदर पूर्वक बोले—हे महर्षे! आपके आगमन से मुझे वैसा ही सुख प्राप्त हुआ है जैसा कि, अमृत के

मिलने से, सूखती हुई खेती को वर्षा होने से, अपुत्रक को पुत्र के जन्म से और टोटा उठाने वाले को लाभ होने से सुख प्राप्त होत है:। हे महामुने ! मैं आपका सहर्ष स्वागत करता हूँ ; कहिये मे लिये क्या आज्ञा है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धार्मिक ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ ५२ ॥

आपकी कृपादृष्टि मेरे ऊपर पड़ने से मैं सुपात्र और धार्मिक वन गया । आज मेरा जन्म सफल हुआ और मेरा जीवन सुजीवन हुआ ॥ ५२ ॥

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया ॥ ५३ ॥

आप प्रथम जब राजर्षि थे, तभी आप बड़े तेजस्वी थे, फिर अब तो आप ब्रह्मर्षि पदवी को प्राप्त होने से सब प्रकार से मेरे लिये अत्यन्त पूज्य हैं ॥ ५३ ॥

तदद्भुतमिदं ब्रह्मन्पवित्रं परमं मम ।
शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात्प्रभो ॥ ५४ ॥

आपका आगमन अति पवित्र और अद्भुत होने से आपके शुभदर्शन कर मेरा शरीर भी पवित्र हो गया अथवा यह स्थान पवित्र हो गया ॥ ५४ ॥

ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ।
इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थपरिवृद्धये ॥ ५५ ॥

आप जिस काम के लिये पधारे हों वह बतलाइये । मैं चाहता हूँ कि आपकी सेवा कर मैं अनुगृहीत होऊँ ॥ ५५ ॥

कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक ।
कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम ॥ ५६ ॥

हे कौशिक ! आप किसी बात के लिये सङ्कोच न करें ; मैं आपके सब कार्य करूँगा । क्योंकि आप तो मेरे देवता हैं ॥ ५६

मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज ।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो मम ॥ ५७ ॥

हे ब्रह्मर्षि ! आपके पधारने से मेरा मानों भाग्य जागा और बड़ा पुण्य हुआ ॥ ५७ ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥ ५८ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ के इन हृदय को सुख देने वाले, शास्त्रानुमोदित और विनम्र वचन सुन कर, बड़े यशस्वी और सर्वगुणसम्पन्न महर्षि विश्वामित्र जी परम प्रसन्न हुए ॥ ५८ ॥

बालकाण्ड का अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

एकोनविंशः सर्गः

—:※:—

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

राजसिंह महाराज दशरथ के अद्भुत और विस्तृत वचन सुन महातेजस्वी विश्वामित्र हर्षित हो कहने लगे ॥ १ ॥

सदृशं राजशार्दूल तवैतद्भुवि नान्यथा ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥

हे राजशार्दूल ! ऐसे वचन आप जैसे इक्ष्वाकुवंशी और वशिष्ठ जी के यजमान को छोड़ और कौन कहेगा ॥ २ ॥

यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम् ।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥

हे राजशार्दूल! अब मैं अपने मन की बात कहता हूँ । उसके अनुसार कार्य कर के आप अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिये ॥ ३ ॥

अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं जब फल प्राप्ति के लिये यज्ञदीक्षा ग्रहण करता हूँ तब दो कामरूपी राक्षस आकर विघ्न किया करते हैं ॥ ४ ॥

व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ ।
तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ॥ ५ ॥

जब बहुत दिन तक किया हुआ यज्ञ पूरा होने को होता है, तब ये राक्षस आकर यज्ञवेदी पर मांस और रुधिर बरसाते हैं ॥ ५ ॥

अवभृते तथाभूते तस्मिन्नियमनिश्चये ।
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादपाक्रमे ॥ ६ ॥

इससे मेरा यज्ञ भ्रष्ट हो जाता है और मैं निरुत्साहित हो कर वहाँ से हट जाता हूँ ॥ ६ ॥

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ।
तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ॥ ७ ॥

हे राजन् ! इस यज्ञ में क्रोध करना वर्जित होने के कारण मैं उनको शाप भी नहीं दे सकता ॥ ७ ॥

स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ॥ ८ ॥

अतएव हे राजशार्दूल ! सत्यपराक्रमी और सीस पर जुल्फें रखाये हुए और शूर अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र को मुझे दीजिये ॥ ८ ॥

शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ।
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने ॥ ९ ॥

वे मेरी तपस्या के तेज से रक्षित हो मेरे यज्ञ की रक्षा करेंगे और विघ्नकारी राक्षसों को भी नष्ट करेंगे ॥ ९ ॥

श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ।
त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति ॥१०॥

मैं इनके कल्याण के लिये ऐसी ऐसी अनेक विधियाँ और क्रियाएँ इन्हें बतलाऊँगा; जिससे इनकी ख्याति तीनों लोकों में होगी ॥ १० ॥

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ।
न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ॥ ११ ॥

श्रीराम जी के सामने वे कभी टिक न सकेंगे और अन्य मनुष्य की वे कुछ भी न गिनेंगे । अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी को छोड़ और कोई भी मनुष्य उन्हें नहीं मार सकता ॥ ११ ॥

वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ।
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ॥ १२ ॥

क्योंकि वे दोनों गर्वीले पापी बड़े बलवान् हैं; किन्तु अब उनके मरने का समय आ गया है । हे राजशार्दूल ! वे श्रीरामचन्द्र की बराबरी नहीं कर सकते ॥ १२ ॥

न च पुत्रकृतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ।
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ ॥१३॥

हे राजन् ! इस समय आप पुत्रस्नेह के वशवर्त्ती न हों । मैं आपसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि, आप उन राक्षसों को मरा हुआ ही समझिये ॥ १३ ॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ॥ १४ ॥

मैं, महातेजस्वी वशिष्ठ तथा ये तपस्वी महात्मा, सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र को जानते हैं ॥ १४ ॥

यदि ते धर्मलाभं च यशश्च परमं भुवि ।
स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ॥ १५ ॥

यदि आप इस संसार में अपने लिये सब से बढ़ कर पुण्य और यश को स्थायी बनाना चाहते हों, तो हे राजेन्द्र ! श्रीराम जी को मेरे साथ भेज दीजिये ॥ १५ ॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय ॥ १६ ॥

आप वशिष्ठ आदि अपने मंत्रियों के साथ परामर्श कर लें और यदि वे लोग आपको अनुकूल परामर्श दें, तो आप श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिये ॥ १६ ॥

अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ।
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम् ॥ १७ ॥

मेरा यज्ञ पूरा कराने के लिये दस दिन को राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी को मुझे तुरन्त दे दीजिये ॥ १७ ॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथाऽयं मम राघव ।
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः ॥१८॥

ऐसा कीजिये जिससे मेरे यज्ञ का समय न निकलने पावे । आपका कल्याण हो । आप मन में दुखी न हों ॥ १८ ॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥

धर्मात्मा महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र जो धर्मार्थयुक्त इन वचनों को कह कर चुप हो गये ॥ १९ ॥

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ।
शोकमभ्यागमत्तीव्रं व्यषीदत भयान्वितः ॥ २० ॥

विश्वामित्र की इन शुभ बातों को सुन कर, महाराज दशरथ बहुत डरे और अत्यन्त दुखी हो उदास हो गये ॥ २० ॥

इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान् ।
नरपतिरगमद्भयं महद्-
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥ २१ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ हृदय और मन को विदीर्ण करने वाले वचन सुन और अत्यन्त भयभीत और विकल हो कर सिंहासन से मूर्च्छित हो गिर पड़े ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

विंशः सर्गः

—:o:—

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी का कथन सुन महाराज दशरथ एक मुहूर्त्त तक अचेत रहे। तदनन्तर सचेत हो कर यह बोले ॥ २ ॥

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः ।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ॥ २ ॥

मेरे राजीवलोचन श्रीराम अभी केवल पन्द्रह वर्ष ही की उम्र हैं। मैं उन्हें किसी भी तरह राक्षसों के साथ लड़ने योग्य नहीं समझता ॥ २ ॥

इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याहं पतिरीश्वरः ।
अनया संवृतो गत्वा योद्धाऽहं तैर्निशाचरैः ॥ ३ ॥

मेरे पास जो बड़ी भारी सेना है, उसको साथ ले कर मैं उन राक्षसों से लड़ूँगा ॥ ३ ॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः ।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि ॥ ४ ॥

ये मेरे शूर, पराक्रमी और युद्धविद्या में दक्ष, वेतनभोगी योद्धा राक्षसों से युद्ध करने योग्य हैं। आप राम को न ले जाइये ॥ ४ ॥

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि ।
यावत्प्राणान्धरिष्यामि तावद्योत्स्ये निशाचरैः ॥५॥

मैं स्वयं धनुष बाण लिये हुए रणक्षेत्र में खड़ा हुआ, जब तक शरीर में प्राण रहेंगे, राक्षसों से लड़ता रहूँगा ॥ ५ ॥

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता ।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि ॥ ६ ॥

आपको व्रतचर्या निर्विघ्न समाप्त होगी। मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा। आप श्रीराम जी को न ले जाइये ॥ ६ ॥

वालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति वलावलम् ।
न चास्त्रवलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः ॥ ७ ॥

क्योंकि श्रीराम अभी निरे वालक हैं, वे न तो अनुभवी हैं, न शत्रु के वलावल को समझ सकते हैं और न युद्धविद्या में कुशल ही हैं ॥ ७ ॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि ते ध्रुवम् ।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ॥ ८ ॥

आप जानते हैं राक्षस युद्ध करते समय छल कपट करने में कैसे कुशल होते हैं। श्रीरामचन्द्र उनका सामना करने योग्य नहीं। मैं श्रीराम का उनके साथ युद्ध करना कभी सहन नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि ।
यदि वा राघवं ब्रह्मन्नेतुमिच्छसि सुव्रत ॥ ९ ॥

चतुरङ्गसमायुक्तं मया च सह तं नय ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥ १० ॥

दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम ॥ ११ ।

श्रीराम के वियोग में मैं क्षण भर भी नहीं जीवित रह सकता। अतः हे मुनिवर! आप उनको न ले जाइये और यदि उनको

जे ही जाना हो तो मुझे और मेरी चतुरङ्गिनी सेना को भी उनके साथ ही लेते चलिये। हे विश्वामित्र! देखिये, साठ हज़ार वर्ष के वय में, बड़े क्लेश से ये उत्पन्न हुए हैं। अतः इनको न ले जाइये। चारों राजकुमारों में मेरा परम स्नेह श्रीरामचन्द्र ही के ऊपर है॥ ९॥ १०॥ ११॥

ज्येष्ठं धर्मप्रधानं च न रामं नेतुमर्हसि।
किंवीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते॥१२॥

यह धर्मप्रधान और ज्येष्ठ है। अतः राजकुमार श्रीरामचन्द्र को आप न ले जाइये। अच्छा, यह तो बतलाइये उन राक्षसों में बल कितना है और वे किनके बेटे हैं॥ १२॥

कथंप्रमाणाः के चैतान्रक्षन्ति मुनिपुङ्गव।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम्॥ १३॥

वे कितने बड़े हैं और उनके सहायक कौन कौन हैं और उन्हें श्रीराम किस तरह मार सकेंगे॥ १३॥

मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन्मया वा कूटयोधिनाम्।
सर्वं मे शंस भगवन्कथं तेषां मया रणे॥ १४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत॥ १५॥

हे भगवन्! यह सब भी बतलाइये कि, हमारी सेना और मैं उन मायावियों और उन दुष्ट भाव वाले बड़े पराक्रमी राक्षसों के साथ युद्ध में क्यों कर ठहर सकूँगा। महाराज के वचन सुन विश्वामित्र जी बोले॥ १४॥ १५॥

पुलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः ।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं वाधते भृशम् ॥ १६ ॥

हे राजन्! महर्षि पुलस्त्य के वंश में उत्पन्न रावण नाम का राक्षस, जिसे ब्रह्मा जी ने वरदान दे रखा है, तीनों लोकों को बहुत सताता है ॥ १६ ॥

महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ।
श्रूयते हि महावीर्यो रावणो राक्षसाधिपः ॥ १७ ॥

वह स्वयं बड़ा बलवान्, तथा बड़ा पराक्रमी है और उसके अनेक राक्षस अनुयायी हैं। सुनते हैं कि, वह महावीर रावण राक्षसों का राजा है ॥ १७ ॥

साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।
यदा स्वयं न यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥ १८ ॥

वह साक्षात् कुवेर का भाई और विश्रवा मुनि का पुत्र है। वह महाबली छोटे यज्ञों में स्वयं तो विघ्न नहीं करता, किन्तु ॥१८॥

तेन संचोदितौ द्वौ तु राक्षसौ सुमहाबलौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥ १९ ॥

उसकी प्रेरणा से बड़े बलवान् दो राक्षस जिनके नाम मारीच और सुबाहु हैं, ऐसे यज्ञों में विघ्न डालते हैं ॥ १९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाचमुनिं तदा ।
न हि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥२०॥

विश्वामित्र के इन वचनों को सुन महाराज दशरथ उनसे कहने लगे-कि, मैं तो उस दुरात्मा का सामना नहीं कर सकता ॥ २० ॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके ।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान्गुरुः ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञ ! आप मेरे बच्चे पर और मुझ पर कृपा करें, क्योंकि आप तो मुझ अल्पभाग्य वाले के केवल देवता की तरह पूज्य ही नहीं, किन्तु गुरु भी हैं ॥ २१ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥ २२ ॥

जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, पक्षी, और साँप भी रावण को युद्ध में नहीं जीत सकते, तब फिर बेचारे मनुष्य किस गिनती में हैं ॥ २२ ॥

स हि वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः ।
तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥२३॥

रावण युद्ध में बलवानों के बल को क्षय कर देता है, अतएव मैं उसके अथवा उसकी फौज के साथ युद्ध कर पार नहीं पा सकता ॥ २३ ॥

सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः ।
कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥ २४ ॥
बालं मे तनयं ब्रह्मन्नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २५ ॥

यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ।
तयोरन्यतरेणाहं योद्धा स्यां ससुहृद्गणः ॥ २६ ॥

फिर मैं उन लोगों के साथ लड़ने के लिये, अपने पुत्र को, जो देवताओं के समान रूप वाला है, युद्धविद्या में अदक्ष है, कैसे भेज सकता हूँ ? हे ब्रह्मन् ! मैं अपने नन्हे से पुत्र को न दूँगा । सुन्द उपसुन्द के पुत्र मारीच और सुबाहु जो युद्ध में काल के समान हैं, बड़े बलवान हैं और युद्ध करने में पूर्ण दक्ष हैं, और यज्ञ में विघ्न करने वाले हैं, उनके साथ लड़ने के लिये मैं अपने पुत्र को न भेजूँगा । उनको छोड़ आप और जिसे कहें उसके साथ अपने मित्र तथा बाँधवों सहित मैं लड़ने को तैयार हूँ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

इति नरपतिजल्पनाद्द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान्विवेश मन्युः ।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥ २७ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

महाराज दशरथ के इन असङ्गत वचनों को सुन, विश्वामित्र जी अत्यन्त कुपित हुए । जिस प्रकार भली भाँति घी की आहुति पड़ने से आग धधकती है, उसी प्रकार उनका क्रोधाग्नि (दशरथ के वचन रूपी घृत की आहुति से) धधकने लगा ॥ २७ ॥

बालकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकविंशः सर्गः

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ के पुत्रस्नेह से सने वचनों को सुन, मुनिप्रवर विश्वामित्र जी क्रुद्ध हुए और कहने लगे ॥ १ ॥

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः ॥ २ ॥

हे राजन् ! आप महाराज रघु के वंश में उत्पन्न हो कर बात कह कर मुकरते हैं । यह तो आपकी वंशपरम्परा से उल्टी बात है और ठीक भी नहीं है ॥ २ ॥

यद्दीदं ते क्षमं राजन्गमिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सबान्धवः ॥ ३ ॥

अच्छा, यदि आपकी यही इच्छा है तो लो मैं यह चला । आप अपनी प्रतिज्ञा मेंट कर भाई बंदों सहित प्रसन्न रहिये ॥ ३ ॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना विवेश च भयं सुरान् ॥४॥

इस प्रकार बुद्धिमान् विश्वामित्र के कुपित होने पर समस्त पृथिवी हिल उठी और देवता लोग डर गये ॥ ४ ॥

त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत्सर्वं महानृषिः ।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सारे संसार को त्रस्त देख, श्रेष्ठव्रतपरायण एवं धैर्यवान् महर्षि वशिष्ठ जी, महाराज दशरथ से बोले ॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवापरः ।
धृतिमान्सुव्रतः श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि ॥ ६ ॥

आप महाराज इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न मानों साक्षात् धर्म की दूसरी मूर्ति हैं। आप श्रीमान्, धृतिवान् और सुव्रतधारी हो कर, धर्म का त्याग न करें ॥ ६ ॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघव ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

तीनों लोकों में आप धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध हैं। अतएव आप अपने धर्म की रक्षा कीजिये, अधर्म न कीजिये ॥ ७ ॥

संश्रुत्यैवं करिष्यामीत्यकुर्वाणस्य राघव ।
इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय ॥ ८ ॥

हे राजन्! जो कोई प्रतिज्ञा करके उसे पूरी नहीं करता है, उसे इष्ट *आपूर्त के नाश करने का पाप लगता है। अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को भेज दीजिये ॥ ८ ॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥

---

* इष्टं—इष्टं अश्वमेधान्तोयागः । पूर्तं—वाप्यादि निर्माणं। अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ इष्ट कहलाते हैं और कुआ, बावड़ी, तालाब आदि बनवाना "पूर्त" कहलाता है।

श्रीरामचन्द्र चाहें अस्त्रविद्या में कुशल हों या न हों, राक्षस उनका कुछ भी नहीं कर सकते। फिर जब विश्वामित्र उनके रक्षक हैं तब श्रीरामचन्द्र का कोई क्या कर सकता है। अरे अमृत की रक्षा जब अग्निचक्र से होती है* तब क्या अमृत को कोई पा सकता है ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान्धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्धिमतां लोके तपसश्च परायणम् ॥ १० ॥

यह विश्वामित्र शरीर धारण किये हुए धर्म हैं, यह बड़े बलवान हैं, इनसे बढ़ कर बुद्धिमान और तपःपरायण इस संसार में तो दूसरा कोई है नहीं ॥ १० ॥

एषोऽस्त्रान्विविधान्वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैनमन्यः पुमान्वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥ ११ ॥

अनेक अस्त्रों के चलाने की विधियों को जानने वाले तीनों लोकों में तथा चर अचर में वह अकेले ही हैं। इनके स्वरूप का ज्ञान हर किसी को नहीं है और न हो ही सकता है ॥ ११ ॥

न देवा नर्षयः केचिन्नासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ॥ १२ ॥

इनकी महिमा को, देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और महोरग—कोई भी नहीं जानता ॥ १२ ॥

सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकाः ।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥१३॥

---

* महाभारत में लिखा है कि अमृत की रक्षा के लिये उसके चारों ओर चक्राकार अग्नि जला करता है ।

कृशाश्व प्रजापति के परम धार्मिक पुत्रों ने विश्वामित्र को, जब वे पहले राज्य करते थे, सब अस्त्र दिये थे ॥ १३ ॥

तेऽपि पुत्रा कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः ।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥ १४ ॥

वे कृशाश्व के पुत्र प्रजापति की कन्याओं के पुत्र हैं, वे एक रूप के नहीं हैं, वे बड़े बलवान, दीप्तिमान् और सब को जीतने में समर्थ हैं ॥ १४ ॥

जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सुवातेऽस्त्रशस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥ १५ ॥

दक्षप्रजापति की दो कन्याओं जया और सुप्रभा ने सैकड़ों अति चमचमाते हुए अस्त्र शस्त्र उत्पन्न किये ॥ १५ ॥

पञ्चाशतं सुताँल्लेभे जया नाम परान्पुरा ।
वधायासुरसैन्यानाममेयान्कामरूपिणः ॥ १६ ॥

जया ने ५०० शस्त्र रूपी पुत्र उत्पन्न किये अर्थात् ५०० प्रकार के अस्त्रों का आविष्कार किया जो कि, अमित तेज वाले थे और मायावी असुरसेना का संघार करने में समर्थ हुए ॥ १६ ॥

सुप्रभाऽजनयच्चापि पुत्रान्पञ्चाशतं पुनः ।
संहारान्नाम दुर्धर्षान्दुराक्रामान्बलीयसः ॥ १७ ॥

फिर सुप्रभा के भी ५०० शस्त्रास्त्र रूपी पुत्र उत्पन्न हुए अर्थात् शत्रु का संघार करने के लिये सुप्रभा ने भी ५०० प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का आविष्कार किया । उनका नाम संघार पड़ा, इनका प्रहार कोई भी शत्रु सह नहीं सकता । ये कभी निष्फल नहीं जाते, क्योंकि ये बड़े बलवान हैं ॥ १७ ॥

तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत्कुशिकात्मजः ।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥ १८ ॥

इन सब अस्त्र शस्त्रों को यथावत् विश्वामित्र जानते हैं। यही नहीं, बल्कि इनके अतिरिक्त और नये नये अस्त्र शस्त्र बनाने की सामर्थ भी इन धर्मात्मा में है ॥ १८ ॥

तेनास्य मुनिमुख्यस्य सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
न किंचिदप्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥ १९ ॥

हे राघव ! इन मुनिप्रवर सर्वज्ञ महात्मा विश्वामित्र को कोई भी बात, जो हो चुकी है या होने वाली है, अविदित नहीं है। अर्थात् इनको त्रिकाल ज्ञान प्राप्त है ॥ १९ ॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महातपाः ।
न रामगमने राजन्संशयं गन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इन महातेजस्वी, महातपस्वी और पराक्रमी विश्वामित्र जी के साथ श्रीरामचन्द्र को भेजने में जरा भी न डरिये या किसी प्रकार का सन्देह न कीजिये ॥ २० ॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥ २१ ॥

इन विश्वामित्र जी में इतनी सामर्थ है कि, ये उन राक्षसों को स्वयं मार सकते हैं। यह तो आपके पुत्र की भलाई के लिये ही उन्हें आपसे माँगने आये हैं ॥ २१ ॥

इति मुनिवचनात्प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद भास्वराङ्गः ।

गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

गुरु वशिष्ठ के इस प्रकार समझाने पर महाराज दशरथ, श्री-रामचन्द्र जी को विश्वविख्यात विश्वामित्र के साथ भेजने को राज़ी हो गये ॥ २२ ॥

वालकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

द्वाविंशः सर्गः

—: *:—

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।
महृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥

इस प्रकार वशिष्ठ जी के समझाने पर महाराज ने श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बुलवाया ॥ १ ॥

कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ २ ॥

और उनको भेजते समय कौशल्या, महाराज दशरथ तथा कुलपुरोहित वशिष्ठ जी ने स्वस्तिवाचन और मङ्गलाचार किया ॥ २ ॥

स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम् ।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥

महाराज दशरथ ने प्रसन्न हो कर और पुत्रों के माथे सूंघ कर, उन्हें विश्वामित्र जी को सौंपा ॥ ३ ॥

ततो वायुः सुखस्पर्शो विरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगतं दृष्ट्वा रामं राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥

विश्वामित्र जी के साथ कमललोचन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी के जाने के समय शीतल, मन्द और सुगन्धियुक्त पवन चलने लगा, आकाश से पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने नगाड़े बजाये । अयोध्या में भी जगह जगह राजकुमारों के जाने के समय शङ्खध्वनि की गयी और नगाड़े बजाये गये ॥ ४ ॥ ५ ॥

विश्वामित्रो यथावग्रे ततो रामो महायशाः ।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥ ६ ॥

सब से आगे विश्वामित्र थे, उनके पीछे महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और उनके पीछे हाथ में धनुष लिये और सिर पर जुल्फे रखाये सुमित्रानन्द श्रीलक्ष्मण जी चले जाते थे ॥ ६ ॥

कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ।
अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामह मिवाश्विनौ ॥ ७ ॥

बड़े रूपवान और बलवान् दोनों भाई, पीठों पर तरकस और हाथों में धनुष लिये तथा दशों दिशाओं को सुशोभित करते हुए

मुनि के पीछे ऐसे चले जाते थे, मानों तीन सिर के सर्प चले जाते हों अथवा मानो ब्रह्मा जी के पीछे अश्विनीकुमार चले जाते हों ॥ ७ ॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥ ८ ॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया जुष्टौ शोभयेतामनिन्दितौ ॥ ९ ॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।
अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ १० ॥

उस समय धनुष धारण किये हुए, अच्छे अच्छे गहने पहिने हुए, गोह के चमड़े के बने हुए दस्ताने हाथों में पहने हुए, तलवार लिये हुए, महाद्युतिमान् दोनों सुन्दर भाई श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण से मुनि उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार शिव जी स्कन्ध और विशाख से शोभित होते हैं। जब अयोध्या से छः कोश दूर सरयू के दक्षिणतट पर पहुँचे ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ ११ ॥

तब वहां विश्वामित्र जी, श्रीरामचन्द्र से मधुर वाणी में बोले कि, हे वत्स ! जल से शरीर शुद्ध कर डालो, अथवा आचमन करो अब विलंब मत करो ॥ ११ ॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १२ ॥

शरीर शुद्ध हो जाने पर हम तुम्हें बला और अतिबला विद्याएँ पढ़ावेंगे। इनके प्रभाव से न तो तुम्हें थकावट व्यापेगी न कभी शरीर ज्वराक्रान्त होगा, न तुम्हारे रूप की हानि होगी (यानी सूरत न बिगड़ेगी ॥ १२ ॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥१३॥

सोते हुए भी अशुद्ध दशा में राक्षस लोग तुम्हारा कुछ भी न कर सकेंगे। संसार भर में कोई भी तुम्हारे बाहुबल की समानता न कर पावेगा ॥ १३ ॥

त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्तव ।
न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ॥१४॥

सौभाग्य, दाक्षिण्य, ज्ञान और चतुराई में तुम्हें तीनों लोकों में कोई भी न पावेगा ॥ १४ ॥

नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ ।
एतद्विद्याद्वये लब्धे भविता नास्ति ते समः ॥ १५ ॥

हे राम ! इन विद्याओं के सीख लेने पर तुम्हारे बराबर उत्तर देने में भी तुम्हारी समानता कोई न कर सकेगा ॥ १५ ॥

बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ॥ १६ ॥

पुरुषोत्तम राम ! सब विद्याओं की माताएँ इन बला अतिबला नाम्नी विद्याओं के प्रभाव से तुमको भूख और प्यास भी कभी न सतावेगी ॥ १६ ॥

बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव ।
विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाप्यतुलं त्वयि ॥ १७ ॥

हे राघव ! इन दोनों विद्याओं—बला और अतिबला के पढ़ लेने से तुम्हारा अतुल यश सर्वत्र फैल जायगा ॥ १७ ॥

पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ।
प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि धार्मिक ॥ १८ ॥

ये दोनों तेजस्विनी विद्याएँ पितामह ब्रह्मा की पुत्री हैं। हे काकुत्स्थ ! हम तुम्हें ये विद्याएँ पढ़ावेंगे, क्योंकि तुम्हीं इनके लिये योग्य पात्र भी हो ॥ १८ ॥

कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ।
तपसा संभृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ॥ १९ ॥

यद्यपि जो बातें इन विद्याओं के पढ़ने से उत्पन्न होती हैं उनमें से अनेक निस्सन्देह अब भी तुममें मौजूद हैं, तो भी तुम्हारे द्वारा, तपस्या द्वारा प्राप्त इन विद्याओं के ग्रहण किये जाने पर, इनकी उन्नति होगी अर्थात् आपके उपदेश से इनका प्रचार होगा ॥ १९ ॥

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ॥ २० ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी जल से आचमन कर पवित्र हुए और प्रसन्न चित्त हो कर विश्वामित्र से उन विद्याओं को सीखा ॥ २० ॥

विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भूरिविक्रमः ।
सहस्ररश्मिर्भगवान्शरदीव दिवाकरः ॥ २१ ॥

उन विद्याओं के सीखने पर बड़े पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी की सी ही शोभा हुई जैसी शरत्काल के सूर्य की होती है ॥ २१ ॥

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ।
ऊषुस्तां रजनीं तीरे सरय्वाः सुसुखं त्रयः ॥ २२ ॥

इसके अनन्तर दोनों भाइयों ने गुरु के समान विश्वामित्र की चरणसेवा आदि कर सरयू के तीर पर वह रात मुनि के साथ आनन्द पूर्वक बिताई ॥ २२ ॥

दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां
तृणशयनेऽनुचिते सहोषिताभ्याम् ।
कुशिकसुतवचोनुलालिताभ्यां
सुखमिव सा विबभौ विभावरी च ॥ २३ ॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

राजकुमार होने के कारण चटाई पर भूमि में सोना उनके लिये अनुचित होने पर भी, दशरथनन्दन दोनों बलवान् राजकुमार ने विश्वामित्र जी के मधुर वचन सुनते हुए, सुखपूर्वक तृणों की शय्या पर वह रात बिताई ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का बाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

त्रयोविंशः सर्गः

—:※:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः ।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे ॥ १ ॥

सूखे पत्तों के बिछौनों पर लेटे हुए राजकुमारों से सवेरे चार घड़ी तड़के विश्वामित्र जी बोले ॥ १ ॥

कौसल्यासुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥ २ ॥

हे कौशल्यानन्दन ! (कौशल्या को सुपुत्रवती बनाने वाले) हे राम ! सवेरा होने को है। अब उठ बैठो और प्रातःकृत्य कर डालो ॥ २ ॥

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नृपात्मजौ ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम् ॥ ३ ॥

राजकुमार उन परमोदार ऋषि के ये वचन सुन उठ बैठे। फिर स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दिया अथवा देव और ऋषि तर्पण किया। तदुपरान्त वे परम मंत्र गायत्री का जप करने लगे ॥ ३ ॥

कृताह्निकौ महावीर्यौ विश्वामित्रं तपोधनम् ।
अभिवाद्याभिसंहृष्टौ गमनायोपतस्थतुः ॥ ४ ॥

इन दोनों महाबली राजकुमार ने आन्हिक कृत्य पूरा कर बड़ी प्रसन्नता के साथ तपस्वी विश्वामित्र को प्रणाम किया और आगे चलने को तैयार हुए ॥ ४ ॥

तौ प्रयातौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥

उनको साथ लिये हुए विश्वामित्र उस स्थल पर पहुँचे, जहाँ श्रीगङ्गा जी और श्रीसरयू जी का शुभ सङ्गम है और जिसे वहाँ उन्होंने देखा ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणामुग्रतेजसाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥

वहाँ पर उन्होंने उन अनेक उग्रतपा ऋषियों के परमपवित्र आश्रम देखे, जो वहाँ सहस्रों वर्षों से कठोर तप कर रहे थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस परम पवित्र आश्रम को देख श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण परम प्रसन्न हुए और महात्मा विश्वामित्र से यह बोले ॥ ७ ॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन्वसते पुमान् ।
भगवञ्श्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥ ८ ॥

हे भगवन्! यह परम पवित्र आश्रम किसका है और यहाँ अब कौन पुरुष रहता है। हम दोनों को इसका वृत्तान्त सुनने का बड़ा कौतूहल है ॥ ८ ॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा महस्य मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ ९ ॥

राजकुमारों की यह बात सुन विश्वामित्र हँस पड़े और कहने लगे हे राम! सुनिये, मैं बतलाता हूँ कि, यह पहिले किसका आश्रम था ॥ ९ ॥

कन्दर्पो मूर्तिमानासीत्काम इत्युच्यते बुधैः ।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥ १० ॥

कन्दर्प, जिसको पण्डित लोग कामदेव कहते हैं, पहिले शरीरधारी था। इस स्थान पर निरन्तर ध्यानावस्थित हो शिव जी तप करते थे ॥ १० ॥

कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम् ।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना ॥ ११ ॥

जब विवाह कर महादेव जी देवताओं सहित चले आते थे, तब कामदेव ने उनके मन में विकार उत्पन्न करना चाहा—उस समय शिव जी ने हुङ्कारी की ॥ ११ ॥

दग्धस्य तस्य रौद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन ।
व्यशीर्यन्त शरीरात्स्वात्सर्वगात्राणि दुर्मतेः ॥ १२ ॥

फिर क्रुद्ध हो शिव जी ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर उसको देखा। देखते ही उस दुष्ट के शरीर के सब अंग प्रत्यङ्ग अलग अलग हो कर बिखर गये ॥ १२ ॥

तस्य गात्रं हतं तत्र निर्दग्धस्य महात्मना ।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधादेवेश्वरेण ह ॥ १३ ॥

जब से उसका समस्त शरीर महादेव के कोप से भस्म हुआ है, तब से वह बिना शरीर का हो गया है ॥ १३ ॥

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव ।
स चाङ्गविषयः श्रीमान्यत्राङ्गं स मुमोच ह ॥ १४ ॥

हे राम ! तभी से उसका नाम अनङ्ग (बिना अंगों वाला) पड़ा है। कामदेव के भागने पर उसके अंग जहां पर गिरे थे, वह देश अङ्ग देश के नाम से प्रख्यात हो गया है ॥ १४ ॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा ।
शिष्या धर्मपरा नित्यं तेषां पापं न विद्यते ॥ १५ ॥

यह आश्रम महादेव जी का है और इस आश्रमवासी समस्त मुनि, परम्परा से शिव जी के भक्त हैं। ये बड़े धर्मात्मा हैं और निष्पाप हैं ॥ १५ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन ।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम् ॥ १६ ॥

हे शुभदर्शन श्रीराम ! आज की रात हम यहीं ठहरेंगे और कल इन पुण्यतोया नदियों को पार कर हम लोग आगे चलेंगे ॥ १६ ॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम् ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम ॥ १७ ॥

हे राम ! प्रथम स्नान कर, पवित्र हो कर तथा जप, होम कर के, हम सब इस पवित्र आश्रम में प्रवेश करेंगे ॥ १७ ॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा ।
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन् ॥ १८ ॥

ये लोग तो यहाँ यह बातचीत कर रहे थे और उधर तपः प्रभाव से उस आश्रमवासी दूरदर्शी तपस्वी मुनि, इन लोगों का आगमन जान बहुत प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे ।
रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥ १९ ॥

उन ऋषियों ने विश्वामित्र जी को अर्घ्य पाद्य अर्पण किया और पीछे से उनका तथा श्रीरामचन्द्र और श्रीलक्ष्मण का अतिथि संत्कार किया ॥ १९ ॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन् ।
यथार्हमजपन्संध्यामृषयस्ते समाहिताः ॥ २० ॥

इस प्रकार उन आश्रमवासी मुनियों से सत्कार प्राप्त कर और नाना कथा वार्ता सुन कर उन सब ने सन्ध्योपासन तथा गायत्री जप आदि आवश्यक कर्म किये। तदुपरान्त आश्रमवासी सब ऋषिगण विश्वामित्र जी के पास एकत्र हुए ॥ २० ॥

तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह ।
न्यवसन्सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तदा ॥ २१ ॥
कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः ॥ २२ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

और अच्छे व्रत धारण करने वाले मुनि इन्हें अपने आश्रम में लिवा ले गये। उस कामाश्रम में श्रीराम लक्ष्मण सहित विश्वामित्र ने सुखपूर्वक वास किया और राजकुमारों को तरह तरह की मनोरञ्जक कथा कहानियाँ सुना उनका मनोरञ्जन किया ॥ २१ ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—:o:—

ततः प्रभाते विमले कृताऽऽह्निकमरिंदमौ ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य नद्यास्तीरमुपागतौ ॥ १ ॥

प्रातःकाल होते ही प्रातःकृत्य कर दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी से आगे कर नदी के तट पर पहुँचे ॥ १ ॥

ते च सर्वे महात्मानो मुनयः संशितव्रताः ।
उपस्थाप्य शुभां नावं विश्वामित्रमथाब्रुवन् ॥ २ ॥

उस आश्रम में रहने वाले व्रतधारी ऋषिगण भी उनके साथ (विश्वामित्र तथा राजकुमारों के साथ) नदी तट तक गये और एक सुन्दर नाव का प्रबन्ध कर, विश्वामित्र जी से बोले ॥ २ ॥

आरोहतु भवान्नावं राजपुत्रपुरस्कृतः ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ ३ ॥

अब आप विलम्ब न कर राजपुत्रों को लेकर नाव पर सवार हों। जिससे रास्ते में (सूर्यातापादि से) किसी प्रकार का कष्ट न हो ॥ ३ ॥

विश्वामित्रस्तथेत्युक्त्वा तानृषीनभिपूज्य च ।
ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरंगमाम् ॥ ४ ॥

यह सुन, विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों की पूजा की और सागरगामिनी उस नदी के उस पार पहुँचे ॥ ४ ॥

ततः शुश्राव तं शब्दमतिसंरम्भवर्धनम् ।
मध्यमागम्य तोयस्य सह रामः कनीयसा ॥ ५ ॥

जब नाव बीच धार में पहुँची तब वहाँ जल की तरङ्गों के परस्पर टकराने का शब्द श्रीरामचन्द्र और उनके छोटे भाई लक्ष्मण जी ने सुना ॥ ५ ॥

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ।
वारिणो भिद्यमानस्य किमयं तुमलो ध्वनिः ॥ ६ ॥

तब, नाव पर सवार श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूँछा कि—"महाराज ! यह जो तुमुल शब्द हो रहा है, सो क्या जल के टकराने का है, (अथवा इस शब्द का कुछ और कारण है ?) ॥ ६ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ।
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम् ॥ ७ ॥

कौतूहलपूर्ण श्रीरामचन्द्र जी का यह प्रश्न सुन, विश्वामित्र जी ने उस शब्द होने का कारण इस प्रकार वर्णन किया ॥ ७ ॥

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ॥ ८ ॥

हे राम ! कैलास पर्वत पर ब्रह्मा जी ने अपने मन से एक सरोवर बनायी । हे नरशार्दूल ! मन से बनाने के कारण उसका नाम "मानसरोवर" पड़ा ॥ ८ ॥

तस्मात्सुस्राव सरसः साऽयोध्यामुपगूहते ।
सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ॥ ९ ॥

ब्रह्मा के उसी मानसरोवर से निकली हुई पवित्र सरयू नदी जो अयोध्या होती हुई बहती है ॥ ९ ॥

तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ।
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः कुरु ॥ १० ॥

यहाँ गङ्गा जी से मिलती है। इन दोनों सरिताओं के जलों के परस्पर टकराने से यह शब्द होता है। तुम इनको मनोयोग पूर्वक प्रणाम करो ॥ १० ॥

ताभ्यां तु तावुभौ कृत्वा प्रणाममतिधार्मिकौ ।
तीरं दक्षिणमासाद्य जग्मतुर्लघुविक्रमौ ॥ ११ ॥

दोनों राजकुमारों ने उन नदियों को प्रणाम किया। इतने में उनकी नाव भी दक्षिण तट पर सहज में जा लगी। वहाँ से तीनों नाव से उतर कर आगे चले ॥ ११ ॥

स वनं घोरसंकाशं दृष्ट्वा नृपवरात्मजः ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकः पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

दोनों राजकुमारों ने चलते हुए एक बड़ा भयानक निर्जन वन देखा। उस निर्जन वन को देख श्रीरामचन्द्र जी ने विश्वामित्र जी से पूछा ॥ १२ ॥

अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणनादिकम् ।
भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारुतैः ॥ १३ ॥

ओहो ! ऋषिवर, यह वन तो बड़ा ही भयानक देख पड़ता है। इसमें झींगुर झंकार कर रहे हैं और बड़े बड़े भयङ्कर जीवों के नाद से यह परिपूर्ण है और बाज पक्षी भी बड़ी दारुण बोली बोल रहे हैं ॥ १३ ॥

नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवैःस्वनैः ।
सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चोपशोभितम् ॥ १४ ॥

बाज पक्षी अनेक प्रकार की भयावह बोलियाँ बोल रहे हैं। इस वन में देखिये सिंह, व्याघ्र, वराह और हाथी भी बहुत देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

धवाश्वकर्णककुभैर्विल्वतिन्दुकपाटलैः ।
सङ्कीर्णं बदरीभिश्च किं न्वेतद्दारुणं वनम् ॥ १५ ॥

धवा, असंगध, अर्जुन, बेल, तेंदुआ, पाडरी और बेरियों के वृक्षों से यह वन कैसा सघन और भयङ्कर हो गया है ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
श्रूयतां वत्स काकुत्स्थ यस्यैतद्दारुणं वनम् ॥ १६ ॥

यह सुन महातेजस्वी विश्वामित्र ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे बेटा श्रीरामचन्द्र ! सुनो, मैं बतलाता हूँ कि, यह विकट वन किसका है ॥ १६ ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ।
मलदाश्च करूशाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ॥ १७ ॥

पहले यहां पर देवलोक के समान और धनधान्य से भरे पूरे मलद और करूष नाम के दो देश बसे हुए थे ॥ १७ ॥

पुरा वृत्रवधे राम मलेन समभिप्लुतम् ।
क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत् ॥ १८ ॥

हे राम ! वृत्रासुर को मार कर जब इन्द्र अपवित्र अवस्था में भूखे प्यासे थे, तब उनके शरीर में ब्रह्महत्या ने प्रवेश किया ॥ १८ ॥

तमिन्द्रं स्नापयन्देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कलशैः स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ॥ १९ ॥

तब इन्द्र को देवताओं और तपस्वी ऋषियों ने प्रथम गङ्गाजल से, फिर घड़ों में भरे मंत्रपूत जल से उनकी अपवित्रता दूर करने के लिये स्नान करवाये ॥ १९ ॥

इह भूम्यां मलं दत्त्वा दत्त्वा कारूशमेव च ।
शरीरजं महेन्द्रस्य ततो हर्षं प्रपेदिरे ॥ २० ॥

इससे इन्द्र की क्षुधा और उनका मल यानी अपवित्रता और ब्रह्महत्या यहाँ छूटी, तब इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २० ॥

निर्मलो निष्करूशश्च शुचिरिन्द्रो यदाऽभवत् ।
ददौ देशस्य सुप्रीतो वरं प्रभुरनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जब इन्द्र निर्मल, निष्पाप और पवित्र हो गये तब उन्होंने प्रसन्न हो इस देश को यह उत्तम वरदान दिया ॥ २१ ॥

इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यतः ।
मलदाश्च करूशाश्च ममाङ्गमलधारिणौ ॥ २२ ॥

मेरे शरीर के मल को धारण करने वाले मलद और करूष नामों से विख्यात और धनधान्य से भरे पूरे दो देश तीनों लोकों में प्रसिद्ध होंगे ॥ २२ ॥

साधु साध्विति तं देवाः पाकशासनमब्रुवन् ।
देशस्य पूजां तां दृष्ट्वा कृतां शक्रेण धीमता ॥ २३ ॥

इन्द्र का यह वरदान सुन और उन देशों की इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठा देख सब देवता "साधु" "साधु"—बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ—कह कर इन्द्र की प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिंदम ।
मलदाश्च करूशाश्च मुदितौ धनधान्यतः ॥ २४ ॥

हे अरिंदम ! ये दोनों मलद और करूष देश, बहुत दिनों तक धन धान्य से भरे पूरे बने रहे ॥ २४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी वै कामरूपिणी ।
बलं नागसहस्रस्य धारयन्ती तदा ह्यभूत् ॥ २५ ॥

कुछ दिनों बाद यहां एक स्वेच्छाचारिणी यक्षिणी पैदा हुई)। उसके शरीर में हज़ार हाथियों का बल है ॥ २५ ॥

ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः ।
मारीचो राक्षसः पुत्रो यस्याः शक्रपराक्रमः ॥ २६ ॥

उसका नाम ताटका है और वह सुन्द की स्त्री है। उसके मारीच नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्र के समान पराक्रमी है ॥ २६ ॥

दृप्तवाहुर्महावीर्यो विपुलास्यतनुर्महान् ।
राक्षसो भैरवाकारो नित्यं त्रासयते प्रजाः ॥ २७ ॥

वह बड़ी बड़ी बाहें, बड़ा सिर और बड़े मुँह वाला तथा अति भयानक शरीर वाला राक्षस यानी मारीच, नित्य ही प्रजा को सताया करता है ॥ २७ ॥

इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव ।
मलदांश्च करूशांश्च ताटका दुष्टचारिणी ॥ २८ ॥

हे राघव ! वह दुष्टा ताटका या ताड़का इन दोनों भरे पूरे मलद और करूष देशों को नित्य ही उजाड़ा करती है ॥ २८ ॥

सेयं पन्थानमावृत्य वसत्यध्यर्धयोजने ।
अतएव च गन्तव्यं ताटकाया वनं यतः ॥ २९ ॥

वह यक्षिणी इस मार्ग को रोके हुए यहां से आधे योजन... अर्थात् दो कोस पर रहती है। अतः अब ताड़का के वन में चलना चाहिये और ॥ २९ ॥

स्ववाहुवलमाश्रित्य जहीमां दुष्टचारिणीम् ।
मन्नियोगादिमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः ॥ ३० ॥

मेरे कहने से तुम अपने वाहुवल से उस दुष्टा यक्षिणी का वध कर, इस स्थान को पुनः निष्कण्टक वना दो ॥ ३० ॥

न हि कश्चिदिमं देशं शक्नोत्यागन्तुमीदृशम् ।
यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमलक्ष्यया ॥ ३१ ॥

हे राम ! इस दुष्टा के डर के मारे, आने की आवश्यकता होते हुए भी, कोई यहाँ नहीं आता । ऐसा कीजिये जिससे यह भयङ्कर यक्षिणी इस पवित्र देश को अव न उजाड़ पावे ॥ ३१ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद्दारुणं वनम् ।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥ ३२ ॥

इति चतुर्विंश सर्गः ॥

जिस प्रकार यह स्थान निर्जन वन वना है तथा जिस प्रकार अव इस स्थान की रक्षा की जा सकती है सो मैंने तुम्हें वतला दिया, वह दुष्टा यक्षिणी अव भी अपनी दुष्टता से वाज़ नहीं आती ॥ ३२ ॥

वालकाण्ड का चौवीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम् ॥ १ ॥

अमित प्रभावशाली ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी के ये उत्तम वचन सुन, पुरुषशार्दूल श्रीरामचन्द्र यह शुभ वचन बोले ॥ १ ॥

अल्पवीर्या यदा यक्षाः श्रूयन्ते मुनिपुङ्गव ।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम् ॥ २ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! सुनते हैं यक्ष जाति तो अल्प बल वाली होती है । तब इस अबला (अर्थात् यक्षिणी) के शरीर में हज़ार हाथियों का बल क्यों कर आ गया ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
विश्वामित्रोऽब्रवीद्वाक्यं शृणु येन बलोत्तरा ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रश्न को सुन महात्मा विश्वामित्र बोले— हे राघव ! सुनिये, मैं कहता हूँ, जिस प्रकार यह यक्षिणी इतनी बलवती हुई है ॥ ३ ॥

वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम् ।
पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान् ॥ ४ ॥

यह अबला वरदान के प्रभव से इतनी बलवती हो गयी है । सुकेत नाम का एक बड़ा बलवान यक्ष था ॥ ४ ॥

अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः ।
पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा ॥ ५ ॥

हे राम ! सदाचारी होने पर भी उसके कोई सन्तान न था । अतएव उसने बड़ा तप किया । तब प्रसन्न हो उस यक्षपति को ब्रह्मा जी ने ॥ ५ ॥

कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः ।
बलं नागसहस्रस्य ददौ चास्याः पितामहः ॥ ६ ॥

ताटका नाम की एक उत्तम कन्या प्रदान की । ब्रह्मा जी ने उसके शरीर में हज़ार हाथियों का बल भी दिया ॥ ६ ॥

न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ ब्रह्मा महायशाः ।
तां तु जातां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम् ॥ ७ ॥

किन्तु, महायशस्वी ब्रह्मा जी ने उस यक्ष को ऐसा बली पुत्र नहीं दिया । जब वह लड़की बढ़ती बढ़ती रूप और यौवनशालिनी स्त्री हुई ॥ ७ ॥

जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम् ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत ॥ ८ ॥

तब उसके पिता ने उसका विवाह जम्भ के पुत्र सुन्द के साथ कर दिया । थोड़े दिनों बाद इस यक्षिणी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद्राक्षसोऽभवत् ।
सुन्दे तु निहते राम सागस्त्यं मुनिपुङ्गवम् ॥ ९ ॥

उस का नाम मारीच है और वह बड़ा बलवान है। वह यक्ष होने पर भी शापवश राक्षस हुआ है। हे राम! जब अगस्त्य जी ने सुन्द को शाप दे कर मार डाला ॥ ९ ॥

ताटका सह पुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति ।
भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साऽभ्यधावत ॥ १० ॥

तब ताटका अपने पुत्र सहित अगस्त्य जी को खाने के लिये गरजती हुई दौड़ी ॥ १० ॥

आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः ।
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः ॥ ११ ॥

उस यक्षिणी को अपनी ओर आती हुई देख, भगवान् अगस्त्य ऋषि ने उसके पुत्र मारीच को यह शाप दिया कि, "तू राक्षस हो जा" ॥ ११ ॥

अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताटकामपि शप्तवान् ।
पुरुषादी महायक्षी विरूपा विकृताननां ॥ १२ ॥

फिर अगस्त्य जी ने अत्यन्त कुपित हो ताटका को भी शाप दिया कि, तू मनुष्यभक्षिणी हो जा और तेरी शकल बुरी और भयानक हो जाय ॥ १२ ॥

इदं रूपं विहायाथ दारुणं रूपमस्तु ते ।
सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्छिता ॥ १३ ॥

तेरा यह रूप न रहे। तू विकराल रूप वाली हो जा। यह शाप सुन ताटका अत्यन्त कुपित हुई ॥ १३ ॥

देशमुत्सादयत्येनमगस्त्यचरितं शुभम् ।
एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ॥ १४ ॥
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ।
नह्येनां शापसंस्पृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान् ॥ १५ ॥

सो यह शाप की प्राप्त ताटका इस पवित्र देश को उजाड़े देती है । क्योंकि अगस्त्य जी इसी देश में तपस्या करते थे । अतएव हे राम ! आप इस दुष्टा, परम दारुणा और दुष्ट पराक्रम वाली ताटका को मार कर गो ब्राह्मण का हित साधन कीजिये । क्योंकि और कोई मनुष्य इस शापयुक्ता को नहीं मार सकता ॥ १४ ॥ १५ ॥

निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ।
न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ॥ १६ ॥

हे नरोत्तम ! तीनों लोकों में तुमको छोड़ ऐसा और कोई नहीं है, जो इसे मार सके । ऐसी स्त्री का वध करने में तुम्हारे मन में घृणा उत्पन्न न होनी चाहिये ॥ १६ ॥

चातुर्वर्ण्यहितार्थाय कर्तव्यं राजसूनुना ।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ॥ १७ ॥

चारों वर्णों का हितसाधन करना राजकुमार अर्थात् क्षत्रिय का कर्तव्य है । प्रजा की रक्षा के लिये चाहे अच्छे काम करने पड़ें चाहे बुरे ॥ १७ ॥

पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ॥ १८ ॥

प्रजारक्षण के कार्यों के करने में भले ही दोष या पाप ही क्यों न लगे, किन्तु राज्य को रक्षा का भार उठाये हुए क्षत्रियों के लिये सब प्रकार प्रजा को रक्षा करना ही, उनका सनातन धर्म है ॥ १८ ॥

अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्या न विद्यते ।
श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप ॥ १९ ॥
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ।
विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी दृढव्रता ।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ॥२०॥

हे राम ! इस अधर्मिणी ताटका को मारिये, इसमें तो तिल भर भी धर्म नहीं है। सुना जाता है कि, पहले विरोचन राजा की लड़की मन्थरा को, जो पृथिवी का नाश करना चाहती थी, इन्द्र ने जान से मार डाला था। इसी प्रकार हे राम ! भगवान् विष्णु ने भी भृगु की पतिव्रता पत्नी और शुक्र की माता को, जो इन्द्र का नाश करना चाहती थी, मार डाला था ॥ १६ ॥ २० ॥

एतैरन्यैश्च बहुभी राजपुत्र महात्मभिः ।
अधर्मनिरता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः ॥ २१ ॥
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा
जहि मच्छासनान्नृप ॥ २२ ॥

इति पञ्चविंश सर्गः ॥

इसी प्रकार अनेक पुरुषोत्तम राजपुत्रों ने समय समय पर अनेक अधर्माचरण वाली स्त्रियों का वध किया है। अतएव

तुमको भी मेरी आज्ञा से इस दुष्ट यक्षिणी को मारने में किसी प्रकार का विचार न करना चाहिये ॥ २१ ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षड्विंशः सर्गः

मुनेर्वचनमक्लीवं श्रुत्वा नरवरात्मजः ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः ॥ १ ॥

दृढव्रत दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी के अक्लीव अर्थात् उत्साहवर्द्धक वचन सुन हाथ जोड़ कर यह उत्तर दिया ॥ १ ॥

पितुर्वचननिर्देशात्पितुर्वचनगौरवात् ।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया ॥ २ ॥

अपने पिता की आज्ञा से और उनकी बात रखने के लिये, आपके कथनानुसार निःशङ्क हो कर कार्य करना, मेरा कर्त्तव्य है ॥ २ ॥

अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना ।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः ॥ ३ ॥

क्योंकि महाराज ने गुरु वशिष्ठ जी के सामने अयोध्या से प्रस्थान करते समय मुझे यह आज्ञा दी है । अतः मैं उस आज्ञा की अवज्ञा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद्ब्रह्मवादिनः ।
करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अतः पिता की आज्ञानुसार आपके कहने से ताटका का वध निस्सन्देह ही करूँगा ॥ ४ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्यास्य सुखाय च ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

मैं आपके कथनानुसार ताटका को मार कर गो ब्राह्मण का हित साधन करने तथा इस देश के वासियों को सुखी करने को तैयार हूँ ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये वद्ध्वा मुष्टिमरिन्दमः ।
ज्याघोषमकरोत्तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥ ६ ॥

यह कह और धनुष हाथ में ले, श्रीरामचन्द्र जी ने दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाला, प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) को टंकार कर, घोर शब्द किया ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः ।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥ ७ ॥

उस शब्द को सुन ताटका के वन में रहने वाले जीवधारी बहुत डरे । ताटका उस शब्द को सुन बहुत कुपित हुई और उस समय अपना कर्त्तव्य निश्चित न कर सकी ॥ ७ ॥

तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवद्वेगाद्यतः शब्दो विनिःसृतः ॥ ८ ॥

वह अत्यन्त कुपित राक्षसी उसी ओर जिस ओर शब्द हुआ था बड़े वेग से झपटी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम् ।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥ ९ ॥

उस बड़ी लंबी चौड़ी, घोर विकराल रूप वाली, जलमुही, कुपित राक्षसी को देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ९ ॥

पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः ।
भिन्नैरन्दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥ १० ॥

देखो लक्ष्मण ! इस यक्षिणी का शरीर कैसा भयङ्कर और विकट है । इसे देखते ही डरपोंकों के हृदय तो काँप उठते होंगे ॥ १० ॥

एनां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम् ।
विनिष्टत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ ११ ॥

देखो, इस विकट मायाविनी और दुर्जेया के कान और नाक काट कर, मैं अभी भगाये देता हूँ ॥ ११ ॥

न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम् ।
वीर्यं चास्या गतिं चापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥१२॥

क्योंकि स्त्री की जान लेना ठीक नहीं, स्त्री की तो रक्षा करनी चाहिये । किन्तु मैं इसके हाथ पैर तोड़ कर इसे अब आगे दुष्ट कर्म करने योग्य न रहने दूंगा ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्छिता ।
उद्यम्य बाहू गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥

श्रीराम जी ऐसा कह ही रहे थे कि, अत्यन्त कुपित ताटका हाथ उठाये और गरजती हुई श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटी ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिहुङ्कारेणाभिभर्त्स्य ताम् ।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥ १४ ॥

यह देख ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने "हुँ" कह कर, उसे डपटा और श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को आशीर्वाद दे कर कहा कि, तुम्हारी जय हो ॥ १४ ॥

उद्धून्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ ।
रजोमोहेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत् ॥ १५ ॥

इतने पर भी ताटका ने इतनी धूल उड़ायी कि, कुछ देर तक राम और लक्ष्मण को कुछ भी न देख पड़ा ॥ १५ ॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ ।
अवाकिरत्सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः ॥ १६ ॥

ताटका ने ऐसी माया रची कि, वह छिपे छिपे श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी पर पत्थरों की वर्षा करती रही। यह देख श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत्तस्याः शरवर्षेण राघवः ।
प्रतिहत्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने उस महती शिलावृष्टि को बाणों द्वारा बंद कर दिया और बाणों ही से उसके दोनों हाथों को भी काट डाला ॥ १७ ॥

ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम् ।
सौमित्रिरकरोत्क्रोधाद्भूतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥

भुजाओं के कट जाने से श्रान्त, किन्तु तिस पर भी उसे गरजते हुए अपने समीप आते देख और क्रुद्ध हो, लक्ष्मण जी ने उसके नाक कान काट डाले ॥ १८ ॥

कामरूपधरा सद्यः कृत्वा रूपाण्यनेकशः ।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती च मायया ॥ १९ ॥

वह कामरूपिणी तुरन्त अनेक प्रकार के रूप धारण करने लगी और राजकुमारों को धोखा देने के लिये कभी कभी छिप भी जाने लगी ॥ १९ ॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार ह ।
ततस्तावश्मवर्षेण क्रीयमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥

और छिपे छिपे वह विकट यक्षिणी घूम घूम कर पत्थर बरसाने लगी । चारों ओर से राजकुमारों पर पत्थर बरसते ॥ २० ॥

दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥

देख, श्रीमान् विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम ! बस, बहुत हुआ । अब इस पापिनी दुष्टा पर अधिक दया दिखलाने की आवश्यकता नहीं है ॥ २१ ॥

यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया ।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा सन्ध्या प्रवर्तते ॥ २२ ॥

यदि इसको छोड़ दोगे, तो यह यज्ञ में विघ्न डालने वाली माया द्वारा फ़िर प्रबल पड़ जायगी। सन्ध्या होने के पहिले ही तुम इसे झटपट मार डालो ॥ २२ ॥

रक्षांसि सन्ध्याकालेषु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि।
इत्युक्तस्तु तदा यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षतीम् ॥ २३ ॥
दर्षयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः।
सा रुद्धा शरजालेन मायावलसमन्विता ॥ २४ ॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी।
तमापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव ॥ २५ ॥

क्योंकि सन्ध्या बेला में राक्षसों का बल बढ़ जाता है। यह कह विश्वामित्र ने पत्थर बरसाने वाली यक्षी को श्रीरामचन्द्र को दिखा दिया। श्रीरामचन्द्र जी ने शब्दवेधी बाणों से उसे चारों ओर से घेर लिया। वह मायाविनी और बलवती यक्षिणी शरजाल में घिरी हुई दोनों राजकुमारों पर गर्जती हुई झपटी। उसे बिजली की तरह बड़े वेग से अपनी ओर आती हुई देख ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च।
तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसकी छाती में एक बाण ऐसा मारा कि, वह पृथिवी पर गिर पड़ी और मर गयी। उस विकराल रूप वाली यक्षिणी को मरी हुई देख, इन्द्र ॥ २६ ॥

साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्च समपूजयन्।
उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ २७ ॥

आदि देवता श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करने लगे और इन्द्र परम प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन् ।
मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः ॥ २८ ॥

सब देवतागण प्रसन्न हो विश्वामित्र जी से बोले—"हे कौशिक मुनि ! आपका कल्याण हो, इन्द्र सहित हम सब देवता ॥ २८ ॥

तोषिताः कर्मणा तेन स्नेहं दर्शय राघवे ।
प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान्सत्यपराक्रमान् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से परम सन्तुष्ट हुए हैं । अब तुम श्रीरामचन्द्र जी पर विशेष स्नेह प्रदर्शित करो, कृशाश्व प्रजापति के सत्यपराक्रमी अस्त्र शस्त्र रूपी जो पुत्र हैं, ॥ २९ ॥

तपोबलभृतान्ब्रह्मन्राघवाय निवेदय ।
पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने धृतः ॥ ३० ॥

वे सब तपस्वी एवं बलवान श्रीरामचन्द्र जी को दे दो । क्योंकि ये इनके योग्यपात्र हैं और आपकी इच्छानुसार काम करने वाले हैं अथवा आपकी सेवा शुश्रूषा मन लगा कर करने वाले हैं ॥ ३० ॥

कर्तव्यं च महत्कर्म सुराणां राजसूनुना ।
एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा यथागतम् ॥ ३१ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य ततः सन्ध्या प्रवर्तते ।
ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ।
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

और ये राजकुमार देवताओं के बड़े बड़े काम करेंगे। यह कह और विश्वामित्र जी का पूजन कर, सब देवता जहां से आये थे, वहां प्रसन्नता पूर्वक लौट कर चले गये। इतने में सन्ध्या हो गयी। तब मुनिवर विश्वामित्र ताटका के वध से प्रसन्न हो और श्रीरामचन्द्र जी का माथा सूँघ कर यह बोले ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन ।
श्वःप्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम ॥ ३३ ॥

हे शुभदर्शन राम ! आज की रात यहीं विश्राम कर, प्रातःकाल होते ही हम अपने आश्रम को चलेंगे ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः ।
उवास रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र जी के इन वचनों को सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। रात भर सुखपूर्वक ताटका के वन ही में विश्राम किया ॥ ३४ ॥

मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि ।
रमणीयं विवभ्राज तथा चैत्ररथं वनम् ॥ ३५ ॥

ताटका जिस दिन मारी गयी उसी दिन से ताटका के वन का शाप छूट गया और वह चैत्ररथ वन की तरह अत्यन्त रमणीक हो गया ॥ ३५ ॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः ।
उवास तस्मिन्मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः ॥ ३६ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने ताटका को मार कर और सुरों तथा सिद्धों से भली प्रशंसा प्राप्त की अर्थात् बड़ाई पाई और विश्वामित्र के साथ वहाँ रात भर विश्राम कर, सवेरा होने पर जागे ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तविंशः सर्गः

—: ० :—

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः ।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुराक्षरम् ॥ १ ॥

उस रात में वहाँ निवास कर महायशस्वी विश्वामित्र ने मुस-कुरा कर मधुरवाणी से श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १ ॥

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥ २ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! मैं तुमसे बहुत सन्तुष्ट हूँ और तुमको प्रसन्नता पूर्वक सब अस्त्र देता हूँ ॥ २ ॥

देवासुरगणान्वापि सगन्धर्वोरगानपि ।
यैरमित्रान्प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि ॥ ३ ॥

इन अस्त्रों से तुम सुर, असुर, गन्धर्व और नाग आदि अपने शत्रुओं को अपने वश में कर जीत लोगे ॥ ३ ॥

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।
दण्डचक्रं महद्दिव्यं तव दास्यामि राघव ॥ ४ ॥

हे राम ! तुम्हें मैं इन सब अस्त्रों को देता हूँ। लो यह महा दिव्य दण्डचक्र है ॥ ४ ॥

धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च ।
विष्णुचक्रं तथाऽत्युग्रमैन्द्रमस्त्रं तथैव च ॥ ५ ॥

हे वीर ! यह लो धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वड़ा पैना ऐन्द्रास्त्र ॥ ५ ॥

वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥ ६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! यह लो वज्रास्त्र, महादेवास्त्र। हे राघव ! यह है ब्रह्मशिर और ऐषीक ॥ ६ ॥

ददामि ते महावाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम् ।
गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकी शिखरी उभे ॥ ७ ॥

हे राम ! मैं तुमको सब अस्त्रों से वढ़ कर यह ब्रह्मास्त्र देता हूँ और यह लो मोदकी और शिखरी नाम की दो गदाएँ ॥ ७ ॥

प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज ।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च ॥ ८ ॥

हे राजकुमार राम ! मैं तुमको अत्यन्त उग्र धर्मपाश और काल-पाश नामक अस्त्र देता हूँ ॥ ८ ॥

पाशं वारुणमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम् ।
अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन ॥ ९ ॥

यह लो वरुणपाश, शुष्क और अशनी नामक दो वज्र ॥ ९ ॥

ददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा ।
आग्नेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः ॥ १० ॥

यह लो पैनाकास्त्र, नारायणास्त्र और आग्नेयास्त्र जिसका नाम शिखर है ॥ १० ॥

वायव्यं मथनं नाम ददामि च तवानघ ।
अस्त्रं हयशिरो नाम क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥

शक्तिद्वयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव ।
कङ्कालं मुसलं घोरं कपालमथ कङ्कणम् ॥ १२ ॥

हे राम ! यह लो प्रथन नामक वायव्यास्त्र, हयशिरास्त्र और क्रौञ्चास्त्र। मैं दो शक्तियाँ भी तुम्हें देता हूँ। मैं तुम्हें अब भयङ्कर कङ्काल नामक मुशल, कापाल और कङ्कण देता हूँ ॥ ११ ॥ १२ ॥

धारयन्त्यसुरा यानि ददाम्येतानि सर्वशः ।
वैद्याधरं महास्त्रं च नन्दनं नाम नामतः ॥ १३ ॥

मैं तुम्हें ये सब अस्त्र देता हूँ जो राक्षसों के वध के लिये उपयोगी हैं। यह विद्याधरास्त्र है और यह नन्दन नामक ॥ १३ ॥

असिरत्नं महाबाहो ददामि नृवरात्मज ।
गान्धर्वमस्त्रं दयिते मानवं नाम नामतः ॥ १४ ॥

उत्तम तलवार, हे राजकुमार ! मैं तुम्हें देता हूँ । यह लो गान्धर्वास्त्र, और प्यारा मानवास्त्र ॥ १४ ॥

प्रस्वापनमशमने द्वे च सौरं च राघव ।
दर्पणं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १५ ॥

ये हैं प्रस्वापन और प्रशमन, सौर, दर्पण, शोषण, सन्तापन और विलापन ॥ १५ ॥

मदनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा ।
पैशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ॥ १६ ॥

(ये हैं) कन्दर्प देवता का प्यारा दुर्धष मदनास्त्र और यह है पैशाचास्त्र, और प्यारा मोहनास्त्र ॥ १६ ॥

प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः ।
तामसं नरशार्दूल सौमनं च महावल ॥ १७ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! यह लो तामस और महावली सौमन ॥ १७ ॥

संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौसलं च नृपात्मज ।
सत्यमस्त्रं महावाहो तथा मायाधरं परम् ॥ १८ ॥

हे राजकुमार ! हे महावाहो ! ये हैं संवर्त्त, दुर्धर्ष, मौशल, सत्यास्त्र, और परमास्त्र मायाधर ॥ १८ ॥

घोरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम् ।
सौम्यास्त्रं शिशिरं नाम त्वाष्ट्रमस्त्रं सुदामनम् ॥१९॥

ये हैं तेजप्रभ नामक अस्त्र, जिससे शत्रु का तेज खींचा जाता है। (और ये हैं) शिशिर नामक सोमास्त्र, त्वाष्ट्रास्त्र ॥ १९ ॥

दारुणं च भगस्यापि शीतेषुमथ मानवम् ।
एतान्राम महाबाहो कामरूपान्महाबलान् ॥ २० ।

(ये हैं) दारुण भगास्त्र, शीतेषु और मानव (नाम के अस्त्र) हे महाबाहो राम ! तुम इन महाबली, कामरूपी ॥ २० ॥

गृहाण परमोदारानस्त्रिग्रमेव नृपात्मज ।
स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ॥ २१ ॥

तथा परमोदार अस्त्रों को हे राजकुमार ! शीघ्र ग्रहण करो । तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने पूर्व की ओर मुख कर, पवित्र हो ॥ २१ ॥

ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम् ।
सर्वसंग्रहणं येषां देवतैरपि दुर्लभम् ॥ २२ ॥

और प्रसन्न हो, उन सम्पूर्ण अस्त्रों के मंत्र (अर्थात् चलाने और रोकने की विधि) बतलाये, जिन सब अस्त्रों का प्राप्त होना देवताओं के लिये भी दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ।
जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ॥ २३ ॥
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ।
ऊचुश्च मुदिताः सर्वे रामं प्राञ्जलयस्तदा ॥ २४ ॥

वे सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने श्रीरामचन्द्र जी को दे दिये । (ज्योंही धीमान् विश्वामित्र जी उन मंत्रास्त्रों का उच्चारण करने लगे त्योंही) वे मंत्र अपना साक्षात् रूप धारण कर श्रीरामचन्द्र जी के सामने हाथ जोड़ कर आ खड़े हुए और कहने लगे ॥ २३ ॥ २४ ॥

इमे स्म परमोदाराः किङ्करास्तव राघव ।
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना ।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तानभ्यचोदयत् ॥२५॥

हे परमोदार राघव ! हम सब आपके दास हैं। जो काम आप हमसे लेना चाहेंगे वही हम करेंगे। तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने हाथ से छुआ और बोले—मैं जब तुम्हारा स्मरण करूँ तब तुम आकर मेरा काम कर जाना ॥ २५ ॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे ॥ २६ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनिप्रवर एवं महातेजस्वी विश्वामित्र जी को प्रणाम किया और कहा कि, पधारिये (अर्थात् आगे चलिये) ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:*:—

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥१॥

उन सब अस्त्रों को पवित्रता पूर्वक ग्रहण कर (अर्थात् उन अस्त्रों को ले और उनके चलाने की विधि जान कर) मार्ग में चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हो विश्वामित्र जी से बोले ॥ १ ॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन्दुराधर्षः सुरासुरैः ।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारं मुनिपुङ्गव ॥ २ ॥

हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मुझे ये अस्त्र जो सुर और असुरों के लिये भी दुष्प्राप्य हैं, मिल गये, (और उनके चलाने की विधि भी मालूम हो गयी, किन्तु अब) मुझे आप इनके संहार (अर्थात् अस्त्र चला कर उसे वापस लेने की विधि) भी बतला दीजिये ॥ २ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थं विश्वामित्रो महामतिः ।
संहारं व्याजहाराथ धृतिमान्सुव्रतः शुचिः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के यह कहने पर महाबुद्धिमान्, धैर्यवान्, सुव्रत और पवित्र विश्वामित्र जी ने उन सब मंत्रास्त्रों का संहार भी बतला दिया ॥ ३ ॥

सत्यवन्तं सत्यकीर्त्तिं धृष्टं रभसमेव च ।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम् ॥ ४ ॥

फिर और भी मंत्रास्त्र बतलाये जो प्रथम बतलाने से रह गये थे) उनके नाम ये हैं—सत्यवन्त, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस प्रतिहारतर, पराङ्मुख, अवाङ्मुख ॥ ४ ॥

लक्षाक्षत्रिपमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ ॥ ५ ॥

लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढ़नाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर ॥ ५ ॥

पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभसुनाभकौ ।
ज्योतिषं कृशनं चैव नैराश्यविमलावुभौ ॥ ६ ॥

पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दनाभ, सुनाभ, ज्योतिष, कृशन, नैराश्य, विमल ॥ ६ ॥

यौगन्धरहरिद्रौ च दैत्यप्रमथनं तथा ।
शुचिर्बाहुर्महाबाहुर्निष्कुलिर्विरुचिस्तथा ॥ ७ ॥

यौगन्धर, हरिद्र, दैत्यप्रमथन, शुचिर्बाहु, महाबाहु, निष्कुल और विरुचि ॥ ७ ॥

सार्चिर्माली धृतिर्माली वृत्तिमान्रुचिरस्तथा ।
पित्र्यं सौमनसं चैव विधूतमकरावुभौ ॥ ८ ॥

सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर ॥ ८ ॥

करवीरकरं चैव धनधान्यौ च राघव ।
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा ॥ ९ ॥

करवीरकर, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह और आवरण ॥ ९ ॥

जृम्भकं सर्वनाभं च सन्तानवरणौ तथा ।
कृशाश्वतनयान्राम भास्वरान्कामरूपिणः ॥ १०

जृम्भक, सर्वनाभ, सन्तान, और वरुण । विश्वामित्र जी कहने लगे) हे राम ! ये सब कृशाश्व के पुत्र बड़े तेजस्वी और कामरूपी हैं ॥ १० ॥

प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव ।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ११ ॥

इनको तुम ग्रहण करो । तुम्हारा कल्याण हो । क्योंकि हे राघव तुम इनके ग्रहण करने के योग्य हो । यह सुन श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हो कहा "बहुत अच्छा" ॥ ११ ॥

दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ।
केचिदङ्गारसदृशाः केचिद्धूमोपमास्तथा ॥ १२ ॥

तब दिव्यरूप, देदीप्यमान, मूर्त्तिमान, और सुखप्रद (वे अस्त्र श्रीरामचन्द्र जी के सामने उपस्थित हुए) उनमें कोई तो दहकते हुए अंगार (शोले) के समान, कोई धुए के रंग वाले, ॥ १२ ॥

चन्द्रार्कसदृशाः केचित्प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ।
रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन्मधुरभाषिणः ॥ १३ ॥

कोई चन्द्र और सूर्य के समान थे और कोई हाथ जोड़े हुए थे । वे श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी नम्रता के साथ बोले ॥ १३ ॥

इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते ।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥१४॥

हे नरशार्दूल ! हम उपस्थित हैं, क्या आज्ञा है ? (इस पर श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा) तुम मेरे मन में वास करो और काम पड़ने पर मेरी सहायता करना ॥ १४ ॥

गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।
अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ॥१५॥

अब तुम जहाँ चाहो वहाँ जा सकते हो । श्रीरामचन्द्र जी के यह वचन सुन तथा उनकी आज्ञा ले एवं प्रदक्षिणा कर, ॥ १५ ॥

एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम् ।
स च तान्राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥१६॥

और "बहुत अच्छा" कह कर जहाँ से आये थे वहाँ चले गये। इस प्रकार इन अस्त्रों को पा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी से ॥ १६ ॥

गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ।
किन्वेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः ॥ १७ ॥

चलते चलते पूँछा—महाराज ! पहाड़ के समीप जो काले मेघ जैसा देख पड़ता है वह क्या है ॥ १७ ॥

वृक्षषण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे ।
दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च ॥ १८ ॥

वह तो वृक्षों का समूह जैसा जान पड़ता है; उसे देखने से मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है । वह अनेक वनपशुओं से युक्त, देखने योग्य एवं अत्यन्त मनोहर सा जान पड़ता है ॥ १८ ॥

नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुनादैरलङ्कृतम् ।
निःसृताः स्म मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद्रोमहर्षणात् ॥ १९ ॥

वहाँ तो मीठी बोली बोलने वाले पक्षी बोल रहे हैं । जान पड़ता है, अब हम लोग भयङ्कर रोमाञ्चकारी वन के पार हो गये ॥ १९ ॥

अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ।
सर्वं मे शंस भगवन्कस्याश्रमपदं त्विदम् ॥ २० ॥

वहाँ चल कर सुखी होने की मेरी इच्छा है । भगवन् ! कृपया बतलाइये कि, यह किसका आश्रम है ? ॥ २० ॥

संप्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ।
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने ॥ २१ ॥

हे महामुने ! क्या हम लोग आपके उस आश्रम में पहुँच गये, जहाँ दुराचारी मलहन्यारे राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न किया करते हैं ? ॥ २१ ॥

भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी ।
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन्मया वध्याश्च राक्षसाः ।
एतत्सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ २२ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

हे भगवन् ! बतलाइये, आपका वह स्थान, जहाँ आप यज्ञ करते हैं, कहाँ है ? हे ब्रह्मन् ! मैं राक्षसों को मार कर आपके यज्ञ की रक्षा करूँगा। हे मुनिप्रवर ! हे प्रभो ! ये सब बातें मैं जानना चाहता हूँ ॥२२॥

बालकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अथ तस्यामितेजस्य तद्वनं परिपृच्छतः ।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अचिन्त्य वैभव वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार उस वन के विषय में पूँछने पर, महातेजस्वी विश्वामित्र जी कहने लगे ॥ १ ॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देववरः प्रभुः ।
वर्षाणि सुबहून्येव तथा युगशतानि च ॥ २ ॥

हे राम ! यह वह स्थान है, जहाँ देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् विष्णु ने बहुत बहुत वर्षों और सैकड़ों युगों तक ॥ २ ॥

त पश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः ।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

तपस्या करने के लिये वास किया था। यह आश्रम पहले महात्मा वामन जी का था ॥ ३ ॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्वलिः ॥ ४ ॥

यहाँ पर उन महातपा का तप सिद्ध हुआ था, इसीसे यह सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। उसी समय राजा विरोचन के पुत्र वलि ने ॥ ४ ॥

निर्जित्य दैवतगणान्सेन्द्रांश्च समरुद्गणान् ।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ५ ॥

इन्द्र और मरुद्गण सहित सब देवताओं को जीत कर, जगद्विख्यात तीनों लोकों का राज्य किया था ॥ ५ ॥

वलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः ।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे ॥ ६ ॥

वलि ने जब यज्ञ करना आरम्भ किया, तब सब देवता अग्नि को आगे कर विष्णु के पास इसी आश्रम में आकर बोले ॥ ६ ॥

वलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम् ।
असमाप्ते क्रतौ तस्मिन्स्वकार्यमभिपद्यताम् ॥ ७ ॥

विरोचनपुत्र राजा वलि एक उत्तम यज्ञ कर रहा है। उस यज्ञ की समाप्ति होने के पूर्व देवताओं के हितार्थ जो कुछ करना हो कीजिये ॥ ७ ॥

ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः ।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

उसके यज्ञ में अनेक देशों से आये हुए याचक जो कुछ मांगते हैं, वह उन्हें वही देता है ॥ ८ ॥

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ९ ॥

अतः आप देवताओं के हित के लिये अपनी माया के योग से अथवा बल से वामनावतार धारण कर, हम लोगों का कल्याण कीजिये ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः ।
अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा ॥ १० ॥

हे राम ! इसी बीच में अग्नि के समान प्रभा वाले कश्यप जी अपनी स्त्री अदिति सहित तपःप्रभाव से देदीप्यमान थे ॥ १० ॥

देवीसहायो भगवान्दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ११ ॥

देवी के सहित कश्यप जी, सहस्र वर्षों की तपस्या का व्रत समाप्त कर, वरदानी भगवान् मधुसूदन की स्तुति करने लगे ॥ ११ ॥

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम् ।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ॥ १२ ॥

हे पुरुषोत्तम ! आप तपद्वारा आराध्य हैं, तप का फल देने वाले हैं, ज्ञान स्वरूप हैं और तपस्वभाव हैं । इसलिये मैं अपने तपः प्रभाव से आपको देखता हूँ ॥ १२ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत्सर्वमिदं प्रभो ।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

हे प्रभो ! मैं आपके शरीर में यह चेतन अचेतनात्मक सारा जगत् देख रहा हूँ । आप अनादि हैं अर्थात् उत्पत्ति रहित हैं, अनिर्देश्य हैं, (अर्थात् आपकी महिमा का वर्णन कोई कर नहीं सकता अथवा आप अकथनीय हैं) मैं आपके शरण में आया हुआ हूँ ॥ १३ ॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं धूतकल्मषम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम ॥ १४ ॥

(इस स्तुति से प्रसन्न हो कर) यह सुन भगवान् विष्णु पाप रहित कश्यप जी से बोले—कश्यप ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम वर माँगो, मैं तुम्हें वरदान देने योग्य समझता हूँ ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत् ।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचतः ॥ १५ ॥

यह सुन मरीच के पुत्र कश्यप जी ने कहा—मेरी, मेरी स्त्री अदिति की तथा देवताओं की प्रार्थना है कि, ॥ १५ ॥

वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत ।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नदित्या मम चानघ ॥ १६ ॥

हे वरद ! आप प्रसन्न हो कर मुझे यह वर दें कि, आप मेरी निष्पापा स्त्री अदिति के गर्भ से पुत्र रूप में जन्म लें ॥ १६ ॥

भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन ।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे अरिसूदन ! इन्द्र के छोटे भाई बन कर आप शोकार्त्त देवताओं की सहायता कीजिये ॥ १७ ॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात्ते भविष्यति ।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः ॥ १८ ॥

यह आश्रम आपकी कृपा से सिद्धाश्रम के नाम से प्रसिद्ध होगा । हे देवेश ! जब काम सिद्ध हो जाय तब आप यहाँ से उठिये ॥ १८ ॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥ १८ ॥

यह सुन महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदिति के गर्भ से वामनावतार धारण कर राजा बलि के पास गये ॥ १९ ॥

त्रीन्क्रमानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मानदः ।
आक्रम्य लोकाँल्लोकात्मा सर्वलोकहिते रतः ॥२०॥

और उनसे तीन पग भूमि की याचना की और तीन पग भूमि पा कर, सब लोगों के हितार्थ, तीन पग से तीनों लोक नाप डाले ॥ २० ॥

महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥ २१ ॥

फिर इन्द्र को तीनों लोकों का राज्य दे, बलि को अपने बल प्रभाव से बाँध लिया (और पाताल को भेजा) इस प्रकार उन महा तेजस्वी ने तीनों लोकों को पुनः इन्द्र के अधीन कर दिया ॥ २१ ॥

तेनैष पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः ।
मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते ॥ २२ ॥

श्रमनाशक यह आश्रम उन्हींका है । मैं भी उन्हीं वामन भगवान् की भक्ति कर इस आश्रम का उपभोग करता हूँ ॥ २२ ॥

एतमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः ।
अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तम् ॥ २३ ॥

इसी आश्रम में आ कर राक्षस उपद्रव मचाया करते हैं । हे पुरुषसिंह ! यहीं रह कर उन दुराचारियों का वध करना होगा । हे राम ! आज उसी उत्तम सिद्धाश्रम को हम लोग चलते हैं ॥ २३ ॥

तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद्यथा मम ।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः ॥ २४ ॥

हे वत्स ! वह आश्रम जैसा मेरा है वैसा ही तुम्हारा भी है, यह कह श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को साथ लिये हुए, विश्वामित्र ने अपने सिद्धाश्रम में प्रवेश किया ॥ २४ ॥

शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः ।
तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः ॥ २५ ॥

उस समय ऐसी शोभा जान पड़ी मानों पुनर्वसु के साथ शरद्कालीन चन्द्रमा शोभा दे रहा हो । विश्वामित्र जी को देख सब सिद्धाश्रम वासियों ने ॥ २५ ॥

उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन् ।
यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते ॥ २६ ॥

उठ उठ कर और परम प्रसन्न हो विश्वामित्र जी का पूजन किया । जिस प्रकार धीमान् विश्वामित्र का पूजन किया गया, ॥२६॥

तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।
मुहूर्तमिव विश्रान्तौ राजपुत्रावरिन्दमौ ॥ २७ ॥

उसी प्रकार राजकुमारों का भी अतिथि सत्कार किया गया । कुछ देर विश्राम कर शत्रुहन्ता दोनों राजकुमारों ने ॥ २७ ॥

प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ ।
अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुङ्गव ॥ २८ ॥

हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से कहा, हे मुनिप्रवर ! आप आज ही से अपना यज्ञ आरम्भ कीजिये आपका मङ्गल होगा ॥ २८ ॥

सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात्सत्यमस्तु वचस्तव ।
एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २९ ॥

यह सिद्धाश्रम है । अतः आपका कार्य सिद्ध हो और आपका वचन सत्य हो । यह सुन महातेजस्वी ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी ने ॥ २९ ॥

प्रविवेश ततो दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः ।
कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ ॥ ३० ॥

नियम पूर्वक, जितेन्द्रिय हो कर यज्ञ करना आरम्भ किया । और दोनों राजकुमार भी उस रात में सावधानता पूर्वक वहीं रहे ॥ ३० ॥

प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च ।
स्पृष्टोदकौ शुची जप्यं समाप्य नियमेन च ।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥ ३१ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

और प्रातःकाल होते ही दोनों राजकुमारों ने उठ कर सन्ध्या की। तदनन्तर नियमानुसार आचमन पूर्वक पवित्र हो, जप किया, फिर अग्निहोत्र करके आसन पर विराजमान विश्वामित्र जी को उन्होंने प्रणाम किया ॥ ३१ ॥

बालकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

त्रिंशः सर्गः

—:※:—

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिन्दमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः ॥ १ ॥

देश और काल के जानने वाले और शत्रु के मारने वाले दोनों राजकुमार देश काल का विचार कर विश्वामित्र जी से बोले ॥ १ ॥

भगवञ्श्रोतुमिच्छावो यस्मिन्काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रह्मन्नातिवर्तेत तत्क्षणम् ॥ २ ॥

हे भगवन्! हम जानना चाहते हैं कि, वे दोनों राक्षस यज्ञ विध्वंस करने किस समय आते हैं, जिससे वे हमारी अनजान में आक्रमण न कर पावें ॥ २ ॥

एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ ॥ ३ ॥

जब सिद्धाश्रमवासी मुनियों ने राजकुमारों की यह बात सुनी और उनको राक्षसों से तुरन्त लड़ने के लिये तत्पर देखा, तब वे उन राजकुमारों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ ३ ॥

अद्य प्रभृति षड्रात्रं रक्षतं राघवौ युवाम् ।
दीक्षां गतो ह्यंप मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति ॥ ४ ॥

हे राजकुमारों ! आज से आप लोग ६ दिन तक यज्ञ की रक्षा करें । विश्वामित्र जी यज्ञदीक्षा ले चुके हैं, अतः अब वे छः दिन तक न बोलेंगे अर्थात् मौन रहेंगे ॥ ४ ॥

तौ च तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
अनिद्रौ षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम् ॥ ५ ॥

मुनियों के वचन सुन वे दोनों यशस्वी राजकुमार, छः दिन रात बिना शयन किये बिना, निरन्तर उस तपोवन की रक्षा करते रहे ॥ ५ ॥

उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ ।
रक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिन्दमौ ॥ ६ ॥

दोनों वीर राजकुमार धनुष बाण धारण किये विश्वामित्र और उनके यज्ञ की रक्षा दृढ़ता पूर्वक अर्थात् अत्यन्त सावधानता के साथ करते रहे ॥ ६ ॥

अथ काले गते तस्मिन्षष्ठेऽह्नि समागते ।
सौमित्रिमब्रवीद्रामो यत्तो भव समाहितः ॥ ७ ॥

पाँच दिन तो निर्विघ्न बीत गये । छठवें दिन श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—सावधान रहो अर्थात्, ख़बरदार हो ॥ ७ ॥

रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया ।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता ॥ ८ ॥

सदर्भचमसस्रुक्का ससमित्कुसुमोच्चया ।
विश्वामित्रेण संहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा ॥ ९ ॥

जब युद्ध करने की इच्छा से श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब अकस्मात् यज्ञवेदी भक से जल उठी और उपाध्याय, पुरोहित ऋत्विक तथा विश्वामित्र जी के देखते देखते कुश, चमस, स्रुवा, पुष्प आदि यज्ञीय पदार्थों के सहित वेदी भभक उठी ॥ ८ ॥ ९ ॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ संप्रवर्तते ।
आकाशे च महाञ्शब्दः प्रादुरासीद्भयानकः ॥ १० ॥

यद्यपि विश्वामित्र जी का यज्ञ विधि विधान ही से हो रहा था (और कोई विघ्न नहीं होना चाहिये था) ; तथापि इतने में आकाश में बड़ा भयानक शब्द हुआ ॥ १० ॥

आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि निर्गतः ।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम् ॥ ११ ॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मेघ आकाश को ढक लेते हैं, उसी प्रकार राक्षसगण राक्षसी माया करते हुए (आकाश में) दौड़ने लगे ॥ ११ ॥

मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचराश्च ये ।
आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघमवासृजन् ॥ १२ ॥

यज्ञरक्षा

मारीच, सुबाहु और उनके साथी अन्य भयङ्कर राक्षसों ने आ कर वेदी पर रुधिर की वर्षा की ॥ १२ ॥

सा तेन रुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम् ।
दृष्ट्वा वेदिं तथाभूतां सानुजः क्रोधसंयुतः ॥ १३ ॥
सहसाऽभिद्रुतो रामस्तानपश्यत्ततो दिवि ।
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः ॥ १४ ॥

वेदी को रुधिर में डूबी हुई देख और क्रुद्ध हो लक्ष्मण सहित जब सहसा श्रीरामचन्द्र जी दौड़े तब उन्हें आकाश में मारीचादि राक्षस देख पड़े। उनको अपनी ओर दौड़ कर आते हुए देख राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

लक्ष्मणं त्वथ संप्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान्राक्षसान्पिशिताशनान् ॥१५॥

लक्ष्मण को देख उनसे कहा—भाई ! ज़रा इन मांसाहारी तथा दुराचारी राक्षसों को तो देखो ॥ १५ ॥

मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान् ।
मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम् ॥ १६ ॥
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः ।
स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः ॥ १७ ॥

मैं इनको मानवास्त्र से वैसे ही उड़ाये देता हूँ जैसे पवन बादल को उड़ा देता है। (यह कह कर) परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, चमचमाता मानवास्त्र मारीच की छाती में मारा। मारीच उस परमास्त्र मानवास्त्र के लगने से घायल हो ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥

संपूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसंप्लवे ।
विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम् ॥ १८ ॥

मारीच वहाँ से १०० योजन की दूरी पर समुद्र में जा गिरा। उस मूर्च्छित, चक्कर खाते हुए और मानवास्त्र से पीड़ित ॥ १८ ॥

निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
पश्य लक्ष्मणशीतेषुं मानवं मनुसंहितम् ॥ १९ ॥

मारीच को देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—लक्ष्मण! शीतेषु नामक मनुनिर्मित अस्त्र का प्रभाव तो देखो ॥ १९ ॥

मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते ।
इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान्दुष्टचारिणः ॥ २० ॥
राक्षसान्पापकर्मस्थान्यज्ञघ्नान्पिशिताशनान् ।
संगृह्यास्त्रं ततो रामो दिव्यमाग्नेयमद्भुतम् ॥ २१ ॥

इसने मारीच को मूर्च्छित कर दूर तो कर दिया, किन्तु उसका वध नहीं किया। अब मैं इन दुष्ट, निर्दयी, पापी, यज्ञ में विघ्न डालने वाले, रुधिर के पीने वाले राक्षसों को भी मारता हूँ। यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने आग्नेयास्त्र निकाला ॥ २० ॥ २१ ॥

सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद्भुवि ।
शेषान्वायव्यमादाय निजघान महायशाः ॥ २२ ॥

और सुबाहु की छाती में मारा। सुबाहु उसके लगते ही पृथिवी पर धड़ाम से गिर पड़ा और मर गया। तब अन्य बचे हुए

राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी ने बायव्यास्त्र चला कर नष्ट किया ॥ २२ ॥

राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ।
स हत्वा रक्षसान्सर्वान्यज्ञघ्नान्रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

इस प्रकार परमोदार श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों को प्रसन्न किया। उन यज्ञ-विघ्नकारी समस्त राक्षसों को मारने के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी को ॥ २३ ॥

ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः ।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

उन मुनियों ने इन्द्र की तरह पूजा की। यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त होने पर महर्षि विश्वामित्र जी, दसों दिशाओं को उपद्रव रहित देख, श्रीरामचन्द्र जी से यह बोले ॥ २४ ॥

कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया ।
सिद्धाश्रमसिदं सत्यं कृतं राम महायशः ॥ २५ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

हे महाबाहो ! मैं आज कृतार्थ हुआ। तुमने गुरु की आज्ञा का खूब पालन किया। हे महायशस्वी राम ! तुमने इस स्थान का नाम सिद्धाश्रम सत्य कर दिया ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकत्रिंशः सर्गः

—:०:—

अथ तां रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ ।
ऊषतुर्मुदितौ वीरौ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १ ॥

वीरवर और मुदित श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने, विश्वामित्र का काम पूरा कर और प्रसन्न हो, रात भर उसी आश्रम में शयन किया ॥ १ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियौ ।
विश्वामित्रमृषींश्चान्यान्सहितावभिजग्मतुः ॥ २ ॥

सबेरा होने पर शौचादि कर्मों से निश्चिन्त हो, दोनों भाई विश्वामित्रादि ऋषियों को प्रणाम करने गये ॥ २ ॥

अभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
ऊचतुर्मधुरोदारं वाक्यं मधुरभाषिणौ ॥ ३ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र को प्रणाम कर वे दोनों मधुरभाषी मधुर एवं उदार वाणी से उनसे बोले ॥ ३ ॥

इमौ स्म मुनिशार्दूल किङ्करौ समुपागतौ ।
आज्ञापय यथेष्टं वै शासनं करवाव किम् ॥ ४ ॥

हे मुनिशार्दूल ! हम दोनों आपके दास उपस्थित हैं। यथेष्ट आज्ञा दीजिये कि, हम लोग आपकी क्या सेवा करें ॥ ४ ॥

एवमुक्तास्ततस्ताभ्यां सर्व एव महर्षयः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥

उन दोनों राजकुमारों को इस प्रकार बोलते सुन, विश्वामित्र जी को अगुआ बना, सब महर्षियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ५ ॥

मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति ।
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तस्य यास्यामहे वयम् ॥ ६ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! परम धर्मिष्ठ मिथिलाधीश महाराज जनक के यहाँ यज्ञ होने वाला है । हम लोग सब वहाँ जाँयगे ॥ ६ ॥

त्वं चैव नरशार्दूल सहास्माभिर्गमिष्यसि ।
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्रैकं द्रष्टुमर्हसि ॥ ७ ॥

हे नरशार्दूल ! तुम भी हमारे साथ चलना । वहाँ तुम एक अद्भुत एवं श्रेष्ठ धनुष भी देख सकोगे ॥ ७ ॥

तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः ।
अप्रमेयबलं घोरं मखे परमभास्वरम् ॥ ८ ॥

पूर्वकाल में देवताओं ने वह धनुष जनक को दिया था । वह धनुष बड़ा भारी और बहुत ही चमकदार है ॥ ८ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथंचन मानुषाः ॥ ९ ॥

मनुष्यों की तो बिसात ही क्या है, उस धनुष पर रोदा चढ़ाने के लिये पर्याप्त बल न तो गन्धर्वों में है, न असुरों में और न राक्षसों में ॥ ९ ॥

धनुषस्तस्य वीर्यं तु जिज्ञासन्तो महीक्षितः ।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥ १० ॥

उस धनुष का बल आज़माने के लिये अनेक बड़े बड़े बलवान राजा आये ; किन्तु कोई भी उस पर रोदा न चढ़ा सका ॥ १० ॥

तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः ।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं चाद्भुतदर्शनम् ॥ ११ ॥

हे नरशार्दूल ! वहां चल कर महात्मा मिथिलाधीश के उस धनुष को और उनके अद्भुत यज्ञ को देखना ॥ ११ ॥

तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः ।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः ॥ १२ ॥

हे रामचन्द्र ! एक समय महाराज जनक ने यज्ञ किया और उस यज्ञ का फल स्वरूप सुनाभ नामक उत्तम धनुष उन्होंने सब देवताओं से मांग लिया ॥ १२ ॥

आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव ।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागरुगन्धिभिः ॥ १३ ॥

वह धनुष मिथिलाधीश के घर में पूजा के स्थान पर रखा रहता है और धूप दीपादि से नित्य उसका पूजन किया जाता है ॥१३॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा ।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः ॥ १४ ॥
स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम् ।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ १५ ॥

यह कह कर मुनिप्रवर विश्वामित्र ने वहां से प्रस्थान किया । उनके साथ दोनों राजकुमार तथा ऋषिगण भी गये । चलते समय

विश्वामित्र जी ने वनदेवताओं को बुला कर उनसे कहा—तुम्हारा कल्याण हो मेरी यज्ञक्रिया सुसम्पन्न हुई। अब मैं सिद्धाश्रम से श्रीगङ्गा जी के उत्तर तट पर और हिमालय पर्वत की तराई में होकर (जनकपुर) जाऊँगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा सिद्धाश्रममनुत्तमम् ।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥

तदनन्तर उस उत्तम सिद्धाश्रम की परिक्रमा कर के उत्तर की ओर रवाना हुए ॥ १६ ॥

तं प्रयान्तं मुनिवरमन्वयादनुसारिणम् ।
शकटीशतमात्रं च प्रयाते ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

विश्वामित्र जी के चलते ही ब्रह्मवादी ऋषि भी चले और उनके सैकड़ों छकड़े भी चले ॥ १७ ॥

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ १८ ॥

उस सिद्धाश्रम के रहने वाले हिरन और पक्षी भी महर्षि महात्मा विश्वामित्र के पीछे हो लिये ॥ १८ ॥

निवर्तयामास ततः पक्षिसङ्घान्मृगानपि ।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥ १९ ॥

परन्तु विश्वामित्र जी ने उन सब पशु पक्षियों को लौटा दिया। जब वे लोग बहुत दूर निकल गये और सूर्य अस्ताचलगामी होने लगे ॥ १९ ॥

वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणकूले समागताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥ २० ॥

तब सब लोगों ने शोण नदी के तट पर डेरा डाले । सूर्य के अस्त होने पर उन लोगों ने स्नान कर सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र किया ॥ २० ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः ।
रामो हि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च ॥ २१ ॥

तदनन्तर सब मुनि, विश्वामित्र को आगे कर बैठे । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने सब मुनियों का पूजन किया और ॥ २१ ॥

अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।
अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्र जी के सामने जा बैठे । महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने महर्षि विश्वामित्र से ॥ २२ ॥

पप्रच्छ नरशार्दूलः कौतूहलसमन्वितः ।
भगवन्कोन्वयं देशः समृद्धवनशोभितः ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ २३ ॥

कौतूहल पूर्वक पूँछा कि हे भगवन् ! यह हरे भरे वन वाला देश कौनसा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ । कृपया मुझे इसका ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाइये ॥ २३ ॥

चोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः ॥ २४ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार पूँछने पर महातपस्वी और सुव्रत विश्वामित्र जी ने प्रसन्न हो, उन सब ऋषियों के बीच बैठ कर, उस देश का सारा हाल बतलाया ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का इकतीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मयोनिर्महानासीत्कुशो नाम महातपाः ।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनस्यातिपूजकः ॥ १ ॥

हे राम ! ब्रह्मा जी के पुत्र, बड़े तपस्वी, अखण्डित व्रतधारी, धर्मज्ञ और सज्जनों का सत्कार करने वाले कुश नाम के एक राजा थे ॥ १ ॥

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुगुणोल्बणान् ।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान्सुतान् ॥ २ ॥

उन्होंने उत्तम कुल में उत्पन्न अपने अनुरूप वैदर्भी नामक रानी के गर्भ से अपने समान, चार पुत्र उत्पन्न किये ॥ २ ॥

कुशाम्बं कुशनाभं च आधूर्तरजसं वसुम् ।
दीप्तियुक्तान्महोत्साहान्क्षत्रधर्मचिकीर्षया ॥ २ ॥

उनके नाम कुशाम्ब, कुशनाभ, आधूर्तरजस, और वसु थे । ये चारों राजकुमार बड़े तेजस्वी और उत्साही हुए । तदनन्तर क्षात्र-धर्म को बढ़ाने की इच्छा से ॥ २ ॥

तानुवाच कुशः पुत्रान्धर्मिष्ठान्सत्यवादिनः ।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्म प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥ ४ ॥

धर्मिष्ठ और सत्यवादी पुत्रों से राजा कुश ने कहा, हे पुत्रो ! प्रजा का पालन करो इससे बड़ा पुण्य होगा ॥ ४ ॥

कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसंमताः ।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा ॥ ५ ॥

पिता का यह वचन सुन चारों श्रेष्ठ राजकुमारों ने अपने अपने नाम के चार नगर वसाये ॥ ५ ॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत्पुरीम् ।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम् ॥ ६ ॥

महातेजस्वी कुशाम्ब ने कौशाम्बी नाम की पुरी वसाई । धर्मात्मा कुशनाभ ने "महोदय" नामक नगर वसाया ॥ ६ ॥

आधूर्तरजसो राम धर्मारण्यं महीपतिः ।
चक्रे पुरवरं राजा वसुश्चक्रे गिरिव्रजम् ॥ ७ ॥

हे राम ! राजा आधूर्तरजस ने धर्मारण्य, और राजा वसु ने गिरिव्रज नामक नगर वसाया ॥ ७ ॥

एषा वसुमती राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥

हे राम ! गिरिव्रज का दूसरा नाम वसुमती हुआ । इसके चारो ओर प्रकाशमान पाँच बड़े बड़े पर्वत हैं ॥ ८ ॥

सुमागधी नदी पुण्या मगधान्विश्रुता यतो ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥ ९ ॥

मगध देश में बहने वाली यह मागधी नदी, जिसे शोण (सोन) भी कहते हैं, पाँचों पर्वतों के बीच (पर्वतों की) माला की तरह शोभायमान है ॥ ९ ॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः ।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी ॥ १० ॥

हे राम ! वसु की यही मागधी नदी पूर्व दिशा की ओर बहती है और इसके दोनों तटों पर अनाज के अच्छे अच्छे खेत हैं ॥ १० ॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम् ।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! घृताची नाम की अप्सरा से धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभ के सौ सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ ११ ॥

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलङ्कृताः ।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः ॥ १२ ॥

वे जवानी में पहुँचने पर बड़ी रूपवती हुईं और (एक दिन) सजधज कर फुलवाड़ी में जा वैसे ही शोभायुक्त हुईं, जैसे वर्षा-काल में बिजली शोभायमान होती है ॥ १२ ॥

गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यश्च सर्वशः ।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः ॥ १३ ॥

वे गहने कपड़ों से सुसज्जित उस वाटिका में चारों ओर गाती, नाचती और बाजे बजाती हुईं, बड़ा आनन्द मनाने लगीं ॥ १३ ॥

अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे ॥ ॥ १४ ॥

उनके सब अंग सुन्दर थे, वे पृथिवीतल पर सौन्दर्य की मूर्त्तियाँ थीं। वे उस वाग़ में वैसे ही सुशोभित हो रही थीं जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं ॥ १४ ॥

ताः सर्वगुणसंपन्ना रूपयौवनसंयुताः ।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उन सब गुणवतियों और रूपवतियों को देख, सब जगह रहने वाले वायुदेव ने उन सब से कहा ॥ १५ ॥

अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥ १६ ॥

मैं तुमको चाहता हूँ, तुम सब मेरी पत्नी बनो। तुम मनुष्यों का अनुराग त्यागो; जिससे तुम दीर्घजीविनी हो सको ॥ १६ ॥

चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः ।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥ १७ ॥

क्योंकि यौवन तो कभी किसी का रहता नहीं—फिर विशेष कर मनुष्य जाति का यौवन तो शीघ्र ही चलायमान अर्थात् नष्ट होता है। अतः (यदि तुम मेरी पत्नी बनोगी तो) तुम्हारा यौवन अक्षय्य (कभी क्षय न होने वाला) हो जायगा और तुम अमर भी हो जाओगी ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः ।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

अप्रतिहत कर्म करने वाले वायुदेव की इन बातों को सुन, सौ राजकन्याएँ वायुदेव का उपहास करती हुई बोलीं ॥ १८ ॥

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां त्वं सुरोत्तम ।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमस्मानवमन्यसे ॥ १९ ॥

हे देव ! तुम तो सब के अन्तःकरण की बात जानते ही हो और हम भी आपके प्रभाव को अच्छी तरह जानती हैं। ऐसी दशा में (ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर) आप हमारा अपमान क्यों करते हैं ॥ १९ ॥

कुशनाभसुताः सर्वाः समर्थास्त्वां सुरोत्तम ।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥२०॥

हे देवताओं में उत्तम वायुदेव ! हम सब महाराज कुशनाभ की कन्याएँ हैं। हम अपने तपोबल से तुम्हें तुम्हारे लोक से नीचे गिरा सकती हैं : पर ऐसा इसलिये नहीं करतीं कि, ऐसा करने से हमारा तपोबल घट जायगा और तप घटाना हमको अभीष्ट नहीं है ॥ २० ॥

मा भूत्स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।
नावमन्यस्व धर्मेण स्वयंवरमुपास्महे ॥ २१ ॥

हे दुर्बुद्धे ! वह समय (ईश्वर करे) न आवे कि, हम अपने सत्यवादी पिता को अवहेलना कर, हम स्वयंवरा होवें। अर्थात् हम स्वयं अपने लिये वर* पसन्द करें ॥ २१ ॥

---

* इससे जान पड़ता है कि स्वयंवर की प्रथा उस ज़माने में अच्छी नहीं समझी जाती थी।

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं हि नः ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥२३॥

क्योंकि पिता हमारे, हमारे लिये देवता स्वरूप हैं, और वे हमारे मालिक हैं—वे हमें जिसे दे देंगे वही हमारा पति होगा ॥२३॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा वायुः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि वभञ्ज भगवान्प्रभुः ॥ २२ ॥

उन सब कन्याओं की इन (अपमानजनक) बातों को सुन पवनदेव अत्यन्त कुपित हुए और उन राजकन्याओं के शरीर में घुस कर उनको कुबड़ी बना दिया अथवा उनके शरीर के अंगों को टेढ़ामेढ़ा कर उनका सौन्दर्य नष्ट कर डाला ॥ २२ ॥

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।
प्रापतन्भुवि संभ्रान्ताः सलज्जाः साश्रुलोचनाः ॥२४॥

जब वायु ने इनके अङ्ग कुरूप कर डाले तब वे लज्जित हुईं और व्याकुल चित्त हो रोती हुईं अपने पिता के घर गयीं ॥ २४ ॥

स च ता दयिता दीनाः कन्याः परमशोभनाः ।
दृष्ट्वा भग्नास्तदा राजा संभ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

राजा, अपनी प्यारी एवं परम सुन्दरी कन्याओं को दुःखी और कुरूपा बनी हुई देख, विकल हुए और यह बोले ॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वा वेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

बतलाओ तो यह क्या हुआ? किसने धर्म का अनादर कर तुमको कुबड़ी कर दिया? तुम जान बूझ कर भी क्यों नहीं बोलतीं? इस घटना से राजा बड़े व्यथित और चिन्तित हुए ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:#:—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥ १ ॥

बुद्धिमान राजा कुशनाभ के पूँछने पर सौओ राजकुमारियों ने पिता के चरणों में सीस नवाया और कहा ॥ १ ॥

वायुः सर्वात्मको राजन्प्रधर्षयितुमिच्छति।
अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥ २ ॥

यद्यपि पवनदेव सब के आत्माओं में विराजते हैं, (अतः उन्हें हरेक काम सोच विचार कर करना चाहिये) तथापि वे अधर्म में प्रवृत्त हो हमारा धर्म बिगाड़ना चाहते थे ॥ २ ॥

पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव ॥ ३ ॥

हमने उनसे कहा कि, हमको मनमाना काम करने की स्वतंत्रता नहीं है; अर्थात् हम स्वेच्छाचारिणी नहीं हैं। हमारे पिता विद्यमान

हैं, यदि उनसे हमें आप मांग लें, तो हम आपकी हो सकती हैं ॥ ३ ॥

तेन पापानुबन्धेन वचनं नप्रतीच्छता ।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुना निहता भृशम् ॥४॥

हमारी इस बात को न मान कर, उस पापी ने हमारी सब की यह दशा कर दी ॥ ४ ॥

तासां तद्वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम् ॥ ५ ॥

राजकुमारियों की इन बातों को सुन परम-धार्मिक राजा कुशनाभ उन शत सुन्दरी राजकुमारियों से बोले ॥ ५ ॥

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत्कृतम् ।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम ॥ ६ ॥

तुमने पवनदेव के प्रति क्षमा प्रदर्शित कर, बहुत ही अच्छा काम किया है, हे राजकुमारियों ! क्षमाशीलों को ऐसा ही करना चाहिये । तुमने (पवनदेव को क्षमा करके) हमारे कुल की भी रक्षा की है ॥ ६ ॥

अलङ्कारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च यत्क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥ ७ ॥

स्त्रियों अथवा पुरुषों के लिये तो क्षमा ही आभूषण है । तुमने पवनदेव को क्षमा कर अति दुष्कर काम किया है । रूप और ऐश्वर्य सम्पन्न लोगों के लिये तो अपराध-सहिष्णुता विशेष करके दुष्कर है ॥ ७ ॥

यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः ।
क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञश्च पुत्रिकाः ॥ ८ ॥

जैसी तुमने क्षमा दिखलाई विशेष कर वैसी क्षमा सब में नहीं होती । हे कन्याओ ! क्षमा ही दान है, क्षमा ही सत्य है और क्षमा ही यज्ञ है । अर्थात् जो पुण्य दान देने, सत्य बोलने और यज्ञ करने से होता है, वही क्षमा से प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

क्षमा यज्ञः क्षमा धर्मः क्षमया विष्टितं जगत् ।
विसृज्य कन्या काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः ॥९॥

इसी प्रकार क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही धर्म है और क्षमा ही संसार का आधार है । हे राम ! इस प्रकार राजकुमारियों को समझा कर और उनको विदा कर, देव समान पराक्रमी राजा कुशनाभ ने ॥ ९ ॥

मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास सदानं सह मन्त्रिभिः ।
देशे काले प्रदानस्य सदृशे प्रतिपादनम् ॥ १० ॥

अपने सब मंत्रियों को बुला कर उनसे यह सलाह की कि, उन राजकन्याओं का विवाह अच्छे देशकाल व वर में किया जाय ॥ १० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महामुनिः ।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत् ॥ ११ ॥

उसी समय चूली नाम के एक बड़े तेजस्वी, ऊर्ध्वरेता, एवं सदाचारी महर्षि ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिये तप आरम्भ किया ॥ ११ ॥

तप्यन्तं तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते ।
सोमदा नाम भद्रं ते ऊर्मिलातनया तदा ॥ १२ ॥

उस समय वहां तपस्या करते हुए उन मुनि की सेवा, ऊर्मिला नाम की गन्धर्वी की कन्या जिसका नाम सोमदा था, करने लगी ॥ १२ ॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा ।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद्गुरुः ॥ १३ ॥

जब सोमदा ने बहुत दिनों तक उन महर्षि की बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ सेवा शुश्रूषा की तब वे महर्षि उस पर प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥१४॥

हे राम ! समय पा कर महर्षि ने उससे कहा—मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, जो काम तू कहै सो मैं तेरे लिये करूँ ॥ १४ ॥

परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरा ।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् १५ ॥

मुनि को अपने ऊपर प्रसन्न जान बातचीत करने में परम प्रवीण गन्धर्वी मधुर स्वर में बड़ी प्रसन्नता के साथ वाक्यकोविद चूली ऋषि से बोली ॥ १५ ॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्म्या ब्रह्मभूतो महातपाः ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १६ ॥

हे महाराज ! ब्रह्मतेज से युक्त, ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला, और धार्मिकश्रेष्ठ एक पुत्र मैं चाहती हूँ ॥ १६ ॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित् ।
ब्राह्मणोपगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम् ॥ १७ ॥

पर न तो मेरा कोई पति है और न मैं किसी की स्त्री होना चाहती हूँ। क्योंकि मैं ब्रह्मचारिणी हूँ; इससे मुझे अपने तपोबल से ऐसा मानस पुत्र दीजिये जो धार्मिक हो ॥ १७ ॥

[नोट—जैसे सनक, सनन्दन आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र थे, वैसा ही एक मानसपुत्र]

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ पुत्रं तथाविधम् ।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥ १८ ॥

यह सुन ब्रह्मर्षि चूली ने प्रसन्न हो ब्रह्मदत्त नामक एक मानस-पुत्र उसको दिया ॥ १८ ॥

स राजा सोमदेयस्तु पुरीमध्यवसत्तदा ।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥१९॥

वह ब्रह्मदत्त काम्पिला का राजा हुआ। और वहाँ की राज-लक्ष्मी से ऐसा विभूषित हुआ, जैसे इन्द्र सुरपुर में विभूषित होते हैं ॥ १९ ॥

स बुद्धिं कृतवान्राजा कुशनाभः सुधार्मिकः ।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा ॥ २० ॥

कुशनाभ ने इन्हीं ब्रह्मदत्त को अपनी सौ राजकुमारियों को देने का विचार किया ॥ २० ॥

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

राजा कुशनाभ ने राजा ब्रह्मदत्त को बुला कर, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक अपनी सौ राजकुमारियाँ दे दीं ॥ २१ ॥

यथाक्रमं ततः पाणीञ्जग्राह रघुनन्दन ।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

हे राम ! वैभव में इन्द्र के समान राजा ब्रह्मदत्त ने यथाक्रम उन १०० राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया । (विवाह के समय जो वर होता है वह उस कन्या का, जिसके साथ उसका विवाह होता है, हाथ पकड़ता है) ॥ २२ ॥

स्पृष्टमात्रे ततः पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः ।
युक्ताः परमया लक्ष्म्या बभुः कन्याः शतं तदा ॥२३॥

ब्रह्मदत्त के द्वारा पाणिस्पर्श होते ही ; उन सब का कुबड़ापन जाता रहा और वे परम सुन्दरी हो गयीं ॥ २३ ॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः ।
बभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥ २४ ॥

राजा कुशनाभ राजकुमारियों के शरीर से वायु का विकार दूर हुआ देख, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिः ।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥ २५ ॥

इस प्रकार ब्रह्मदत्त के साथ उनका विवाह कर कुशनाभ ने राजकुमारियों को विदा कर, उनके साथ अपने उपाध्यायों को भी भेजा ॥ २५ ॥

सोमदाऽपि सुसंहृष्टा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम् ।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत ।
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च ॥२६॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

सोमदा जिस प्रकार अपने पुत्र की पदमर्यादा के अनुरूप सम्बन्ध हुआ देख प्रसन्न हुई, उसी प्रकार सुन्दर बहुओं को देख कर भी वह आनन्दित हुई और उनका सत्कार किया, और उन राजकुमारियों को देख और वर्त कर उसने राजा कुशनाभ की सराहना की ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—: ० :—

कृतोद्वाहे गते तस्मिन्ब्रह्मदत्ते च राघव ।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत् ॥ १ ॥

हे राम ! ब्रह्मदत्त के ब्याह कर के चले जाने के पश्चात् राजा कुशनाभ पुत्रवान् न होने के कारण पुत्रप्राप्ति के लिये पुत्रेष्टियज्ञ करने लगे ॥ १ ॥

इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम् ।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा ॥ २ ॥

जब यज्ञ होने लगा, तब ब्रह्मा जी के पुत्र और परमोदार राजा कुशनाभ के पिता, राजा कुश अपने पुत्र से बोले ॥ २ ॥

पुत्र ते सदृशः पुत्रो भविष्यति सुधार्मिकः ।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्त्तिं लोके च शाश्वतीम् ॥३॥

हे वत्स ! तेरे, तेरे ही समान धर्मात्मा पुत्र होगा । उसका नाम गाधि होगा और उसके होने से संसार में तेरी कीर्ति अमर होगी ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम् ।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥ ४ ॥

हे राम ! कुश अपने पुत्र राजा कुशनाभ से यह कह कर, आकाश मार्ग से सनातन ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ४ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः ।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः ॥ ५ ॥

कुछ समय बीतने पर बुद्धिमान् कुशनाभ के परम धर्मिष्ठ गाधि नामक एक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः ।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ॥ ६ ॥

हे राम ! वे ही परम धर्मिष्ठ मेरे पिता हैं । कुशवंशोद्भव होने के कारण मैं कौशिक कहलाता हूँ ॥ ६ ॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता ।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता ॥ ७ ॥

हे राघव ! मेरी बड़ी बहिन का नाम सत्यवती था, जो पतिव्रता थी । उसका विवाह ऋचीक के साथ हुआ था ॥ ७ ॥

सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी ।
कौशिकी परमोदारा सा प्रवृत्ता महानदी ॥ ८ ॥

ति के मरने के बाद, वह सत्यवती पति के साथ सशरीर स्वर्ग को गयी। फिर वही परम उदार कौशिकी नदी हो बहने लगी ॥ ८ ॥

दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता ।
लोकस्य हितकामार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम ॥ ९ ॥

इसका श्लाघ्य और अति पवित्र जल है और यह बड़ी रमणीक है। यह हिमालय से निकल कर बहती है। लोगों के हित के लिये मेरी बहिन ने नदी का रूप धारण किया है ॥ ९ ॥

ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि निरतः सुखम् ।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन ॥ १० ॥

हे राम ! अपनी बहिन के स्नेहवश मैं हिमालय के समीप कौशिकी के तट पर ही रहता था ॥ १० ॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता ।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितांवरा ॥ ११ ॥

सत्यधर्म में स्थित, बड़ी पतिव्रता वही सत्यवती, नदियों में श्रेष्ठ, महाभागा कौशिकी नदी है ॥ ११ ॥

अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः ।
सिद्धाश्रममनुप्राप्य सिद्धोऽस्मि तव तेजसा ॥ १२ ॥

हे राम ! यह यज्ञ पूरा करने के लिये मैं उसको छोड़ सिद्धाश्रम में चला आया था। वहां तुम्हारे प्रताप से मेरा काम सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता ।
देशस्य च महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १३ ॥

हे राम ! हे महाबाहो ! मैंने तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में इस देश का तथा अपनी उत्पत्ति और अपने वंश का वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १३ ॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम ।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद्विघ्नोऽध्वनीह नः ॥१४॥

हे राम ! यह वृत्तान्त सुनाते सुनाते आधी रात बीत चुकी। तुम्हारा मङ्गल हो, अब जा कर शयन करो, जिससे कल चलने में विघ्न न हो ॥ १४ ॥

निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः ।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन ॥ १५ ॥

हे रघुनन्दन ! अब किसी वृक्ष का पत्ता तक नहीं हिलता, पशु पक्षी तक चुपचाप हैं। निशा का घोर अन्धकार सब दिशाओं में छाया हुआ है ॥ १५ ॥

शनैर्वियुज्यते सन्ध्या नभो नेत्रैरिवावृतम् ।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते ॥ १६ ॥

धीरे धीरे सन्ध्या का समय बीत गया। आकाश तारों से देदीप्यमान हो, शोभित हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है, मानों आकाश सहस्रों नेत्रों से देख रहा हो ॥ १६ ॥

उत्तिष्ठति च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः ।
हृादयन्प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया विभो ॥ १७ ॥

समस्त संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाला और शीतल किरणों वाला चन्द्रमा, प्राणियों के मन को हर्षित करता हुआ ऊपर को उठता चला आता है ॥ १७ ॥

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः ।
यक्षराक्षससंघाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः ॥ १८ ॥

रात में घूमने वाले और मांसभक्षी भयङ्कर यक्षों और राक्षसों के दल, इधर उधर घूम फिर रहे हैं ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः ।
साधु साध्विति तं सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन् ॥ १९ ॥

इतना कह कर महातेजस्वी विश्वामित्र जी चुप हो गये । तब मुनियों ने वाह वाह कह कर विश्वामित्र की प्रशंसा की ॥ १९ ॥

कुशिकानामयं वंशो महान्धर्मपरः सदा ।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥ २० ॥

(और कहा) यह कुश का वंश सदा से धर्म में तत्पर रहा है और इस वंश के सब राजा ब्रह्मर्षि तुल्य होते चले आते हैं ॥ २० ॥

विशेषेण भवानेव विश्वामित्रो महायशाः ।
कौशिकी च सरिच्छ्रेष्ठा कुलोद्द्योतकरी तव ॥२१॥

हे विश्वामित्र जी ! विशेष कर आप तो इस वंश में महायशस्वी हैं तथा नदियों में श्रेष्ठ कौशिकी नदी ने तो इस वंश को उजागर कर दिया है ॥ २१ ॥

इति तैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तं गत इवांशुमान् ॥ २२ ॥

उन मुनिश्रेष्ठों ने इस प्रकार से विश्वामित्र की प्रशंसा की। तदनन्तर श्रीमान् विश्वामित्र जी सो गये, मानों सूर्य अस्ताचलगामी हो गये हों ॥ २२ ॥

रामोऽपि सहसौमित्रिः किञ्चिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी लक्ष्मण जी सहित कुछ कुछ विस्मित हो और विश्वामित्र की प्रशंसा करते हुए सो गये ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का चौंतीसवां सर्ग पूरा हुआ ॥

—:*:—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:o:—

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी ने उन सब ऋषियों सहित शेष रात्रि शोण नदी के तट पर बिताई । जब प्रातःकाल हुआ, तब विश्वामित्र जी रामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥

हे राम ! उठिये, प्रातःकाल हो चुका । तुम्हारा मङ्गल हो, अब नित्योपासन कर चलने की तैयारी कीजिये ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, मुनिवर के यह वचन सुन प्रातःक्रिया से निवृत्त हुए और चलने को तैयार हो बोले ॥ ३ ॥

अयं शोणः शुभजलोगाधः पुलिनमण्डितः ।
कतरेण पथा ब्रह्मन्तरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! इस शोण नद में जल तो कम है, बालू विशेष है । सो बतलाइये किस रास्ते से हम लोग उस पार चलें ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।
एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

यह सुन विश्वामित्र जी बोले जिस रास्ते से सब महर्षि जाते हैं वही रास्ता मैं बतलाता हूँ । वह यह है ॥ ५ ॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता ।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र जी के यह कहने पर वे रास्ते में विविध वनों को देखते हुए चलने लगे ॥ ६ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धऽदिवसे तदा ।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥

वे जब बहुत दूर निकल गये तब दो पहर को उनको मुनियों द्वारा सेवित श्रीगङ्गा जी देख पड़ीं ॥ ७ ॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण सहित सब मुनि, हंस सारसों से सुशोभित पुण्यसलिला जाह्नवी के दर्शन कर बहुत हर्षित हुए ॥ ८ ॥

तस्यास्तीरे ततश्चक्रुस्त आवासपरिग्रहम् ।
ततः स्नात्वा यथान्यायं सन्तर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥

वे सब श्रीगङ्गा जी के तट पर ठहर गये और यथाविधि स्नान कर, पितृदेवतर्पणादि कर्म सम्पन्न किये ॥ ९ ॥

हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चानुत्तमं हविः ।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुचौ मुदितमानसाः ॥ १० ॥

फिर अग्निहोत्र कर और बचे हुए पवित्र हविष्यान्न को खाने के पश्चात्, वे लोग प्रसन्नचित्त हो और आसनों पर गङ्गा जी के पवित्र तट पर बैठे ॥ १० ॥

विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।
संप्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

सब मुनियों के बीच में विश्वामित्र जी (और उनके सामने दोनों राजकुमार) बैठे । उस समय प्रसन्नचित्त श्रीराम जी ने विश्वामित्र जी से कहा ॥ ११ ॥

भगवञ्श्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! मैं त्रिपथगा गङ्गा जी का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। वे किस प्रकार तीनों लोकों को नाँघ कर समुद्र से जा मिलीं ॥ १२ ॥

चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः ।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर महर्षि विश्वामित्र जी ने श्रीगङ्गा जी की वृद्धि व जन्म की कथा कहना आरम्भ की ॥१३॥

शैलेन्द्रो हिमवान्नाम धातूनामाकरो महान् ।
तस्य कन्याद्वयं जातं रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १४ ॥

धातुओं की खान हिमालय नामक पर्वत के दो कन्याएँ हुईं, जो पृथिवी पर सौन्दर्य में बेजोड़ थीं अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी थीं ॥ १४ ॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा ।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥१५॥

इन कन्याओं की माता का नाम मेना है जो मेरु पर्वत की सुन्दरी लड़की और हिमाचल की पत्नी है ॥ १५ ॥

तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥

हिमाचल की बड़ी बेटी का नाम गङ्गा और छोटी का [illegible] पड़ा ॥ १६ ॥

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवतार्थचिकीर्षया ।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥ १७ ॥

हिमाचल की बड़ी बेटी त्रिपथगानदी गङ्गा को सब देवता मिल कर निज कार्यसिद्धि के लिये मांग कर ले गये ॥ १७ ॥

ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम् ।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ १८ ॥

हिमाचल ने भी तीनों लोकों को पवित्र करने वाली, स्वेच्छाचारिणी गङ्गा को तीनों लोकों की भलाई के लिये, मांगने वाले को देना चाहिये, अपना यह धर्म समझ, देवताओं को दे दिया ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य ततो देवास्त्रिलोकहितकारिणः ।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन्कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

तीनों लोकों का हित चाहने वाले, देवतागण गङ्गा को ले कर और कृतार्थ हो चले गये ॥ १९ ॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद्रघुनन्दन ।
उग्रं सा व्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! हिमाचल की जो दूसरी बेटी उमा थी, उसका तप ही धन था अतः उसने अति उग्र तप किया ॥ २० ॥

उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम् ।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥

कठोर तप करने वाली तथा लोकवन्दिता अपनी बेटी उमा, शैलेश्वर हिमाचल ने, महादेव को, उसके (उमा) लिये उपयुक्तवर समझ, उन्हें व्याह दी ॥ २१ ॥

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते ।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव ॥ २२ ॥

हे राम ! ये दोनों लोकनमस्कृता गङ्गा नदी और उमादेवी प्रसिद्ध हिमाचल की बेटियाँ हैं ॥ २२ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगा नदी ।
खं गता प्रथमं तात गङ्गा गतिमतांवर ॥ २३ ॥

हे तात ! हे चलने वालों में श्रेष्ठ ! मैंने तुमसे त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी के प्रथम स्वर्ग जाने का वृत्तान्त कहा ॥ २३ ॥

सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रस्य सुता तदा ।
सुरलोकं समारूढा त्रिपापा जलवाहिनी ॥ २४ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हिमाचल की बेटी, रमणीक और पाप नाश करने वाले जल से बहने वाली और सुरलोक को जाने वाली यही सुरनदी गङ्गा नदी हैं ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षट्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ ।
अभिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

मुनि विश्वामित्र जी के इस प्रकार कहने पर दोनों राजकुमार विश्वामित्र जी (की जानकारी और स्मरणशक्ति और कथा कहने की रीति) की वड़ाई करते हुए वोले ॥ १ ॥

धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन्कथितं परमं त्वया ।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! आपने पुण्य देने वाली उत्तम कही अव हिमालय की जेठी वेटी गङ्गा जी की कथा मुझसे कहिये ॥ २ ॥

विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुपसम्भवम् ।
त्रीन्पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी ॥ ३ ॥

आप सव जानते हैं, सो अव आप विस्तार पूर्वक यह कहिये कि, लोकपावनी गङ्गा स्वर्ग से मनुष्यलोक में क्यों आयीं और तीनों लोकों में क्यों कर वहीं ॥ ३ ॥

कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा ।
त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता ॥ ४ ॥

हे धर्मज्ञ ! नदियों में उत्तम गङ्गा का नाम तीनों लोकों में त्रिपथगा किन किन कर्मों के कारण हुआ ॥ ४ ॥

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः ।
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र के पूँछने पर तपोधन विश्वामित्र जी ने सारा वृत्तान्त ऋषियों के बीच वेड़ कर (इस प्रकार) कहा ॥ ५ ॥

पुरा राम कृतोद्वाहो नीलकण्ठो महातपाः ।
दृष्ट्वा च स्पृहया देवीं मैथुनायोपचक्रमे ॥ ६ ॥

हे राम ! पूर्वकाल में महातपस्वी महादेव जी का विवाह पार्वती जी के साथ हुआ और वे उनको देख, कामवशवर्ती हो, उनके साथ विहार करने लगे ॥ ६ ॥

शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ।
तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः ॥ ७ ॥

देवताओं के मान से सौ वर्ष तक धीमान् नीलकण्ठ महादेव जी के देवी के साथ विहार करने पर भी ॥ ७ ॥

न चापि तनयो राम तस्यामासीत्परन्तप ।
ततो देवाः समुद्विग्नाः पितामहपुरोगमाः ॥ ८ ॥

हे राम ! कोई सन्तान न हुआ । तब सब देवता व्याकुल हो ब्रह्मा जी सहित विचारने लगे ॥ ८ ॥

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत्प्रतिसहिष्यते ।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन् ॥ ९ ॥

कि इन दोनों के संभोग से जो जीव उत्पन्न होगा उसका भार कौन सम्हाल सकेगा । तब सब देवता महादेव जी के शरण में जा कर और उनको प्रणाम कर बोले ॥ ९ ॥

देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत ।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे देवदेव महादेव ! देवताओं के प्रणाम से प्रसन्न हूजिये और इस लोक की रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर ॥ ११ ॥

हे सुरोत्तम ! आपका तेज कोई भी लोक धारण नहीं कर सकेगा । अतः आप देवी सहित वैदिक विधि से तप कीजिये ॥ ११ ॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय ।
रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान्नालोकं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

तीनों लोकों के हित के लिये अपना तेज अपने शरीर ही में रखिये, जिससे तीनों लोकों की रक्षा हो, उनका नाश न कीजिये ॥ १२ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः ।
बाढमित्यब्रवीत्सर्वान्पुनश्चेदमुवाच ह ॥ १३ ॥

सर्वलोकों के परम नियन्ता महादेव जी; देवताओं के वचन सुन बोले, बहुत अच्छा । तदनन्तर कहने लगे ॥ १३ ॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजस्येव सहोमया ।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु ॥ १४ ॥

हे देवतागण ! मैं उमा के साथ अपना तेज शरीर ही में धारण किये रहूँगा । देवतागण एवं पृथिव्यादि समस्त लोक सुख से रहें ॥ १४ ॥

यदिदं क्षुभितं स्थानान्मम तेजो ह्यनुत्तमम् ।
धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

परन्तु हे देवताओ ! यह तो बतलाओ कि, जो मेरा तेज (वीर्य) स्थानच्युत हो गया है, उसे कौन धारण करेगा ? ॥ १५ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम् ।
यत्तेजः क्षुभितं ह्येतत्तद्धरा धारयिष्यति ॥ १६ ॥

इस पर देवताओं ने महादेव जी को यह उत्तर दिया कि, आपका जो तेज स्थानच्युत हुआ अर्थात् गिरा, तो उसे पृथिवी धारण करेगी ॥ १६ ॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महीतले ।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥ १७ ॥

यह सुन महादेव जी ने अपना तेज पृथिवी पर छोड़ा, जिससे वन पर्वत सहित पृथिवी पूर्ण हो गयी ॥ १७ ॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चाथ हुताशनम् ।
प्रविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥ १८ ॥

(जब देवताओं को यह मालूम हुआ कि, उस तेज को धारण करने में पृथिवी असमर्थ है तब) वे अग्नि से बोले कि, तुम वायु के साथ इस रुद्र के तेज में प्रवेश करो ॥ १८ ॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं सञ्जातः श्वेतपर्वतः ।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसन्निभम् ॥ १९ ॥

तब अग्नि के उसमें प्रवेश करने से वह तेज एक स्थान पर (समिट कर) श्वेत पर्वताकार हो गया। फिर अग्नि और सूर्य की तरह चमकीला अति दिव्य सरपत का वन हो गया ॥ १९ ॥

यत्र जातो महातेजाः कार्त्तिकेयोऽग्निसंभवः ।
अथोमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तदा ॥ २० ॥

उसीसे स्वामिकार्तिक अग्नि के समान तेजस्वी उत्पन्न हुए। तदनन्तर सब देवताओं और ऋषियों ने उमा और शिव की पूजा की ॥ २० ॥

पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्ततः ।
अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

हे राम ! जब प्रसन्न मन से देवताओं ने पूजन किया, तब उमा (क्रुद्ध होकर) देवताओं से यह बोलीं ॥ २१ ॥

अप्रियस्य कृतस्याद्य फलं प्राप्स्यथ मे सुराः ।
इत्युक्त्वा सलिलं गृह्य पार्वती भास्करप्रभा ॥ २२ ॥

अरे देवताओ, तुमने जो मेरे लिये अप्रिय कार्य किया है उसका फल तुम पावोगे। सूर्य के समान दीप्तिमान् उमा ने यह कह कर हाथ में जल लिया और ॥ २२ ॥

समन्युरशपत्सर्वान्क्रोधसंरक्तलोचना ।
यस्मान्निवारिता चैव सङ्गतिः पुत्रकाम्यया ॥२३॥

क्रोध के मारे लाल नेत्र कर उन सब देवताओं को यह शाप दिया कि, तुमने मेरे पुत्र उत्पन्न होने में बाधा डाली है ॥ २३ ॥

अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २४ ॥

सो कोई भी देवता अपनी स्त्री से पुत्र उत्पन्न न कर सके; आज से तुम्हारी स्त्रियाँ सन्तानरहित होंगी ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा सुरान्सर्वान्शशाप पृथिवीमपि ।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २५ ॥

देवताओं को इस प्रकार शाप दे कर, उमा (शान्त न हुई) ने पृथिवी को भी शाप दिया कि, हे पृथिवी ! तू एक सी नहीं रहेगी और तेरे अनेक पति होंगे । अर्थात् समस्त भूमण्डल का एक राजा न होगा—अनेक राजा होंगे ॥ २५ ॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधे मम पुत्रमनिच्छती ॥ २६ ॥

हे सुदुर्मेधे ! मेरे क्रोध से तुझे पुत्रसुख न होगा, क्योंकि तूने मेरे पुत्र को नहीं चाहा ॥ २६ ॥

तान्सर्वान्व्रीडितान्दृष्ट्वा सुरान्सुरपतिस्तदा ।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २७ ॥

महादेव जी ने इन्द्र तथा सब देवताओं को लज्जित देख, वरुण-दिशा (उत्तर) की ओर जाने की इच्छा की ॥ २७ ॥

स गत्वा तप आतिष्ठत्पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।
हिमवत्सम्भवे शृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २८ ॥

वहाँ जा कर हिमलाय के उत्तर भाग में हिमवत्प्रसव नामक पर्वतशृङ्ग पर उमा सहित वे तप करने लगे ॥ २८ ॥

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।
गङ्गायाः प्रभवं चैव शृणु मे सहलक्ष्मणः ॥ २९ ॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! हिमालय की एक बेटी की यह कथा मैंने विस्तार पूर्वक कही । अब हिमालय की दूसरी बेटी गङ्गा की (विस्तृत) कथा लक्ष्मण सहित तुम सुनो ॥ २९ ॥

बालकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:※:—

तप्यमाने तपो देवे देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥

जब महादेव तप करने लगे, तब इन्द्रादि देवता अग्नि को आगे कर, सेनापति (अपनी देवसेना के लिये एक सेनापति) प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा जी के पास गये ॥ १ ॥

ततोऽब्रुवन्सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।
प्रणिपत्य शुभं वाक्यं सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २ ॥

और प्रणाम कर, इन्द्र और अग्नि को आगे कर ब्रह्मा जी से सब देवता प्रणाम पूर्वक बोले ॥ २ ॥

येा नः सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा ।
तपः परममास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आदि काल में जिन (रुद्र) को आपने हमारा सेनापति बनाया था, वे तो उमा के साथ हिमालय पर जा कर तप कर रहे हैं ॥ ३ ॥

[नोट—किसी किसी पोथी में "येान" की जगह "येन" भी पाठ मिलता है। जहाँ पर "येन" पाठ है वहाँ उक्त श्लोक का अर्थ यह होगा कि, जिन महादेव जी ने हम लोगों से पहले कहा था कि, हम तुम्हें एक सेनापति देंगे, वे महादेव उमा सहित हिमालय पर तप कर रहे हैं।]

यदनानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ४ ॥

अतएव इसके बाद लोकों के हितार्थ जो करना उचित जान वह कीजिये, क्योंकि हमारी दौड़ तो आप ही तक है ॥ ४ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सान्त्वयन्मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन ब्रह्मा जी मधुर वचनों से देवताओं को सान्त्वना प्रदान कर, अर्थात् ढाढ़स बँधा कर, यह बोले ॥ ५ ॥

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः सन्तु पत्निषु ।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥

हे देवगण ! उमा देवी ने तुम लोगों को जो शाप दिया है कि, तुम्हारी स्त्रियों के सन्तान न होगा, वह तो अन्यथा होगा नहीं ॥ ६ ॥

इयमाकाशगा गङ्गा यस्यां पुत्रं हुताशनः ।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम् ॥ ७ ॥

हां, अग्निदेव इस आकाशगङ्गा से जिस पुत्र को उत्पन्न करेंगे वह देवताओं के शत्रुओं का नाश करने वाला होगा ॥ ७ ॥

ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम् ।
उमायास्तद्वहुमतं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

हिमाचल की ज्येष्ठा पुत्री गङ्गा, अपनी छोटी बहिन का पुत्र होने के कारण, उसे निज पुत्रवत् समझेगी और उमा तो उसे निश्चय ही बहुत ही मानेगी अर्थात् उसे बहुत प्यार करेगी ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन ।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥

हे राम ! ब्रह्मा के ये वचन सुन, देवताओं ने अपने को कृतार्थ समझा और प्रणामादि कर ब्रह्मा जी का पूजन किया ॥ ९ ॥

ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥

तदनन्तर सब देवता अनेक धातुओं से परिपूर्ण कैलास पर्वत पर गये और पुत्रोत्पत्ति के लिये अग्नि को प्रेरणा करने लगे ॥ १० ॥

देवकार्यमिदं देव संविधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ ११ ॥

(देवतागण, अग्नि से कहने लगे) यह देवताओं का कार्य है। वे करो। हे महातेजस्वी अग्निदेव! आप अपना (वीर्य) गङ्गा में छोड़ो ॥ ११ ॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥

अग्निदेव ने देवताओं से (यह कार्य करने को) प्रतिज्ञा की, और गङ्गा जी से कहा—हे देवि! तुम हमसे गर्भ धारण करो। क्योंकि यह कार्य देवताओं को अभिलषित अर्थात् उनको पसन्द है ॥ १२ ॥

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
दृष्ट्वा तन्महिमानं स समन्तादवकीर्यत ॥ १३ ॥

अग्निदेव का यह वचन सुन गङ्गा देवी ने दिव्य स्त्री का रूप धारण किया। अग्नि ने गङ्गा जी का सौन्दर्य देख, अपने सब अंगों से वीर्य छोड़ा ॥ १३ ॥

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥

हे राम! गङ्गा की प्रत्येक नाड़ी अग्नि के तेज (वीर्य) से परिपूर्ण हो गयी—कोई अंग खाली न रहा ॥ १४ ॥

तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम् ।
अशक्ता धारणे देव तव तेजः समुद्धतम् ॥ १५ ॥

तब गङ्गा ने अग्नि से कहा कि, हे देव! मैं तुम्हारे बढ़ते हुए तेज को धारण नहीं कर सकती ॥ १५ ॥

दह्यमानाऽग्निना तेन संप्रव्यथितचेतना ।
अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥

क्योंकि तुम्हारे तेज से मैं जली जाती हूँ। और मैं बहुत दुःखी हूँ। यह सुन अग्नि ने कहा ॥ १६ ॥

इह हैमवते पादे गर्भोऽयं सन्निवेश्यताम् ।
श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥ १७ ॥

इस हिमालय के पास इस गर्भ को रख दो। यह सुन गङ्गा जी ने वह परम तेजस्वी गर्भ ॥ १७ ॥

उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदाऽनघ ।
यदस्या निर्गतं तस्मात्तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ १८ ॥

अपने अंगों से निकाल दिया। जब वह गर्भ भूमि पर गिरा तब वह अत्यन्त चमकदार जाम्बूनद सुवर्ण हो गया ॥ १८ ॥

काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यममलं शुभम् ।
ताम्रं काष्णायसं चैव तैक्ष्ण्यदेवाभ्यजायत ॥ १९ ॥

वही विशुद्ध और सुन्दर सब सोना है, जो पृथिवी पर है। उसके पास वहां जितने पदार्थ थे वे चांदी हो गये। जहां जहां उसकी तीक्ष्णता पहुँची वहाँ तांबा और लोहा हो गया ॥ १९ ॥

मलं तस्याभवत्तत्र त्रपु सीसकमेव च ।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥

और उसके मैल का जस्ता और सीसा हो गया। इस प्रकार वह तेज भूमि पर अनेक धातुओं के रूप में फैल गया ॥ २० ॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोग्निरग्निरञ्जितम् ।
सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभवद्वनम् ॥ २१ ॥

गर्भ के छोड़ते ही सम्पूर्ण पर्वत और वहाँ का वन तेज से परिपूर्ण हो सुवर्ण रूप हो गया ॥ २१ ॥

जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव ।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम् ॥ २२ ॥

हे राम ! रूप से उत्पन्न होने के कारण तब से यह सोना जातरूप कहलाता है और हे पुरुषव्याघ्र ! सुवर्ण की, अग्नि जैसी कान्ति हो गयी है ॥ २२ ॥

तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ।
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सहमरुद्गणाः ॥ २३ ॥

वहाँ जो तृण, गुल्म, लताएँ थीं, वे भी सुवर्ण हो गयीं। तदनन्तर उस तेज से कुमार का जन्म हुआ। तब इन्द्रादि देवताओं ने ॥ २३ ॥

क्षीरसंभावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ।
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम् ॥ २४ ॥

उस बालक को दूध पिलाने के लिये कृत्तिकाओं को नियुक्त किया । निज पुत्र कहलाने का करार कर, सब ने दूध विलाया ॥ २४ ॥

ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ।
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्त्तिकेय इति ब्रुवन् ॥ २५ ॥

तब सब देवताओं ने कहा कि, यह बालक तुम्हारा पुत्र भी कहलावेगा और उसका कार्त्तिकेय नाम रख कर कहा ॥ २५ ॥

पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे ॥ २६ ॥

यह बालक निस्सन्देह तीनों लोकों में प्रसिद्ध होगा । यह सुन कृत्तिकाओं ने गिरे हुए गर्भ से उत्पन्न उस कुमार को ॥ २६ ॥

स्नापयन्परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथाऽनलम् ।
स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवात् ॥ २७ ॥

अच्छी तरह से स्नान कराये जिससे उस बालक का शरीर अग्नि के समान दमकने लगा । यह बालक गर्भस्राव से उत्पन्न था, अतः देवताओं ने उसका स्कन्द भी नाम रखा ॥ २७ ॥

कार्त्तिकेयं महाभागं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ।
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम् ॥ २८ ॥

हे रामचन्द्र ! अग्नि के सदृश महाभाग कार्तिकेय के लिये कृत्तिकाओं के दूध उत्पन्न हो गया ॥ २८ ॥

षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ।
गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ॥ २९ ॥

वह बालक छः मुखों से छःओं कृत्तिकाओं के स्तनों का दूध पान करने लगा और एक ही दिन दूध पी कर, उस सुकुमार शरीर वाले बालक ने ॥ २९ ॥

अजयत्स्वेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान्विभुः ।
सुरसेनागणपतिं ततस्तममलद्युतिम् ॥ ३० ॥

अपने पराक्रम से दैत्यों की सेना को जीता। तब उस विमल द्युति वाले कुमार को, देवताओं की सेना के सेनापति पद पर ॥ ३० ॥

अभ्यषिञ्चन्सुरगणाः समेत्याग्निपुरोगमाः ।
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
कुमारसंभवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥

अग्नि आदि देवताओं ने अभिषिक्त किया। हे राम! यह गङ्गा जी का तथा कार्त्तिकेय के जन्म का वृतान्त विस्तार पूर्वक मैंने कहा। यह कथा बहुत अच्छी और पुण्यदायिनी है ॥ ३१ ॥

भक्तश्च यः कार्त्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।
आयुष्मान्पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राम! इस पृथिवीतल पर जो लोग इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं, वे आयुष्मान् और पुत्र पौत्र वाले हो कर, अन्त में स्कन्दलोक में जाकर वास करते हैं ॥ ३२ ॥

बालकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—:*:—

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षराम् ।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

मधुरवाणी से उपरोक्त कथा श्रीरामचन्द्र जी को सुना कर, फिर विश्वामित्र जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १ ॥

अयोध्याधिपतिः शूरः पूर्वमासीन्नराधिपः ।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥ २ ॥

हे वीर ! पहले अयोध्यापुरी में एक सगर नाम के राजा थे। उनके पुत्र नहीं था, अतः उन्हें पुत्रप्राप्ति की इच्छा थी ॥ २ ॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥

सगर की पटरानी का नाम कैशिनी था। वह विदर्भ देश के राजा की बेटी और बड़ी धर्मिष्ठा और सत्यवादिनी थी ॥ ३ ॥

अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
द्वितीया सगरस्यासीत्पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥

इनकी दूसरी रानी का नाम सुमति था और वह अरिष्टनेमि की बेटी थी और अत्यन्त रूपवती अर्थात् सुन्दरी थी ॥ ४ ॥

ताभ्यां सह तदा राजा पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः ।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥ ५ ॥

उन दोनों रानियों सहित महाराज सगर हिमालय के भृगुप्रस्रवण नामक प्रदेश में जा कर तप करने लगे ॥ ५ ॥

[नोट—भृगुप्रस्रवण उस प्रदेश का नाम इसलिये पड़ा था कि, वहाँ भृगु जी महाराज स्वयं तप करते थे ।]

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।
सगराय वरं प्रादाद्भृगुः सत्यवतांवरः ॥ ६ ॥

तपस्या करते हुए महाराज सगर को जब सौ वर्ष पूरे हो गये तब सत्यवादी महर्षि भृगु ने सगर की तपस्या से प्रसन्न हो उन्हें यह वर दिया ॥ ६ ॥

अपत्यलाभः सुमहान्भविष्यति तवानघ ।
कीर्तिं चामतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे अनघ ! तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी और अतुल कीर्त्ति भी मिलेगी ॥ ७ ॥

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥

(इन दो रानियों में से) एक के तो वंश बढ़ाने वाला केवल एक ही पुत्र होगा और दूसरी के साठ हज़ार पुत्र पैदा होंगे ॥ ८ ॥

भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥

जब मुनि ने ऐसा कहा तब दोनों रानियों ने हाथ जोड़ कर कहा ॥ ९ ॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन्का वहून्जनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन्सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन ! आपका वरदान सत्य हो, किन्तु यह तो बतलाइये कि, एक किसके और साठ हज़ार पुत्र किसके होंगे ॥ १० ॥

तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥११॥

उन रानियों के इस प्रश्न के उत्तर में भृगु जो महाराज ने कहा—यह तुम दोनों की इच्छा पर निर्भर है। अर्थात् जो जैसा चाहेगी उसके वैसा होगा ॥ ११ ॥

एको वंशकरो वाऽस्तु बहवो वा महाबलाः ।
कीर्त्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥१२॥

तुम दोनों अलग अलग बतलाओ कि, तुममें से कौन वंश को वृद्धि करने वाला एक पुत्र और कौन बड़े बलवान कीर्त्तिशाली और अमित उत्साही साठ हज़ार पुत्रप्राप्ति का वर चाहती है ॥ १२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसन्निधौ ॥ १३ ॥

हे रघुनन्दन ! भृगु जी के इस प्रश्न को सुन केशिनी ने वंश-कर एक पुत्रप्राप्ति का वर प्राप्त किया ॥ १३ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा ।
महोत्साहान्कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥ १४ ॥

और गरुड़ की बहिन सुमति को बलवान कीर्त्तिमान साठ हज़ार पुत्र होने का वरदान मिला ॥ १४ ॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

हे राम ! महर्षि भृगु की परिक्रमा कर और उनको प्रणाम कर रानियों सहित महाराज सगर अपनी राजधानी को लौट गये ॥ १५ ॥

अथ काले गते तस्मिञ्ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

कुछ समय बीतने पर सगर की पटरानी केशिनी के गर्भ से असमञ्जस नाम का एक राजकुमार उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्राः सहस्राणि तुम्बभेदाद्विनिस्सृताः ॥१७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! रानी सुमति के गर्भ से एक तूँबा निकला। उस तूँबे को फोड़ने पर उसमें से साठ हज़ार बालक निकले ॥१७॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान्समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

उन सब को दाइयों ने घी से भरे हुए घड़ों में रख, पाला पोसा और इस प्रकार बहुत समय बीतने पर वे सब जवान हुए ॥ १८ ॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

बहुत दिनों में सगर के ये साठ हज़ार पुत्र जवान हुए ॥ १९ ॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठः सगरस्यात्मसंभवः ।
बालान्गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥ २० ॥

हे राम ! सगर का ज्येष्ठ राजकुमार असमञ्जस अयोध्यावासियों के बालकों को पकड़ कर सरयूनदी में फेंक दिया करता ॥ २० ॥

प्रक्षिप्य प्रहसन्नित्यं मज्जतस्तान्निरीक्ष्य वै ।
एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥

और जब वे डूबने लगते तब वह उन्हें डूबते हुए देख प्रसन्न होता था। वह बड़ा दुराचारी हो गया और वह सज्जनों को सताने लगा अर्थात् उसके आचरण सज्जनों के आचरणों से बहुत दूर थे ॥ २१ ॥

पौराणामहिते युक्तः पुत्रो निर्वासितः पुरात् ।
तस्य पुत्रोंशुमान्नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥

इस प्रकार महाराज सगर ने पुरवासियों को सताने वाले असमञ्जस को देशनिकाले का दण्ड दिया। असमञ्जस के अंशुमान नामक एक पराक्रमी पुत्र था ॥ २२ ॥

संमतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।
ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ।
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता ॥ २३ ॥

जो सब की सम्मति से चलता था, सब से प्रिय वचन बोलता था। बहुत दिनों बाद महाराज सगर की इच्छा हुई कि, यज्ञ करें ॥ २३ ॥

स कृत्वा निश्चयं राम सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

हे राम ! ऐसा निश्चय कर, वे ऋत्विजों को बुला कर, यज्ञ करने लगे ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः ।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम् ॥ १ ॥

उक्त कथा समाप्त होने पर श्रीरामचन्द्र जी परम प्रीति के साथ अग्निवत् देदीप्यमान् विश्वामित्र मुनि से बोले ॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम् ।
पूर्वको मे कथं ब्रह्मन्यज्ञं वै समुपाहरत् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपका मङ्गल हो ; मैं विस्तार पूर्वक यह सुनना चाहता हूँ कि, मेरे पूर्वज महाराज सगर ने किस प्रकार यज्ञ किया ॥ २ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

यह सुन विश्वामित्र जी हर्षित हो श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

श्रयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः ।
शङ्करश्वशुरो नाम हिमवानचलोत्तमः ॥ ४ ॥

हे राम ! महाराज सगर का चरित्र विस्तार पूर्वक सुनिये। शङ्कर के ससुर पर्वतोत्तम हिमाचल ॥ ४ ॥

विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम् ।
तयोर्मध्ये प्रवृत्तोऽभूद्यज्ञः स पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

और विन्ध्याचल एक दूसरे को देखते हैं, (अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत के बीच मैदान है,) हे पुरुषोत्तम ! इन्हीं दोनों पर्वतों के बीच की भूमि पर महाराज सगर का यज्ञ हुआ था ॥ ५ ॥

स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।
तस्याश्ववर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः ॥ ६ ॥

हे नरव्याघ्र ! हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच की भूमि यज्ञकर्म के लिये उत्तम है। हे काकुत्स्थ ! उस यज्ञ में छोड़े हुए घोड़े की रक्षा के लिये दृढ़ धनुषधारी, महारथी ॥ ६ ॥

अंशुमानकरोत्तात सगरस्य मते स्थितः ।
तस्य पर्वणि संयुक्तं यजमानस्य वासवः ॥ ७ ॥

अंशुमान महाराज सगर के आदेश से नियुक्त हुए। अनन्तर उस यजमान के पर्व दिन इन्द्र ॥ ७ ॥

राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञीयाश्वमपाहरत् ।
हीयमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः ॥ ८ ॥

राक्षस का रूप धर कर यज्ञीय अश्व हर ले गये। जब यज्ञीय अश्व ले कर इन्द्र चले, तब हे राम ! ॥ ८ ॥

उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन् ।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञीयाश्वोऽपनीयते ॥ ९ ॥

सब ऋत्विग्गण ने राजा से कहा कि, यज्ञ का घोड़ा कोई बड़ी तेज़ी से चुरा कर लिये जाता है ॥ ९ ॥

हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम् ।
उपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन्सदसि पार्थिवः ॥ १० ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! घोड़ा चुरा कर भागने वाले को मार कर ले आइये। उस यज्ञ में ऋत्विजों के ये वचन सुन कर, राजा ॥१०॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह ।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥

अपने साठ हज़ार पुत्रों से यह बोले कि, हे पुत्रो ! यज्ञीय अश्व के हरने वाले दुष्ट राक्षस नहीं दिखलाई पड़ते कि, वे किस मार्ग से घोड़ा चुरा कर ले गये ॥ ११ ॥

मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः ।
तद्गच्छत विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः ॥ १२ ॥

यज्ञ बड़े बड़े मंत्रवेत्ता महात्माओं द्वारा कराया जाता है, जिससे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। अब तुम लोगों को चाहिये कि, तुरन्त जा कर घोड़े का पता लगाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥ १२ ॥

समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छत ।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत ॥ १३ ॥

समुद्र से घिरी हुई जितनी पृथिवी है सब ढूँढ़ना । एक एक योजन ढूँढ कर आगे बढ़ना ॥ १३ ॥

यावत्तुरगसंदर्शस्तावत्खनत मेदिनीम् ।
तं चैव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया ॥ १४ ॥

मेरी आज्ञा से अश्वहर्त्ता को ढूँढ़ते हुए तब तक पृथिवी खोदते जाना जब तक घोड़ा न दिखाई दे ॥ १४ ॥

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणो ह्यहम् ।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत्तुरगदर्शनम् ॥ १५ ॥

मैं तो यज्ञीय दीक्षा लिये हुए हूँ । सो जब तक मैं घोड़े को देख न लूँ, तब तक अंशुमान और उपाध्यायों सहित यहीं रहूँगा । जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो ॥ १५ ॥

इत्युक्ता हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥ १६ ॥

हे राम ! वे महाबली राजकुमार प्रसन्न हो और पिता की आज्ञा पा कर, (घोड़े और घोड़े के चुराने वाले को) पृथ्वी भर में ढूँढ़ने लगे ॥ १६ ॥

योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्र वज्रस्पर्शसमैर्नखैः ॥ १७ ॥

हे नरशार्दूल ! सारी पृथिवी खोज चुकने के पीछे अपने वज्र के समान नखों से प्रत्येक राजकुमार एक एक योजन पृथिवी खोदने लगे ॥ १७ ॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १८ ॥

हे रघुनन्दन ! उस समय बड़े बड़े त्रिशूलों और मज़बूत हलों से पृथिवी खोदते समय पृथिवी पर हाहाकार मच गया ॥ १८ ॥

नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां च दुर्धर्षैः सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥१९॥

पृथिवी खोदने में अनेक नाग, दैत्य, और बड़े बड़े दुर्धर्ष राक्षस मारे गये और अनेक घायल हुए ॥ १९ ॥

योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
विभिदुर्धरणीं वीरा रसातलमनुत्तमम् ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! उन वीर राजकुमारों ने साठ हज़ार योजन भूमि खोद डाली और खोदते खोदते वे पाताल तक पहुँच गये ॥ २० ॥

एवं पर्वतसंबाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २१ ॥

हे नृपशार्दूल ! इस प्रकार वे राजकुमार पर्वतों सहित इस जम्बूद्वीप को खोदते और चारों ओर ढूँढ़ते फिरते थे ॥ २१ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
संभ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २२ ॥

तब तो सब देवता, गन्धर्व, असुर और पन्नग विकल हो ब्रह्मा जी के पास गये ॥ २२ ॥

ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर वे उदास मन अत्यन्त भयभीत हो, ब्रह्मा जी से यह बोले ॥ २३ ॥

भगवन्पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो हन्यन्ते जलवासिनः ॥ २४ ॥

हे भगवन् ! महाराज सगर के पुत्र सारी पृथिवी खोदे डालते हैं और उन लोगों ने अनेक सिद्धों, तथा जलवासियों को मार डाला है ॥ २४ ॥

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥ २५ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

सगर के पुत्रों के सामने जो पड़ जाता है, उसे वे यह कह कर मार डालते हैं कि, हमारे यज्ञीय अश्व का चोर यही है, यही हमारा घोड़ा चुरा ले गया है ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चत्वारिंशः सर्गः

—: o :—

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान्वै पितामहः ।
प्रत्युवाच सुसंत्रस्तान्कृतान्तबलमोहितान् ॥ १ ॥

देवताओं के इन वचनों को सुन, ब्रह्मा जी सगर के पुत्रों से, जिनके सिर पर काल खेल रहा था तथा भयग्रस्त देवताओं से बोले ॥ १ ॥

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम् ॥ २ ॥

हे देवगण ! यह समस्त भूमि जिन धीमान् भगवान् वासुदेव की है, वे ही कपिल के रूप में निरन्तर इस पृथिवी को धारण करते हैं ॥ २ ॥

तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः ।
पृथिव्याश्चापि निर्भेदो दृष्ट एव सनातनः ॥ ३ ॥

वे समस्त राजकुमार उन्हीं कपिल के क्रोधानल से दग्ध हो जायंगे । यह पृथिवी तो सनातन है । निश्चय ही इसका नाश नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

सगरस्य च पुत्राणां विनाशोऽदीर्घजीविनाम् ।
पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥ ४ ॥

शीघ्र नाशवान् सगर के पुत्रों का नाश ही होगा ; अतः तुम चिन्ता मत करो । ब्रह्मा जी के ये वचन सुन तेतीसो* ॥ ४ ॥

देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।
सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महात्मनाम् ॥ ५ ॥
पृथिव्यां भिद्यमानायां निर्घातसमनिःस्वनः ।
ततो भित्त्वा महीं कृत्स्नां कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

---

*आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और दो अश्विनीकुमार ।

देवता परम प्रसन्न हो जहां से आये थे वहीं लौट कर चले गये। इधर पृथ्वी खोदने वाले सगर के पुत्रों का पृथिवी खोदने का कोलाहल वज्रपात के समान हुआ। वे सारी पृथिवी को खोद कर उसकी परिक्रमा कर ॥ ५ ॥ ६ ॥

सहिताः सागराः सर्वे पितरं वाक्यमब्रुवन्।
परिक्रान्ता मही सर्वा सत्त्ववन्तश्च सूदिताः ॥ ७ ॥
देवदानवरक्षांसि पिशाचोरगकिन्नराः।
न च पश्यामहेऽश्वं तमश्वहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

अपने पिता से जा कर बोले कि, हमने ससागरा समस्त पृथिवी छूँढ डाली और देव, राक्षस, पिशाच, उरग और पन्नग जो हमें मिले उन्हें हमने मार डाला; किन्तु हमें न तो यज्ञीय अश्व का और न उसके चुराने वाले का पता चला ॥ ७ ॥ ८ ॥

किं करिष्याम भद्रं ते बुद्धिरत्र विचार्यताम्।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसत्तमः ॥ ९ ॥

आपका मङ्गल हो, आपही सोच कर बतलाइये कि, अब हम क्या करें। राजकुमारों की यह बात सुन नृपश्रेष्ठ ॥ ९ ॥

समन्युरब्रवीद्वाक्यं सगरो रघुनन्दन।
भूयः खनत भद्रं वो निर्भिद्य वसुधातलम् ॥ १० ॥

सगर, हे राम! कुपित हो, उनसे बोले—जाओ और पुनः पृथिवी खोदो ॥ १० ॥

अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तथ।
पितुर्वचनमास्थाय सगरस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

और घोड़ा चुराने वाले को पकड़ और सफल हो कर ही लौटो। महाराज सगर की इस आज्ञा के अनुसार ॥ ११ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन् ।
खन्यमाने ततस्तस्मिन्ददृशुः पर्वतोपमम् ॥ १२ ॥
दिग्गजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ।
सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन ॥ १३ ॥

वे साठ हज़ार राजकुमार रसातल की ओर दौड़े और खोदते खोदते उन्होंने उस पर्वताकार विरूपाक्ष दिग्गज को देखा, जो पृथिवी-मण्डल को धारण किये हुए है। हे रघुनन्दन ! पर्वत सहित उस दिशा की समस्त पृथिवी को ॥ १२ ॥ १३ ॥

शिरसा धारयामास विरूपाक्षो महागजः ।
यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रामार्थं महागजः ॥ १४ ॥

महागज विरूपाक्ष अपने सिर पर धारण किये रहता है। जब कभी वह महागज थक जाने पर दम लेने के लिये ॥ १४ ॥

खेदाच्चालयते शीघ्रं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ।
तं ते प्रदक्षिणं कृत्वा दिग्पालं महागजम् ॥ १५ ॥

अपना सिर हिलाता है तभी पृथिवी डोलती और भूडोल होता है। राजकुमार दिग्पाल गजेन्द्र की परिक्रमा कर ॥ १५ ॥

मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम् ।
ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां विभिदुः पुनः ॥१६॥

तथा पूजन कर के हे राम ! वे रसातल खोदते हुए आगे बढ़े और पूर्व दिशा को खोद कर, वे दक्षिण दिशा को पुनः खोदने लगे ॥ १६ ॥

दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम् ।
महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ॥ १७ ॥

दक्षिण दिशा में भी उन्होंने बड़े विशाल पर्वतोपम डील-डौल के दिग्गज महापद्म को देखा ॥ १७ ॥

शिरसा धारयन्तं ते विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

उसे अपने सिर पर उस दिशा की पृथिवी रखे हुए देख, वे लोग अत्यन्त विस्मित हुए। महाराज सगर के पुत्रों ने उसकी भी परिक्रमा की ॥ १८ ॥

षष्टि पुत्रसहस्राणि पश्चिमां विभिदुर्दिशम् ।
पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम् ॥ १९ ॥

और साठो हज़ार (उस दिशा को छोड़) पश्चिम दिशा को भूमि खोदने लगे । पश्चिम दिशा में भी एक बड़े पहाड़ के समान ॥ १९ ॥

दिशागजं सौमनसं ददृशुस्ते महाबलाः ।
तं ते प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चापि निरामयम् ॥ २० ॥

सोमनस नामक दिग्गज को उन महाबली राजकुमारों ने देखा । उन लोगों ने उसकी भी प्रदक्षिणा की और उससे भी कुशल प्रश्न पूँछा ॥ २० ॥

खनन्तः समुपक्रान्ता दिशं हैमवतीं ततः ।
उत्तरस्यां रघुश्रेष्ठ ददृशुर्हिमपाण्डुरम् ॥ २१ ॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर उन लोगों ने उत्तर दिशा की भूमि खोदने पर बर्फ के समान सफेद रंग का ॥ २१ ॥

भद्रं भद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ।
समालभ्य ततः सर्वे कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

भद्र नामक बड़े डीलडौल का दिग्गज देखा, जो उस दिशा को भूमि धारण किये हुए था । उसकी भी प्रदक्षिणा कर ॥ २२ ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि विभिदुर्वसुधातलम् ।
ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथितां दिशम् ॥ २३ ॥

साठो हज़ार राजकुमार पृथिवी खोदते हुए आगे बढ़े और प्रसिद्ध दिशा ईशान में जा ॥ २३ ॥

रोषादभ्यखनन्सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ।
ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः ॥ २४ ॥

बड़े क्रोध से पृथिवी खोदने लगे । उन सब भीमवेग वाले महात्मा और महाबली सगर पुत्रों ने ॥ २४ ॥

ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ।
हयं च तस्य देवस्य चरन्तमविदूरतः ॥ २५ ॥

सनातन वासुदेव कपिलदेव को देखा और उनके समीप ही चरते हुए अपने यज्ञीय अश्व को भी देखा ॥ २५ ॥

महर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ।
ते तं हयहरं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः ॥ २६ ॥

हे राम ! वे सब घोड़े को देख अत्यन्त प्रमुदित हुए और कपिल देव को उस घोड़े का चुराने वाला समझ और अत्यन्त क्रुद्ध हो ॥ २६ ॥

खनित्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन् ॥ २७ ॥

उन्हें मारने के लिये हल, कुदाल, वृक्ष और पत्थर लेकर उनकी ओर दौड़े और क्रुद्ध हो कहने लगे, ठहर ठहर (अर्थात् ठहरो हम तुम्हें घोड़ा चुराने का फल चखाते हैं) ॥ २७ ॥

अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञीयं हृतवानसि ।
दुर्मेधस्त्वं हि संप्राप्तान्विद्धि नः सगरात्मजान् ॥२८॥

तूने ही हमारे यज्ञ का घोड़ा चुराया है । तू बड़ा दुर्बुद्धि है । देख हम सब महाराज सगर के पुत्र आ पहुँचे ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ।
रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत्तदा ॥ २९ ॥

हे रघुनन्दन ! सगर के पुत्रों की ये बातें सुन, कपिल देव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और "हुँकार" शब्द किया ॥ २९ ॥

ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राम ! अप्रमेय बलशाली महात्मा कपिल ने सगर के सब पुत्रों को भस्म कर, भस्म का ढेर लगा दिया ॥ ३० ॥

बालकाण्ड का चालीसवां सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन ।
नप्तारमब्रवीद्राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ १ ॥

हे रामचन्द्र ! जब महाराज सगर ने देखा कि, उन राजकुमारों को गये बहुत दिन हो चुके (और वे न लौटे) तब अपने तेजस्वी दीप्तमान पौत्र अंशुमान से कहा ॥ १ ॥

शूरश्च कृतविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा ।
पितॄणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोऽपहारितः ॥ २ ॥

हे वत्स ! तुम शूरवीर हो, विद्वान् हो और अपने पूर्वजों के समान तेजस्वी भी हो । जाकर अपने पितृव्यों (चाचाओं) का और घोड़ा चुराने वाले का पता लगाओ ॥ २ ॥

अन्तर्भौमानि सत्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
तेषां त्वं प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम् ॥ ३ ॥

इस पृथिवी के भीतर बिलों में बड़े बड़े पराक्रमी जीवधारी हैं। अतः उनको हराने के लिये खड्ग व धनुष बाण लिये रहो ॥ ३ ॥

अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि ।
सिद्धार्थः सन्निवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः ॥ ४ ॥

जो वन्दना करने योग्य पुरुष मिलें, उनको प्रणाम करना और जो विघ्नकारक हों उनका वध करना। (इस प्रकार कार्यसिद्ध कर लौटना, जिससे (अधूरा) यज्ञ पूरा हो ॥ ४ ॥

एवमुक्तोंऽशुमान्सम्यक्सगरेण महात्मना ।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥ ५ ॥

अपने बाबा के इस प्रकार समझाने पर और धनुष बाण एवं तलवार ले, अंशुमान तुरन्त चल दिया ॥ ५ ॥

स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः ।
आपद्यत नरश्रेष्ठस्तेन राज्ञाभिचोदितः ॥ ६ ॥

महाराज की आज्ञा के अनुसार वह उस मार्ग पर जा पहुँचा जिसे उसके पितृव्यों ने खोद कर बनाया था और उस मार्ग से पाताल में पहुँच गया ॥ ६ ॥

दैत्यदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिग्गजमपश्यत ॥ ७ ॥

देव, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच और नाग—मार्ग में जो जो मिलता वही इसका आदर सत्कार करता। जाते जाते महातेजस्वी अंशुमान ने एक दिग्गज को देखा ॥ ७ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा दृष्ट्वा चैव निरामयम् ।
पितॄन्स परिपप्रच्छ वाजिहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

उस दिग्गज की परिक्रमा कर तथा उससे शिष्टाचार की बातें करके, अर्थात् कुशल प्रश्नादि कर, अंशुमान ने उस दिग्गज से अपने चाचाओं का और घोड़े के हरने वाले का पता पूँछा ॥ ८ ॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्याहांशुमतो वचः ।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि ॥ ९ ॥

दिग्गज ने उत्तर में कहा कि, हे असमञ्जस के पुत्र अंशुमान तुम अपना कार्य सिद्ध कर घोड़ा ले कर शीघ्र लौटोगे ॥ ९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान् ।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १० ॥

उस दिग्गज के यह वचन सुन, अंशुमान आगे बढ़ा और यथाक्रम शेष दिग्गजों से भी वही पूँछा ॥ १० ॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः ।
पूजितः सहयश्चैव गन्तासीत्यभिचोदितः ॥ ११ ॥

उन सब दिग्गजों ने बात करने में चतुर अंशुमान द्वारा पूजित होकर, वही बात कही अर्थात् आगे बढ़े चले जाओ ॥ ११ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥ १२ ॥

उनके इस प्रकार के वचन सुन, अंशुमान शीघ्र वहाँ पहुँच गया, जहाँ सगर के पुत्रों और उसके चाचाओं के भस्म किये हुए शरीर की राख का ढेर पड़ा था ॥ १२ ॥

स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा ।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात्तेषां सुदुःखितः ॥ १३ ॥

अंशुमान उसे देख बहुत दुःखी हुआ और उनकी मृत्यु पर शोकान्वित हो रोने लगा ॥ १३ ॥

यज्ञीयं च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

दुःख शोकातुर अंशुमान ने समीप ही यज्ञीय अश्व को भी चरते हुए देखा ॥ १४ ॥

स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
सलिलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम् ॥ १५ ॥

अंशुमान ने मरे हुए राजकुमारों का तर्पण करना चाहा, किन्तु तलाश करने पर भी उसे वहां कोई जलाशय न मिला ॥१५॥

विसार्य निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यत्खगाधिपम् ।
पितृणां मातुलं राम सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥

दृष्टि फैलाकर देखने पर उसे अपने चाचाओं के मामा वायु के समान वेग वाले गरुड़ जी देख पड़े ॥ १६ ॥

स चैनमब्रवीद्वाक्यं वैनतेयो महाबलः ।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र वधोऽयं लोकसम्मतः ॥ १७ ॥

गरुड़ जी ने अंशुमान से कहा, हे पुरुषसिंह ! तुम दुखी मत हो । क्योंकि इन सब का वध लोकसम्मत ही हुआ है ॥ १७ ॥

कपिलेनाप्रमेयेन दग्धा हीमे महाबलाः ।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दातुमेषां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥

ये सब अचिन्त्य प्रभाव वाले महात्मा कपिल द्वारा भस्म किये गये हैं। हे प्राज्ञ ! इनको लौकिक (साधारण) जलदान मत करो। नदी कूप तड़ाग के साधारण जल से इनका तर्पण मत करो ॥ १८ ॥

गङ्गा हिमवतो ज्येष्ठा दुहिता पुरुषर्षभ ।
तस्यां कुरु महाबाहो पितॄणां तु जलक्रियाम् ॥ १९ ॥

हे पुरुषर्षभ ! हिमालय की ज्येष्ठा पुत्री गङ्गा नदी के जल से तुम अपने पितरों का तर्पण करो ॥ १९ ॥

भस्मराशीकृतानेतान्ज्ञावयेल्लोकपावनी ।
तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया ॥ २० ॥

जब लोकपावनी गङ्गा जी के जल से इनकी भस्म तर होगी अर्थात् केवल तर्पण से ही काम न चलेगा) ॥ २० ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं नयिष्यति ।
गच्छ चाश्वं महाभाग संगृह्य पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

तब साठ हज़ार राजकुमार स्वर्गवासी होंगे। हे महाभाग ! हे पुरुषोत्तम ! तुम घोड़ा ले कर लौट जाओ ॥ २१ ॥

यज्ञं पैतामहं वीर संवर्तयितुमर्हसि ।
सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोंशुमानतिवीर्यवान् ॥ २२ ॥

और अपने बाबा का यज्ञ पूरा करवाओ। अति पराक्रमी तथा यशस्वी अंशुमान गरुड़ जी की ये बातें सुन ॥ २२ ॥

त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महायशाः ।
ततो राजानमासाद्य दीक्षितं रघुनन्दन ॥ २३ ॥

तुरन्त घोड़ा ले कर लौट आया। यज्ञदीक्षा से दीक्षित और महाराज सगर के पास जा कर ॥ २३ ॥

न्यवेदयद्यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा ।
तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुमतो नृपः ॥ २४ ॥

उनको गरुड़ जी की कहीं सब बातें सुनायीं। अंशुमान की उन दारुण बातों को सुन, महाराज सगर बहुत दुखी हुए ॥ २४ ॥

यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ।
स्वपुरं चागमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः ।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥

तदनन्तर उन्होंने यथाविधि यज्ञ पूरा किया और अपनी राजधानी को लौट गये और बहुत सोचने पर भी महाराज सगर को गङ्गा जी के लाने का कोई उपाय न सूझ पड़ा ॥ २५ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

बहुत काल तक सोचने पर भी उस सम्बन्ध में महाराज सगर कुछ भी निश्चय न कर सके, अन्त में तेतीस हज़ार वर्षों तक राज्य कर वे स्वर्गवासी हुए ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः ।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम् ॥ १ ॥

महाराज सगर के स्वर्गवासी होने पर, मंत्रियों ने बड़े धर्मात्मा महाराज अंशुमान को राजसिंहासन पर बैठाया ॥ १ ॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान्रघुनन्दन ।
तस्य पुत्रो महानासीदिलीप इति विश्रुतः ॥ २ ॥

हे रघुनन्दन ! महाराज अंशुमान बड़े प्रतापी राजा हुए । उनके पुत्र जगतप्रसिद्ध महाराज दिलीप हुए ॥ २ ॥

तस्मिन्राज्यं समावेश्य दिलीपे रघुनन्दन ।
हिमवच्छिखरे पुण्ये तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ ३ ॥

महाराज अंशुमान ने अपने पुत्र दिलीप को राजसिंहासन पर विठा कर, स्वयं हिमालय के शिखर पर जा कठोर तप किया ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशच्च सहस्राणि वर्षाणि सुमहायशाः ।
तपोवनं गतो राम स्वर्गं लेभे महायशाः ॥ ४ ॥

अन्त में वत्तीस हज़ार वर्ष तप करने के वाद वे महायश्वी महाराज अंशुमान भी स्वर्गवासी हुए (किन्तु गङ्गा नहीं आईं) ॥ ४ ॥

दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम् ।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाधिगच्छति ॥ ५ ॥

महाराज दिलीप अपने पितामहों के वध का वृत्तान्त जान कर मर्माहत हुए, किन्तु (श्रीगङ्गा जी के लाने का) कोई उपा। वे भी निश्चय न कर सके ॥ ५ ॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया ।
तारयेयं कथं चैनानिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६ ॥

वे नित्य ही सोचा करते कि, श्रीगङ्गा जी किस प्रकार आवें, पितामहों की (उनके जल से) जलक्रिया कैसे की जाय और हम उनको किस प्रकार तारें ॥ ६ ॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः ।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा सुप्रसिद्ध महाराज दिलीप नित्य ऐसा सोचा करते कि, इतने में उनके परमधार्मिक भगीरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ ८ ॥

महाराज दिलीप ने बहुत यज्ञ किये और तीस हज़ार वर्ष राज्य भी किया ॥ ८ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति ।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ९ ॥

महाराज (भी) पितरों के उद्धार के लिये चिन्तित थे कि, इतने में नरशार्दूल दिलीप बीमार हुए और मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा ।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः ॥ १० ॥

अपने पुण्यकर्मों के फल से दिलीप स्वर्ग गये और अपने सामने ही नरश्रेष्ठ महाराज अपने पुत्र भगीरथ को राजसिंहासन पर बिठा गये ॥ १० ॥

भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन ।
अनपत्यो महातेजाः प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! महाराज भगीरथ परमधार्मिक राजर्षि थे, और निस्सन्तान होने से वे सन्तान होने की इच्छा करते थे ॥ ११ ॥

मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं गङ्गावतरणे रतः ।
स तपो दीर्घमातिष्ठद्गोकर्णे रघुनन्दन ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन ! जब उनके पुत्र न हुआ, तब राज्यभार अपने मंत्रियों को सौंप, वे स्वयं गोकर्ण नामक तीर्थ पर जा, गङ्गावतरण के लिये बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे ॥ १२ ॥

ऊर्ध्ववाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः ॥ १३ ॥

वे ऊपर को हाथ उठाये रखते, पञ्चाग्नि तापते, महीनों बाद किसी एक दिन भोजन करते और इन्द्रियों को वश में रखते। इस प्रकार एक हज़ार वर्ष तक वे कठोर तप करते रहे ॥ १३ ॥

अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः ।
सुप्रीतो भगवान्ब्रह्मा प्रजानां पतिरीश्वरः ॥ १४ ॥

हे महाबाहो ! एक हज़ार वर्ष बीतने पर लोकों के स्वामी और प्रभु ब्रह्मा जी भगीरथ पर सुप्रसन्न हुए ॥ १४ ॥

ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः ।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

और देवताओं को साथ ले वे तपस्या में लगे हुए, महात्मा भगीरथ के पास जा कर बोले ॥ १५ ॥

भगीरथ महाभाग प्रीतस्तेऽहं जनेश्वर ।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत ॥ १६ ॥

हे महाराज भगीरथ ! तुमने बड़ी कठिन तपस्या की, अतः हम तुम पर प्रसन्न हैं, हे सुव्रत ! वर माँगो ॥ १६ ॥

तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम् ।
भगीरथो महाभागः कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥ १७ ॥

यह सुन, महातेजस्वी भगीरथ ने हाथ जोड़ कर ब्रह्मा जी से कहा ॥ १७ ॥

यदि मे भगवन्प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम् ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मेरे तप का फल देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि सगर के पुत्रों को मेरे द्वारा गङ्गाजल प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम् ।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

क्योंकि हमारे महात्मा परदादे तभी स्वर्गवासी होंगे, जब उनकी राख गङ्गा जल से भींगेगी अर्थात् उनको राख गङ्गा जी में [illegible]ेंगी ॥ १६ ॥

देया च सन्ततिर्देव नावसीदेत्कुलं च नः ।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥

हे देव ! दूसरा वर मैं यह माँगता हूँ कि, मेरा इक्ष्वाकुवंश नष्ट न हो । इसलिये मुझे सन्तान भी दीजिये । यह मैं दूसरा वर चाहता हूँ । ॥ २० ॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः ।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥

महाराज भगीरथ के ये वाक्य सुन, सर्वलोकपितामह ब्रह्मा यह मधुर एवं शुभ वाणी बोले ॥ २१ ॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥

हे महारथी भगीरथ ! तेरा मनोरथ है तो बड़ा, किन्तु वह पूर्ण होगा अर्थात् तुझे पुत्र की प्राप्ति होगी । हे इक्ष्वाकुकुलवर्धन ! तुम्हारा मङ्गल हो ॥ २२ ॥

इयं हैमवती गङ्गा ज्येष्ठा हिमवतः सुता ।
गङ्गायाः पतनं राजन्पृथिवी न सहिष्यति ।
तां वै धारयितुं वीर नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥ २३ ॥

हिमालय की ज्येष्ठा पुत्री यह गङ्गा जी जब (बड़े वेग से) पृथिवी पर गिरेंगी, तब इनका वेग पृथिवी न सम्हाल सकेगी ।

उनके वेग को सम्हाल सकने की सामर्थ्य शिव जी को छोड़ और किसी में नहीं है ॥ २३ ॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत् ।
जगाम त्रिदिवं देवः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥ २४ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जी महाराज भगीरथ और गङ्गा जी से कह कर, देवताओं सहित स्वर्गलोक को गये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का ब्यालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

देवदेवे गते तस्मिन्सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम् ।
कृत्वा वसुमतीं राम संवत्सरमुपासत ॥ १ ॥

ब्रह्मा जी के चले जाने के बाद महाराज भगीरथ ने पैर के अंगूठे के सहारे खड़े हो कर एक वर्ष तक शिव जी की उपासना की ॥ १ ॥

ऊर्ध्ववाहुर्निरालम्बो वायुभक्षो निराश्रयः ।
अचलः स्थाणुवत्स्थित्वा रात्रिदिवमरिन्दम ॥ २ ॥

हे अरिन्दम ! भगीरथ जी ऊपर को बाहु किये निरालम्ब, वायु पी कर विना आश्रय, खंभे की तरह अचल हो, रात दिन खड़े रहे ॥ २ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः ।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

जब एक वर्ष पूरा हुआ तब सर्व-लोक-नमस्कृत उमापति महादेव जी ने भगीरथ से यह कहा ॥ ३ ॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम् ।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! हम तेरे ऊपर प्रसन्न हैं और जो तू चाहेगा सो हम तेरे लिये करेंगे । हम श्रीगङ्गा जी को अपने सिर पर धारण करेंगे ॥ ४ ॥

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता ।
तदा सरिन्महद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥ ५ ॥

तब सब लोकों के नमस्कार करने योग्य गङ्गा जी, महद्रूप धारण कर और दुःसह वेग के साथ ॥ ५ ॥

आकाशादपतद्राम शिवे शिवशिरस्युत ।
अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गां परमदुर्धरा ॥ ६ ॥

आकाश से शिव जी के मस्तक पर गिरीं । (और गिरते समय) परम दुर्धरा गङ्गा देवी ने सोचा कि, ॥ ६ ॥

विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शङ्करम् ।
तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान्हरः ॥ ७ ॥

मैं अपनी धार के साथ महादेव जी को वहा कर पाताल ले जाऊँगी । गङ्गा देवी के इस अभिमान भरे विचार को जान कर, भगवान् श्रीमहादेव जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ ७ ॥

तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिणयनस्तदा ।
सा तस्मिन्पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ८ ॥

हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे ।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद्यत्नमास्थिता ॥ ९ ॥

और उनको अपने जटाजूट ही में छिपा रखना चाहा । हिमाचल के समान और जटामण्डल रूपी गुफा वाले शिव जी के पवित्र मस्तक पर श्रीगङ्गा जी गिरीं और अनेक उपाय करने पर भी जटाजूट से निकल पृथिवी पर न जा सकीं ॥ ८ ॥ ९ ॥

नैव निर्गमनं लेभे जटामण्डलमोहिता ।
तत्रैवावंभ्रमद्देवी संवत्सरगणान्बहून ॥ १० ॥

वे शिव जी के जटाजूटों में कितने ही वर्षों तक घूमा कीं और वाहिर न निकल सकीं ॥ १० ॥

तामपश्यन्पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।
अनेन तोषितश्चाभूदत्यर्थं रघुनन्दन ॥ ११ ॥

हे रघुनन्दन ! गङ्गा जी को न देख, महाराज भगीरथ ने फिर कठोर तप किया और तप द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

विससर्ज ततो गङ्गां हरो विन्दुसरः प्रति ।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ १२ ॥

और श्रीगङ्गा जी को हिमालय पर्वत पर स्थित विन्दुसर में छोड़ा । छोड़ते ही गङ्गा जी की सात धाराएँ हो गयीं ॥ १२ ॥

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथाऽपरा ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥१३॥

ह्लादिनी- पावनी और नलनी गङ्गा जी की ये तीन कल्याण-कारिणी धाराएँ उस सर से पूर्व की ओर बहीं ॥ १३ ॥

सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रस्त्वेता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु शुभोदकाः ॥१४॥

श्रीगङ्गा जी के शुभ जल की सुचक्षु, सीता और सिन्धु नाम की तीन धाराएँ पश्चिम की ओर बहीं ॥ १४ ॥

सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथमथो नृपम् ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥१५॥

सातवीं धार महाराज भगीरथ के रथ के पीछे पीछे चली। राजर्षि भगीरथ एक सुन्दर रथ में बैठे हुए ॥ १५ ॥

प्रायाद्ग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छङ्करशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १६ ॥

आगे आगे चले जाते थे और उनके पीछे पीछे श्रीगङ्गा जी चली जाती थीं। आकाश से श्रीमहादेव जी के मस्तक पर और उनके मस्तक से श्रीगङ्गा जी धरणीतल पर आयीं ॥ १६ ॥

व्यसर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसंघैश्च शिंशुमारगणैस्तथा ॥ १७ ॥
पतद्भिः पतितैश्चान्यैर्व्यरोचत वसुन्धरा ।
ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षाः सिद्धगणास्तथा ॥ १८ ॥

उनके पृथिवी पर गिरते ही बड़ा शब्द हुआ और मछलियों, कछुए, सूँस आदि जलजन्तुओं के झुँड के झुँड गङ्गा जी को के साथ गिरते पड़ते चले जाते थे। जिधर श्रीगङ्गा जी जाती उधर की भूमि सुशोभित हो जाती थी। देव, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण ॥ १७ ॥ १८ ॥

व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद्गां गतां तदा ।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥ १९ ॥

आकाश से पृथिवी पर आई हुई श्रीगङ्गा जी को देखने के लिये उत्तम नगराकार विमानों, हाथियों और घोड़ों पर सवार हो कर आये हुए थे ॥ १९ ॥

पारिप्लवगतैश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः ।
तदद्भुततमं लोके गङ्गापतनमुत्तमम् ॥ २० ॥

श्रीगङ्गा जी के पृथिवीतल पर अत्यन्त अद्भुत अवतरण को देखने के लिये देवता लोग परिप्लव नामक विमानों पर बैठे हुए थे ॥ २० ॥

दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः ।
संपतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा ॥ २१ ॥

देखने के लिये आये हुए प्रधान देवता जिस समय आकाश से उतरते थे, उस समय उनके आभूषणों की प्रभा से ॥ २१ ॥

शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम् ।
शिंशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः ॥ २२ ॥

निर्मल मेघशून्य आकाश ऐसा सुशोभित जान पड़ता था मानों आकाश में सैकड़ों सूर्य निकल रहे हों। बीच बीच में सूसों और चञ्चल मछलियों के झुँड जो ॥ २२ ॥

विद्युद्भिरिव विक्षिप्तमाकाशमभवत्तदा ।
पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः क्षीर्यमाणैः सहस्रधा ॥ २३ ॥

(जो जल के वेग से ऊपर को) उछाले जाते थे, वे ऐसे जान पड़ते थे, मानों आकाश में बिजली चमकती हो और जल में उठे हुए सफेद सफेद फेन जो इधर उधर जगह जगह छितरा गये थे ॥ २३ ॥

शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससंयुतैः ।
क्वचिद्द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम् ॥ २४ ॥

ऐसी शोभा दे रहे थे मानों हंसों के झुँडों से युक्त और इधर उधर बिखरे हुए शरत्कालीन मेघ आकाश को सुशोभित कर रहे हों ॥ २४ ॥

विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद्याति शनैः शनैः ।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः ॥ २५ ॥

मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधातलम् ।
व्यराजत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ॥ २६ ॥

भागीरथी की धार का जल कहीं ऊँचा, कहीं टेढ़ा, कहीं फैलता हुआ और कहीं ठोकर खाकर उछलता हुआ धीरे धीरे बहता था और कहीं कहीं तो जल, जल ही से टकरा कर बार बार ऊपर को उछलता और फिर ज़मीन पर गिर पड़ता था। इस प्रकार वह निर्मल और पापहारी जल सुशोभित हो रहा था ॥ २५ ॥ २६ ॥

तत्र देवर्षिगन्धर्वा वसुधातलवासिनः ।
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ॥ २७ ॥

वहाँ पर देव ऋषि, गन्धर्व और वसुधातलवासी लोगों ने उस शिव जी की जटा से गिरे हुए पवित्र जल को छुआ ॥ २७ ॥

शापात्प्रपतिता ये च गगनाद्वसुधातलम् ।
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ॥ २८ ॥

जो लोग शापवश ऊपर के लोकों से भूलोक में आये हुए थे, वे इस जल में स्नान कर पापों से छूट गये ॥ २८ ॥

धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ सुभास्वता ।
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान्प्रतिपेदिरे ॥ २९ ॥

और पापों से छूट और तेज युक्त हो आकाशमार्ग से पुनः अपने अपने लोकों को चले गये ॥ २९ ॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ।
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव विगतक्लमः ॥ ३० ॥

जहां गङ्गा जी जातीं वहां वहाँ के मनुष्य श्रीगङ्गा जी में स्नान कर के निष्पाप हो जाते थे ॥ ३० ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ।
प्रायादग्रे महातेजास्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात् ॥ ३१ ॥

राजर्षि भगीरथ भी एक दिव्य रथ में बैठे हुए आगे आगे चले जाते थे और श्रीगङ्गा जी उनके पीछे पीछे वही चली जाती थीं ॥ ३१ ॥

देवाः सर्षिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ३२ ॥

सर्वाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाम् ।
गङ्गामन्वगमन्प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ॥ ३३ ॥

हे राम ! सब देवता, ऋषिगण, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, बड़े बड़े सर्प तथा अप्सराएँ महाराज भगीरथ के पीछे पीछे जा रही थीं और समस्त जलचर जीव प्रसन्न हो श्रीगङ्गा जी के पीछे चले जाते थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ।
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापविनाशिनी ॥ ३४ ॥

जिधर महाराज भगीरथ जाते थे उधर ही यशस्विनी, सब पाप नाश करने वाली तथा नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा जी भी जा रही थीं ॥ ३४ ॥

ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः ।
गङ्गा संप्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ॥ ३५ ॥

चलते चलते श्रीगङ्गा जी वहाँ पहुँचीं, जहाँ अद्भुत कर्म करने वाले जह्नु नामक महर्षि यज्ञ कर रहे थे । वहाँ श्रीगङ्गा जी ने सब सामान सहित उनकी यज्ञशाला बहा दी ॥ ३५ ॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव ।
अपिबच्च जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ॥ ३६ ॥

हे राम ! तब तो श्रीगङ्गा जी का ऐसा गर्व देख, जन्हुऋषि कुपित हुए और ऐसा चमत्कार दिखलाया कि, वे गङ्गा के समस्त जल को पी गये ॥ ३६ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ।
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ॥ ३७ ॥

महात्मा जन्हु का यह प्रभाव देख देवता, गन्धर्व, ऋषि गण आदि बड़े विस्मित हुए और पुरुषों में श्रेष्ठ महात्मा जन्हु की स्तुति करने लगे ॥ ३७ ॥

गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ।
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत्पुनः ॥ ३८ ॥

और बोले, आज से श्रीगङ्गा आपकी बेटी कहलायेगी । (आप उसे छोड़ दीजिये) इस पर प्रसन्न हो महातेजस्वी जन्हु ने दोनों कानों की राह से जल को निकाल दिया ॥ ३८ ॥

तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ।
जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ॥ ३९ ॥

तब से ही जन्हुसुता श्रीगङ्गा जाह्नवी कहलाती हैं । उसी प्रकार श्रीगङ्गा फिर भगीरथ के रथ के पीछे होलीं ॥ ३९ ॥

सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ।
रसातलमुपागच्छत्सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ॥ ४० ॥

और चलते चलते नदियों में श्रेष्ठ श्रीगङ्गा समुद्र में जा पहुँचीं और फिर वे भगीरथ की कार्यसिद्धि के लिये रसातल गयीं ॥ ४० ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्गङ्गामादाय यत्नतः ।
पितामहान्भस्मकृतानपश्यद्दीनचेतनः ॥ ४१ ॥

राजर्षि भगीरथ बड़े यत्न के साथ श्रीगङ्गा जी को साथ ले गये और दुःखी मन से अपने पुरखों के भस्म रूप शरीर की राख का ढेर देखा ॥ ४१ ॥

अथ तद्भस्मनां राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयद्धूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४२ ॥

इति निचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रघुनन्दन ! श्रीगङ्गा जी का पवित्र जल ज्योंही भगीरथ के पुरुषों की भस्म के ढेर पर पड़ा, त्योंही वे सब निष्पाप हो स्वर्ग में पहुँच गये ॥ ४२ ॥

बालकाण्ड का तैंतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

[नोट—तैंतालीसवें सर्ग में सगर के पुत्रों की सद्गति का वृत्तान्त संक्षेप में कहा था, इस सर्ग में उसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है ।]

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयाऽनुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥ १ ॥

महाराज श्रीगङ्गा जी के साथ समुद्रतट पर पहुँचे और वहाँ से वे पाताल में वहाँ गये, जहाँ पर (महाराज सगर के पुत्र) भस्म किये गये थे ॥ १ ॥

भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

हे राम ! उस भस्म पर गङ्गाजल के पड़ने से सब लोकों स्वामी ब्रह्मा जी ने भगीरथ से यह कहा ॥ २ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

हे नरशार्दूल ! महात्मा सगर के साठ हज़ार पुत्रों को आपने तार दिया । वे देववत् स्वर्ग को गये ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोके यावत्स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजास्तावत्स्वर्गे स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

हे राजन् ! जब तक सागर में एक बूँद भी जल रहैगा, तब तक महाराज सगर के पुत्र देवताओं की तरह स्वर्ग में वास करेंगे ॥ ४ ॥

इयं हि दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥५॥

यह श्रीगङ्गा तुम्हारी ज्येष्ठा कन्या होगी और तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध हो कर भूलोक में रहैगी ॥ ५ ॥

गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्याभगीरथीति च ।
पितामहानां सर्वेषां त्वमेव मनुजाधिप ॥ ६ ॥
कुरुष्व सलिलं राजन्प्रतिज्ञामपवर्जय ।
पूर्वकेण हि ते राजंस्तेनातियशसा तदा ॥ ७ ॥

धर्मिणां प्रवरेणापि नैष प्राप्तो मनोरथः ।
तथैवांशुमता तात लोकेऽप्रतिमतेजसा ॥ ८ ॥
गङ्गां भार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ।
राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ॥ ९ ॥

इसके तीन नाम होंगे, श्रीगङ्गा, त्रिपथगा और भागीरथी। तीन पथ पर चलने वाली होने के कारण यह त्रिपथगा कहलायी है। हे राजन्! अब तुम अपने सब पितरों का तर्पण करो और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। अत्यन्त यशस्वी महाराज सगर ने यह मनोरथ पूरा न कर पाया और अमित तेज वाले अंशुमान ने भी श्रीगङ्गा के लाने की प्रार्थना की, पर उनकी प्रतिज्ञा भी पूरी नहीं हो सकी। राजर्षियों में गुणवान् और महर्षियों के समान ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मे स्थितेन च ।
दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ॥ १० ॥

तपस्या में हमारे तुल्य और क्षत्रीधर्म प्रतिपालक अति तेजस्वी तुम्हारे पिता महाभाग दिलीप ने ॥ १० ॥

पुनर्न शङ्किता नेतुं गङ्गां प्रार्थयताऽनघ ।
सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ॥ ११ ॥

श्रीगङ्गा की प्रार्थना की, पर वे भी ला न सके; किन्तु हे पुरुषोत्तम! तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की ॥ ११ ॥

प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसंमतम् ।
यच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिन्दम ॥ १२ ॥

हे शत्रुहन्ता ! तुम्हें वड़ा यश मिला, क्योंकि तुम श्रीगङ्गा : लाये ॥ १२ ॥

अनेन च भवान्प्राप्तो धर्मस्यायतनं महत् ।
प्लावयस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोचिते ॥ १३ ॥

इस कार्य से आप धर्म के परमस्थान में पहुँच गये। हे नरोत्तम ! अब तुम भी सदा स्नान करने योग्य इन श्रीगङ्गा जी में स्नान करो ॥ १३ ॥

सलिले पुरुषव्याघ्र शुचिः पुण्यफलो भव ।
पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलक्रियाम् ॥ १४ ॥

और हे पुरुषसिंह ! पवित्र हो कर पुण्यफल प्राप्त करो। तथा अपने समस्त पुरखों का तर्पण करो ॥ १४ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि स्वं लोकं गम्यतां नृप ।
इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ॥ १५ ॥

यथाऽऽगतं तथागच्छद्देवलोकं महायशाः ।
भगीरथोऽपि राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। अब हम अपने लोक को जाते हैं, तुम भी अपनी राजधानी को जाओ। यह कह कर देवेश महायशस्वी ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये। राजर्षि भगीरथ ने भी श्रीगङ्गा जल से ॥ १५ ॥ १६ ॥

यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः ।
कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ १७ ॥

यथाविधि महायशस्वी सगरपुत्रों का तर्पण कर और पवित्र हो, अपनी राजधानी में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

समृद्धार्थो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ।
प्रमुमोद च लोकस्तं नृपमासाद्य राघव ॥ १८ ॥

और सब प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए राजा भगीरथ राज्य करने लगे। हे राघव! भगीरथ के पुनः राज्यशासन की बागडोर अपने हाथ में लेने से प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥ १८ ॥

नष्टशोकः समृद्धार्थो बभूव विगतज्वरः ।
एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ॥ १९ ॥

सब लोगों का दुःख दूर हो गया, सब की चिन्ता मिट गयी और सब धन धान्य से भरे पूरे हो गये। हे राम! यह मैंने तुमसे श्रीगङ्गावतरण की कथा विस्तार पूर्वक कही ॥ १९ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते सन्ध्याकालोऽतिवर्तते ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यमतीव च ॥ २० ॥

तुम्हारा मङ्गल हो। अब सन्ध्योपासन का समय हो चुका है, सन्ध्योपासन कीजिये। धन, धान्य, यश, आयु, पुत्र और स्वर्ग का देने वाला यह चरित्र ॥ २० ॥

यः श्रावयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ।
प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते दैवतानि च ॥ २१ ॥

जो कोई ब्राह्मण क्षत्रिय आदि को सुनाता, है उस पर पितर और देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २१ ॥

इदमाख्यानमव्यग्रो गङ्गावतरणं शुभम् ।
यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्त्तिश्च वर्धते ॥ २२ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रामचन्द्र ! इस श्रीगङ्गावतरण की शुभ कथा को जो कोई स्थिर चित्त हो सुनता है, उसकी सब मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसकी आयु और कीर्त्ति की वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी की बातें सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विश्वामित्र जी से कहने लगे ॥ १ ॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन्कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने श्रीगङ्गा जी का अवतरण और श्रीगङ्गाजल से समुद्र के पूर्ण होने का आख्यान तो बड़ा अद्भुत सुनाया ॥ २ ॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा सह सौमित्रिणा तदा ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्रकथां शुभाम् ॥ ३ ॥

इस कथा को सुनते सुनते वह रात बात की बात में बीत गई अर्थात् मालूम ही न पड़ी कि, कब बीती, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण सहित वह सारी रात उक्त उपाख्यान के चिन्तमन करने ही में व्यतीत की ॥ ३ ॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं महामुनिम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिन्दमः ॥ ४ ॥

जब विमल प्रातःकाल हो गया, तब श्रीरामचन्द्र जी आन्हिक कर्म कर चुकने पर, विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४ ॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं महातपः ॥ ५ ॥

हे महर्षि ! रात तो शुभ कथा के सुनने में व्यतीत हुई। हम लोगों को रात्रि क्षण के समान जान पड़ी ॥ ५ ॥

इमां चिन्तयतः सर्वां निखिलेन कथां तव ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥

अब आइये आप की कथित समस्त कथा का चिन्तमन करते हुए नदियों में श्रेष्ठ और पुण्य देने वाली त्रिपथगा श्रीगङ्गा जी को पार करें ॥ ६ ॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥ ७ ॥

आपको आया हुआ जान सुख से पार करने वाली ऋषियों की यह सजी सजाई (अर्थात् जिसमें अच्छा बिछौना आदि बिछा हुआ था) नाव भी बहुत जल्द आ गयी है ॥ ७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सन्तारं कारयामास सर्षिसङ्घः सराघवः ॥ ८ ॥

महात्मा श्रीराम के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने मल्लाहों को बुलाया और ऋषिगण एवं राजकुमारों के साथ वे सब श्रीगङ्गा के पार हुए ॥ ८ ॥

उत्तरं तीरमासाद्य संपूज्यर्षिगणं तदा ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥ ९ ॥

श्रीगङ्गा जी के दूसरे तट पर पहुँच कर, ऋषियों का सत्कार कर वे सब श्रीगङ्गा के तट पर बैठ कर सुस्ताने लगे और उन लोगों ने वहां से विशाला नाम्नी एक नगरी को देखा ॥ ९ ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥१०॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी वहां से तुरन्त दोनों राजकुमारों सहित, इन्द्रपुरी के समान अति सुन्दर विशाला नगरी में गये ॥ १० ॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥११॥

तब उस समय महाप्राज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से विशाला पुरी का इतिहास पूँछा ॥ ११ ॥

कतरो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

हे महर्षे ! आपका मङ्गल हो । अब बतलाइये कि इस पुरी में किस वंश का राजा राज्य करता है । यह जानने के लिये मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है ॥ १२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः ।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालस्य पुरातनम् ॥ १३ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी, श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, विशाला पुरी का पुरातन इतिहास कहने लगे ॥ १३ ॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः शुभाम् ।
अस्मिन्देशे तु यद्वृत्तं तदपि शृणु राघव ॥ १४ ॥

हे राम ! इस देश के सम्बन्ध में इन्द्र से मैंने जो वृत्तान्त सुना है उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥ १४ ॥

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभाग वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥

पहले सतयुग में दिति के महाबली पुत्र (दैत्य) और अदिति के भाग्यवान् और अत्यन्त धर्मात्मा पुत्र (देवता) हुए ॥ १५ ॥

ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
अमरा अजराश्चैव कथं स्याम निरामयाः ॥ १६ ॥

उन महात्मा बुद्धिमानों की यह इच्छा हुई कि, कोई ऐसा उपाय हो, जिससे हम लोग अजर, अमर और निरामय हो जावें, अर्थात्

रोग, मृत्यु और बुढ़ापे के कष्टों से हम सदा के लिये छुट्टी पा जावें ॥ १६ ॥

तेषां चिन्तयतां राम बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै ॥ १७ ॥

सोचते सोचते उन लोगों ने यह उपाय (ढूँढ़कर) निकाला कि, हम लोग क्षीरसमुद्र को मथें जिससे हमको अमृत मिले ॥ १७ ॥

ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥ १८ ॥

ऐसा निश्चय कर वासुकि नाग को मन्थन की डोरी और मन्दराचल को मन्थनदण्ड (रई) बना, वे महापराक्रमी देवता समुद्र को मथने लगे ॥ १८ ॥

अथ वर्ष सहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च ।
वमन्त्यति विषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

हज़ार वर्ष तक मथने पर वासुकि विष उगलने लगे और (मन्दराचल की) शिलाओं को दांतों से काटने लगे ॥ १९ ॥

उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम् ।
तेन दग्धं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ २० ॥

उससे अग्नि के समान हलाहल नाम का महाविष उत्पन्न हुआ और देव असुर तथा मनुष्यों सहित सारे संसार को जलाने लगा ॥ २० ॥

अथ देवा महादेवं शङ्करं शरणार्थिनः ।
जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहित्राहीति तुष्टुवुः ॥ २१ ॥

तब सब देवता महादेव अर्थात् श्रीशङ्कर जी के शरण में गये और "त्राहि त्राहि" (अर्थात् बचाइये बचाइये) कह कर उनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

एवं मुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः ।
प्रादुरासीत्ततोऽत्रैव शङ्खचक्रधरो हरिः ॥ २२ ॥

देवताओं के इस आर्त्तनाद को सुन देवदेव महादेव जी तथा शङ्खचक्रधारी श्रीहरि वहीं प्रकट हुए ॥ २२ ॥

उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलभृतं हरिः ।
दैवतैर्मथ्यमानं तु यत्पूर्वं समुपस्थितम् ॥ २३ ॥

त्रिशूल धारण किये हुए श्रीमहादेव जी से भगवान् विष्णु ने हँस कर कहा कि, देवताओं के (समुद्र) मथने पर जो वस्तु सर्व प्रथम निकली है ॥ २३ ॥

तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रजोसि यत् ।
अग्रपूजामिमां मत्वा गृहाणेदं विषं प्रभो ॥ २४ ॥

उसे हे सुरश्रेष्ठ ! आप ग्रहण कीजिये ; क्योंकि आप देवताओं के अगुआ हैं, अतः आप इसे अपनी अग्रपूजा जान कर, इस विष को ग्रहण कीजिये ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत ।
देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः ॥२५॥

यह कह कर सुरश्रेष्ठ भगवान् विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये । तब देवताओं का कष्ट देख और भगवान् विष्णु के वचन सुन ॥ २५ ॥

हालाहलविषं घोरं स जग्राहामृतोपमम् ।
देवान्विसृज्य देवेशो जगाम भगवान्हरः ॥ २६ ॥

भगवान् शिव उस महाविष को अमृत की तरह पी ग... तदनन्तर देवताओं को छोड़ महादेव जी कैलास को लौट गये ॥ २६ ॥

ततो देवा सुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन ।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोनघ ॥ २७ ॥

हे रघुनन्दन ! देवता और दैत्य पुनः समुद्र मथने लगे । किन्तु मन्थनदण्ड मन्दराचल धीरे धीरे पाताल की ओर अर्थात् (नीचे की ओर जाने (खसकने) लगा ॥ २७ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ।
त्वंगतिः सर्वभूतानाम् विशेषेण दिवौकसाम् ॥ २८ ॥

तब देवता और गन्धर्व मिल कर भगवान् विष्णु की स्तुति कर कहने लगे, वे बोले—हे भगवन् ! आप सब प्राणियों के स्वामी हैं और विशेष कर देवताओं के तो आप सर्वस्व ही है ॥ २८ ॥

पालयास्मान्महावाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि ।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥ २९ ॥

अतः हे महावाहो ! आप हम सब की रक्षा कीजिये और नीचे जाते हुए मन्दराचल को उठाइये । यह सुन कर भगवान् विष्णु ने कच्छप का रूप धारण किया ॥ २९ ॥

पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः ।
पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशव ॥ ३० ॥

भगवान् ने जल में जा मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किये और उसके आगे के सिरे को अपने हाथ से थाम, ॥ ३० ॥

देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तम ।
अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान् ॥ ३१ ॥

देवताओं के बीच खड़े हो कर भगवान् पुरुषोत्तम समुद्र मथने लगे । एक हज़ार वर्ष इस प्रकार समुद्र का मंथन करने के बाद आयुर्वेद के आचार्य ॥ ३१ ॥

उदतिष्ठत्स धर्मात्मा सदण्डं सकमण्डलुः ।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा धन्वन्तर जी हाथों में दण्ड कमण्डलु लिये हुए निकले । हे राम ! तदनन्तर सुन्दर अप्सराएँ निकलीं ॥ ३२ ॥

अप्सु निर्मथनादेव रसस्तस्माद्वरस्त्रियः ।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उनका नाम अप्सरा इसलिये पड़ा कि, अप अर्थात् जल और सर अर्थात् निकलीं । अर्थात् जो जल से निकली हों । हे राम ! जल से निकलने के कारण वे सुन्दर स्त्रियां अप्सरा कहलायीं ॥ ३३ ॥

षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम् ।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः ॥३४॥

हे राम ! ये सुन्दरी अप्सराओं की संख्या साठ हज़ार थी और उनकी दासियों की संख्या तो इतनी अधिक थी कि, उसकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् वे असंख्य थीं ॥ ३४ ॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः ।
अप्रतिग्रहणात्ताश्च सर्वाः साधारणाः स्मृताः ॥३५॥

उनको, न तो देवताओं ने और न दैत्यों ने ही लेना पसंद किया । अतः जब उन्हें किसी ने लेना स्वीकार न किया तब वे साधारण स्त्रियाँ (अर्थात् सर्वसाधारण की सम्पत्ति (Public-women) कहलायीं ॥ ३५ ॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम् ॥ ३६ ॥

हे रघुनन्दन ! तदनन्तर वरुणदेव की कन्या वारुणी उत्पन्न हुई और अपने ग्रहण करने वाले अर्थात् ग्राहक को खोजने लगी ॥ ३६ ॥

दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥

हे राम ! दिति के पुत्रों ने तो वरुण की बेटी को ग्रहण न किया, किन्तु अदिति के पुत्रों ने उस *अनिन्दित वारुणी यानी सुरा को ग्रहण किया ॥ ३७ ॥

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः ।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन्वारुणीग्रहणात्सुराः ॥ ३८ ॥

---

* रामाभिरामी टीकाकार ने " अनिन्दिताम् " के ऊपर यह टिप्पणी चढ़ाई है:— "अदितिसुताङ्गीकारेहेतुरनिन्दितामिति, निषेधशास्त्रंतुमानुषविषयं, शास्त्रे देवतानाममधिकारात्" ॥

सुरा अर्थात् मदिरा को न ग्रहण करने वाले असुर और ग्रहण करने वाले सुर कहलाये। सुर अर्थात् देवता, सुरा को ग्रहण कर आनन्दित हुए ॥ ३८ ॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम्।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम् ॥ ॥ ३९ ॥

हे राम! फिर उच्चैश्रवा (लंबे कानों वाला अथवा ऊँचा सुनने वाला या बहरा) नाम का घोड़ा, फिर कौस्तुभमणि और तदनन्तर उत्तम अमृत निकला ॥ ३९ ॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत्कुलक्षयः।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितेः पुत्रानमूदयन् ॥ ४० ॥

हे राम! जिसके (अमृत के) कारण दोनों कुल वालों की (सुर असुरों की) बड़ी बरबादी हुई। क्योंकि अदिति के पुत्र, दिति के पुत्रों के साथ (अमृत के लिये) लड़ पड़े ॥ ४० ॥

एकतोऽभ्यागमन्सर्वे ह्यसुरा राक्षसैः सह।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ४१ ॥

सब असुर राक्षसों से मिल गये। हे राम! तीनों लोकों को मोहने वाला सुरों असुरों का घोर युद्ध हुआ ॥ ४१ ॥

यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृतं सोऽहरत्तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥

जब दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गये, तब भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया को फैला कर उनसे अमृत छीन लिया ॥ ४२ ॥

ये गताऽभिमुखं विष्णुमक्षयं पुरुषोत्तमम् ।
संपिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३

अविनाशी भगवान् विष्णु का जिसने सामना किया उन सब को भगवान् विष्णु ने मार डाला ॥ ४३ ॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान्निजघ्निरे ।
तस्मिन्युद्धे महाघोरे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥ ४४ ॥

इस देवता और दैत्यों के घोर संग्राम में अदित के पुत्रों ने अर्थात् देवताओं ने दिति के पुत्रों को अर्थात् असुरों को छिन्न भिन्न कर दिया । अर्थात् इस युद्ध में दैत्य बहुत से मारे गये ॥ ४४ ॥

निहत्य दितिपुत्रांश्च राज्यं प्राप्य पुरन्दरः ।
शशास मुदितो लोकान्सर्षिसङ्घान्सचारणान् ॥ ४५ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

दिति के पुत्रों अर्थात् असुरों को मार कर इन्द्र ने राज्य पाया और वे ऋषियों और चारणों सहित प्रसन्न हो शासन करने लगे ॥ ४५ ॥

वालकाण्ड का पैतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—: o :—

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता ।
मारीचं कश्यपं राम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

हे राम ! दिति अपने पुत्रों के मारे जाने पर अत्यन्त दुःखी हो मरीच के पुत्र और अपने पति कश्यप से बोली ॥ १ ॥

हतपुत्राऽस्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः ।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपार्जितम् ॥ २ ॥

हे भगवन् ! तुम्हारे बलवान् पुत्रों ने मेरे पुत्रों को मार डाला है । अतः मैं इन्द्र का मारने वाला पुत्र चाहती हूँ, भले ही वह बड़ी तपस्या करने पर ही क्यों न प्राप्त हो ॥ २ ॥

साऽहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि ।
बलवन्तं महेष्वासं स्थितिज्ञं समदर्शिनम् ॥ ३ ॥

मैं तपस्या करूँगी आप मुझे ऐसा गर्भ दीजिये जिसमें बलवान्, महाविजयी, दृढ़ बुद्धि वाला, समदर्शी ॥ ३ ॥

ईश्वरं शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मारीचः काश्यपस्तदा ॥ ४ ॥

तीनों लोकों का स्वामी और इन्द्र को मारने वाला पुत्र जन्मे । तब दिति के यह वचन सुन, मरीचसुत कश्यप जी, ॥ ४ ॥

प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम् ।
एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने ॥ ५ ॥

जो बड़े तेजस्वी थे, अत्यन्त दुखी दिति से बोले । तेरा कल्याण हो और जैसा तू चाहती है, वैसा ही हो । हे तपोधने ! तू पवित्र हो ॥ ५ ॥

जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहवे ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि ॥ ६ ॥

तू ऐसा ही पुत्र जनेगी जो युद्ध में इन्द्र का मारने वाला होगा। किन्तु यह तभी होगा जब तू पूरे एक हज़ार वर्ष पवित्रता से रहेगी ॥ ६ ॥

पुत्रं त्रैलोक्यभर्तारं मत्तस्त्वं[1] जनयिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना स ममार्ज[2] ताम् ॥७॥

मेरे अनुग्रह से तीनों लोकों का स्वामी पुत्र तेरे उत्पन्न होगा। इस प्रकार कह और दिति को आश्वासन दे ॥ ७ ॥

समालभ्य ततः स्वस्तीत्युक्त्वा स तपसे ययौ ।
गते तस्मिन्नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता ॥ ८ ॥

और उसका पेट हाथ से सुहरा कर तथा उसे आशीर्वाद दे कश्यप जी तपस्या करने चले गये। हे पुरुषोत्तम ! उनके जाने के बाद दिति बहुत प्रसन्न हुई ॥ ८ ॥

कुशप्लवनमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तपस्तस्यां हि कुर्वन्त्यां परिचर्यां चकार ह ॥ ९ ॥
सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा ।
अग्निं कुशान्काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च ॥ १० ॥
न्यवेदयत्सहस्राक्षो यच्चान्यदपि काङ्क्षितम् ।
गात्रसंवहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा ॥ ११ ॥

---

१ मत्तः मदनुग्रहादित्यर्थः (गो०) २ ममार्जेत्याश्वासनप्रकारः (गो०)

और कुशप्लव नामक वन में जा घोर तप करने लगी। हे राम! उसको तप करते देख, इन्द्र बड़ी भक्ति के साथ उसकी सेवा करने लगे। अग्नि, कुश, लकड़ी, फल, मूल आदि जिन जिन वस्तुओं की दिति को आवश्यकता पड़ती, इन्द्र उन्हें बड़ी विनय के साथ ला देते थे और जब तप करने के कारण दिति का शरीर अन्त हो जाता, तब उसका शरीर भी दबाया करते ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह।
अथ वर्षसहस्रे तु दशोने रघुनन्दन ॥ १२ ॥

इन्द्र सदा ही दिति की परिचर्या में लगे रहते थे। हे राम! इस प्रकार करते करते जब एक हज़ार वर्ष पूरे होने में केवल दस वर्ष बाकी रह गये ॥ १२ ॥

दितिः परमसंप्रीता सहस्राक्षमथाब्रवीत्।
याचितेन सुरश्रेष्ठ तव पित्रा महात्मना ॥ १३ ॥
वरो वर्षसहस्रान्ते मम दत्तः सुतं प्रति।
तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर ॥ १४ ॥
अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः।
तमहं त्वत्कृते पुत्रं समाधास्ये जयोत्सुकम् ॥ १५ ॥

तब दिति ने इन्द्र से परम हर्षित हो कर कहा—हे इन्द्र! तुम्हारे पिता ने मुझे माँगने पर एक हज़ार वर्ष बीतने पर पुत्र होने का वर दिया है। सो तप करते करते अब केवल दस वर्ष और शेष रह गये हैं। सो इसके बाद तुम (अपने) भाई को देखोगे। यद्यपि मैं उसे तुम्हें जीतने के लिये उत्पन्न करना चाहती हूँ ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ १५ ॥

त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वरः ।
एवमुक्त्वा दितिः शक्रं प्राप्ते मध्यं दिवाकरे ॥१६॥

तथापि उसके साथ तुम तीनों लोकों को विजय कर राज्य सुख भोगोगे । तुम किसी वात की चिन्ता मत करो । दिति ने इस प्रकार इन्द्र से कहा और इतने में दो पहर हो गया ॥ १६ ॥

निद्रयाऽपहृता देवी पादौ कृत्वाऽथ शीर्षतः ।
दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादतः कृतमूर्धजाम् ॥ १७ ॥
शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च ।
तस्याः शरीरविवरं विवेश च पुरन्दरः ॥ १८ ॥

दिति को नींद आ गयी और वह पैताने की ओर सिर कर उल्टी सो गयी । उसको सिराहने की ओर पैर और पैताने की ओर सिर किये सोती हुई अपवित्र दशा में देख इन्द्र वहुत प्रसन्न हुए और हँसे । फिर वे उसके शरीर में घुस गये ॥ १७ ॥ १८ ॥

गर्भं च सप्तधा राम विभेद परमात्मवान् ।
भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा ॥ १९ ॥

हे राम ! धैर्यवान् इन्द्र ने अपने असंख्य धारों वाले वज्र से गर्भस्थ वालक के शरीर के सात टुकड़े कर डाले ॥ १९ ॥

रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत ।
मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत ॥ २० ॥

इस पर गर्भस्थ वालक जव रोने लगा तव दिति की नींद उचकी । इन्द्र ने गर्भस्थ वालक से कहा, मत रो, मत रो ॥ २० ॥

विभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः ।
न हन्तव्यो न हन्तव्य इत्येवं दितिरब्रवीत् ॥ २१ ॥

न्द्र रोते हुए बालक को भी पुनः काटने लगे । तब दिति इन्द्र से कहने लगी—अरे मत मारे ! मत मारे ! ! ॥ २१ ॥

निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ।
प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत ॥ २२ ॥

इन्द्र माता का कहना मान उदर के बाहिर निकल आये और वज्र सहित हाथ जोड़ कर, वे दिति से कहने लगे ॥ २२ ॥

अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा ।
तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे ।
अभिदं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

हे देवी ! तू पैरों की ओर सिर कर सोई हुई थी । इससे तू अशुचि हो गयी । इस अवसर को पा मैंने अपने मारने वाले के सात टुकड़े कर डाले । इसके लिये तू मुझे क्षमा कर दे ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:※:—

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता ।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाऽब्रवीत् ॥ १ ॥

जब गर्भ के सात टुकड़े हो गये तब दिति बड़ी विकल हुई और दुराधर्ष इन्द्र से बड़ी विनय के साथ बोली ॥ १ ॥

ममापराधाद्गर्भोऽयं सप्तधा विफलीकृतः ।
नापराधोऽस्ति देवेश तवात्र बलसूदन ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! हे बलसूदन ! मेरी भूल से मेरे गर्भ के सात टुकड़े हुए । इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है ॥ २ ॥

प्रियं तु कर्तुमिच्छामि मम गर्भविपर्यये ।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्त्विमे ॥ ३ ॥

यह गर्भ तो बिगड़ ही चुका, किन्तु इस पर भी मैं तुम्हारा और अपना हित चाहती हूँ । अतः ये सात—उनचास पवनों के स्थानपाल हों ॥ ३ ॥

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक ।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः ॥ ४ ॥

दिव्य रूप वाले मेरे ये सातों पुत्र वातस्कन्ध मारुत के नाम से विख्यात हो कर, आकाश में विचरण करें ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथाऽपरः ।
दिवि वायुरिति ख्यातस्तृतीयोऽपि महायशाः ॥ ५ ॥

इनमें से एक ब्रह्मलोक में, दूसरा इन्द्रलोक में और महायशस्वी तीसरा वायु के नाम से आकाश में विचरे ॥ ५ ॥

चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात् ।
संचरिष्यन्ति भ ं ते देवभूता ममात्मजाः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! शेष मेरे चारों पुत्र तुम्हारी आज्ञा के अनुसार देवता बने कर दिशाओं में घूमा करें ॥ ६ ॥

त्वत्कृतेनैव नाम्ना च मारुता इति विश्रुताः ।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ ७ ॥

और ये सब के सब तुम्हारे रखे हुए मारुत नाम से प्रसिद्ध हों। दिति के ये वचन सुन सहस्राक्ष इन्द्र ॥ ७ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं दितिं बलनिषूदनः ।
सर्वमेतद्यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

दिति से हाथ जोड़ कर बोले, तुमने जैसा कहा निश्चय वैसा ही होगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ॥ ८ ॥

विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवभूतास्तवात्मजाः ।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने ॥ ९ ॥

तुम्हारे पुत्र देव रूप हो कर विचरेंगे उस तपोवन में इस प्रकार समझौता कर माता और पुत्र—दोनों ॥ ९ ॥

जग्मुतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम् ।
एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥ १० ॥
दितिं यत्र तपःसिद्धामेवं परिचचार सः ।
इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ११ ॥

हे राम ! कृतार्थ हो स्वर्ग गये। मैंने यही सुना है। हे रामचन्द्र ! यह वही देश है, जहाँ इन्द्र ने तपःसिद्धा माता दिति को

सेवा की थी । हे पुरुषसिंह ! इक्ष्वाकु के परम धार्मिक पुत्र ॥ १० ॥ ११ ॥

अलम्बुसायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ १२ ॥

विशाल ने, जो अलम्बुसा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, यहाँ पर यह विशाला नगरी वसाई ॥ १२ ॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः ।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥ १३ ॥

हे राम ! विशाल का महाबलवान् हेमचन्द्र नामक पुत्र हुआ । फिर हेमचन्द्र के सुचक नामक पुत्र हुआ ॥ १३ ॥

सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः ।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ॥ १४ ॥

हे राम ! सुचन्द्र के धूम्राश्व हुआ और धूम्राश्व के सृञ्जय नाम का पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान्सहदेवः प्रतापवान् ।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १५ ॥

फिर सृञ्जय के वड़ा प्रतापी श्रीमान् सहदेव नाम का पुत्र हुआ । सहदेव का पुत्र कुशाश्व हुआ जो वड़ा धर्मात्मा था ॥ १५ ॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान् ।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

कुशाम्ब के महातेजस्वी और प्रतापी सोमदत्त हुआ। फिर सोमदत्त के काकुत्स्थ नाम का पुत्र हुआ ॥ १६ ॥

तस्य पुत्रो महातेजाः संप्रत्येष पुरीमिमाम् ।
आवसत्परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥ १७ ॥

उसीके महातेजस्वी, परम प्रसिद्ध और दुर्जेय पुत्र राजा सुमति आजकल इस विशाला पुरी में राज्य करते हैं ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १८ ॥

महाराज इक्ष्वाकु की कृपा से विशाला पुरी के समस्त राजा दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी तथा बड़े धर्मिष्ठ होते रहे हैं ॥ १८ ॥

इहाद्य रजनीं राम सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि ॥ १९ ॥

हे राम ! आज की रात हम यहीं पर सुख पूर्वक ठहरेंगे। कल प्रातःकाल पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज जनक जी से भेंट करेंगे ॥ १९ ॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्युद्गच्छन्महायशाः ॥ २० ॥

इस बीच में राजाओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी और महायशस्वी राजा सुमति ने विश्वामित्र जी के आने का समाचार सुना और वे उनकी अगवानी को गये ॥ २० ॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ २१ ॥

उपाध्याय तथा बन्धु बान्धवों के साथ उनका भली भाँति पूजन कर तथा हाथ जोड़ कर कुशलादि पूँछी। तदनन्तर वे विश्वामित्र जी से बोले ॥ २१ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुनिः।
संप्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मया ॥ २२ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे मुनि! आज मैं धन्य हूँ जो आपने मेरे राज्य में पधार कर मुझे दर्शन दिये। मुझसे बढ़ कर धन्य आज और कोई नहीं है ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का सैंतालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

भेंट के अवसर पर परस्पर कुशलप्रश्न के अनन्तर राजा सुमति ने महर्षि विश्वामित्र जी से कहा ॥ १ ॥

इमौ कुमारौ भद्रं[1] ते देवतुल्यपराक्रमौ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ ३ ॥

---

१ दृष्टिदोषमाभूदित्याह—भद्रं तइति (गो०)

यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥ ४ ॥

हे मुने ! (भगवान् करें) इन्हें नज़र न लगे, यह तो बतलाइये कि, ये दोनों कुमार, जो देवताओं के समान पराक्रम वाले हैं, जो गजसिंह शार्दूल और वृषभ के समान चाल चलने वाले हैं, जो कमल जैसे नेत्र वाले हैं, जो खड्ग तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं, जो अश्विनी कुमारों जैसे सुस्वरूप हैं, जो जवानी की सीमा पर पहुँचे हुए हैं, जो देवताओं की तरह निज इच्छानुसार पृथिवीतल पर आये हुए हैं, पांव प्यादे अर्थात् पैदल कैसे और किस लिये यहां आये हैं और किस के पुत्र हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

[नोट—ऊपर राजा सुमति ने राजकुमारों को गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ जैसी चाल चलने वाला बतलाया है अथवा राजकुमारों की चाल की इन चार प्रसिद्ध पराक्रमी जीवों से उपमा दी है । इसका अभिप्राय यहाँ उन्हें आवश्यक जान पड़ता है । श्रीगोविन्दराज जी लिखते हैं (१) "गाम्भीर्यगमने गजतुल्यौ"—गाम्भीर्यगमन में गज के समान गति वाले । (२) परामिभवनार्हगमनेसिंहतुल्यौ"—दूसरे का पराभव करने को जाते समय सिंह के समान गमन करने वाले (३) "भयङ्करगमने शार्दूल तुल्यौ" भयङ्कर चाल चलने में शार्दूल के समान । (४) "सगर्वगमने वृषभ सदृशाविवार्थ" गर्व सहित चलने में साँड़ के समान ।]

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥ ५ ॥

इन दोनों ने इस देश को वैसे ही सुशोभित किया है जैसे सूर्य और चन्द्रमा आकाश को सुशोभित करते हैं । डीलडौल, बातचीत और चेष्टा से ये दोनों समान अर्थात् भाई जान पड़ते हैं ॥ ५ ॥

किमर्थं च नरश्रेष्ठौ संप्राप्तौ दुर्गमे पथि ।
वरायुधधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥

ये दोनों नरश्रेष्ठ वीर, श्रेष्ठ आयुधों को धारण किये हुए, इस दुर्गम मार्ग में किस लिये आये हैं ? मैं इनका पूरा पूरा हाल सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं न्यवेदयत् ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ॥ ७ ॥

सुमति के प्रश्न को सुन, विश्वामित्र ने उनके (राजकुमारों के) सिद्धाश्रम में रहने और राक्षसों के मारने का जो वृत्तान्त था सो सब कहा ॥ ७ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।
अतिथी परमौ प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ ८ ॥

राजा सुमति विश्वामित्र जी के वचन सुन अत्यन्त हर्षित हुए और उन दोनों दशरथनन्दनों को परमपवित्र अतिथि मान ॥ ८ ॥

पूजयामास विधिवत्सत्काराहौं महाबलौ ।
ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ ॥ ९ ॥

उनका विधिवत् पूजन किया और सत्कार करने योग्य दोनों महाबलवानों का अच्छी तरह सत्कार किया । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, राजा सुमति से सत्कार प्राप्त कर ॥ ९ ॥

उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ।
तान्दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम् ॥ १० ॥

एक रात वहां ठहरे। दूसरे दिन मिथिलापुरी को प्रस्थानित हुए, और महाराज जनक की सुन्दरपुरी को देख सब [illegible] ॥ १० ॥

साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन्।
मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः ॥ ११ ॥
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्।
श्रीमदाश्रयसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम् ॥ १२ ॥

"वाह वाह" कह उसकी प्रशंसा करने लगे। श्रीरामचन्द्र जी ने मिथिलापुरी के एक उपवन में एक पुराना, निर्जन किन्तु रमणीक आश्रम देख कर विश्वामित्र जी से पूँछा कि, हे मुने! यह आश्रम तो परम शोभायमान है, परन्तु इसमें कोई ऋषि रहता हुआ नहीं देख पड़ता, सो यह बात क्या है? ॥ ११ ॥ १२ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवन्कस्यायं पूर्व आश्रमः।
तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥१३॥

हे भगवन्! मैं सुनना चाहता हूँ कि, पहले यह किसका आश्रम था? श्रीरामचन्द्र जी का कथन सुन, वाक्यविशारद (बातचीत करने में परम निपुण) ॥ १३ ॥

प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥

* महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जी ने कहा—हे राघव! मैं तुमसे यथार्थ वृत्तान्त कहूँगा उसे तुम सुनो कि, ॥ १४ ॥

यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान्महात्मना ।
गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः ॥ १५ ॥

जिसका यह आश्रम है और जैसे एक महात्मा ने क्रोध से इसे शाप दिया था। हे राम! पूर्वकाल में यह आश्रम गौतम का था ॥ १५ ॥

आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः ।
स चेह तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा ॥ १६ ॥
वर्षपूगाननेकांश्च राजपुत्र महायशः ।
कदाचिद्दिवसे राम ततो दूरं गते मुनौ ॥ १७ ॥

यह देवताओं जैसा आश्रम था और देवता इसकी वन्दना करते थे। इस आश्रम में अहल्या के साथ उन मुनि ने बहुत वर्षों तक तप किया । हे महायशस्वी श्रीराम! किसी दिन गौतमजी कहीं दूर चले गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

तस्यान्तरं विदित्वा तु सहस्राक्षः शचीपतिः ।
मुनिवेषधरोऽहल्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

आश्रम में मुनि को अनुपस्थित देख कर सहस्राक्ष शचीपति इन्द्र ने गौतम का रूप धारण कर अहल्या से कहा ॥ १८ ॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते ।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ १९ ॥

कि कामी पुरुष ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते। हे सुन्दरी! अतः आज हम तेरे साथ मैथुन करना चाहते हैं ॥ १९ ॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन ।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन ! मुनिवेष धारण किये हुए इन्द्र को पहिचान कर भी दुष्टा अहल्या ने प्रसन्नता पूर्वक इन्द्र के साथ भोग किया ॥ २० ॥

अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना ।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २१ ॥

तदनन्तर वह (अहल्या) इन्द्र से बोली, हे इन्द्र ! मेरा मनोरथ पूरा हो गया, अतः हे देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ! यहाँ से अब तुम शीघ्र चले जाओ ॥ २१ ॥

आत्मानं मां च देवेश सर्वदा रक्ष मानद ।
इन्द्रस्तु प्रहसन्वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

हे मानद ! (अर्थात् इज्ज़त बढ़ाने वाले) अपनी और मेरी सदा रक्षा (गौतम से) करते रहिये । इसके उत्तर में इन्द्र ने भी हँस कर यह कहा ॥ २२ ॥

सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम् ।
एवं संगम्य तु तया निश्चक्रामोटजात्ततः ॥ २३ ॥

हे सुश्रोणि (सुन्दर कटि वाली) मैं तेरे साथ भोग करने से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ । मैं अब आनन्द पूर्वक अपने स्थान को जाऊँगा । यह कह इन्द्र अहल्या की कुटी के बाहिर निकले ॥ २३ ॥

स संभ्रमात्त्वरन्राम शङ्कितो गौतमं प्रति ।
गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ॥ २४ ॥

हे राम ! गौतम के भय से इन्द्र उस समय विकल और सशङ्कित थे कि, उन्होंने कुटी में गौतम को प्रवेश करते देखा ॥ [illegible] ॥

देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम् ।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २५ ॥

वे ऋषि, देवों और दानवों से न जीते जाने वाले, तपोबल से युक्त, तीर्थ के जल से भींगे हुए, अग्नि के तुल्य प्रकाशमान् ॥ २५ ॥

गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम् ।
दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विवर्णवदनोऽभवत् ॥ २६ ॥

तथा हवन के लिये लकड़ियाँ और कुश हाथों में लिये हुए थे । उनको देखते ही इन्द्र बहुत डरे और उनका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २६ ॥

अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः ।
दुर्वृत्तं वृत्तसंपन्नो रोषाद्वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

गौतम जी ने, इन्द्र को अपना रूप धारण किये हुए देख और (उनके चेहरे से) यह जान कर कि, वे असत्कर्म कर के जा रहे हैं, क्रोध में भर यह शाप दिया ॥ २७ ॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते ।
अकर्तव्यमिदं तस्माद्विफलस्त्वं[1] भविष्यसि ॥ २८ ॥

अरे दुष्ट ! मेरा रूप बना कर तूने इस अनकरने योग्य काम को किया है अतः तू अण्डकोश रहित अर्थात् नपुंसक हो जा ॥ २८ ॥

---

* विफलः—विगतवृषणः (गो०) अण्डकोष रहित ।

गौतमेनैवमुक्तस्य सरोषेण महात्मना ।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥ २९ ॥

महात्मा गौतम के कुपित हो कर यह शाप देते ही उसी क्षण इन्द्र के दोनों वृषण (अण्डकोश) ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २९ ॥

तथा शप्त्वा स वै शक्रमहल्यामपि शप्तवान् ।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि त्वं निवत्स्यसि ॥ ३० ॥

इस प्रकार इन्द्र को शाप दे, गौतम जी ने अहल्या को भी शाप दिया कि, तू इसी स्थान पर हज़ारों वर्ष तक वास करेगी ॥ ३० ॥

वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी ।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्निवत्स्यसि ॥ ३१ ॥

और तेरा भोजन केवल पवन होगा और कुछ भी न खा सकेगी, (मेरे शाप से) अपनी करनी का फल भोगती हुई भस्म में लोटा करेगी । तू इसी स्थान पर अदृश्य हो कर रहेगी अर्थात् तुझे कोई भी प्राणी नहीं देख सकेगा ॥ ३१ ॥

यदा चैतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥ ३२ ॥

जब इस घोर वन* में महाराज दशरथ के पुत्र अजेय श्रीरामचन्द्र पधारेंगे तब तू पवित्र होगी अर्थात् मेरे इस शाप से मुक्त

---

* अभी तक तो वह स्थान सुरम्य मुनिआश्रम था, किन्तु तब से वह मुनि के शाप से निर्जन वन हो गया ।

होगी अथवा जो तूने यह गर्हित काम किया है, उसके पाप से छूटेगी ॥ ३२ ॥

तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता ।
मत्सकाशे मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥ ३३ ॥

हे दुष्टे ! लोभ और मोह से रहित उनका सत्कार अर्थात् आतिथ्य करने पर, तू अपने पहले शरीर को धारण कर अति प्रसन्न हो मेरे समीप आवेगी ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥ ३४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

इस प्रकार महातेजस्वी गौतमऋषि व्यभिचारिणी अहल्या को शाप दे और इस आश्रम को त्याग कर सिद्धों तथा चारणों से सेवित हिमालय के शिखर पर जा तप करने लगे ॥ ३४ ॥

बालकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—महर्षि वाल्मीकि जी के इस वर्णन से पाठकों को अवगत होगा कि, आदिकाव्य के अनुसार गौतम के शाप से अहल्या का शिला होना और इन्द्र के शरीर में सहस्रभग होना, जैसा कि, लोक में प्रसिद्ध है, समर्थित नहीं होता । अहल्या के शिला बनने की कथा पद्मपुराण में आयी है । वहाँ इस घटना के समर्थन में यह एक श्लोक अवश्य पाया जाता है ।

शापदग्धापुराभर्त्रा राम शक्रापराधतः ।
अहल्याख्याशिलाजज्ञे शतलिङ्गः कृतस्वराट् ॥
लिङ्गशब्देन भगाकारं चिन्हं । स्वराड्इन्द्रः]

—:※:—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोधसः ।
अब्रवीन्नस्तवदनः सर्षिसङ्घान्सचारणान् ॥ १ ॥

गौतमऋषि के शाप से नपुंसकत्व को प्राप्त हुए एवं उदास मन इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं, सिद्धों, गन्धर्वों और चारणों से बोले ॥ १ ॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः ।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥ २ ॥

महात्मा गौतम की तपस्या में विघ्न डालने के लिये मैंने उन्हें क्रुद्ध कर, देवताओं का यह काम बनाया ॥ २ ॥

[नोट—इन्द्र के इस कथन को मिथ्या न समझना चाहिये । क्योंकि सचमुच बात यही थी । गौतम ने सर्वदेवताओं का स्थान लेने के लिये तप किया था । क्रोधादि दुर्वृत्तियों के प्रादुर्भाव होने से तपस्वी की तपस्या नष्ट हो जाती है । अतः इन्द्र ने महर्षि गौतम की तपस्या नष्टभ्रष्ट करने के लिये ही उनको क्रुद्ध करने के अभिप्राय से अहल्या के साथ भोग किया था । नहीं तो स्वर्ग में अहल्या से कहीं अधिक सुन्दरी स्त्रियों का अभाव नहीं था । मृत्युलोकवासियों के सदनुष्ठानों में देवता अपने स्वार्थ के लिये सदा से विघ्न करते चले आये हैं ।]

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोस्यापहृतं मया ॥ ३ ॥

ऋषि ने क्रुद्ध हो मुझे तो नपुंसक कर दिया और अहल्या को शाप दे कर त्याग दिया। इस प्रकार उनसे शाप दिला कर उनकी बड़ी तपस्या का फल हर लिया ॥ ३ ॥

तस्मात्सुरवराः सर्वे सर्षिसङ्घाः सचारणाः ।
सुरसाह्यकरं सर्वे सफलं कर्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

अतएव हे देवताओ ! देवर्षियो ! चारणो ! तुम सब मेरे अच्छे होने में (पुंसत्व प्राप्ति के लिये) सहायता दो ॥ ४ ॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥ ५ ॥

इन्द्र के इन वाक्यों को सुन अग्नि को आगे कर पवनादि—देवतागण, कव्यवाहनादि पितरों के पास जा कर बोले ॥ ५ ॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः ।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥ ६ ॥

इन्द्र वृषण रहित हो गये हैं और तुम्हारे इस मेढ़े के अण्डकोश हैं, अतएव इसके अण्डकोष उखाड़ कर इन्द्र को तुरन्त दे दीजिये ॥ ६ ॥

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति ।
भवतां हर्षणार्थं च ये च दास्यन्ति मानवाः ॥ ७ ॥

मेढ़े के अण्डकोश रहित होने से तुम्हें सन्तुष्ट करने में कुछ उठा न रखा जायगा। आज से जो मनुष्य, वृषण रहित मेढ़े का यज्ञ में बलिदान कर, आपको प्रसन्न करें, उनको ॥ ७ ॥

अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम् ।
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ॥ ८ ॥

तुम लोग अक्षय्य एवं अनन्त फल देना । अग्निदेव के यह [illegible] सुन, पितरों ने ॥ ८ ॥

उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ॥ ९ ॥

मेढ़े के वृषण निकाल कर इन्द्र के लगा दिये । तब से हे राम-चन्द्र ! पितृगण ॥ ९ ॥

अफलान्भुञ्जते मेषान्फलैस्तेषामयोजयन् ।
इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ॥ १० ॥

यज्ञ में अण्डकोष रहित मेढ़े लेने लगे । क्योंकि, हे राघव ! मेढ़े के अण्डकोष निकाल कर इन्द्र के लगा दिये गये हैं ॥ १० ॥

[नोट—एक के शरीर के अवयव निकाल कर दूसरे के शरीर में लगा देने की शस्त्रक्रिया (Surgery) का विधान, इस आख्यान से सिद्ध होता है कि, प्राचीन है । आजकल के लोगों का नया अविष्कार नहीं है ।]

गौतमस्य प्रभावेन तपसश्च महात्मनः ।
तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ॥ ११ ॥

यह महात्मा गौतम के तप का प्रताप या फल है । इसलिये हे महातेजस्वी ! अब तुम पुण्यात्मा गौतम के आश्रम पर चलो ॥ ११ ॥

तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम् ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

और महाभागा अहल्या को तारिये जिससे वह देवरूपिणी हो जाय । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने, विश्वामित्र जी के ये वचन सुन ॥ १२ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य तमाश्रममथाविशत् ।
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ॥ १३ ॥

और उनको आगे कर, गौतमऋषि के आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ जाकर देखा कि अहल्या तप के तेज से प्रकाशित हो रही थी ॥ १३ ॥

लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ।
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ॥ १४ ॥

उसे सुर, असुर और मनुष्य कोई भी नहीं देख सकते थे। मानों ब्रह्मा जी ने अति यत्न से स्वयं अपने हाथों से उस दिव्य स्त्री को मायाविनी की तरह बनाया हो ॥ १४ ॥

स तुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ।

कोहरे (कुहासे) से छिपी हुई पूर्णमासी के चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी की तरह, अथवा जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिविम्ब के प्रकाश की तरह दीप्तमान् वह देख पड़ती थी ॥ १५ ॥

धूमेनापि परीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ।
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ॥ १६ ॥

अथवा धुएँ में जलती हुई आग की लपट की तरह वह अहल्या गौतमऋषि के शाप से किसी को नहीं दिखलाई पड़ती थी ॥ १६ ॥

त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १७ ॥

अहल्या को लोग इसलिये नहीं देख सकते थे कि, गौतम मुनि ने शाप देते समय यह कह दिया था कि, जब तक श्रीरामचन्द्र जी से भेंट न होगी, तब तक तेरे समीप जाकर भी त्रिलोकी का कोई भी जीव तुझे नहीं देख सकेगा ॥ १७ ॥

राघवौ तु ततस्तस्याः पादौ जगृहतुस्तदा ।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा च तौ ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए। अहल्या ने भी गौतमऋषि की कही बात को याद कर, उन दोनों के चरण पकड़े अर्थात् उनके पैरों पर गिरी ॥ १८ ॥

पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन[1] कर्मणा[2] ॥ १९ ॥

अहल्या ने अर्घ्य पाद्यादि से भली भाँति उनका आतिथ्य किया। दोनों राजकुमारों ने भी शास्त्रों में वर्णित विधिविधान के साथ किये गये उसके आतिथ्य को ग्रहण किया ॥ १९ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद्देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चापि महानासीत्समागमः ॥ २० ॥

उस समय आकाश से फूलों की वर्षा हुई, देवताओं ने नगाड़े बजाये। गन्धर्व और अप्सराएँ गाने और नाचने लगीं ॥ २० ॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन् ।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम्[3] ॥ २१ ॥

---

१ विधिदृष्टेन—शास्त्रदृष्टेन । २ कर्मणा—प्रकारेण (गो०) । ३ गौतमस्यवशानुगामित्यनेन गौतमस्तदा रामागमनं विदित्वा समागत इत्यवगम्यते । (गो०)

देवतागण अहल्या की प्रशंसा करने लगे। गौतम जी (अपने तपःप्रभाव से) श्रीरामचन्द्र जी का आना जान अपने आश्रम में पहुँचे और वहां पूर्व के समान शरीर धारण किये हुए अहल्या को पा कर प्रसन्न हुए ॥ २१ ॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं संपूज्य विधिवत्तपस्तेपे[1] महातपाः ॥ २२ ॥

अहल्या सहित महातेजस्वी गौतम ऋषि ने प्रसन्न हो श्रीराम का भली भाँति पूजन किया और फिर वे उसी आश्रम में तप करने लगे ॥ २२ ॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।
सकाशाद्विधिवत्प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥ २३ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी भी महर्षि गौतम से विधिवत् पूजा ग्रहण कर, मिथिला पुरी में गये ॥ २३ ॥

वालकाण्ड का उनचासवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ १ ॥

---

१ तेपे तत्रैवाश्रम इतिशेषः । (गो०)

तब विश्वामित्र जी को आगे कर श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित ईशानकोण की ओर से चल कर, महाराज की यज्ञशाला में [illegible] ॥ १ ॥

रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः ।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥ २ ॥

दोनों राजकुमारों ने पुरी और यज्ञशाला की सजावट देख कर विश्वामित्र जी से कहा—महात्मा जनक के यज्ञ की तैयारी तो बड़ी अच्छी है ॥ २ ॥

बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम् ।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥ ३ ॥

हे महाभाग! देखिये, वेदाध्ययनशाली नाना देशों के रहने वाले हज़ारों ब्राह्मण यहाँ देख पड़ते हैं ॥ ३ ॥

ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसङ्कुलाः ।
देशो विधीयतां ब्रह्मन्यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

ऋषियों के आवासस्थानों में सैकड़ों (उनका समान ढोने वाले) छकड़े देख पड़ते हैं। हे ब्रह्मन्! कोई स्थान ठीक कीजिये, जहाँ हम सब लोग (आराम के साथ) रहें ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
निवेशमकरोद्देशे विविक्ते सलिलायुते ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन महर्षि विश्वामित्र जी एक निराले स्थान में, जहाँ जल का भी सुपास था, जा उतरे ॥ ५ ॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा स नृपतिस्तदा ।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितम् ॥ ६ ॥
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः ।
ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्र जी के आने का संवाद पा कर अपने प्रसिद्ध पुरोहित शतानन्द को आगे कर महाराज जनक अपने ऋत्विजों सहित, विश्वामित्र जी के लिये अर्घ्यादि का सामान साथ लिये हुए, बड़ी नम्रता के साथ तुरन्त वहाँ पहुँचे ॥ ६ ॥ ७ ॥

विश्वामित्राय धर्मेण ददुर्मन्त्र[1]पुरस्कृतम् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज जनक ने धर्मशास्त्रानुसार मधुपर्क आदि विश्वामित्र जी के आगे रखा । महाराज जनक की पूजा अङ्गीकार कर विश्वामित्र जी ने, ॥ ८ ॥

पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम् ।
स तांश्चापि मुनीन्पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः ॥ ९ ॥

महाराज जनक से उनके राज्य का कुशल तथा यज्ञ की निर्विघ्नता पूँछी । फिर शतानन्द आदि जो ऋषि महाराज जनक के साथ आये थे, उनसे भी कुशलप्रश्न किया ॥ ९ ॥

यथान्यायं ततः सर्वैः समागच्छत्प्रहृष्टवत् ।
अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १० ॥

और प्रसन्न हो सब से मिले भेंटे । तब राजा जनक हाथ जोड़ कर विश्वामित्र जी से बोले ॥ १० ॥

---

१ मन्त्रपुरस्कृतमित्यनेनमधुपर्ककरणमुच्यते । (गो०)

आसनं भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः ॥ ११ ॥

महाराज ! आप और अन्य ऋषिगण आसनों पर विराजें । यह सुन विश्वामित्र जी अन्य ऋषियों सहित आसनों पर बैठे ॥ ११ ॥

पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सह मन्त्रिभिः ।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टान्समन्ततः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजा जनक भी अपने पुरोहित, ऋत्विजों और मंत्रियों के साथ उचित स्थानों पर आसनों पर बैठे । राजा जनक बीच में थे और अन्य सब उनके चारों ओर बैठे हुए थे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत् ।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता ॥ १३ ॥

सब लोगों को यथास्थान बैठा देख, महाराज जनक, विश्वामित्र जी से बोले—आज देवताओं के अनुग्रह से मेरे यज्ञ में जो कमी थी वह पूरी हुई ॥ १३ ॥

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥ १४ ॥

यज्ञोपसदनं ब्रह्मन्प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।
द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे शेषमाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! आज आपके दर्शन प्राप्तकर मुझे यज्ञ का फल मिल गया । आपके मुनियों सहित यज्ञशाला में पधारने से मैं आज धन्य और अनुगृहीत हुआ । हे ब्रह्मर्षे ! ऋत्विज लोग कहते हैं कि, अब केवल बारह दिन और यज्ञ पूर्ण होने को रह गये हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततो भागार्थिनो देवान्द्रष्टुमर्हसि कौशिक ।
इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥ १६ ॥

तदनन्तर यज्ञ भाग लेने के लिये देवता आवेंगे । हे कौशिक ! आप उनको देखेंगे । विश्वामित्र जी से यह कह कर राजा जनक प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।
इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥

और हाथ जोड़ कर वे फिर बोले आपके आशीर्वाद से इन कुमारों का कल्याण हो, (अर्थात् दीठ इन्हें न लगे) । यह तो बतलाइये कि, ये दोनों कुमार जो देवताओं के समान पराक्रमी हैं ॥ १७ ॥

गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ॥ १८ ॥

गज, सिंह, शार्दूल तथा वृषभ के समान चाल चलने वाले, वीर, कमल जैसे नेत्र वाले, खड्ग तरकस और धनुषधारी ॥ १८ ॥

अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ।
यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ॥ १९ ॥

सौन्दर्य में अश्विनीकुमारों जैसे, युवावस्था को प्राप्त, अर्थात् जवान, स्वेच्छा पूर्वक देवताओं की तरह स्वर्ग से पृथिवी पर उतरे हुए ॥ १९ ॥

कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ वरायुधधरौवुभौ ॥ २० ॥

क्यों और किस लिये पैदल यहां आये हैं और किसके पुत्र हैं ? इनके विशाल एवं कमल सदृश नेत्र हैं, श्रेष्ठ आयुध धारण किये हुए हैं ॥ २० ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ।
काकपक्षधरौ वीरौ कुमाराविव पावकी ॥ २१ ॥

गोह के दस्ताने हाथों में पहने हुए हैं, तलवारें भी लिये हुए हैं, बड़ी पुनि वाले हैं, काकपक्ष* रखे हुए हैं, कार्तिकेय के समान वीर हैं ॥ २१ ॥

रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणौ ।
प्रकाश्य कुलमस्माकं मामुद्धर्तुमिहागतौ ॥ २२ ॥

रूप और उदारता आदि गुणों से मनुष्य के मन को हरने वाले हैं। हमारे कुल को उजागर कर के हमारा उद्धार करने यहां आये हैं ॥ २२ ॥

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्यौ दिवाम्बरम् ।
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥ २३ ॥

इस देश को ऐसा भूषित कर रहे हैं जैसा चन्द्र व सूर्य आकाश को भूषित करते हैं। डीलडौल चालढाल और चेष्टा से दोनों भाई जान पड़ते हैं ॥ २३ ॥

कस्य पुत्रौ मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ॥ २४ ॥

---

* कनपटी के ऊपर बड़े बड़े बालों को काकपक्ष कहते हैं ।

हे मुनिवर ! बतलाइये ये दोनों किसके पुत्र हैं। मैं इनका यथार्थ वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । राजा जनक के ये वचन सुन ॥ २४ ॥

न्यवेदयन्महात्मानौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ॥ २५ ॥

विश्वामित्र जी कहने लगे कि ये दोनों महाराज दशरथ के राजकुमार हैं । फिर विश्वामित्र जी ने दोनों राजकुमारों का सिद्धाश्रम में रहने, वहाँ राक्षसों का वध करने ॥ २५ ॥

तच्चागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम् ।
अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम् ।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥ २६ ॥

रास्ते में विशाला नगरी को देखने, अहल्या के उद्धार और गौतम से भेंट होने का सारा वृत्तान्त कहा और यह भी कहा कि, यहाँ ये आपके बड़े धनुष को देखने के लिये आये हैं ॥ २६ ॥

एतत्सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने ।
निवेद्य विरराम अथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २७ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

उन सब घटनाओं का वृत्तान्त महात्मा राजा जनक को सुना कर, महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र जी चुप हो गये ॥ २७ ॥

बालकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकपञ्चाशः सर्गः

—: o :—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः ॥ १ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी के वचन सुन कर महातेजस्वी एवं महातपस्वी शतानन्द जी के रोंगटे खड़े हो गये ॥ १ ॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः ।
रामसंदर्शनादेव परं विस्मयमागतः ॥ २ ॥

शतानन्द जी महर्षि गौतम के ज्येष्ठपुत्र थे और तपःप्रभाव से प्रकाशमान हो रहे थे। वे श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन कर बड़े विस्मित हुए ॥ २ ॥

स तौ निषण्णौ संप्रेक्ष्य सुखासीनौ नृपात्मजौ ।
शतानन्दो मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

दोनों राजकुमारों को सुख पूर्वक बैठे हुए देख कर, शतानन्द जी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से बोले ॥ ३ ॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥ ४ ॥

हे मुनिशार्दूल ! हमारी यशस्विनी माता बहुत दिनों से तपस्या करती थीं, क्या आपने उसे श्रीरामचन्द्र जी को दिखाया था ? ॥४॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।
वन्यैरुपाहरत्पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम् ॥ ५ ॥

क्या मेरी माता ने सब प्राणियों के पुज्य श्रीरामचन्द्र जी का फलमूलादि वन्य पदार्थों से सत्कार किया था ? ॥ ५ ॥

अपि रामाय कथितं यथावृत्तं पुरातनम् ।
मम मातुर्महातेजो दैवेन दुरनुष्ठितम् ॥ ६ ॥

इन्द्र ने मेरी माता के प्रति जो दुराचार किया था, यह प्राचीन वृत्तान्त क्या आपने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ? ॥ ६ ॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा[1] मम सङ्गता ।
माता मम मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः ॥ ७ ॥

हे कौशिक ! यह तो कहिये कि, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन के प्रभाव से क्या मेरी माता मेरे पिता को मिल गयी या नहीं ? ॥७॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज ।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्तो महात्मनः ॥ ८ ॥

हे विश्वामित्र जी ! क्या मेरे पिता ने श्रीरामचन्द्र जी का सत्कार किया ? क्या श्रीरामचन्द्र जी उनके (मेरे पिता के) द्वारा सत्कारित हो कर यहाँ आये हैं ? ॥ ८ ॥

अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज ।
इहागतेन रामेण प्रयतेनाभिवादितः ॥ ९ ॥

हे विश्वामित्र जी ! (यह भी बतलाइये कि) आश्रम में जब मेरे शान्तचित्त पिता आये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने उनको प्रणाम किया था या नहीं ? (अथवा मेरी माता के दोषों पर ध्यान दे उन्होंने उनका तिरस्कार तो नहीं किया ?) ॥ ९ ॥

---

१ गुरुणा—पित्रा । (गो०)

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः ।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १० ॥

शतानन्द के इन प्रश्नों को सुन, महर्षि विश्वामित्र जी, जो बातचीत करने का ढङ्ग जानते थे बातचीत करने में बड़े निपुण शतानन्द जी से बोले ॥ १० ॥

नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया ।
सङ्गता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव[1] रेणुका ॥ ११ ॥

हे मुनिप्रवर ! जो कुछ मेरे कहने सुनने करने धरने का था सो मैंने कहा सुना और किया धरा । मैंने अपना कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रखा । जैसे जमदग्नि ने रेणुका को शाप दिया और पीछे अनुग्रह कर उसे अङ्गीकार किया वैसे ही आपके पिता ने भी आपकी माता के ऊपर कृपा की और उसे ग्रहण कर लिया ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी के इस उत्तर को सुन, महातेजस्वी शतानन्द जी श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १२ ॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥ १३ ॥

हे पुरुषोत्तम ! आपका आना शुभप्रद हो । यह बड़े भाग्य की बात है, जो आप विश्वामित्र जी के साथ मेरे पिता के आश्रम में पधारे और मेरी माता का उद्धार किया । इन महर्षि विश्वामित्र जी

---

१ भार्गवेण—जमदग्निना । (गो०)

की कहां तक प्रशंसा की जाय। इनका सैकड़ों ऋषि सम्मान करते हैं॥ १३॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरतुलप्रभः।
विश्वामित्रो महातेजा वेत्त्येनं परमां गतिम्[1] ॥१४॥

इनके सब कर्म अचिन्त्य हैं (अर्थात् मन और बुद्धि के अगोचर हैं, साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकते।) देखिये, आप तपोबल से राजर्षि से ब्रह्मर्षि हो गये। फिर ब्रह्मर्षियों में भी साधारण ब्रह्मर्षि नहीं। प्रत्युत अमित प्रभावशाली हैं। इन महा-तेजस्वी विश्वामित्र जी को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। यह आपके परम हितैषी हैं (अथवा जगत् के परम हितैषी हैं।) ॥ १४ ॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः ॥ १५ ॥

हे राम! आपसे अधिक बढ़ कर धन्य इस भूतल पर और कोई नहीं है, जिनके रक्षक महातपस्वी विश्वामित्र जी हैं॥ १५ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः।
यथा बलं यथा वृत्तं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥

हे राम! सुनिये, मैं महात्मा विश्वामित्र जी के बल का और इनका वृत्तान्त कहता हूँ॥ १६ ॥

राजऽभूदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिन्दमः।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥

---

१ परमागतिम्—तवपरमहितप्रदं। (गो०)

हे कौशिक ! पहले बहुत दिनों तक यह एक बड़े धर्मात्मा, शकुनाश्व नाम विख्यात पुरुष और प्रजापालन में तत्पर राजा रह चुके हैं ॥ १७ ॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत्कुशो नाम महीपतिः ।
कुशस्य पुत्रो बलवान्कुशनाभः सुधार्मिकः ॥ १८ ॥

प्रजापति के पुत्र कुश नाम के एक राजा हो गये हैं । उनके पुत्र कुशनाभ बड़े बलवान् और धर्मात्मा राजा हुए ॥ १८ ॥

कुशनाभसुतस्त्वासीद्गाधिरित्येव विश्रुतः ।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥

कुशनाभ के प्रसिद्ध गाधि नामक पुत्र हुए । उन्हीं राजा गाधि के यह महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जी पुत्र हैं ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम् ।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ २० ॥

महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने राजा हो कर हज़ारों वर्षों लों पृथिवी का पालन और राज्य किया ॥ २० ॥

कदाचित्तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम् ।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥ २१ ॥

एक बार राजा विश्वामित्र सेना इकट्ठी कर और एक अक्षौहिणी सेना साथ ले घूमने के लिये निकले ॥ २१ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च तथा गिरीन् ।
आश्रमान्क्रमशो राम विचरन्नाजगाम ह ॥ २२ ॥

हे राम ! अनेक नगरों, राज्यों, नदियों, पर्वतों और ऋष्याश्रमों को मझाते हुए ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं नानावृक्षलताकुलम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी के आश्रम में गये। वशिष्ठ जी का आश्रम तरह तरह के पक्षियों और लताओं से भरा पूरा और भाँति भाँति के जीवों से शोभायमान् हो रहा था । उसमें सिद्धचारण रहते थे ॥ २३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभितम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम् ॥ २४ ॥

देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर भी उसकी शोभा बढ़ाते थे । वह शान्तस्वभाव हिरनों से भरा पूरा था और ब्राह्मणगण भी वहाँ वास करते थे ॥ २४ ॥

ब्रह्मर्षिगणसङ्कीर्णं देवर्षिगणसेवितम् ।
तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः ॥ २५ ॥

उसमें ब्रह्मर्षि और देवर्षि भी वास करते थे । तपश्चर्या से वे अग्नि के समान देदीप्यमान् थे ॥ २५ ॥

सततं सङ्कुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पैर्[1]महात्मभिः ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ॥ २६ ॥

वह आश्रम सदैव ब्रह्मा के समान वेदों की शाखाओं के विभाग करने वाले महात्माओं से सदा भरा रहता था । इनमें कोई

---

(१) ब्रह्मकल्पैः वेदशाखा विभागाकर्त्तारि इति (गो०) ॥

कोई तो केवल जल पी कर, कोई कोई केवल वायु भक्षण कर कोई कोई सूखी पत्तियां खा कर, ॥ २६ ॥

फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितरोषैर्जितेन्द्रियैः ।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः ॥ २७ ॥

और कोई कोई फल मूल खा कर रहते थे । यहां अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले ऋषि तथा वालखिल्य (ब्रह्मचारी) सहस्रों थे । यहां कोई भी ऋषि ऐसा न था जो नियत समय पर सन्ध्योपासन, जप, तर्पण, होम न करता हो ॥ २७ ॥

अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम् ।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम् ।
ददर्श जयतां[1] श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥ २८ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

इनके अतिरिक्त उस आश्रम के चारों ओर अनेक वानप्रस्थ भी रहते थे । (कहां तक वर्णन करें) वशिष्ठ महाराज का आश्रम क्या था—मानों दूसरा ब्रह्मलोक ही था । वीरश्रेष्ठ महाबली राजा विश्वामित्र ने ऐसे वशिष्ठ जी के आश्रम को देखा ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का इक्कावनवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

१ जयतां—शूराणां (रा०) ।

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः ।
प्रणम्य विधिना वीरो वसिष्ठं जपतांवरम् ॥ १ ॥

ऐसे आश्रम को देख, महाबलवान् राजा विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए और जप करने वालों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी को विनय सहित प्रणाम किया ॥ १ ॥

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।
आसनं चास्य भगवान्वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी का स्वागत कर अथवा यह कह कर "आप बहुत अच्छे आये," बैठने के लिये आसन दिया ॥ २ ॥

उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते ।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलान्युपाहरत् ॥ ३ ॥

जब बुद्धिमान विश्वामित्र जी आसन पर बैठ गये, तब वशिष्ठ जी ने फल मूल जो वहाँ उस समय मौजूद थे, विश्वामित्र को भोजन के लिये दिये ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां वसिष्ठाद्राजसत्तमः ।
तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत ॥ ४ ॥

इस प्रकार वशिष्ठ जी का सत्कार ग्रहण कर, नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी से तप, अग्निहोत्र और शिष्य सम्बन्धी कुशल प्रश्न किया ॥ ४ ॥

विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे[1] तथा ।
सर्वत्र कुशलं चाह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ ५ ॥

वशिष्ठ जी ने इनके उत्तर में सर्वत्र और सब का—यहाँ तक कि, पेड़ों तक का कुशल नृपश्रेष्ठ विश्वामित्र जी से कहा ॥ ५ ॥

सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः ।
पप्रच्छ जपतां[2] श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ॥ ६ ॥

सुख से बैठे हुए राजा विश्वामित्र जी से महामुनि, तपस्वियों में श्रेष्ठ और ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी ने पूँछा ॥ ६ ॥

कच्चित्ते कुशलं राजन्कच्चिद्धर्मेण रञ्जयन् ।
प्रजाः पालयसे वीर राजवृत्तेन धार्मिक ॥ ७ ॥

हे राजन्! आपके यहाँ तो कुशल है? आप धर्म पूर्वक प्रजा को प्रसन्न रखते हैं? और राजवृत्ति से प्रजा का पालन तो करते हैं? ॥ ७ ॥

[नोट—शास्त्रकारों ने राजवृत्ति चार प्रकार की कही है । यथा—

न्यायेनार्जनमर्थस्य सदर्थनं पालनं तथा ।
सत्पात्रेप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विध ॥

अर्थात् (१) न्यायपूर्वक धन को उपार्जित करना (२) न्याय-पूर्वक उसको बढ़ना (३) न्यायपूर्वक उसकी रक्षा करना और (४) जो सत्पात्र या अच्छे लोग हों उनको दान देना ।]

---

१ वनस्पति शब्देन वृक्षमात्र, नतु विनापुष्पं फलवन्तएव ॥ (रा०)
२ जपतां—तपस्विनां (रा०) ।

कच्चित्ते संभृता भृत्याः कच्चित्तिष्ठन्ति शासने ।
कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥ ८ ॥

राज्य के कर्मचारी को वेतन तो नियत समय पर दे दिया करते हो ? आपकी प्रजा आपके कहने में चलती है ? हे राजन् ! आपने अपने सब शत्रुओं को जीत तो लिया है ? ॥ ८ ॥

कच्चिद्बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परन्तप ।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तवानघ ॥ ९ ॥

हे नरव्याघ्र ! हे अनघ ! आपकी सेना, धनागार, मित्र, पुत्र, पौत्रादि सब कुशल पूर्वक तो हैं ? ॥ ९ ॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत् ।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितः ॥ १० ॥

राजा विश्वामित्र जी इन प्रश्नों के उत्तर में वशिष्ठ जी से विनय पूर्वक बोले कि, सब कुशलपूर्वक हैं ॥ १० ॥

कृत्वोभौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथाः शुभाः ।
मुदा परमया युक्तौ मीयेतां तौ परस्परम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे दोनों बहुत देर तक प्रेमपूर्वक तरह तरह की बातें और कथाएँ कह सुन कर, एक दूसरे को प्रसन्न करते रहे ॥ ११ ॥

ततो वसिष्ठो भगवान्कथान्ते रघुनन्दन ।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन ! जब विश्वामित्र जी बातचीत कर चुके, तब वशिष्ठ जी ने मुसक्या कर विश्वामित्र जी से कहा ॥ १२ ॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं संप्रतीच्छ मे ॥ १३ ॥

हे राजन् ! यद्यपि आपके साथ बहुत बड़ी भीड़ है, तथापि मेरी इच्छा है कि, यदि आप स्वीकार करें तो सेना सहित आप सब की मैं मेहमानदारी (आतिथ्य) करूँ ॥ १३ ॥

सत्क्रियां तु भवानेतां प्रतीच्छतु मयोद्यताम् ।
राजा त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

क्योंकि हे राजन् ! आप राजा होने के कारण अतिथिश्रेष्ठ हैं । आपका आतिथ्य प्रयत्नपूर्वक करना ही उचित है । अतः मुझसे जो कुछ आतिथ्य बन पड़े उसे आप प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार करें ॥ १४ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।
कृतमित्यब्रवीद्राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥ १५ ॥

वशिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर राजा विश्वामित्र कहने लगे—हे भगवन् ! आपके इन आदरपूर्वक कहे हुए वचनों ही से मेरा तो आतिथ्य हो चुका ॥ १५ ॥

फलमूलेन भगवन्निष्यते यत्तवाश्रमे ।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त, फलमूल, विमल जल जो आपके आश्रम में उपस्थित थे, उनसे तथा विशेष कर आपके दर्शन से मेरा आतिथ्य हो चुका ॥ १६ ॥

सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः ।
गमिष्यामि नमस्तेस्तु मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ १७ ॥

हे महाप्राज्ञ ! उचित तो यह था कि. मैं आपकी पूजा करता, प्रत्युत आपने मेरा सत्कार किया। मैं अब आपको प्रणाम करता हूँ और अपने डेरे को जाता हूँ। मेरे ऊपर सदा कृपादृष्टि बनाये रखियेगा ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि ।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥

राजा विश्वामित्र के इस प्रकार (निषेध पूर्वक) कहने पर भी उदारमना वशिष्ठ जी ने न्योता स्वीकार करने के लिये राजा से बार बार आग्रह किया ॥ १८ ॥

वाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।
यथा प्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिसत्तम ॥ १९ ॥

तब विश्वामित्र ने कहा—"बहुत अच्छा" आप जिससे प्रसन्न रहैं वही ठीक है। अथवा आप मुझ पर प्रसन्न बने रहैं, मुझे वही करना चाहिये ॥ १९ ॥

एवमुक्तो महातेजा वसिष्ठो जपतांवरः ।
आजुहाव ततः प्रीतः कल्माषीं धूतकल्मषः ॥ २० ॥

जब विश्वामित्र ने ऐसा कहा अर्थात् वशिष्ठ जी का न्योता मान लिया ; तब मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी ने अपनी प्यारी चितकबरी कामधेनु को बुलाया ॥ २० ॥

एह्येहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ॥२१॥

और उससे कहा—हे शबले ! यहाँ आ जा और जो मैं कहता हूँ उसे सुनो। मैं सेना सहित राजर्षि विश्वामित्र की पहुनाई करना चाहता हूँ ॥ २१ ॥

भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे ।
यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेप्यभिपूजितम् ।
तत्सर्वं कामधुक्क्षिप्रमभिवर्ष कृते मम ॥ २२ ॥

अतः मेरे कहने से तू अच्छे अच्छे भोजनों से इनका अच्छी तरह सत्कार कर। षड्रसों के पदार्थों में से, जो जिस रस का पदार्थ चाहें, उसे वही पहुँचना चाहिये। क्योंकि तुम कामधेनु ठहरी तुम क्या नहीं दे सकती ॥ २२ ॥

रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वर ॥ २३ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

हे शबले ! तू छः प्रकार के खाद्य पदार्थों के जैसे भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, पेय, और खाद्य व्यञ्जनों के ढेर तुरन्त लगा दे ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन ।
विदधे कामधुक्कामान्यस्य यस्य यथेप्सितम् ॥ १ ॥

वशिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर, शबला ने जिसको जो वस्तु अपेक्षित थी, उसे वही वही पहुँचा दी ॥ १ ॥

इक्षून्मधूंस्तथा लाजान्मैरेयांश्च वरासवान् ।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचां[1]स्तथा ॥ २ ॥

खाने के लिये ऊख के रस यानी शक्कर की बनी अनेक प्रकार की मिठाइयाँ, शहद, धान के लावा ; पीने के लिये मदिरा, तथा तरह तरह के उत्तम आसव, प्रस्तुत किये ॥ २ ॥

उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः ।
सूपाश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥ ३ ॥
नानास्वादुरसानां च षड्रसानां तथैव च ।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥

गर्मागर्म भात के पर्वताकार ढेर लगा दिये। खीर, कढ़ी, दही, बरा, आदि तरह तरह के स्वादिष्ट षट्रसात्मक हज़ारों पदार्थ और गुड़ की मिठाइयाँ प्रस्तुत कर दीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

सर्वमासीत्सुसन्तुष्टं हृष्ट[2]पुष्ट[3]जनायुतम् ।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेनाभितर्पितम् ॥ ५ ॥

इन सब पदार्थों को खा पीकर और आदर सत्कार से विश्वामित्र के साथ के सब लोग अच्छी तरह तृप्त हुए और अत्यानन्दित हुए। हे राम! वशिष्ठ जी ने विश्वामित्र जी के साथी संगियों को भली भाँति तृप्त कर दिया ॥ ५ ॥

---

१ उच्चावच्चात्—नानाप्रकारान् (गो०)। २ हृष्टः आदरेण (गो०) ३ पुष्टः भोजनादिना (गो०)।

विश्वामित्रोऽपि राजर्षिर्हृष्टः पुष्टस्तदाभवत् ।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥ ६ ॥

राजर्षि विश्वामित्र जी भी अपने पुरोहित, मंत्री, दीवान सब के साथ अपूर्व पदार्थ भोजन कर तथा महर्षि के आदर सत्कार से बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६ ॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा ।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

जब नौकर चाकर मंत्री, दीवान, सेना आदि के साथ विश्वामित्र जी भलीभांति सत्कारित हो चुके, तब परम प्रसन्नता के साथ वशिष्ठ जी से बोले ॥ ७ ॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन्पूजार्हेण सुसत्कृतः ।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने पूज्य होकर भी मेरा अच्छा सत्कार किया । हे वाक्यविशारद ! अब मैं कुछ कहता हूँ उसे आप सुनें ॥ ८ ॥

गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम ।
रत्नं हि भगवन्नेतद्रत्नहारी च पार्थिवः ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! आप अपनी शबला गौ के बदले मुझसे एक लाख गौएँ ले लें और इसे हमें दे दें । कारण यह है कि, शबला एक रत्न है और रत्न रखने का राजा ही अधिकारी है ॥ ९ ॥

तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज ।
एवमुक्तस्तु भगवान्वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ १० ॥

विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम् ।
नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम् ॥ ११ ॥

हे द्विज ! अतः इस गौ को आप मुझे दे दें। धर्म की दृष्टि से यह मेरी ही है। जब मुनिश्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठ जी से विश्वामित्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा वशिष्ठ जी राजा से बोले। हे राजन्! एक लाख गौओं को तो बात ही क्या, एक करोड़ गौएँ भी यदि आप शबला के बदले दें ॥ १० ॥ ११ ॥

राजन्दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा ।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिन्दम ॥ १२ ॥

अथवा इसके बदले आप चाँदी का ढेर देना चाहें, तो भी मैं शबला आपको नहीं दे सकता। हे राजन्! यह मेरे यहाँ से जाने योग्य नहीं है ॥ १२ ॥

शाश्वती शबला मह्यं कीर्तिरात्मवतो यथा ।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च ॥ १३ ॥

क्योंकि जिस प्रकार मनस्वी पुरुष का अपनी कीर्ति से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार शबला का मुझसे सम्बन्ध है। इसीके द्वारा मेरे देव और पितृ सम्बन्धी कार्यों का तथा मेरा निर्वाह होता है ॥ १३ ॥

आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च ।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा ॥ १४ ॥

मेरे अग्निहोत्र बलिवैश्वदेव, स्वाहा, स्वधा, वषट्कार और विविध प्रकार की विद्याएँ इसीके सहारे हैं ॥ १४ ॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः ।
सर्वस्वमेतत्सत्येन मम तुष्टिकरी सदा ॥ १५ ॥

हे राजर्षे ! कहाँ तक कहूँ आप निश्चय जानिये मेरा तो सब काम यही चलाती है। यह मेरे लिये सर्वस्व है। इसीसे मैं सदा सन्तुष्ट चित्त रहता हूँ। (अर्थात् मुझे किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती. ॥ १५ ॥

कारणैर्बहुभी राजन्न दास्ये शबलां तव ।
वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत्ततः ॥ १६ ॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
हैरण्यकक्ष्याग्रैवेयान्सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण इसे न देने के हैं। अतः हे राजन्! शबला को तो मैं आपको न दूँगा। वशिष्ठ जी का यह उत्तर सुन विश्वामित्र जो अत्यन्त आवेश में भर आग्रह पूर्वक कहने लगे। हे मुनिवर ! सोने के घंटों, सोने के आभूषणों और सोने के अङ्कुशों से भूषित ॥ १६ ॥ १७ ॥

ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश ।
हैरण्यानां रथानां ते श्वेताश्वानां चतुर्युजाम् ॥ १८ ॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किङ्किणीकविभूषितान् ।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम् ॥ १९ ॥

चौदह हज़ार हाथी मैं देता हूँ (इतना ही नहीं) चार चार सफ़ेद घोड़ों वाले बड़े सुन्दर सोने के एक सौ आठ रथ देता हूँ।

साथ ही अच्छो नस्ल के दिसावरी और सुवर्ण के आभूषणों से सुसज्जित ॥ १८ ॥ १६ ॥

सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत ।
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च ॥ २० ॥

ग्यारह हज़ार घोड़े तुमको देता हूँ । इनके अतिरिक्त तरह तरह के रङ्गों वाली, जवान ॥ २० ॥

ददाम्येकां गवां कोटिं शवला दीयतां मम ।
यावदिच्छसि रत्नं वा हिरण्यं वा द्विजोत्तम ॥ २१ ॥

करोड़ों गौएँ देता हूँ । आप मुझे शवला दे दें । हे द्विजोत्तम ! आप जितने रत्न और जितना सोना चाहें ॥ २१ ॥

तावद्दास्यामि तत्सर्वं शवला दीयतां मम ।
एवमुक्तस्तु भगवान्विश्वामित्रेण धीमता ॥ २२ ॥

मैं सब देने को तैयार हूँ । आप मुझे शवला दे ही दो । इस प्रकार विश्वामित्र जी के कहने पर भी बुद्धिमान ॥ २२ ॥

न दास्यामीति शबलां प्राह राजन्कथंचन ।
एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी ने कहा कि, हे राजन् ! शवला को तो मैं किसी तरह भी नहीं दे सकता, क्योंकि मेरे लिये तो शवला मेरा रत्न और शवला ही मेरा धन है ॥ २३ ॥

एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ।
दर्शश्च पूर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः ।
एतदेव हि मे राजन्विविधाश्च क्रियास्तथा ॥ २४ ॥

हे राम ! जब राजा विश्वामित्र गौ को ज़बरदस्ती ले जाने लगे, तब दुःखी हो वह रोने लगी और मारे शोक के विकल हो अपने मन में सोचने लगी ॥ २ ॥

परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना ।
याऽहं राजभटैर्दीना ह्रियेय भृशदुःखिता ॥ ३ ॥

महात्मा वशिष्ठ जी ने मुझे क्यों त्यागा ? मैंने तो उनका कोई अपराध भी नहीं किया । फिर क्यों राजा के भट (नौकर) मुझ दुःखिनी को ज़बरदस्ती पकड़ कर लिये जाते हैं ॥ ३ ॥

किं मयाऽपकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
यन्मामनागसं भक्तामिष्टां त्यजति धार्मिकः ॥ ४ ॥

महासिद्ध महात्मा महर्षि वशिष्ठ का मैंने कौन अपराध किया जो मुझ निर्दोषिनी, अनुरागिनी और प्यारी को धार्मिक मुनिप्रवर त्यागे देते हैं ॥ ४ ॥

इति सा चिन्तयित्वा तु विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन ॥ ५ ॥

शबला गौ ऐसा सोच और बारंबार ऊँचो साँसे लें तथा उन सैकड़ों वीर राजकर्मचारियों के हाथ से अपने को छुड़ा ॥ ५ ॥

जगामा निलवेगेन पादमूलं महात्मनः ।
शबला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

कर वायुवेग से भागी और वशिष्ठ जी के चरणों में जा गिरी । शबला बड़े ज़ोर से चिल्लाती और रोती हुई कहने लगी ॥ ६ ॥

वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना ।
भगवन्किं परित्यक्ता त्वयाऽहं ब्रह्मणः सुत ॥ ७ ॥

वशिष्ठ जी के सामने खड़ी हो, रोती हुई, मेघ के समान उच्च स्वर से बोली—हे भगवन्! हे ब्रह्मा के पुत्र! क्या आपने मुझे त्याग दिया? ॥ ७ ॥

यस्माद्राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः ।
एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

जो आपके यहाँ से मुझे राजा के सिपाही लिये जा रहे हैं? यह सुन कर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी ने कहा ॥ ८ ॥

शोकसन्तप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम् ।
न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया ॥ ९ ॥

वे परम दुःखित हो शबला से उसी प्रकार बोले जैसे कोई अपनी बहिन को दुखी देख उससे कहता है । हे शबले! न तो तूने कोई मेरा अपकार किया और न मैं अपनी इच्छा से तेरा परित्याग ही कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः ।
न हि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः ॥ १० ॥

बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च ।
इयमक्षौहिणी पूर्णा सवाजिरथसंकुला ॥ ११ ॥
हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः ।
एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत् ॥ १२ ॥

वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिममितप्रभम् ।
न वलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणो वलवत्तरः ॥ १३ ॥

यह राजा वल से मत्त हो वरजोरी मुझसे छीन कर तुझे लिये जाता है । मेरे पास राजा के वरावर सैन्यवल नहीं है । फिर एक तो वह राजा, दूसरे क्षत्रिय, तीसरे पृथिवी का मालिक है । घोड़ों रथों और हाथियों से परिपूर्ण इसके साथ एक वड़ी भारी सेना है । अतः वह मुझसे वल में अधिक है । वशिष्ठ जी के यह कहने पर, वार्तालाप में चतुर, उत्तर में, वह शवला अमित प्रभाव वाले ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी से वोली कि, हे ब्रह्मर्षे ! ब्राह्मणों के वल के सामने क्षत्रियों का वल तुच्छ है ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

ब्रह्मन्ब्रह्मवलं दिव्यं क्षत्रात्तु वलवत्तरम् ।
अप्रमेयवलं तुभ्यं न त्वया वलवत्तरः ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन् ! क्योंकि ब्राह्मणों का वल दिव्य (अर्थात् तपस्या का वल) होता है, अतः क्षात्रवल (शारीरिक वल से) वह वहुत अधिक है । आपमें अतुलित वल है । वह अर्थात् क्षत्रिय राजा वल में आपका सामना नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ।
नियुङ्क्ष्व मां महाभाग त्वद्ब्रह्मवलसंभृताम् ॥ १५ ॥

विश्वामित्र अवश्य ही वड़ा वलवान है, किन्तु आपका (तपस्या का) तेज उसके लिये दुःसह है । हे महाभाग ! मुझे आप आज्ञा दीजिये तो मैं आपके ब्रह्मवल के प्रताप से ॥ १५ ॥

तस्य दर्पवलं यत्नान्नाशयामि दुरात्मनः ।
इत्युक्तस्तु तया राम वसिष्ठस्तु महायशाः ॥ १६ ॥

इस दुष्ट के बल का गर्व नष्ट कर दूँ । हे राम ! शबला के यह वचन सुन महायशो वशिष्ठ जी ॥ १६ ॥

सृजस्वेति तदोवाच बलं परबलार्दनम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासृजत्तदा ॥ १७ ॥

उससे बोले, अच्छा, तुम अपने बल से ऐसी सेना उत्पन्न करो जो शत्रु के (सैनिक) बल को मींज डाले । यह सुन शबला ने वैसी ही सेना उत्पन्न कर दी ॥ १७ ॥

तस्या हुम्भारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ।
नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ १८ ॥

शबला के " हुँभा" शब्द करने से, सैकड़ों (एक प्रकार के) म्लेच्छ उत्पन्न हो गये और विश्वामित्र की आंखों के सामने उनकी समस्त सेना का नाश करने लगे ॥ १८ ॥

बलं भग्नं ततो दृष्ट्वा रथेनाक्रम्य कौशिकः ।
स राजा परमक्रुद्धो रोषविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

तब अपनी सेना को नष्ट हुआ देख, राजा विश्वामित्र परम क्रुद्ध हुए और लाल लाल नेत्र कर रथ में बैठ आक्रमण किया, ॥ १९ ॥

पह्लवान्नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि ।
विश्वामित्रार्दितान्दृष्ट्वा पह्लवाञ्शतशस्तदा ॥ २० ॥

और नाना प्रकार के छोटे बड़े आयुधों से पह्लवों (म्लेच्छ विशेष) को मार डाला । तब सैकड़ों पह्लवों का विश्वामित्र के हाथ से मारा जाना देख ॥ २० ॥

भूय एवासृजत्कोपाच्छकान्यवनमिश्रितान् ।
तैरासीत्संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥ २१ ॥

शबला ने क्रोध में भर यवनों सहित शकों (म्लेच्छों की एक जाति के लोगों) को उत्पन्न किया । इन यवनों और शकों से पृथिवी पूर्ण हो गयी ॥ २१ ॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकञ्जल्कसन्निभैः ।
दीर्घासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ।
निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः ॥ २२ ॥

ये सब शक यवनादि बड़े तेजस्वी महापराक्रमी थे । सब के शरीर का रंग सुवर्ण की तरह चमकीला था । सब के सब पीली पोशाकें पहने हुए थे । बड़ी बड़ी तलवारें, च पटा, धारण किये हुए थे । इन सब ने प्रदीप्त अग्नि की तरह विश्वामित्र के सैनिकों को दग्ध (अर्थात् नष्ट) कर डाला ॥ २२ ॥

ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह ।
तैस्तैर्यवनकाम्भोजाः पल्लवाश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

तब महातेजस्वी विश्वामित्र जी ने अस्त्र छोड़े, जिनसे वे सब यवन, काम्भोज और पल्लव विकल हो गये ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का चौअनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—: o :—

ततस्तानाकुलान्दृष्ट्वा विश्वामित्रास्त्रमोहितान् ।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक्सृज योगतः ॥ १ ॥

जब विश्वामित्र के अस्त्र शस्त्रों से उन यवनों को वशिष्ठ जी ने विकल देखा, तब उन्होंने शबला से कहा कि, अब की मेरे कहने से योग की महिमा से और म्लेच्छ उत्पन्न कर ॥ १ ॥

तस्या हुम्भारवाज्जाताः काम्भोजा रविसन्निभाः ।
ऊधसः[1]स्त्वथ सञ्जाताः पल्लवाः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥

तब शबला के हुङ्कार से सूर्य के समान तेजस्वी काम्भोज नामक म्लेच्छ और स्तनों से हाथों में शस्त्र लिये पल्लव उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकास्तथा ।
रोमकूपेषु च म्लेच्छा हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥

योनि से यवन, गुदा से शक और रोंयों से म्लेच्छ, हारीत और किरात उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

तैस्तैर्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात् ।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥ ४ ॥

हे राम ! इन लोगों ने विश्वामित्र की हाथी घोड़े रथों और पैदल सैनिकों सहित सारी सेना तुरन्त नष्ट कर दी ॥ ४ ॥

---

१ ऊधसः—स्तनात् (गो०) ।

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना ।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपनी सेना का वशिष्ठ जी द्वारा नाश देख, विश्वामित्र जी के सौ पुत्र अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र ले ॥ ५ ॥

अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतांवरम् ।
हुङ्कारेणैव तान्सर्वान्ददाह भगवानृषिः ॥ ६ ॥

और क्रुद्ध हो, तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी के ऊपर दौड़े; किन्तु भगवान् वशिष्ठ जी ने "हुङ्कार" कर उन सब को भस्म कर डाला ॥ ६ ॥

ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना ।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तदा ॥ ७ ॥

राजकुमारों के साथ जो घोड़े, रथ और पैदल सिपाही थे उनको भी राजकुमारों के साथ ही महात्मा वशिष्ठ जी ने क्षण भर में भस्म कर डाला ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा विनाशितान्पुत्रान्बलं च सुमहायशाः ।
सव्रीडश्चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत्तदा ॥ ८ ॥

बड़े यशस्वी राजा विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों को सैन्य सहित नष्ट हुआ देख, अत्यन्त लज्जित हो चिन्तामग्न हो गये ॥ ८ ॥

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः ।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ९ ॥

वे वेगरहित समुद्र, विषदन्त रहित सर्प, और राहु ग्रसित सूर्य की तरह निष्प्रभ (तेजहीन) हो गये ॥ ९ ॥

हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः ।
हतदर्पो हतोत्साहो निर्वेदं समपद्यत ॥ १० ॥

वे अपने पुत्रों और सेना के मारे जाने से पक्षरहित पक्षी की तरह दीन हो गये । वे दर्पहत और हतोत्साह हो, अत्यन्त दुःखित हुए ॥ १० ॥

स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च ।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवान्वपद्यत ॥ ११ ॥

(बचे हुए) एक पुत्र को राज्य सौंप और क्षात्रधर्म से राज्य करने का उसे उपदेश दे, वे स्वयं वन को चल दिये ॥ ११ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वं किन्नरोरगसेवितम् ।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥ १२ ॥

वे हिमालय पर उस जगह गये जहाँ किन्नर उरग रहते थे और भगवान् शिव को प्रसन्न करने के लिये तपस्या करने लगे ॥ १२ ॥

कैनचित्त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः ।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महाबलम् ॥ १३ ॥

कुछ काल के बाद वरदानी भगवान् वृषभध्वज महादेव जी महाबली विश्वामित्र जी के आगे प्रकट हुए ॥ १३ ॥

किमर्थं तप्यसे राजन्ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते काङ्क्षितः सोऽभिधीयताम् ॥१४॥

वे बोले—हे राजन्! तुम किस लिये तप कर रहे हो? बतलाओ तुम क्या चाहते हो? जो तुम माँगो वही वर देने को मैं प्रस्तुत हूँ ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रणिपत्य महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महादेव जी के ये वचन सुन महातपस्वी विश्वामित्र उनको प्रणाम कर यह बोले ॥ १५ ॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ॥ १६ ॥

हे महादेव! हे अनघ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो अङ्ग, उपाङ्ग, उपनिषद् तथा रहस्य सहित धनुर्वेद मुझे बतला दीजिये ॥ १६ ॥

यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु ।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ ॥ १७ ॥

जिन प्रसिद्ध अस्त्रों का प्रचार दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों और राक्षसों में हैं, वे सब ॥ १७ ॥

तव प्रसादाद्भवतु देवदेव ममेप्सितम् ।
एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा ॥ १८ ॥

हे देवों के देव! आपके अनुग्रह से मुझे प्राप्त हों। यह वर माँगने पर महादेव जी "एवमस्तु" अर्थात् ऐसा ही हो, कह कर चले गये ॥ १८ ॥

प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद्विश्वामित्रो महाबलः ।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत्तदा ॥ १९ ॥

महादेव जी से अस्त्रों को पा कर महाबली विश्वामित्र महान् दर्प से युक्त हो अभिमान में बढ़े ॥ १९ ॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि ।
हतमेव तदा मेने वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २० ॥

वे बल में ऐसे बढ़े, जैसे पर्वकाल में (अर्थात् पूर्णिमा के दिन) चन्द्रमा को देख समुद्र बढ़ता है । उन्होंने अपने मन में निश्चित कर लिया कि, वशिष्ठ अब मरे ही धरे हैं ॥ २० ॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः ।
यैस्तत्तपोवनं सर्वं निर्दग्धं चास्त्रतेजसा ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा विश्वामित्र, वशिष्ठ जी के आश्रम पर पहुँचे और अस्त्रों की वर्षा करने लगे । उन अस्त्रों की आग से वह तपोवन जल उठा ॥ २१ ॥

उद्गीर्यमाणमस्त्रं तद्विश्वामित्रस्य धीमतः ।
दृष्ट्वा विमद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः ॥ २२ ॥

विश्वामित्र जी के अस्त्रों का प्रयोग देख सैकड़ों मुनि भयभीत हो चारों ओर भाग गये ॥ २२ ॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्यास्तथैव मृगपक्षिणः ।
विद्रवन्ति भयाद्भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी के जो शिष्य थे तथा जो हज़ारों पशु पक्षी वहाँ रहते थे, वे भी सब भयभीत हो चारों ओर भाग गये ॥ २३ ॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन्महात्मनः ।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीद्दिरिणसन्निभम् ॥ २४ ॥

महात्मा वशिष्ठ जी के आश्रम में एक भी जीवधारी न रहा। घड़ी भर में ही वहां सन्नाटा छा गया अथवा वह आश्रम ऊसर भूमि की तरह उजाड़ हो गया ॥ २४ ॥

वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः ।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः ॥ २५ ॥

वशिष्ठ जी उन सब से वार वार चिल्ला चिल्ला कर यह कहते जाते थे कि, डरो मत ! डरो मत ! मैं विश्वामित्र का अभी उसी प्रकार नाश किये डालता हूँ जैसे सूर्य कोहरे का नाश करते हैं ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतांवरः ।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उन सब से यह कह कर तपस्विप्रवर वशिष्ठ जी ने रोष में भर विश्वामित्र जी से यह कहा ॥ २६ ॥

आश्रमं चिरसंवृद्धं यद्विनाशितवानसि ।
दुराचारोसि यन्मूढ तस्मात्त्वं न भविष्यसि ॥ २७ ॥

तूने मेरे बहुत पुराने और भरे पूरे इस आश्रम को नष्ट कर दिया है। अतएव हे दुराचारी और मूढ़ ! अब तू न बचने पावेगा ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः ।
विधूममिव कालाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥ २८ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

यह कह कर वशिष्ठ जी ने क्रोध पूर्वक बड़े वेग से अपना दण्ड उठाया जो धूमरहित कालाग्नि के समान अथवा दूसरा यम-दण्ड जैसा था ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:※:—

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः ।
आग्नेयमस्त्रमुत्क्षिप्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

वशिष्ठ जी के ऐसे कठोर वचन सुन कर, महाबली विश्वामित्र ने आग्नेयास्त्र उठाया और कहा खड़ा रह ! खड़ा रह ! ॥ १ ॥

ब्रह्मदण्डं समुत्क्षिप्य कालदण्डमिवापरम् ।
वसिष्ठो भगवान्क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

वशिष्ठ जी ने भी दूसरे कालदण्ड के समान ब्रह्मदण्ड को उठा कर क्रोधपूर्वक विश्वामित्र से यह कहा ॥ २ ॥

क्षत्रबन्धो[1] स्थितोऽस्म्येष यद्बलं तद्विदर्शय ।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥ २ ॥

अरे क्षत्रियों में नीच ! ले मैं खड़ा हूँ । तूने महादेव से जो अस्त्र शस्त्र प्राप्त किये हैं, उन सब को मेरे ऊपर चला । अरे गाधि के लोकदे ! तुझे जो इन अस्त्रों की शेखी है, उसे भी मैं अभी दूर किये देता हूँ ॥ ३ ॥

---

१ क्षत्रबन्धो—क्षत्रियाधम । (गो०)

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥ ४ ॥

अरे कहां क्षत्रियों का पशुबल ! और कहां ब्राह्मणों का बड़ा तपबल ! ओ क्षत्रियाधम ! मेरा दिव्य ब्रह्मबल देख ॥ ४ ॥

तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुद्यतम् ।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥ ५ ॥

वशिष्ठ जी ने अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र का चलाया हुआ वह भयङ्कर आग्नेयास्त्र उसी प्रकार शान्त कर दिया, जैसे जल आग को शान्त कर देता है ॥ ५ ॥

वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा ।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥ ६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र ने क्रुद्ध हो वरुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत, तथा ऐषीक अस्त्र चलाये ॥ ६ ॥

मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा ।
जृम्भणं मादनं चैव सन्तापनविलापने ॥ ७ ॥

फिर मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृम्भण, मादन, सन्तापन; विलापन, ॥ ७ ॥

शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम् ।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥ ८ ॥

शोषण, दारण, सुदुर्जय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वरुणपाश, ॥ ८ ॥

पैनाकास्त्रं च दयितं शुष्कार्द्रे अशनी उभे ।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥

पिनाकास्त्र, प्यारा शुष्कार्द्र, दोनों अशनी, दण्डास्त्र, पैशाचास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, ॥ ९ ॥

धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च ।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥ १० ॥

धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वायव्यास्त्र, मथनास्त्र तथा हयशिरास्त्र भी चलाये ॥ १० ॥

शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥ ११ ॥

तथा दोनों शक्तियों भी चलायीं । तदनन्तर कङ्काल, मुसल, धर नामक महास्त्र, कठोर कालास्त्र ॥ ११ ॥

त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥

घोर त्रिशूल, कापाल और कङ्कणास्त्र !-हे राम ! ये सब अस्त्र विश्वामित्र जी ने वशिष्ठ जी के ऊपर चलाये ॥ १२ ॥

वसिष्ठे जपतांश्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ॥ १३ ॥

किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात हुई कि, ब्रह्मा जी के पुत्र और तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी ने इन सब ही अस्त्रों को अपने ब्रह्म-दण्ड से ग्रस लिया (अर्थात् पकड़ लिया) ॥ १३ ॥

तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान्गाधिनन्दनः ।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १४ ॥

इन सब अस्त्रों के विफल होने पर विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र चलाने के लिये उठाया, यह देख अग्न्यादि देव ॥ १४ ॥

देवर्षयश्च संभ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः ।
त्रैलोक्यमासीत्संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते ॥ १५ ॥

देवर्षि, गन्धर्व और महोरग घबड़ा गये । ब्रह्मास्त्र के उठाते ही तीनों लोक बहुत भयभीत हुए ॥ १५ ॥

तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मेण तेजसा ।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव ॥ १६ ॥

किन्तु, हे राम ! उस ब्रह्मास्त्र को भी अपने ब्रह्मविद्याभ्यास जनित तेज से अर्थात् ब्रह्मदण्ड से पकड़ कर, वशिष्ठ ने शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
त्रैलोक्यमोहनं रौद्रं रूपमासीत्सुदारुणम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मास्त्र को ग्रास करते समय वशिष्ठ जी का तीनों लोकों को मोहित करने वाला और अत्यन्त डरावना रूप हो गया ॥ १७ ॥

रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः ।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः ॥ १८ ॥

उन महात्मा वशिष्ठ जी के प्रत्येक रोमकूप से धूमरहित अग्नि ज्वाला की तरह चिनगारियां निकलने लगीं ॥ १८ ॥

प्राज्वलद्ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः ।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्ड इवापरः ॥ १९ ॥

वशिष्ठ जी के हाथ का ब्रह्मदण्ड जो धूमरहित कालाग्नि के तुल्य अथवा दूसरे यमदण्ड के समान था—जल उठा ॥ १९ ॥

ततोऽस्तुवन्मुनिगणा वसिष्ठं जपतांवरम् ।
अमेयं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा ॥ २० ॥

यह देख तपस्वियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ जी की अन्य मुनिगण स्तुति करने लगे और बोले—हे ब्रह्मन् ! आपका बल अमोघ है । आप ब्रह्मास्त्र के इस तेज को अपने तप की महिमा से शान्त कीजिये ॥ २० ॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन्विश्वामित्रो महातपाः ।
प्रसीद जपतांश्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः ॥ २१ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने इस महातपा विश्वामित्र का गर्व खर्व कर दिया । हे तपस्विप्रवर ! अब आप प्रसन्न हों, जिससे सब लोगों को शान्ति प्राप्त हो ॥ २१ ॥

एवमुक्तो महातेजाः शम चक्रे महातपाः ।
विश्वामित्रोऽपि निकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत् ॥२२॥

मुनियों के ऐसा कहने पर महातपा वशिष्ठ जी शान्त हो गये । तिरस्कृत विश्वामित्र भी ठंडी साँस ले कर यह बोले ॥ २२ ॥

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥ २३ ॥

क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। ब्रह्मतेज ही का बल यथार्थ बल है। देखो कि, अकेले ब्रह्मदण्ड ने मेरे सब अस्त्र निकम्मे कर डाले ॥ २३ ॥

तदेतत्समवेक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः[1] ।
तपो महत्समास्थास्ये यद्धि ब्रह्मत्वकारणम् ॥ २४ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

अतः मैं अब क्षत्रिय-स्वभाव-सुलभ रोष को परित्याग कर, ब्राह्मण होने के लिये तप करूँगा, जो ब्राह्मणत्व प्राप्त होने का कारण अर्थात् उपाय है ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

ततः सन्तप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना ॥ १ ॥

अपने तिरस्कार को बारंबार स्मरण कर विश्वामित्र का हृदय सन्तप्त हुआ और वशिष्ठ जी के साथ बैर करने का जो फल प्राप्त हुआ उसके लिये वे ऊँची स्वाँसे खींच लेते हुए अर्थात् क्रोध से दग्ध होते हुए ॥ १ ॥

---

१ प्रसन्नेन्द्रियमानसः—परित्यक्त क्षत्ररोष (गो०) । परित्यक्तक्षत्र स्वभाव (रा०) ।

स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव ।
ततापं परमं घोरं विश्वामित्रो महत्तपः ॥ २ ॥

हे रामचन्द्र ! विश्वामित्र अपनी रानी सहित दक्षिण दिशा में चले गये और वहाँ उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की ॥ २ ॥

अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः ।
हविःष्यन्दो मधुष्यन्दो दृढनेत्रो महारथः ॥ ३ ॥

विश्वामित्र जी के कुछ दिनों बाद सत्यवादी, महारथी और धर्मात्मा हविष्यन्द, मधुष्यन्द, दृढ़नेत्र नाम के पुत्र हुए ॥ ३ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ ४ ॥

जब तप करते करते एक हज़ार वर्ष पूरे हो गये, तब लोकपितामह ब्रह्मा जी प्रकट हुए और तपस्वी विश्वामित्र जी से बोले ॥ ४ ॥

जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज ।
अनेन तपसा त्वां तु राजर्षिरिति विद्महे ॥ ५ ॥

हे कुशिक के पुत्र ! हे राजर्षे ! तुमने तप के बल से राजर्षियों के लोक जीत लिये । अतः तुम (अपनी इस तपस्या के प्रभाव से) राजर्षि हुए ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः ।
त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः ॥ ६ ॥

यह कह कर लोकेश्वर ब्रह्मा जी देवताओं सहित अपने ब्रह्मलोक को और देवगण स्वर्ग को चले गये ॥ ६ ॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टः समन्यु[1]रिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन विश्वामित्र जी ने मारे लज्जा के मुख नीचा कर लिया और परम दुःखित हो, दीनता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

तपश्च सुमहत्तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः ।
देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपःफलम् ॥ ८ ॥

हा ! इतना घोर तप करने पर भी समस्त देवता और ऋषि मुझे राजर्षि ही मानते हैं, (ब्रह्मर्षि नहीं) अतः मैं इसको तप का फल ही नहीं मानता ॥ ८ ॥

इति निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः ।
तपश्चचार काकुत्स्थ परमं परमात्मवान् ॥ ९ ॥

हे राघव ! अपने मन में यह निश्चय कर, परम यत्नवान् महा-तपस्वी विश्वामित्र फिर कठोर तप करने लगे ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥ १० ॥

इसी बीच में सत्यवादी और जितेन्द्रिय इक्ष्वाकुवंशी त्रिशङ्कु नामक, राजा के ॥ १० ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ।
गच्छेयं स्वशरीरेण देवानां परमां गतिम् ॥ ११ ॥

---

१ समन्युः—सदैन्यः । (गो०)

मन में, हे राघव ! यह बात उठी कि; हम ऐसा कोई यज्ञ करें, जिससे हम अपने इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग जाँय ॥ ११ ॥

स वसिष्ठं समाहूय कथयामास चिन्तितम् ।
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ॥ १२ ॥

और अपने मन के इस विचार को, वशिष्ठ जी को बुला कर उनके सामने प्रकट किया । महात्मा वशिष्ठ जी ने त्रिशङ्कु का विचार सुन कर कहा कि, ऐसा होना असम्भव है ॥ १२ ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ।
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ॥ १३ ॥

जब वशिष्ठ जी ने त्रिशङ्कु को यह सूखा जवाब दे दिया, तब वह दक्षिण दिशा में अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये वशिष्ठ जी के पुत्रों के पास गया ॥ १३ ॥

वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ।
त्रिशङ्कुः सुमहातेजाः शतं[1] परमभास्वरम् ॥ १४ ॥
वसिष्ठपुत्रान्ददृशे तप्यमानान्यशस्विनः ।
सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ॥१५॥

जाते जाते राजा त्रिशङ्कु वहाँ पहुँचा जहाँ वशिष्ठ जी के पुत्र बड़ा तप कर रहे थे । वहाँ जा महातेजस्वी त्रिशङ्कु ने वशिष्ठ जी के बड़े यशस्वी पुत्रों को देखा कि, वे सब के सब तपस्या में लीन हैं । उन सब महात्मा गुरुपुत्रों के पास जा ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१ शतंवासिष्ठानिति—बह्वर्थेशतमितिनिपातनात्सप्तमानाधिकरण्यं । (गो०)

अभिवाद्यानुपूर्व्येण ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ।
अब्रवीत्सुमहाभागान्सर्वानेव कृताञ्जलिः ॥ १६ ॥

त्रिशङ्कु ने यथाक्रम सब को प्रणाम किया, किन्तु वे लज्जा के मारे मुख नीचे ही किये रहे और हाथ जोड़ कर उन सब महात्मा गुरुपुत्रों से बोले ॥ १६ ॥

शरणं वः प्रपद्येऽहं शरण्याञ्शरणागतः ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना ॥१७॥

आप शरणागत की रक्षा करने वाले हैं। अतः मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैंने आपके पिता जी से यज्ञ कराने को कहा था किन्तु उन्होंने मुझे जवाब दे दिया (अर्थात् यज्ञ कराने से इंकार कर दिया) ॥ १७ ॥

यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ।
गुरुपुत्रान सर्वान्नमस्कृत्य प्रसादये ॥ १८ ॥

अब आप लोगों से प्रार्थना है कि, उस महायज्ञ करने की आज्ञा हो। मैं अपने सब गुरुपुत्रों को प्रसन्न करने के लिये उनको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ।
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः ॥ १९ ॥

मैं बारम्बार प्रणाम कर, आप तपस्वी ब्राह्मणों से यह माँगता हूँ कि, आप लोग मुझे सावधानता पूर्वक यज्ञ करावें, जिससे मेरा मनोरथ सिद्ध हो ॥ १९ ॥

सशरीरो यथाहं हि देवलोकमवाप्नुयाम् ।
प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ॥ २० ॥

और जिससे मैं इसी शरीर से स्वर्ग जाऊँ। हे तपोधनो ! गुरु वशिष्ठ जी ने तो मुझे जवाब दे दिया, अतः मैं गुरुपुत्रों को छोड़ इस काम के लिये अन्य किसी को योग्य नहीं समझता ॥२०॥

गुरुपुत्रानृते सर्वान्नाहं पश्यामि कांचन ।
इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ॥ २१ ॥

यदि आप सब लोगों ने भी सूखा ही टरकाया तो मुझे और कोई नहीं देख पड़ता। इक्ष्वाकुवंशीय सब राजाओं के तो काम उनके पुरोहित द्वारा ही होते रहे हैं अथवा राजा इक्ष्वाकु के वंश की यह, रीति है कि, सदा पुरोहित से प्रीति करें अतः मेरा आपके शरण में आना कोई अनोखी बात नहीं है ॥ २१ ॥

पुरोधसस्तु विद्वांसस्तारयन्ति सदा नृपान् ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम[1] ॥ २२ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रेष्ठ विद्वान् वशिष्ठ जी ही इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के सदा से रक्षक रहे हैं। उनके अनन्तर आप सब लोग ही मेरे रक्षक हैं ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ तस्यारक्षकत्वेनानन्तरं त्वं रक्षकोऽसीति भावः। (गो०)

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

हे राम ! राजा त्रिशङ्कु का वचन सुन वशिष्ट जी के सौ पुत्र क्रोध कर उससे यह बोले ॥ १ ॥

प्रत्याख्यातो हि दुर्बुद्धे गुरुणा सत्यवादिना ।
ते कथं समतिक्रम्य शासनान्तरमुपेयिवान् ॥ २ ॥

हे दुर्बुद्धे ! तेरे सत्यवादी गुरु ने तुझे जिस बात के लिये निषेध कर दिया, उनकी उस आज्ञा की अवहेला कर, तू दूसरों के पास क्यों आया है ॥ २ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमो गुरुः ।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ ३ ॥

(तेरे ही कथनानुसार) इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के लिये पुरोहित वशिष्ठ जी ही परमगति हैं । उन सत्यवादी की बात को टालना हमारे लिये असम्भव है ॥ ३ ॥

अशक्यमिति चोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथं तव ॥ ४ ॥

भला जिस यज्ञ के विषय में भगवान् ऋषि वशिष्ठ जी कह चुके हैं कि, यह नहीं हो सकता, (ज़रा सोच तो) उस तेरे यज्ञ को हम कैसे करा सकते हैं ॥ ४ ॥

[नोट—वशिष्ठ जी के पुत्रों के क्रुद्ध होने का कारण यही था। उन लोगों ने समझा कि, विश्वामित्र हमारे और हमारे पिता के बीच वैर करवाना चाहते हैं। यही बात ये यहाँ कह रहे हैं।]

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः।
याजनं भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥ ५ ॥

हे राजन्! हम जान गये तुम अनाड़ी हो। तुम अब अपनी राजधानी को लौट जाओ। हे राजन्! भगवान् वशिष्ठ जी तो तीनों लोकों का भी यज्ञ करा सकते हैं, फिर तुम तो उनके शिष्य ही हो। (यदि उन्होंने तुमको किसी कारण विशेष वश यज्ञ कराना नहीं चाहा तो इसका यह अर्थ मत समझो कि, वे वैसा यज्ञ करा नहीं सकते; किन्तु उनका वैसा न करवाना तुम्हारे ही हित के लिये है) ॥ ५ ॥

अवमानं च तत्कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे कथम्।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥

हम उनका अपमान कैसे कर सकते हैं। उनके ऐसे क्रोधयुक्त वचन सुन, ॥ ६ ॥

स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत्।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ ७ ॥

राजा ने उनसे फिर यह कहा—अच्छा महाराज! गुरु जी ने जिस प्रकार जवाब दे दिया, उसी प्रकार आप लोगों ने भी मुझे सूखा टरकाया है ॥ ७ ॥

अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः।
ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥८॥

हे तपस्वियो ! आप लोग आनन्द कीजिये मैं अब जाता हूँ और अन्य किसी के शरण में जाऊँगा । ऋषि पुत्रों ने जब राजा के मुख से निकले हुए ऐसे घोर अपमान कारक वचन सुने ॥ ८ ॥

शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
एवमुक्त्वा महात्मानो विविशुस्ते स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥

तब वे परम क्रुद्ध हुए और राजा को शाप दिया कि, "तू चण्डाल हो जायगा" । यह शाप दे वे सब उठ कर अपनी अपनी कुटियों के भीतर चले गये ॥ ९ ॥

अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरोः नीलः परुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥

रात वीतने पर राजा चण्डालता को प्राप्त हो गया । (पीताम्बर की जगह) उसने नीले रङ्ग का तहमत पहना, उसका शरीर भी काला पड़ गया । शरीर पर रुखाई आ गयी । सिर के बाल छोटे हो गये ॥ १० ॥

चित्यमाल्यानुलेपश्च आयसाभरणोऽभवत् ।
तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥११॥
भ्रातृवन्सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥

चिता की भस्म शरीर में पुत गई । और उसके जितने (सोने के) गहने थे वे सब लोहे के हो गये । हे राम ! इस प्रकार राजा को चण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, सब पुरवासी, जो उसके अनुगामी थे,

नगर से भाग गये। हे राम! तब राजा भी वहाँ से अकेला चल दिया ॥ ११ ॥ १२ ॥

दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥

और रात दिन चिन्ताकुल वह राजा तपस्वी विश्वामित्र जी के पास गया। विश्वामित्र जी को, उस राजा को राज्य-भ्रष्ट ॥ १३ ॥

चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
कारुण्यात्स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥

और चण्डालत्व को प्राप्त हुआ देख, उस पर दया आयी। दयावश, महातेजस्वी और परम धार्मिक विश्वामित्र जी ने ॥ १४ ॥

इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोररूपिणम् ।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥

इस घोर रूपधारी राजा से यह कहा—हे महाबली राजपुत्र! तुम्हारा मङ्गल हो। मेरे पास तुम किस काम के लिये आये हो? ॥ १५ ॥

अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः ।
अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥ १६ ॥

मैं यह जानता हूँ कि, तुम अयोध्या के राजा हो और इस समय तुम चण्डाल के रूप में हो। चण्डालता को प्राप्त राजा त्रिशङ्कु इन वाक्यों को सुन ॥ १६ ॥

अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।
प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।
सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्य दर्शनम् ॥ १८ ॥

वचन बोलने में चतुर राजा हाथ जोड़ कर, परम चतुर विश्वामित्र से बोला। महाराज ! मेरे गुरु और उनके पुत्रों ने मुझे हताश किया है। मैं चाहता था कि, मैं सशरीर स्वर्ग जाऊँ सो तो उन्होंने न किया, उलटा मुझे चण्डाल बनाकर इस लोक में भी मुँह दिखाने योग्य नहीं रखा ॥ १७ ॥ १८ ॥

मया चेष्टं क्रतुशतं तच्चानावाप्यते फलम् ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥

महाराज मैंने जो सौ यज्ञ किये उसका फल भी मुझे न मिला। मैं न तो कभी झूठ बोला न कभी बोलूँगा* ॥ १९ ॥

कृच्छ्रेऽपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।
यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥

भले ही मुझ पर कोई कष्ट ही क्यों न पड़े। मैं क्षात्रधर्म की शपथ खा कर कहता हूँ मैंने अनेक यज्ञ किये, धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किया, ॥ २० ॥

गुरवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः ।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥

---

* यह बात राजा त्रिशङ्कु ने इसलिये कही है कि, झूठ बोलने से यज्ञफल नष्ट हो जाता है।

अपने शील और आचरण से पूज्य जनों और महात्माओं को सन्तुष्ट किया। अब मैं धर्म ही के लिये एक यज्ञ और करना चाहता हूँ ॥ २१ ॥

परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव ।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥

हे मुनिपुङ्गव ! परन्तु गुरु लोग राज़ी न हुए। सो हे मुने ! मैं तो भाग्य ही को प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २२ ॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः ।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः ।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥

जो कुछ होता है वह भाग्य ही से होता है, भाग्य ही सब कुछ है। सो मुझ परमदीन हतभाग्य पर आप कृपा कीजिये, आपका भद्र हो ॥ २३ ॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यः शरणमस्ति मे ।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

मैं न तो किसी दूसरे के पास जाऊँगा और न मुझे कोई दूसरा इसके योग्य देख ही पड़ता है। अतः आप अपने पुरुषार्थ से मेरे दुर्भाग्य को दूर कीजिये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:*:—

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालरूपिणम् ॥ १ ॥

साक्षात् चण्डालता को प्राप्त राजा ने जब ऐसा कहा तब उस पर कृपाकर विश्वामित्र जी ने उससे मधुर वाणी से कहा ॥१॥

ऐक्ष्वाक स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम् ।
शरणं ते भविष्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥ २ ॥

हे राजन् ! मैं तेरा स्वागत करता हूँ। मैं जानता हूँ कि, तू धर्मात्मा है। मैं तुझे अपने शरण में लूँगा ; अथवा मैं तेरी रक्षा करूँगा। तू मत डर ॥ २ ॥

अहमामन्त्रये सर्वान्महर्षीन्पुण्यकर्मणः ।
यज्ञसाह्यकरान्राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥ ३ ॥

हे राजन् ! मैं सब पुण्यकर्मनिरत महर्षियों के पास न्योता भेजता हूँ। वे सब आकर यज्ञ में सहायता करेंगे और तू सानन्द यज्ञ करेगा ॥ ३ ॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते ।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥ ४ ॥

गुरु शाप से तेरा यह जो रूप विगड़ गया है सो तू इसी रूप से और इसी शरीर से स्वर्ग को जायगा ॥ ४ ॥

हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप ।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥ ५ ॥

हे राजन्! जब तू शरणागतवत्सल विश्वामित्र के शरण में आ चुका तब स्वर्ग को तो मैं तेरे हाथ में आया हुआ ही समझता हूँ ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान्परमधार्मिकान् ।
व्यादिदेश महामाज्ञान्यज्ञसंभारकारणात् ॥ ६ ॥

राजा से यह कह कर विश्वामित्र जी ने परम धार्मिक अपने पुत्रों को यज्ञ की तैयारी करने की आज्ञा दी ॥ ६ ॥

सर्वाञ्शिष्यान्समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह ।
सर्वान्नृपि[1]गणान्वत्सा आनयध्वं ममाज्ञया ॥ ७ ॥

फिर अपने सब शिष्यों को बुला कर उनसे कहा कि, हे वत्सो! तुम लोग जाकर मेरी आज्ञा से सब ऋषियों को और वशिष्ठ के पुत्रों को लिवा लाओ ॥ ७ ॥

सशिष्यसुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान् ।
यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः ॥ ८ ॥

वे सब अपने अपने शिष्यों, सुहृदों, ऋत्विजों और विद्वानों सहित आवें । और जो कोई मेरी आज्ञा के विरुद्ध कुछ कहे ॥ ८ ॥

तत्सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया ॥ ९ ॥

उसकी वह पूरी (मेरे अपमान की) बात आकर मुझसे कहो । विश्वामित्र जी के वचन सुन और उनकी आज्ञा से वे सब चारों ओर चल दिये ॥ ९ ॥

---

१ पाठान्तरे—सर्वानृषीन्सवासिष्ठानानयध्वंममाज्ञया ।

आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः ।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ १० ॥

विश्वामित्र जी का न्योता पाकर अनेक देशों से ब्रह्मवादी ऋषि आने लगे। शिष्य भी (जो न्योता देने गये थे) परम तेजस्वी विश्वामित्र ही के पास लौट कर आ गये ॥ १० ॥

ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम् ।
श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः ॥ ११ ॥

और बोले—आपका न्योता पा कर सब ब्रह्मवादी ऋषि और ब्राह्मण आ रहे हैं ॥ ११ ॥

सर्वदेशेषु चागच्छन्वर्जयित्वा महोदयम् ।
वासिष्ठं तच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ १२ ॥

सब देश के ऋषि तो आ भी चुके हैं, पर महोदय नामक ऋषि नहीं आये। इनके अतिरिक्त वशिष्ठ जी के सब पुत्रों ने महाक्रुद्ध हो जो कुवाच्य ॥ १२ ॥

यदाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।
क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ॥ १३ ॥

कहे, वे सब, हे मुनिपुङ्गव ! सुनिये। वे बोले कि, जिस यज्ञ में, विशेष कर चण्डाल के यज्ञ में, क्षत्रिय तो याजक—यज्ञ कराने वाला हो ॥ १३ ॥

कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चण्डालभोजनम् ॥१४॥

कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।
एतद्वचनवैक्लव्यमूचुः संरक्तलोचनाः ॥ १५ ॥

उस यज्ञ में देवर्षि किस प्रकार हविग्रहण करेंगे और ब्राह्मण वा महात्मा लोग जो विश्वामित्र के वश में हो चण्डाल का अन्न भोजन करेंगे कैसे स्वर्ग जांयगे ? ये कठोर वचन, क्रोध में भर ॥ १४ ॥ १५ ॥

वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे ते समहोदयाः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥

हे मुनिशार्दूल ! वशिष्ठ के उन सब पुत्रों ने तथा महोदय ऋषि ने कहे हैं । उन शिष्यों के मुख से ये सब वचन सुन कर विश्वामित्र जी ॥ १६ ॥

क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।
ये दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥

मारे क्रोध के लाल नेत्र कर, रोष सहित यह बोले । देखो मैं महा उग्र तपस्या कर रहा हूँ सब प्रकार से दोष रहित हूँ । तिस पर भी जो वशिष्ठ के दुष्ट पुत्र मुझे दूषण देते हैं वे सब के सब ॥ १७ ॥

भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।
अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

दुरात्मा, निश्चय हो भस्म हो जांयगे और कालपाश में बंधे हुए आज ही यमपुरी में पहुँचा दिये जांयगे ॥ १८ ॥

सप्त जातिशतान्येव मृतपाः सन्तु सर्वशः ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥ १९ ॥

और सात सौ जन्म तक "मृतपा" (शव भक्षी) मुर्दा खाने वाले होंगे। उन्हें नियमित रूप से कुत्ते का मांस खाना पड़ेगा और "मुष्टिक" उनका नाम होगा ॥ १९ ॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान्।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत् ॥ २० ॥

निर्दयी, घृणित, और कुरूप हो कर इधर उधर घूमेंगे। महोदय नामक दुर्बुद्धि ने मुझ निर्दोष को जो दोष लगाय है ॥ २० ॥

दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः।
दीर्घकालं मम क्रोधाद्दुर्गतिं वर्तयिष्यति ॥ २१ ॥

सो वह सब लोगों से दूषित हो निषाद योनि पावेगा और हिंसक तथा निर्दयी हो कर दीर्घकाल तक मेरे क्रोध से बड़ी दुर्गति भोगेगा ॥ २१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

महातपस्वी विश्वामित्र जी ऋषियों के बीच बैठे हुए इस प्रकार उनको शाप दे, चुप हो गये ॥ २२ ॥

बालकाण्ड का उनसठवां सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

षष्टितमः सर्गः

—: o :—

तपोबलहतान्कृत्वा वसिष्ठान्समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

महोदय सहित वशिष्ठ जी के पुत्रों को अपनी तपस्या के बल से मरा हुआ जान, महातेजस्वी विश्वामित्र ऋषियों के बीच में बैठे हुए बोले ॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुवंशी यह प्रसिद्ध राजा त्रिशङ्कु, जो धर्मिष्ट और उदार है, मेरे शरण में आया है ॥ २ ॥

तेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥

अपने इसी शरीर से देवलोक (स्वर्ग) को जाना चाहता है । इसलिये जिस प्रकार यह अपने इसी शरीर से स्वर्गलोक में जाय ॥ ३ ॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥

उसी प्रकार आप लोग मेरे साथ मिल कर, इसे यज्ञ करवाइये । विश्वामित्र जी के ये वचन सुन सब महर्षि लोग, ॥ ४ ॥

ऊचुः समेत्य सहिता धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥

जो धर्म का मर्म जानने वाले थे, आपस में कहने लगे—५-यह कुशिकवंशीय विश्वामित्र जी बड़े क्रोधी हैं ॥ ५ ॥

यदाह वचनं सम्यगेतत्कार्यं न संशयः ।
अग्निकल्पो हि भगवान्शापं दास्यति रोषितः ॥ ६ ॥

जो यह कह रहे हैं, यदि उसके अनुसार हम लोगों ने कार्य न किया, तो यह साक्षात् अग्नि के तुल्य विश्वामित्र क्रुद्ध हो हमें शाप दे देंगे ॥ ६ ॥

तस्मात्प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवम् ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥

अतः ऐसा यज्ञ करो जिससे यह त्रिशङ्कु विश्वामित्र के तपः प्रभाव से सशरीर स्वर्ग को चला जाय ॥ ७ ॥

तथा प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयश्चक्रुस्तास्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

सो अब सब को मिल कर यज्ञारम्भ करना चाहिये । यह कह, वे सब ऋषि लोग वेदविधान से यज्ञक्रियाएँ करने लगे ॥ ८ ॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत्क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥

उस यज्ञ में याजक विश्वामित्र जी हुए और अन्य बड़े बड़े विज्ञानी लोग जो भली भाँति वेद के मंत्रों के जानने वाले थे, यथाक्रम ऋत्विज आदि हुए ॥ ९ ॥

चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।
ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥

उन सब ने यज्ञ के समस्त कर्म विधिपूर्वक यथाक्रम किये। इस रीति से बहुत दिनों तक यज्ञ क्रिया होती रही । तदनन्तर महातपस्वी विश्वामित्र जी ने ॥ १० ॥

चकाराव्हानं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदाहूता भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

यज्ञभाग ग्रहण करने के लिये सब देवताओं को बुलाया । किन्तु बुलाने पर भी कोई भी देवता यज्ञभाग लेने को न आया ॥ ११ ॥

ततः क्रोधसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब तो महर्षि विश्वामित्र जी क्रुपित हुए और श्रुवा उठा, त्रिशङ्कु से यह बोले ॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।
एष त्वां सशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥

हे राजन् ! मेरी तपस्या का प्रभाव देखिये, मैं तुमको इसी शरीर से अपने तपोबल द्वारा स्वर्ग पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण दिवं गच्छ नराधिप ।
स्वार्जितं किञ्चिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥१४॥

हे राजन् ! यद्यपि इस (पार्थिव) शरीर से स्वर्ग में जाना असम्भव है, तथापि मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत तपस्या का फल है, ॥ १४ ॥

राजन्स्वतेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज ।
उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥

हे राजन् ! उसके द्वारा तू सशरीर स्वर्ग को जा । जब विश्वामित्र ने यह कहा तब त्रिशङ्कु सशरीर ॥ १५ ॥

दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा ।
देवलोकगतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥

मुनियों की आंखों के सामने स्वर्ग को गये और वहां पहुँच गये । हे राम ! सशरीर राजा त्रिशङ्कु को स्वर्ग में आया हुआ देख, उससे इन्द्र ने ॥ १६ ॥

सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।
त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥

अन्य सब देवताओं सहित कहा, हे त्रिशङ्कु ! तू पृथिवी पर ही जा कर रह, तू स्वर्ग में रहने योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत्पुनः ॥ १८ ॥

क्योंकि तू गुरु के शाप से शापित है, अतः हे मूर्ख ! तू नीचे को सिर कर ज़मीन पर गिर । इन्द्र के यह कहते ही त्रिशङ्कु नीचे की ओर गिरने लगा ॥ १८ ॥

विक्रोशमानस्त्राहीति त्रिश्वामित्रं तपोधनम् ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥

और विश्वामित्र जी को पुकार कर कहने लगा । मुझे बचाइये ! बचाइये !! इस प्रकार चिल्लाते हुए राजा के ऐसे वचन सुन विश्वामित्र जी ॥ १९ ॥

रोषमाहारयत्तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।
ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥

महाकुपित हो बोले—'तिष्ठ तिष्ठ" (वहीं) ठहर ! (वहीं) ठहर ! उस समय ऋषियों के बीच, विश्वामित्र जी दूसरे प्रजापति जैसे मालूम पड़ने लगे ॥ २० ॥

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः ।
नक्षत्रमालामपरामसृजत्क्रोधमूर्छितः ॥ २१ ॥

विश्वामित्र जी ने कुपित हो दक्षिण दिशा में पहले तो नवीन सप्तर्षियों की रचना की, तदनन्तर अश्विनी आदि सत्ताइस नये नक्षत्र बना डाले ॥ २१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय मुनिमध्ये महातपाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥

क्रोध से विकल और ऋषियों के बीच में बैठे हुए विश्वामित्र जी जब दक्षिण दिशा में नवीन नक्षत्र बना चुके तब विचारने लगे कि, ॥ २२ ॥

अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
देवतान्यपि स क्रोधात्सृष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

(मैंने जो यह नये स्वर्ग की कल्पना की है उसके लिये) एक नया इन्द्र भी बनाऊँ अथवा (इस नये स्वर्ग को) बिना इन्द्र के ही रहने दूँ । (और इस नवीन स्वर्ग का मालिक त्रिशङ्कु ही हो ।) फिर वे क्रोध में भर नवीन देवताओं को भी रचना करने लगे ॥ २३ ॥

ततः परमसंभ्रान्ताः सर्षिसंघाः सुरासुराः ।
सकिन्नरमहायक्षाः सहसिद्धाः सचारणाः ॥ २४ ॥

तब तो ऋषि, देवता, असुर, किन्नर, यक्ष, सिद्ध और चारण बहुत घबड़ाये ॥ २४ ॥

विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ।
अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः ॥ २५ ॥

और विश्वामित्र जी के पास जा कर विनय पूर्वक कहने लगे, हे महाभाग ! यह राजा गुरुशाप से शापित होने के कारण ॥ २५ ॥

सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः ॥ २६ ॥

हे तपोधन ! सशरीर स्वर्ग में जाने के योग्य नहीं है। उन देवताओं का यह वचन सुन महर्षि ॥ २६ ॥

अब्रवीत्सुमहद्वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ।
सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः ॥ २७ ॥

विश्वामित्र उन सब देवताओं से बोले कि, हे महात्माओ ! आपका कल्याण हो, इस राजा त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग में ॥ २७ ॥

आरोहणं प्रतिज्ञाय नानृतं कर्तुमुत्सहे ।
स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरत्र शाश्वतः ॥ २८ ॥

पहुँचाने की मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे मैं अन्यथा नहीं कर सकता। इस राजा त्रिशङ्कु को निरन्तर स्वर्ग में रखने के लिये ॥२८॥

नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ।
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥२९॥

मेरे बनाये ध्रुव सहित वे सब नक्षत्र, तब तक बने रहैं, जब तक अन्य सब लोक बने रहैं। अर्थात् जब तक अन्य स्वर्गादि लोक रहैं, तब तक मेरा बनाया हुआ नया स्वर्ग भी रहै, ॥ २९ ॥

मत्कृतानि सुराः सर्वे सदनुज्ञातुमर्हथ ।
एवमुक्ताः सुराः सर्वे मत्पूर्वमुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥

और मेरे बनाये सब देवता भी रहैं। हे देवताओ ! तुम सब ऐसी अनुमति दो। यह सुन उन सब देवताओं ने विश्वामित्र जी से कहा, ॥ ३० ॥

एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ।
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः ॥ ३१ ॥

अच्छी बात है, आपका मङ्गल हो। आपके बनाये ये (नक्षत्र, ध्रुव, तथा देवता) सदैव बने रहैंगे ; किन्तु प्राचीन वैश्वानरमार्ग के बाहर रहैंगे ॥ ३१ ॥

नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ।
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसन्निभः ॥ ३२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! उन चमकते हुए नक्षत्रों में अधोमुख राजा त्रिशंकु भी अमर के तुल्य (देवताओं की तरह) बना रहैगा ॥ ३२ ॥

अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ।
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा ॥ ३३ ॥

और जिस प्रकार कीर्तिवान् एवं सिद्धमनोरथ जीव के पीछे नक्षत्र चलते हैं, उसी प्रकार त्रिशङ्कु के पीछे पीछे आपके बनाये हुए सब नक्षत्र भी चला करेंगे ॥ ३३ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
ऋषिभिश्च महातेजा वाढमित्याह देवताः ॥ ३४ ॥

देवताओं ने धर्मात्मा विश्वामित्र जी से इस प्रकार कहा और उनकी स्तुति की। विश्वामित्र जी ने भी उनकी (देवताओं) की बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततो देवा महात्मानो मुनयश्च तपोधनाः ।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३५ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

हे राम ! उस यज्ञ में जो देवता और तपस्वी ऋषि आये थे वे यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ ३५ ॥

वालकाण्ड का साठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रो महात्माथ प्रस्थितान्प्रेक्ष्य तानृषीन् ।
अब्रवीन्नरशार्दूलः सर्वांस्तान्वनवासिनः ॥ १ ॥

हे राम ! नरशार्दूल महात्मा विश्वामित्र जी ने उन ऋषियों को जाते हुए देख कर, उन सब तपोवन के रहने वालों से यह कहा ॥१॥

महान्विघ्नः मदुत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम् ।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥

इस दक्षिण दिशा में रहने से मेरी तपस्या में यह एक बड़ा विघ्न पड़ा । अतः अन्य किसी दिशा में जा कर मैं अब तप करूँगा ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः ।
सुखं तपश्चरिष्यामो वरं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

विशाल पश्चिम दिशा में, जहाँ पुष्कर तीर्थ है और जिसके समीप बहुत अच्छा तपोवन है, मैं जा कर सुख से तप करूँगा ॥३॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥

यह कह विश्वामित्र जी पुष्कर को चले गये और वहाँ पहुँच कर और फल मूल खा कर वे उग्र तप करने लगे ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्नृपः ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इसी बीच में अयोध्या के अम्बरीष नामक राजा ने अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

उस राजा के यज्ञपशु को इन्द्र चुरा कर ले गये । पशु के इस प्रकार नष्ट होने पर पुरोहित ने राजा से कहा ॥ ६ ॥

पशुरद्य हृतो राजन्प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥

हे राजन्! आज यज्ञपशु चोरी गया है सो तुम्हारी अनवधानता ही से गया है। यह अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि अरक्षित पशु के हरे जाने का दोष रक्षक ही के माथे रहता है ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत्कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

हे राजन्! अतएव यज्ञकर्म समाप्त होते होते या तो कोई दूसरा पशु लाइये अथवा गोधन दे कर कोई नर ही शीघ्र लाइये, जिससे, इस विघ्न का प्रायश्चित हो ॥ ८ ॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभ।
अन्वियेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥

पुरोहित के वचन सुन वह नरोत्तम बड़ा बुद्धिमान् राजा सहस्रों गौएं दे कर यज्ञ पशु को ढूँढ़ने लगे ॥ ९ ॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान्नगराणि वनानि च।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥ १० ॥

उन्होंने यज्ञपशु की तलाश में अनेक देश, नगर, जनपद, वन, आश्रम और तीर्थ मझा डाले ॥ १० ॥

स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं सन्ददर्श ह ॥ ११ ॥

पशु को तलाश करते करते अम्बरीष ने भृगुतुङ्ग नामक किसी पर्वत के शृङ्ग पर भार्या और पुत्रों सहित बैठे हुए ऋचीक को देखा ॥ ११ ॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
ब्रह्मर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥

महाप्रतापी राजा ने मुनि को प्रणाम कर उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न किया और तपस्या में निरत ब्रह्मर्षि से ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥

पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।
सर्वे परिसृता देशा याज्ञीयं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥

कुशलप्रश्न पूँछा । तदनन्तर अम्बरीष ने ऋचीक से कहा कि, यदि आप एक लाख गौएँ ले कर अपने पुत्र को यज्ञपशु बनाने के लिये, हमारे हाथ बेच डालते तो मैं आपका बड़ा अनुगृहीत होता । सारे के सारे देश मझा डाले, न तो मेरा (पहला) यज्ञपशु ही का पता चला और न (दाम देने पर ही) कोई यज्ञपशु मिला ॥ १३ ॥ १४ ॥

दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।
एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद्वचः ॥ १५ ॥

अतः आप मूल्य ले कर मुझे अपना एक पुत्र दे दीजिये । यह सुन महातेजस्वी ऋचीक बोले ॥ १५ ॥

नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथञ्चन ।
ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥१६॥

हे राजन्! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को तो कभी न बेचूँगा। ऋचीक की यह बात सुन, उनके महात्मा पुत्रों की माता ॥ १६ ॥

उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।
अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥

राजा अम्बरीष से यह बोली। मेरे पति महाभाग भार्गव ने कहा है कि, ज्येष्ठपुत्र तो बेचा जा नहीं सकता (क्योंकि वह देव पितृ कर्म करने का अधिकारी है) ॥ १७ ॥

ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं नृप ।
तस्मात्कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

हे राजन्! सब से छोटे पुत्र शुनक पर आप मेरी भी बड़ी प्रीति जाने, अतः उसे मैं आपको न दूँगी ॥ १८ ॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातृणां च कनीयांसस्तस्माद्रक्षे कनीयसम् ॥ १९ ॥

हे नरश्रेष्ठ! बड़ा पुत्र पिता को और सब से छोटा माता को प्रायः बहुत प्यारा होता है। अतः मैं छोटे को न दूँगी ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

हे राम! मुनि और मुनिपत्नी की इस बातचीत को सुन, उनका मझला पुत्र शुनःशेप स्वयं राजा से बोला ॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम् ।
विक्रीतं मध्यमं मन्ये राजन्पुत्रं नयस्व माम् ॥ २१ ॥

पिता जी बड़े को बेचा नहीं चाहते और माता छोटे को देना नहीं चाहती। इससे मझले को बेचा हुआ समझ आप मुझे ले चलिये ॥ २१ ॥

गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः ।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन ॥ २२ ॥

हे राम ! यह सुन, राजा ने ऋचीक को एक लाख गौएँ दीं और शुनःशेप को ले कर वहाँ से चला ॥ २२ ॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः ।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः ॥ २३ ॥

इति एकषष्टितमः सर्गः ॥

महातेजस्वी और महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेप को रथ पर चढ़ा, वहाँ से शीघ्र रवाना हो गया ॥ २३ ॥

बालकाण्ड का एकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:०:—

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः ।
व्यश्राम्यत्पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन ॥ १ ॥

हे राम ! महायशा राजा अम्बरीष शुनःशेप को लिये हुए पुष्कर पहुँचे और दो पहर भर वहाँ विश्राम किया ॥ १ ॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः ।
पुष्करं श्रेष्ठ[1]मागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह ॥ २ ॥

जब राजा विश्राम कर रहे थे, तब अवसर पा शुनःशेप ने श्रेष्ठ पुष्कर जी में जा विश्वामित्र जी के दर्शन किये ॥ २ ॥

तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः ।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च ॥ ३ ॥

ऋषियों के समूह में बैठ कर तप करते हुए अपने मामा (विश्वामित्र) को देख, उदास, प्यासा, थका हुआ और परमातुर ॥ ३ ॥

पपाताङ्के मुनौ राम वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः ॥४॥

शुनःशेप उनकी गोद में गिर पड़ा और बोला—जब मेरे माता और पिता ही नहीं हैं, तब जाति विरादरी और भाई बन्धु ही कहां सकते हैं ॥ ४ ॥

त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गवः ।
त्राता त्वं हि मुनिश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः ॥ ५ ॥

हे सौम्य! हे मुनिराज! मैं शरणागत धर्म की दुहाई देता हूँ, मुझे बचाइये। मेरी ही क्यों? शरण आने पर आप समस्त संसार की रक्षा कर सकते हैं ॥ ५ ॥

राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः ।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥

---

१ पाठान्तरे पुष्करं ज्येष्ठं । (रा०) पुष्करक्षेत्र । (गो०)

अतः ऐसा कीजिये जिससे राजा का तो यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो जाय और मैं शतुत दिनों तक जोखित रह और उत्तम तपस्या कर अन्त में स्वर्ग जाऊं ॥ ६ ॥

त्वं मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा ।
पितेव पुत्रं धर्मज्ञ त्रातुमर्हसि किल्बिषात् ॥ ७ ॥

आप मुझ अनाथ के नाथ हो कर जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मेरी भी इस सङ्कट से रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः ।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह ॥ ८ ॥

शुनःशेप के ऐसे दीन वचन सुन, विश्वामित्र जी ने उसे बहुत कुछ सान्त्वना दी और अपने पुत्रों से बोले ॥ ८ ॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः ।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥

हे पुत्रो ! जिस परलोक के प्रयोजन के लिये पिता सत् पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, उसका समय आ पहुँचा है ॥ ९ ॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति ।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः ॥ १० ॥

हे पुत्रो ! यह ऋचीक मुनि का पुत्र है। अभी बच्चा है और हमारे शरण में आया है। इसके प्राणों की रक्षा कर हमारा प्रियकार्य करो ॥ १० ॥

सर्वे सुतकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः ।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत ॥ ११ ॥

तुम सब पुण्यात्मा और धर्मात्मा हो। अतः तुम लोग स्वयं राजा के यज्ञपशु बन कर अग्निदेव को तृप्त करो ॥ ११ ॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥

ऐसा करने से शुनःशेप के प्राण बच जायँगे, राजा का यज्ञ भी निर्विघ्न पूरा हो जायगा, देवता सन्तुष्ट होंगे और मेरी बात भी रह जायगी ॥ १२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा मधुष्यन्दादयः सुताः ।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन, उनके मधुष्यन्दादि पुत्र अभिमान सहित (अपने पिता का) उपहास करते हुए यह बोले ॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान्हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो ।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

हे महाराज ! आप अपने पुत्रों को छोड़, अन्य के पुत्र की रक्षा क्यों करते हैं ? यह तो वैसा ही कर्म है, जैसा कि सुन्दर भोज्य पदार्थों को छोड़ कुत्ते का मांस खाना। अथवा आपका कार्य उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार कुत्ते का मांस खाना अनुचित है ॥ १४ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

अपने पुत्रों की ये बातें सुन, क्रोध से लाल लाल आँखें कर, विश्वामित्र जी उनसे कहने लगे ॥ १५ ॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

तुम्हारा यह कहना उद्दण्डता पूर्ण, धर्म की दृष्टि से भी भ्रष्ट, और पितृभक्तिरहित होने के कारण दारुण (कठोर), अतएव रोमाञ्चकारी और मेरी अवज्ञा करने वाला है ॥ १६ ॥

श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

अतः तुम लोग भी वशिष्ठ जी के पुत्रों की तरह चण्डाल होकर और कुत्तों का मांस खाते हुए पूरे एक हज़ार वर्ष तक पृथिवी पर घूमोगे ॥ १७ ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान्पुत्रान्मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार मुनिवर अपने पुत्रों को शाप दे, सब प्रकार से शुनःशेप की रक्षा कर, उससे बोले ॥ १८ ॥

पवित्रपाशैरासक्तो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥
इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२०॥

हे मुनिपुत्र ! जब तुम अम्बरीष के यज्ञ में पवित्र फांसी से, वैष्णवस्तम्भ में, लाल माला और लाल चन्दन से सजा कर बांधे

जाओ, तब तुम इन दो मन्त्रों से स्तुति करना। इससे तुम्हारा काम हो जायगा अर्थात् तुम बच जाओगे ॥ १६ ॥ २० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

शुनःशेप ने बड़ी सावधानी से उन दोनों मंत्रों को याद कर लिया और फिर तुरन्त अम्बरीष से जा कर कहा ; ॥ २१ ॥

राजसिंह महासत्व शीघ्रं गच्छावहे सदः ।
निर्वर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुपाविश ॥ २२ ॥

हे महाबलवान् राजसिंह ! चलिये अब शीघ्र चलें और पहुँच कर आप यज्ञदीक्षा ले अपना यज्ञ पूरा कीजिये ॥ २२ ॥

तद्वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमुत्सुकः ।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

ऋषिपुत्र का वचन सुन राजा परमहर्षित हो तुरन्त अपने यज्ञशाला को गये ॥ २३ ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम् ।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

फिर यज्ञ कराने वालों की सम्मति से राजा ने उस शुनःशेप को पशु बना और लाल कपड़े पहना खम्भे में बांध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

तब बँधे हुए शुनःशेप ने विश्वामित्र जी के बतलाये हुए मन्त्रों से इन्द्र और उपेन्द्र की यथावत् स्तुति की ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितर्पितः ।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

शुनःशेप की एकान्त स्तुति सुन इन्द्र उस पर प्रसन्न हो गये और इन्द्र ने उसे दीर्घजीवी होने का वरदान दिया ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्यान्तमवाप्तवान् ।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

हे राम ! नरश्रेष्ठ राजा ने भी यज्ञ समाप्त कर इन्द्र की कृपा से अनेक प्रकार के वरदान पाये ॥ २७ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

हे राजन् ! धर्मात्मा विश्वामित्र ने भी पुनः पुष्करक्षेत्र में दस हज़ार वर्ष तक अच्छी तरह तप किया ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:※:—

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं[1] महामुनिम् ।
अभ्यागच्छन्सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः[2] ॥ १ ॥

विश्वामित्र जी को तप करते हुए जब पूरे एक हज़ार वर्ष हो गये, अथवा जब उनका पुरश्चरण पूरा हुआ, तब सब देवता उनको उनके तप का फल स्वरूप वर देने की इच्छा से आये ॥ १ ॥

अब्रवीत्सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥

उनमें परमतेजस्वी ब्रह्मा जी परम रुचिकर वचन यह बोले कि, हे विश्वामित्र ! तुम्हारा मङ्गल हो ; तुम अपने उपार्जित शुभ कर्मों द्वारा ऋषि हुए । (अर्थात् अभी तुमको ब्रह्मर्षिपद अथवा ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ) ॥ २ ॥

[नोट—जो लोग केवल कर्म द्वारा वर्णव्यवस्था की व्यवस्था मानते और अपने तर्क की पुष्टि में विश्वामित्र का उदाहरण देते हैं, उन्हें उचित है कि, वे इस बात पर भी ज़रा ध्यान दें कि, विश्वामित्र जी को अपने जन्मजात क्षत्रियत्व को छुड़ा कर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने में कितने दिनों तक और कैसा कठोर तप करना पड़ा था ।]

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत्तपः ॥ ३ ॥

---

१ व्रतस्नातं—व्रतान्तेस्नातं समाप्तपुरश्चरणमित्यावत् । (गो०) २ तपः फलचिकीर्षवः—तपःफलंदातुमिच्छवः । (गो०)

यह कह ब्रह्मादि देवता अपने अपने लोकों को लौट गये और विश्वामित्र जी पुनः तप करने लगे ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब तप करते करते उन्हें बहुत दिन हो गये, तब एक दिन मेनका नाम की एक अप्सरा पुष्कर में स्नान करने की इच्छा से वहाँ आयी ॥ ४ ॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥

मेघ में चमकती हुई बिजली की तरह मेनका के सौन्दर्य को देख, महातपस्वी विश्वामित्र ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥

मुनि कामासक्त हो, उससे यह बोले—हे अप्सरा! मैं तेरा स्वागत करता हूँ। तू मेरे इस आश्रम में रह ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन सुमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

तेरा मङ्गल हो, तू मेरे ऊपर अनुग्रह कर। क्योंकि मैं तुझे देख कामासक्त हो गया हूँ। यह सुन वह सुन्दरी मेनका ऋषि जी के आश्रम में रहने लगी ॥ ७ ॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागतः ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥ ८ ॥

मेनका के वहां आश्रम में रहने के कारण, विश्वामित्र जी को तपस्या में बड़ा भारी विघ्न पड़ा। हे राघव! मेनका अप्सरा दस वर्ष तक ॥ ८ ॥

विश्वामित्राश्रमे तस्मिन्सुखेन व्यतिचक्रमुः ।
अथ काले गते तस्मिन्विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥

विश्वामित्र के उस आश्रम में सुखपूर्वक रही। (अर्थात् मुनिराज विश्वामित्र ने उसके साथ भोग विलास कर बात की बात में दस वर्ष निकाल दिये।) तदनन्तर दस वर्ष बीतने पर महर्षि विश्वामित्र जी ॥ ९ ॥

सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।
बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥ १० ॥

(अपनी इस भूल पर) लज्जित हुए और चिन्ता में पड़ कर बहुत दुःखी हुए। हे रघुनन्दन! जब विश्वामित्र जी ने इसका कारण विचारा तब उनकी समझ में क्रोधपूर्वक यह आया कि, ॥ १० ॥

सर्वं सुराणां कर्मैतत्तपोपहरणं महत् ।
अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥ ११ ॥

मेरे इस चिरकालीन तप को हरण करने के लिये यह सब देवताओं की कारस्तानी है। उन्हींने यह विघ्न डाला है। अरे! दस वर्ष बीत गये; किन्तु मुझे जान पड़ता है मानों अभी केवल एक रात्रि ही बीती है ॥ ११ ॥

काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।
विनिःश्वसन्मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥ १२ ॥

हा ! कामासक्त होने के कारण मेरे तप में बड़ा भारी विघ्न पड़ा ! महर्षि जी यह कह और बार बार ऊँची साँसे लें पछता कर चुपी हुए ॥ १२ ॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥

शाप के डर से थरथराती और हाथ जोड़े खड़ी हुई मेनका को देख, विश्वामित्र जी ने, मीठे वचन कह कर उसे विदा किया ॥१३॥

उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।
स कृत्वा नैष्ठिकीं[1] बुद्धिं जेतुकामो महायशाः ॥१४॥

हे राम ! तदनन्तर विश्वामित्र जी (पुष्करक्षेत्र को छोड़) उत्तर दिशा में पर्वत पर अर्थात् हिमालय पर चले गये और व्रत समाप्त होने तक काम को जीतने की इच्छा से, महायशा विश्वामित्र ॥१४॥

कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम् ।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः ॥ १५ ॥

कौशिकी नदी के तट पर जा फिर उग्र तपस्या करने लगे । जब उनको वहाँ उग्र तप करते करते एक हज़ार वर्ष बीत गये ॥१५॥

उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद्भयम् ।
अमन्त्रयन्समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः ॥ १६ ॥

तब हे राम ! हिमालय पर्वत पर तप करने से देवता लोग बहुत डरे और सब देवर्षि और देवता सम्मति कर ब्रह्मा जी के पास जा कर बोले ॥ १६ ॥

---

१ नैष्ठिकीं—व्रतसमापनपर्यन्ताम् । (गो०)

महर्षिशब्द लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः ।
देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥

अब विश्वामित्र को "महर्षि" का पद प्रदान कीजिये। देवताओं का यह वचन सुन ब्रह्मा जी ॥ १७ ॥

अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः ॥ १८ ॥

तपस्वी विश्वामित्र जी के पास जा उनसे यह मीठे वचन बोले। हे विश्वामित्र जी! तुम बहुत अच्छे हो (भले हो) तुम्हारी उग्र तपस्या से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ ॥ १८ ॥

महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव सुव्रत ।
ब्रह्मणः स वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः ॥१९॥

और तुमको ऋषियों में मुख्य होने का आशीर्वाद देता हूँ। ब्रह्मा जी के ऐसे वचन सुन तपोधन विश्वामित्र जी ॥ १९ ॥

प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २० ॥

हाथ जोड़ और प्रणाम कर ब्रह्मा जी से बोले। मैंने तो तपस्या अतुलित ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने के लिये की थी ॥ २० ॥

यदि मे भगवानाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः ।
तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत्त्वं जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

यदि आप मुझे महर्षि ही कहते हैं तो मैं समझता हूँ कि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ। (तभी तो आप मेरा अभीष्ट ब्रह्मर्षिपद प्रदान

नहीं करने दोगे और महर्षि मुझे कहने हैं) इस पर ब्रह्मा जी ने कहा— हाँ, अभी तक तुम (सचमुच) जितेन्द्रिय नहीं हो पाये ॥ २१ ॥

यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः ।
विमर्दितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २२ ॥

हे मुनिशार्दूल ! अभी और तप करो । यह कह ब्रह्मा जी स्वर्ग को चले गये । सब देवताओं के यथास्थान चले जाने पर महर्षि विश्वामित्र जी ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन् ।
ग्रीष्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः ॥ २३ ॥

बिना सहारे ऊपर को बाहु उठाये और केवल वायु से पेट भर तप करने लगे । गर्मी में वे पञ्चाग्नि तपते, वर्षाऋतु में बाहर जगह में निकल खुले मैदान में बैठते ॥ २३ ॥

शिशिरे सलिलस्थायी रात्र्यहानि तपोधनः ।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत् ॥ २४ ॥

जाड़ों में दिन रात वे जल के भीतर खड़े रहते थे । इस प्रकार उन्होंने एक हजार वर्ष तक उग्र तप किया ॥ २४ ॥

तस्मिन्सन्तप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ ।
संभ्रमः सुमहानासीत्सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

महर्षि विश्वामित्र के इस प्रकार तप करने से इन्द्र सहित समस्त देवताओं में बड़ी खलबली मची । वे लोग बहुत घबड़ाये ॥ २५ ॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सह सर्वैर्मरुद्गणैः ।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥ २६ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

तदनन्तर देवराज इन्द्र सब देवताओं सहित रंभा अप्सरा से अपने हित और विश्वामित्र के अनहित की यह बात बोले ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का त्रिसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुःषष्टितमः सर्गः

—:※:—

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत्त्वया ।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥ १ ॥

हे रम्भे ! देवताओं का यह बड़ा भारी काम है कि, विश्वामित्र को कामासक्त करना (जिससे वे तपस्या से विमुख हों) ॥ १ ॥

तथोक्ता साऽप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता ।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥ २ ॥

हे राम ! जब इन्द्र ने रम्भा से यह कहा, तब वह बहुत लज्जित हुई और हाथ जोड़ कर इन्द्र से बोली ॥ २ ॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।
क्रोधमुत्सृजते घोरं मयि देव न संशयः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! यह विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं । जैसे ही मैं उनके पास गयी कि, वे अत्यन्त क्रुद्ध हो, निश्चय ही मुझे शाप देंगे ॥ ३ ॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं[1] कर्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तया राम रम्भया भीतया तया ॥ ४ ॥

इसी लिये मैं उनके समीप जाती हुई बहुत डरती हूँ। आप कृपया मुझे वहाँ न भेजिये। हे राम! उस डरी हुई रम्भा के यह कहने पर ॥ ४ ॥

तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
मा भैषि रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥ ५ ॥

इन्द्र ने (भय से) थर थर काँपती हुई और हाथ जोड़े खड़ी हुई रम्भा से कहा—डरे मत ; तेरा मङ्गल हो, मेरी आज्ञा मान ॥५॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥ ६ ॥

मैं स्वयं वसन्तऋतु में, मनोहर कुहुक करने वाला कोकिल पक्षी बन कर, कामदेव सहित किसी सुन्दर वृक्ष के ऊपर, तेरे आस पास ही रहूँगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम् ।
तमृषिं कौशिकं रम्भे भेदयस्व[2] तपोधनम् ॥ ७ ॥

हे रम्भे! तू अपना बड़ा सुन्दर और चटकीला भड़कीला शृङ्गार कर, उन तपस्वी विश्वामित्र मुनि का मन (तप से) च्युतायमान करना ॥ ७ ॥

---

१ प्रसादं—नियोगनिवृत्तिरूपं । (गो०) २ भेदयस्व—चलचित्तं-कारय । (गो०)

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम् ।
लोभयामास ललिता[1] विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥ ८ ॥

इन्द्र के इस प्रकार समझाने पर वह सुन्दरी अपना श्रृङ्गार कर और मन्द मन्द मुसक्याती हुई विश्वामित्र के मन को लुभाने लगी ॥ ८ ॥

कोकिलस्य स शुश्राव वल्गु[2] व्याहरतः स्वनम् ।
संप्रहृष्टेन मनसा तत एनामुदैक्षत ॥ ९ ॥

उस समय विश्वामित्र जी कोकिल का मधुर कुहकना सुन और प्रसन्न हो, रम्भा की ओर देखने लगे ॥ ९ ॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः सन्देहमागतः ॥ १० ॥

(परन्तु) उस कोकिल की कुहूक तथा रम्भा का मनोहारी गाना सुन, और उसको देख, विश्वामित्र जी के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्कर्म विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः ॥ ११ ॥

और यह जान कर कि, यह सब नटखटी इन्द्र की है, विश्वामित्र जी बहुत क्रुद्ध हुए और रम्भा को यह शाप दिया ॥ ११ ॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दश वर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥ १२ ॥

---

१ ललिता—सुन्दरी । (गो०) २ वल्गु—मनोहरं । (गो०)

हे रम्भे ! काम क्रोध को अपने वश में करने की इच्छा रखने वाले मुझे जो तू लुभाती है, सो हे दुर्भगे ! (अभागिनी) तू दस हज़ार वर्ष तक शिला हो कर रहैगी ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः ।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥ १३ ॥

हे रम्भे ! फिर कोई बड़ा तेजस्वी एवं तपस्वी ब्राह्मण तुझ पापरूपिणी को, मेरे कोप से अर्थात् शाप से उबारेगा ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
अशक्नुवन्धारयितुं क्रोधं सन्तापमागतः ॥ १४ ॥

महर्षि विश्वामित्र यह शाप देने के अनन्तर, क्रोध को रोक न सकने के लिये, बहुत पछताये। (इसलिये कि क्रोधातुर हो कर शाप देने से उनका तपोबल, जो उन्होंने उग्र तप कर सम्पादन किया था, नष्ट हो गया। इन्द्र यही चाहते भी थे।) ॥ १४ ॥

तस्य शापेन महत रम्भा शैली तदाऽभवत् ।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च[1] निर्गतः ॥१५॥

विश्वामित्र जी के उस महाशाप से रम्भा शिला हो गयी और महर्षि विश्वामित्र को क्रोधयुक्त वचन सुन कामदेव और इन्द्र वहाँ से रफूचक्कर हुए ॥ १५ ॥

कोपेन सुमहातेजास्तपोपहरणे कृते ।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः[2] ॥ १६ ॥

---

१ सच—इन्द्रश्च । (गो०) २ आत्मनः—मनसः । (गो०)

हे राम ! क्रोध करने से महातेजस्वी विश्वामित्र का तप नष्ट हो गया। वे अपनी इन्द्रियों को अपने वश में न रख सके. इसलिये उनके मन को शान्ति न मिली ॥ १६ ॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता[1] तपोपहरणे कृते ।
नैव क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्यामि किञ्चन ॥१७॥

बल्कि उन्होंने तप के नष्ट होने पर प्रतिज्ञा की कि, आगे मैं कभी न तो किसी पर क्रोध करूँगा और न किसी से कुछ बात-चीत ही करूँगा ॥ १७ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि ।
अहं विशोषयिष्यामि ह्यात्मानं विजितेन्द्रियः ॥ १८ ॥

इतना ही नहीं, बल्कि मैं सैकड़ों वर्षों तक साँस भी न लूँगा। इस प्रकार इन्द्रियों को जीतने के लिये मैं अपने शरीर को सुखा डालूँगा और इन्द्रियों को अपने वश में करूँगा ॥ १८ ॥

तावद्यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम् ।
अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥१९॥

जब तक तपोबल से मुझे ब्राह्मणत्व प्राप्त न होगा, तब तक, कितना ही समय क्यों न लगे, मैं न तो साँस ही लूँगा और न भोजन करूँगा और सदा खड़ा ही रहूँगा ॥ १९ ॥

---

१ मनश्चिन्ता—सङ्कल्पः । (गो०)

न हि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः[1] ।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां[2] स मुनिपुङ्गवः ।
चकाराप्रतिमां[3] लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

मुझे इस बात का तो भय ही नहीं है कि, भोजन न करने या साँस न लेने अथवा सदैव खड़े रहने से मेरे शरीर के अवयव क्षीण हो जायँगे । हे रघुनन्दन ! महर्षिप्रवर विश्वामित्र ने एक हज़ार वर्ष उक्त विधि से (साँस न ले कर, भोजन न कर के, मौनी हो कर, खड़े रह कर) तप करने का अतुल सङ्कल्प किया ॥ २० ॥

बालकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:०:—

अथ हैमवतीं[4] राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १ ॥

तदनन्तर महर्षि विश्वामित्र उत्तर दिशा को त्याग कर और पूर्व दिशा में जा कर फिर उग्र तप करने लगे ॥ १ ॥

---

१ मूर्तयः—शरीरावयवाः । (गो०) २ दीक्षां—अनुच्छ्वासाभोजन-सङ्कल्पम् । (गो०) ३ अप्रतिमां—निस्तुलां । (गो०) ४ हैमवतीं—उत्तराम् । (रा०)

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

हे राम ! उन्होंने, एक हज़ार वर्ष तक मौन व्रत धारण परम दुष्कर अतुलित तप किया ॥ २ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम् ।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

यहाँ तक कि, जब एक हज़ार वर्ष पूरे हुए, तब विश्वामित्र जी का शरीर काठ की तरह हो गया । इस बीच में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हुए ; किन्तु मुनिराज के अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न न हुआ ॥ ३ ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठदव्ययम् ।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥

हे राम ! जब विश्वामित्र जी को निश्चय हो गया कि, उन्होंने क्रोध को जीत लिया और उनका एक हज़ार वर्ष तप करने का सङ्कल्प पूरा हो गया ॥ ४ ॥

भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन्काले रघूत्तम ।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

हे राघव ! तब वे अन्न भोजन करने को बैठे । उसी समय इन्द्र ब्राह्मण का रूप धर कर आये और विश्वामित्र की थाली में परोसे हुए भोज्य पदार्थों के लिये उनसे याचना की ॥ ५ ॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः ।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

भोजन के लिये जो अन्न तैयार हुआ था वह सब का सब उठा कर, उन्होंने इन्द्र को सचमुच ब्राह्मण जान दे दिया। स्वयं बिना खाये-पीये रह गये ॥ ६ ॥

न किञ्चिदवदद्विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः ।
अथ वर्षसहस्रं वै नोच्छ्वसन्मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥

किन्तु ब्राह्मण से कुछ भी न कहा, क्योंकि, वे मौनव्रत धारण किये हुए थे। तदनन्तर फिर उन्होंने एक हज़ार वर्ष तक साँस रोक कर तप करना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत ।
त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमादीपित[1]मिवाभवत् ॥ ८ ॥

साँस रोक कर रखने से (अर्थात् कुम्भक करने से) उनके सिर से धुआँ निकलने लगा। इससे तीनों लोकवासी घबड़ा उठे और तीनों लोक तप्त हो गये ॥ ८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः ।
[2]मोहितास्तेजसा तस्य तपसा मन्दरश्मयः ॥ ९ ॥

तब तो देवता, गन्धर्व, सर्प, नाग और राक्षस सब ही उनके तप रूपी अग्नि से मूर्च्छित हो गये और उनके तेज मन्द पड़ गये ॥ ९ ॥

कश्मलोपहताः[3] सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ।
बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १० ॥

---

१ आदीपितम्—तापितं । (गो०) २ मोहिता—मूर्च्छिता । (गो०)
३ कश्मलोपहताः—दुःखोपहता । (गो०)

उन सब ने दुःखी हो ब्रह्मा जी से कहा—हे देव! हमने महर्षि विश्वामित्र को अनेक प्रकार से ॥ १० ॥

लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते ।
न ह्यस्य वृजिनं[1] किञ्चिद्दृश्यते सूक्ष्ममप्यथ ॥ ११ ॥

लुभाया और क्रुद्ध करना चाहा; किन्तु ये अपने तप से न डिगे, प्रत्युत इनका तप बढ़ता ही गया। अब इनमें राग द्वेष नाम मात्र को भी नहीं रह गया ॥ ११ ॥

न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम् ।
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम् ॥ १२ ॥

यदि अब भी उनको उनका अभीष्ट वर (अर्थात् ब्रह्मर्षि की पदवी) न दिया गया, तो वे अपने तप से सचराचर तीनों लोकों को नष्ट कर डालेंगे ॥ १२ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किञ्चित्प्रकाशते ।
सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः ॥ १३ ॥

देखिये सब दिशाएँ विकल हैं और प्रकाशरहित हैं। (अर्थात् इनकी तपस्या के तेज से सब का तेज छिप गया है) समुद्र क्षुब्ध हो गये हैं और सब पर्वत फटे जाते हैं ॥ १३ ॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा ।
प्रकम्पते च पृथिवी वायुर्वाति भृशाकुलः ॥ १४ ॥

महर्षि की तपस्या के तेज से सूर्य प्रभाहीन पड़ गया है, पृथिवी काँप रही है और वायु की गति भी गड़बड़ा गयी है ॥ १४ ॥

---

१ वृजिनं—पापं, रागद्वेषादिलक्षणं । (गो०)

अलम्न[1] प्रतिजानीमो नास्तिको[2] जायते जनः ।
संमूढमिव[3] त्रैलोक्यं संप्रक्षुभितमानसम् ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन् ! इनका प्रतिकार हम लोगों को अब नहीं सूझ पड़ता। इस हलचल के कारण लोग नास्तिकों की तरह कर्मानुष्ठान शून्य हुए जाते हैं। क्योंकि इस समय किसी का मन ठिकाने नहीं है और सब विकल हैं ॥ १५ ॥

बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः ।
तावत्प्रसाद्यो भगवानग्निरूपो महाद्युतिः ॥ १६ ॥

अतः हे देव ! विश्वामित्र जी के मन में इस जगत को नाश करने की इच्छा उत्पन्न होने के पूर्व ही, आप इनको सन्तुष्ट कर दीजिये। क्योंकि इस समय वे अग्नि रूप होने के कारण महाद्युतिमान् हो रहे हैं ॥ १६ ॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यते भृशम् ।
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मतम् ॥ १७ ॥

जैसे प्रलय के समय कालाग्नि तीनों लोकों को जला कर नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही ये भी जला कर भस्म कर डालेगें। यदि यह इन्द्रासन चाहें तो वह भी इनको दे कर इनका अभीष्ट पूरा कीजिये। अथवा यदि आप इनको ब्रह्मर्षिपद, जो इनका अभीष्ट है, नहीं देंगे; तो यह इन्द्रपुरी के राज्य की इच्छा करने लगेंगे ॥ १७ ॥

---

१ नप्रतिजानीमः—प्रतिक्रियामितिशेषः । (गो०) २ नास्तिकोजायत इत्यत्र—उक्तसंक्षोभवशान्नास्तिकइवकर्मानुष्ठानशून्योजायत इत्यर्थः । (गा०)
३ संमूढमितेति—व्याकुलचित्तं । (रा०)

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ।
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन् ॥ १८ ॥

(उन लोगों से इस प्रकार अनुरोध किये जाने पर) ब्रह्मा जी सब देवताओं को साथ ले, महात्मा विश्वामित्र जी से जा कर, ये मधुर वचन बोले ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः ।
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! हम तुम्हारा स्वागत* करते हैं (अर्थात् तुम्हें बधाई देते हैं ।) हम तुम्हारी तपस्या से भली भाँति सन्तुष्ट हुए हैं । हे विश्वामित्र ! तुमने अपने उग्र तप के प्रभाव से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ १९ ॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन्ददामि समरुद्गणः ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥२०॥

अब हम सब देवताओं सहित तुमको आशीर्वाद देते हैं कि, तुम दीर्घजीवी हो ; तुम्हारा मङ्गल हो । हे सौम्य ! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ ॥ २० ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां च दिवौकसाम् ।
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः ॥ २१ ॥

---

* श्रीयुत वामन शिवराम आपटे ने स्वागतं का अर्थ बतलाते हुए, इस शब्द के प्रयोग के विषय में लिखा है—"Used chiefly in greeting a person, who is put in the dative case'"

ब्रह्मा जी के इन वचनों को सुन विश्वामित्र जी ने सब देवताओं को प्रणाम किया और वे प्रसन्न हो बोले ॥ २१ ॥

आत्मज्ञं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ।
ओंकारश्च वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम् ॥ २२ ॥

यदि आप लोगों ने मुझे आत्मज्ञान दिया है और मुझे दीर्घायु किया है, तो ओंकार, वषट्कार तथा वेद भी मुझे अङ्गीकार करें ॥ २२ ॥

[नोट—ओंकार का यहाँ अर्थ है ब्रह्मज्ञानसाधन और वषट्कार से अभिप्राय है यज्ञसाधन । वेद से अभिप्राय है सांगोपांग वेदविद्या से । अङ्गीकार करें (वरयन्तु) अर्थात् जैसे वशिष्ठादि ब्रह्मर्षियों को वेदपढ़ाने का तथा यज्ञकराने का अधिकार है—विश्वामित्र जी ब्रह्मा जी से कहते हैं कि, वैसे ही मुझे भी वेदपढ़ाने और यज्ञकराने का अधिकार आप दें ।]

क्षत्रवेद[1]विदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ।
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः ॥ २३ ॥

और क्षत्रियों की वेदविद्या जानने वालों में श्रेष्ठ तथा ब्राह्मणों की वेदविद्या जानने में भी श्रेष्ठ (अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता) ब्रह्मा जी के पुत्र वशिष्ठ जी भी मुझे "ब्रह्मर्षि" कहें ॥ २३ ॥

यद्यस्य परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः ।
ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतांवरः ॥ २४ ॥

---

१. क्षत्रवेदाः—क्षत्रियाणाम्शान्तिपुष्ट्यादिप्रयोजनाआथर्वणवेदाः तद् विदां श्रेष्ठः । (गो०)

यदि मेरा यह बड़ा अभीष्ट पूरा हो जाय तो आप लोग (अर्थात् सब देवता) चले जा सकते हैं। यह सुन देवता लोग ऋषिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी के पास गये और उन्हें मना कर [illegible] किया ॥ २४ ॥

सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत् ।
ब्रह्मर्षिस्त्वं न सन्देहः सर्वं सम्पत्स्यते तव ॥ २५ ॥

वशिष्ठ जी आये और विश्वामित्र जी से मेल कर लिया (अर्थात् वैर छोड़ दिया) और कहा तुम ब्रह्मर्षि हो गये। तुम्हारे ब्रह्मर्षि होने में अब कुछ भी सन्देह नहीं है। अब तो सब ने तुम्हारा ब्रह्मर्षि होना मान लिया ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ।
विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम् ॥२६॥

यह कह कर देवता भी अपने अपने स्थानों को चले गये। विश्वामित्र ने भी उत्तम ब्राह्मणत्व प्राप्त कर के ॥ २६ ॥

पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतांवरम् ।
कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः ॥ २७ ॥

विश्वामित्र जी ने महर्षिप्रवर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी का पूजन किया और स्वयं कृतकार्य हो और तप करते हुए ये अब सारी पृथिवी पर भ्रमण करने लगे हैं ॥ २७ ॥

एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ।
एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः ॥ २८ ॥

(शतानन्द जी बोले) हे राम ! इस तरह इन महात्मा विश्वामित्र जी ने ब्राह्मणत्व पाया है। हे राम ! यह मुनियों में श्रेष्ठ हैं और तपो की तो साक्षात् मूर्त्ति ही हैं ॥ २८ ॥

एष धर्मपरो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ।
एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः ॥ २९ ॥

यह सदा धर्मकार्यों के करने में तत्पर रहते हैं, यह अब भी तपोवीर्य परायण हैं। यह कह कर ब्राह्मणश्रेष्ठ महातेजस्वी शतानन्द जी चुप हो गये ॥ २९ ॥

शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसन्निधौ ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम् ॥३०॥

शतानन्द जी की बात पूरी होने पर, श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण के सामने, राजा जनक ने हाथ जोड़ कर कौशिक जी से कहा, ॥ ३० ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ।
यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक ॥ ३१ ॥

हे कौशिक ! मैं अपने को धन्य मानता हूँ और आपका बड़ा अनुगृहीत हूँ। क्योंकि आप श्रीराम लक्ष्मण सहित मेरे यज्ञ में पधारे हैं ॥ ३१ ॥

पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन्दर्शनेन महामुने ।
विश्वामित्र महाभाग ब्रह्मर्षीणां वरोत्तम ॥ ३२ ॥

हे ब्रह्मन् ! अपने दर्शन दे कर आपने मुझे पवित्र किया है। हे महाभाग, हे ब्रह्मर्षियों में श्रेष्ठ विश्वामित्र जी ! ॥ ३२ ॥

[1]गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव सन्दर्शनान्मया ।
विस्तरेण च ते ब्रह्मन्कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥

आपके दर्शन से मेरा मान बढ़ा है, मैंने विस्तारपूर्वक आप तप की कीर्त्ति का वृत्तान्त सुना है ॥ ३३ ॥

श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥३४॥

मैंने, श्रीरामचन्द्र जी ने तथा मेरे सभासदों ने आपके असंख्य गुण सुने ॥ ३४ ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम् ।
अप्रमेया[2]गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

हे कौशिक ! आपका तप और बल अचिन्त्य है । आपके गुण अपार हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

हे विभो ! आपकी विस्मयोत्पादिनी कथाओं को सुनते सुनते मेरा जी नहीं भरा । अब सूर्य अस्त होने वाला है, सन्ध्योपासनादि कर्म करने का समय समीप है (अतः अब मैं विदा होता हूँ) ॥ ३६ ॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः ।
स्वागतं तपतांश्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

---

१ गुणाः—कर्मश्रेष्ठत्व जातिश्रेष्ठत्व लक्षणाः । (रा०) २ अप्रमेयाः—इयत्तयाज्ञातुमशक्याः । (गो०)

हे तप करने वालों में श्रेष्ठ ! आप इस समय भले पधारे। कल प्रातःकाल फिर मुझे आपके दर्शन होंगे। अब जाने की आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम् ।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८

जब जनक जी ने ऐसा कहा, तब विश्वामित्र जी ने उनकी प्रशंसा करते हुए, प्रसन्न मन से बड़े प्रेम के साथ उनको तुरन्त विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
प्रदक्षिणं चकाराथ सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा जनक ने अपने उपाध्याय और बन्धु बान्धवों सहित उठ कर विश्वामित्र जी की प्रदक्षिणा की और वे वहां से चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सरामः सहलक्ष्मणः ।
स्ववाट[1]मभिचक्राम पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ४० ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

धर्मात्मा विश्वामित्र भी श्रीराम लक्ष्मण सहित मुनियों से सन्मानित हो, अपने निवासस्थान में आये ॥ ४० ॥

बालकाण्ड का पैंसठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

१ स्ववाटं—स्वनिवेशं । (गो०)

षट्षष्टितमः सर्गः

—: o :—

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः ।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम् ॥ १ ॥

प्रातःकाल होते ही राजा जनक ने आन्हिक कर्मानुष्ठान से निश्चिन्त हो, दोनों राजकुमारों सहित विश्वामित्र जी को बुला भेजा ॥ १ ॥

तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

शास्त्रविधि के अनुसार अर्घ्यपाद्यादि से विश्वामित्र व राम लक्ष्मण की पूजा कर, धर्मात्मा राजा जनक बोले, ॥ २ ॥

भगवन्स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम् ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! आपका मैं स्वागत करता हूँ, कुछ सेवा करने के लिये आज्ञा दीजिये । क्योंकि मैं आपकी आज्ञा का पात्र हूँ ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना ।
प्रत्युवाच मुनिर्वीरं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

जब महात्मा जनक जी ने ऐसा कहा तब बातचीत करने में अत्यन्त चतुर विश्वामित्र जी राजा से बोले ॥ ४ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति ॥ ५ ॥

ये दोनों कुमार महाराज दशरथ के पुत्र, क्षत्रियों में श्रेष्ठ, और लोक में विख्यात श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण, वह धनुष देखना चाहते हैं, जो आपके यहाँ रखा है ॥ ५ ॥

एतद्दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः ॥ ६ ॥

आपका मङ्गल हो ; अतः आप उसे इन्हें दिखलवा दीजिये । उसे देखने ही से इनका प्रयोजन हो जायगा और ये चले जायँगे ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम् ।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति ॥ ७ ॥

यह सुन राजा जनक, विश्वामित्र जी से बोले कि, जिस प्रयोजन के लिये यह धनुष यहाँ रखा है, उसे सुनिये ॥ ७ ॥

देवरात इति ख्यातो निमेः षष्ठो महीपतिः ।
न्यासोऽयं तस्य भगवन्हस्ते दत्तो महात्मना ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! राजा निमि की छठवीं पीढ़ी में देवरात नाम के एक राजा हो गये हैं । उनको यह धनुष धरोहर के रूप में मिला था ॥ ८ ॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान् ।
रुद्रस्तु त्रिदशाञ्जोपात्सलीलमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

पूर्वकाल में जब महादेव जी ने दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस कर डाला (क्योंकि उसमें महादेव जी को यज्ञभाग नहीं मिला था) तब लीलाक्रम से शिव जी ने क्रोध में भर यही धनुष देवताओं से कहा था ॥ ९ ॥

यस्माद्भागार्थिनो भागान्नाकल्पयत मे सुराः ।
वराङ्गाणि[1] महार्हाणि धनुषा शातयामि[2] वः ॥ १० ॥

हे देवो ! यतः (चूँकि) तुम लोगों ने मुझ भागार्थी को यज्ञभाग नहीं दिया, अतः मैं इस धनुष से तुम सब के सिरों को काटे डालता हूँ ॥ १० ॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव ।
प्रसादयन्ति देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद्भवः ॥ ११ ॥

हे मुनिप्रवर ! शिव जी का यह वचन सुन देवता लोग बहुत उदास हो गये और किसी न किसी तरह शिव जी को मना कर प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

प्रीतियुक्तः स सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम् ।
तदेतद्देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः ॥ १२ ॥
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वके विभो ।
अथ मे कृषतः क्षेत्रं[2] लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥ १३ ॥

तब प्रसन्न हो कर महादेव जी ने यह धनुष देवताओं को दे दिया और देवताओं ने उस धनुषरत्न को धरोहर की तरह देवरात को

---

१ वराङ्गाणि—शिरांसि । (गो०) २ शातयामि—छिनद्मि । (गो०)
२ क्षेत्रं—यागभूमिं । (गो०)

दे दिया। सो यह वही धनुष है। एक समय यज्ञ करने के लिये मैं हल से खेत जोत रहा था। उस समय हलकी नोंक से ॥ १२ ॥ १३ ॥

क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥ १४ ॥

एक कन्या भूमि से निकली अपने जन्म* के कारण सीता के नाम से प्रसिद्ध है और मेरी लड़की कहलाती है। पृथिवी से निकली हुई वह कन्या दिनों दिन मेरे यहाँ बड़ी होने लगी ॥ १४ ॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम् ॥ १५ ॥

उस अयोनिजा कन्या के विवाह के लिये मैंने पराक्रम ही शुल्क रखा है। पृथिवी से निकली हुई मेरी यह कन्या जब धीरे धीरे बड़ी होने लगी ॥ १५ ॥

वरयामासुरागम्य राजानो मुनिपुङ्गव।
तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥
वीर्यशुल्केति भगवन्न ददामि सुतामहम्।
ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥

तब, हे मुनिश्रेष्ठ! मेरी उस कन्या के साथ अपना विवाह करने के लिये अनेक देशों के राजा आये। सीता के साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले उन सब राजाओं से कहा गया कि, यह कन्या "वीर्यशुल्का" है। अतः मैं वर के पराक्रम की परीक्षा

---

* हल की नोंक का नाम सीता है, यह कन्या हल की नोंक से भूमि खोदते समय पृथिवी से निकली थी; अतः इसका नाम सीता पड़ा।

किये बिना अपनी कन्या किसी को नहीं दूँगा। तब तो हे मुनिश्रेष्ठ! सब राजा लोग इकट्ठे हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यजिज्ञासवस्तदा ।
तेषां जिज्ञासमानानां वीर्यं धनुरुपाहृतम् ॥ १८ ॥

अपने पराक्रम की परीक्षा देने को मिथिलापुरी में आये। उनके बल की परीक्षा के लिये मैंने यह धनुष उनके सामने (रोदा चढ़ाने के लिये) रखा ॥ १८ ॥

न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽ[1]पि वा ।
तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥ १९ ॥

उनमें से कोई भी राजा उस धनुष को उठा कर उस पर रोदा न चढ़ा सका, तब उन राजाओं को अल्पवीर्य समझ ॥ १९ ॥

प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन ।
ततः परमकोपेण राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अरुन्धन्मिथिलां सर्वे वीर्यसन्देहमागताः ।
आत्मान[2]मवधूतं[3] ते विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥

मैंने उनमें से किसी को अपनी कन्या नहीं दी। हे मुनिराज! यह बात आप भी जान लें। (जब मैंने अपनी कन्या का विवाह उनमें से किसी के साथ नहीं किया) तब उन लोगों ने क्रुद्ध हो मिथिलापुरी घेर ली। क्योंकि धनुष द्वारा बल की परीक्षा देने में उन्होंने अपना तिरस्कार समझा ॥ २० ॥ २१ ॥

---

१ तोलने—भारपरीक्षार्थंहस्तनेचालने । (गो०) २ आत्मानं—स्वात्मानं । (गो०) ३ अवधूतं—वीर्यशुल्ककरणेन तिरस्कृतंविज्ञाय । (गो०)

रोषेण महताऽऽविष्टाः पीडयन्मिथिलां पुरीम् ।
ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥ २२ ॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः ।
ततो देवगणान्सर्वान्स्तपसाहं प्रसादयम् ॥ २३ ॥

उन लोगों ने अत्यन्त क्रुद्ध हो मिथिलावासियों को बड़े बड़े कष्ट दिये। एक वर्ष तक लड़ाई होने से मेरा धन भी बहुत नष्ट हुआ। इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ। तब मैंने तप द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया ॥ २२ ॥ २३ ॥

ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः ।
ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥ २४ ॥

देवताओं ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर मुझे चतुरङ्गिणी सेना दी। तब, वे हतोत्साह राजा पराजित हो भाग गये ॥ २४ ॥

अवीर्या वीर्यसन्दिग्धाः सामात्याः पापकारिणः ।
तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ।
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत ॥ २५ ॥

भीरु और वीरता की झूठी डींगे मारने वाले वे राजा अपने मंत्रियों सहित भाग गये। हे मुनिश्रेष्ठ! यह वही दिव्य धनुष है। हे सुव्रत! मैं इसे श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण को भी दिखलाऊँगा ॥ २५ ॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने ।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥ २६ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

और यदि श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर रोदा चढ़ा दिया, तो मैं अपनी अयोनिजा सीता उनको ब्याह दूँगा ॥ २६ ॥

बालकाण्ड का छियासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:o:—

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम् ॥ १ ॥

राजा जनक की बातें सुन महर्षि विश्वामित्र ने राजा जनक से कहा—हे राजन् ! वह धनुष श्रीरामचन्द्र को दिखलाइये ॥ १ ॥

ततः स राजा जनकः सचिवान्व्यादिदेश ह ।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यविभूषितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनक ने अपने मंत्रियों को आज्ञा दी कि, जो दिव्य धनुष चन्दन और पुष्पमालाओं से भूषित है, उसे ले आओ ॥ २ ॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन्पुरीम् ।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुः पार्थिवाज्ञया ॥ ३ ॥

राजा जनक की आज्ञा पा कर मंत्री लोग मिथिलापुरी में गये (यज्ञशाला नगरी के बाहर बनी थी) और उस धनुष को आगे कर चले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि पञ्चाशद्वचायतानां महात्मनाम् ।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथञ्चन ॥ ४ ॥

पाँच हज़ार मज़बूत मनुष्य, धनुष को आठ पहिये की पेटी को, कठिनता से खींच और ढकेल कर वहाँ ला सके ॥ ४ ॥

तामादाय तु मञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

जिस पेटी में धनुष रखा था वह लोहे की थी—उसे ला कर, मंत्रियों ने सुरोपम महाराज जनक को इस बात की सूचना दी ॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन्पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शयैनं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

मंत्री बोले—हे राजन् ! यह वही धनुष है, जिसकी पूजा सब राजा कर चुके हैं । हे मिथिला के अधीश्वर ! हे राजेन्द्र ! अब आप जिसको चाहिये इसे दिखलाइये ॥ ६ ॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महात्मानं तौ चोभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

मंत्रियों की बात सुन, राजा ने हाथ जोड़ कर, महात्मा विश्वामित्र और राम लक्ष्मण से कहा ॥ ७ ॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम् ।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितुं पुरा ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! यह श्रेष्ठ धनुष वही है, जिसका पूजन सब निमिवंशीय राजा करते चले आते हैं और यह वही धनुष है जिस पर बड़े बड़े पराक्रमी राजा लोग रोदा नहीं चढ़ा सके ॥ ८ ॥

नैतत्सुरगणाः सर्वे नासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥
क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलनेऽपि वा ॥ १० ॥

समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और नाग भी जब इस धनुष को उठा और झुका कर इस पर रोदा नहीं चढ़ा सके, तब वपुरे मनुष्य की तो बात ही क्या है जो इस धनुष पर रोदा चढ़ा सके । ॥ ९ ॥ १० ॥

तदेतद्धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! वह श्रेष्ठ धनुष आ गया है। हे महाभाग ! उसे इन राजकुमारों को दिखलाइये ॥ ११ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

धर्मात्मा विश्वामित्र जी ने जब राजा जनक के ये वचन सुने, तब उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे वत्स ! इस धनुष को देखो ॥ १२ ॥

ब्रह्मर्षेर्वचनाद्रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महर्षि के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी वहां गये जहां धनुष था और उस पेटी को, जिसमें वह धनुष था, खोल कर, धनुष देखा और बोले ॥ १३ ॥

धनुर्भङ्ग

इदं धनुर्वरं ब्रह्मन्संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेपि वा ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्! अब इस धनुष को मैं हाथ लगाता हूँ और इसे उठा कर इस पर रोदा चढ़ाने का प्रयत्न करता हूँ ॥ १४ ॥

बाढमित्येव तं राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥

राजा जनक और विश्वामित्र ने उनकी बात अङ्गीकार करते हुए कहा "बहुत अच्छा"। मुनि के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास धनुष को बीच से पकड़ उसे उठा लिया ॥ १५ ॥

पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत्स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

और हज़ारों मनुष्यों के सामने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बिना प्रयास उस पर रोदा चढ़ा दिया ॥ १६ ॥

आरोपयित्वा धर्मात्मा पूरयामास वीर्यवान् ।
तद्बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥

महायशस्वी पुरुषोत्तम पर्व बलवान् श्रीराम ने रोदा चढ़ाने के बाद ज्यों ही रोदे को खींचा, त्यों ही वह धनुष बीच से टूट गया। अर्थात् उस धनुष के दो टुकड़े हो गये ॥ १७ ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान्पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

उसके टूटने का शब्द वज्रपात के समान हुआ। बड़े ज़ोर से भूमि हिल गयी और बड़े बड़े पहाड़ फट गये ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

धनुष के टूटने के विकराल शब्द के होने पर, विश्वामित्र, राजा जनक और दोनों राजकुमारों को छोड़, सब लोग मूर्च्छित हो गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन्राजा विगतसाध्वसः[1] ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

सब लोगों की मूर्छा भङ्ग हुई वे सचेत हुए तथा राजा जनक के सब सन्देह दूर हो गये, तब राजा जनक हाथ जोड़, चतुर विश्वामित्र से कहने लगे ॥ २० ॥

भगवन्दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च न तर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! महाराज दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी का यह अत्यन्त विस्मयोत्पादक अचिन्त्य और अतर्कित (जिसमें सन्देह करने की गुञ्जायश न हो) पराक्रम मैंने देखा ॥ २१ ॥

जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

---

१ विगतसाध्वस इत्यनेन रामजामातृकतापापकं धनुरारोपणमपि ज्ञातवेदिति पूर्वंभीतोऽभूदितिगम्यते । (गो०)

मेरी बेटी सीता, महाराज दशरथ जी के पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को अपना पति बना कर मेरे वंश की कीर्त्ति फैलायेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥ २३ ॥

हे कौशिक ! मैंने सीता के विवाह के लिये "वीर्यशुल्क" की जो प्रतिज्ञा की थी वह आज पूरी हो गयी । अब मैं अपनी प्राणों से भी बढ़ कर प्यारी सीता श्रीराम को दूँगा ॥ २३ ॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥२४॥

हे ब्रह्मन् ! हे कौशिक ! यदि आपकी सम्मति हो तो मेरे मंत्री रथ पर सवार हो शीघ्र अयोध्या को जाँय ॥ २४ ॥

राजानं [1]प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम ।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥

और महाराज दशरथ को नम्रतापूर्वक यहाँ का सारा हाल सुना कर, यहाँ लिवा लावें ॥ २५ ॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।
प्रीयमाणं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥

और महाराज को, आपसे रक्षित, दोनों राजकुमारों का कुशल समाचार भी सुनावें और इस प्रकार महाराज को प्रसन्न कर, उन्हें अति शीघ्र यहाँ बुला लावे ॥ २६ ॥

---

१ प्रश्रितैः—विनियान्वितैः । (गो०)

कौशिकश्च तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान्[1] ॥ २७ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

इस पर जब विश्वामित्र ने कह दिया कि, बहुत अच्छी बात है, तब राजा ने मंत्रियों को समझा कर और महाराज दशरथ के नाम का कुशलपत्र उन्हें दे, अयोध्या को रवाना किया ॥ २७ ॥

वालकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:०:—

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन्पुरीम् ॥ १ ॥

राजा जनक की आज्ञा पा वे दूत शीघ्रगामी रथों पर सवार हो और रास्ते में तीन रात्रि व्यतीत कर, अयोध्या में पहुँचे । उस समय उनके रथ के घोड़े थक गये थे ॥ १ ॥

राज्ञो भवनमासाद्य द्वारस्थानिदमब्रुवन् ।
शीघ्रं निवेद्यतां राज्ञे दूता वो जनकस्य च ॥ २ ॥

और राजभवन की ड्योढ़ी पर जा कर द्वारपालों से यह बोले कि, जा कर तुरन्त महाराज से निवेदन करो कि, हम राजा जनक के दूत (आपके दर्शन करना चाहते) हैं ॥ २ ॥

---

[1] कृतशासनान्—दत्तकल्याणसंदेश पत्रिकानित्यर्थः । (गो०-)

इत्युक्ता द्वारपालस्ते राघवाय न्यवेदयन् ।
ते राजवचनाद्दूता राजवेश्म प्रवेशिताः ॥ ३ ॥

दूतों के ऐसा कहने पर उन द्वारपालों ने जा कर महाराज दशरथ से निवेदन किया । तब महाराज दशरथ की परवानगी से राजा जनक के दूत राजभवन के भीतर गये ॥ ३ ॥

ददृशुर्देवसङ्काशं वृद्धं दशरथं नृपम् ।
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः[1] ॥ ४ ॥

राजानं प्रणता वाक्यमब्रुवन्मधुराक्षरम् ।
मैथिलो जनको राजा सायिहोत्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंयुक्तया गिरा ॥ ६ ॥
जनकस्त्वां महाराजाऽऽपृच्छते सपुरःसरम् ।
पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ ७ ॥

वहाँ जा कर उन लोगों ने देवोपम वृद्ध महाराज दशरथ के दर्शन किये और उनके सौजन्य को देख निर्भय हो, तथा हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता से यह मधुर वचन बोले । महाराज ! मिथिलापुरी के स्वामी, महायज्ञशाली राजा जनक ने बारंबार मधुर और स्नेहयुक्त वाणी तथा शान्त मन से आपकी, और आपके पुरवासियों की कुशल क्षेम पूँछी है ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

---

१ विगतसाध्वसाः—दशरथ सौजन्येन विज्ञापनेनिर्भयाः । (गो०)

कौशिकानुमतो वाक्यं ब्रवन्तमिदमब्रवीत् ।
पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा ॥ ८ ॥

और विश्वामित्र जी की अनुमति से आपको यह सन्देसा भेजा है कि, श्रीमान् को तो यह मालूम ही है कि, मेरी पुत्री वीर्यशुल्का है ॥ ८ ॥

राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ।
सेयं मम सुता राजन्विश्वामित्रपुरःसरैः ॥ ९ ॥

उसके लिये अनेक राजा लोग हतोत्साह हो विमुख हुए । उस मेरी कन्या को विश्वामित्र के साथ ॥ ९ ॥

यदृच्छया[1]ऽऽगतैर्वीरैर्निर्जिता तव पुत्रकैः ।
तच्च राजन्धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ॥ १० ॥

रामेण हि महाराज महत्यां जनसंसदि ।
अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ॥११॥

मेरे सौभाग्य से आ कर श्रीमान् के कुँवर ने जीत लिया है । क्योंकि महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने एक बड़ी सभा के बीच, उस दिव्य धनुष को बीचो बीच से तोड़ा है । अतः मैं अपनी वीर्यशुल्का सीता का विवाह श्रीराम जी के साथ करना चाहता हूँ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ।
सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरःसरः ॥ १२ ॥

---

१ यदृच्छया—मद्भागधेयात् । (गो०)

जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकूँ। आप इस सम्बन्ध के विषय में मुझे आज्ञा दें। हे महाराज! आप उपाध्याय और पुरोहितों के सहित ॥ १२ ॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ।
प्रीतिं च मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ १३ ॥

शीघ्र यहाँ पधार कर अपने राजकुमारों को देखिये और हे राजेन्द्र! मेरी प्रीति को निबाहिये ॥ १३ ॥

पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमपि लप्स्यसे।
एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः।
इत्युक्त्वा विरता दूता राजगौरवशङ्किताः ॥ १५ ॥

और यहाँ पधार कर दोनों राजकुमारों के विवाह की शोभा देख प्रसन्न हूजिये। हे महाराज! यह शुभ सन्देसा, महाराज जनक ने, महर्षि विश्वामित्र और अपने पुरोहित शतानन्द जी की अनुमति से आपकी सेवा में निवेदन करने को कहा है। इतना कह और दशरथ के रोब में आ दूत चुप हो गये ॥ १४ ॥ १५ ॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणोन्यांश्च सोऽब्रवीत् ॥१६॥

उन दूतों की बातों को सुन महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न हुए और वशिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मंत्रियों से कहने लगे ॥ १६ ॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥ १७ ॥

विश्वामित्र से रक्षित, कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण सहित, आजकल मिथिलापुरी में हैं ॥ १७ ॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
संप्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का पराक्रम राजा जनक भली भाँति देख चुके हैं और अब वे अपनी कन्या का विवाह श्रीरामचन्द्र जी के साथ करना चाहते हैं ॥ १८ ॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥१९॥

यदि इसे आप लोग पसन्द करें, तो हम लोगों को मिथिला-पुरी के लिये शीघ्र प्रस्थान करना चाहिये, जिससे वहाँ पहुँचने में विलम्ब न हो ॥ १९ ॥

[नोट—इस श्लोक में "यदि वो रोचते वृत्तं" को देखने से यह अवगत होता है कि, रामायणकाल में एकाधिपत्य राज्यशासन प्रणाली प्रचलित होने पर भी, तत्कालीन राजा लोग अपने घरेलू कामों में भी अपने पार्श्ववर्त्तियों की सम्मति लिये बिना कोई कार्य नहीं करते थे ।]

मन्त्रिणो वाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद्राजा श्वो यात्रेति स मन्त्रिणः ॥२० ॥

महाराज का वचन सुन सब उपस्थित ऋषियों और मंत्रियों ने कहा—"यह तो बहुत ही अच्छी बात है।" तब महाराज ने

प्रसन्न हो कर मंत्रियों से कहा—"तो कल ही यहाँ से चल देना चाहिये" ॥२०॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रेण रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥२१॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

राजा जनक के मंत्रियों की, जो दूत बन कर अयोध्या गये थे, बड़ी अच्छी तरह खातिरदारी की गयी और उन लोगों ने बड़े सुख से रात व्यतीत की ॥ २१ ॥

बालकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः ।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रात बीतने पर महाराज दशरथ, उपाध्याय और बन्धु-बान्धवों सहित, प्रसन्न हो अपने प्रमुख मंत्री सुमन्त्र से यह बोले ॥ १ ॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम् ।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः ॥ २ ॥

आज सब से पहले हमारे सब ख़ज़ानची लोग बहुतसा धन और तरह तरह के रत्न अपने साथ ले कर उचित प्रबन्ध के साथ आगे चलें ॥ २ ॥

चतुरङ्गं बलं सर्वं शीघ्रं निर्यातु सर्वशः ।
ममाज्ञासमकालं च यानयुग्य[1]मनुत्तमम् ॥ ३ ॥

मेरी समस्त चतुरङ्गिणी सेना शीघ्र ही तैयार की जाय । उसके साथ ही रथ और पालकियां भी तैयार की जांय । देखो मेरी आज्ञा में अन्तर न पड़ने पावे ॥ ३ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
मार्कण्डेयः सुदीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥ ४ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घायु मार्कण्डेय, और कात्यायन ॥ ४ ॥

एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे ।
यथा कालात्ययो न स्याद्दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥५॥

ये सब ब्राह्मण आगे चलें । मेरा रथ भी तैयार कराओ, जिससे देर न होने पावे । देखो, राजा जनक के दूत जल्दी कर रहे हैं ॥ ५ ॥

वचनात्तु नरेन्द्रस्य सा सेना चतुरङ्गिणी ।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ॥ ६ ॥

जब महाराज दशरथ, उक्त ऋषियों के साथ रवाना हुए, तब उनकी आज्ञा से चतुरङ्गिणी सेना उनके पीछे पीछे चली ॥ ६ ॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान् ।
राजा तु जनकः श्रीमाञ्श्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥७॥

---

१ यानयुग्य—यानं शिविकान्दोलिकादि ; युग्यं रथादि । (गो०)

रास्ते में चार दिन बिता कर, महाराज दशरथ जनकपुर में जा पहुँचे। उधर इनका आगमन सुन राजा जनक ने इनके सत्कार के लिये सब सामान सजाये और आगे जा कर बड़ा आदर सत्कार किया ॥ ७ ॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।
जनको मुदितो राजा हर्षं च परमं ययौ ॥ ८ ॥

राजा जनक, वृद्ध महाराज दशरथ जी से मिल कर परमानन्दित हुए ॥ ८ ॥

उवाच च नरश्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितः ।
स्वागतं ते महाराज दिष्ट्या प्राप्तोसि राघव ॥ ९ ॥

और नरश्रेष्ठ जनक नरश्रेष्ठ दशरथ जी से अत्यन्त हर्षित हो बोले—हे महाराज ! मैं आपका स्वागत करता हूँ। यह मेरा सौभाग्य है, जो आप पधारे हैं ॥ ९ ॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥१०॥

अपने दोनों पराक्रमी राजकुमारों को देख कर, आप परम प्रसन्न होंगे। यह भी बड़े ही सौभाग्य की बात है, जो महातेजस्वी भगवान् वशिष्ठ ऋषि ॥ १० ॥

सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः ।
दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥११॥

सब ऋषियों के साथ, देवताओं सहित इन्द्र की तरह, यहाँ पधारे हैं। सौभाग्य की बात है कि, कन्यादान के समय के समस्त विघ्न अब नष्ट हो गये, और मेरा यह प्रतिष्ठित कुल भी ॥ ११ ॥

राघवैः सह सबन्धा द्वीर्यश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसम्मतम् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥ १३ ॥

वीरों में श्रेष्ठ और महात्मा रघुवंशियों के साथ सम्बन्ध होने से प्रतिष्ठित हो गया। हे नरेन्द्र ! आप कल प्रातःकाल यज्ञान्तस्नान (अवभृथ) हो चुकने पर, ऋषियों की सम्मति से विवाहाचार की रीति करावें। इसी प्रकार राजा जनक के वचन सुन कर, ऋषियों के बीच बैठे हुए महाराज दशरथ, ॥ १२ ॥ १३ ॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवांच महीपतिम् ।
प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा ॥ १४ ॥

जो बोलने वालों में चतुर थे, राजा जनक से बोले—हमने तो यह पहले ही से सुनरखा है कि, दान, दान देने वाले के अधीन है ॥ १४ ॥

यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत्करिष्यामहे वयम् ।
धर्मिष्ठं च यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥

हे धर्मज्ञ ! अतः आप जैसा कहेंगे, हम लोग वैसा ही करेंगे। सत्यवादी महाराज दशरथ के ऐसे धर्मयुक्त और यश बढ़ाने वाले वचन ॥ १५ ॥

श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः ।
ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे ॥ १६ ॥

सुन, राजा जनक को बड़ा विस्मय हुआ। (विस्मित होने की बात यह थी कि, राजा जनक की प्रतिज्ञा के अनुसार सीता जी जब

श्रीरामचन्द्र की न्यायानुसार हो ही चुकी, तब महाराज दशरथ जी यह विनम्र वचन कि, "दान, दान देने वाले के अधीन है" क्यों कहते हैं। अर्थात् राजा जनक सीता का दान नहीं करते। (आर्या जी तो "वीर्यशुल्का" हैं) तदनन्तर ऋषियों ने भी आपस में मिल भेंट कर ॥ १६ ॥

हर्षेण महता युक्तास्तां निशामवसन्सुखम् ।
राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः ।
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ॥ १७ ॥

बड़ी प्रसन्नता के साथ वहाँ रह कर रात बितायी। महाराज दशरथ भी अपने पुत्रों (श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण) को देख, परम प्रसन्न हुए और राजा जनक की ख़ातिरदारी से सुखपूर्वक वहाँ वास किया ॥ १७ ॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रियां धर्मेण तत्त्ववित् ।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥ १८ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

उदार राजा जनक ने भी यज्ञ और विवाह की करने योग्य रीति भाँति को कर के, विश्राम किया ॥ १८ ॥

बालकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

सप्ततितमः सर्गः

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा[1] महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १ ॥

प्रातःकाल होने पर राजा जनक ऋषियों की सहायता से यज्ञादि क्रिया समाप्त कर, अपने पुरोहित शतानन्द जी से बोले ॥१॥

भ्राता मम महातेजा यवीयानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २ ॥

देखो, महातेजस्वी, महाबलवान् और अत्यन्त धर्मिष्ठ कुशध्वज नाम के मेरे छोटे भाई साङ्काश्य नामक पवित्र पुरी में रहते हैं ॥ २ ॥

वार्याफ[2]लकपर्यन्तां सिवन्निक्षुमतीं नदीम् ।
सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥३॥

साँकाश्या नाम पवित्र पुरी के चारों ओर उसकी रक्षा के लिये खाईं (परिखा) है और तरह तरह के यंत्र (कलें) हैं। इक्षु नदी पास ही बहती है और वह पुष्पक विमान के आकार की बनी हुई है ॥ ३ ॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता[3] स मे मतः ।
प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥

मेरे यज्ञ में सामग्री आदि भेज कर सहायता करने वाले मैं अपने उस प्यारे भाई को देखना चाहता हूँ । वह

---

१ कृतकर्मा—समाप्तयज्ञादिक्रियः । (गो०) २ अफलका-यंत्र यंत्रफलकाख्ये युक्तः । (रा०) ३ यज्ञगोप्ता—सांकाश्येस्थित्वा यज्ञसामग्री प्रेषणादिनेतिभावः । (गो०)

भी इस विवाहोत्सव में सम्मिलित हो हम लोगों के साथ आनन्दित हों ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य सन्निधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा[1] जनकस्तान्समादिशत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार राजा जनक शतानन्द से कह ही रहे थे कि, इसी बीच में सामने कुछ सामर्थ्यवान् (जो काम सौंपा जाय, उसको अपने बुद्धिबल से करने की सामर्थ्य रखने वाले) दूत आ गये। राजा जनक ने उनको जाने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

शासनात्तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥ ६ ॥

वे दूत राजा जनक की आज्ञा से शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर ऐसे चले, जैसे इन्द्र की आज्ञा पा कर, देवता लोग वामन जी को लेने गये थे ॥ ६ ॥

सांकाश्यां ते समागत्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन्यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥

सांकाश्या पुरी में पहुँच कर वे राजा कुशध्वज से मिले और जनक महाराज ने जो सन्देसा भेजा था, वह ज्यों का त्यों निवेदन किया ॥ ७ ॥

तदृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाबलैः ।
आज्ञयाऽथ नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥

---

१ अव्यग्राः—समर्थाः । (रा०)

उन महाबली श्रेष्ठ दूतों के द्वारा राजा जनक का सन्देसा सुन, राजा जनक के आज्ञानुसार राजा कुशध्वज जनकपुरी में आ गये ॥ ८ ॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं राजानं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥

जनकपुरी में आ कर राजा कुशध्वज, धर्मवत्सल एवं महात्मा जनक जी से मिले और शतानन्द जी तथा अत्यन्त धर्मिष्ठ जनक जी को प्रणाम किया ॥ ९ ॥

राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।
उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितौजसौ ॥ १० ॥

तदनन्तर वे राजाओं के बैठने योग्य आसन पर बैठे । जब वे अति तेजस्वी दोनों भाई आसन पर बैठ गये ॥ १० ॥

प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम् ।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमैक्ष्वाकममितप्रभम् ॥ ११ ॥

तब उन दोनों वीरों ने मंत्रिप्रवर सुदामा नामक अपने मंत्री को (दशरथ महाराज) के पास भेजा और कहा कि, हे मंत्रिपते ! तुम शीघ्र अमित तेजवाले महाराज दशरथ के पास जाओ ॥ ११ ॥

आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम् ।
औपकार्यं[1] स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम् ॥ १२ ॥

---

१ औपकार्यं—दशरथशिविरनिवेशं । (गो०)

और उन दुधर्ष महाराज को मय राजकुमारों और मंत्रियों के यहाँ बुला जाओ। यह सुन वह मंत्री वहाँ गया जहाँ महाराज दशरथ जी डेरे तंबुओं में ठहरे हुए थे ॥ १२ ॥

ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत् ।
अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ १३ ॥

और उनके सामने जा तथा प्रणाम कर बोला—हे वीर अयोध्यानाथ ! मिथिलाधिप विदेह ॥ १३ ॥

स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम् ।
मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तदा ॥ १४ ॥

राजकुमारों, उपाध्याय और पुरोहित सहित आपके दर्शन करना चाहते हैं। उस श्रेष्ठ मंत्री के यह वचन सुन, महाराज दशरथ, ऋषियों ॥ १४ ॥

सबन्धुरगमत्तत्र जनको यत्र वर्तते ।
स राजा मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥१५॥

और बन्धु बान्धवों सहित वहाँ गये, जहाँ राजा जनक अपने पुरोहित, बान्धवों और मंत्रियों सहित थे ॥ १५ ॥

वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत् ।
विदितं ते महाराजं इक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥ १६ ॥

बोलने में चतुर महाराज दशरथ, राजा जनक से बोले। हे जनक जी महाराज ! आप तो जानते ही हैं कि, भगवान् वशिष्ठ जी इक्ष्वाकुकुल के देवता हैं ॥ १६ ॥

वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥ १७ ॥

और ऐसे सब कामों में मेरी ओर से बोलने वाले भगवान् वशिष्ठ ऋषि जी ही हैं। अतः विश्वामित्र जी की तथा अन्य महर्षियों की सलाह से ॥ १७ ॥

एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठस्ते यथाक्रमम् ।
तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥

धर्मात्मा वशिष्ठ जी ही हमारी गोत्रावली यथाक्रम आपको सुनावेंगे। यह कह जब महाराज दशरथ चुप हुए, तब भगवान् वशिष्ठ ऋषि, ॥ १८ ॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोहितम् ।
अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥१९॥

जो बातचीत करने का ढंग भली भाँति जानते थे, राजा जनक तथा उनके पुरोहित (शतानन्द जी) को सम्बोधन कर कहने लगे। हे राजन्! अव्यक्त (प्रत्यक्षाद्यगोचरं वस्तु प्रभवः कारणं यस्य सोऽव्यक्त प्रभवः) ब्रह्म से, ब्रह्मा जो उत्पन्न हुए, जो सनातन, नित्य और अव्यय हैं ॥ १९ ॥

[नोट—इस श्लोक में "शाश्वत" "नित्य" और "अव्यय" तीन विशेषणब्रह्मा के लिये आये हैं, उनके अर्थ इस प्रकार हैं ; "शाश्वत" का अर्थ है बहुकाल स्थायी ! "नित्य" का अर्थ है द्विपरार्ध काल तक नाश रहित और "अव्यय" का अर्थ है प्रवाह रूप से प्रतिकल्प में रहने वाले।]

तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः काश्यपः सुतः ।
विवस्वान्काश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥

उनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से सूर्य, सूर्य से वैवस्वत मनु हुए ॥ २० ॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ २१ ॥

यह मनु प्रथम प्रजापति कहलाये। मनु से इक्ष्वाकु हुए जो अयोध्या के प्रथम राजा थे ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान्विकुक्षिरुदपद्यत ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकु के पुत्र कुक्षि और कुक्षि के विकुक्षि नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २२ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यो महायशाः ॥ २३ ॥

विकुक्षि के महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाण के महातेजस्वी और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ २३ ॥

अनरण्यात्पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोः सुतः ।
त्रिशङ्कोरभवत्पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥ २४ ॥

अनरण्य के पृथु और पृथु के त्रिशङ्कु हुए। त्रिशङ्कु के धुन्धमार नामक महायशस्वी पुत्र हुए ॥ २४ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महाबलः ।
युवनाश्वसुतस्त्वासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

धुन्धमार के महाबली युवनाश्व हुए। युवनाश्व के पृथ्वीपति मान्धाता हुए ॥ २५ ॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमन्सुसन्धिरुदपद्यत ।
सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

मान्धाता के सुसन्धि नामक पुत्र उत्पन्न हुए। सुसन्धि के दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात्तु महातेजा असितो नाम जातवान् ॥ २७ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धि के भरत और भरत के महातेजस्वी असित हुए ॥ २७ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिविन्दवः ॥ २८ ॥

असित के हैहय, तालजङ्घ और शशिविन्द तीन पुत्र हुए। ये तीनों वीर राजा हुए, किन्तु इन तीनों ने अपने पिता असित् के साथ वैर बाँधा ॥ २८ ॥

तांस्तु स प्रतियुध्यन्वै युद्धे राज्यात्प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

और असित को लड़ाई में हरा कर राज्य से निकाल दिया। तब राजा असित अपनी दो रानियों को साथ ले कर, हिमालय पर चले गये ॥ २९ ॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतम् ॥ ३०

अल्पबली राजा असित वहाँ (हिमालय पर) जा कर मर गये। उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं ॥ ३० ॥

एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ।
ततः शैलवरं रम्यं बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥

एक ने अपनी सौत का गर्भ नष्ट करने के लिये उसको विष दे दिया । उस समय उस हिमालय पर्वत पर एक मुनि रहते थे, ॥ ३१ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥

जो भृगुवंशी थे और उनका नाम च्यवन था । वे हिमालय पर्वत पर तप करते थे । असित की रानियों में से एक, भृगुवंशी एवं देव वर्चस, (देवताओं के समान तेज सम्पन्न) च्यवन के पास गयी ॥ ३२ ॥

ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।
तमृषिं साऽभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥३३॥

उत्तम पुत्र होने की इच्छा से उस कमलनयनी ने मुनि की वन्दना की और वह उनके सामने बैठ गयी । उस रानी का नाम कालिन्दी था ॥ ३३ ॥

स तामभ्यवदद्विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहायशाः ॥ ३४ ॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात्संजनिष्यति ।
गरेण सहितः श्रीमान्मा शुचः कमलेक्षणे ॥ ३५ ॥

पुत्र प्राप्तिकी इच्छा रखने वाली उस रानी से च्यवन जी ने कहा कि, हे महाभागे ! तेरी कुक्षि में उत्तम, महायशस्वी, महाबली

और महातेजस्वी एक बालक है जो विष सहित शीघ्रउत्पन्न होगा। हे कमलनयनो! तू कुछ भी चिन्ता मत कर ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

च्यवनं तु नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता।
पतिशोकातुरा तस्मात्पुत्रं देवी व्यजायत ॥ ३६ ॥

तदनन्तर पतिव्रता एवं पति के शोक से आतुर उस राजपुत्री ने च्यवन को प्रणाम किया। (च्यवन जी के आशीर्वाद से) उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३६ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया।
सह तेन गरेणैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

उसको सौत ने उसका गर्भ नष्ट करने को उसे जो विष खिलाया था, उस विष के साथ लड़का उत्पन्न होने के कारण, उस बालक का नाम सगर पड़ा ॥ ३७ ॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जात्तथांशुमान्।
दिलीपोंशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ ३८ ॥

सगर के असमञ्जस, असमञ्जस के अंशुमान, अंशुमान के दिलीप और दिलीप के भगीरथ हुए ॥ ३८ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थोऽभूत्ककुत्स्थस्य रघुः सुतः।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥

भगीरथ के ककुत्स्थ और ककुत्स्थ के रघु हुए। रघु के तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुआ जो नरमांस भोजी अर्थात् राक्षस था ॥ ३९ ॥

कल्माषपादो ह्यभवत्तस्माज्जातश्च शङ्खणः।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥

पीछे यही कल्माषपाद भी कहलाया। कल्माषपाद के शङ्खण, शङ्खण के सुदर्शन, और सुदर्शन के अग्निवर्ण हुए ॥ ४० ॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः ।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥

अग्निवर्ण के शीघ्रग, शीघ्रग के मरु, मरु के प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुक के अम्बरीष हुए ॥ ४१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः ।
नहुषस्य ययातिश्च नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥

अम्बरीष के सत्यपराक्रमी नहुष हुए, नहुष के ययाति और ययाति के नाभाग हुए ॥ ४२ ॥

नाभागस्य त्वभूद्राजा अजादशरथोऽभवत् ।
अस्मादशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

नाभाग के पुत्र अज और अज के पुत्र महाराज दशरथ और दशरथ के पुत्र ये दोनों भाई श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण हैं ॥ ४३ ॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम् ।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥

आदि से ले कर इक्ष्वाकुवंश वाले राजाओं का विशुद्ध वंश, जो धार्मिष्ठ, वीर और सत्यवादी है मैंने आपको सुनाया ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

महाराज दशरथ आपकी कन्याओं को अपने पुत्रों के लिये मांगते हैं। यह सब प्रकार से योग्य हैं। अतः आप इनको अपनी श्रेष्ठ कन्याएँ दे दीजिये ॥ ४५ ॥

बालकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितं ॥ १ ॥

वशिष्ठ जी के यह कहने पर, राजा जनक ने वशिष्ठ जी के हाथ जोड़े और उनसे वे कहने लगे—हे महर्षे ! आपका मङ्गल हो; अब मेरे कुल की भी परम्परा सुनिये ॥ १ ॥

प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः ।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामुने ॥ २ ॥

क्योंकि कन्यादान के समय कुलीन को अपने कुल को आद्यन्त अथवा समस्त परम्परा अवश्य बतलानी चाहिये। हे महर्षे ! अतः आप सुनिये ॥ २ ॥

राजाऽभूत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा ।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतांवरः ॥ ३ ॥

अपने सुकर्मों द्वारा तीनों लोकों में प्रसिद्ध धर्मात्मा, सत्यवादी और सब राजाओं में श्रेष्ठ निमि नाम के एक राजा हुए ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम प्रथमो मिथिपुत्रकः ।
प्रथमाज्जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

निमि के मिथि हुए, मिथि के जनक हुए। (इन्हीं जनक के नाम से इस वंश के सब राजा जनक कहलाते हैं) इन आदि जनक के उदावसु हुए ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।
नन्दिवर्धनपुत्रस्तु सुकेतुर्नाम नामतः ॥ ५ ॥

उदावसु के धर्मात्मा पुत्र नन्दिवर्धन हुए और नन्दिवर्धन के पुत्र सुकेतु हुए ॥ ५ ॥

सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

सुकेतु के महाबली धर्मात्मा देवरात हुए और देवरात के राजर्षि बृहद्रथ हुए ॥ ६ ॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान् ।
महावीरस्य धृतिमान्सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

बृहद्रथ के बड़े शूरवीर और प्रतापी महावीर, महावीर के धृतिमान, और धृतिमान के सत्यपराक्रमी सुधृति हुए ॥ ७ ॥

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोस्तु राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

सुधृति के धर्मात्मा धृष्टकेतु और धृष्टकेतु के राजर्षि हर्यश्व हुए ॥ ८ ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतिन्धकः ।
प्रतिन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्त्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

हर्यश्व के मरु, मरु के प्रतिन्धक और प्रतिन्धक के धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुत्रः कीर्त्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः ।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥ १० ॥

कीर्तिरथ के देवमीढ़, देवमीढ़ के विबुध और विबुध के महीध्रक हुए ॥ १० ॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्त्तिरातो महाबलः ।
कीर्त्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥ ११ ॥

महीध्रक के महाबली कीर्तिरात हुए और कीर्तिरात के राजर्षि महारोमा हुए ॥ ११ ॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १२ ॥

महारोमा के धर्मात्मा स्वर्णरोमा हुए और स्वर्णरोमा के राजर्षि ह्रस्वरोमा हुए ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रद्वयं जज्ञे धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥ १३ ॥

धर्मज्ञ ह्रस्वरोमा के दो पुत्र हुए। उन दो में बड़ा मैं हूँ और दूसरा मेरा वीर छोटा भाई कुशध्वज है ॥ १३ ॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य नराधिपः ।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥ १४ ॥

हमारे पिता मुझ ज्येष्ठ को राज्य सौंप तथा कुशध्वज को, मेरे पास रख, वन को चले गये ॥ १४ ॥

वृद्धं पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम् ।
भ्रातरं देवसङ्काशं स्नेहात्पश्यन्कुशध्वजम् ॥ १५ ॥

जब वृद्ध पिता जी स्वर्गवासी हुए, तब मैं धर्मपूर्वक राज्य करने लगा और देवता के समान अपने छोटे भाई को स्नेहपूर्वक पालने लगा ॥ १५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादगमत्पुरात् ।
सुधन्वा वीर्यवान्राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥

कुछ काल बाद सांकाश्या पुरी के विक्रमी राजा सुधन्वा ने मिथिला को आ घेरा ॥ १६ ॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम् ।
सीता कन्या च पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥१७॥

उसने मेरे पास यह सन्देसा भेजा कि, शिवधनुष और कमलनयनी सीता मुझे दे दो ॥ १७ ॥

तस्याऽप्रदानाद्ब्रह्मर्षे युद्धमासीन्मया सह ।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥१८॥

हे ब्रह्मर्षे ! उसकी इस बात को मैंने स्वीकार न किया ; तब मेरे साथ उसका घोर युद्ध हुआ । मैंने इस युद्ध में सुधन्वा को मार डाला ॥ १८ ॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम् ।
सांकाश्ये भ्रातरं वीरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! राजा सुधन्वा को मार कर, मैंने सांकाश्या पुरी के राजसिंहासन पर अपने वीर भाई कुशध्वज को बिठा दिया ॥ १९ ॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥

हे महर्षे ! यह मेरा छोटा भाई है और मैं इसका बड़ा भाई हूँ । हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं बड़ी प्रीति के साथ दो वधुएं आपको देता हूँ ॥ २० ॥

सीता रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय च ।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥

उनमें सीता तो श्रीरामचन्द्र के लिये और ऊर्मिला लक्ष्मण जी के लिये देता हूँ । वीर्यशुल्का सीता जो देवकन्या के समान है ॥ २१ ॥

द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्ददामि न संशयः ।
रामलक्ष्मणयो राजन्गोदानं कारयस्व ह ॥ २२ ॥

और दूसरी ऊर्मिला मैं यथाक्रम श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को तिवाचा भर कर देता हूँ । अब इस बात में कुछ भी संशय नहीं है । अब आप दोनों राजकुमारों से गोदान करवाइये ॥ २२ ॥

पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ।
मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीये दिवसे विभो ॥ २३ ॥

हे राजन्! आपका मङ्गल हो। तदनन्तर आप नान्दीमुख श्राद्ध करवा कर, विवाह सम्बन्धी विधि करवाइये। हे महाबाहो! आज मघा नक्षत्र है। आज के तीसरे दिन ॥ २३ ॥

फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन्नैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयो राजन्दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र आवेगा। उसी नक्षत्र में हे महाराज! विवाह होना चाहिये। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सुखोदय के लिये (गो, तिल, भूमि आदि का) दान कीजिये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का एकहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम् ॥ १ ॥

जब जनक जी ने इस प्रकार कहा, तब वशिष्ठ जी के अभिप्रायानुसार महामुनि विश्वामित्र जी ने राजा जनक से कहा ॥ १ ॥

[1]अचिन्त्यान्यप्रमे[2]यानि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन ॥ २ ॥

---

१ अचिन्त्यानि—आश्चर्यभूतानि। (गो०) २ अप्रमेयानि—अपरिच्छेद्य महिमानि। (गो०)

हे राजन्! इक्ष्वाकु और विदेह—दोनों ही वंशों की वंश-परम्पराएं विस्मयोत्पादनी हैं और इनकी महिमा असीम है। इनकी बराबरी करने वाला दूसरा कोई कुल ही नहीं है ॥ २ ॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसंपदा ।
रामलक्ष्मणयो राजन्सीता चोर्मिलया सह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र और सीता का तथा लक्ष्मण एवं उर्मिला का धर्म सम्बन्ध अर्थात् वैवाहिक सम्बन्ध बराबर का है। क्योंकि वर वधू दोनों ही क्या रूप और क्या सम्पत्ति—सब बातों में समान हैं ॥ ३ ॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम ।
भ्राता यवीयान्धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः ॥ ४ ॥

हे राजन्! यह होने पर भी मुझे इस पर कुछ वक्तव्य है, उसे सुनिये। आपके यह छोटे और धर्मज्ञ भाई जो कुशध्वज हैं, ॥ ४ ॥

अस्य धर्मात्मनो राजन्रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे ॥ ५ ॥

इन धर्मात्मा की दो कन्याओं को, जो इस संसार में अपने सौन्दर्य में सर्वश्रेष्ठ हैं, बहू बनाने के लिये मैं मांगता हूँ ॥ ५ ॥

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरयेम सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥ ६ ॥

अर्थात् हे राजन्! एक कन्या बुद्धिमान् राजकुमार भरत के लिये और एक शत्रुघ्न के लिये हम मांगते हैं ॥ ६ ॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।
लोकपालोपमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥ ७ ॥

महाराज दशरथ के चारों राजकुमार रूपवान्, यौवनशाली, लोकपालों के समान, अथच देवतुल्य पराक्रमी है ॥ ७ ॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धो ह्यनुवध्यताम् ।
इक्ष्वाकोः कुलमव्यग्रं[1] भवतः पुण्यकर्मणः ॥ ८ ॥

सो हे राजेन्द्र ! इन दोनों राजकुमारों का भी सम्बन्ध कीजिये । इक्ष्वाकुकुल निर्दोष है और आप भी पुण्यात्मा हैं ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा ।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ ॥ ९ ॥

विश्वामित्र जी के ये वचन सुन और वशिष्ठ जी की सम्मति जान अथवा वशिष्ठ जी के सम्मत विश्वामित्र जी के वचन सुन, महाराज जनक हाथ जोड़ कर दोनों महर्षियों से बोले ॥ ९ ॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां नो मुनिपुङ्गवौ ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयथः स्वयम् ॥ १० ॥

मेरा कुल धन्य है, जो आप दोनों महर्षियों ने स्वयं इस कुल-सम्बन्ध को समान बतलाया है ॥ १० ॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे ।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ ११ ॥

---

१ अव्यग्रं—निर्दोषं । (गो०) ।

आप जो आज्ञा देंगे वही होगा। आपका मङ्गल हो, कुशध्वज की कन्याओं का विवाह भरत और शत्रुघ्न के साथ कर दिया जायगा ॥ ११ ॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसॄणां महामुने ।
पाणीन्गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः ॥ १२ ॥

हे मुनि ! एक ही दिन महाराज दशरथ के चारों महाबली राजकुमार, इन चारों का पाणिग्रहण करें। अर्थात् चारों का विवाह एक ही दिन हो ॥ १२ ॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन्फल्गुनीभ्यां मनीषिणः ।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन् ! कल उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र है। पण्डितों का मत है कि, इस नक्षत्र में विवाह होना उत्तम है। क्योंकि इस नक्षत्र का प्रजापति भग देवता है ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

यह कह राजा जनक खड़े हो गये और हाथ जोड़ कर दोनों मुनिवरों से बोले ॥ १४ ॥

परो धर्मः[1] कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोःसदा ।
इमान्यासनमुख्यानि आसातां मुनिपुङ्गवौ ॥ १५ ॥

आप दोनों के अनुग्रहसे मुझे यह कन्यादान रूप धर्म प्राप्त हुआ। (अर्थात् कन्याप्रदान करने का उपदेश।) मैं सदा आप दोनों का

१ परोधर्मः—कन्याप्रदानरूपः। (गो०)

दास हूँ। आप दोनों इन मुख्य आसनों पर विराजिये (दो मुख्य आसन—राजा जनक का और महाराज दशरथ का) ॥ १५ ॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम।
प्रभुत्वे नास्ति सन्देहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

प्रभुत्व में जैसे जनकपुरी महाराज दशरथ की है, वैसे ही अयोध्यापुरी मेरी है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अतएव आपको जो उचित जान पड़े सो कीजिये ॥ १६ ॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७ ॥

जब जनक ने ये वचन महाराज दशरथ से कहे, तब उन्होंने प्रसन्न हो कर, जनक से कहा, ॥ १७ ॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८ ॥

हे मिथिलेश्वर ! आप दोनों भाइयों में असंख्य गुण हैं। आपने ऋषियों और राजाओं का अच्छा सत्कार किया है ॥ १८ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामि स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि सर्वाणि विधास्यामीति चाब्रवीत् ॥१९॥

फिर महाराज दशरथ ने कहा कि, मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ कि, आपका कल्याण हो। अब मैं स्वस्थान पर जा कर विधिपूर्वक नान्दीमुख आदि सब श्राद्धकर्म करता हूँ ॥ १९ ॥

तमापृच्छ्य नरपतिं राजा दशरथस्तदा।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥ २० ॥

इस प्रकार राजा जनक से विदा हो महाराज दशरथ दोनों मुनियों को आगे कर, तुरन्त चल दिये ॥ २० ॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः ।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

अपने स्थान पर जा कर महाराज दशरथ ने विधि से श्राद्ध किया और अगले दिन प्रातःकाल होते ही गोदानादि किये ॥२१॥

गवां शतसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः ।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥ २२ ॥

महाराज दशरथ ने अपने राजकुमारों की मङ्गलकामना के लिये एक एक लाख गौएँ, एक एक ब्राह्मण को दीं ॥ २२ ॥

सुवर्णशृङ्गाः संपन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः ।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः ॥ २३ ॥

उन गौओं के सींग सोने के पत्रों से मढ़े हुए थे, वे दुधार थीं, उनके साथ उनके बछड़े थे। प्रत्येक गौ के साथ काँसे का दूध दुहने का पात्र (दुधैड़ी) था। इस प्रकार की चार लाख गौएँ महाराज ने दीं ॥ २३ ॥

वित्तमन्यच्च सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥ २४ ॥

पुत्रवत्सल राजा ने पुत्रों के कल्याण के लिये बहुत सा धन गोदान के उद्देश्य से ब्राह्मणों को दिया ॥ २४ ॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतस्तु नृपतिस्तदा ।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥ २५ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

पुत्रों सहित गोदान कर महाराज दशरथ ऐसे शोभित हुए जैसे लोकपालों सहित ब्रह्मा जी शोभित होते हैं ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का बहत्तरवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम् ।
तस्मिंस्तु दिवसे शूरो युधाजित्समुपेयिवान् ॥ १ ॥

जिस दिन महाराज जनक ने उत्तम गोदान किये, उसी दिन युधाजित जी भी (जनकपुर) पहुँचे ॥ १ ॥

पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

केकय देश के राजा के पुत्र, भरत जी के साक्षात् मामा ने, महाराज दशरथ जी से मिल कर, कुशलक्षेम पूँछी और यह कहे ॥ २ ॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात्कुशलमब्रवीत् ।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां संप्रत्यनामयम् ॥ २ ॥

हे महाराज ! केकय देशाधिपति ने बड़ी प्रीति के साथ अपना कुशल कहा है और कहा कि आप जिन लोगों की कुशल चाहते हैं वे सब प्रकार से कुशल हैं ॥ ३ ॥

स्वस्रीयं[1] मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः ।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन ॥ ४ ॥

हे राजेन्द्र ! हमारे पिता को भरत जी के देखने की इच्छा है । मैं इसीलिये प्रथम अयोध्या गया ॥ ४ ॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान् ।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते ॥ ५ ॥

जब मैंने वहाँ सुना कि, आप राजकुमारों का विवाह करने के लिये उनको ले कर मिथिलापुरी पधारे हैं, तब मैं ॥ ५ ॥

त्वरयाऽभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुःसुतम् ।
अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम् ॥ ६ ॥

तुरन्त अपने भाँजे को देखने के लिये यहाँ चला आया हूँ । महाराज दशरथ ने अपने नातेदार (साला) को आया हुआ ॥६॥

दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत् ।
ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥

देख, उस सत्कार करने योग्य नातेदार का अच्छी तरह सत्कार किया और अपने राजकुमारों सहित रात्रि को सुखपूर्वक निद्रा किया ॥ ७ ॥

---

१ स्वस्रीयं—भरतं । (रा०)

प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि कर्मवित् ।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ ८ ॥

(अगले दिन) प्रातःकाल होते ही महाराज दशरथ नित्यकर्म कर, ऋषियों सहित यज्ञशाला में गये ॥ ८ ॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः ।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ ९ ॥

वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि ।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

विजयमुहूर्त में वशिष्ठादि सब ऋषियों सहित सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित भाइयों के साथ श्रीरामचन्द्र जी को विवाह के मङ्गलाचार की रीति करा कर, वशिष्ठ जी राजा जनक से बोले ॥ ९ ॥ १० ॥

राजा दशरथो राजन्कृतकौतुकमङ्गलैः ।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठ दातारमभिकाङ्क्षते ॥ ११ ॥

हे राजन् ! महाराज दशरथ अपने राजकुमारों से (आरम्भिक) वे मङ्गल कृत्य करवा चुके । हे नरवरश्रेष्ठ ! अब वे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ११ ॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः प्रभवन्ति हि ।
स्वधर्म[1]प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

---

१ स्वधर्मं—प्रतिज्ञारूपं । (गो०)

क्योंकि दान दाता और दान लेने वाला, जब दोनों तत्पर हों तभी काम होता है। अतः आप भी वैवाहिक मङ्गलकर्म कर के अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिये ॥ १२ ॥

इत्युक्तः परमोदारो[1] वसिष्ठेन महात्मना ।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥ १३ ॥

जब महात्मा वशिष्ठ जी ने परमदाता राजा जनक से यह कहा तब परम धर्मात्मा राजा जनक बोले ॥ १३ ॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञा संप्रतीक्ष्यते ।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव ॥१४॥

महाराज दशरथ को क्या किसी मेरे दरवान ने रोका है? (जो यज्ञशाला के द्वार पर वे खड़े हुए हैं) महाराज किसकी परवानगी की प्रतीक्षा कर रहे हैं? अपने घर के अन्दर आने में भी क्या कोई रुकावट होती है? यह भी तो उन्हींका घर (या राज्य) है। चले क्यों नहीं आते। (मेरे आने की प्रतीक्षा क्यों करते हैं) ॥ १४ ॥

[नोट—इसका भाव यह है कि, महाराज दशरथ के लिये कोई रोक टोक नहीं वे आनन्द से पधारें।]

कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः ।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेर्यथार्चिषः ॥ १५ ॥

हमारी तो सब कन्याएँ मङ्गलाचार किये हुए वेदी के समीप बैठी हैं, वे सब अग्निशिखा की तरह देदीप्यमान हैं ॥ १५ ॥

---

१ परमोदारः—परमदाता । (रा०)

सज्जोऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः ।
अविघ्नं क्रियतां राजन्किमर्थमवलम्बते ॥ १६ ॥

मैं स्वयं यहाँ वेदी के पास बैठा हुआ आप लोगों ही की बाट जोह रहा हूँ। सो अब विलम्ब किस बात का है ? महाराज से कहिये कि, सब कार्य्य अब शीघ्र निर्विघ्न होने चाहिये ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा ।
प्रवेशयामास सुतान्सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वशिष्ठ जी द्वारा राजा जनक का यह सन्देसा पा, महाराज दशरथ ने राजकुमारों और ऋषियों सहित विवाह मण्डप में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिकैः ॥ १८ ॥
रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो ।
तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर राजा जनक ने वशिष्ठ जी से कहा कि, हे ऋषे ! आप अन्य ऋषियों सहित लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र जी के विवाह की विधि करवाइये यह सुन और जनक जी से, "बहुत अच्छा कराते हैं" कह कर, भगवान् वशिष्ठ जी ने ॥ १८ ॥ १९ ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।
प्रपामध्ये[1] तु विधिवद्वेदिं कृत्वा महातपाः ॥ २० ॥

---

१ प्रपामध्ये—यज्ञशालामध्ये इतिकतकः । अभिनवनारिकेलादिरचित-मण्डप इत्यर्थः । (गो०)

विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्द को आगे कर, विवाह मण्डप के बीच में अग्निस्थापन करने के लिये विधिवत् वेदी बनायी ॥२०॥

अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।
सुवर्णपालिकाभि[1]श्च च्छिद्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥ २१ ॥

फिर उस वेदी को चारो ओर गन्धपुष्पादि से सजाया और सुवर्ण शलाकाओं, करवा एवं दूर्वाङ्कुरादि से शोभित किया ॥२१॥

अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।
शङ्खपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्याभिपूरितैः ॥ २२ ॥

दूर्वाङ्कुर, सरवा, और धूप से भर कर बहुत से पात्र रखे। भर कर पात्र भी स्थापित किये । स्रुवादि वा अर्घ्यपात्र भी शङ्खाकार रखे ॥ २२ ॥

लाजपूर्णैश्च पात्रौघैरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २३ ॥

बहुत से पात्रों में धान की खीलें (लावा) और जल से धुलाकर अक्षत भरवा कर रखाये और मंत्र पढ़ पढ़ कर विधिपूर्वक बराबर बराबर के (अर्थात् एक नाप के) कुश बिछवाये ॥ २३ ॥

अग्निमाधाय वेद्यां तु विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ २४ ॥

तदनन्तर विधिवत् और मंत्र पढ़ कर, वेदी पर अग्नि स्थापन किया और महातेजस्वी भगवान् वशिष्ठ ऋषि उस अग्नि में आहुति देने लगे ॥ २४ ॥

---

१ सुवर्णपालिकाभिः—साङ्कुराभिरितिलिङ्गविपरिणामेनानुकृष्यते । (गो०)

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥

फिर सीता जी को सब गहने पहना कर, वेदी के निकट श्रीरामचन्द्र जी के सामने बैठाया ॥ २५ ॥

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥

राजा जनक ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राम ! यह मेरी कन्या सीता, आज से आपकी सहधर्मचारिणी हुई ॥ २६ ॥

[1]प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा च्छायेवानुगता सदा ॥ २७ ॥

इसे आप लीजिये और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़िये । यह महाभागा पतिव्रता सदा छाया की तरह आपकी अनुगामिनी बनी रहैगी । तुम्हारा दोनों का मङ्गल हो ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।
साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कह कर राजा जनक ने मंत्रों द्वारा पवित्र किया हुआ जल दोनों पर छिड़का । उस समय सब देवता और ऋषिगण "साधु साधु" कहने लगे ॥ २८ ॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।
एवं दत्त्वा तदा सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥

---

१ प्रतीच्छ—गृहाण । (गो०)

देवताओं ने नगाड़े बजाये और बड़ी भारी पुष्पों की वर्षा की । इस प्रकार सीता का श्रीरामचन्द्र जी के साथ विवाह कर के ॥ २९ ॥

अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलां च ममात्मजाम् ॥३०॥

प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हो बोले, हे लक्ष्मण ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम भी शीघ्र आ कर मेरी पुत्री ऊर्मिला को ग्रहण करो और अपने हाथ से इसका हाथ पकड़ो । विलम्ब मत करो । फिर राजा जनक ने भरत से कहा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पाणिं गृह्णीष्व माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।
शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा-अब्रवीज्जनकेश्वरः ॥ ३२ ॥

हे भरत ! तुम माण्डवी का पाणिग्रहण करो । तदनन्तर राजा जनक ने शत्रुघ्न से भी कहा, ॥ ३२ ॥

श्रुतकीर्त्या महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ३३ ॥

हे शत्रुघ्न ! तुम श्रुतकीर्ति का हाथ अपने हाथ से पकड़ो । तुम सब के सब जैसे सौम्य स्वभाव व सुचरित्र हो, ॥ ३३ ॥

पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत्कालस्य पर्ययः ।
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन्पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥

वैसी ही तुम्हें तुम्हारी पत्नियां भी मिली हैं। इन्हें अङ्गीकार करो, जिससे काल न वीत जाय। अर्थात् विवाह की लग्न न निकल जाय ॥ ३४ ॥

[नोट—इसको मि० ग्रिफिथ ने, इस प्रकार व्यक्त किया है।

"Now, Raghu's sons, may all of you,
Be gentle to your wives and true ;
Keep well the vows you make to-day,
Not let occasion slip away."

अर्थात् हे राजकुमारो ! तुम सब अपनी इन पत्नियों के साथ सदा अच्छा और सत्य व्यवहार करना और आज तुम लोग जिस प्रतिज्ञा को करते हो, इसका आजन्म निर्वाह करना, अब विलम्ब मत करो।]

चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥
ऋषींश्चैव महात्मानः सभार्या रघुसत्तमाः ।
यथोक्तेन तदा चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनक के इस प्रकार कहने पर चारों राजकुमारों ने चारों राजकुमारियों के हाथ पकड़े और वशिष्ठ जी की आज्ञा से पत्नियों सहित, अग्निवेदी, राजा जनक तथा ऋषियों की परिक्रमा कर के विधिपूर्वक सब वैवाहिक कर्म किये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

काकुत्स्थैश्च गृहीतेषु ललितेषु च पाणिषु ।
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात्सुभास्वरा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार चारों ककुत्स्थनन्दनों द्वारा उन राजकुमारियों के सुन्दर हाथों के पकड़े जाने पर, अर्थात् पाणिग्रहण हो चुकने पर, आकाश से दिव्य पुष्पों की बड़ी भारी वर्षा हुई ॥ ३७ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ।
ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम् ।
विवाहे रघुमुख्याणां तदद्भुतमदृश्यत ॥ ३८ ॥

देवताओं ने नगाड़े बजाये, अप्सराएँ नाचीं और गन्धर्वों ने गीत गाये । दशरथनन्दनों के विवाह में ये विस्मयोत्पादक कौतुक देख पड़े ॥ ३८ ॥

ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते ।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या रघूत्तमाः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार बाजे बजते हुए तीन तीन बार अग्नि की प्रदक्षिणा कर, राजकुमारों ने अपनी पत्नियों को ग्रहण किया ॥ ३९ ॥

अथोपकार्यां जग्मुस्ते सदारा रघुनन्दनाः ।
राजाप्यनुययौ पश्यन्सर्षिसङ्घः सबान्धवः ॥ ४० ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

तदनन्तर सब राजकुमार अपनी पत्नियों सहित जनवासे को सिधारे । महाराज जनक भी ऋषियों और बन्धु बान्धवों सहित विवाह का कौतुक देखते हुए जनवासे को गये ॥ ४० ॥

बालकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—इस विवाह कार्य में लक्ष्मण के बाद भरत जी का विवाह हुआ देख, कुछ लोगों को यह शङ्का हो सकती है कि, ज्येष्ठ भरत को छोड़ छोटे लक्ष्मण का विवाह प्रथम क्यों हुआ ? इस शङ्का की निवृत्ति टीकाकारों ने

यह कह कर की है कि, लक्ष्मण और भरत सगे भाई न थे। अतः ज्येष्ठ और लघु की शङ्का यहाँ नहीं हो सकती।]

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम् ॥ १ ॥

*विवाह हो चुकने पर अगले दिन सवेरा होते ही महर्षि विश्वा-*मित्र दोनों राजाओं (महाराज दशरथ और राजा जनक) से विदा मांग, हिमालय पर (तप करने) चले गये ॥ १ ॥

आशीर्भिः पूरयित्वा च कुमारांश्च सराघवान्।
विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम् ॥ २ ॥

विश्वामित्र ने जाते समय राजकुमारों को तथा महाराज दशरथ को आशीर्वाद दिये। महर्षि विश्वामित्र के विदा होने पर महाराज दशरथ ने मिथिलेश्वर राजा जनक से ॥ २ ॥

आपृष्ट्वाथ जगामाशु राजा दशरथः पुरीम्।
गच्छन्तं तं तु राजानमन्वगच्छन्नराधिपः ॥ ३ ॥

विदा माँग अति शीघ्र अयोध्या को प्रस्थान किया। राजा जनक कुछ दूर तक महाराज दशरथ के पीछे पीछे उन्हें विदा करने गये ॥ ३ ॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं[1] बहु ।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः ॥ ४ ॥

और दहेज़ के लवाज़में में (दैनदायजे में) मिथिलेश्वर ने अयोध्याधिपति को एक लाख गौएँ दीं ॥ ४ ॥

कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमकोट्यम्बराणि च ।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलङ्कृतम् ॥ ५ ॥

बहुत से बहुमूल्य दुशाले, और एक करोड़ रेशमी वस्त्र दिये ।
अनेक सुन्दर और सजे सजाये हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, ॥ ५ ॥

ददौ कन्यापिता तासां दासीदासमनुत्तमम् ।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च ॥ ६ ॥

दासियां और दास दिये । बहुत सी बढ़िया मोहरें और अशर्फियां, मोती, मूँगे (अथवा बढ़िया सोने के मोती जड़े गहने) दिये ॥ ६ ॥

ददौ परमसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम् ।
दत्त्वा बहुधनं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार परम प्रसन्न हो और भी बहुतसा बहुमूल्य दायजा दे कर, राजा जनक, महाराज दशरथ से आज्ञा माँग ॥ ७ ॥

प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः ।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ८ ॥

मिथिलेश्वर अपने मिथिलापुरी वाले राजभवन में गये । महाराज दशरथ भी, राजकुमारों को साथ लिये हुए ॥ ८ ॥

---

१ कन्याधनं—यौतकाख्यम् । (रा०)

ऋषीन्सर्वान्पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः ।
गच्छन्तं तं नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम् ॥ ९ ॥

तथा ऋषियों को आगे कर, सेना सहित चल दिये। ऋषियों और श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हुए महाराज दशरथ ॥ ९ ॥

घोराः स्म पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति ततस्ततः ।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम् ॥ १० ॥

के मार्ग में चारों ओर भयङ्कर पक्षी बोलने लगे। हिरन दौड़ कर रास्ता काटने लगे ॥ १० ॥

तान्दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत ।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः ॥११॥

इन अपशकुनों को देख महाराज दशरथ ने वशिष्ठ जी से पूँछा एक, यह एक ओर दुष्ट पक्षी बुरी तरह बोल रहे हैं और दूसरी ओर हिरन दहिनी ओर से रास्ता काट रहे हैं ॥ ११ ॥

किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति ।
राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥ १२ ॥

यह हृदय दहलाने वाला क्या उत्पात है। इन अपशकुनों को देख मेरा मन उदास हो गया है। महाराज के इन प्रश्नों को सुन महर्षि वशिष्ठ जी ने ॥ १२ ॥

उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत्फलम् ।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम् ॥ १३ ॥

मधुरवाणी से उत्तर दिया कि, इनका फल सुनिये! पक्षी बोली बोल कर बतला रहे हैं कि, कोई बड़ा भारी भय उपस्थित होने वाला है ॥ १३ ॥

मृगाः प्रशमयन्त्येते सन्तापस्त्यज्यतामयम् ।
तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥ १४ ॥

परन्तु मृगों के रास्ता काटने से अर्थात् बाईं ओर से दहिनी ओर जाने से उस भय का नाश प्रतीत होता है । अतः आप सन्तप्त न हों। यह बात हो ही रही थी कि, बड़े ज़ोर की आंधी चली ॥ १४ ॥

कम्पयन्मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान् ।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वा न प्रबभुर्दिशः ॥ १५ ॥

जिससे पृथिवी काँपने लगी, बड़े बड़े वृक्ष गिरने लगे। धूल के कारण सूर्य छिप गये और अन्धकार छा गया, दिशाओं का ज्ञान न रहा ॥ १५ ॥

भस्मना चावृतं सर्वं संमूढमिव तद्बलम् ।
वसिष्ठश्चर्षयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १६ ॥

इतनी धूल उड़ी कि, सैनिकों के छक्के छूट गये। वशिष्ठ जी तथा अन्य ऋषियों को, महाराज दशरथ तथा उनके राजकुमारों को ॥ १६ ॥

ससंज्ञा इव तत्रासन्सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥१७॥

तो उस समय चेत रहा और सब अचेत हो गये। क्योंकि उस घोर अन्धकार में, सब सेना भस्माच्छादित हो गयी थी। अर्थात् मानों धूल में ढक गयी थी ॥ १७ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गवं जामदग्न्यं तं राजराजविमर्दिनम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ ने भयङ्कर रूप धारण किये, जटाजूट-धारी, भृगुवंशी जमदग्नि जी के पुत्र और राजाओं का मान मर्दन करने वाले परशुराम को देखा ॥ १८ ॥

कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोग्निर्दुर्निरीक्षं पृथग्जनैः[1] ॥ १९ ॥

परशुराम जी कैलास की तरह दुर्धर्ष, कालाग्नि के समान दुस्सह, क्रोध से जलते हुए अग्नि के समान, और पामर लोगों द्वारा दुर्निरीक्ष्य थे ॥ १९ ॥

स्कन्धे चासाद्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम् ।
प्रगृह्य शरमुख्यं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ २० ॥

वे अपने कंधे पर फरसा रखे हुए थे और बिजली की तरह चमचमाता धनुष और बाण लिये हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों त्रिपुरासुर को मारने के लिये शिव जी आये हों ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा भीमसङ्काशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे जपहोमपरायणाः ॥ २१ ॥

---

१ पृथग्जनैः—पामरैः । (गो०)

दहकती हुई आग के समान उन भयानक रूपधारी परशुराम जी को देख, जपहोमपरायण वशिष्ठ प्रमुख ॥ २१ ॥

संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः ।
कच्चित्पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २२ ॥

ऋषिगण आपस में कहने लगे कि, पिता के मारे जाने के कारण क्रोध में भर, परशुराम जी क्षत्रियों का नाश करने को तो कहीं नहीं आये ॥ २२ ॥

पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतामन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥२३॥

क्षत्रियों का नाश कर पहले तो इनका क्रोध शान्त हो चुका है । अब क्या पुनः क्षत्रियों का नाश करने पर तुले हैं ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वाऽर्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति वचो मधुरमब्रुवन् ॥ २४ ॥

इस प्रकार परस्पर बातचीत कर ऋषिगण अर्घ्य पाद्य ले उनके आगे गये और राम ! राम ! ऐसा मधुर वचन कहने लगे ॥ २४ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।
रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २५ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

प्रतापी परशुराम ने ऋषियों का वह आतिथ्य ग्रहण किया और दशरथनन्दन श्रीराम जी से परशुराम जी इस प्रकार बातचीत करने लगे ॥ २५ ॥

बालकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राम दाशरथे राम वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥ १ ॥

हे वीर राम! तुम्हारा पराक्रम अद्भुत सुनाई पड़ता है। जनकपुर में तुमने जो धनुष तोड़ा है उसका सारा वृत्तान्त भी मैंने सुना है ॥ १ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्त्वया ।
तच्छ्रुत्वाऽहमनुप्राप्तो धनुर्ग्रह्यपरं शुभम् ॥ २ ॥

उस धनुष का तोड़ना विस्मयोत्पादक और ध्यान में न आने योग्य बात है। उसीका वृत्तान्त सुन हम यहाँ आये हैं और एक दूसरा उत्तम धनुष लेते आये हैं ॥ २ ॥

तदिदं घोरसङ्काशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥ ३ ॥

यह भयङ्कर बड़ा धनुष जमदग्नि जी का है (अथवा इस धनुष का नाम जामदग्न्य है) इस पर रोदा चढ़ा कर और बाण चढ़ा कर, आप अपना बल मुझे दिखलाइये ॥ ३ ॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्याश्लाघ्यमहं तव ॥ ४ ॥

इस धनुष के चढ़ाने से तुम्हारे बल को हम जान लेंगे और उसकी प्रशंसा कर हम तुम्हारे साथ द्वन्द्व युद्ध करेंगे ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा ।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

परशुराम जी की ये बातें सुन, महाराज दशरथ उदास हो गये और दीनतापूर्वक (अर्थात् परशुराम की खुशामद कर के) और हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥ ५ ॥

क्षत्ररोषात्प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महायशाः ।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे परशुराम जी ! आपका क्षत्रियों पर जो कोप था वह शान्त हो चुका, क्योंकि आप तो बड़े यशस्वी ब्राह्मण हैं । (अथवा आप ब्राह्मण हैं अतः क्षत्रियों जैसी गुस्सा को शान्त कीजिये, क्योंकि ब्राह्मणों को कोप करना शोभा नहीं देता) आप मेरे इन बालक पुत्रों को अभयदान दीजिये ॥ ६ ॥

भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम् ।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं निक्षिप्तवानसि ॥ ७ ॥

वेदपाठ में निरत रहने वाले भार्गववंश में उत्पन्न आप तो इन्द्र के सामने प्रतिज्ञा कर सब हथियार त्याग चुके हैं ॥ ७ ॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुन्धराम् ।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥ ८ ॥

और सारी पृथिवी का राज्य कश्यप को दे, आप तो महेन्द्राचल के वन में तप करने चले गये थे ॥ ८ ॥

मम सर्वविनाशाय संप्राप्तस्त्वं महामुने ।
न चैकस्मिन्हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥

(पर हम देखते हैं कि,) आप हमारा सर्वस्व नष्ट करने के लिये (पुनः) आये हैं । (आप यह जान रखें कि,) यदि कहीं हमारे अकेले राम ही मारे गये तो हममें से कोई भी जीता न बचेगा ॥ ९ ॥

ध्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्यैव तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥ १० ॥

महाराज दशरथ की इन बातों को अवहेला कर अर्थात् कुछ भी उत्तर न दे, प्रतापी परशुराम श्रीरामचन्द्र जी से बोले—॥ १० ॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिविश्रुते ।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥

हे राम ! ये दोनों धनुष अत्युत्तम हैं और सारे संसार में प्रसिद्ध हैं । ये बड़े दृढ़ हैं और ये विश्वकर्मा द्वारा बड़ी सावधानी से बनाये गये हैं ॥ ११ ॥

अतिसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥

इनमें से एक तो देवताओं ने महादेव जी को युद्ध करने के लिये दिया था, जिससे उन्होंने त्रिपुरासुर को मारा था और उसीको तुमने तोड़ डाला है ॥ १२ ॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥ १२ ॥

यह दूसरा भी, जो हमारे पास है, बड़ा मज़बूत है। इसे देवताओं ने विष्णु भगवान् को दिया था। हे राम! यह विष्णु का धनुष, भी शत्रुओं के पुर को जीतने वाला है ॥ १३ ॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥१४॥

और महादेव जी वाले धनुष के जोड़ का है। एक बार सब देवताओं ने ब्रह्मा जी से पूँछा था कि, ॥ १४ ॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।
अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥

महादेव जी और विष्णु भगवान् के धनुषों में कौन सा बढ़ कर है। ब्रह्मा जी ने देवताओं का अभिप्राय जान कर ॥ १५ ॥

विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतांवरः ।
विरोधे च महद्युद्धमभवद्रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥

सत्यवानों में श्रेष्ठ (ब्रह्मा जी ने) उन दोनों में बड़ा विरोध उत्पन्न कर दिया। इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि, उन दोनों में रोमाञ्चकारी घोर युद्ध हुआ ॥ १६ ॥

शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।
तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥

महादेव और विष्णु एक दूसरे को जीतने की इच्छा करने लगे। महादेव जी का बड़ा मज़बूत धनुष ढीला पड़ गया ॥ १७ ॥

हुङ्कारेण महादेवस्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।
देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥

तीन नेत्र वाले महादेव जी विष्णु जी के हुँकार करने ही से स्तम्भित हो गये । (अर्थात् विष्णु ने शिव को हरा दिया) तब ऋषियों और चारणों सहित सब देवताओं ने वहाँ पहुँच कर ॥ १८ ॥

याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।
जृम्भितं तद्धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥

दोनों की प्रार्थना की और युद्ध बन्द करवाया । विष्णु के पराक्रम से शिव के धनुष को ढीला देख, ॥ १९ ॥

अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तदा ।
धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥

ऋषियों सहित देवताओं ने विष्णु को (अथवा विष्णु के धनुष) अधिक पराक्रमी (अथवा दृढ़) समझा । महादेव जी ने इस पर क्रुद्ध हो, अपना धनुष विदेह देश के महायशस्वी ॥ २० ॥

देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।
इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरञ्जयम् ॥ २१ ॥

राजर्षि देवरात के हाथ में बाण सहित दे दिया । हे राम ! मेरे हाथ में यह जो धनुष है, यह विष्णु का है और यह भी शत्रुओं के पुर का नाश करने वाला है ॥ २१ ॥

ऋचीके भार्गवे प्रदाद्विष्णुः सन्न्यासमुत्तमम् ।
ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः[1] ॥ २२ ॥

---

१ अप्रतिकर्मणः—स्वर्हतर्यपिशापादिप्रतिक्रियारहितस्य । (रा०)

पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।
न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबल समन्विते ॥ २३ ॥

पूर्वकाल में विष्णु भगवान् ने यह धनुष भृगुवंशी ऋचीक को दिया। ऋचीक ने अपने सहनशील पुत्र व हमारे पिता महात्मा-जमदग्नि को दिया। जब हमारे पिता, शस्त्रधारण करना त्याग, तप करने लगे ॥ २२ ॥ २३ ॥

अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।
वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ॥ २४ ॥

तब राजा सहस्रबाहु ने मेरे पिता को गँवारपन कर मार डाला। पिता के इस अयोग्य और अत्यन्त निष्ठुरता पूर्वक मारे जाने का हाल सुन, ॥ २४ ॥

क्षत्रमुत्सादयन्रोषाज्जातं जातमनेकशः ।
पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ॥ २५ ॥

क्रोध में भर जैसे जैसे क्षत्रिय उत्पन्न होते गये वैसे ही वैसे हमने कितनी ही बार उनको मारा। सारी पृथिवी का राज्य अपने हस्तगत कर, हमने महात्मा कश्यप को ॥ २५ ॥

यज्ञस्यान्ते तदा राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ।
दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ॥ २६ ॥
स्थितोऽस्मि तस्मिंस्तप्यन्वै सुसुखं सुरसेविते ।
अद्य तूत्तमवीर्येण त्वया राम महाबल ॥ २७ ॥

यज्ञ के अन्त में उस पुण्यकर्म की दक्षिणा स्वरूप दे दिया और हम तब से सुरसेवित महेन्द्राचल पर तप करते हुए, बड़े सुख से रहते हैं। आज हे महाबली राम ! तुम्हारे उत्तम पराक्रम ॥ २६ ॥ २७ ॥

श्रुत्वातु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ।
तदिदं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

द्वारा धनुष का टूटना सुन, हम तुरन्त यहां चले आये हैं। अब विष्णु प्रदत्त हमारे पुरखों के इस उत्तम धनुष को *क्षत्रियधर्म में स्थित हो, लीजिये। ॥ २८ ॥

योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरञ्जयम् ।
यदि शक्नोसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥२९॥

इति पञ्चसप्ततमः सर्गः ॥

हे शत्रुओं के पुर को जीतने वाले ! इसे सज्जित कर (रोदे से) इस पर बाण चढ़ाइये। हे काकुत्स्थ ! यदि तुम इस पर बाण चढ़ा सके तो मैं तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करूँगा ॥ २९ ॥

बालकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

षट्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

श्रुत्वा तज्जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवान्वितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

---

* क्षत्रियधर्म में स्थित हो ; अर्थात् यद्यपि मैंने क्षात्रधर्म अर्थात् युद्ध का परित्याग कर दिया है, तथापि इस समय मैं युद्ध से पराङ्मुख नहीं होऊँगा। कहीं यह मत कह देना कि, ब्राह्मण को शान्त रहना ही शोभा देता है।

परशुराम जी के वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ के गौरव से अर्थात् अपने पिता का अदब कर के, मन्दस्वर (धीरे) से बोले ॥ १ ॥

श्रुतवानस्मि यत्कर्म कृतवानसि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन्पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

हे परशुराम जी ! आपने जो जो काम किये हैं, वे सब मैं सुन चुका हूँ । आपने जिस प्रकार अपने पिता के मारने वाले से बदला लिया—वह भी मुझे विदित है ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

किन्तु आप जो यह समझते हैं कि, हम वीर्यहीन हैं, हममें क्षात्रधर्म का अभाव है, अतः आप जो हमारे तेज का निरादर करते हैं सो आप अब हमारा पराक्रम देखिये ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य शरासनम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम के हाथ से धनुष और बाण झट ले लिया ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

और धनुष पर रोदा चढ़ा कर उस पर बाण चढ़ा, जमदग्नि के पुत्र परशुराम से श्रीरामचन्द्र जी क्रुद्ध हो यह बोले ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

हे परशुराम जी ! एक तो ब्राह्मण होने के कारण आप मेरे पूज्य हैं, दूसरे आप विश्वामित्र जी के नातेदार (विश्वामित्र जी की बहिन के पौत्र) हैं । अतः इस बाण को आपके ऊपर छोड़ कर, आपके प्राण लेना तो मैं नहीं चाहता ॥ ६ ॥

इमां[1] वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमार्जितान् ।
लोकानप्रतिमान्वा ते हनिष्यामि यदिच्छसि ॥ ७ ॥

किन्तु इस बाण से या तो आपकी गति को, (यानी पैरों को) या आकाश गमनादि की आपकी शक्ति को, अथवा तपस्या द्वारा प्राप्त आपके लोकों को मैं नष्ट अवश्य कर दूँगा । आप जो पसंद करें वही किया जाय ॥ ७ ॥

न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरञ्जयः ।
मोघः पतति वीर्येण[1] बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

क्योंकि यह वैष्णव बाण है । यह अपनी शक्ति से शत्रु के बल और अभिमान को नष्ट करने वाला है । यह बिना कुछ किये, तरकस में नहीं जाता—यह अमोघ (अर्थात् निष्फल न जाने वाला) है ॥ ८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

---

१ इमां—प्रत्यक्ष सिद्धांगतिं । (रा०) २ वीर्येण—स्वशक्त्या । (गो०)

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद्द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी को उस दिव्य धनुष पर वाण धारण किये हुए देख, गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग सब ब्रह्मा जी के पीछे पीछे इस अद्भुत व्यापार को देखने के लिये वहाँ जमा हो गये ॥ ९ ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो[1] जामदग्न्योऽथ रामो राममुदैक्षत[2] ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र के उस दिव्य धनुष को हाथ में लेने से तीनों लोक स्तम्भित हो गये । परशुराम जी के शरीर से वैष्णव तेज निकल गया इससे वे विस्मित हुए ॥ ११ ॥

तेजोभिहतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के तेज से जब परशुराम जी जड़ के समान वीर्यहीन हो गये, तब वे कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी से धीरे धीरे कहने लगे ॥ १२ ॥

कश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुन्धरा ।
विषये[3] मे न वस्तव्यमिति मां कश्यपोऽब्रवीत् ॥१३॥

जब यज्ञान्त में हमने सारी पृथिवी कश्यप मुनि को दी, तब उन्होंने हम से कहा था कि, आज से तुम हमारी भूमि या राज्य में न वसना ॥ १३ ॥

---

१ निर्वीयः—निर्गतवैष्णवतेजः । (गो०) । २ उदैक्षत विस्मित हतशेषः । (गो०) ३ विषये—देशे । (रा०)

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन्पृथिव्यां न वसे निशाम् ।
तदा प्रतिज्ञा काकुत्स्थ कृता भूः कश्यपस्य हि ॥१४॥

अतः हे काकुत्स्थ! कश्यप जी के कथनानुसार या उनकी आज्ञा को मान, मैं रात में पृथिवी पर नहीं रहता। क्योंकि तब से हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह पृथिवी* कश्यप ही की कर दी है ॥ १४ ॥

तद्दिमां त्वं गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव ।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ १५ ॥

हे राघव ! अतः आप हमारी सर्वत्र की गति (लोकों में आने जाने की शक्ति का) नष्ट न कीजिये । जिससे हमारी वेगवती चाल बनी रहे और हम शीघ्र पर्वतों में उत्तम महेन्द्राचल पर पहुँच जाया करें। (यदि कहीं यह चली गयी तो प्रतिज्ञाभङ्ग करने का पातक और सिर पर चढ़ेगा। प्रतिज्ञा यह कि, काश्यपी पर न रहेंगे) ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया ।
जहि ताञ्शरमुख्येन मा भूत्कालस्य पर्ययः ॥ १६ ॥

हे राम ! किन्तु हमने तप द्वारा जो लोक जीत रखे हैं (अर्थात् जिनकी प्राप्ति का अधिकार सम्पादन कर रखा है) उनको इस विशेष बाण से हनन कीजिये । अब इसमें विलम्ब न कीजिये ॥ १६ ॥

अक्षयं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरोत्तमम् ।
धनुषोऽस्य परामर्शात्[1] स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप ॥ १७ ॥

---

१ परामर्शात्—ग्रहणात् । (गो०)

* पृथिवी का दूसरा नाम काश्यपी तभी से पड़ा है ।

हे परन्तप ! आपके द्वारा इस धनुष के ग्रहण किये जाने से, हमने अच्छी तरह जान लिया कि, आप अक्षय (अविनाशी) हैं मधु दैत्य के मारने वाले हैं, और सब देवताओं में उत्तम अर्थात् विष्णु हैं। आपकी जै हो ॥ १७ ॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः ।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्व[1]माहवे ॥ १८ ॥

ये सब देवतागण आपके दर्शन करने आये हुए हैं। आप सब कामों के करने में चतुर और समर में अपने प्रतिद्वन्द्वी को नाश करने वाले हैं ॥ १८ ॥

न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति ।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥ १९ ॥

हे राघव ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। अतः यदि मैं आपसे हार गये तो इसको हमें लज्जा नहीं है ॥ १९ ॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत ।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २० ॥

हे राम ! अब आप इस अद्वितीय बाण को छोड़िये। बाण के छूटते ही मैं पर्वतो-त्तम महेन्द्राचल को चला जाऊँगा ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान् ।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

जब प्रतापी परशुराम ने श्रीरामचन्द्र से इस प्रकार कहा; तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस उत्तम बाण को छोड़ दिया ॥ २१ ॥

---

१ अप्रतिद्वन्द्व—प्रतिभट रहितं (रा०)

स हतान्दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसाऽर्जितान् ।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ २२ ॥

श्रीराम से तप द्वारा इकट्ठे किये हुए लोकों* को नष्ट हुआ देख, परशुराम जी तुरन्त महेन्द्राचल को चले गये ॥ २२ ॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा ।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम् ॥ २३ ॥

सब दिशाएँ और विदिशाएँ पूर्ववत् प्रकाशमान हो गयीं अर्थात् अन्धकार जो छाया हुआ था, वह दूर हो गया । ऋषि और देवता धनुष-बाण-धारी श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रशस्य च ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा जगामात्मगतिं[1] प्रभुः ॥ २४ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम, दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा कर के तथा उनकी परिक्रमा कर, अपने स्थान को चले गये ॥ २४ ॥

बालकाण्ड का छियत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

१ आत्मगतिं—स्वस्थानं । (गो०)

* लोकों से अभिप्राय यहाँ पर तप के उस फल से है, जो तप द्वारा परशुराम जी ने सम्पादन किया था । अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी ने परशुराम की तपस्या का वह फल जिससे उन्होंने अनेक लोकों की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त किया था, नष्ट कर दिया ।

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—: o :—

गते रामे प्रशान्तात्मा[1] रामो दाशरथिर्धनुः ।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते[2] ससायकम् ॥ १ ॥

विगत क्रोध परशुराम जी के चले जाने के बाद, दशरथनन्दन श्रीराम जी ने अपने हाथ का बाण सहित वह धनुष वरुण जी को धरोहर की तरह सौंप दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विह्वलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वशिष्ठ आदि ऋषियों को प्रणाम किया और महाराज दशरथ को घबड़ाया हुआ देख उनसे बोले ॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

परशुराम जी चले गये, अब आप अपनी चतुरङ्गिणी सेना को अयोध्यापुरी की ओर चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्नि चाघ्राय राघवम् ॥४॥

श्रीराम जी का यह वचन सुन महाराज दशरथ ने अपने पुत्र श्रीरामचन्द्र को छाती से लगा लिया और उनका माथा सूँघा ॥ ४ ॥

---

१ प्रशान्तात्मा—गतक्रोधआत्माचित्तंयस्य । (रा०) २ हस्ते—स्वहस्ते । (रा०)

गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

परशुराम जी का जाना सुन महाराज दशरथ परम प्रसन्न हुए और अपना तथा अपने पुत्र का पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां जयोद्घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

और सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी । महाराज दशरथ बड़ी जल्दी ध्वजा पताकाओं से सुशोभित और जयघोष से निनादित अयोध्यापुरी को गये ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः[1] पौरैर्मङ्गलवादिभिः[2] ॥ ७ ॥

अयोध्यापुरी की सड़कें जल से छिड़की हुई थीं; और उन पर पुष्प बिखरे हुए थे । वे बड़ी रम्य जान पड़ती थीं । महाराज के आगमन से प्रसन्नमुख पुरवासी अनेक प्रकार के आशीर्वादात्मक वचन बोल रहे थे ॥ ७ ॥

सम्पूर्णां प्राविशद्राजा जनौघैः समलङ्कृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

ऐसी सजी हुई और बन्धु बान्धवों से भरी पुरी अयोध्यापुरी में महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और नगर से आगे बढ़ पुरवासी जनों ने उनकी अगवानी की ॥ ८ ॥

---

१ सुमुखैः—विकसन मुखैः । (गो०) २ मङ्गलं—आशीर्वचनंवक्तं-शीलमेषामस्तीतिमङ्गलवादिभिः । (गो०)

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च[1] महायशाः ।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

महायशा महाराज दशरथ अपने राजकुमारों और वधुओं सहित अपने वर्फ़ की तरह सफेद रंग के प्रिय राजभवन में गये ॥ ९ ॥

ननन्द सजनो[2] राजा गृहे कामैः[3] सपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥१०॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।
ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥११॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपपत्नयः ।
मङ्गलालेपनैश्चैव शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

प्रसन्नचित्त हो राजभवन में पहुँचने पर महलवासी नाते रिश्तेदारों ने महाराज का फूलमाला चन्दनादि से भली भाँति सत्कार किया। उधर कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य रानियां वहुओं का पनीछा करने में लगीं। रानियाँ महाभागा सीता, यशस्विनी ऊमिला, और कुशध्वज की दोनों वेटियों को महलों में लिवा ले गयीं और वहाँ उनके मङ्गल लेप अर्थात् पेपन और कुङ्कुमादि लगाये। फिर उनको अच्छे अच्छे रेशमी वस्त्रधारण करवा ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥

---

१ श्रीमद्भिः—दारपरिग्रहादधिकलक्ष्मीवद्भिः पुत्रैः । (रा०) २ जनः—सम्बन्धिजनः । (गो०) ३ कामैः—स्रक्चन्दनादिभिः । (रा०)

और तुरन्त देवमन्दिरों में ले जा कर उनसे देवताओं की पूजा करवायी। तदनन्तर सब वहुओं ने सासों तथा अन्य वड़ी वूढ़ी स्त्रियों को प्रणाम किया ॥ १३ ॥

[नोट—१३ वें श्लोक में "देवतायन" शब्द को देख यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में देवताओं के मन्दिर वनाये जाते थे और उस समय भी भारतवर्ष में मूर्तिपूजा प्रचलित थी।]

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहिता रहः ।
कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर वे सब अपने अपने पतियों के साथ राजभवन में जा हर्षित हो निवास करने लगीं। उधर श्रीरामचन्द्रादि सब राजकुमार विवाहित हो, तथा सब अस्त्रशस्त्र चलाने और रोकने की विद्या में निपुण एवं धनवान हो, अपने इष्ट मित्रों सहित ॥ १४ ॥

शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥१५॥

पिता की सेवा करते हुए रहने लगे। कुछ दिनों बाद महाराज दशरथ अपने पुत्र कैकेयीनन्दन भरत जी से बोले। कैकयराज के पुत्र अर्थात् तुम्हारे मामा यहाँ (वहुत दिनों से) ठहरे हुए हैं ॥ १५ ॥

भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद्रघुनन्दनः ।
अयं कैकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीर युधाजिन्मातुलस्तव ।
श्रुत्वा दशरथस्यैतद्भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥

गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥१८॥
मातृश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।
गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ १९ ॥

सो यह तुम्हारे मामा युधाजित तुम्हें ले जाने के लिये आये हुए हैं। कैकेयीनन्दन भरत जी महाराज दशरथ के यह वचन सुन शत्रुघ्न जी के साथ ननिहाल जाने को तैयार हो गये। तदनन्तर अपने वीरवर पिता और अति कारुणिक भाई श्रीरामचन्द्र तथा कौशल्यादि माताओं से पूँछ वे शत्रुघ्न को साथ ले चल दिये। भरत जी के जाने पर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ॥ १६ ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितरं देवसङ्काशं पूजयामासतुस्तदा ।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २० ॥
चकार रामो धर्मात्मा प्रियाणि च हितानि च ।
मातृभ्यो मातृकार्याणि रामः परमयन्त्रितः ॥ २१ ॥

अपने देव समान पिता की सेवा करने और अपने पिता से पूँछ पूँछ कर पुरवासियों के प्रिय व हितकर सब कार्य करते थे। इतना ही नहीं वे माताओं के भी सब काम बड़ी अच्छी तरह किया करते थे ॥ २० ॥ २१ ॥

गुरूणां गुरुकार्याणि काले काले चकार ह ।
एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तदा[1] ॥ २२ ॥

---

१ नैगमाः—वणिजः। (गो०)

वे गुरुओं की भी सेवा समय समय पर करते थे। श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वर्त्ताव से महाराज दशरथ, ब्राह्मण, और बनिये आदि सभी सन्तुष्ट थे ॥ २२ ॥

रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः[1] ।
तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के शील स्वभाव से सब ही पुरवासी सन्तुष्ट थे। राजकुमारों में सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी का नाम बहुत अधिक व्याप्त था। अर्थात् वे प्रसिद्ध हो गये थे ॥ २३ ॥

स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।
रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्[2] ॥ २४ ॥

स्वयम्भू—ब्रह्मा की तरह वे सब प्राणियों से बढ़ कर गुणवान् समझे जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत वर्षों तक सीता जी के साथ विहार किया ॥ २४ ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
मनस्वी तद्गतमना नित्यं हृदि समर्पितः ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को, ब्रह्मविवाह से प्राप्त जानकी जी अति प्यारी थीं और वे उन पर आसक्त थे तथा उनको बहुत चाहते थे ॥२५॥

गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभ्यवर्धत ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २६ ॥

प्रीति रूप, गुण और शील के प्रभाव से सदा बढ़ा करती है और ये सब बातें सीता जी में श्रीरामचन्द्र जी से दूनी थीं ॥ २६ ॥

---

१ विषयवासिनः प्रीता इति शेषः ॥ २ बहूनृतून्—द्वादशवर्षाणीत्यर्थ इति बहवः । (रा०)

अन्तर्जातमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण
मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे
सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मन की बातें विना कहे ही जानकी जी, जिनकी शोभा देवताओं के समान थी और जो साक्षात् लक्ष्मी देवी के तुल्य थीं, विशेष रूप से जान लिया करती थीं ॥ २७ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिरामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभेऽतिकामया[1] ।
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः[2] ॥ २८ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायां
बालकाण्डः समाप्तः ॥

राजर्षि जनक की दुहिता जानकी जी के साथ श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार अति शोभा को प्राप्त हुए, जिस प्रकार अमरेश्वर (देवताओं के स्वामी) भगवान् आदिविष्णु श्रीलक्ष्मी जी के साथ सुशोभित होते हैं ॥ २८ ॥

बालकाण्ड का सतहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ अतिकामया—सीतया । (गो०) २ अमरेश्वरोविष्णुः—आदिविष्णुः । (गो०)

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रत्याहरत विस्रब्धं वलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

शृणुवन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्मथतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड—२

पूर्वार्द्ध

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

.

अयोध्यकांण्ड-पूर्वार्द्ध

की

विषय-सूची

प्रथम सर्ग १–१५

ननिहाल में भरत और शत्रुघ्न। श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का वर्णन। श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक्त करने की महाराज दशरथ की अभिलाषा। तदनुसार समस्त राजाओं को अयोध्या में बुलवाना।

दूसरा सर्ग १५–२९

महाराज दशरथ का दरबार। मंत्रियों के साथ महाराज दशरथ का परामर्श तथा महाराज के प्रस्ताव का मंत्रियों द्वारा अनुमोदन एवं श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा।

तीसरा सर्ग २९–४०

कुलगुरु वशिष्ठ जी की अनुमति के अनुसार अभिषेक की तैयारियाँ करने के लिये महाराज दशरथ का अपने मंत्रियों को आज्ञा देना। सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के महल में लिवा जाना और महाराज से मिल कर श्रीरामचन्द्र जी का अपने भवन को लौट जाना।

चौथा सर्ग ४०–५१

महाराज दशरथ की आज्ञा से सुमंत्र का जाकर पुनः श्रीरामचन्द्र जी को लिवा लाना। महाराज दशरथ का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति दुःस्वप्न का वृत्तान्त कहना। वहाँ

से निवृत्त हो श्रीरामचन्द्र जी का अपनी माता कौशल्या के भवन में जाना। वहाँ सीता, सुमित्रा और लक्ष्मण का मिलना और उनसे श्रीरामचन्द्र जी का अपने भावी यौवराज्य पद पर अभिषेक का वृत्तान्त कहना।

पाँचवाँ सर्ग ५१–५७

यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी पौर्वाह्णिक कर्मानुष्ठान तथा पुरवासियों का आनन्दोल्लास।

छठवाँ सर्ग ५८–६४

अयोध्या में देश देशान्तरों से लोगों का आगमन।

सातवाँ सर्ग ६५–७३

श्रीरामचन्द्र जी के युवराज-पद पर अभिषिक्त होने का संवाद सुन कर, मन्थरा का दुःखी होना।

आठवाँ सर्ग ७४–८३

घुमाफिरा कर मन्थरा द्वारा कैकेयी का मन क्षुब्ध किया जाना।

नवाँ सर्ग ८४–१०१

मन्थरा द्वारा कैकेयी को महाराज के प्रतिश्रुत दो वरों का स्मरण दिलाना। कैकेयी का दुःस्साहस।

दशवाँ सर्ग १०१–११२

दशरथ का अपने शयनागार में जा कर कैकेयी को न देखना। कोपभवन में कैकेयी को महाराज दशरथ का बहुत तरह समझाना।

ग्यारहवाँ सर्ग ११२–११९

काममोहित दशरथ से कैकेयी का दो वर माँगना।

बारहवाँ सर्ग ११९–१५१

दशरथ का विलाप और कैकेयी से प्रार्थना।

तेरहवाँ सर्ग १५१–१५८

कैकेयी का दशरथ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और महाराज दशरथ का दुःखी होना।

चौदहवाँ सर्ग १५९–१७६

कैकेयी का बराबर दशरथ से अनुरोध करना। महाराज को सोते हुए जान, सुमंत्र का उनको जगाना। कैकेयी के कहने से श्रीरामचन्द्र जी को बुलाने के लिये सुमंत्र के प्रस्थान का उपक्रम।

पन्द्रहवाँ सर्ग १७६–१८९

कैकेयी के आज्ञा देने पर भी सुमंत्र जी का महाराज दशरथ की आज्ञा की प्रतीक्षा करना और महाराज की आज्ञा पाने पर सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी के भवन में प्रवेश।

सोलहवाँ सर्ग १८९–२०१

"पिता जी तुमको देखना चाहते हैं"—सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी से कहना और श्रीरामचन्द्र जी का अपने पिता जी के भवन की ओर प्रस्थान।

सत्रहवाँ सर्ग २०१–२०७

मार्ग में लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी का पिता जी के भवन में प्रवेश करना।

अठारहवाँ सर्ग २०७–२१७

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम करने पर महाराज दशरथ का शोकान्वित होना। तब महाराज के शोकान्वित होने के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी से कारण पूँछना। उत्तर में कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को अपना अभिप्राय बतलाना।

उन्नीसवाँ सर्ग २१७–२२७

श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी के दोनों वरों का वृत्तान्त सुन, अपनी माता कौशल्य के भवन में गमन।

बीसवाँ सर्ग २२७–२४१

हवन करती हुई जननी को देख, श्रीराम जी का उनसे अपने वनगमन की बात कहना, जिसे सुन कौशल्या का दुःखी होना।

इक्कीसवाँ सर्ग २४१–२५९

लक्ष्मण द्वारा महाराज दशरथ की निन्दा किया जाना। लक्ष्मण तथा कौशल्या के बहुत रोकने पर भी, पिता के गौरव के अनुरोध से श्रीरामचन्द्र जी का उन दोनों का कहना न मानना।

बाइसवाँ सर्ग २६०–२६७

"भाग्य का लिखा अमिट है" कह कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को धीरज बँधाना।

तेइसवाँ सर्ग २६७–२७८

उत्तर में लक्ष्मण जी का कहना कि, पुरुषार्थ के सामने भाग्य कोई वस्तु नहीं है और पुरुषार्थ द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को वन जाने से रोकने का प्रयत्न करना।

चौबीसवाँ सर्ग २७८–२८७

"हे पुत्र! तू जहाँ जायगा वहीं मैं भी तेरे पीछे चलूँगी" यह कहती हुई माता कौशल्या को श्रीरामचन्द्र जी का पातिव्रत धर्म की उत्कृष्टता समझा कर कहना कि, स्त्रियों के लिये पतिपरित्याग से बढ़ कर और कोई निष्ठुर कर्म नहीं है।

पच्चीसवाँ सर्ग २८७-२९९

कौशल्या द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का स्वस्तिवाचन किया जाना।

छब्बीसवाँ सर्ग २९९–३०८

श्रीरामचन्द्र और जानकी जी का परस्पर कथोपकथन और सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी का हितोपदेश और वन में रह कर अपने कर्त्तव्यानुष्ठान करने का वृत्तान्त कहना।

सत्ताइसवाँ सर्ग ३०९–३१५

पति के साथ वन जाने के लिये सीता जी का श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना करना।

अट्ठाइसवाँ सर्ग ३१५–३२१

वन में रहने वालों के कष्टों का विशद रूप से वर्णन कर श्रीरामचन्द्र जी का सीता को वन चलने से रोकना।

उनतीसवाँ सर्ग ३२२–३२७

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में चलने के लिये चिन्तित एवं उत्सुक सीता को श्रीरामचन्द्र जी का समझाना।

तीसवाँ सर्ग ३२८–३४०

सीता का श्रीरामचन्द्र जी की बातों का उत्तर देते हुए कहीं कहीं आक्षेप करना। सीता की शोच्य दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ चलने की सीता को अनुमति प्रदान करना, तब सीता का वनगमन की तैयारी करना और दानादि देना।

इकतीसवाँ सर्ग ३४०–३४८

भाई के साथ जाने के लिये लक्ष्मण की श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना; किन्तु प्रथम श्रीरामचन्द्र जी का उस प्रार्थना को अस्वीकृत करना; किन्तु पीछे से लक्ष्मण की अपने में पूर्ण भक्ति देख, अनुमति देना। तब लक्ष्मण का आयुधादिकों को साथ में लेना। श्रीरामचन्द्र जी का अपनी समस्त वस्तुओं को, लोगों को दे डालना।

बत्तीसवाँ सर्ग ३४९–३६०

दान देने के लिये श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञानुसार लक्ष्मण का सुयज्ञ को जाकर लाना। दान पाकर सुयज्ञ का श्रीरामचन्द्र जी को आशीर्वाद देना। तदनन्तर किसी एक आर्त दरिद्र ब्राह्मण का दान माँगने के लिये श्रीरामचन्द्र जी के समीप आना और इच्छित दान पान।

तेतीसवाँ सर्ग ३६०–३६९

दानादि कर्मों से निश्चिन्त हो, सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का प्रस्थान करने के पूर्व पिता जी के दर्शन करने को उनके भवन में गमन। श्रीरामादि को, छत्रचँवर रहित और पैदल गमन करते देख, पुरवासियों का हाहाकार करना।

चौंतीसवाँ सर्ग ३६९–३८५

सुमंत्र का दशरथ जी को श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना। श्रीरामचन्द्र जी को देखने के पूर्व दशरथ जी का अपनी सब रानियों को अपने पास बुलवा लेने की सुमंत्र को आज्ञा देना, तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी को अपने पास बुलवाना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन के लिये उद्यत देख रानियों सहित महाराज दशरथ का रुदन करना।

पैंतीसवाँ सर्ग ३८५–३९३

उस समय सुमंत्र का कैकेयी से कटु वचन कहना।

छत्तीसवाँ सर्ग ३९३–४०२

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिये चतुरङ्गिणी सेना तैयार करवाने की महाराज की सुमंत्र को आज्ञा। तब एक अङ्गहीन राज्य को लेने के लिये अनिच्छा प्रकट कर, कैकेयी का दशरथ को असमञ्जोपाख्यान सुनाना।

सैंतीसवाँ सर्ग ४०२–४१२

श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ सेना ले जाना अस्वीकार करते हुए वनवासोपयोगी वल्कल, खन्ता आदि वस्तुओं के लिये प्रार्थना करना और कैकेयी का उन वस्तुओं को ला कर उनको देना। चीर वल्कल-पहनने में अपटु जानकी को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उनका पहनाया जाना देख, अन्तःपुरवासिनी स्त्रियों का विलाप करना। तब कुलगुरु वशिष्ठ का कैकेयी को फटकारना।

अड़तीसवाँ सर्ग ४१२–४१७

अन्तःपुर-निवासिनी स्त्रियों के विलाप को सुन अत्यन्त दुःखी महाराज दशरथ का कैकेयी की प्रार्थना कर स्वयं विलाप करना। तदनन्तर पुत्रशोक से कातर माता कौशल्या की रक्षा करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी की महाराज दशरथ से प्रार्थना।

उनतालीसवाँ सर्ग ४१७–४२८

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, महाराज दशरथ का विलाप करना। महाराज की आज्ञा पाकर श्रीरामचन्द्र जी को ले जाने के लिये सुमंत्र का रथ लाना। महाराज की आज्ञा से कोठारी का सीता जी को वस्त्र भूषण दे देना। कौशल्यादि सासों का सीता जी को धर्मोपदेश। सीता जी का, सासों के कथन का अनुमोदन करना। श्रीरामचन्द्र जी का माताओं से वनगमन की आज्ञा लेना।

चालीसवाँ सर्ग ४२८–४४१

सुमित्रा का लक्ष्मण जी को उपदेश विशेष। सुमंत्र के लाये हुए रथ पर श्रीरामलक्ष्मण सीता का सवार हो कर वनगमन। रथ के पीछे पुरवासियों का दौड़ना। श्रीरामचन्द्र जी का रथ के पीछे पीछे आते हुए पिता तथा मंत्रियों को लौटाना।

इकतालीसवाँ सर्ग ४४२–४४७

श्रीरामचन्द्रादि के वनगमनानन्तर अयोध्या के मनुष्यों तथा पशुपक्षियों की शोकावस्था का वर्णन।

व्यालीसवाँ सर्ग ४४७–४५६

श्रीरामचन्द्र के पीछे जाते हुए शोकान्वित ज़मीन पर गिरते पड़ते हुए महाराज दशरथ का कैकेयी के प्रति तिरस्कारपूर्ण वचन कहना। वन में होने वाले कष्टों को स्मरण कर, कौशल्या का कैकेयी के साथ कथोपकथन। दुःखी महाराज दशरथ का कौशल्या के भवन में जाकर रहना।

तेतालीसवाँ सर्ग ४५६–४६२

पलङ्ग पर लेटे हुए एवं शोकाकुल महाराज से कौशल्या जी का पूँछना कि, मैं अपने पुत्र को अब फिर कब देखूँगी और कौशल्य का प्रलाप।

चौवालीसवाँ सर्ग ४६२–४७०

पुत्रशोक से विकल कौशल्या जी को सुमित्रा जी का धीरज बँधाना।

पैतालीसवाँ सर्ग ४७१–४८०

श्रीरामचन्द्र जी का प्रजावर्ग को लौटाने के लिये प्रयत्न करना। पुरवासियों सहित श्रीरामचन्द्र जी का तमसा नदी के तट पर पहुँचना।

छियालीसवाँ सर्ग ४८०–४८८

तमसातटवर्ती वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी के साथ वार्तालाप। सन्ध्योपासन करने के बाद सुमंत्र और लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी के लेटने के लिये पत्तों का बिछौना तैयार करना। अयोध्या को लौटा कर भेजने के लिये, सोते हुए पुरवासियों को छोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी का आगे बढ़ना।

सैतालीसवाँ सर्ग ४८९–४९३

श्रीरामचन्द्र जी को न देख, तमसा तीर पर पड़े हुए पुरवासियों का निद्रा की निन्दा करते हुए प्रलाप। श्रीरामचन्द्र जी का पता न लगने पर पुरवासियों का अयोध्या को लौट जाना।

अड़तालीसवाँ सर्ग ४९४–५०३

अयोध्या पहुँचने पर पुरवासियों द्वारा कैकेयी की निन्दा किया जाना और श्रीरामचन्द्र जी के गुणों की प्रशंसा में परस्पर संवाद।

उनचासवाँ सर्ग ५०३–५०७

अपने राज्य की सीमा को पार कर, रास्ते में जन पद-वासियों के मुख से दशरथ और कैकेयी की निन्दा सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी का सरयूतट पर पहुँचना।

पचासवाँ सर्ग ५०८–५२१

दक्षिण की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्या से विदा माँगना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी का गङ्गातट-वर्ती शृङ्गवेरपुर में पहुँचना और वहाँ गुह से भेंट होना और गुह द्वारा अपना सत्कार किया जाना।

इक्यावनवाँ सर्ग ५२२–५२८

सीता जी और श्रीरामचन्द्र जी के सोते समय, "मैं पहरा दूँगा"—यह कहते हुए गुह से लक्ष्मण जी का वार्तालाप।

बावनवाँ सर्ग ५२९–५५३

नाव में सवार होने के पूर्व अपने विरह में विकल, सुमंत्र को विविध वाक्यों से धीरज बँधा, श्रीरामचन्द्र जी का उनको

अयोध्या को लौटाना। वनवासोचित जटा बाँधना। गुह की लायी हुई नाव पर बैठ, श्रीरामचन्द्रादि का गङ्गा के उस पार जाना।

तेपनवाँ सर्ग ५५४–५६२

वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए श्रीरामलक्ष्मण का संवाद। लक्ष्मण को वहाँ से लौटाने का प्रयत्न करते हुए श्रीरामचन्द्र जी के प्रति लक्ष्मण जी की उक्ति।

अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्द्ध की विषय-सूची समाप्त हुई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
समधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरौ हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मनिरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूताद्यं सुचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—※—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

द्वौभिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वायव्वार्दिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

—※—

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:०:—

अयोध्याकाण्डः

गच्छता मातुलकुलं भरतेन महात्मना* ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो[1] नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥

महात्मा भरत जी ननिहाल जाते समय जितेन्द्रिय शत्रुघ्न को बड़े प्रेम से अपने साथ ले गये ॥ १ ॥

स तत्र न्यवसद्भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥

भरत जी अपनी ननिहाल में शत्रुघ्न सहित बड़ी ख़ातिरदारी के साथ रहते थे । उनके मामा अश्वपति, दोनों भाइयों पर पुत्र के समान स्नेह रखते और सब प्रकार से उनका मन रखते थे ॥ २ ॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"तदाऽनघः" ।

१ नित्यशत्रुघ्न—नित्यशत्रुर्वोऽज्ञानेन्द्रियाणि, तान् हन्तीति शत्रुघ्नः । इन्द्रियनिग्रहवान् । (गो०)

सब प्रकार से सन्तुष्ट रखे जाने पर भी दोनों वीर भाइयों को (प्रायः) अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथ की याद आया ही करती थी ॥ ३ ॥

राजाऽपि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ[1] सुतौ ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥

महातेजस्वी महाराज दशरथ भी महेन्द्र और वरुण के समान, परदेशगत राजकुमारों को (अक्सर) स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः ।
स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥

यद्यपि अपने शरीर से निकली हुई चार बाँहों की तरह चारों श्रेष्ठ राजकुमार महाराज दशरथ को प्यारे थे ॥ ५ ॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥

तो भी उन चारों में महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी पर महाराज दशरथ का अत्यन्त अनुराग था, क्योंकि वे ब्रह्मा के समान, सब प्राणियों से बढ़ कर अतिशय गुणवान् थे ॥ ६ ॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥

---

१ प्रोषितौ—देशान्तरगतौ । (गो०)

(श्रीरामचन्द्र जी के अतिशय गुणवान् होने का कारण यह था कि,) श्रीरामचन्द्र जी स्वयं सनातनपुरुष विष्णु भगवान् थे जो देवताओं के अनुरोध से, नैसर्गिक गर्व से सारे जगत का विनाश करने वाले रावण का नाश करने को अवतीर्ण हुए थे ॥ ७ ॥

कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥

ऐसे अपार तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को प्राप्त कर कौशल्या जी वैसे ही सुशोभित हुई थीं, जैसे अदिति इन्द्र को पा कर शोभा को प्राप्त हुई थीं ॥ ८ ॥

स हि वीर्योपपन्नश्च रूपवाननसूयकः ।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त रूपवान्, महावीर्यवान्, निन्दारहित और उपमारहित इस पृथिवीतल पर एक राजपुत्र थे। अर्थात् उनकी जोड़ का दूसरा कोई न था। वे पिता के समान गुणशाली थे ॥ ९ ॥

स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

वे सदा प्रशान्त चित्त रहते, सदा सब से कोमल वचन बोलते, यदि उनसे कोई कठोर वचन बोलता तो भी वे उत्तर में कोई कड़वी बात न कहते थे ॥ १० ॥

कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया[1] ॥ ११ ॥

---

१ आत्मवत्तया—वशीकृतमनस्कतयेत्यर्थः । (गो०)

थोड़े भी उपकार को वे बहुत मानते थे, वे अपकार करने वाले के सैकड़ों अपकारों को भी मन में नहीं रखते अर्थात् भूल जाते थे। अर्थात् वे अपने मन पर इतना अधिकार रखते थे॥ ११॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥ १२॥

जब उनको अस्त्र शस्त्र के अभ्यास से अवकाश मिलता, तब वे उस अवकाश काल में सदाचारी, ज्ञानी और वयोवृद्ध सज्जन जनों के पास बैठ कर वार्तालाप करते थे। (अर्थात् उनको अच्छे लोगों का संग ही अच्छा लगता था; कुसंग पसन्द न था)॥ १२॥

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन गर्वितः॥ १३॥

वे स्वयं बड़े बुद्धिमान्, कोमल वचन बोलने वाले, पहिले बोलने वाले, और प्रिय बोलने वाले थे। वे स्वयं वीर हो कर भी वीरता के गर्व में मस्त न थे॥ १३॥

न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरञ्जते॥ १४॥

वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते थे और विद्वानों एवं वृद्धजनों का सम्मान करने वाले थे। अपनी प्रजा के लोगों को जैसा वे चाहते थे, प्रजा भी उनको वैसा ही चाहती थी। अर्थात् श्रीरामजी का अपनी प्रजा में जैसा अनुराग था, वैसा ही प्रजा का भी उनमें अनुराग था॥ १४॥

सानुक्रोशो[1] जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं[2] प्रग्रहवान्शुचिः ॥ १५ ॥

वे दयालु, क्रोध को जीतने वाले और ब्राह्मणों का सन्मान करने वाले थे। वे दीनों पर विशेष कृपा किया करते थे। वे सामान्य और विशेष धर्म को जानने वाले थे, वे सदा नियमानुसार चलने वाले और सदा पवित्र रहने वाले थे ॥ १५ ॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते ।
मन्यते परया कीर्त्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

वे अपने इक्ष्वाकुकुलानुरूप दया, दाक्षिण्य, तथा शरणागत-वत्सलता आदि कर्त्तव्यकर्मों के पालन में निपुण थे, दुष्टों का निग्रह कर और प्रजापालन कर अपने क्षात्रधर्म को बहुत मानते थे। अपने वर्ण और अपने आश्रम के धर्म के पालन को कीर्तिप्राप्ति ही का साधन नहीं, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी साधन मानते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि रतो विद्वान्न विरुद्धकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

न तो थोथे कामों के करने में उनकी रुचि थी और न उनको फूहर बातें तथा धर्मविरुद्ध बातें कहना सुनना ही पसंद था। वादविवाद करते समय, अपने पक्ष के समर्थन में, उनको बृहस्पति की तरह युक्तियाँ सूझा करती थीं। अर्थात् वे अपने पक्ष को भली भाँति युक्तियों से पुष्ट कर सकते थे ॥ १७ ॥

---

१ सानुक्रोशः—सदयः । (गो०) २ प्रग्रहवान्—नियमवान् । (गो०)
३ आश्रेयसि —निष्फलेकर्मणि । (गो०)

अरोगस्तरुणो वाग्मी बहुमान्यबहुश्रुतः ।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः[1] ॥ १८ ॥

निरोग, तरुण, सुवक्ता, रूपवान्, देशकाल के जानने वाले और आदमी को एक बार देखते ही उसके मन का भाव ताड़ जाने वाले, वे निःसन्देह एक महात्मा पुरुष थे ॥ १८ ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे और उनके इन गुणों के लिये ही उनको प्रजा के लोग बाहिर रहने वाले अपने प्राण के समान, प्यार करते थे ॥ १९ ॥

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

वे साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और यथाविधि व्रत कर के स्नातक हुए थे (अर्थात् गुरुगृह से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और ब्रतादिक कर उन्होंने समावर्तन किया था अर्थात् लौटे थे) इन्द्रीजिये वे तत्वतः अर्थात् ठीक ठीक साङ्ग वेद के ज्ञाता थे। शास्त्रविद्या में वे अपने पिता से चढ़ बढ़ कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवाग्ऋजुः ।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्नित्यमनिन्दितः ॥ २१ ॥

---

१ विनिर्मितः—निर्मितः । (गो०) २ ऋजुः—अकुटिलः साधुः । (गो०) ३ कल्याणाभिजनः—कल्याणः शोभनः अभिजनो येन स तथा । अनिन्दितः—साधुरिति । निर्दोष इत्यर्थः । (गो०)

वे कल्याण के जन्मस्थान, साधु, अदीन, सत्यवादी और सीधे थे। वे धर्म और अर्थ के जानने वाले एवं वृद्ध द्विजों द्वारा सुशिक्षित हुए थे ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्मतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

वे धर्म, अर्थ, काम के तत्व को जानने वाले, विलक्षण स्मृति और प्रतिभा वाले, लोकाचार और सामयिक धर्म में निपुण थे। अर्थात् लौकिक आचार विचार का विधान करने में वे बड़े चतुर थे ॥ २२ ॥

निभृतः[1] संवृताकारो[2] गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

उनका स्वभाव अति नम्र था। वे अपने मन की बात और गूढ़ विचारों को अपने मन में छिपा कर रखने की सामर्थ्य रखते थे। वे सहायवान् थे अर्थात् गूढ़ विचारों में उन्हें जासूसों से पूर्ण सहायता मिलती थी, अथवा उनके सहायक भी अनेक थे। उनका क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं जाता था। वे त्याग और संग्रह के समय के जानने वाले थे। (अर्थात् वे जान लेते थे कि, कब हमें कोई चीज़ देनी चाहिये और कब लेनी चाहिये।) ॥ २३ ॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो[3] नासद्ग्राही न दुर्वचाः।
निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

---

१ निभृतः—विनीतः। (गो०) २ संवृताकारः—हृदिस्थितकर्तव्यार्थ व्यञ्जकेङ्गिताकारगोपनचतुरः। (गो०) ३ स्थिरप्रज्ञो—विस्मृतिहीनः। (रा०)

प्रासादस्थो रथगतं ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्तानन रामतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी, आजानुबाहु, महाबली, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले, तथा जिस प्रकार घाम से तप्त प्राणी मेघ के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले; अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥

महाराज दशरथ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे। श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

उनका सुखी होना अर्थ एवं धर्म के संग्रह के अधीन था। और अर्थ धर्म के संग्रह में वे कभी अलसाते न थे ॥ २७ ॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् ।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥ ॥२८॥

वे खेलों की सामग्री और बाजे तथा चित्रकारी आदि शिल्प कलाओं की सामग्री के विशेषज्ञ थे और (सञ्चित) धन का विभाग* करना जानते थे। वे हाथी घोड़ों पर चढ़ने में स्वयं निपुण थे और उन पर चढ़ना सिखाने में भी वे दक्ष थे ॥ २८ ॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः ।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥

वे बड़े बड़े धनुर्विद्याविशारदों में श्रेष्ठ थे। लोग उनको महारथी समझ (उनकी धनुर्विद्या की जानकारी के कारण) सन्मान करते थे। वे अपने ऊपर शत्रु के आक्रमण को प्रतीक्षा नहीं करते थे, किन्तु स्वयं जा कर शत्रु पर आक्रमण करते थे, और आक्रमण के समय केवल सैनिकों से ही युद्ध नहीं कराते थे, प्रत्युत शत्रु पर

---

* "धर्मायययशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनायच ।
पञ्चधा विभजन्वित्त मिहामुत्रच शोभते ॥"

अर्थात् सञ्चित द्रव्य का व्यय करते समय उसे पांच महों में बांटे—(१) धर्म के कामों में (२) नामवरी के कामों में (३) धन बढ़ाने के काम में (४) अपनी शारीरिक आवश्यकताओं में और अपने परिवार के पालन पोषण के काम में। जो इस प्रकार सञ्चित अथवा उपार्जित द्रव्य का खर्च करता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

पहला वार स्वयं ही करते थे। वे शत्रु के सैन्यव्यूहों को छिन्न भिन्न करने और सैन्यव्यूह की रचना में भी निपुण थे ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः ।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥ ३० ॥

जब क्रुद्ध हो वे रणभूमि में खड़े होते, तब सुर असुर कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता था। वे असूया रहित, क्रोध को जीतने वाले, गर्वशून्य, और दूसरों की सम्पत्ति से द्वेष न करने वाले थे ॥ ३० ॥

न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः ।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥

न तो वे कभी किसी को अवज्ञा के पात्र बनते थे, और न उनके ऊपर समय विशेष का प्रभाव ही पड़ सकता था। राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी प्रजा जनों के बीच लोकोत्तर गुणों से युक्त थे ॥ ३१ ॥

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येणापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥

और तीनों लोक उनको मानते थे । उनमें, पृथिवी जैसी क्षमा, बृहस्पति जैसी बुद्धि और इन्द्र जैसा पराक्रम था ॥ ३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैः पितुः ।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तैः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार प्रदीप्त सूर्य अपनी किरणमाला से प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार प्रजा की प्रीति और पिता के दुलारे श्रीरामचन्द्र अपने गुणों से मण्डित हो, शोभा को प्राप्त होते थे ॥ ३३ ॥

तमेवं व्रतसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथंमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी में ऐसे दिव्यगुण, व्रतपालन, एवं अकुण्ठित पराक्रम देख और उनको लोकपालों के समान समझ, पृथिवी ने उनको अपना स्वामी बनाने की मनोकामना की ॥ ३४ ॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परन्तपः ॥ ३५ ॥

अपने पुत्र में ऐसे बहुत से अनुपम गुणों को देख, महाराज दशरथ ने अपने मन में विचार। ॥ ३५ ॥

अथ राज्ञो बभूवैवं वृद्धस्य चिरजीविनः ।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥३६॥

कि राज्य करते करते मैं बूढ़ा हो गया, अब मैं अपने जीते जी क्यों कर श्रीरामचन्द्र जी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रसन्न होऊँ ॥ ३६ ॥

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते ।
कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥ ३७ ॥

महाराज दशरथ के मन में यह कामना सदा बनी रहने लगी कि, मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीराम जी को राजगद्दी पर बैठा हुआ कब देख सकूँगा ॥ ३७ ॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पनः ।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जल बर्षाने वाले मेघ की तरह सब प्राणियों पर दया करने वाले हैं और प्रजा के लोगों को वे मुझसे भी अधिक प्यारे हैं ॥ ३८ ॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥ ३९ ॥

वे बल एवं पराक्रम में यम और इन्द्र के समान, बुद्धिमानी में बृहस्पति के समान, धैर्यधारण में अचल पर्वत के समान, और गुणों में मुझसे भी बढ़ कर हैं ॥ ३९ ॥

महीमद्यमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् ।
अनेन वयसा दृष्ट्वा कथं स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥ ४० ॥

ऐसे अपने पुत्र को इस सम्पूर्ण पृथिवी के राज्यासन पर बैठा देख, मैं इस उम्र में स्वर्ग कैसे सिधारूँ ॥ ४० ॥

इत्येतैर्विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः ।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः ।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत ॥ ४२ ॥

अन्य राजाओं के लिये दुर्लभ्य, असंख्य श्रेष्ठ एवं इस लोक के लिये लोकोत्तर गुणों से मण्डित, श्रीरामचन्द्र जी को देख, महाराज दशरथ ने मंत्रियों से परामर्श कर, उनको युवराज पद पर अभिषिक्त करना निश्चित किया ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् ।
संचचक्षे च मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥ ४३ ॥

किन्तु, इसी समय उन्होंने देखा कि, स्वर्ग, आकाश और पृथिवी पर घोर उत्पातों का भय उपस्थित है। साथ ही सूक्ष्मदर्शी राजा ने अपने शरीर के बुढ़ापे को भी देखा ॥ ४३ ॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।
लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥ ४४ ॥

उन्होंने इस कार्य से पूर्णचन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र का आनुकूल्य और अपनी चिन्ता या शोक की निवृत्ति तथा प्रजा का कल्याण समझा ॥ ४४ ॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।
प्राप्तकालेन धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान्नृपः ॥ ४५ ॥

अपनी और प्रजा की भलाई तथा प्रसन्नता के लिये धर्मात्मा महाराज दशरथ ने बड़ी प्रीति के साथ, उपयुक्त समय देख, श्रीराम जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिये त्वरा की ॥ ४५ ॥

नानानगरवास्तव्यान्पृथग्जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन् ॥ ४६ ॥

उन्होंने अनेक नगरों और राष्ट्रों के रहने वाले प्रधान राजाओं को बुलवाया ॥ ४६ ॥

तान्वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् ।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ४७ ॥

महाराज दशरथ ने उन सब को आदर पूर्वक भवनों में ठहराया और नाना प्रकार के अलंकार प्रदान कर उनका सत्कार

किया तदनन्तर स्वयं अलंकृत हो, उनसे भेंट की। उनके बीच में बैठे हुए महाराज उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार प्रजापति, प्रजा के बीच में बैठे हुए शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

न तु कैकयराजानं जनकं वा नराधिपः ।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥ ४८ ॥

शीघ्रता में कैकयराज और मिथिलाधिपति को यह समाचार नहीं दिया गया, इस कारण कि उनको यह शुभ संवाद पीछे से मिल ही जायगा ॥ ४८ ॥

[नोट—शीघ्रता तो महाराज दशरथ को थी ही, किन्तु युवराजपद पर अपने ज्येष्ठ राजकुमार को अभिषिक्त करने का मामला उनका ख़ास था, नाते रिश्तेदारों से ऐसे घरू मामलों में पूँछने की या सलाह मशवरा करने की आवश्यकता भी नहीं हुआ करती। इस अवसर पर वे ही बुलाये गये थे, जिनसे राजसम्बन्धी मामलों से सम्बन्ध था।]

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्परबलार्दने ।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः ॥ ४९ ॥

जब शत्रुदर्पदलनकर्त्ता महाराज दशरथ (राजसभा में आ कर) राजसिंहासन पर बैठ गये, तब अन्य राजागण तथा प्रजाप्रतिनिधिगण दरबार में आ आ कर उपस्थित होने लगे ॥ ४९ ॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥ ५० ॥

वे राजा लोग महाराज के दिये हुए भिन्न भिन्न प्रकार के आसनों पर (अर्थात् जो जिस आसन के योग्य था वह उसी प्रकार

के आसन पर) विठाया गया। वे सब महाराज के सिंहासन की ओर मुख कर के बड़ी नम्रता से अथवा राजदरबार के नियमों के अनुसार बैठे ॥ ५० ॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः ।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥ ५१ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

विनयी नृपतियों तथा जनपद्वासी प्रधान प्रधान लोगों से सम्मानित हो, सभा में बैठने पर, महाराज दशरथ वैसे ही सुशोभित मालूम पड़ते थे, जैसे इन्द्र, देवताओं के बीच शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का पहिला सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

द्वितीयः सर्गः

[नोट—इस दूसरे सर्ग में रामराज्याभिषेक का सर्वसम्मतत्व प्रदर्शित किया गया है।]

ततः परिषदं[1] सर्वामामन्त्र्य[2] वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं[3] चैवमुवाच प्रथितं[4] वचः ॥ १ ॥

---

१ परिषदं—पौरजानपदसमूहं । (गो०) २ आमन्त्र्य—अभिमुखी कृत्य । (गो०) ३ उद्धर्षणं—उत्कृष्टहर्षजनकं । (रा०) ४ प्रथितं—सर्वजनश्राव्यं यथाभवति तथोवाच । (रा०)

तदनन्तर भूपति महाराज दशरथ ने सब पुरवासियों को अपने सामने बिठा, ऐसे उच्च स्वर से, जिससे सब को सुनाई पड़े, अत्यन्त हर्षोत्पादक वचन कहे ॥ १ ॥

दुन्दुभिस्वनकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

बोलने के समय महाराज का बोल परम उच्च स्वर के साथ ऐसा जान पड़ता था, मानों नगाड़ा बज रहा हो, अथवा मेघ गरज रहा हो ॥ २ ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनाद्युपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥

राजाओं में बोलने योग्य अति सुन्दर एवं उपमारहित रस से भरी वाणी से महाराज दशरथ, राजाओं से बोले ॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार हमारे पूर्वज नरेन्द्रों ने पुत्रवत् इस विशाल राज्य का पालन किया है, यह तो आप लोगों को विदित है ही ॥ ४ ॥

श्रेयसा योक्तुकामोऽस्मि सुखार्हमखिलं जगत् ।
मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ॥ ५ ॥
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ।
इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ॥ ६ ॥

सो मैं इस समय भी इक्ष्वाकु प्रभृति नरनाथों द्वारा पालित इस राज्य में समस्त जगत की सुख सम्पत्ति बढ़ाने के लिये, एक

योजना करना चाहता हूँ। मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण कर और सदा सावधान रह कर, यथाशक्ति प्रजा की रक्षा की। सब प्रजाजनों के हित की कामना से यह मेरा शरीर ॥५॥६॥

पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया।
प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः ॥ ७ ॥

इस श्वेतराजछत्र के नीचे रह कर जराजीर्ण हो गया है। इस समय मेरी अवस्था साठ हज़ार वर्ष की हो चुकी है; अतः मैं बहुत आयु भोग चुका हूँ ॥ ७ ॥

जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये।
राजप्रभावजुष्टां हि दुर्वहामजितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्।
सोऽहं विश्रमिच्छामि रामं कृत्वा प्रजाहिते ॥ ९ ॥
सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्।
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैर्ज्येष्ठो ममात्मजः ॥ १० ॥

मैं अब चाहता हूँ कि, इस वृद्ध शरीर को विश्राम दूँ। जिस भार को अजितेन्द्रिय पुरुष नहीं उठा सकते, उस लोक के भारी धर्मभार को ढोते ढोते मैं थक गया हूँ। इस लिये अब मैं प्रजा के हित के लिये उपस्थित ब्राह्मणों की सम्मति से अपने जैसे सब गुणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र को प्रजापालन का भार सौंपा चाहता हूँ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरञ्जयः।
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतांवरम् ॥ ११ ॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र पराक्रम में इन्द्र के समान शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा की तरह धर्मात्मा ॥ ११ ॥

यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रीतः पुरुषपुङ्गवम् ।
अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाल्लक्ष्मणाग्रजः ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र को मैं युवराजपद पर कल प्रातःकाल ही स्थापित करना चाहता हूँ। क्योंकि वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। लक्ष्मण के बड़े भाई और कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र तुम्हारे योग्य रक्षक हैं ॥ १२ ॥

त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ।
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्ये तामिमां महीम् ॥ १३ ॥

मेरा तो विश्वास है कि, यह देश ही क्या, त्रैलोक्य मण्डल भी इनको पा कर सनाथ होगा; अतः इनको शीघ्र राज्यभार सौंप कर मैं भूमण्डल का कल्याण करना चाहता हूँ और ॥ १३ ॥

गतक्लमो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ।
यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार रामचन्द्र को राज्यशासन के कार्य में नियुक्त कर, मैं स्वयं चिन्ता रूपी क्लेश से निवृत्त होना चाहता हूँ। यदि मैंने यह विचार अच्छा और योग्य किया हो ॥ १४ ॥

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ।
यच्चप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ॥ १५ ॥

यदि मेरा कहना ठीक हो तो आप लोग इसमें सम्मति दें। अथवा जो करना उचित हो सो बतलाइये। यद्यपि मुझे श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना अति प्रिय है, तथापि यदि इससे बढ़ कर और कोई हित की बात हो तो उसे सोच विचार कर आप लोग बतलावें ॥ १५ ॥

अन्या मध्यस्थचिन्ता हि [1]विमर्दाभ्यधिकोदया।
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपा नृपम् ॥ १६ ॥

क्योंकि मध्यस्थों द्वारा पूर्वापर का विवेचन होने के पश्चात् जो बात स्थिर होती है—वही उत्तम होती है। महाराज दशरथ के ये वचन सुन, सब राजा लोगों ने वैसे ही प्रसन्नता प्रकट की ॥ १६ ॥

वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः।
स्निग्धोऽनुनादी संजज्ञे तत्र हर्षसमीरितः ॥ १७ ॥
जनौघोद्घुष्टसन्नादो विमानं कम्पयन्निव।
तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ॥ १८ ॥

जैसे बरसते हुए बादल को देख मोर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उस समय सामन्त राजाओं ने तथा अन्य उपस्थित जनों ने प्रसन्न हो, "वाह वाह" "ठीक, बहुत ठीक" कह कर, इतनी ज़ोर से आनन्द प्रकट किया कि, जान पड़ा मानों राज-सभा-भवन काँप रहा हो। धर्मात्मा महाराज दशरथ का आशय सब लोग समझ गये ॥ १७ ॥ १८ ॥

---

१ विमर्देन—पूर्वापरपक्षसंघर्षणेनहेतुना। (गो०)

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतागतबुद्धयः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ब्राह्मण, सामन्त राजा लोग और नगर के प्रधान प्रधान लोगों ने बाहिर से आये हुए विशिष्ट जनों से मिल कर, आपस में परामर्श किया और जब सब एकमत हो गये तब, ॥ १९ ॥

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।
अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥ २० ॥

विचार कर वृद्ध महाराज दशरथ से बोले—हे राजन् ! आप हज़ारों वर्ष राज्य करते करते बहुत बूढ़े हो गये हैं ॥ २० ॥

स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ।
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥ २१ ॥

अतएव हे राजन् ! अब आप श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक्त कर दीजिये । क्योंकि हम लोगों की इच्छा है कि, महाबाहु एवं महाबली श्रीरामचन्द्र जी ॥ २१ ॥

गजेन महताऽऽयान्तं रामं छत्रावृताननम् ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ॥ २२ ॥

एक बड़े हाथी पर बैठ कर और सिर के ऊपर राजछत्र लगाये हुए चलें और हम यह (शुभ दृश्य) देखें । महाराज दशरथ उन सब के ये वचन सुन कर और उनके मन का अभीष्ट जानने के लिये ॥ २२ ॥

अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ।
श्रुत्वैव वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ॥ २३ ॥

अजान मनुष्य की तरह उनसे पूँछने लगे। आप लोग जो मेरे कहते ही श्रीराम जी को अपना रक्षक बनाने को तैयार हो गये ॥ २३ ॥

राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः ।
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ॥ २४ ॥

सो इससे मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है। अतः आप अपने अभिप्राय को स्पष्ट कहिये। जब मैं धर्म से पृथिवी का पालन कर ही रहा हूँ, तब फिर क्यों ॥ २४ ॥

भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम् ।
ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह ॥ २५ ॥

आप लोग मेरे पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं? (क्या मैं राज्यशासन ठीक ठीक नहीं कर रहा या मुझसे कोई भूल हुई है?) अयोध्यावासी तथा अन्य बाहिर के सामन्त, बुद्धिमान् महाराज दशरथ से बोले ॥ २५ ॥

बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते ।
गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ॥ २६ ॥
प्रियानानन्दनान्कृत्स्नान्प्रवक्ष्यामोऽद्य तान्शृणु ।
दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ॥ २७ ॥

हे राजन्! (यह बात नहीं है, अर्थात् आप शासन भी ठीक ही ठीक कर रहे हैं और आपसे कोई भूल भी नहीं हुई ; किन्तु हमारे

इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने का कारण यह है कि,) आपके राजकुमार में बहुत से बड़े अच्छे अच्छे गुण हैं (अर्थात् आपमें राज्य का शासन भलीभाँति करने ही का एक गुण है) बुद्धिमान् और देवरूप श्रीरामचन्द्र के प्रिय और आनन्ददायक गुणों को हम कहते हैं, सुनिये। दिव्य गुणों से सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी इन्द्र के समान हो रहे हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

इक्ष्वाकुभ्योपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ।
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यधर्मपरायणः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! अतएव वे सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओं से अधिक हैं (अर्थात् आप ही नहीं किन्तु आपके पूर्ववर्ती समस्त राजाओं से भी अधिक चढ़ बढ़ कर हैं)। वे इस लोक में एक ही सत्पुरुष और सत्यधर्म-परायण हैं ॥ २८ ॥

साक्षाद्रामादिनिर्वृत्तो[1] धर्मश्चापि श्रिया सह ।
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ॥ २९ ॥
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः ॥ ३० ॥

इन्हीं श्रीरामचन्द्र जी से शोभायमान धन और धर्म प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। प्रजाओं को सुख देने में या सुखी करने में श्रीरामचन्द्र जी चन्द्रमा के समान हैं (अर्थात् जैसे चन्द्रमा, अपनी अमृतश्रावी किरणों से सब अन्न फल फूलादि परिपक्व कर प्रजा को पुष्ट करता है ; वैसे ही यह रामचन्द्र प्रजा को आनन्दित और पुष्ट करते हैं)। श्रीराम जी क्षमा करने में पृथिवी के समान, बुद्धि में बृहस्पति के

---

१ विनिर्वृत्तः—प्रतिष्ठापिता। (रा०)

तुल्य, पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के समान हैं। श्रीराम जी धर्मज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, शीलवान हैं, ईर्ष्या रहित हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी क्षमावान् हैं, कुपित और दुःखियों को सान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, प्रिय बोलने वाले हैं, कोई थोड़ा भी उपकार करे तो उसे बहुत बड़ा कर के मानने वाले हैं, जितेन्द्रिय हैं, कोमल स्वभाव वाले हैं, जो बात एक बार कह देते हैं, उसे महान् सङ्कट पड़ने पर भी नहीं बदलते, सदा कल्याण रूप हैं, और किसी की भ निन्दा नहीं करते ॥ ३१ ॥

प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ।
बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्राणिमात्र से प्रिय और सत्य बोलने वाले हैं, तथा बहुदर्शी और वृद्ध ब्राह्मणों के उपासक हैं ॥ ३२ ॥

तेनास्येहातुला कीर्त्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ।
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ॥ ३३ ॥

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी की अतुलकीर्ति, यश और तेज बढ़ता जाता है। क्या देवता, क्या असुर, और क्या मनुष्य, सब से वे सब शस्त्रों के चलाने रोकने और चलाये हुए अस्त्रों को लौटा लेने में चढ़ बढ़ कर निपुण हैं ॥ ३३ ॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।
गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ ३४ ॥

श्रीराम जो जितनी विद्याएँ हैं, उन सब के नियमों के पारङ्गत हैं, (अर्थात् सब विद्याओं का नियमपूर्वक भली भाँति अध्ययन किये हुए हैं) साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण वेद के जानने वाले हैं, गानविद्या में वे अद्वितीय हैं ॥ ३४ ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ।
द्विजैरभिविनीतश्च[1] श्रेष्ठैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ ३५ ॥

सकल कल्याणों के आश्रय स्थल हैं, अथवा उत्तमकुलोत्पन्न हैं, साधु प्रकृति के हैं, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, ब्राह्मणों द्वारा सुशिक्षित हैं, श्रेष्ठ हैं और धर्मार्थ के प्रतिपादन में कुशल हैं ॥ ३५ ॥

यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ।
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ॥ ३६ ॥

फिर वे जब कभी श्रीलक्ष्मण जी के साथ ग्राम या नगर को जीतने के लिये रण में जाते हैं, तब वे शत्रु को जीते बिना नहीं लौटते ॥ ३६ ॥

संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा ।
पौरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ॥ ३७ ॥

पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।
निखिलेनानुपूर्व्याच्च पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ ३८ ॥

और संग्राम से रथ या हाथी पर बैठ कर, जब वे लौटते हैं, तब पुरवासियों से स्वजनों की भाँति उनके पुत्रों का, अग्नि (अग्नि

---

१ अभिविनीतः—सर्वतः सुशिक्षितः । (गो०)

होत्रादि) का, स्त्रियों का तथा दास और शिष्यों का क्रम से उसी प्रकार कुशल पूँछते हैं ; जैसे पिता अपने औरस पुत्रों से कुशल पूँछता हो ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चित्कर्मसु दंशिताः[1] ।
इति नः पुरुषव्याघ्रा सदा रामोऽभिभाषते ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! हम लोगों से श्रीरामचन्द्र जी सदा पूँछा करते हैं कि, तुम्हारे शिष्य यथाविधि तुम्हारी सेवा शुश्रुषा करते हैं कि, नहीं ? अपने काम में सदा तत्पर रहते हैं कि, नहीं ? ॥ ३९ ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥ ४० ॥

जब कभी कोई मनुष्य दुखी होता है, तब उसके दुख से आप दुखी होते हैं और जब किसी के कोई उत्सव होता है, तब वे आप पिता की तरह सन्तुष्ट होते हैं ॥ ४० ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जो बड़े सत्यवादी, महाधनुर्द्धर, वृद्धसेवी, जितेन्द्रिय, (मिलते ही) स्वयं प्रथम हँस कर बोलने वाले और सब प्रकार से धर्मसेवी हैं ॥ ४१ ॥

सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विग्रहकथारुचिः ।
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ ४२ ॥

---

१ दंशितः—सन्नद्धाः । (गो०)

वे अच्छे कामों को सदा करने वाले हैं, लड़ाई झगड़े की बातें कहने सुनने में उनको रुचि ही नहीं है। वे वार्तालाप करते समय उत्तरोत्तर युक्तियों से काम लेने में बृहस्पति के समान हैं ॥ ४२ ॥

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ॥ ४३ ॥

सुन्दर भौंह, बड़े बड़े रक्त नेत्र वाले श्रीराम जो साक्षात् विष्णु के तुल्य हैं। श्रीरामचन्द्र जी शौर्य, वीर्य व पराक्रम में लोगों को अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४३ ॥

प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ।
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं किंनु महीमिमाम् ॥४४॥

वे प्रजा के पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं और राजसी-भोगों में संलग्न न होने वाले हैं अथवा उनकी इन्द्रियां चञ्चल नहीं हैं। श्रीरामचन्द्र जी तीनों लोकों का राज्य करने की सामर्थ्य रखते हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्य क्या चीज़ है ? ॥ ४४ ॥

नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ।
हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्ये नच कुप्यति ॥ ४५ ॥

इनका क्रोध और इनकी प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती। ये मारने योग्य को मारे बिना नहीं रहते और न मारने योग्य पर कभी क्रुद्ध भी नहीं होते ॥ ४५ ॥

युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ।
दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्नृणाम् ॥ ४६ ॥

जिस पर ये प्रसन्न होते हैं, उसको सब ही कुछ देते हैं। ये यम नियमादि पालन में कष्टसहिष्णु हैं। सब प्रजाजनों के प्रीति-पात्र हैं, और स्वजनों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले हैं ॥ ४६ ॥

गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।
तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ४७ ॥

इन गुणों से श्रीरामचन्द्र जी किरणों द्वारा सूर्य की तरह शोभा देने वाले हैं। इन सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को, ॥ ४७ ॥

लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ।
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघव ॥४८॥

लोकपालों की तरह पृथिवी अपना पति बनाना चाहती है। हे महाराज ! आप बड़े भाग्यवान् हैं, ऐसे कल्याणमूर्ति श्रीराम जी आपके पुत्र हैं ॥ ४८ ॥

दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव काश्यपः ।
बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः[1] ॥ ४९ ॥

बड़े सौभाग्य ही से मरीच के पुत्र कश्यप की तरह गुणवान् ये आपके पुत्र हैं। (सो वे राज्यारूढ़ हों, यह तो बड़े सौभाग्य की बात है।) जगप्रसिद्ध श्रीराम जी के बल, आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिये ॥ ४९ ॥

देवासुरमनुष्येषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।
आशंसन्ते[2] जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा ॥ ५० ॥

---

१ विदितात्मनः—प्रसिद्धशीलस्य । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयते । (गो०)

देवता, असुर, ऋषि, गन्धर्व, नाग, तथा अयोध्या नगरी के निवासी तथा कोशलराज्य भर के समस्त लोग प्रार्थना करते हैं ॥ ५० ॥

आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ।
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ॥५१॥

सर्वान्देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ।
तेषामायाचितं देव त्वत्प्रसादात्समृध्यताम् ॥ ५२ ॥

बाहिरी और राजधानी के रहने वाले स्त्री पुरुष, बूढ़े जवान सब लोग सुबह शाम एकाग्र मन से सब देवताओं से यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना के लिये प्रार्थना किया करते हैं। उन सब की प्रार्थना आप पूरी करें ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

हम लोग, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को, जो नील कमल के सदृश श्याम हैं, और शत्रुनाशक हैं, युवराज के आसन पर बैठा देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे वरद ! अब हम लोगों की यह प्रार्थना है कि, आप विष्णु के समान, सब लोकों के हितकारी, उदार अपने पुत्र श्रीराम जी को प्रसन्न मन से यौवराज्य पद पर शीघ्र अभिषिक्त कर दीजिये ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

तृतीयः सर्गः

—:*:—

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्यात्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार हाथ जोड़ कर वे लोग जो प्रार्थना कर रहे थे, उसको आदर पूर्वक सुन कर महाराज दशरथ उनसे प्रिय व हित-कर वचन बोले ॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम ।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

आहा ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आप लोग मेरे प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन लोगों का मधुर वचनों से सम्मान कर, महाराज दशरथ उनके ही सामने, वशिष्ठ, वामदेवादि ब्राह्मणों से बोले ॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्रमास में, जिसमें चारों ओर वन पुष्पों से सुशोभित हो रहे हैं, श्रीरामचन्द्र जी के, यौवराज्य पद पर अभिषेक करने की आप लोग सब तैयारियां कीजिये ॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषो नराधिपः ॥ ५ ॥

जब यह कह कर महाराज चुप हो गये, तब लोगों ने बड़ा आनन्दघोष किया । महाराज दशरथ, धीरे धीरे उस जनघोष के शान्त हो जाने पर ॥ ५ ॥

वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवान्सर्वमाज्ञापयितुमर्हति ।
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

मुनिप्रवर वशिष्ठ जी से बोले, हे भगवन् ! श्रीराम जी के अभिषेक के लिये जो जो कृत्य करने हों और जो सामान चाहिये, उसके लिये आज्ञा कीजिये । विप्रप्रवर वशिष्ठ जी ने यह सुन कर ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान्युक्तान्कृताञ्जलीन् ।
सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन्सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥

उन मंत्रियों को जो महाराज के सामने हाथ जोड़े हुए थे, आज्ञा दी कि, तुम लोग सुवर्णादि रत्नावलि (देवोपहार की वस्तुएँ) और सब औषधियाँ ॥ ८ ॥

शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी ।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारं महीपतेः ।
यच्चान्यत्किञ्चिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ १२ ॥

सफेद पुष्प की मालाएं, लाजा (धान को खींले), अलग अलग पात्रों में शहद व घी, कोरे वस्त्र, रथ, सब आयुध, चतुरङ्गिणी सेना, शुभ लक्षण वाले हाथी, दो चँवर, सफेद ध्वजा और सफेद छत्र, सुवर्ण के सौ कलश, जो अग्नि के समान चमकदार हों, सुवर्ण से मढ़े हुए सींग वाले बैल, अखण्डित व्याघ्र चर्म, तथा अन्य जो कुछ चाहिये सो सब एकत्र कर, कल सवेरे महाराज की अग्निशाला में ला कर रखो ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥

रनिवास के और नगर के सब द्वारों का चन्दन, माला और अच्छी सुगन्धित धूप से पूजन किया जाय ॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोपसेचनम् ।
द्विजानां शतसाहस्रे यत्प्रकाममलं भवेत ॥ १४ ॥

सब प्रकार के सुन्दर, मीठे और आरोग्यकारी अन्न, दही, दूध, के बने हुए पदार्थ तैयार किये जायँ, जिससे एक लक्ष ब्राह्मण भोजन कर तृप्त हो सकें ॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥१५ ॥

यह भोजन कल सवेरे ही ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक दिया जाय । उनको घी, दही तथा लावा (खीले) और दक्षिणा भी इतनी दी जाय कि, उन्हें फिर अन्यत्र कहीं मांगने की आवश्यकता न रहै ॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥१६॥

सूर्य उदय होते ही कल स्वस्तिवाचन होगा । अतएव ब्राह्मणों के पास (आज ही) निमंत्रण भेज दिया जाय और उनको बैठाने के लिये आसनों का प्रबन्ध कर दिया जाय ॥ १६ ॥

आवध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् ।
सर्वे च तालावचरा[1] गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥

कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनिः ।
देवायतनचैत्येषु सान्नभक्षाः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥

---

१ तालावचरा—नर्तकादयः । (गो०)

उपस्थापयितव्याः स्तुमाल्यधामयाः पृथक्पृथक् ।
दीर्घामिषद्धा यात्राश्च मलद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥

अगद अगद वंदनमालें बाँध दी जायें, और सड़कों पर छिड़काव करवा दिया जाय । सरदारों सहित नाचने गानी वेश्याएँ सजधज कर राजमार्ग की दूसरी ओरों पर उपस्थित रहें । राजधानी में जितने देवमन्दिर तथा चौराहे हैं, उन सब में, नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ, दक्षिणा और अन्य पूजन की सामग्री तथा फूल आदि, अलग अलग भेज दी जायँ । सिपाही सशस्त्रधारी शूर योद्धा, सुन्दर पोशाकें पहिन कर, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

महाराजाङ्गणं सर्वं प्रविशन्तु मनोदयम् ।
एवं व्यादिश्य विप्रांश्च क्रियाश्चान्याश्च सुनिष्ठिताः ॥२०॥

महाराज के आगमन में जहाँ कि महोत्सव होगा, उपस्थित हों । इस प्रकार मन्त्रिवर और सामन्त मंत्रियों को आज्ञा दें तथा सब कामों का ठीकठाक कर, ॥ २० ॥

चक्रतुश्चैव यत्कृत्यं पार्थिवाय निवेद्य च ।
कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥

और जो सम्पन्न और उपस्थित थीं उनको मँगवाने की आज्ञा दें और जो काम करवाना था उसको आरम्भ करना, महाराजा के पास जा कर इन सब बातों की सूचना दी ॥ २१ ॥

यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजर्षभौ ।
ततः सुमन्त्रं धृतिमान्राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

---

१ महोदयम्—महोत्सवमभिप्रेत्य मनुष्यम् । (रा०)

जब उन दोनों द्विजश्रेष्ठों ने महाराज से हर्षित हो कहा कि, "ठीक है," तब महातेजस्वी महाराज ने सुमंत्र से कहा ॥ २२ ॥

रामः कृतात्मा[1] भवता शीघ्रमानीयतामिति ।
स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयाञ्चक्रे रथेन रथिनांवरम् ।
अथ तत्र समासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥

कि तुम जा कर सुशिक्षित श्रीरामचन्द्र को शीघ्र यहाँ ले आओ। महाराज की आज्ञा पा और "जो आज्ञा" कह, सुमंत्र तुरन्त रथ में सवार करा योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को महाराज के पास ले आये ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ।
म्लेच्छाचार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥२५॥

उस समय महाराज के पास पूर्व, उत्तर, पश्चिम, और दक्षिण के राजा लोग, म्लेच्छ, आर्य और वन तथा पर्वतों के रहने वाले राजागण ॥ २५ ॥

उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा इव वासवम् ।
तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥

राजसभा में इस प्रकार बैठे थे कि, जिस प्रकार देवतागण इन्द्र की सभा में बैठते हैं। उस समय राजर्षि दशरथ उन राजाओं के बीच वैसी ही शोभा को प्राप्त हो रहे थे, जैसी शोभा देवताओं के बीच इन्द्र की होती है ॥ २६ ॥

---

१ कृतात्मा—सुशिक्षितबुद्धिः । (गो०)

प्रासादस्थो रथगतं ददर्शायान्तमात्मजम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥
दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी, आजानुबाहु, महाबली, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले, तथा जिस प्रकार घाम से तप्त प्राणी मेघ के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले; अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।
स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥

महाराज दशरथ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे। श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

कर महाराज दशरथ के पास जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी के पीछे सुमंत्र हाथ जोड़ कर चले। पितृभक्त श्रीरामचन्द्र जी कैलास पर्वत जैसे ऊँचे राजभवन पर सुमंत्र सहित महाराज से मिलने के लिये चढ़े और उन्होंने महाराज के समीप जा, हाथ जोड़, ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नाम स्वं श्रावयन्रामो ववन्दे चरणौ पितुः ।
तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥

और अपना नाम ले कर पिता के चरणों को प्रणाम किया। महाराज दशरथ ने जब देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े बग़ल में खड़े हुए हैं ॥ ३३ ॥

गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम् ।
तस्मै चाभ्युदितं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥

तब महाराज ने उनका हाथ पकड़ और गले से लगा अपने सामने ऊँचे, सुवर्णमय और रत्नजटित ॥ ३४ ॥

दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम् ।
तदासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।
तेन विभ्राजता तत्र सा सभाऽभिव्यरोचत ॥ ३६ ॥

एक उत्तम आसन पर बैठने की आज्ञा दी। उस आसन पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रभा से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत पर उदयकाल में उज्ज्वल श्रीसूर्य भगवान् सुशोभित होते हैं। वहाँ बैठे हुए श्रीरामचन्द्र से उस सभा को वैसी ही शोभा हुई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।
तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥

जैसी चन्द्रमा के उदय होने पर ग्रह नक्षत्र से पूर्ण शारदीय आकाश की होती है । महाराज दशरथ अपने प्यारे पुत्र की ऐसी शोभा देख, वैसे ही परम सन्तुष्ट हुए ॥ ३७ ॥

अलङ्कृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।
स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतांवरः ॥ ३८ ॥

जैसे कोई अच्छे वसन भूषण पहन कर अपना रूप दर्पण में देख कर प्रसन्न होता है । सब पुत्रवानों में श्रेष्ठ महाराज दशरथ मुसक्या कर वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३८ ॥

उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।
ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥

जैसे कश्यप, इन्द्र से प्रसन्न हो कर बोलते हैं । हे वत्स ! तुम, मेरी बड़ी रानी के अनुरूप ही पुत्र हुए हो ॥ ३९ ॥

उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥

तुममें सब उत्तम गुण विद्यमान हैं और तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो । तुमने अपने गुणों से सब प्रजाजनों को प्रसन्न कर रखा है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि ॥ ४१ ॥

इस लिये तुम पुष्य नक्षत्र में यौवराज्य पद पर विराजमान हो । यद्यपि तुम स्वभाव ही से सर्वगुणसम्पन्न और विनम्र हो ; ॥ ४१ ॥

गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

तथापि स्नेह से प्रेरित हो, मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ । तुमको उचित है कि, विनय को धारण कर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च ।
परोक्षया[1] वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

काम क्रोध से उत्पन्न हुए जो दुर्व्यसन लोगों में उत्पन्न हो जाया करते हैं, उनसे सदा बचो । अपने राज्य की तथा दूसरे राजाओं के राज्य की घटनाओं को अपने जासूसों द्वारा रत्ती रत्ती ऐसे जानते रहो मानों वे घटनाएँ तुम्हारी आँखों के सामने हुई हों ॥ ४३ ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रकृतीश्चानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान्बहून् ॥ ४४ ॥

ऐसा बर्ताव करो जिससे सब मंत्रिवर्ग और प्रजाजन प्रसन्न रहें । अन्न के भण्डार तथा अस्त्र शस्त्रों के भण्डार को. अन्न तथा अस्त्र शस्त्रों के संग्रह से सदा बढ़ाते रहो ॥ ४४ ॥

---

१ परोक्षया—चारमुखतः परोक्षानुभवसिद्धयावृत्त्यास्वपराष्ट्रवृतान्त विचारेण । (रा०)

इष्टानुरक्तमकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

देखो, जो राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रख कर राज्य करता है, उससे उसके मित्र वैसे ही प्रसन्न रहते हैं, जैसे अमृतपान से देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥

अतएव हे वत्स ! तुम सावधान हो कर, मैंने जैसा कहा है, तदनुसार आचरण करो। महाराज दशरथ के यह वचन सुन, श्रीराम जी के हितैषी मित्रों ने ॥ ४६ ॥

त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।
सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ।
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ॥ ४७ ॥

तुरन्त जा कर यह शुभ संवाद कौशल्या जी को सुनाया। सुनते ही प्रसन्न हो कर प्रमदाओं में श्रेष्ठा कौशल्या जी ने उन सुखद संवाद सुनाने वालों को अशरफ़ियाँ तरह तरह के रत्न (जटित आभूषण) और गौएँ देने की आज्ञा दी ॥ ४७ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः परिपूजितः ॥ ४८ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी, महाराज दशरथ को प्रणाम कर और रथ पर सवार हो अपने भड़कीले से घर की ओर गये। रास्ते में लोगों की भीड़ ने उनका अभिनन्दन किया ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान्समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

पुरवासी भी महाराज की आज्ञा सुन और इसे अपनी इष्ट प्राप्ति समझ (मनचीता पाया) और महाराज को प्रणाम कर, अपने अपने घरों को गये और परम प्रसन्न हो देवताओं का पूजन इसलिये किया कि, रामाभिषेक में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े ॥ ४९ ॥

अयोध्याकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

चतुर्थः सर्गः

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः ।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्[1] ॥ १ ॥

पुरवासियों के चले जाने पर, महाराज दशरथ ने फिर मंत्रियों के साथ परामर्श कर रामाभिषेक के काल के विषय में इस प्रकार निश्चय कर (मंत्रियों से कहा) ॥ १ ॥

श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।
रामो राजीवताम्राक्षो यौवराज्य इति प्रभुः ॥ २ ॥

---

१ निश्चयन् —रामाभिषेकस्यकालविषयम् । (रा०)

(अगले दिन) कल ही पुष्य नक्षत्र है, अतः कमलनेत्र हमारे पुत्र श्रीरामचन्द्र का युवराजपद पर अभिषेक कल अवश्य हो जाना चाहिये ॥ २ ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।
सूतमाज्ञापयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

(यह कह मंत्रियों को विदा किया । केवल सुमंत्र के साथ) महाराज दशरथ अन्तःपुर में गये और सुमंत्र को आज्ञा दी कि, श्रीराम को फिर हमारे पास ले आओ ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य स तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥

सुमंत्र महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य कर, श्रीराम जी को पुनः बुला लाने के लिये शीघ्र श्रीराम जी के भवन को गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः ।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥

जब द्वारपालों ने, श्रीरामचन्द्र जी से उनके बुलाने के लिये सुमंत्र के पुनः आने का संवाद कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र के पुनः बुलाने के लिये आने का संवाद सुन, मन में शङ्कित हुए ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितं रामो वचनमब्रवीत् ।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥

किन्तु तुरन्त ही सुमंत्र को सामने लाने की द्वारपालों को आज्ञा दी और सुमंत्र के सामने आने पर उनसे पूँछा कि आपका आगमन जिस कारण हुआ है सो सब कहिये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

सुमंत्र ने उत्तर दिया—महाराज आपको देखना चाहते हैं। आगे आप जैसा उचित समझें करें ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः ।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी शीघ्रतापूर्वक महाराज दशरथ के महल में उनसे फिर मिलने को गये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आगमन सुन, महाराज दशरथ, उनसे कुछ (गुप्त रूप से) बातचीत करने के लिये, उन्हें अपने निजगृह (ख़ास कमरे) में ले गये ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान्राघवो भवनं पितुः ।
ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पिता के भवन में प्रवेश करते समय दूर ही से महाराज को देख हाथ जोड़ प्रणाम किया ॥ १० ॥

प्रणमन्तं समुत्थाप्य तं परिष्वज्य भूमिपः ।
प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

(फिर जब वे पिता के समीप पहुँचे, तब उन्होंने पृथिवी पर गिर कर, प्रणाम किया) प्रणाम करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी

को उठा अपने हृदय से लगा और बैठने को आसन दे, महाराज उनसे बोले ॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा मयेप्सिताः ।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥

हे राम ! हम अब बूढ़े हो गये हैं। हमने बहुत दिनों राज्य कर के मनमाने सुख भोगे तथा अन्न दान पूर्वक विपुल दक्षिणा दे कर, सैकड़ों यज्ञ भी किये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि ।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पृथिवी तल पर उपमारहित तुम जैसे सुपुत्र को पा कर मेरा दान देना और वेदाध्ययन करना सार्थक हुआ। अथवा मेरे तुम जैसे अनुपम पुत्र उत्पन्न हुए । हे नरश्रेष्ठ ! मैंने मनमाने दान दिये, यज्ञ किये और वेदाध्ययन भी किया ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीरसुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

हे वीर ! जहाँ तक सुखभोग हो सकता है मैंने भोगा अथवा अब भोगने के लिये कोई सुख शेष नहीं रहा। मैं देव, ऋषि, पितृ, ब्राह्मण तथा आत्म-ऋणों से मुक्त हो चुका। (यज्ञ, अध्ययन, पुत्रोत्पादन, दान तथा उत्तम उत्तम पदार्थों का भोग ; उक्त ऋणों से छूटने के क्रमागत उपाय हैं ।) ॥ १४ ॥

न किञ्चिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

अब केवल तुम्हारे अभिषेक को छोड़ मुझे अन्य कोई भी काम करना शेष नहीं रहा। अतएव अब मैं जो तुमसे कहता हूँ, उसे तुम करो ॥ १५ ॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् ।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

अब प्रजा जनों की यह इच्छा है कि, तुम उनके राजा बनो। हे वत्स! इसी लिये मैं तुम्हारा युवराज पद पर अभिषेक करता हूँ ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान्रामः स्वप्ने पश्यामि दारुणान् ।
सनिर्घाता महोल्काश्च पतिता हि महास्वनाः ॥१७॥

(किन्तु इस मेरी चाहना के पूरे होने में मुझे विघ्न पड़ता हुआ देख पड़ता है, क्योंकि) कुछ दिनों से रात में मुझे बड़े भयङ्कर और अशुभ स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। आकाश से बड़े भीषण शब्द के साथ वज्रपात के साथ उल्कापात होते हैं ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः ।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

हे राम! मेरे जन्म नक्षत्र को बुरे ग्रहों ने घेर रखा है। ज्योतिषियों का कहना है कि. सूर्य, मङ्गल, राहु का जन्म नक्षत्र को घेरना अच्छा नहीं ॥ १८ ॥

[नोट—आधुनिक कतिपय आलोचकों का मत है कि, भारतवर्ष में प्राचीन काल में फलितज्योतिष का प्रचार नहीं था। फलितज्योतिष भारतवासियों ने मुसल्मानों से सीखा। किन्तु इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में भारतवर्ष में फलितज्योतिष माना जाता था और तत्कालीन राजागण

ज्योतिषियों के बतलाये फलों पर आस्थावान् थे और ज्योतिषियों के बतलाये फल भी मिला करते थे ।]

प्रायेण हि निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे ।
राजा हि मृत्युमवाप्नोति घोरां वाऽऽपदमृच्छति ॥ १९ ॥

प्रायः, ऐसा बुरा योग होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा उस पर कोई भारी विपत्ति पड़ती है ॥ १९ ॥

तद्यावदेव मे चेतो न विमुञ्चति राघव ।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

सो हे राघव ! मैं चेत में रहते हुए ही (अर्थात् जब तक मेरे होश हवास दुरुस्त है) तुम्हारा अभिषेक कर देना चाहता हूँ । क्योंकि मनुष्य की मति का कुछ भरोसा नहीं ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगतः पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसू ।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥
तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् ।
श्वस्त्वाऽहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों ने बतलाया है कि, आज पुनर्वसु नक्षत्र है, कल पुष्य नक्षत्र आवेगा और पुष्य नक्षत्र अभिषेक के लिये अच्छा है । मैं तुम्हारे अभिषेक के लिये व्यग्र हो रहा हूँ । अतः मेरी इच्छा है कि, कल ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय ॥ २१ ॥ २२ ॥

तस्मात्त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना ।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

अतः आज ही से तुम सत्कोक नियमानुसार व्रत उपवास करके पत्थर की चौकी पर कुश बिछा कर शयन करना ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाममत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

आज सावधानता पूर्वक चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करना, तुम्हारे मित्रों का कर्त्तव्य है। क्योंकि ऐसे कार्यों में अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना बनी रहती है ॥ २४ ॥

विसोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

भरत इस समय अपने मामा के घर हैं, सुतरां उसके लौटने के पूर्व ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, मेरी यही इच्छा है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥

क्योंकि यद्यपि तुम्हारे भाई भरत सज्जन हैं, बड़े भाई के कथनानुसार चलने वाले हैं, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं ॥ २६ ॥

किन्तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः ।
सतां तु धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

तथापि मेरी समझ में मनुष्यों का मन चञ्चल हुआ करता है और धार्मिक एवं साधु पुरुषों का मन भी (सदा तो नहीं, किन्तु कभी कभी कारण विशेष उपस्थित होने पर) चलायमान हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद्गृहम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ ने कहा—अतएव कल तुम्हारा अभिषेक होगा अब । अपने भवन को जाओ । पिता की ऐसी आज्ञा पा और पिता को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी अपने भवन को गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञोदिष्टेऽभिषेचने ।
तत्क्षणेन च निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

अपने घर पर पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने चाहा कि, जानकी जी से वे सब नियम जो महाराज ने बतलाये हैं और कर्त्तव्य हैं, बतला दें, किन्तु वहां सीता जी को न पा कर वे तुरन्त वहां से अपनी माता के भवन में चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहां जा कर देखा कि, माता कौशल्या जी रेशमी वस्त्र पहिने हुए, देवमन्दिर में बैठी हुई और मौनव्रत धारण किये हुए श्रीराम जी के अभ्युदय के लिये (अथवा राजलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये) प्रार्थना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।
सीता च नायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥३१॥

श्रीराम जी के अभिषेक का वृत्तान्त सुन सुमित्रा जी व लक्ष्मण जी पहले ही से वहां पहुँच चुके थे । कौशल्या जी ने यह संवाद

सुन सीता जी को भी बुलवा लिया था और वे भी उस समय उनके पास बैठी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन्काले हि कौसल्या तस्यावामीलितेक्षणा ।
सुमित्रयाऽन्वास्यमान सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥
श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

जिस समय श्रीराम जी वहां पहुँचे, उस समय कौशल्या जी, पुत्र का पुष्य नक्षत्र में अभिषेक किये जाने का संवाद सुन, आंख मूँद कर पुराणपुरुष नारायण का ध्यान कर रही थीं और सुमित्रा जी, लक्ष्मण जी और जानकी जी उनके पास बैठी हुई थीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

तथा सन्नियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं तदा ॥ ३४ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी वहां पहुँचे और माता को प्रणाम कर और हर्षित कर कहने लगे ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः ॥३५॥

हे मा ! पिता जी ने मुझे प्रजापालन कार्य करने की आज्ञा दी है। सो मुझे कल ही पिता की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा ॥ ३५ ॥

सीतयाऽप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमृत्विग्युपाध्यायैः सह मामुक्तवान्पिता ॥ ३६ ॥

आप की वहू सीता को भी चाहिये कि आज रात में मेरे साथ उपवास करें, क्योंकि वशिष्ठादि ऋषियों की सम्मति से पिता जी ने यही कहा है ॥ ३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

सो प्रातःकाल के अभिषेक सम्बन्धी मङ्गल स्नानादि जो कर्म करने हों, जनकनन्दिनी के साथ वे सब मुझसे करवाइये ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षवाष्पकलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

यह सुन कर, चिरकाल से रामराज्याभिषेक की प्रतीक्षा करने वाली कौशल्या, नेत्र में आनन्द के आंसुओं को भर श्रीरामचन्द्र जी से यह बोली ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥३९॥

हे वत्स राम ! तुम चिरञ्जीवी हो । तुम्हारे वैरी नष्ट हों और तुम राजलक्ष्मी पा कर मेरे और सुमित्रा के इष्ट बन्धुओं को हर्षित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे वत नक्षत्रे मयि जातोसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

हे वत्स ! तुम अच्छे नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो जो तुमने अपने गुणों से अपने पिता महाराज दशरथ को प्रसन्न कर लिया ॥४०॥

अमोघं[1] व्रत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

मैंने इतने दिनों तक पुराणपुरुष कमलनयन नारायण के जो व्रतोपवास किये, वे सब आज सफल हुए, जो यह इक्ष्वाकुवंश की राज्यश्री तुमको अब प्राप्त होने वाली है ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं पह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माता को ये बातें सुन, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण जी से, जो हाथ जोड़े विनीत भाव से खड़े थे, मुसक्या कर बोले ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं महाभाग त्वं वसुन्धराम् ।
द्वितीयं मेन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का पालन करो, क्योंकि तुम मेरे एक दूसरे आत्मा हो । इसीसे यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारे पास आयी है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान्राज्यफलानि च ।
जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

हे सौमित्रे ! तुम यथेष्ट रूप से राज्य फल भोगो । मैं तुम्हारे ही लिये अपना जीवन और राज्य चाहता हूँ ॥ ४४ ॥

---

१ अमोघं—सफलं । (गो०)

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।
अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च जगाम स्वं निवेशनम् ॥४५॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से यह कह और दोनों माताओं (अर्थात् कौशल्या और सुमित्रा) को प्रणाम कर और उनसे विदा हो, जानकी सहित अपने गृह में आये ॥ ४५ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चमः सर्गः

—:०:—

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वासिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ राम से यह कह कि, कल तुम युवराज पद पर अभिषिक्त किये जाओगे, पुरोहित वशिष्ठ जी को बुला, उनसे बोले ॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रतम् ॥ २ ॥

हे तपोधन ! आप श्रीरामचन्द्र के पास जा कर उनके मङ्गल, यश और राज्य की प्राप्ति के लिये, उनसे पत्नी सहित, उपवास करने को कहिये ॥ २ ॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदांवरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान्ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

वेद जानने वालों में श्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठ जी "बहुत अच्छा" कह कर स्वयं ही रामचन्द्र जी के घर गये ॥ ३ ॥

उपवासयितुं रामं मन्त्रवन्मन्त्रकोविदः ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुदृढव्रतः ॥ ४ ॥

वशिष्ठ जी महाराज ब्राह्मणों के चढ़ने योग्य (दो घोड़ों के) रथ में बैठ व्रतधारी एवं मन्त्र के जानने वालों में प्रवीण श्रीरामचन्द्र को व्रत कराने के लिये गये ॥ ४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्वेत बादल के समान सफ़ेद रङ्ग के, श्रीरामचन्द्र जी के भवन में वशिष्ठ जी पहुँचे और तीन ड्योढ़ियों तक रथ ही में बैठे हुए चले गये ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमः ।
मानयिष्यन्स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वशिष्ठ जी का आगमन सुन, श्रीरामचन्द्र जी, बड़े हर्ष के साथ अति शीघ्रता से स्वागत करने योग्य मुनिराज का स्वागत एवं अभ्यर्थना करने को, अपने घर से निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणश्च रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥ ७ ॥

और उचित रीति से उनका आदर करने के लिये, शीघ्रता पूर्वक वशिष्ठ जी के पास पहुँच और उनका हाथ पकड़, उनको रथ से स्वयं नीचे उतारा ॥ ७ ॥

स चैनं प्रश्रितं[1] दृष्ट्वा [2]संभाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन्नाममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

तब महर्षि वशिष्ठ जी श्रीरामचन्द्र जी का भाव देख और उनसे कुशल प्रश्न पूँछ, तथा प्रसन्न हो, उनको आनन्दित कर कहने लगे ॥ ८ ॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

हे राम ! तुम्हारे पिता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, कल तुम युवराज पद पाओगे । आज सीता सहित उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्रसन्न हो कर राजा नहुष ने राजा ययाति को राज्य दिया था, उसी प्रकार महाराज दशरथ कल सबेरे युवराज पद पर तुमको अभिषिक्त करेंगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतम् ।
मन्त्रवित्कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः ॥ ११ ॥

यह कह कर वेदमन्त्रवित् मुनिराज ने नियतव्रत श्रीरामचन्द्र और सीता जी से उस रात्रि को उपवास करवाया ॥ ११ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनीतं । (गो०) २ संभाष्य—कुशलप्रश्नंकृत्वा । (गो०)

ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने राजगुरु वशिष्ट जी का भली भाँति पूजन किया। राजगुरु उसे ग्रहण कर और विदा हो, श्रीरामचन्द्र के घर से चले गये ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सुखासीनः प्रियंवदैः ।
सभाजितो[1] विवेशाथ ताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी भी अपने सच्चे इष्टमित्रों के साथ आनन्द से बैठे हुए बातचीत करते रहे और फिर उनसे सम्मानित हो, तथा उन्हीं सब लोगों के कहने से घर के भीतर गये ॥ १३ ॥

प्रहृष्टनरनारीकं रामवेश्म तदा बभौ ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के घर में प्रसन्नचित्त नरनारियों की भीड़ लग गयी और उनके वहाँ एकत्रित होने से रामभवन की वैसी ही शोभा हुई, जैसी शोभा विकसित कमलों से भरे हुए सरोवर की मतवाले पक्षियों से होती है ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्या[2]त्तस्माद्रामनिवेशनात् ।
निःसृत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

वशिष्ठ जी ने राजभवन सदृश श्रीरामभवन से निकल कर देखा कि, सब सड़कें मनुष्यों से ठसाठस भरी हुई हैं ॥ १५ ॥

---

१ सभाजितः—पूजितः । (रा०) २ प्रख्यं—सदृशं । (रा०)

बृन्दबृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।
बभूवुरभिसंबाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्या की चारों ओर की सड़कें श्रीरामचन्द्र के अभिषेकोत्सव को देखने के लिये उत्कण्ठित लोगों की भीड़ से भरी हुई थीं। आने जाने का रास्ता तक नहीं रह गया था ॥ १६ ॥

जनबृन्दोर्मिसङ्घर्षहर्षस्वनवतस्तदा ।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ १७ ॥

मनुष्यों के दल के दल मारे हर्ष के कोलाहल करते हुए सड़कों पर चले जाते थे, उस समय उनका वह आनन्द परिपूर्ण कोलाहल ऐसा जान पड़ता था मानों समुद्र गरज रहा हो ॥ १७ ॥

सिक्तसंमृष्ट[1]रथ्या च तदहर्वनमालिनी ।
आसीदयोध्या नगरी समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन अयोध्यापुरी की सब सड़कें स्वच्छ और छिड़की हुई थीं। उनकी दोनों ओर बड़ी लंबी लंबी पुष्पमालाएँ बन्दनवार की तरह लटक रही थीं और प्रत्येक घर ध्वजापताकाओं से सुशोभित था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालावलो जनः ।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षदुदयं रवेः ॥ १९ ॥

नगरी के स्त्री पुरुष आबालवृद्ध श्रीराम जी का अभिषेक देखने की आकांक्षा से यही चाह रहे थे कि, सूर्य कब उदय हो अर्थात् सबेरा जल्द हो ॥ १९ ॥

---

१ संमृष्टाः—शोधिता । (रा०)

प्रजालङ्कारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥

प्रजा जनों के अलङ्कार रूप और आनन्द को बढ़ाने वाले उस महोत्सव को देखने के लिये सब लोग उत्सुक हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तं जनसंबाधं राजमार्गं पुरोहितः ।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

सड़कों पर लोगों की भीड़ को बचाते हुए धीरे धीरे, राजपुरोहित वशिष्ठ जी राजमहल में पहुँचे ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य सः ।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जी श्वेत मेघ के शिखर के समान महल की अटारी पर चढ़ कर, महाराज दशरथ से वैसे ही मिले, जैसे बृहस्पति जी इन्द्र से मिलते हैं ॥ २२ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।
पप्रच्छ स च तस्मै तत्कृतमित्यभ्यवेदयत् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी को आते देख महाराज अपना आसन छोड़ खड़े हो गये और जिस लिये उनको रामचन्द्र जी के पास भेजा था सो पूँछा । उत्तर में मुनि ने जो वहाँ हुआ था सो सब कह सुनाया ॥२३॥

तेन चैव तदा तुल्यं[1] सहासीनाः सभासदः ।
आसनेभ्यः समुत्तस्थु पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

---

१ तुल्यं—तुल्यकालम् । (रा०)

महाराज के सिंहासन से उठते ही, वहां पर जो दरबारी थे; वे भी उसी समय अपने अपने आसनों को छोड़ उठ खड़े हुए और वशिष्ठ जी का सम्मान किया ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् ।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

गुरु से पूँछ और दरबारियों को विदा कर, महाराज दशरथ अन्तःपुर में उसी प्रकार चले गये जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा में चला जाता है ॥ २५ ॥

तदग्र्यरूपं प्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
विदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसङ्कुलं नभः ॥ २६ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

इन्द्रभवन सदृश गृह में, जो भूषणों से अलंकृत युवतियों से भरा हुआ था, महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और वे वहां ऐसे शोभित हुए जैसे तारानाथ (चन्द्रमा) तारों सहित आकाश मण्डल में सुशोभित होता है ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पांचवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

षष्ठः सर्गः

—: o :—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः[1] ।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या *नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥

उधर वशिष्ठ जी के चले जाने बाद, श्रीरामचन्द्र जी और विशालाक्षी सीता दोनों स्नान कर (अर्थात् शरीर की शुद्धि कर) शुद्ध मन से श्रीरङ्गनाथ की उपासना में लग गये ॥ १ ॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्तदा ।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितेऽनले ॥ २ ॥

हविषपात्र को नमस्कार कर विधि पूर्वक, श्रीरामचन्द्र जी ने श्रीरङ्गनाथ के प्रीत्यर्थ, (अथवा नरायण मंत्र से) जलते हुए अग्नि में घी की आहुतियाँ दीं ॥ २ ॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम्[2] ।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर हवन करने से बचे हुए हविष्यान्न को भक्षण कर, और अपने मङ्गल के लिये प्रार्थना कर और श्री रङ्गनाथ भगवान का ध्यान करते हुए, कुशासन पर, ॥ ३ ॥

वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥

---

१ नियतमानसः—मनःशुद्धिं । (गो०) २ आशास्य प्रार्थ्य । (रा०)
३ आत्मनःप्रियं—राज्याभिषेकाविघ्नरूपं । (रा०)
* नारायणमिति श्रीरङ्गनायकउच्यते । (गो०)

मौन धारण कर, शुद्ध मन से, जानकी जी सहित, राजकुमार श्रीरङ्गनाथ जी के मन्दिर में (जो उनके भवन में बना हुआ था) सो गये ॥ ४ ॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।
अलङ्कारविधिं कृत्स्नं कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥

फिर जब एक पहर रात शेष रही, तब वे उठे और नौकर चाकरों को, सारे भवन को साफ कर, सजाने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

तत्र शृण्वन्मुखा वाचः सूत[1]मागध[2]वन्दिनाम्[3] ।
पूर्वां सन्ध्या[4]मुपासीनो जजाप यतमानसः ॥ ६

सूत, मागध और वंदीजनों की सुखदायक वाणियों को सुनते हुए प्रातःसन्ध्योपासन कर एकाग्रचित्त से गायत्री का जप करने लगे ॥ ६ ॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् ।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास च द्विजान् ॥ ७ ॥

सन्ध्योपासन और जप कर के उन्होंने सूर्यान्तर्वर्ती नारायण की स्तुति कर उनको प्रणाम किया । तदनन्तर नये रेशमी वस्त्र पहन और ब्राह्मणों को बुलवा कर, उनसे स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन करवाया ॥ ७ ॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तदा ।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥

---

१ सूताः—पौराणिकाः । (रा०) २ मागध—वंशावलीकीर्तकाः । (रा०)
३ बन्दिनः—स्तुतिपाठकाः । (रा०) ४ सन्ध्या—सन्ध्याधिदेवतां सूर्यं । (गो०)

ब्राह्मणों के पुण्याहवाचन का गम्भीर एवं मधुर शब्द, नगाड़ों के शब्द से मिल अयोध्या में प्रतिध्वनित होने लगा ॥ ८ ॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् ।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासी जन, सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को (अभिषेकार्थ) उपवासादि नियमों का पालन करते हुए सुन, परमानन्दित हुए ॥ ९ ॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥

जब प्रातःकाल हो गया, तब सब पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक सुन, नगर सजाने के लिये कदली स्तम्भादि गाड़ने लगे ॥ १० ॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च ।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥ ११ ॥

अयोध्या में जितने बड़े हिमालय के शिखरों के समान ऊँचे ऊँचे देवमन्दिर थे व जितने चौराहों पर, चौक (हाट बाट) में, सड़कों पर और गलियों में ऊँचे ऊँचे मकान थे ॥ ११ ॥

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।
कुटुम्बिनां समृधेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥ १२ ॥

तथा अनेक प्रकार की सौदागरी की वस्तुओं से भरी व्यवसाइयों की जितनी दूकानें थीं, जितने कुटुम्बीजनों के समृद्ध और भरे पूरे घर थे ॥ १२ ॥

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।
ध्वजाः समुच्छ्रिताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा ॥१३॥

तथा जितने सभाभवन थे, तथा जितने ऊँचे ऊँचे वृक्ष थे, न सब पर रंग बिरंगी ध्वजा पताकाएँ फहराने लगीं ॥ १३ ॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् ।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्रुवुश्च ततस्ततः ॥ १४ ॥

अयोध्या में जगह जगह नट नर्तकों का मन को प्रसन्न करने वाला और कर्ण-मधुर गाना बजाना होने लगा और लोग सुनने लगे ॥ १४ ॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः ।
रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

उस दिन हाट बाट, घर द्वार, भीतर बाहर, जहाँ सुनो वहीं लोग श्रीरामाभिषेक ही की आपस में चर्चा करते सुन पड़ते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।
रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेव मिथः कथाः ॥ १६ ॥

घरों के द्वारों पर खेलती हुई बालकों की टोलियों में भी आपस में श्रीरामाभिषेक ही की चर्चा हो रही थी ॥ १६ ॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।
राजमार्गः कृतः श्रीमान्पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

उस दिन रामाभिषेक के उपलक्ष में (राज्य की ओर ही से नहीं, बल्कि प्रजा की ओर से भी) लोगों ने पुष्प, धूप और तरह

तरह की सुगन्ध से वासित कर राजमार्ग को अच्छी तरह सजाया था ॥ १७ ॥

प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

यह विचार कर कि, कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के जलूस के उधर से निकलते समय कहीं रात न हो जाय—लोगों ने रोशनी करने के लिये सड़कों पर अलग अलग सर्वत्र दीपवृक्ष अर्थात् पनशाखाएँ गाड़ रखी थीं या झाड़ फनूस टाँग रखे थे ॥ १८ ॥

अलङ्कारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः ।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार नगर को सजा कर नगरवासी श्रीरामचन्द्र जी के युवराजपद पर अभिषेक किये जाने की प्रतीक्षा करने लगे ॥ १९ ॥

समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

झुण्ड के झुण्ड लोग एकत्र हो चबूतरों पर और बैठकों में बैठ, आपस में महाराज दशरथ की चर्चा चला उनकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ २० ॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
ज्ञात्वा यो वृद्धमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२१॥

वे कहते थे कि, अहो ! देखो, इक्ष्वाकु-कुलनन्दन महाराज दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो अपने को वृद्ध हुआ जान, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक (स्वयं) कर रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

हम सब लोगों पर (महाराज ने) यह बड़ा अनुग्रह किया जो श्रीरामचन्द्र हम लोगों के राजा हो रहे हैं । भगवान् बहुत दिनों तक अपनी प्रजा का सब हाल जानने वाले और प्रजारक्षक श्रीरामचन्द्र को हम लोगों का राजा बनाये रखें ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान्धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥२३॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी सरल स्वभाव, परमविज्ञ, धर्मात्मा, और भाइयों पर कृपा रखने वाले हैं। वे अपने भाइयों पर सरल स्वभाव से जैसा स्नेह रखते हैं, वैसा ही स्नेह उनका हम लोगों के ऊपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

पापरहित और धर्मात्मा महाराज दशरथ की बड़ी उम्र हो। उन्हींके अनुग्रह से आज हम श्रीरामचन्द्र को राज्याभिषिक्त देख सकेंगे ॥ २४ ॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुस्तदा ।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥२५॥

रामराज्याभिषेक का संवाद सुन जो लोग बाहिर से आ कर अयोध्या में एकत्र हुए थे, उन लोगों ने पुरवासियों की कही हुई येबातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे लोग चारों ओर के देशों से श्रीराम जी की अयोध्यापुरी में श्रीरामाभिषेकोत्सव देखने को आये थे । उन बाहिरी लोगों के आगमन से अयोध्यापुरी में बड़ी भारी भीड़ हो गयी थी ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ २७ ॥

पूर्णमासी के दिन जिस प्रकार समुद्र गरजता है, उसी प्रकार का कोलाहल, आज अयोध्यापुरी में, बाहिर से आये हुए और चलते फिरते हुए लोग सुन रहे थे ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपागतैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

उस दिन अमरावती के समान अयोध्यापुरी को देखने के लिये जो लोग बाहिर से आये हुए थे, उन लोगों से उस पुरी की शोभा वैसी ही हो गयी जैसी शोभा समुद्र की जलजन्तु (मत्स्य, कच्छ, नक्र) से होती है ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

स सर्गः

ज्ञातिदासी[1] यतोजाता[2] कैकेय्यास्तु सहोषिता ।
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥

रानी कैकेयी की जाति की एक दासी थी जो उसके साथ उसके मायके से आयी थी और सदा उसके साथ रहती थी। (और जिसका नाम मन्थरा था, उस रात को, जिस दिन दरबार में श्रीरामचन्द्र जी के युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने की घोषणा महाराज दशरथ ने की थी) वह अकस्मात् चन्द्रमा के समान सफेद अटारी की छत पर चढ़ी ॥ १ ॥

सिक्तराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥

उस अटारी पर चढ़ मन्थरा ने देखा कि, अयोध्या की सड़कों पर छिड़काव किया गया है और जगह जगह कमलपुष्पों की मालाएँ लटक रही हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वराहार्हाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् ।
वृतां छन्नपथैश्चापि शिरःस्नातजनैर्वृताम् ॥ ३ ॥

---

१ ज्ञातिदासी—कैकेयाः ज्ञातीनां बन्धूनां दासी ॥ (वि०) २ यतो-जाता—यत्रकुत्रचित् जाता । (वि०)

ऊँचे मकानों पर बहुमूल्य ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं। सड़कों के गड्ढे आदि पाट कर, वे चौरस कर, दी गयी हैं, लोगों के आने जाने में भीड़भाड़ न हो, अतः बड़े चौड़े चौड़े रास्ते बनाये गये हैं, जो सिर से स्नान किये हुए (अर्थात् तेल उपटन लगा कर स्नान किये हुए) दर्शकों से भरे हुए हैं ॥ ३ ॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनिस्वनाम् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को भेंट में देने के लिये माला लड्डू (आदि शुभ वस्तुएँ) लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण घूम रहे हैं । देवमन्दिरों के द्वार (कलई आदि से) सफेद पोते गये हैं; जहाँ देखो वहाँ बाजे बज रहे हैं ॥ ४ ॥

संमहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषाभिनादिताम् ।
[1]प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

सब लोग उत्सव में मत्त हैं, चारों ओर वेदध्वनि हो रही है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या, हाथी, घोड़े, गौ, बैल तक आनन्द में भर हर्षध्वनि कर रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रहृष्टमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् ।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

अयोध्यावासी आनन्दमग्न हो घूम रहे हैं। बड़ी बड़ी लंबी पताकाएँ फहरा रही हैं और मालाएँ बँधी हुई हैं। इस प्रकार

---

१ प्रहर्षोत्फुल्लनयनैर्मित्यादिविशेषणाद्विचरानोपमाता । (भू०)

की सजी हुई अयोध्यापुरी को देख मन्थरा को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

महर्षेात्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् ।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

अति हर्षित और सफेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए श्रीरामचन्द्र की धात्री (उपमाता) से, जो पास ही खड़ी थी, मन्थरा पूँछने लगी ॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती ।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः संप्रयच्छति ॥ ८ ॥

आज हर्ष में भरी मालदार सती राममाता कौशल्या लोगों को धन क्यों बाँट रही है ? ॥ ८ ॥

अतिमात्रमहर्षोऽयं किं जनस्य च शंस मे ।
कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासियों के अत्यानन्दित होने का कारण क्या है ? महाराज भी अत्यन्त प्रसन्न है—सो वे क्या काम करवाने वाले हैं ? ॥ ९ ॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा ।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवश्रियम् ॥ १० ॥

मन्थरा के इस प्रकार पूँछने पर वह धात्री जो मारे आनन्द के फूल कर कुप्पा हो गयी थी, श्रीरामचन्द्र की महती राज्यश्री लाभ का समाचार कुबड़ी मन्थरा से कहने लगी ॥ १० ॥

श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम् ।
राजा दशरथो राममभिषेचयितानघम् ॥ ११ ॥

उसने कहा कल प्रातःकाल होते ही पुष्य नक्षत्र में जितक्रोध एवं पुण्यात्मा श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ युवराजपद पर स्थापित करेंगे ॥ ११ ॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता ।
कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

धात्री के ये वचन सुन कुबड़ी डाह में भर कैलास पर्वत के शिखर के समान ऊँचे महल से उतरी ॥ १२ ॥

सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी ।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

वह पापिन क्रोध में जली भुनी (शयनागार में जा कर) सोती हुई कैकेयी (को जगा कर उस) से बोली ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ मूढ़े किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुत[1]मघौघेन[2] किमात्मानं न बुध्यसे ॥ १४ ॥

हे मूढ़े ! उठ, पड़ी पड़ी क्या सोती है ? तेरे लिये तो बड़ा भारी भय आ उपस्थित हुआ है । क्या तू अपने दुःख को भी नहीं समझती ॥ १४ ॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं[3] हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोल्बणे ॥१५॥

---

१ उपप्लुतं—उपहतं । (गो०) २ अघौघेन—सर्वं दुःखं । (गो०)
३ चलं—क्षीणमित्यर्थः । (गो०)

हे सुन्दरी ! तू अपने जिस सौभाग्य के वल पर भूली हुई है, वह तेरा भाग्य ग्रीष्म ऋतु में नदी के सोते की तरह अव क्षीण हो चला है ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ॥ १६ ॥

पापिन कुब्जा के क्रोध से भरे ऐसे रूखे वचन सुन कैकेयी को वड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥१७॥

कैकेयी ने उससे कहा—हे मन्थरे ! वतला कुशल तो है ? तूने क्यों अपना चेहरा इतना उदास कर रखा है और तू क्यों इतनी दुखी हो रही है ? ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥

कैकेयी के ऐसे सहानुभूतिपूर्ण वचन सुन, वात कहने में निपुण मन्थरा ने विगड़ कर कहा ॥ १८ ॥

सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्या हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

उसने अपना चेहरा वड़ा ही उदास वना कर और अपने को कैकेयी की परमहितैषिणी जनाते हुए तथा श्रीरामचन्द्र जी के विषय में भेदबुद्धि उत्पन्न कर, झगड़ा कराने को कहा ॥ १९ ॥

अक्षय्यं सुमहद्देवि मद्दत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

हे देवी ! अब तुम्हारे सत्यानाश का समय आ पहुँचा है। देखो, महाराज दशरथ रामचन्द्र को युवराज बनाया चाहते हैं ॥ २० ॥

साऽस्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानाऽनलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

सो मैं अथाह भय में डूबी और दुःख एवं शोक से पूर्ण, मानों आग से जलाई हुई, तेरे हित के लिये यहां आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदत्र न संशयः ॥ २२ ॥

हे कैकेयी ! तेरे दुःख से तो मैं दुःखी होती हूँ और तेरे सुख से मैं सुखी होती हूँ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥

देख, तू बड़े राजकुल की बेटी है, और महाराज दशरथ की पटरानी हो कर भी राजनीति की कुटिल चालें क्यों नहीं समझती ॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता ॥ २४ ॥

तेरा पति दिखाने को तो बड़ा सत्यवादी बना हुआ है, किन्तु भीतर से महा धूर्त है। वह बोलता मधुर है, किन्तु मन उसका

बड़ा कठोर है। तू मन की साफ है—इसीसे तेरे ऊपर यह विपत्ति आयी है ॥ २४ ॥

उपस्थितं प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥

महाराज जब तेरे पास आते हैं, तब झूँठी बातें बना और समझा बुझा कर तुझे अपने वश में कर लेते हैं। परन्तु देख, महाराज, कौशल्या ही के पुत्र को सर्वस्व दे कर, उसे ही सब की स्वामिनी बनाना चाहते हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥

देखो उस दुष्टात्मा ने भरत को तो तुम्हारे माता पिता के घर भेज दिया और वह (अब) निष्कण्टक राजसिंहासन पर कल प्रातःकाल श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना चाहता है ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिहृतस्त्वया ॥ २७ ॥

तूने पति के धोखे से अपने शत्रु को वैसे ही अपनी गोद में बिठा रखा है, जैसे कोई स्त्री (पुत्र के धोखे से) सर्प को गोद में रख ले ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्यात्सर्पो वा शत्रुर्वा मत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

जिस प्रकार सर्प वा शत्रु की उपेक्षा करने वाले पालन कर्त्ता के साथ सर्प शत्रुव्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार आज दशरथ ने तेरे और तेरे पुत्र के साथ किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यसुखोचिते ।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥२९॥

इस पापी झूठमूठ समझाने बुझाने वाले राजा ने, रामचन्द्र को राजसिंहासन पर बिठा कर, पुत्रबान्धवादि सहित तुझे, जो नित्य सुख भोगने योग्य है, मानों मार डाला है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मय[1]दर्शने ॥ ३० ॥

हे अजीव बुद्धि वाली! ऐसी विपत्ति पूर्ण घटना को सुन कर भी उपेक्षा सी करने वाली ऐ कैकेयी! देख अब भी समय है। अतएव जो कुछ तुझे अपनी भलाई के लिये करना हो सो तुरन्त कर डाल और अपने पुत्र को, अपने को और मुझे बचा ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना ।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थरा के वचन सुन, सुन्दरी कैकेयी शरत्कालीन चन्द्रमा की वह हर्ष में भर, शय्या से उठ बैठी ॥ ३१ ॥

अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।
एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

और अत्यन्त हर्षित और आश्चर्ययुक्त हो, कैकेयी ने अपना एक बहुमूल्य उत्तम गहना, कुब्जा को दिया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।
कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥

---

१ विस्मयदर्शने—आश्चर्यावहज्ञानयुक्ते । (गो०)

अयोध्याकाण्ड

रानी कैकेयी और मंथरा

युवतियों में श्रेष्ठ कैकेयी, अपना आभूषण मन्थरा को दे कर और उसकी ओर देख कर उससे बोली ॥ ३३ ॥

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यासि परमं प्रियम् ।
एतन्मे प्रियमाख्यातं भूयः किं वा करोमि ते ॥ ३४ ॥

हे मन्थरे ! यह तो तूने बड़े ही हर्ष का समाचार सुनाया। इस सुखसंवाद को सुनाने के बदले, बतला और मैं तेरा क्या उपकार करूँ ? अर्थात् और क्या दूँ ॥ ३४ ॥

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥३५॥

मैं राम और भरत में कोई विशेष भेद नहीं देखती—अतः महाराज यदि श्रीरामचन्द्र को राज्य देते हैं, तो मुझे उनके इस कार्य से सन्तोष है ॥ ३५ ॥

न मे परं किञ्चिदितस्त्वया पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचो वरम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं ।
परं वरं ते ददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हे प्रिये ! इस (रामराज्याभिषेक सूचक) वचन—रूपी अमृत से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु मुझे प्रिय नहीं है। अतएव (इस पारितोषिक के अतिरिक्त) और जो कुछ तू माँगे सो कह, अभी तुझे मैं देती हूँ ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

अष्टमः सर्गः

—:*:—

मन्थरा त्वभ्यसूयैनामुत्सृज्याभरणं च तत् ।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

कैकेयी का यह वचन सुन और अनादर के साथ उस आभूषण को फेंक कर मन्थरा बड़े क्रोध और दुःख के साथ कहने लगी ॥ १ ॥

हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे ।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

हे मूर्खे ! तू शोक की जगह हर्षित क्यों होती है ? क्या तुझे यह नहीं सूझ पड़ता कि, तू शोकसागर में डूबी जा रही है ॥ २ ॥

मनसा प्रहसामि त्वां देवि दुःखर्दिता सती ।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्येदं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

मुझे तो मन ही मन तेरी बुद्धि पर हँसी आती है कि, अत्यन्त दुःखी होने का कारण उपस्थित होने पर भी तू शोक न कर, प्रसन्न हो रही है ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत् ।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥

मुझे तेरी दुर्बुद्धि पर तरस आता है, क्या कोई भी समझदार स्त्री अपनी सौत के पुत्र की, अपने लिये मृत्यु के समान उन्नति देख, प्रसन्न हो सकती है ? ॥ ४ ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम् ।
तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार राज्य पर रामचन्द्र का स्वत्व है, उसी प्रकार भरत का भी है। इसीलिये राम को भरत का डर है और यह ठीक भी है, क्योंकि जो जिससे डरता है, उसको उसका डर रहता ही है। मुझे यही सोच कर बड़ा खेद है। (क्योंकि जब राम राजा होंगे, तब वे अपने भय के कारण भरत को अवश्य ही दूर कर देंगे अर्थात् मरवा डालेंगे) ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महेष्वासो रामं सर्वात्मना गतः ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

(राम को भरत ही का इतना भारी खटका क्यों है ? लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी तो राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं ? इसके समाधान में मन्थरा कहती है) लक्ष्मण जी सब प्रकार से श्रीरामचन्द्र के अनुवर्ती अर्थात् आज्ञाकारी हैं अर्थात् लक्ष्मण चूं नहीं कर सकते)। शत्रुघ्न जी उसी प्रकार भरत के सर्वथा अनुवर्ती है जिस प्रकार लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के। (अतः जब भरत जी को श्रीराम मारेंगे तब शत्रुघ्न भी उनका साथ देने पर अवश्य मारे जायंगे। अतः श्रीरामचन्द्र जी के प्रतिस्पर्धी केवल भरत हैं) ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि ।
राज्यक्रमो विप्रकृष्टस्तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

फिर उत्पत्ति के क्रमानुसार भरत ही को राज्य मिलना चाहिये। यदि राज्यक्रम का त्याग किया जाय तो, इस क्रम से भी राज्य भरत ही को मिलना उचित है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः[1] ।
भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी राजनीति-विशारद हैं । परम चतुर तथा समयानुसार तुरन्त कार्य करने वाले हैं। अतः भरत को रामचन्द्र जी से भय समझ—मैं भयभीत हो काँप रही हूँ। (अर्थात् राम चतुर हैं और भरत बुद्धू हैं, अतः भरत को राम सहज में पराजित कर सकते हैं ।) ॥८ ॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

इस समय तो कौशल्या का भाग्य जागा है, जिसके पुत्र रामचन्द्र का युवराजपद पर प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र में ब्राह्मण लोग अभिषेक करवावेंगे ॥ ९ ॥

प्राप्तां सुमहतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम् ।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः ॥१०॥

तुझे उस कौशल्या के सामने, जो सब पृथिवी की स्वामिनी होगी, और जिसके सब शत्रु मारे जायँगे, हाथ जोड़ कर दासी की तरह खड़ा रहना पड़ेगा ॥ १० ॥

एवं चेत्त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति ॥ ११ ॥

---

१ प्राप्तिकारिणः—अविलंबेनकालोचितकर्तव्यार्थकारिणः । (गो०)

इस तरह केवल तू ही नहीं प्रत्युत तेरी अधीन रहने वाली मुझे भी कौशल्या की दासी और भरत को राम का टहलुआ बन जाना पड़ेगा ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये[1] ॥ १२ ॥

इससे राम जी की स्त्री तथा उसकी सखियाँ परमानन्दित होंगी और भरत को राज्य न मिलने से अथवा उनका प्रभाव नष्ट होने पर तेरी पुत्रवधू को भी बड़ा दुःख होगा ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः ।
रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थरा को इस प्रकार बड़ी प्रसन्नता के साथ ऐसे वचन कहते (अर्थात् राम की निन्दा करते) हुए देख, देवी कैकेयी श्रीरामचन्द्र के गुणों का बखान कर कहने लगी ॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुरुभिर्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र अत्यन्त धर्मज्ञ, गुरुओं से सुन्दर शिक्षा पाये हुए, बड़े कृतज्ञ, सत्यवादी, परम पवित्रता से रहने वाले और महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। अतएव सब प्रकार से वे ही यौवराज्य पाने के योग्य हैं ॥ १४ ॥

भ्रातॄन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति ।
सन्तप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

---

१ भरतक्षये—भरतप्रभावनाशे । (रा०)

रामचन्द्र दीर्घायु हों, वे अपने भाइयों और नौकर चाकरों का वैसे ही पालन करेंगे जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन करता है। अतएव हे मन्थरे! तू रामचन्द्र के अभिषेक का समाचार सुन, क्यों जली भुनी जा रही है? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् ।
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्नुयात्पुरुषर्षभः ॥ १६ ॥

भरत भी श्रीरामचन्द्र जी के राजसिंहासन पर बैठने के सौ वर्ष बाद अवश्य अपने पितृपितामहादिकों का राज्य पावेंगे ॥ १६ ॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते वर्तमाने च मन्थरे ।
भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ॥ १७ ॥

हे मन्थरे! तू इस उत्सव के समय जिससे सब का कल्याण होगा, क्यों जली जाती है? ॥ १७ ॥

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रूषते हि माम् ॥१८॥

मुझको जैसे भरत प्यारे हैं, वैसे ही राम भी हैं। वे तो कौशल्या से बढ़ कर मेरी ही सेवा शुश्रूषा करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्तथा ।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥ १९ ॥

यदि राम ही राज्य पावेंगे तो भी वह राज्य भरत ही का है, क्योंकि रामचन्द्र अपने समान ही अपने भाइयों को भी मानते हैं ॥ १९ ॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

कैकेयी की ये बातें सुन मन्थरा बहुत दुःखी हुई और लंबी साँस ले कैकेयी से यह बोली ॥ २० ॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

अनर्थ का अर्थ समझने वाली अरी मूर्खा ! शोक के महासागर में बूड़ती हुई भी तू अपने को नहीं समझती ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्यानु यः सुतः ।
राजवंशात्तु कैकेयी भरतः परिहास्यते ॥ २२ ॥

जब रामचन्द्र राजा होंगे तब उनके पीछे उनका पुत्र राजा होगा (या भरत ?) भरत तो राज्य से वञ्चित ही रहेंगे । अथवा भरत राजवंश से भ्रष्ट हो जायंगे ॥ २२ ॥

न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

राजा के सब पुत्र कहीं राजसिंहासन पर नहीं बैठते, और यदि कहीं बैठाये जाते होते तो बड़ा अनर्थ होता ॥ २३ ॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

हे कैकेयी ! इसी लिये राजा लोग बड़े पुत्र को राज्यशासन का भार सौंपते हैं । (हाँ उस दशा में जब बड़ा बेटा गुणवान

नहीं होता और) छोटा बेटा गुणवान् होता है तो वह भी राजा होता है। किन्तु राज्य दिया एक ही को जाता है ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

(सो राम के राजा होने पर) तेरा पुत्र भरत सब प्रकार से सब सुखों से वञ्चित हो, अनाथ दुःखियों की तरह राजवंश से अलग कर दिया जायगा ॥ २५ ॥

साऽहं त्वदर्थं संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुध्यसे ।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमिच्छसि ॥ २६ ॥

अतः मैं तो तुझे तेरी भलाई बतलाने के लिये आयी हूँ, किन्तु तू कुछ समझती बूझती ही नहीं । यदि तू समझती बूझती होती तो क्या सौत की बढ़ती सुन, मुझे गहना पुरस्कार में देती ? ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
देशान्तरं वा नयिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

मैं यह निश्चय पूर्वक कहती हूँ कि, राम अकण्टक राज्य पा कर, भरत को या तो देश निकाला देंगे अथवा उनको जान ही से मार डालेंगे ॥ २७ ॥

बाल एव हि मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया ।
सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ॥ २८ ॥

पास रहने से पेड़ादि स्थावर पदार्थों पर भी लोगों को ममता हो जाती है—सो तूने तो भरत को लड़कपन ही से ननिहाल भेज

दिया है (अर्थात् स्नेह पास रहने से होता सो भरत तेरे पास रहे नहीं—अतः तुझे भरत की ममता है ही नहीं) ॥ २८ ॥

भरतस्याप्यनुवशः शत्रुघ्नोऽपि समागतः ।
लक्ष्मणश्च यथा रामं तथासौ भरतं गतः ॥ २९ ॥

साथ साथ रहने के कारण ही शत्रुघ्न भी भरत के साथ चले गये। क्योंकि जैसे लक्ष्मण राम के अनुयायी हैं वैसे ही शत्रुघ्न भरत के अनुयायी हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीविभिः ।
सन्निकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद्भयात् ॥ ३० ॥

सुना है कि, कोई वृक्ष था जिसे वनजारे काटना चाहते थे। समीपवर्ती होने के कारण उसे इषीका नाम के काँटेदार पेड़ों ने बचाया था (किन्तु तुमने अपना पुत्र न बचाया) ॥ ३० ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण, राम की रक्षा करेंगे और रामचन्द्र लक्ष्मण की। इन दोनों का भ्रातृत्व अर्थात् प्रीति, अश्विनीकुमारों की तरह प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किञ्चित्करिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः ॥ ३२ ॥

अतएव रामचन्द्र लक्ष्मण का कभी कुछ भी अनिष्ट न करेंगे। किन्तु भरत का अनिष्ट करने में वे कभी न चूकेंगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (अर्थात् रामचन्द्र भरत को मारे बिना न रहेंगे।) ॥ ३२ ॥

तस्माद्राजगृहाद्देवि वनं गच्छतु ते सुतः ।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

इसलिये मेरी समझ में तो इसीमें तुम्हारी भलाई है कि, भरत जी ननिहाल से भाग कर, वन में चले जांय। (क्योंकि मारे जाने की अपेक्षा तो वन में रहना ही अच्छा है। यदि जीते रहे तो कभी दिन बहुरेंगे ही। मन्थरा का यह व्यङ्ग वचन है) ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति ।
यदि चेद्भरतो धर्मात्पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

और यदि कहीं भरत धर्म से अपने पिता का राज्य पावें, तो इससे तुम्हारे भाई बंदो का भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः ।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

भरत केवल तुम्हारे सुख के लिये ही बालक हैं, किन्तु राम के वे स्वाभाविक शत्रु हैं। अतः जब राम की बढ़ती होगी, तब भरत उनके वश में पड़ कैसे जीवेंगे ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम् ।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

हे कैकेयी! इसलिये तू सिंह से झपटे हुए हाथियों के यूथपति (मुखिया) की तरह रामचन्द्र से भयभीत भरत की रक्षा कर ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया ।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥ ३७ ॥

तू अपने सौभाग्य के अभिमान में भर पहले जो जो दुर्व्यवहार कौशल्या के साथ कर चुकी है, उन सब का बदला राममाता कौशल्या (राम के राजा होने पर) क्या तुझसे न लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
प्रभूतरत्नाकरशैलपत्तनाम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

हे भामिनी ! समुद्र, पर्वत और नगरों सहित पृथिवी का राज्य जब श्रीरामचन्द्र जी पावेंगे, तब (याद रख) तू अपने पुत्र भरत के सहित अनादर की यातना पावेगी अर्थात् तुझे और तेरे पुत्र भरत को पद पद पर अनादर की यातना भुगतनी पड़ेगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।
अतो हि सञ्चिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवाद्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

यह भी याद रख कि, राम के राज्य पाने पर भरत निश्चय ही मारे जायँगे । इसलिये जैसे बने वैसे ऐसा कोई उपाय कर, जिससे राम वन में निकाले जायं और भरत राज्य पावें ॥ ३९ ॥

अयोध्याकाण्ड का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

नवमः सर्गः

—: o :—

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलिताननाः ।
दीर्घमुष्णं विनिश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब मन्थरा ने कैकेयी को इस प्रकार पट्टी पढ़ायी, तब मारे क्रोध के कैकेयी का मुख लाल हो गया । वह दीर्घ स्वांस ले मन्थरा से बोली ॥ १ ॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।
यौवराज्ये च भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये ॥ २ ॥

मैं आज ही राम को तुरन्त वन में भेजती हूँ और झटपट भरत का युवराजपद पर अभिषेक करवाती हूँ ॥ २ ॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

हे मन्थरे ! अब इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले और राम को किसी प्रकार न मिले ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिन मन्थरा, रामचन्द्र जी का सर्वनाश करने को कैकेयी से बोली ॥ ४ ॥

हन्तेदानीं प्रवक्ष्यामि कैकेयि श्रूयतां च मे ।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

हे कैकेयी ! सुन मैं तुझे अभी यह उपाय बतलाये देती हूँ जिससे केवल तेरे पुत्र भरत ही को राज्य मिले ॥ ५ ॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे ।
यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

हे कैकेयी ! तूने जो बात मुझसे कई बार कही है, उसे क्या तू भूल गयी या मुझसे कहलाने के लिये ही तू उसे छिपा रही है ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चापि विमृश्यताम् ॥७॥

ऐ यथेच्छ विलासिनि ! यदि यह बात मेरे मुँह से सुनने की तेरी इच्छा है, तो सुन, मैं कहती हूँ और सुन कर वही तू कर ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।
किञ्चिदुत्थाय शयनात्संस्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

मन्थरा के ये वचन सुन कैकेयी अपनी सेज से कुछ उठ कर बोली ॥ ८ ॥

कथय त्वं ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

हे मन्थरे ! जिस उपाय से भरत तो राज्य पावें, और राम को किसी प्रकार प्राप्त न हो—वह उपाय मुझे बतला ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तया देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कुब्जा वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिनी मन्थरा, राम का सर्वनाश करती हुई कहने लगी ॥ १० ॥

पुरा दैवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥

एक समय जब तुम्हारे पति देवासुर संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गये थे, तब तुझे भी अपने साथ ले गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान्प्रति ।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥

हे कैकेयी ! दक्षिण में दण्डक वन के पास वैजयन्त नामक एक पुर था, वहां के राजा तिमिध्वज थे ॥ १२ ॥

स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

वे सैकड़ों माया जानते थे और शम्बर के नाम से विख्यात थे और उन्हें देवता नहीं जीत सके थे। उन्होंने इन्द्र के साथ युद्ध छेड़ा ॥ १३ ॥

तस्मिन्महति संग्रामे पुरुषान्क्षतविक्षतान् ।
रात्रौ प्रसुप्तान्घ्नन्ति स्म तरसाऽऽसाद्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

उस महा संग्राम में जो लोग, क्षत विक्षत अर्थात् घायल होते थे, उनको रात को सोते समय बिस्तरों पर से खींच कर जबरी राक्षस ले जाते थे और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा ।
असुरैश्च महावाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः[1] ॥ १५ ॥

वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया। राक्षसों ने भी महाराज को बहुत घायल कर डाला। अर्थात् सारा शरीर छेद डाला ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

जब राजा मूर्च्छित हो गये, तब तू रणक्षेत्र से उनको बाहिर ले आयी और जब वहाँ भी उन पर प्रहार होने लगे तब बड़े यत्न से तूने अपने पति की रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ ॥ १७ ॥

हे शुभदर्शने ! उस समय तेरे पति ने (महाराज दशरथ ने) तुझ पर प्रसन्न हो, तुझको दो वर दिये और कहा जो इच्छा हो ॥ १७ ॥

गृह्णीयामिति तत्तेन तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा ॥ १८ ॥

सो माँग। तब तूने कहा था कि, अच्छा जब आवश्यकता होगी माँग लूँगी। मैं तो ये सब बातें जानती न थी, तू ही ने वहाँ से लौट कर मुझे बतलायी थीं ॥ १८ ॥

---

१ शकलीकृतः—सर्वाङ्गेषुविक्षतः (रा०)

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

तेरी प्रीति के अनुरोध से ये बातें मैंने अपने मन में रख छोड़ी थीं। अब तू आग्रह पूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियों को रुकवादे ॥ १९ ॥

तौ वरौ याच भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश ॥ २० ॥

और उन वरों में से, एक से तू भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से श्रीरामचन्द्र जी का १४ वर्ष के लिये वनवास माँग ले ॥२०॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः[1] स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

इन चौदह वर्षों में जब तक रामचन्द्र वनवास में रहेंगे, तब तक सब प्रजा जनों का तुम्हारे पुत्र के प्रति अनुराग बढ़ जाने से, तुम्हारे पुत्र का राज्य अटल हो जायगा ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां[2] त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

हे अश्वपति की बेटी ! (इन वरों को पाने के लिये) तू अभी मैले कपड़े पहिन कर, बिना बिछौने बिछाये और कोपभवन में जा कर, क्रुद्ध हो ज़मीन पर लेट जा ॥ २२ ॥

---

१ प्रजाभावगतस्नेहः—प्रजानां भावंअभिप्रायं गतःप्राप्तः स्नेहोयस्य सतथोक्तः । (गो०) २ अव्यवहितायाम्—आन्तरवस्त्ररहितायाम् । (शि०)

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदती चापि तं दृष्ट्वा जगत्यां[1] शोकलालसा[2] ॥ २३ ॥

जब महाराज दशरथ आवें तब तू न तो उनकी ओर देखना और न कुछ बातचीत करना—केवल शोकातुर हो रोती हुई; ज़मीन पर लोटा करना ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि, अपने पति को तू बहुत ही प्यारी है—यहां तक कि, वे तेरे लिये आग में भी कूद सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ न तो तुझे क्रुद्ध कर सकते हैं और न क्रुद्ध देख ही सकते हैं । इतना ही नहीं, बल्कि वे तेरे लिये अपने प्राण तक दे सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे[3] बुद्ध्यस्व सौभाग्यबल[4]मात्मनः ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ तेरा कहना कभी नहीं टाल सकते । हे आलसिन ! ज़रा अपने सौन्दर्य के बल की परीक्षा तो कर देख ॥ २६ ॥

---

१ जगत्यां—भूमौ । (शि०) २ शोकलालसा—शोकव्याप्ते । (शि०) ३ मन्दस्वभावे—अलसस्वभावे । (गो०) ४ सौभाग्यबलं—सौन्दर्यबलं । (गो०)

मणिमुक्तासुवर्णं च रत्नानि[1] विविधानि च ।
दद्याद्दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

परन्तु (स्मरण रखना) जब महाराज कितनी ही मणियाँ, मोती, सोना, और तरह तरह की बहुमूल्य वस्तुएँ देना चाहें तब तू कहीं लोभ में मत फँस जाना ॥ २७ ॥

यौ तौ दैवासुरे युद्धे वरौ दशरथोऽददात् ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो मा त्वामतिक्रमेत् ॥२८॥

किन्तु जो दो वरदान महाराज ने तुझे देवासुर संग्राम में देने कहे हैं, तू उन्हींका उन्हें स्मरण कराना और अपना काम निकालने के लिये भली भाँति यत्न करना, भूलना मत ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य[2] महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥

जब महाराज दशरथ, स्वयं तुझे भूमि से उठा कर वरदान देने को उद्यत हों तब उनको सौगन्द खिला कर (अर्थात् सत्य-पाश से जकड़ कर) ये वर माँगना कि, ॥ २९ ॥

रामं प्रव्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः ॥ ३० ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! रामचन्द्र को १४ वर्ष के लिये वन में भेजो और भरत को पृथिवी का राजा करो । अर्थात् भरत को राज्य दो ॥ ३० ॥

---

१ रत्नानि—श्रेष्ठवस्तूनि । (गो०) २ व्यवस्थाप्य—शपथैः सत्यै स्थापयित्वा । (रा०)

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च[1] कृतमूलश्च[2] शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

रामचन्द्र के चौदह वर्ष तक वन में रहने से भरत का राज्य दृढ़ हो जायगा (अर्थात् प्रजा जनों के मन पर वे अपना प्रभाव जमा लेंगे) और सदा भरत जी ही राजा बने रहैंगे अर्थात् भरत के राज्य को जड़ जम जायगी ॥ ३१ ॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव भामिनी ॥ ३२ ॥

हे भामिनी ! तू दशरथ से राम का वनवास माँग—इसीसे तेरे पुत्र के सब काम बन जायंगे ॥ ३२ ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च *हतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

(इतने दीर्घकाल तक) वनवासी होने पर राम की प्रीति लोगों के मन से निकल जायगी और फिर प्रजा उनको न चाहेगी और भरत जी का कोई शत्रु भी न रह जावेगा और वे शत्रु रहित राजा होंगे । (अर्थात् अबाधित राज्य मिलेगा) ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति ।
तेन कालेन पुत्रस्ते रूढमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

---

१ रूढः—प्रसिद्धः । (गो०) २ कृतमूलः—स्ववशीकृतमूलबलइत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे "गतामित्रस्तव"

जब तक रामचन्द्र वन से लौटेंगे, तब तक भरत के राज्य की नींव अटल हो जायगी ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः सार्धमात्मवान् ।
प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा[1] ॥ ३५ ॥

अच्छी प्रकार प्रजा का पालन कर उन्हें प्रसन्न कर लेने पर, इष्टमित्रों सहित (राजसिंहासन पर) भरत जी की जड़ जम जायगी। अतः जब महाराज तुझे वर देने लगें, तब तू महाराज से निर्भय हो ॥ ३५ ॥

रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ।
अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥

और आग्रहपूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियाँ रुकवा देना। (अन्त में) मन्थरा की इन अनर्थ भरी बातों को, कल्याण-युक्त वचनों के रूप में कैकेयी ने ग्रहण किया। अर्थात् मन्थरा की बुरी सलाह को कैकेयी ने भली समझ तदनुसार काम करना स्वीकार किया ॥ ३६ ॥

हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरी[2]वोत्पथं गता ॥३७॥

कैकेयी, मन्थरा की बातें सुन कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई और छोटे बच्चे वाली घोड़ों की तरह पराधीन हो कुपथ को अवलंबन कर कहने लगी अथवा हर्षयुक्त हो अति विश्वास के साथ कैकेयी मन्थरा से बोली। उस समय कैकेयी मन्थरा की बातों में आ ऐसी

---

१ वीतसाध्वसा—विगतभया। (गो०) २ किशोरी—बडवा। (गो०); नित्यकिशोरत्वविशिष्ट। (शि०)

हो गयी थी जैसे घोड़ी आतुर हो अपने बच्चे के पास जाने के लिये कुपथ में जाने से कोड़े से पीटी जाने पर भी, नहीं रुकती ॥ ३७ ॥

[उक्त श्लोक में "किशोरी" शब्द प्रयुक्त हुआ है। "रामाभिरामी", "भूषण" और "विषमपदव्याख्या" नामक टीकाओं में "किशोरी" का अर्थ घोड़ी कर कैकेयी की उपमा वत्सवत्सला उत्पथगामिनी घोड़ी से दी गयी है, किन्तु पं० शिवसहायराम कृत "शिरोमणि" टीका में किशोरी का अर्थ नित्य किशोरविशिष्ट करके इसे कैकेयी का विशेषण माना है। यदि शिरोमणि टीकाकार का यह अर्थ मान लिया जाय, तो किशोरी का अर्थ होता है, बालस्वभाव वाली कैकेयी। (किशोरावस्था का काल १० से १५ वर्ष तक माना जाता है।) अतः उक्त श्लोक में किशोरी का अर्थ बालिका मान कर समूचे श्लोक का अर्थ यह होगा —

मन्थरा की बातों में बाल-स्वभाव-सुलभ अथवा अबोध बालिका की तरह कैकेयी आ कर, कुमार्गगामिनी हो गयी। वह प्रसन्न हो और उसकी बातों पर विश्वास कर मन्थरा से यह बोली ॥ ३७ ॥

इस अर्थ में एक दोष आता है। वह यह कि नायिकाभेद में स्त्रियों की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं। मुग्धा, युवा, प्रौढ़ा और वृद्धा। इसी प्रकार पुरुषों की भी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं। यथा बाल, पौगण्ड, किशोर, युवा और वृद्ध। जहाँ पर "किशोरी" शब्द का प्रयोग होता है वहाँ किशोर की स्त्री किशोरी का गौण अर्थ में प्रयोग होता है।]

'कैकेयी विस्मयं यात्वा परं परमदर्शना।
कुब्जे त्वां नाभिजानामि श्रेष्ठां श्रेष्ठाभिधायिनीम्[1] ॥३८॥

---

१ श्रेष्ठाभिधायिनी—हितैषिणी। (रा०)

अति रूपवती कैकेयी को बड़ा आश्चर्य हुआ (आश्चर्य इस बात का कि, महाराज ने इतना बड़ा काम उसको जनाये बिना कैसे करना निश्चित कर लिया) और बोली—अथवा हे मन्थरे ! मैं नहीं जानती थी कि, तू सर्वश्रेष्ठ बोलने वाली है या सब से बढ़ कर मेरा हित समझने वाली है ॥ ३८ ॥

पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

इस पृथिवी तल पर जितनी कुबड़ी स्त्रियां हैं उन सब में तू निश्चय ही सब से बढ़ कर बुद्धिमती है। तू सदा मेरा हित करने वाली है ॥ ३९ ॥

नाहं समबबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जा वक्राः परमदारुणाः ॥४०॥

हे कुब्जे ! मैं अभी तक महाराज की चाल न समझ सकी थी। इस संसार में जितनी कुबड़ी हैं, वे सब अंग टेढ़े होने के कारण दुष्ट स्वभाव और पापिन होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्ममिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ॥४१॥

किन्तु तुझमें इन बातों का लेश भी नहीं है। क्योंकि जैसे सहज सुन्दर कमलपत्र, पवन के झोके से झुक कर टेढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी कोई निन्दा नहीं करता, वैसे ही तेरे अंग टेढ़े होने पर भी तू सुखरूपा होने के कारण निन्दा करने के योग्य नहीं है। तेरा वक्षःस्थल कंधे तक मांस से भरा हुआ और ऊँचा है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शातं[1] सुनाभमिव लज्जितम् ।
परिपूर्णं तु जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

और नीचे की ओर बहुत ही पतला है । मानों छाती की ऊँचाई देख लज्जित हो भीतर धस गया है । तेरी दोनों जंघाएँ भरी हुई और दोनों स्तन बड़े मोटे और कठोर हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं[2] रशनादामशोभितम् ॥ ४३ ॥

हे मन्थरे ! तेरा मुख विमल चन्द्रमा जैसा है । इन्हीं सब कारणों से तू (कुबड़ी होने पर भी) बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है । तेरी जंघाएँ साफ अर्थात् बालों रहित हैं और करधनी से भूषित हैं ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ चाप्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥

जाँघें भारी होने से मानों एक दूसरी से मिली ही जाती हैं । दोनों चरण लंबे से लंबे हैं । हे मन्थरे ! जब तू चौड़ी पिंडुलियों तक रेशमी साड़ी पहिन कर, ॥ ४४ ॥

अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे ।
आसन्न्याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥

मेरे आगे चलती है तब तू राजहँसी की तरह शोभायमान देख पड़ती है । शंबरासुर के पास जो हज़ार मायाएँ थीं ॥ ४५ ॥

---

१ शान्तं—कृशं । (गो०) २ निर्मृष्टं—अत्यन्त शुद्धं, कोमादिरहितं । (रा०)

सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।
तवेदं स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥

केवल वे ही नहीं, वल्कि और भी हज़ारों माया तुझमें हैं, (अर्थात् तू उन सब को जानती है) पहिये के नाह की तरह तेरे इस उठे हुए कूवड़ में ॥ ४६ ॥

मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।
अत्र ते मतिमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥४७॥

बुद्धि और राजनीतिक चालें और चालाकियां भरी हुई हैं। सो मैं ऐसा सोने का हार तुझे पहनाऊँगी जो इस कूवड़ पर झूला करेगा ॥ ४७ ॥

अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन[1] सुन्दरि ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरी ! भरत को राज्य मिलने पर तथा रामचन्द्र के वनवासी होने पर मैं तेरे इस मांसपिण्ड (कूवड़) को उत्तम तपे हुए सुवर्ण के पत्रों से तुरन्त ढक दूँगी ॥ ४८ ॥

लब्धार्था च प्रतीता[2] च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।
मुखे च तिलकं चित्रं[3] जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥

कार्य की सफलता में विश्वास हो जाने पर तेरे इस कूवड़ पर चन्दन लगाऊँगी और माथे पर पक्के सोने का रत्नजटित तिलक भी पहिनाऊँगी ॥ ४९ ॥

---

१ सुनिष्टप्तेन—सुद्रुतेन । (गो०) २ प्रतीता—सन्तुष्ट । (गो०) ३ चित्रं—नाना रत्नखचिततयानाना वर्णं । (गो०)

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

हे मन्थरे ! तेरे लिये मैं सब गहने सोने के बनवाऊँगी । सब गहने व सुन्दर वस्त्र पहिन कर देवता के समान तू जहाँ चाहे वहाँ जा सकेगी ॥ ५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन[1] मुखेनाप्रतिमेन च ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां[2] गर्वयन्ती द्विषज्जनम्[3] ॥५१॥

चन्द्रमा से स्पर्धा करने वाले, उपमारहित अपने मुख के द्वारा तू मेरी सौतों को तिनके के समान समझ, उनके सामने अकड़ कर चलेगी ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

समस्त आभूषणों से सजी हुई अनेक कुबड़ी स्त्रियाँ, तेरे चरणों की सेवा वैसे ही करेंगी जैसे तू मेरी सेवा करती है ॥ ५२ ॥

प्रशस्यमाना सा कुब्जा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

मन्थरा, इस प्रकार प्रशंसा किये जाने पर वेदी की अग्निशिखा के समान श्वेत शय्या पर लेटी हुई कैकेयी से बोली ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शय[4] ॥ ५४ ॥

---

१ आह्वायमानेन—स्पर्धमानेन । (गो०) २ मुख्यां—तृणीकृतसर्वजनां । (गो०) ३ द्विषज्जनम्—मत्सपत्नीजनं । (गो०) ४ अनुदर्शये—प्रतीक्षस्वेत्यर्थः (गो०)

हे कल्याणि ! जब जल वह गया तब बाँध बाँधने से क्या लाभ हो सकता है ? अतएव उठ कर अपने कार्यसाधन में लग और क्रोधागार में जा महाराज के आने की प्रतीक्षा कर ॥ ५४ ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥

इस प्रकार कुब्जा द्वारा उत्साहित किये जाने पर, बड़े बड़े नेत्रों-वाली कैकेयी, जिसे अपने सौभाग्य का बड़ा गर्व था, मन्थरा सहित कोपभवन में पहुँची ॥ ५५ ॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

वहाँ पहुँचते ही कैकेयी ने कई लाख के मोती के हार को और अन्य मूल्यवान गहनों को उतार कर ज़मीन पर फेंक दिया ॥ ५६ ॥

ततो हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता ।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

उस समय सोने के रंग की समान रंगवाली कैकेयी, कुबड़ी की बातों में आ, ज़मीन पर लेट कर मन्थरा से कहने लगी ॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि ।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम् ॥५८॥

हे कुब्जे ! या तो तुझे महाराज को मेरे यहाँ मरने ही की ख़बर सुनानी पड़ेगी या रामचन्द्र को वन जाना पड़ेगा और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ५८ ॥

न सुवर्णेन मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः ।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

मुझे अब न तो गहनों से और न रत्नों से और न स्वादिष्ट भोजनों ही से कुछ मतलब है । अगर राम का राज्याभिषेक हुआ तो बस, मेरे प्राण का यहीं अन्त भी है ॥ ५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः[1] ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन फिर भी मन्थरा बड़े क्रूर वचनों से जो रामचन्द्र के लिये अहितकर थे, कैकेयी को उपदेश करने लगी ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
अतो हि कल्याणि यतस्व तत्तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

हे कल्याणि ! तू अपने मन में यह निश्चय समझ ले कि, यदि रामचन्द्र कहीं राजा हो गये तो तू अपने पुत्र सहित दुःख पावेगी । अतएव ऐसा प्रयत्न करना जिससे भरत ही को राज्य मिले ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महषी तु कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।

---

१ महापराक्रमैः—अतिक्रूरैः । (रा०)

निधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां रुषिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार रानी कैकेयी मन्थरा के वचन रूपी बाणों से बारंबार विद्ध हो, अपने दोनों हाथों को अपने हृदय पर रख, आश्चर्यान्वित हो और क्रोध में भर बोली ॥ ६२ ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

हे कुब्जे ! या तो तू मुझे यम के घर पहुँची हुई देखने का संवाद ही महाराज को जा कर सुनावेगी अथवा दीर्घकाल के लिये रामचन्द्र ही वनवासी होंगे और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किञ्चिदिच्छामि न चेह जीवितं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

यदि रामचन्द्र वन न गये तो मैं न तो शैया पर लेटूँगी, न फूलमाला पहिनूँगी, न चन्दन लगाऊँगी, न आँखों में अंजन आँजूँगी, न अन्न और जल ही ग्रहण करूँगी । मुझे (अब सिवाय भरत के राज्याभिषेक के) और कोई इच्छा नहीं है । (यदि यह पूरी न हुई तो) मैं अब जीना भी नहीं चाहती ॥ ६४ ॥

अथैतदुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।
असंवृतामास्तरणेन मेदिनी-
मधाधिशिश्ये पतितेव किन्नरी ॥ ६५ ॥

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा कर और सब गहनों को उतार, कैकेयी बिस्तर रहित पृथिवी पर किन्नरी की तरह लेट गयी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृताननां
तथाऽन्वमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

रानी का मुखमण्डल क्रोधान्धकार से युक्त और शरीर फूल-मालाओं और आभूषणों से शून्य उसी प्रकार का जान पड़ने लगा, जिस प्रकार का ताराओं से रहित और अन्धकारमय आकाश जान पड़ता है ॥ ६६ ॥

अयोध्याकाण्ड का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—:o:—

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किन्नरी ॥ १ ॥

अनन्तर पापिनी मन्थरा के भली भाँति समझाने बुझाने से रानी कैकेयी, विष में बुझे तीर से घायल किन्नरी की तरह ज़मीन पर लेट गयी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

अत्यन्त चतुर रानी कैकेयी मन ही मन अपना कर्त्तव्य भली भाँति निश्चित कर, उसे धीरे धीरे मन्थरा को बतलाने लगी ॥ २ ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥

उस समय खिन्नमना कैकेयी मन्थरा की बातों में आ नागिन की तरह लंबी गरम साँसें लेती जाती थी ॥ ३ ॥

मुहूर्तं चिन्तयामास मार्ग[1]मात्मसुखावहम् ।
सा सुहृच्चार्थकामा च तन्निशम्य[2] सुनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।
अथ साऽभर्त्सिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥

मन्थरा अपनी सखी कैकेयी को अपने वचनानुसार ही कार्य करने में तत्पर जान तथा कार्य की सिद्धि समझ अति प्रसन्न हुई । डाह के मारे कैकेयी भी सब बातों को भली भाँति सोच और निश्चय कर ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

१ मार्गम्—मंथरोक्तं । (वि०) २—निशम्य—श्रुत्वा (गो०)

संविवेशावला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटीं मुखे[1] ।
ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥

महा क्रोध में भर, भौंहें टेढ़ी कर, भूमि पर लेट रही। रत्न जटित हार तथा अन्य बढ़िया बढ़िया आभूषण, ॥ ६ ॥

अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।
तया तान्यपविद्धानि मूल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।
क्रोधागारे निपतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥

कैकेयी ने उतार कर ज़मीन पर फैंक दिये। ज़मीन पर बिखरे पड़े हुए वे बहुमूल्य आभूषण वैसे ही सुशोभित जान पड़ते थे, जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं। मैले वस्त्र पहिने हुए कोप-भवन में पड़ी हुई कैकेयी ॥ ७ ॥ ८ ॥

एकवेणीं दृढं बद्धा गतसत्त्वेव किन्नरी ।
आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥

एक वेणी धारण किये हुए, स्वर्गलोक से गिरी हुई किन्नरी के समान जान पड़ती थी। जब महाराज राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने की आज्ञा मंत्रियों को दे, ॥ ९ ॥

उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।
अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्[2] ॥१०॥

---

१ मुखे भ्रुकुटीं निवेशः—क्रोधातिशयेन । (रा०) २ जज्ञिवान्—रामाभिषेकः प्रसिद्धः निश्चित इति । इतःपूर्वं कैकेय्यानश्रुतिगोचरइति ज्ञातवान् । (रा०)

और समस्त सभासदों को विदा कर रनिवास में पहुँचे और सोचा कि, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होना आज सर्व साधारण में तो प्रसिद्ध हो गया, परन्तु रानियों को इसकी सूचना नहीं हुई ॥ १० ॥

प्रियार्हं प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी[1] ।
स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥

अतएव यह शुभ संवाद अपनी प्यारी रानियों से भी कहैं। यह विचार महायशस्वी महाराज दशरथ रनवास में गये। वे सब से प्रथम कैकेयी के सर्वोत्तम भवन में पधारे ॥ ११ ॥

पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।
शुक बर्हिणसंघुष्टं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥

चन्द्रमा जैसे राहुयुक्त उजले आकाश में प्रवेश करता है, वैसे ही महाराज दशरथ कैकेयी के भवन में पधारे। उस समय कैकेयी के घर में सुग्गे, मोर, कौंच, और हंस बोल रहे थे ॥ १२ ॥

वादित्ररवसङ्घुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहै[2]श्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

कहीं पर बाजे बज रहे थे, जगह जगह कुबड़ी, नाटी, टेढ़ी मेढ़ी दासियां देख पड़ती थीं, कहीं पर लतामण्डप बने हुए थे, कहीं पर ऐसे कमरे थे जिनमें सुन्दर तसवीरें लटक रही थीं (या दीवालों पर चित्र चित्रित थे।) और जगह जगह चंपा और अशोक के वृक्ष (घर की) शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३ ॥

---

१ वशी—स्वतन्त्रः। (गो०) २ चित्रगृहैः—चित्रयुक्त गृहैः। (रा०)

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिश्चोपशोभितम् ॥ १४ ॥

भवन के भीतर की वेदियाँ हाथीदाँत, चाँदी और सोने की बनी हुई थीं, जगह जगह नित्य फूलने और फलने वाले वृक्ष और बावड़ी, घर की शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥

बैठने के लिये हाथीदाँत के काम के चाँदी सोने के पीढ़ा (कुर्सियाँ) रखे हुए थे । विविध प्रकार के अन्न, पान, भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे थे ॥ १५ ॥

उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।
तत्प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥

उस घर में अनेक बहुमूल्य गहने रखे थे । (कहाँ तक वर्णन किया जाय) उस घर की शोभा स्वर्ग जैसी हो रही थी । महाराज अपने उस भरेपूरे अन्तःपुर में पहुँचे ॥ १६ ॥

न ददर्श प्रियां राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।
स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थं मनुजाधिपः ॥ १७ ॥

किन्तु वहाँ उत्तम शय्या पर कैकेयी को न पाया । महाराज वहाँ कामदेव के अत्यन्त सताये हुए और रति की इच्छा से गये थे ॥ १७ ॥

अपश्यन्दयितां भार्यां पप्रच्छ[1] विषसाद[2] च ।
न हि तस्य पुरा देवी तां वेला[3]मत्यवर्तत ॥ १८ ॥

उन्होंने कैकेयी का नाम ले पुकारा, किन्तु जब कुछ भी उत्तर न मिला तब वे उदास हो गये। क्योंकि इसके पूर्व महाराज के रति के समय कैकेयी कहीं नहीं जाती थी ॥ १८ ॥

न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥

और न (आज के पूर्व) महाराज ही कभी शून्य घर में आये थे। महाराज घर में जा सब से कैकेयी के बारे में पूँछने लगे ॥ १९ ॥

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।
प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता रचिताञ्जलिः ॥ २० ॥

महाराज ने स्वार्थ में तत्पर (भरत का राज्याभिषेक चाहने वाली) और नादान कैकेयी के बारे में पहले की तरह एक पहरेदारिन से पूँछा। तब उसने हाथ जोड़ और डरते डरते कहा ॥ २० ॥

देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।
प्रतिहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥

हे देव! देवी जी तो अत्यन्त कुपित हो कोपागार में चली गयी हैं। उस पहरेदारिन के वचन सुन महाराज का मन बहुत बिगड़ गया ॥ २१ ॥

---

१ पप्रच्छ. २ विषसाद—रत्यर्थंपप्रच्छ क्वगतासीत्येवं । प्रत्युत्तरा-भावात् विषसाद च । (गो०) ३ तांवेलां—रतिवेलां । (गो०)

विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।
तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥

और वे वहीं बैठ गये। उस समय महाराज की सब इन्द्रियां विकल और चञ्चल हो उठीं। (फिर उन्होंने कोपभवन में जा कर देखा कि) रानी अनुचित रीति से लेटी हुई है। (अर्थात् ज़मीन पर बिना कुछ बिछाये मैली धोती पहने तथा गहने उतार कर पड़ी है) ॥ २२ ॥

प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।
स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥२३॥

यह देख महाराज अति दुःख सन्तप्त हुए। क्योंकि वृद्ध महाराज को वह तरुणावस्था को प्राप्त रानी कैकेयी प्राणों से भी अधिक प्यारी थी ॥ २३ ॥

अपापः पापसङ्कल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

निष्पाप महाराज ने दुष्ट मनोरथ वाली कैकेयी को कटी हुई लता की तरह अथवा स्वर्ग से ढकेली हुई देवी की तरह ज़मीन पर पड़ी देखा ॥ २४ ॥

किन्नरीमिव निर्धूतां[1] च्युता[2]मप्सरसं यथा ।
*मालामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

---

१ निर्धूतां—पुण्यक्षये स्वर्लोकापततताम् । (रा०) २ च्युतां—स्वर्गात-परिभ्रष्टाम् । (रा०)

* पाठान्तरे " मायामिव " ।

कैकेयी पृथिवी पर पड़ी हुई ऐसी जान पड़ती थी मानों वह पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरी हुई किन्नरी है अथवा स्वर्ग परिभ्रष्टा अप्सरा है, अथवा टूट कर गिरी हुई माला है। अथवा फंदे में फँसी हिरनी है ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात्परिममर्श ताम् ॥ २६ ॥

अथवा शिकारी के विषबाण से घायल की हुई हथिनी है, ऐसी हथिनी रूपिणी कैकेयी को महागज रूपी महाराज दशरथ ने बड़े प्यार से देखा ॥ २६ ॥

परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसन्त्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीं[1] मुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

वे मन में डरते डरते अपने हाथों से उसका शरीर सुहराने लगे। फिर कामातुर महाराज दशरथ ने उस कमलपत्राक्षी महिला से यह कहा ॥ २७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् ।
देवि केनाभियुक्तासि[2] केन वासि विमानिता[3] ॥२८॥

हमें यह भी नहीं मालूम हुआ कि, हमारे ऊपर तुम क्यों क्रुद्ध हो रही हो? क्या किसी ने तुम्हारी कुछ निन्दा की है या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है? ज़रा बतलाओ तो ॥ २८ ॥

---

१ कमलपत्राक्षी—इति कामित्वद्योतनं । (गो०) २ अभियुक्ता—कृतपराभवा । (रा०) ३ विमानोनिन्दा । (रा०)

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु[1] ।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि[2] ॥ २९ ॥

हे कल्याणि ! तुम्हारा इस प्रकार धूल में लोटना हमें बहुत दुःखदायी हो रहा है। (हमारे जीते हुए) तुम जैसी हमारी हित चाहने वाली का इस प्रकार ज़मीन पर लेटने का कारण क्या है ? ॥ २९ ॥

भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी ।
सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥

हे प्राणप्यारी ! तुम प्रेत लगे हुए मनुष्य की तरह क्यों ज़मीन पर लोट रही हो। यदि कोई व्याधि अथवा रोग से पीड़ित हो तो बतलाओ। हमारे यहाँ सब रोगों की चिकित्सा करने वाले और हमारे द्वारा दान मानादि से सन्तुष्ट वैद्य हैं ॥ ३० ॥

सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनी ।
कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥३१॥

जो तुझे (बात की बात में) नीरोग और सुखी कर देंगे। हे भामिनी ! ज़रा यह तो बतलाओ कि बीमारी क्या है ? (यदि कोई बीमारी नहीं है) तो क्या तुम किसी दूसरे को (पुरस्कार दिला) प्रसन्न करना चाहती हो ? अथवा किसी पर अप्रसन्न हो उसको दण्ड दिलाना चाहती हो या उसे बरबाद करवाना चाहती हो ॥ ३१ ॥

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् ।
मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥३२॥

---

१ पांसुषु—धूलिषु । (रा०) २ कल्याणचेतसि—अनपकारिणि । (रा०)

अथवा किसका उपकार और किसका अपकार किया जाय ? तुम रोओ मत, चुपा अपने शरीर को सांसत कर, चेहरा फीका मत करो ॥ २२ ॥

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान्कोऽप्यकिञ्चनः ॥२३॥

हम तुम्हें राज़ी करने के लिये अवध्य को भी अभी जान से मरवा सकते हैं अथवा जिसे वध करने की आज्ञा दी जा चुकी है, उसे हम अभी छोड़ भी सकते हैं। यदि किसी धनहीन को धनवान अथवा धनवान को निर्धन करवाना चाहती हो (तो भी बतलाओ) हम तुरन्त ऐसा भी कर सकते हैं ॥ २३ ॥

अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः ।
न ते किञ्चिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ २४ ॥

क्योंकि क्या हम स्वयं और क्या हमारे आश्रित जन सभी तो तुम्हारे वशवर्ती हैं अर्थात् आज्ञाकारी हैं। तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने की हममें सामर्थ्य नहीं है ॥ २४ ॥

आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ।
वल[1]मात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यदि हमें अपने प्राण गँवा कर भी कोई काम तेरी प्रसन्नता के लिये करना पड़े तो हम उसे करने को भी तैयार हैं। ज़रा बतला तो तेरी इच्छा क्या है ? हमारा तुझमें कितना प्रेम है यह तो तुझे मालूम ही है, अतएव जो चाहती हो सो कह, किसी बात की शङ्का मत कर ॥ २५ ॥

---

१ वलं—प्रेम । (रा०)

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ॥ ३६ ॥

हम अपने पुण्यकर्मों की शपथ खा कर कहते हैं कि, हम जो तू कहेगी वही करेंगे। देख, इस पृथिवीमण्डल पर जहाँ तक सूर्य घूमता है वहाँ तक की सारी पृथिवी हमारे अधिकार में है ॥ ३६ ॥

प्राचीनाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥३७॥
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

द्राविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, वङ्गाल, अङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी, और कोशल ये सब देश, जहाँ तरह तरह की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जो धनधान्य एवं भेडों बकरियों से भरे पूरे हैं—हमारे अधीन हैं। इनमें से यदि किसी देश का राज्य चाहती हो तो बतला ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने ।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव भास्करः ॥ ३९ ॥

हे भीरु ! तू क्यों ज़मीन पर पड़ी कष्ट सहती है। हे सुन्दरी ! उठ, उठ। हे कैकेयी ! ठीक ठीक बतला, तुझे किस बात का डर है। हम उस डर को अभी उसी प्रकार दूर कर देंगे, जिस प्रकार सूर्य देव, कुहरे को दूर कर देते हैं ॥ ३९ ॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार महाराज द्वारा मनायी जाने पर, कैकेयी कुछ कुछ शान्त हुई, किन्तु महाराज को पीड़ित करने के लिये उनसे अति दुःखदायी अप्रिय वचन कहने लगी ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकादशः सर्गः

—:०:—

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥

कामशर से पीड़ित और कामवेग के वशीभूत महीपाल दशरथ से कैकेयी ये निठुर वचन बोली ॥ १ ॥

नास्मि विप्रकृता[1] देव केनचिन्नावमानिता ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥२॥

मुझे न तो कोई बीमारी है और न किसी ने मेरा अपमान ही किया है । किन्तु मेरी एक इच्छा है, जिसे आप पूरी कर सकते हैं अथवा मेरा एक काम है जिसे मैं आपसे करवाना चाहती हूँ ॥ २ ॥

---

१ विप्रकृता—रोगग्रस्ता । (गो०)

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।
अथ तद्व्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितं मया ॥ ३ ॥

यदि आप मेरा वह काम करने को राज़ी हों, तो उसे करने की प्रतिज्ञा कीजिये । तब मैं अपनी वह बात बतलाऊँगी ॥ ३ ॥

तामुवाच महातेजाः कैकेयीमीषदुत्स्मितः ।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु शुचिस्थिताम् ॥ ४ ॥

कैकेयी का यह वचन सुन, काम से व्याकुल महाराज दशरथ, ज़मीन पर पड़ी हुई कैकेयी का सिर हाथों से उठा अपनी गोद में रख, मुसक्या कर बोले ॥ ४ ॥

अवलिप्ते[1] न जानासि त्वत्तः प्रियतमा मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥

हे सौभाग्यगर्विते ! क्या तुझे यह नहीं मालूम कि, पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र को छोड़, हमारा तुझसे अधिक प्यारा और कोई मनुष्य नहीं है ॥ ५ ॥

तेना जव्येनमुख्येन राघवेण महात्मना ।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥ ६ ॥

सो तुझसे भी अधिक प्रिय, शत्रुओं से अजेय और सब से मुख्य श्रीरामचन्द्र जी की शपथ खा कर हम कहते हैं कि, जो तू चाहती हो सो कह ॥ ६ ॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥

---

१ अवलिप्ते—सौभाग्यगर्विते । (गो०)

हे कैकेयी ! जिन श्रीरामचन्द्र को देखे विना एक घड़ी भी जीना हमारे लिये असम्भव है, उन्हींकी शपथ खा कर हम कहते हैं कि, तेरा काम हम करेंगे ॥ ७ ॥

आत्मना वाऽऽत्मजैश्चान्यैर्वृणे[1] यं मनुजर्षभम् ।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥

हम अपने से और अन्य तीनों पुत्रों से जिन श्रीरामचन्द्र को अधिक मानते या चाहते हैं अथवा अपना शरीर व अन्य तीनों पुत्रों को दे डाल कर भी जिन श्रीरामचन्द्र को रखना चाहते हैं, तुम्हारा वचन पूरा करने को उन्हींकी हम शपथ खाते हैं ॥ ८ ॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्यो[2]द्धरस्व मे ।
एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु[3] मन्यसे ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! हमारे हृदय में तेरे लिये कैसा प्रेम है और तेरा काम करने के लिये हम शपथ खा चुके हैं, इन बातों पर ध्यान रख कर, जो काम हमसे करवाना चाहती है, उसे भली भाँति समझ बूझ कर बतला ॥ ९ ॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥ १० ॥

हमारी तेरे ऊपर जैसी प्रीति है उसको विचार कर किसी बात की शङ्का मत कर। हम अपने पुण्यों की शपथ खा कर कहते हैं हैं कि, तू जो कहैगी सो हम करेंगे ॥ १० ॥

---

१ वृणे—असमम्जाने । (रा०) २ अनुमृश्य—विचार्य । (रा०) ३ साधु—हृष्टं । (गो०)

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् ।
निर्माध्यस्थ्यात्प्रहर्षाच्च वभाषे दुर्वचं वचः ॥ ११ ॥

मन्थरा के उपदेश को अपने मन में रखे हुए और अपना मनोरथ सिद्ध होता जान, भरत का पक्षपात करती हुई और प्रसन्न हो, कैकेयी ये दुर्वचन बोली ॥ ११ ॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः ।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥ १२ ॥

महाराज की बातों से अत्यन्त प्रसन्न हो और अपना मतलब पूरा करने को आये हुए महाभयङ्कर यमराज की तरह कैकेयी बोली ॥ १२ ॥

यथा क्रमेण शपसि वरं मम ददासि च ।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! आप मुझे वर देने की शपथ खा चुके हैं, इस बात के साक्षी अग्नि प्रमुख ३३ देवता रहैं । (अर्थात् इस कथन से कैकेयी पति को अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने के लिये दृढ़ करती है ।) ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।
जगच्च पृथिवी चैव सगन्धर्वा सराक्षसा ॥ १४ ॥

निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः ।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥१५॥

हे महाराज ! चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन और दिशाएँ, जगत्, सब लोकों के निवासी, पृथिवी, गन्धर्व, राक्षस, भूत,

गृहदेवता, और और भी जो प्राणी हैं वे सब आपके कथन के साक्षी रहैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

सत्यसन्धो महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः ।
वरं मम ददात्येष तन्मे शृण्वन्तु देवताः ॥ १६ ॥

सत्यसन्ध, महातेजस्वी, धर्मज्ञ, सदैव सावधान रहने वाले महाराज हमको वर देते हैं यह बात सब देवता सुनें ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्या[1]भिशस्य[2] च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

राजमहिषी कैकेयी ने महाधनुर्धारी, वर देने को उद्यत और कामातुर महाराज को वचनबद्ध कर और उनकी प्रशंसा कर कहा ॥ १७ ॥

स्मर राजन्पुरा वृत्तं तस्मिन्दैवासुरे रणे ।
तत्र चाच्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

हे राजन् ! आप पहले उस पुरानी बात को स्मरण कीजिये, जब देवासुर संग्राम में आप गये थे और शत्रु की मार से जब आप मृतप्राय हो गये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रादद वरौ ॥ १९ ॥

---

१ परिगृह्य—परिवर्तनान्निवर्त्य ॥ २ अभिशस्य—सत्यसन्ध इत्यादिना स्वकार्यस्थैर्याय स्तुत्वा च । (रा०)

उस समय मैंने जाग कर और बड़े यत्न से आपकी रक्षा की थी। तब जागने पर अथवा होश में आने पर, आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसङ्गर ॥ २० ॥

हे सत्यवादी राजन्! उन दोनों वरों को मैंने आपके पास धरोहर की तरह रखवा दिया था। मैं वे ही दोनों वर आपसे इस समय माँगती हूँ ॥ २० ॥

तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥

और यदि धर्मानुसार प्रतिज्ञा कर के तुम वे दोनों वर मुझे इस समय न दोगे तो अपने इस अपमान के कारण आप ही के सामने मैं मर जाऊँगी ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

महाराज दशरथ को कैकेयी ने केवल वाणी से अपने वश में उसी तरह कर लिया, जिस तरह (बहेलिया) हिरन को मारने के लिये जाल में बांध लेता है ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ यौ मे त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥

तदनन्तर वर देने वाले और काम मोहित महाराज से कैकेयी बोली कि, हे देव ! आपने मुझे जो दो वर उस समय दिये थे ॥ २३ ॥

तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
योऽभिषेकसमारम्भो रामस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥

उन दोनों को मैं अभी माँगती हूँ। आप सुनिये । रामचन्द्र के अभिषेक के लिये जो सामान सँजोया गया है ॥ २३ ॥

अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।
यो द्वितीयो वरो देव दत्तः मीतेन मे त्वया ॥२५॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽभ्यागतः ।
नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

उससे मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाय—(यह तो एक वर हुआ) हे देव ! आपने देवासुर संग्राम में प्रसन्न हो जो दूसरा वर देने को कहा था उसके लेने का समय अब आ गया है। वह यह है कि, चौदह वर्ष तक वन में रह कर ॥ २५ ॥ २६ ॥

चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

रामचन्द्र जटा वल्कल धारण कर तापस भेष में रहें। मेरे पुत्र भरत आज ही निष्कण्टक राज्य भोगें ॥ २७ ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं रामं वनम् ॥ २८ ॥

बस, यही मेरी परम कामना है। आपके दिये हुए ही वर मैं माँगती हूँ। मैं राम का वनगमन आज ही देखना चाहती हूँ ॥२८॥

स राजराजो भव सत्यसङ्गरः
कुलं च शीलं च हि रक्ष जन्म च।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे राजन्! अब आप सत्यप्रतिज्ञ बन कर अपने कुल, शील और जन्म की रक्षा करें। क्योंकि ऋषिगण, मनुष्यों के हितार्थ, सत्य ही को स्वर्ग प्राप्ति के लिये परमोत्तम साधन बतलाते हैं ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

द्वादशः सर्गः

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत चिन्तित और सन्तप्त हुए ॥ १ ॥

किंनु मे यदि वा स्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसोवाप्युपद्रवः[1] ॥ २ ॥

---

१ मनसोवाप्युपद्रवः—आधिव्याधिजनितविक्षेपोवा। (वि॰)

और सोचने लगे—क्या हम यह दिन में ही स्वप्न देख रहे हैं, या हमारे चित्त को मोह प्राप्त हो गया है या भूत प्रेत की बाधा है, अथवा किसी दुष्ट ग्रह की पीड़ा है, अथवा आधिव्याधि जनित यह कोई उपद्रव है ? ॥ २ ॥

इति सञ्चिन्त्य तद्राजा नाध्यगच्छत्तदा सुखम् ।
प्रतिलभ्य चिरात् संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

बहुत सोचने विचारने पर भी महाराज का मन सुखी न हुआ । कुछ काल पीछे जब वे प्रकृतिस्थ हुए तब कैकेयी की बातों को स्मरण कर परम तप्त, ॥ ३ ॥

व्यथितो विकलश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः ।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥

व्यथित और विकल उसी प्रकार हुए जिस प्रकार हिरन शेरनी को देख कर व्यथित, विकल और सन्तप्त होता है। उस समय महाराज दशरथ बिना आसन के भूमि पर बैठे बैठे दीर्घ स्वांस ले रहे थे ॥ ४ ॥

मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।
अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥

मानों मन्त्रमण्डल के भीतर घिरा हुआ मन्त्रमुग्ध महाविषधर सर्प फुफकारता हो । क्रोध में भर महाराज ने कहा "मुझे धिक्कार है" ॥ ५ ॥

मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः ।
चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥

यह कह शोक से विह्वल महाराज फिर मूर्च्छित हो गये। देर तक मूर्छित रह कर जब वे सचेत हुए तब अत्यन्त दुखी हुए ॥ ६ ॥

कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा ।
नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥

और क्रोध में भर कैकेयी को इस तरह देखा मानों उसे भस्म ही कर देंगे। तदनन्तर उससे बोले, अरी नृशंसा ! पापस्वभावे ! और कुल का सत्यानाश करने वाली ! ॥ ७ ॥

किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयाऽपि वा ।
सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र ने या हमने तेरा क्या बिगाड़ा है ? श्रीरामचन्द्र तो अपनी गर्भधारिणी माता के समान सदा तेरे साथ बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

तस्यैव त्वमनर्थाय किन्निमित्तमिहोद्यता ।
त्वं मयात्मविनाशार्थं भवनं स्वं प्रवेशिता ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का अनर्थ करने को तू क्यों तैयार हुई है। हाय ! हमने अपना नाश (अपने हाथों ही से) करने के लिये तुझे अपने घर में बुलाया ॥ ९ ॥

अविज्ञानान्नृपसुता व्याली तीक्ष्णविषा यथा ।
जीवलोको यथा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥

हमने तो तुझे राजकुमारी समझा था, हम यह नहीं जानते थे कि, तू उग्र विषधारिणी साँपिन है। जब सारे लोग श्रीरामचन्द्र जी के गुणों की प्रशंसा कर रहे हैं, ॥ १० ॥

अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् ।
कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥११॥

तब हम कौनसा अपराध लगा कर ऐसे प्यारे पुत्र का त्याग करैं। हम कौशल्या, सुमित्रा, और राज्य को भी त्याग सकते हैं ॥ ११ ॥

जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् ।
परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥

यही नहीं बल्कि हम अपने प्राण तक त्याग सकते हैं; किन्तु अपने प्राणाधार पितृवत्सल श्रीरामचन्द्र को नहीं त्याग सकते। अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देखने से हमारा मन परम प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

अपश्यतस्तु मे रामं नष्टा भवति चेतना ।
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥

और श्रीरामचन्द्र को न देखने से हमारी सुधबुध नष्ट हो जाती है। विना सूर्य के लोक भले ही बने रहैं, विना जल बरसे अन्न भले ही उत्पन्न हो ॥ १३ ॥

न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।
तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥

किन्तु विना श्रीरामचन्द्र के क्षण भर भी हमारे प्राण शरीर में नहीं रह सकते। अतः हे पापिन ! बस कर, और इस हठ को छोड़ दे ॥ १४ ॥

अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमिदं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

हम अपना सिर तेरे चरणों में रखते हैं, हम पर प्रसन्न हो। हे पापिन ! ऐसा कठोर ठान तूने किस लिये ठाना है ? ॥ १५ ॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥
स मे ज्येष्ठः सुता श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तू यह जानना चाहती हो कि, हम भरत को प्यार करते हैं कि, नहीं तो तू परीक्षा ले ; किन्तु तू स्वयं श्रीरामचन्द्र के बारे में पहले जो यह कह चुकी है कि, हमारे ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम धर्म से ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं सो यह बात क्या तूने मेरी खुशामद करने को कही थी अथवा श्रीरामचन्द्र से अपनी टहल करवाने को कही थी ? ॥ १६ ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसन्तप्ता सन्तापयसि मां भृशम् ।
आविष्टाऽसि गृहं शून्यं सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक को सुन तू शोकतप्त स्वयं हुई और मुझे भी शोकसन्तप्त कर रही है, सो जान पड़ता है सूने घर में रहने से तेरे सिर पर कोई प्रेत सवार हो गया है, इसीसे तू अपने आपे में नहीं है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्भूतः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि ! महाराज इक्ष्वाकु के कुल में यह बड़ा अनर्थ हो रहा है कि, जो आज तक सदा नीतिशालिनी रही थी उसीकी बुद्धि पर आज पत्थर पड़ रहे हैं। अर्थात् जब अच्छे लोगों की बुद्धि बिगड़ती है तब कुल में अनिष्ट होता है ॥ १९ ॥

" प्रायः समापन्न विपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति "

अथवा

जाको प्रभु दारुन दुःख देहीं।
ता कर मति पहिले हर लेहीं ॥

न हि किञ्चिदयुक्तं[1] वा विप्रियं[2] वा पुरा मम।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधाम्यहम् ॥२०॥

यदि तुझे भूत प्रेत की बाधा न होती अथवा किसी ग्रह की बुरी दशा की पीड़ा न होती तो ऐसी लोकविरुद्ध और हमारे प्रतिकूल बात जैसी कि तूने पहले कभी नहीं कही थी, इस समय न कहती। इससे हमें विश्वास नहीं होता कि, तुझे भूतबाधा नहीं है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना।
बहुशो हि सुबाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

हे बाले ! तू तो हम से बहुधा यही कहा करती थी कि, तुझे भरत के समान ही श्रीरामचन्द्र प्रिय हैं अर्थात् तू भरत और श्रीराम में कुछ भी भेद नहीं समझती ॥ २१ ॥

---

१ अयुक्तं—लोकविरुद्धम्। (गो०) २ विप्रियं—प्रतिकूलं अयुक्तं। (वि०)

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

हे देवि ! उसी महात्मा और यशस्वी श्रीरामचन्द्र का चौदह वर्ष तक वन में रहने (का वर माँगना) तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥२२॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

धर्मात्मा एवं अत्यन्त सुकुमार श्रीरामचन्द्र का अत्यन्त कठोर (अर्थात् १४ वर्ष के लिये) वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

हे शुभलोचने ! लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र का जो तेरी सेवा किया करते हैं, घर से निकालना तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥२४॥

रामेऽपि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

फिर, भरत की अपेक्षा श्रीरामचन्द्र सदा तेरी सेवा अधिक किया करते हैं । श्रीरामचन्द्र से अधिक भरत की तुझमें भक्ति है, हमें तो ऐसा नहीं जान पड़ता ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं[1] चैव प्रमाणं[2] वचनक्रियाम्[3] ।
कस्ते भूयस्तरां[4] कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात् ॥ २६ ॥

---

१ गौरवं—प्रतिपत्तिः । (गो०) बहुमानं । (वि०) २ प्रमाणं—पूजा (गो०)
३ वचनक्रियाम्—उक्तकरणं । (वि०) ४ भूयस्तरं—अत्यन्तम् । (वि०)

ज़रा विचार तो श्रीरामचन्द्र को छोड़ और कौन तेरी इतनी अधिक सेवा, सम्मान और आज्ञापालन करेगा ? ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते[1] ॥ २७ ॥

अन्तःपुर में बहुत सी स्त्रियाँ और अनेक नौकर चाकर हैं, किन्तु उनमें से एक के भी मुख से श्रीरामचन्द्र की बुराई या निन्दा कभी नहीं सुनी ॥ २७ ॥

सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियै[2]र्विषयवासिनः[3] ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र शुद्ध मन से प्राणिमात्र को सान्त्वना प्रदान करते हैं और अपनी प्रजा के लोगों को अपने वश में रखते हैं या सब का मन अपनी मुट्ठी में किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन[4] लोकाँ[5]ञ्जयति दीनान्दानेन राघवः ।
गुरून्शुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र प्राणीमात्र के हित में निरत रहने से स्वर्गादि लोकों को और अपनी उदारता से दीनदुखियों को और दान से ब्राह्मणों को अपने वशीभूत किये हुए हैं। इसी प्रकार उन्होंने गुरुजनों को सेवा से और धनुर्धारी शत्रुओं को युद्धभूमि में धनुष द्वारा अपने वश में कर रखा है ॥ २९ ॥

---

१ नोपपद्यते—नविद्यते । (वि०) २ प्रियै—अभीष्ट प्रदानैः । (गो०) ३ विषयवासिनः—स्वदेशस्थानजनान् । (वि०) ४ सत्येन—भूतहितेन । (गो०) ५ लोकान्—स्वर्गादि वैकुण्ठ पर्यन्तान् । (गो०)

सत्यं[1] दानं[2] तपः[3]त्यागो[4] मित्रता[5] शौच[6]मार्जवम्[7] ।
विद्या[8] च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

सत्य, (सत्यभाषण) दान, (परलोक प्रयोजन सम्बन्धी) तप, (शास्त्रविहित भोजन करना—जिह्वा के स्वाद के लिये खाते समय भक्ष्याभक्ष्य का विचार रखना) मैत्री, (सब लोगों की हितकामना) शौच, (बाहिर भीतर की पवित्रता) आर्जव, (दूसरे के मन के अनुसार चलने वाले) विद्या, (तत्वज्ञान) गुरुशुश्रूषा, आदि सद्गुण श्रीरामचन्द्र में निश्चय ही विद्यमान हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।
पाप[9]माशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

हे देवी ! जो श्रीरामचन्द्र सब के मन को देख कर काम करने वाले हैं, जो महर्षियों और देवताओं के समान तेजस्वी हैं, उन श्रीरामचन्द्र को तू वनवास का क्लेश देना चाहती है ! ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

जो श्रीरामचन्द्र कभी किसी से अप्रियवचन नहीं बोलते, हम तेरे कहने से क्यों कर उन प्राणों से बढ़ कर प्यारे श्रीराम से यह

---

१ सत्यं—सत्यवचनं । (वि०) २ दानं—परलोकप्रयोजनं । (गो०) ३ तपःशास्त्रविहित भोजनानिवृत्त्यादिरूपः । (गो०) ४ त्यागः—ऐहिकप्रयोजनः प्रीत्यर्थं । (गो०) ५ मित्रता—सर्वसुहृत्त्व । (गो०) ६ शौचं—बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । (वि०) ७ आर्जव—परचित्तानुवर्तित्वं । (गो०) ८ विद्या—तत्व-ज्ञानं । (गो०) ९ पापं—वनवासदुखं (वि०) ।

अप्रियवचन कह सकते हैं। कहना तो जहाँ तहाँ रहा हम तो अपने मन में भी ऐसी बात की कल्पना नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिन्दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।
अविहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में क्षमा, दम, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, प्राणिमात्र में अहिंसा का भाव; जैसे (अलौकिक) सद्गुण विद्यमान हैं, उन श्रीराम के विना हमारी क्या दशा होगी—(ज़रा इस बात को तो अपने मन से पूँछ देख) ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः[1] ।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

हे कैकेयी ! हम बूढ़े हैं। हमारा अन्त समय अब निकट आ चुका है। हमारी इस समय शोच्य अवस्था है, और हम तेरे सामने गिड़गिड़ा रहे हैं। हमारे ऊपर दया (रहम) कर। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के वनवास का हठ छोड़ दे।) ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किञ्चिदधिगम्यते ।
तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वां मन्युराविशेत् ॥३५॥

इस समुद्र से घिरी हुई पृथिवी के भीतर जो कुछ है—हम वह सब तुझे देने को तैयार हैं, हमें तू मृत्यु के मुख में मत ढकेल ॥३५॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।
शरणं[2] भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

---

१ तपस्विनः—शोचनीयावस्थस्य । (गो०) २ शरणं—रक्षित्री । (गो०)

हे कैकेयी ! हम तेरे हाथ जोड़ते हैं, पैरों पड़ते हैं, तू रामचन्द्र की रक्षक बन और हमें प्रतिज्ञाभङ्ग के पाप से बचा ॥ ३६ ॥

इति दुःखाभिसन्तप्तं विलपन्तमचेतनम् ।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार शोक से सन्तप्त महाराज दशरथ जी विलाप करते करते अचेत (मूर्च्छित) हो गये । उनका सारा शरीर घूमने लगा और वे शोक से विकल हो गये ॥ ३७ ॥

पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

उन्होंने इस शोकसागर के शीघ्र पार होने के लिये बार बार प्रार्थना की ; किन्तु दुष्टा कैकेयी (ने उन पर दया न की, बल्कि वह) और भी अधिक कठोरता पूर्ण वचन बोली ॥ ३८ ॥

यदि दत्वा वरौ राजन्पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यदि तुम वर दे कर, उनके लिये अब पछताते हो, तो हे वीर ! तुम्हें संसार में कौन धार्मिक कहेगा ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह ।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञास्तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

जब अनेक राजर्षि तुम्हारे पास आ, इस वरदान के सम्बन्ध में तुमसे पूँछेंगे ; तब हे धर्मज्ञ ! उनके प्रश्न का तुम क्या उत्तर दोगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रयत्ने जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।
तस्याः कृतं मया मिथ्या कैकेय्यां इति वक्ष्यसि ॥४१॥

उनके प्रश्न के उत्तर में तब तुमको यही न कहना पड़ेगा कि, जिसकी कृपा से मेरी जान बची अथवा इस समय भी जीता जागता मौजूद हूँ और जिसने कठिन समय में मेरी बड़ी सेवा की उसी कैकेयी को वर देने का वचन दे कर भी, मैंने वर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

किल्विषत्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।
यो दत्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

मैं जान गयी, तुम इक्ष्वाकुकुल के यशस्वी राजाओं के यश को कलङ्कित करोगे, क्योंकि वर देने की प्रतिज्ञा कर के, अब तुम अपनी उस प्रतिज्ञा को पलट रहे हो ॥ ४२ ॥

शैव्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

देखो, तुम्हारे ही वंश में राजा शैव्य हो गये हैं, जिन्होंने (अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये) बाज पक्षी को अपने शरीर का मांस तक दे, कबूतर की प्राण रक्षा की थी । दूसरे राजा अलर्क हो गये हैं, जिन्होंने अपने नेत्र निकाल कर, एक अंधे ब्राह्मण को दे दिये थे, जिससे उनको सद्गति प्राप्त हुई थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं[1] कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।
समयं माऽनृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

---

१ समयं—प्रतिज्ञां । (गो०)

(मनुष्य तो मनुष्य) समुद्र भी वचनवद्ध होने के कारण अपने तट के आगे नहीं वढ़ता। अतएव तुम भी पहली वातों को स्मरण कर, अपनी प्रतिज्ञा को झूठी मत करो ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

हे दुष्टात्मा राजन्! इस समय तेरी बुद्धि विगड़ गयी है। इसीसे तू सत्य का अनादर कर के, राम को राज्य इसलिये दे रहा है कि, जिससे तू नित्य उनकी माता कौशल्या के साथ विहार करे ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

अब चाहे धर्म हो चाहे अधर्म, चाहे सत्य हो चाहे मिथ्या, तुमने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हें पूरी करनी ही होगी। उसमें अब हेरफेर कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करोगे और रामचन्द्र ही को राज्य दे दोगे, तो बहुत सा हलाहल विष पी करं, मैं तुम्हारे सामने ही अपनी जान दे दूँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

यदि मैंने किसी दिन भी (राजमाता होने के कारण) कौशल्या को लोगों का प्रणाम ग्रहण करते देखा, तो फिर मैं अपने शरीर को न रखूँगी अर्थात् तुरन्त मर जाऊँगी ॥ ४८ ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

हे नरेन्द्र ! मैं अपनी और भरत की शपथ खा कर तुमसे कहती हूँ कि मैं राम को वन में भेजे बिना और किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

यह कह कैकेयी चुप हो गयी और विलाप करते हुए महाराज दशरथ से और कुछ भी न बोली अर्थात् उसने दशरथ की अन्य युक्तियों पर जो श्रीरामचन्द्र जी को वन में न भेजने के लिये उन्होंने दर्शित की थीं, कुछ भी ध्यान न दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा च राजा कैकेय्या वाक्यं परमदारुणम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥

कैकेयी की इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ को निश्चय हो गया कि, कैकेयी सचमुच श्रीरामचन्द्र जी का वनवास और भरत का राज्याभिषेक चाहती है ॥ ५१ ॥

नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

वे कैकेयी से बोले तो कुछ नहीं ; किन्तु विकल हो एक घड़ी तक अपनी प्रिया किन्तु अप्रियवादिनी कैकेयी के मुख को इकटक निहारते रहे ॥ ५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं घोरां राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

कैकेयी के मुख से वज्र के समान हृदय को दहलाने वाली और दुःख शोक उत्पन्न करने वाली भयङ्कर वाणी को सुन, महाराज दशरथ सुखी न हुए ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं[1] च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥५४॥

कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने का भयङ्कर निश्चय और उसकी शपथ को स्मरण कर, महाराज दशरथ ने "हा राम ! हा राम !!" कह कर, ऊँची साँस ली और जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह वे ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथाऽऽतुरः ।
हततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उस समय महाराज पागल की तरह नष्टचित्त, सन्निपातादि रोगों से ग्रस्त रोगी की तरह, विपरीत बुद्धि और मंत्रमुग्ध सर्प की तरह, हततेज हो गये ॥ ५५ ॥

दीनया तु गिरा राजा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदर्शिता ॥ ५६ ॥

---

१ व्यवसायं—रामविवासनविषयंनिश्चयं । (वि०)

महाराज ने गिड़गिड़ा कर कैकेयी से कहा—तुझे किसने इस अनर्थ भरी बात को अर्थ के रूप में समझाया है। अर्थात् जिस काम के करने से सरासर नुकसान है, उसमें लाभ का होना तुझे किसने समझाया है? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

प्रेतग्रस्त मनुष्य की तरह हमसे बातचीत करते तुझे लज्जा नहीं जान पड़ती? हम पहले यह नहीं जानते थे कि, तू ऐसी दुःशीला है और तेरी ऐसी करतूतें हैं ॥ ५७ ॥

बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥

बाल्यावस्था में तो तेरा स्वभाव इस समय के स्वभाव से सर्वथा विपरीत था। तुझे ऐसा भय कैसे उत्पन्न हुआ, जो तू ऐसा वर माँगती है कि, ॥ ५८ ॥

राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन वा ॥ ५९ ॥

भरत राजसिंहासन पर और श्रीरामचन्द्र वन में जायँ। बस, अब हठ छोड़ दे और ऐसी झूठी बातें मुँह से मत निकाल ॥ ५९ ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।
नृशंसे पापसङ्कल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

अरी नृशंसे, अरी पापिन! अरी ओछे स्वभाव वाली! अरी कुकर्मिन्! यदि प्रजा की, अपने पुत्र भरत की और हमारी भलाई चाहती हो तो, हठ मत कर ॥ ६० ॥

किन्नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद्भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

हमने या श्रीराम ने तेरा कौन सा ऐसा अपराध किया है जो तू ऐसा कहती है। हम समझते हैं कि, श्रीरामचन्द्र के सामने भरत कभी राजगद्दी पर बैठना पसंद ही न करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हितं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥

क्योंकि हम तो भरत को श्रीरामचन्द्र से भी अधिक धर्मात्मा समझते हैं। हम जब श्रीराम से वन जाने को कहेंगे, तब उनका मुख उदास हो जायगा, उसे हम कैसे देख सकेंगे ॥ ६२ ॥

मुखवर्णं विवर्णं तं यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।
तां हि मे सुकृतां[1] बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥६३॥

राहु से ग्रस्त चन्द्रमा की तरह श्रीरामचन्द्र का उतरा हुआ चेहरा हम कैसे देख सकेंगे ! हम अपने मंत्रियों और हितैषी मित्रों के साथ परामर्श कर जो निश्चय कर चुके हैं ॥ ६३ ॥

कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।
किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥६४॥

उसका बदल जाना, शत्रु से मारी हुई सेना की तरह, हम कैसे देख सकेंगे। फिर देश देशान्तरों से आये हुए राजा लोग सर्व-सम्मति से निश्चित हुए मन्तव्य के विरुद्ध काम होते देख, हमसे क्या कहेंगे ? ॥ ६४ ॥

---

१ सुकृतां—मन्त्रिभिः । (गो०)

बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।
यदा तु बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥

यही न कहेंगे कि, इक्ष्वाकुवंशधर दशरथ निपट बालबुद्धि का है, आश्चर्य है इतने दिनों तक इसने राज्य किस प्रकार किया। फिर जब अनेक वृद्ध गुणवान् और शास्त्रमर्मज्ञ ॥ ६५ ॥

परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामि किमहं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन[1] रामः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

हमसे पूँछेंगे कि, "श्रीरामचन्द्र कहाँ गये ?" तब हम उनको क्या उत्तर देंगे ? क्या हमारा उनके प्रश्न के उत्तर में यह कहना अच्छा होगा कि, कैकेयी के सताने पर हमने श्रीरामचन्द्र को घर से निकाल दिया ॥ ६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥

यदि हम यह सच्ची बात प्रकट कर देंगे तो हमारा वह निश्चय, जो हमने वशिष्ठ वामदेवादि गुरुजनों के समक्ष श्रीरामचन्द्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने के लिये किया है, झूठा हो जायगा। श्रीरामचन्द्र को वनवास देने पर उसकी माता कौशल्या हमसे क्या कहेगी ? ॥ ६७ ॥

किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
यदां यदा च कौसल्या दासीवच्च सखीव च ॥ ६८ ॥

---

१ क्लिश्यमानेन—पीड्यमानेन । (वि०)

और हम ही ऐसा अनिष्ट कार्य कर कौशल्या को क्या उत्तर दे सकेंगे ? हे कैकेयी ! देख, जब समय समय पर कौशल्या, जो सेवा करने में दासी के समान, रहस्य करने में सखी के समान, ॥ ६८ ॥

भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥

धर्मकृत्यों में स्त्री के समान, हितैषिता में सगी बहिन के समान, आग्रहपूर्वक सुस्वाद भोजन कराने में माता के समान है, जो सदा हमसे मधुर वचन बोलती है और हमारा भला चाहती है और जिसका पुत्र भी हमको सब से अधिक प्रिय है ॥ ६९ ॥

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।
इदानीं तप्तपति मां यन्मया सुकृतं[1] त्वयि ॥ ७० ॥

हमारे पास आयी, तब तब हमने, तेरे विचार से (कि, कहीं तू अप्रसन्न न हो जाय) सत्कार करने योग्य उस कौशल्या का यथोचित आदर न किया । तेरे प्रति हमने जो यह सद्व्यवहार किया था, उसका आज हमें उसी प्रकार पश्चात्ताप हो रहा है ; ॥ ७० ॥

अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।
विप्रकारं[2] च रामस्य संप्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥

---

१ सुकृतं—सुष्ठूपचरितं । (गो०) २ विप्रकारं—विपरीत प्रकारं, अभिषेकतिरस्कारं । (गो०)

जिस प्रकार स्वाद किन्तु कुपथ्य भोजन कर रोगी को पश्चात्ताप होता है। श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का तिरस्कार और उनका वनगमन ॥ ७१ ॥

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।
कृपणं[1] वत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥

देख कर डरी हुई सुमित्रा को (भी अपने पुत्रों के विषय में) हमारा विश्वास कैसे होगा ? बड़े ही दुःख की बात है कि, वैदेही को ये दो अप्रिय संवाद सुनने पड़ेंगे ॥ ७२ ॥

मां च पश्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।
वैदेही वत[2] मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥

बड़े ही खेद की बात है कि, जानकी हमारी मृत्यु का और श्रीरामचन्द्र के वनवासी होने का संवाद सुन, इन बातों की चिन्ता में अपने प्राण वैसे ही गँवा देगी ॥ ७३ ॥

हीना हिमवतः पार्श्वे किन्नरेणेव किन्नरी ।
न हि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥

जैसे हिमालय के पास किन्नररहित किन्नरी अपने प्राण गँवा देती है। हम श्रीरामचन्द्र को वन जाते ॥ ७४ ॥

चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

और जानकी जी को रोती देख बहुत दिनों तक नहीं जी सकते । तब तू विधवा हो कर, अपने पुत्र सहित राज्यसुख भोगना ॥ ७५ ॥

---

१ कृपणं—कष्टं । (वि०) २ वतेतिखेदे । (वि०)

न हि प्रव्राजिते रामे देवि जीवितुमुत्सहे ।
सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ॥ ७६ ॥
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ।
अनृतैर्वत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ॥ ७७ ॥

हे देवि ! (खूब समझ ले) श्रीराम जी के वन जाने पर हमें जीने का उत्साह नहीं है। लोग जिस प्रकार शराब के मोहिनी रूप पर मोहित हो उसे पी तो लेते हैं, किन्तु पीछे उसका विष सदृश परिणाम होने पर वे उसे बुरी समझने लगते हैं, उसी प्रकार हम तेरे रूप पर मोहित हो कर, तुझे सती समझ तेरे साथ रहे, किन्तु अब हम समझ गये कि, तू व्यवहार करने में किसी असती से कम नहीं है। तूने हमें झूँठी बातें कह उसी प्रकार खूब भरमाया ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

गीतशब्देन संरुद्ध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ।
अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायिकं ध्रुवम् ॥ ७८ ॥
धिक्करिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ।
अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार बहेलिया गीत गा कर, हिरन को अपने जाल में फँसाता है। हा ! श्रेष्ठ पुरुष अब हमको अनार्य और पुत्र का बेंचने वाला बतला, हमारी उसी प्रकार गली गली निन्दा करेंगे, जिस प्रकार लोग मद्यप ब्राह्मण की किया करते हैं। हा ! बड़े ही कष्ट की बात है कि, हमें तेरे ये कठोर वचन सुनने पड़ते हैं ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम् ।
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ॥ ८० ॥

इस समय हमें वैसे ही इस प्रकार का दुःख भोगना पड़ रहा है जैसे लोग पूर्वजन्म के पापों का फल भोगते हैं। हे पापिन ! हम जैसे पापी ने बहुत दिनों तक उसी प्रकार तेरी रक्षा की ॥ ८० ॥

अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ।
रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ॥ ८१ ॥

जैसे कोई अनजान में अपने गले की फांसी की रक्षा करता है। तेरे साथ विहार करते हुए, उसी प्रकार हम यह न पहचान पाये कि, तू हमारी साक्षात् मौत है; ॥ ८१ ॥

बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार एकान्त में कोई बालक काले सांप के साथ खेलता हुआ, उसे अपनी मौत नहीं पहचानता। हमसे बढ़ कर दुष्ट कौन होगा जो अपने जीते जी, अपने महात्मा पुत्र को पितृहीन कर डाले ॥ ८२ ॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ॥ ८३ ॥

अवश्य ही सारी दुनियां यह कह कर, हमारी निन्दा करेगी कि, राजा दशरथ बड़ा कामी और मूर्ख है. ॥ ८३ ॥

स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ।
व्रतैश्च[1] ब्रह्मचर्यैश्च[2] गुरुभिश्चोपकर्शितः ॥ ८४ ॥

जो स्त्री के कहने से अपने प्यारे पुत्र को वन भेज रहा है। श्री-रामचन्द्र ब्रह्मचर्यावस्था में मधु मांसादि खाने का निषेध होने के कारण ब्रह्मचर्योपयोगी व्रतादि धारण करने के कारण तथा गुरुओं से विद्याध्ययन करते समय परिश्रम करने के कारण वैसे ही लटे दुबले थे ॥ ८४ ॥

भोगकाले[4] महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ।
नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ॥ ८५ ॥
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ।
यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति भाषितः ॥ ८६ ॥
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ।
शुद्धभावो[5] हि भाव[6] मे न तु ज्ञास्यति राघवः ॥८७॥

अब गृहस्थाश्रम में, जब उनके शरीर के हृष्ट पुष्ट होने का समय आया, तब भी उन्हें फिर बड़े बड़े शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। हम अच्छी तरह जानते हैं कि, जब हम उनसे वन जाने को कहेंगे, तब वे सिवाय "बहुत अच्छा" कहने के और कुछ न कहेंगे, किन्तु यदि कहीं वन जाने की आज्ञा सुन वे वन न जांय तो बहुत अच्छा हो। पर हमारा प्यारा बच्चा ऐसा

---

१ व्रतैः—काण्डव्रतैः । (गो०) २ ब्रह्मचर्यैः—मधुमांसवर्जनादि ब्रह्मचारिधर्मैः । (गो०) ३ गुरुभिः—गुरुकृतशिक्षादिभिः । (गो०) ४ भोगकाले गार्हस्थ्यवस्थायाम् । (गो०) ५ शुद्धभावः—शुद्धहृदयः । (गो०) ६ भावं—हृदयं । (गो०)

कमी न करेगा। हमारे अभिप्राय को न जान कर और हमारी कहीं बात को हमारे शुद्ध हृदय से निकली समझ, वह तुरन्त तद्नुसार करेगा ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो वाढमित्येव वक्ष्यति ।
रावणे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ॥ ८८ ॥

और वन जाने के लिये कहते हो वह "बहुत अच्छा" ही कहेगा। श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर सब लोग मुझे धिक्कारेंगे ॥ ८८ ॥

मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ।
मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ॥ ८९ ॥

और किसी को न छोड़ने वाले मृत्युदेव हमें यमपुरी में ले जायँगे। फिर जब हम मर जायँगे और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन में चले जायँगे ॥ ८९ ॥

इष्टे मम जने शेषे[1] किं पापं[2] प्रतिपत्स्यसे[3] ।
कौसल्यां मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ॥९०॥

तब कौशल्यादि बचे हुए हमारे इष्ट लोगों के साथ न जाने तू क्या क्या अन्याय करेगी। जब हमको और श्रीराम अथवा श्रीराम लक्ष्मण को कौशल्यादेवी न देखेंगी ॥ ९० ॥

दुःखान्यसह्यानि देवी मामेवानुभरिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ॥९१॥

---

१ शेषे—कौसल्यादौ । (गो०) २ किंपापं—कस्मिन्यायं । (गो०)
३ प्रतिपत्स्यसे—चिन्तयिष्यसे । (गो०)

प्रक्षिप्य नरके[1] सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ।
मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं[2] सत्कृतं गुणैः ॥ ९२ ॥
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ।
प्रियं चेद्धरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ॥ ९३ ॥

तब इस वियोगजनित शोक को न सह कर, वह हमारे साथ ही प्राण छोड़ देगी। हे कैकेयी! हमें, कौशल्या को, सुमित्रा को और तीनों पुत्रों को दुःख में ढकेल तू सुखी हो। इस इक्ष्वाकु-कुल का, जिसे हम और श्रीरामचन्द्र छोड़ जायंगे और जो बहुतकाल से बराबर क्षोभहीन चला आ रहा है, तू बिना क्षुब्ध किये पालन कर सकेगी (यह व्यङ्गोक्ति है)। यदि श्रीरामचन्द्र का वन को जाना भरत को भी प्रिय लगे ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

मा स्म मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा भव कैकयि ॥ ९४ ॥

तो जब हम मरें तब भरत हमारे शरीर की प्रेतक्रिया (दाह-कर्मादि) न करे। हे दुष्टे! हे वैरिन कैकेयी! तू सफल मनोरथ हो ॥ ९४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९५ ॥

जब हम मर जांय और पुरुष श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन को चले जांय तब तू रांड़ हो कर अपने बेटे को ले कर राज्य करना ॥ ९५ ॥

---

१ नरके—दुःखे । (वि०) २ शाश्वतं—बहुकालकम् । (शि०)

त्वं राजपुत्रीवादेन[1] न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥ ९६ ॥
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ।
कथं रथैर्विभुर्[2]यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ॥ ९७ ॥

तू केवल कथनमात्र की राजपुत्री हो कर हमारे घर में रहती है। (यदि तू सच्ची राजपुत्री होती तो) तेरे कारण तो संसार में हमारी अतुल अपकीर्ति और सब लोगों के सामने पापियों की तरह हमारी अवज्ञा होने का यह समय कभी न आता। हाँ! जो श्रीरामचन्द्र रथ, घोड़े, हाथी आदि वाहनों पर चढ़ के सदा घूमते थे; किस प्रकार वे ॥ ९५ ॥ ९७ ॥

पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ।
यस्य त्वाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ॥ ९८ ॥

हमारे पुत्र श्रीराम विकट वन में पैदल विचरेंगे। जिन श्रीरामचन्द्र को भोजन कराने के लिये कुण्डल पहिने हुए रसोइया आपस में यह कह कर कि, ॥ ९८ ॥

अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रशस्तं पानभोजनम् ।
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ॥९९॥

"हम पहले, हम पहले स्वादिष्ट भोजन और जलपान बनाते हैं"; रसोई तैयार करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जंगल के कसैले, तीते और कटुए ॥ ९९ ॥

---

१ वादेन—व्यपदेशेन । (गो०) २ विभुः—समर्थोरामः । (शि०)

भक्षयन्वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ।
महार्हवस्त्रसंवीतो भूत्वा चिरसुखोषितः ॥ १०० ॥

फलमूल का आहार कर कैसे समय बितावेंगे । जो श्रीरामचन्द्र चिरकाल से अच्छे मूल्यवान वस्त्र धारण करते रहे हैं और मुलायम बिछौनों पर सोते रहे हैं ॥ १०० ॥

काषायपरिधानस्तु कथं भूमौ निवत्स्यति ।
कस्यैतद्दारुणं वाक्यमेवंविधमचिन्तितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ १०१ ॥

वे श्रीरामचन्द्र काषाय वस्त्र पहिन क्यों कर ज़मीन पर सो सकेंगे । नहीं जान पड़ता कि, किस दुष्ट ने श्रीराम के वन जाने और भरत के राज्याभिषेक का दारुण उपदेश तुझको दिया है ॥ १०१ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥१०२॥

धिक्कार है स्त्रियों को जो धूर्त और सदा अपने मतलब में निपुण होती हैं अथवा जो स्वार्थतत्पर होती हैं । हमारा यह कथन सब स्त्रियों के लिये नहीं, किन्तु केवल भरत की माता जैसी स्त्रियों ही के लिये है ॥ १०२ ॥

[नोट—कई टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है कि, दशरथ ने पहिले दुःख एवं क्षोभ के कारण सब स्त्रियों की निन्दा की, किन्तु पीछे जब उनको कौशल्या आदि का स्मरण आया तब उन्होंने अपने प्रथमकथन का भरत की माता का विशेष रूप से उल्लेख कर, संशोधन कर दिया । किन्तु ; शिरोमणि टीकाकार का कथन है कि, " भरतस्य मातरमेव

न ब्रवीमि (किन्तु) सर्वा ब्रवीमि इत्यर्थः" अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में हमने जो कहा है वह केवल भरत की माता ही के लिये नहीं, किन्तु समस्त स्त्रियों ही के लिये है। हमारी समझ में महाराज दशरथ का उक्त कथन उन सभी स्त्रियों के लिये है जो भरत की माता कैकेयी की तरह दूसरों की बातों में आ कर, हठवश विवेक को विदा कर देती हैं और अपने मतलब के सामने दूसरों की हानि की रत्ती भर भी परवाह नहीं करतीं।]

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निविष्टभावे।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथ वापि रामे ॥ १०३ ॥

अनर्थ करने वाली और अपने ही अर्थ के साधन में, सदा तत्पर रहने के कारण नीच स्वभाव की हे कैकेयी! क्या हमें दुःख देने के लिये ही तू हमारे घर आयी है। यह तो बतला हममें अथवा दुनियाँ के हित चाहने वाले श्रीरामचन्द्र में तैने क्या बुराई देखी? ॥ १०३ ॥

परित्यजेयुः पितरो हि पुत्रा-
न्भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः।
कृत्स्नं हि सर्वं क्षुपितं जगत्स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०४ ॥

हे कैकेयी! श्रीरामचन्द्र के वन के कष्टों को देख, सारा संसार क्षुब्ध हो जायगा और उनके साथ वन में रहने के लिये पिता अपने पुत्रों को और पतिव्रता स्त्रियाँ अपने प्यारे पतियों को छोड़

जायँगी अर्थात् श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर संसार में बड़ी उथल पुथल मच जायगी अथवा बड़ा अनर्थ होगा ॥ १०४ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्नपि दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वा च पुनर्युवेव ॥ १०५ ॥

देवकुमार की तरह रूपवान और अलङ्कारों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का अपने निकट आना सुन कर भी हमें वैसी ही प्रसन्नता प्राप्त होती है जैसी उन्हें अपने नेत्रों से देखने पर। और जब हम उन्हें अपने नेत्रों से देखते हैं तब हमारा मन और शरीर नवीन उत्साह से उत्साहित हो जाते हैं अर्थात् हमारे शरीर में जवानी का जोश छा जाता है ॥ १०५ ॥

विनापि सूर्येण भवेत्प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वाऽपि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न[1] कश्चित्त्विति चेतना[2]मे ॥ १०६ ॥

सूर्य के उदय न होने से भले ही संसार के यावत् कार्य होते रहें, इन्द्र द्वारा जल न बरसने पर भले ही दुनिया का निर्वाह हो जाय ; किन्तु श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से वन जाते देख, हम निश्चय पूर्वक कहते हैं कि, कोई भी सुखी न होगा ॥ १०६ ॥

विनाशकामामहितामिवात्मन-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।

---

१ जीवेत्—स्वस्थतयातिष्ठेत् । (शि०) २ चेतना—निश्चयः । (शि०)

चिरं वताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥ १०७ ॥

हा ! हमारे विनाश की इच्छा रखने वाली, अनिष्टकारिणी एवं शत्रुरूपिणी तुझे हमने अपने मृत्यु की तरह, घर में बसाया और बहुत दिनों तक, महाविष वाली तुझ सर्पिन को, मोहवश अपनी गोद में रखने के कारण ही (आज) हम मारे जाते हैं ॥ १०७ ॥

मया च रामेण च लक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी[1] ॥ १०८ ॥

अब तू, श्रीराम लक्ष्मण और हमें तिलाञ्जलि दे कर, अपने पुत्र भरत के साथ राज्य करना और हमारे बन्धुबान्धवों, नगरों व देशों को उजाड़ अथवा नष्ट कर हमारे वैरियों को प्रसन्न कर अथवा हमारे वैरियों से प्रीति कर ॥ १०८ ॥

नृशंसवृत्ते[2] व्यसन[3]प्रहारिणि
प्रसह्य[4] वाक्यं यदिहाद्य[5] भाषसे ।
न नाम ते केन मुखात्पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०९ ॥

---

१ अभिहर्षिणी—मम अमित्रेषु स्नेहयुक्ता भवेत्यर्थः । (वि०) २ नृशंसवृत्ते—क्रूरव्यापारे । (गो०) ३ व्यसनप्रहारिणि—विपदिप्रहरणशीले । (गो०) ४ प्रसह्य—यतिस्वातन्त्र्यंतिरस्कृत्य । (गो०) ५ अद्य—अस्मिन्काले । (गो०)

अरी क्रूरकर्मे ! अरी गात्र ढाने वाली ! पति के सामने न कहने योग्य बातें कहते समय मुख से गिर कर तेरे दाँतों के हज़ारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ॥ १०६ ॥

न किञ्चिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।
कथं नु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान्गुण नित्यसम्मते ॥ ११० ॥

हमारे श्रीराम ने कभी तुझसे कोई अप्रिय बात नहीं कही—और वे कहते ही कैसे, क्योंकि वे तो किसी से अप्रियवचन कहना जानते ही नहीं। तब सदा प्रियभाषी, सकल-गुण-सम्पन्न श्रीरामचन्द्र में तू दोषारोपण क्यों करती है ? ॥ ११० ॥

प्रताम्य[1] वा प्रज्वल[2] वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटिता[3] महीं व्रज ।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसनि ॥ १११ ॥

अरी केकय-राज-कुल-कलङ्किनी कैकेयी ! चाहे तू उदास हो, चाहे तू कुपित हो, चाहे तू विष खा कर मर जा, अथवा चाहे तू पत्थर से सिर फोड़ डाल, या तू ज़मीन में समा जा, किन्तु तेरी इस दारुण बात को, जिसके करने से सरासर हमारा अहित है, हम कभी न मानेंगे ॥ १११ ॥

---

१ प्रताम्य—ग्लानिंभज । (गो०) २ प्रज्वल—कुपिताभव । (गो०)
३ स्फुटिता—प्रस्तरादिप्रहारै स्फुटिताशिराः । (शि०)

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां[1]
प्रदुष्टभावां[2] स्वकुलोपघातिनीम् ।
न जीवितुं त्वां[3] विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्[4] ॥ ११२ ॥

क्योंकि तू, छुरे के समान हृदय विदीर्ण करने वाले असत्य, किन्तु मीठे वचन बोलने वाली है, तेरा हृदय दुष्टता से भरा है, तू अपने ही कुल का नाश करने वाली है, तूने हमारे हृदय को प्राणों सहित खूब जलाया है, अतएव तू देखने में स्वरूपवती होने पर भी, अपने इन अवगुणों के कारण भयङ्कर है। हम भी नहीं चाहते कि, ऐसी दुष्टा जीती रहै (अर्थात् तू जो बार बार मरने की हमें धमकी देती है सो तुझ जैसी दुष्टा और अनर्थकारिणी का मरना ही हम अच्छा समझते हैं ॥ ११२ ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनाऽत्मजेनात्मवतः कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ ११३ ॥

श्रीरामचन्द्र विना हम जीवित नहीं रह सकते । फिर सुख और प्रीति की चर्चा ही करनी व्यर्थ है । हे देवि ! देख अब भी मान

---

१ असत्प्रियंवदां—मिथ्याप्रियवादिनीम् । (गो०) २ प्रदुष्टभावां—प्रकर्षेण दुष्टहृदयाम् । (गो०) ३ नविषहे—नोत्सहे । (रा०) ४ सबन्धनम्—सप्राणं । (वि०)

जा और हमारा अनिष्ट मत कर। हम तेरे पैरों पड़ते हैं, अब दया कर ॥ ११३ ॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथव-
त्स्त्रिया[1] गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया[2]।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसंस्पृश्य यथाऽन्तुरस्तथा ॥ ११४ ॥

इति द्वादशः सर्गः ॥

(उस प्रकार धमकाने और खुशामद करने पर भी जब कैकेयी न मानी, तब) महाराज दशरथ अनाथों के समान गिड़गिड़ाते हुए और अपने हृदय को कैकेयी के अधीन कर के उसके चरणों पर वैसे ही गिर कर मूर्च्छित हो गये, जैसे मरणोन्मुख रोगी मूर्च्छा आ जाने पर, गिर पड़ता है ॥ ११४ ॥

अयोध्याकाण्ड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

त्रयोदशः सर्गः

—:०:—

अतदर्ह[1] महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ॥ १ ॥

---

१ स्त्रिया हृदये गृहीतः—तदधीनहृदय इत्यर्थः। (गो०) २ अतिमात्रया—अमर्यादया। (गो०) भूमिपालोपितां—निग्रहीतुमसमर्थइत्यर्थः। (गो०)

१ अतदर्हं—तादृशदुःखानर्हं। (गो०)

इस प्रकार अनुचित रीति से ज़मीन पर पड़े हुए महाराज दशरथ ऐसे जान पड़ते थे, मानों पुण्यनाश होने पर राजा ययाति स्वर्ग से गिर कर पड़े हों ॥ १ ॥

अनर्थरूपा[1]ऽसिद्धार्था[2] ह्यभीता भयदर्शिनी ।
पुनराकारयामास[3] तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥

पापरूपा कैकेयी का प्रयोजन सिद्ध न हुआ तब वह स्वयं निडर हो और महाराज को भय दिखाती हुई, वही वर फिर मांगने के लिये बोली ॥ २ ॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः ।
मम चेमं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

हे महाराज ! तुम तो अपने को सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ बतला कर अपना बखान करते थे, किन्तु वर देने का वादा कर, अब देने में आनाकानी क्यों करते हो ? ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा ।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥ ४ ॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज दशरथ मुहूर्त भर विकल हो, तदनन्तर क्रुद्ध हो बोले ॥ ४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥ ५ ॥

---

१. अनर्थरूपा—पापरूपा । (गो०) २ असिद्धार्था—अनिष्पन्नप्रयोजना । (गो०) ३ आकारयामास—सम्बोधयामास । (गो०)

हे पापिन ! हमारे मर जाने के बाद और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के बन जाने पर, सुखी हो कर तू अपनी सब मनोकामनाएँ पूरी कर ॥ ५ ॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।
प्रत्यादेशादभिहितं[1] धारयिष्ये[2] कथं बत ॥ ६ ॥

स्वर्ग में भी जब देवता श्रीराम की कुशल पूँछेंगे और (हमारे यह कहने पर कि, हमने श्रीरामचन्द्र जैसे गुणवान् पुत्र को बनवास दिया, जब वे) धिक्कारेंगे, तब हम अपना यह अपमान वहाँ कैसे सह सकेंगे ॥ ६ ॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो मया ।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

और धिक्कार से बचने के लिये यदि हम यह कहेंगे कि, "कैकेयी को प्रसन्न रखने के लिये हमने श्रीरामचन्द्र को बनवास दिया ;" तो हमारी इस बात पर कोई भी देवता विश्वास न करेगा और हम झूठे समझे जायंगे ॥ ७ ॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।
रामो लब्धो महाबाहुः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥

बहुत दिनों तक निःपुत्र रह कर, बड़े कष्टों से तो हमें पुत्र मिले—सो महाबाहु श्रीरामचन्द्र को भला हम कैसे त्यागें ? ॥ ८ ॥

---

१ प्रत्यादेशादभिहितं—धिक्कारपूर्वमभिहितं । (गो०) २ धारयिष्ये-सहिष्ये । (गो०)

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥

शूर, विद्वान्, शान्त स्वभाव, और सहिष्णु कमलनयन श्रीराम को हम किस तरह देशनिकाला दें ॥ ९ ॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम् ।
अभिराममहं रामं प्रेषयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥

नीलकमल की तरह श्याम शरीर वाले, लंबी भुजाओं वाले तथा सुन्दर श्रीरामचन्द्र को क्या हम दंडकवन में भेज सकते हैं ? ॥ १० ॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र सुखों के योग्य और दुःखों के अयोग्य हैं, उन बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र को हम दुःखी कैसे देख सकते हैं ॥ ११ ॥

यदि दुःखमकृत्वाद्य मम संक्रमणं[1] भवेत् ।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥

दुःख सहने के सर्वथा अयोग्य श्रीराम के दुःख को हम बिना देखे ही मर जाते तो हमें स्वर्ग में तो सुख मिलता ॥ १२ ॥

नृशंसे पापसङ्कल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।
किं विप्रियेण[2] कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥

---

१ संक्रमणं—देहान्तरं । (गो०) २ विप्रियेण—दण्डकारण्यगमनेन । (वि०)

हे निर्दयिन्! हे पापिन कैकेयी! तू हमारे प्यारे और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को किस लिये हमसे वन भिजवाती है ॥ १३ ॥

अकीर्त्तिरतुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ।
तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥

ऐसा करने से दुनिया में हमारी बड़ी निन्दा और बदनामी होगी। इस प्रकार महाराज दशरथ को घबड़ाते और विलाप करते करते ॥ १४ ॥

अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।
साऽत्रियामा तथाऽऽर्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥

सन्ध्या हो गयी और रात चढ़ने लगी। रात चाँदनी होने पर भी दुःखित महाराज को ॥ १५ ॥

राज्ञो विलपतस्तस्य न व्यभासत शर्वरी ।
तथैवोष्णं विनिश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥

अत्यन्त विलाप करने के कारण, वह रात आनन्ददायिनी न हुई। वृद्ध महाराज दशरथ बारंबार गरम साँसे ले ॥ १६ ॥

विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः ।
न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषणे ॥ १७ ॥

दुखिया की तरह दुःखी हो विलाप करने लगे। उनकी आँखें आकाश की ओर जा लगीं अर्थात् वे आकाश को निहारने लगे और कहने लगे—हे नक्षत्रों से भूषित, निशे! हम तेरा प्रभात-काल नहीं चाहते ॥ १७ ॥

क्रियतां मे दया भद्रे रचितोऽयं मयाञ्जलिः ।
अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम्[1] ॥ १८ ॥

हे भद्रे ! हम तुझसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं कि, हमारे ऊपर दया कर, अथवा शीघ्र ही समाप्त हो जा । हम इस निर्दयिन ॥ १८ ॥

नृशंसां केकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं महत् ।
एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥१९॥

और क्रूर कैकेयी का मुख देखना नहीं चाहते, क्योंकि इसने हमें बड़ा दुःख दिया है । यह कह महाराज पुनः हाथ जोड़ कर कैकेयी को ॥ १९ ॥

प्रसादयामास पुनः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ।
साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य[2] गतायुषः ॥ २० ॥

मनाने के लिये उससे बोले । हम धर्मात्मा, दीन, तेरे शरण आये हुए और थोड़े दिनों जीने वाले हैं ॥ २० ॥

प्रसादः क्रियतां देवि भद्रे राज्ञो विशेषतः ।
शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥२१॥

हे भद्रे ! विशेषतः यह जान कर कि, हम राजा हैं, और एकान्त में नहीं, हम भरी सभा में श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की घोषणा कर चुके हैं (यदि अब श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक न हुआ, तो लोग हमारी बड़ी निन्दा करेंगे ।) तू हमारे ऊपर कृपा कर ॥ २१ ॥

---

१ निर्घृणाम्—निर्दयाम् । (गो०) २ त्वद्गतस्य—त्वदेकशरणस्यत्यर्थः । (गो०)

कुरु साधु प्रसादं मे बाले सहृदया[1] ह्यसि ।
प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ।
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्नुहि ॥ २२ ॥

हे बाले ! तू रसज्ञा है, अतः अपनी ओर से श्रीरामचन्द्र को अक्षय्य राज्य दे कर तू हमें प्रसन्न कर। हे कैकेयी ! ऐसा करने से तेरी बड़ी नामवरी होगी ॥ २२ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ।
प्रियमेतद्गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥ २३ ॥

ऐसा करने से हमीको नहीं, किन्तु श्रीरामचन्द्र, भरत, और बड़े बड़े लोगों को—यहां तक कि, समस्त संसार को बड़ी प्रसन्नता होगी। हे चारुमुखी ! रामराज्याभिषेक होने दे ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
ताम्रेक्षणस्याश्रुकलस्य राज्ञः ।
श्रुत्वा विचित्रं[2] करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

शुद्ध हृदय महाराज दशरथ दीन हो विलाप करते हुए रोने लगे। रोते रोते उनकी दोनों आंखें लाल हो गयीं, किन्तु खुशामद और धमकी से भरे हुए उनके करुण विलाप पर उस दुष्टा कैकेयी ने कुछ भी ध्यान न दिया ॥ २४ ॥

---

१ सहृदया—रसज्ञा । (शि०) २ विचित्रं—प्रसादनभर्त्सन सहितत्वात् । (गो०)

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामदुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

महाराज, कैकेयी को अप्रसन्न देख और उसकी ऊटपटांग बातें सुन, और श्रीरामचन्द्र का वनगमन निश्चय जान, दुःखी हो कर अचेत हो गये और ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगामं घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इति अयोद्शः सर्गः ॥

इस प्रकार के कष्ट में और क्षण क्षण में दीर्घ निःश्वास त्यागते हुए, मनस्वी महाराज दशरथ ने वह रात काटी । प्रातःकाल होते ही (नित्य नियमानुसार) महाराज को जगाने के लिये बाजे बजे, किन्तु महाराज ने उनका बजाना रुकवा दिया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि ।
विवेष्टमानमुद्वीक्ष्य सैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

पुत्रशोक से विह्वल, किंकर्त्तव्य विमूढ़, और ज़मीन पर छट-पटाते हुए, महाराज दशरथ को देख पापिन कैकेयी बोली ॥ १ ॥

पापं कृत्वैव किंमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् ।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! पहले यह प्रतिज्ञा कर कि, हम अभी तुझे दो वर देते हैं और फिर उन्हें न देने का पाप कर, तुम पीड़ित हो जो पृथिवी पर लोट रहे हो सो इसका क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।
सत्यमाश्रित्य हि मया त्वं च धर्मप्रचोदितः ॥ ३ ॥

धर्म का मर्म जानने वाले लोग सत्य ही को परम धर्म बतलाते हैं । सो मैं उसी सत्य को अवलंबन कर तुमको धर्मपालन को प्रेरणा करती हूँ । अर्थात् वर देने के लिये तुमसे कहती हूँ ॥ ३ ॥

संश्रुत्य शैव्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।
प्रदाय पक्षिणे राजञ्जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥

देखो, पहले राजा शैव्य ने प्रतिज्ञा कर अपना शरीर तक श्येन पक्षी को दे डाला था और इससे उनको उत्तम गति प्राप्त हुई थी ॥ ४ ॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥

इसी प्रकार तेजस्वी अलर्क ने, किसी अंधे वेदपाठी ब्राह्मण के मांगने पर, प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये थे ॥ ५ ॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः ।
सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥

सब नदियों का स्वामी समुद्र भी सत्य का पालन करने के लिये पूर्णमासो को भी, अपनी मर्यादा से अधिक नहीं बढ़ता ॥ ६ ॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम् ॥ ७ ॥

सत्य ही (एकमात्र) मुख्यतः ब्रह्म है. सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है, अक्षय्य वेद भी सत्य ही का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं । सत्य से चित्त शुद्ध हो कर, ब्रह्म तक की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥

हे राजन् ! यदि आपकी धर्म में बुद्धि है, तो सत्य का पालन करते हुए, मुझे मेरे मांगे हुए दोनों वर दीजिये । क्योंकि आप वरदानी हैं ॥ ८ ॥

धर्मस्ये[1] ह्याभिकामार्थं[2] मम चैवाभिचोदनात् ।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥ ९ ॥

आप अपना परलोक बनाने के लिये और मेरी प्रेरणा से रामचन्द्र को वन में भेज दो। यह बात मैं एक बार नहीं, तीन बार कहती हूँ। (तीन बार कहने का अभिप्राय यह है कि, मैं अपनी बात को बदलूँगी नहीं) ॥ ९ ॥

समयं[3] च ममाद्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अग्रतस्ते परित्यक्ता[4] परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥

यदि आप राम को वन न भेजेंगे, तो इस अनादर को सहन न कर, मैं आपके ही सामने अपने प्राण छोड़ दूँगी—(अर्थात् आपके माथे स्त्रीवध का पाप चढ़ाऊँगी) ॥ १० ॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया ।
नाशकत्पाश[5]मुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

निर्भीक हो कैकेयी के इस प्रकार कहने पर महाराज दशरथ सत्य के पाश में बँध गये और वे उसी प्रकार उस पाश से न छूट सके जिस प्रकार वामन जी के सत्यपाश से राजा बलि नहीं छूट सके थे ॥ ११ ॥

उद्भ्रान्तहृदयाश्चापि विवर्णवदनोऽभवत् ।
स धुर्यो वै परिस्पन्द[6]न्युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥

---

१ धर्मस्य—परलोक सिद्धिप्रयोगकस्य । (वि०) २ अभिकामार्थं—प्रीत्यर्थं । (गो०) ३ समयं—रामविवासनं । (गो०) ४ परित्यक्ता—उपेक्षिता । (गो०) ५ पाशं—सत्यपाशं । (गो०) ६ परिस्पन्दन्—गच्छन् । (गो०)

उस समय महाराज दशरथ पागल से हो गये, उनका चेहरा फीका पड़ गया। जिस प्रकार दो पहियों के बीच घूमती हुई धुरी चञ्चलता प्रकट करती है, उसी प्रकार उनका भी चित्त चञ्चल हो गया। अथवा जिस प्रकार दो पहिये की गाड़ी में जुता हुआ बैल (या घोड़ा), निकलने के लिये प्रयत्न करने पर भी विफल मनोरथ होने के कारण विकल होता है और उदास हो जाता है, उसी प्रकार महाराज दशरथ उदास और विफल हुए ॥ १२ ॥

[नोट—शिरोमणि टीकाकार ने यही अर्थ किया है—स राजा उद्भ्रान्त हृदयः सञ्चलितचित्तः अभवत् तत्र दृष्टान्तः युगचक्रान्तरं युगचक्रयोर्मध्यं प्राप्येति शेषः परिस्पन्दन् निःसरणार्थम् चेष्टां कुर्वन् धुर्यः अनड्वानिव ।]

विह्वलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव[1] स भूपतिः ।
कृच्छ्राद्धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

चिन्ता और शोक के कारण महाराज दशरथ इतने विह्वल हो गये थे कि, उन्हें नेत्रों से कुछ भी देख नहीं पड़ता था अर्थात् उस समय वे अन्धे की तरह हो गये थे। बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण कर और मन को वश में कर, वे फिर कैकेयी से यह बोले (अथवा कातर दृष्टि से देखते हुए महाराज ने बहुत कष्ट से अधीर हो कर कैकेयी से कहा) ॥ १३ ॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
तं त्यजामि स्वजं[2] चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

हे पापिन ! विवाह के समय अग्नि के सामने वैदिक मंत्रोच्चारण पूर्वक हमने जो तेरा हाथ पकड़ा था, उस हाथ को हम अपने

१ अपश्यन्निव—अन्धइवस्थितः भूमिपः । (गो०) २ स्वजं—स्वस्माज्जातमपि । (गो०)

औरस जात ; किन्तु तेरे गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने पुत्र भरत सहित तुझे आज छोड़ते हैं। (अर्थात् आज से न तो तू हमारी स्त्री रही और न तेरी कोख से जन्मे भरत हमारे पुत्र ही रहे) ॥ १४ ॥

[नोट—यह एक प्रकार की "तलाक" Divorcement है। किन्तु वास्तव में हिन्दू समाज में जो प्रतिज्ञा अग्नि आदि देवताओं के समक्ष की जाती है वह अमिट है। सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भले ही पति अपनी पत्नी को छोड़ दे, किन्तु पारलौकिक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता। महाराज दशरथ द्वारा कैकेयी की तलाक की बात यहाँ लिखी ही है। आगे उत्तरकाण्ड में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सीता जी के परित्याग की कथा भी मिलेगी।]

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकं गुरुजनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

हे देवि ! अब रात बीतने पर है और सूर्य भगवान् उदय होने वाले हैं। अतः गुरुजन लोग आ कर अवश्य ही श्रीरामराज्याभिषेक जल्दी करने के लिये मुझे प्रेरित करेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिये जो सामग्री इकट्ठी की गयी है, उससे अभिषेक तो न होगा, किन्तु उससे श्रीरामचन्द्र मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेंगे ॥ १६ ॥

त्वया सपुत्रया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।
व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥

खबरदार ! तू या तेरा पुत्र भरत हमारे प्रेतकर्म में हाथ न लगावें। क्योंकि जब तू श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक में बाधा डाल

रही है, तब हमारा और तेरा या तुझसे सम्बन्ध युक्त लोगों का हमसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

[नोट—इसी लिये महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है—

जिनके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ।

महात्मा जी की इसी भक्ति को महाराज दशरथ ने यहाँ चरितार्थ किया है ।]

न च शक्ष्योम्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथा सुखम् ।
हतहर्षं निरानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

श्रीरामाभिषेक से प्रसन्नमुख और उसके अभाव से क्लेशित हुए लोगों का उदासमुख हमसे नहीं देखा जायगा ॥ १८ ॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रशालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा महाराज दशरथ के इस प्रकार बोलते बोलते चन्द्रमा और तरैयों से सुशोभित रात बीत गयी और सवेरा हो गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्छिता ॥ २० ॥

बात कहने में अत्यन्त चतुरा और पापिष्ठा कैकेयी बड़ी क्रुद्ध हो महाराज से पुनः कठोर वचन कहने लगी ॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन्वाक्यमङ्गरुजोपमम्[1] ।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥

---

१ अङ्गरुजोपमम्—सर्वाङ्गव्याप्त महाव्याधिसदृशं । (गो०)

हे राजन्! सर्वाङ्ग में व्याप्त महाव्याधि वाले पुरुष की तरह आप यह क्या बकझक कर रहे हैं! अब आप रामचन्द्र को यहां बुलवाइये ॥ २१ ॥

स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

मेरे बेटे भरत को राजसिंहासन पर बिठा और रामचन्द्र को वन भेज तथा मुझे सौतहीन कर दो, तभी आप कृतकृत्य अर्थात् अपनी बात के पूरे कहला सकोगे ॥ २२ ॥

स नुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः ।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उस समय कैकेयी द्वारा बार बार प्रेरित किये जाने पर, महाराज दशरथ की वैसी ही दशा हुई जैसी कि किसी उत्तम जाति के घोड़े की चाबुक से मारे जाने पर होती है। वे बोले ॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना ।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥२४॥

इस समय सत्यपाश में जकड़ जाने से हमारी बुद्धि काम नहीं करती। अब हम अपने ज्येष्ठ और प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र को देखना चाहते हैं ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे ।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समाहिते ॥ २५ ॥

इतने में सबेरा भी हो गया, रात बीत गयी, सूर्य भगवान् उदय हुए। पुण्य समय पर शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्तकाल भी आ उपस्थित हुए ॥ २५ ॥

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तदा ।
उपसंगृह्य सम्भारान्प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

सर्वगुणसम्पन्न भगवान् वशिष्ठ अपने शिष्यों से घिरे हुए और अभिषेक की सामग्री लिये हुए उत्तम पुरी में आये ॥ २६ ॥

[नोट—"प्रविवेश पुरोत्तमन्" इससे जान पड़ता है कि, वशिष्ठादि ऋषिगण जो महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में थे, बस्ती में नहीं रहते थे। उनके आवासस्थान नगर के किसी बाहिरी भाग में किसी एकान्त स्थल में बने हुए थे।]

[जिस समय वशिष्ठ जी नगरी में आये उस समय की पुरी की सजावट उन्होंने किस प्रकार की देखी इसका वर्णन आगे दिया गया है]

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।
विचित्रकुसुमाकीर्णां नानास्त्रग्भिर्विराजिताम् ॥ २७ ॥

वशिष्ठ जी ने देखा कि, राजधानी की सब सड़कें स्वच्छ थीं, उन पर छिड़काव किया गया था। जिधर देखो उधर ध्वजाएँ एवं पताकाएँ फहरा रही थीं। तरह तरह के विचित्र फूल सड़कों पर फैले हुए थे और जगह जगह पुष्पमालाएँ लटकी हुई थीं ॥ २७ ॥

संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ।
महोत्सवसमाकीर्णां राघवार्थे समुत्सुकाम् ॥ २८ ॥

सब लोग प्रसन्नचित्त देख पड़ते थे। बाज़ारों की दूकानों में तरह तरह के माल भरे हुए थे। श्रीरामराज्याभिषेक के उपलक्ष में लोग तरह तरह के उत्सव मना रहे थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक हो रहे थे ॥ २८ ॥

चन्दनागरुधूपैश्च सर्वतः प्रतिधूपिताम् ।
तां पुरीं समतिक्रम्य पुरन्दरपुरोपमाम् ॥ २९ ॥

चारों ओर चन्दन और अगर मिली धूप जलाने से सुगन्ध उड़ रही थी। इस प्रकार की अमरावती के तुल्य अयोध्यापुरी में हो कर ॥ २९ ॥

ददर्शान्तःपुरं श्रेष्ठं नानाद्विजगणायुतम् ।
पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् ॥ ३० ॥

वशिष्ठ जी श्रेष्ठ राजमन्दिर में पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि, राजमन्दिर के द्वार पर, अनेक द्विज, पुरवासी और ब्राह्मण अपनी उपस्थिति से वहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३० ॥

यज्ञविद्भिः सुसम्पूर्णं सदस्यैः परमद्विजैः ।
तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ॥ ३१ ॥

वहाँ पर यज्ञक्रिया में कुशल ब्राह्मण भी मौजूद हैं, राजद्वारी भी जमा हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोगों की भीड़ लगी है। भीड़ को हटाते किसी तरह वशिष्ठ जी अन्तःपुर के दरवाज़े पर पहुँचे ॥ ३१ ॥

वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिर्विवेश च ।
स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ॥ ३२ ॥
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ।
तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् ॥ ३३ ॥
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ।
इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ॥ ३४ ॥

महर्षि वशिष्ठ जी ने प्रसन्नता पूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश किया। भीतर जाते समय अन्तःपुर के दरवाज़े पर उनकी भेंट शोभनमूर्ति सारथी सुमंत्र से हुई, जो भीतर से बाहिर आ रहे थे। महातेजस्वी वशिष्ठ जी ने बुद्धिमान सूतपुत्र सुमंत्र से कहा—कि हमारे यहाँ आने की सूचना तुरन्त महाराज को दो। साथ ही यह भी कह देना कि, वशिष्ठ जी अपने साथ सोने के घड़ों में गङ्गा जल और सागरजल ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ।
सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च ॥ ३५ ॥

और अभिषेक के समय राजकुमार के बैठने के लिये गूलर की लकड़ी की चौकी भी लाये हैं। सब प्रकार के बीज, सब सुगन्ध-युक्त वस्तुएँ और भाँति भाँति के रत्न ॥ ३५ ॥

क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ।
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ॥ ३६ ॥

शहद, दही, घी, खीलें, कुश, फूल, दूध, सुन्दरी आठ कन्याएँ, मस्त सफेद हाथी ॥ ३६ ॥

चतुरश्वो रथः श्रीमान्निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ।
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसन्निभम् ॥ ३७ ॥

चार घोड़ों का रथ, उत्तम खड्ग, सुन्दर धनुष, कहारों सहित पालकी, चन्द्रमा के समान उज्वल छत्र ॥ ३७ ॥

श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारश्च हिरण्मयः ।
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान्पाण्डुरो वृषः ॥ ३८ ॥

दो सफेद चँवर, सोने की झारी, सोने के पत्रों से मढ़े हुए सींगों वाला सफेद बैल ॥ ३८ ॥

केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ।
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिद्धश्च हुताशनः ॥ ३९ ॥

चार दाढ़ का शेर, बड़ा बलवान घोड़ा, सिंहासन, बाघम्बर, समिधा, अग्नि ॥ ३९ ॥

सर्ववादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालङ्कृताः स्त्रियः ।
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ॥४०॥

सब प्रकार के बाजे, शृङ्गार किये हुए रंडियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, हिरन, पक्षी मौजूद हैं ॥ ४० ॥

पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च[1] गणैः[2] सह ।
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः ॥ ४१ ॥

और मुखिया पुरवासी, अपने समुदायों को साथ लिये हुए महाजन लोग तथा इनके अतिरिक्त और भी अनेक सज्जन, प्रीति-युक्त हो, और प्रिय वचन बोलते हुए ॥ ४१ ॥

अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ।
त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि ॥ ४२ ॥

अपने अपने राजाओं के साथ श्रीरामचन्द्र का अभिषेक देखने को आये हुए हैं, महाराज से जा कर कहो कि जल्दी करें ॥ ४२ ॥

---

१ नैगमाः—वणिजः । (वि०) २ गणैः—स्वगणैः । (वि०)

पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महात्मनः ॥ ४३ ॥

जिससे पुष्य नक्षत्र में श्रीरामचन्द्र जी को राज्य मिल जाय। वशिष्ठ जी के ये वचन सुन महात्मा सुमंत्र ॥ ४३ ॥

स्तुवन्नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ।
तं तु पूर्वोदितं[1] वृद्धं द्वारस्था राजसम्मतम् ॥ ४४ ॥

महाराज की जैजैकार पुकारते हुए राजभवन के भीतर जाने लगे। महाराज ने बूढ़े सुमंत्र की ड्योढ़ी माफ कर दी थी (अर्थात् महल के द्वारपालों को आज्ञा दे दी थी कि, सुमंत्र को रोकें नहीं) ॥ ४४ ॥

[नोट—इस श्लोक में सुमंत्र के लिये "वृद्ध" शब्द आया है। अतः इससे जान पड़ता है कि, सुमंत्र की ड्योढ़ी इसी लिये माफ़ कर दी गयी थी कि वे बूढ़े थे। अन्य लोग बिना इत्तिला रनवास में नहीं जा सकते थे।]

न शेकुरभिसन्रोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ।
स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान् ॥ ४५ ॥

अतः महाराज की प्रसन्नता के लिये (अर्थात् महाराज के आज्ञानुसार) द्वारपालों ने सुमंत्र को भीतर जाने दिया और उन्हें रोका नहीं। सुमंत्र महाराज के निकट पहुँच गये। किन्तु वे उस समय की महाराज की अवस्था से अपरिचित थे ॥ ४५ ॥

वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ।
ततः सूतो यथाकालं[2] पार्थिवस्य निवेशने ॥ ४६ ॥

---

१ पूर्वोदितं—अयंसर्वदा अनिवार्य इति राज्ञापूर्वमुक्तं । (गो०)

२ यथाकालं—प्रातःकालहि । (गो०)

अतः (शिष्टाचार के नियमानुसार) सुमंत्र परम प्रसन्न हो महाराज की वैसी ही स्तुति करने लगे जैसी कि, प्रातःकाल राजाओं की स्तुति करने का उस समय रिवाज़ था ॥ ४६ ॥

सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जंगतीपतिम् ।
यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये ॥ ४७ ॥

सुमंत्र ने हाथ जोड़ कर महाराज की स्तुति की। वे बोले—हे महाराज ! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तेजस्वी सागर हर्षित होते हैं ॥ ४७ ॥

प्रीतः प्रीतेन मनसा तथानन्दय नः स्वतः ।
इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार आप प्रसन्न हो कर, प्रसन्न मन से हम लोगों को हर्षित कीजिये। इसी समय (अर्थात् सवेरे , सारथी ने इन्द्र की स्तुति की थी ॥ ४८ ॥

सोऽजयद्दानवान्सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
वेदाः सहाङ्गविद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं विभुम् ॥ ४९ ॥
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य यथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ॥५०॥

जब इन्द्र ने सब असुरों को परास्त किया था। उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याएँ ब्रह्मा जी को जगाती हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। जिस प्रकार सूर्यदेव चन्द्रमा सहित, सब प्राणियों को धारण करने वाली और शुभ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।
उत्तिष्ठाशु महाराज कृतकौतुकमङ्गलः[1] ॥ ५१ ॥

पृथिवी को जगाते हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ। हे महाराज ! उठिये और शुभ वेष बना सब को दर्शन दे आनन्दित कीजिये ॥ ५१ ॥

विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ ५२ ॥

और वसन आभूषणों द्वारा शरीर अलङ्कृत कर, सुमेरु पर्वत पर सूर्य की तरह, सोमा को प्राप्त हूजिये। हे काकुत्स्थ ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुबेर ॥ ५२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ ५३ ॥

वरुण, अग्नि, और इन्द्र सब आपको विजय करें। देखिये भगवती निशा बीत गयी और मङ्गलकारी दिन उपस्थित हो गया ॥ ५३ ॥

प्रतिबुध्यस्व राजर्षे कुरुकार्यमनन्तरम् ।
उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् ॥ ५४ ॥

हे राजर्षे ! उठिये और आगे के कार्यों को कीजिये। क्योंकि अभिषेक का सामान तैयार है ॥ ५४ ॥

पौरजानपदैश्चापि नैगमैश्च कृताञ्जलिः ।
अयं वसिष्ठो भगवान्ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ॥ ५५ ॥

---

१ कृतकौतुकमङ्गलः—सर्वानन्दोत्पादनाय कृतदेहालङ्कार इत्यर्थः । (गो०)

नगरनिवासी, तथा जनपदनिवासी एवं महाजन लोग हाथ जोड़े खड़े हैं। भगवान वशिष्ठ जी भी ब्राह्मणों सहित आ गये हैं ॥ ५५ ॥

क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन्राघवस्याभिषेचनम् ।
यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायकाः ॥ ५६ ॥

हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक का कार्य आरम्भ करने की आज्ञा शीघ्र दीजिये। क्योंकि जिस प्रकार चरवाहे के विना पशु, सेनापति के विना फौज ॥ ५६ ॥

यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ।
एवं हि भवता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ॥ ५७ ॥

चन्द्रमा के विना रात्रि, और सांड़ के विना गौ, किसी काम की नहीं—वैसे ही राजा विना राज्य भी किसी काम का नहीं ॥ ५७॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ।
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ॥ ५८ ॥

सुमंत्र के ऐसे शान्तियुक्त वचन सुन, महाराज फिर शोक में डूब गये ॥ ५८ ॥

ततः स राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ।
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ॥ ५९ ॥

फिर कुछ सँभल और श्रीरामचन्द्र के शोक में ग्रसित हो, मारे क्रोध के लाल आंखें कर, धर्मात्मा श्रीमान् दशरथ ने सुमंत्र की ओर देखा और उनसे कहा ॥ ५९ ॥

वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ।
सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ॥ ६० ॥

हे सुमंत्र ! तुम्हारे ये स्तुतिवाक्य हमें पुनः अत्यन्त कष्टदायक हुए हैं। सुमंत्र महाराज की यह करुण वाणी सुन और उनकी दीन दशा देख ॥ ६० ॥

प्रगृहीताञ्जलिः महुस्तस्मादेशादपाक्रमत् ।
यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ॥६१॥

हाथ जोड़, जहां पहले खड़े थे वहां से कुछ पीछे हट कर खड़े हुए। जब महाराज दीनता के कारण कुछ और न बोल सके ॥६१॥

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ।
सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ॥ ६२ ॥

तब अपना काम बनाने में निपुण कैकेयी सुमंत्र से बोली। हे सुमंत्र ! रामचन्द्र के अभिषेक के आनन्द में मग्न होने के कारण महाराज को रात भर नींद नहीं आयी ॥ ६२ ॥

प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ।
तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ६३ ॥

रात भर जागने के कारण थक कर वे अब सो रहे हैं। अतः हे सूत ! तुम फौरन जा कर यशस्वी राजकुमार ॥ ६३ ॥

रामभानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६४ ॥

रामचन्द्र को यहाँ बुला लाओ। इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है। यह सुन सुमंत्र ने समझा कि श्रीरामचन्द्र जी के आने से महाराज का मन ठीक ठिकाने होगा, अतः वे प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

निर्जगाम च सम्प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६५ ॥

और श्रीरामचन्द्र के बुलाने में महाराज की आज्ञा समझ प्रसन्न होते हुए तुरन्त वहाँ से चल दिये। किन्तु रास्ते में वे सोचने लगे कि, कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र को क्यों तुरन्त बुलाने को कहा है ॥ ६५ ॥

व्यक्तं रामोऽभिषेकार्थमिहायास्यति धर्मवित् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता वृतः ।
निर्जगाम महाबाहू राघवस्य दिदृक्षया ॥ ६६ ॥
सागरह्रदसङ्काशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६७ ॥

फिर तुरन्त ही उन्होंने विचारा कि, शीघ्र राज्याभिषेक कार्य आरम्भ करवाने को धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को बुलवाया है। यह विचार मन में उत्पन्न होते ही, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने को उस मनोहर अन्तःपुर में से जो सागर के बीच स्थित तड़ाग की तरह था, निकले और दरवाज़े के आगे लोगों की बड़ी भीड़ देखी ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

ततः पुरस्तात्सहसा विनिर्गतो
महीभृतो द्वारगतान्विलोकयन् ।

ददर्श पौरान्विविधान्महाधना-
नुपस्थितान्द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६८ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सुमंत्र ने द्वार पर शीघ्रता से जा कर देखा कि, राजभवन के दरवाज़े पर राजा लोग और बड़े बड़े अमीर व रईस आ कर बैठते जा रहे हैं ॥ ६८ ॥

अयोध्याकांड का चौदहवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

पञ्चदशः सर्गः

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं[1] सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

उस रात के बीतने पर, और सवेरा होने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण-गण राजपुरोहितों के साथ राजद्वार पर आ कर उपस्थित हुए ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थं मीयंमाणास्तु सङ्गताः ॥ २ ॥

राजमंत्रिगण, सेनापति और बड़े बड़े महाजन श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक देखने को राजद्वार पर प्रसन्न चित्त हो जमा हुए ॥ २ ॥

---

१ उपस्थानं—राजद्वारं । (शि०)

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥

सूर्य के उदय होने पर, जब पुष्य नक्षत्र और कर्कट लग्न का समय, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का जन्म हुआ था, उपस्थित हुआ, ॥ ३ ॥

अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्[1] ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं[2] स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥

तब उत्तम उत्तम ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के लिये जल से भरे हुए सोने के कलसे और श्रीरामचन्द्र जी के बैठने के लिये सजा हुआ भद्रपीठ यथास्थान सजा कर रखे ॥ ४ ॥

रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात्सङ्गमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

चमचमाता रथ, जिसमें व्याघ्राम्बर बिछा हुआ था आया, तथा गङ्गा यमुना के पवित्र सङ्गम का जल ला कर रखा गया ॥ ५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाः समाहिताः ॥ ६ ॥

इनके अतिरिक्त जितनी पुण्यसलिला नदियाँ, कुण्ड, कूप, और तालाब, पश्चिम की ओर बहने वाली (नर्मदा और तापती), ऊपर से नीचे की ओर बहने वाली और टेढ़ी मेढ़ी हो कर बहने वाली नदियाँ हैं ॥ ६ ॥

---

१ उपकल्पितं—समीपेप्रापितम् । (शि०) २ भद्रपीठं—मङ्गलचिन्ह चिन्हितपीठविशेषं । (शि०)

ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
सलाजाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ७ ॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ८ ॥

इन सब के जल और सब समुद्रों के जल वहां ला कर सोने चांदी के चमचमाते हुए कलसों में रखे गये। पवित्र तीर्थ जलों से भरे उन कलसों के मुखों पर गूलर वट आदि क्षीर वृक्षों की टहनियां तथा कमल पुष्प और कमल पत्र पड़े हुए थे। मधु, दही, घी, लाजा, कुश, अच्छे अच्छे फूल और दूध ला कर रखे गये थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

वेश्याश्चैव शुभाचाराः[1] सर्वाभरणभूषिताः ।
चन्द्रांशुविकचप्रख्यं काञ्चनं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।
चन्द्रमण्डलसङ्काशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्कृतम् ।
पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुरोऽश्वश्च सुस्थितः ॥११॥

वहाँ, मङ्गल वेष बनाये और बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहने पहिने हुए वेश्याएँ भी उपस्थित थीं। चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ सोने की बनी और रत्नजटित डंडियों वाले उत्तम चमर भी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की सामग्री के साथ रखे हुए थे। चन्द्रमण्डल की तरह गोल और चमचमाता तथा सफेद छत्र भी

---

१ शुभाचाराः—मङ्गलवेषयुक्ताः । (गो०)

राज्याभिषेक के लिये विद्यमान था। सफेद बैल, और सफेद सजा हुआ घोड़ा भी वहाँ खड़ा हुआ था ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रसृतश्च[1] गजः श्रीमानौपवाह्यः[2] प्रतीक्षते।
अष्टौ च कन्या रुचिराः सर्वाभरणभूषिताः ॥ १२ ॥

मद चुचियाता हुआ राजाओं के चढ़ने योग्य हाथी भी मौजूद था। सुन्दरी और वसन भूषण से अलंकृत आठ कन्याएँ भी उपस्थित थीं ॥ १२ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथाऽपरे।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १३ ॥
तथा जातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम्।
ते राजवचनात्तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १४ ॥

वीणा आदि चारों प्रकार के माङ्गलिक बाजे, वंदीजन तथा सूत मागधादि सभी एकत्र हुए। कहाँ तक गिनाया जाय, सारांश यह है कि, इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के राज्याभिषेक में जो सामग्री अपेक्षित होती, वह सब श्रीरामराज्याभिषेक के लिये महाराज दशरथ की आज्ञानुसार लोग ले ले कर वहाँ उपस्थित हुए थे ॥ १३ ॥ १४ ॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन्को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत्।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १५ ॥

राजद्वार पर उपस्थित लोगों ने जब समय हो चुकने पर भी महाराज दशरथ को न देखा, तब उपस्थित जन आपस में कहने

---

१ प्रसृतः—प्रकर्षेणसन्नद्धमदः। (गो०) २ औपवाह्यः—राजवाह्यः। (गो०)

लगे कि, हमारे आने की सूचना महाराज को कौन पहुँचावेगा। देखो सूर्य भगवान उदय हो चुके, किन्तु महाराज का दर्शन अभी तक नहीं हुआ ॥ १५ ॥

यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।
इति तेषु ब्रुवाणेषु सार्वभौमान्महीपतीन् ॥ १६ ॥

बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिये सब तैयारियां हो चुकी हैं। इस प्रकार लोग आपस में कह रहे थे कि, आमंत्रित बड़े राजाओं से ॥ १६ ॥

अब्रवीत्तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।
रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितोऽस्म्यहम् ॥१७॥

राजसन्मानित सुमंत्र ने यह कहा कि, महाराज की आज्ञानुसार मैं श्रीरामचन्द्र जी को लाने के लिये तुरन्त जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

पूज्या राज्ञो भवन्तस्तु रामस्य च विशेषतः ।
अहं पृच्छामि वचनात्सुखमायुष्मतामिह ॥ १८ ॥
राज्ञः सम्प्रतिबुध्यस्य यच्चागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित्[1] ॥ १९ ॥

आप लोग महाराज और विशेष कर श्रीरामचन्द्र के सम्मान भाजन हैं। अतः मैं लौट कर आपकी ओर से इस बात को (कि महाराज के न पधारने का क्या कारण है) महाराज से, जो अभी सो कर उठे हैं, पूँछता हूँ। यह कह कर अति वृद्ध सुमंत्र अन्तःपुर के द्वार पर जा कर, ॥ १८ ॥ १९ ॥

---

१ पुराणवित्—चिरकालकथाभिज्ञः अतिवृद्ध इति । (वि०)

सदाऽसक्तं[1] च तद्वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य च विशांपतेः ॥ २० ॥

बेरोकटोक राजभवन के भीतर चला गया । (तत्कालीन प्रथानुसार) वंशपरम्परा की बड़ाई करते हुए सुमंत्र ने, उस कमरे में प्रवेश किया, जिसमें महाराज पड़े थे ॥ २० ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणि[2]मन्तरा ॥ २१ ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।
सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २२ ॥

सुमंत्र महाराज के सोने के कमरे में पहुँच और चिक की आड़ में खड़े हो कर, महाराज को आशीर्वाद दे, उनको प्रसन्न करने लगे और कहने लगे, हे काकुत्स्थ ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुबेर, ॥ २१ ॥ २२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।
गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

वरुण, अग्नि, इन्द्र आपको विजय दें । भगवती निशा बीत चुकी और सुप्रभात हो चुका है ॥ २३ ॥

बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागता नृप ॥ २४ ॥

---

१ सदासक्तं—सर्वदाअनिवारितं । (गो०) २ तिरस्करणि—यवनिका चिक इति नाम्ना लोके प्रसिद्धामित्यर्थः । (शि०)

हे राजसिंह ! उठिये और जो कार्य करने हैं उन्हें कीजिये। ब्राह्मण, सेनापति, महाजन, और सामन्त राजा लोग आये हुए हैं ॥ २४ ॥

दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुध्यस्व राघव ।
स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २५ ॥

और वे आपके दर्शनों की अभिलाषा करते हैं। हे राघव ! उठिए, तब इस प्रकार स्तुति करते हुए मंत्रिप्रवर सुमंत्र से ॥ २५ ॥

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।
राममानय सूतेति यदस्यभिहितोऽनया ॥ २६ ॥

महाराज ने जाग कर यह कहा, जैसा कि तुमसे इस कैकेयी ने कहा है, तुम जा कर पहिले श्रीरामचन्द्र को लिवा लाओ ॥ २६ ॥

किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिहन्यते ।
न चैव सम्मसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २७ ॥

क्या वजह है जो तुम हमारी आज्ञा की अवहेला करते हो ? हम सोते नहीं हैं (जो तुम हमें वार वार जगाने की स्तुति पढ़ते हो)। तुम शीघ्र जा कर श्रीरामचन्द्र को यहां ले आओ ॥ २७ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात्पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रणिपत्य तम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ के यह कहने पर सुमंत्र महाराज के वचनों को सुन और उनको प्रणाम कर ॥ २८ ॥

निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २९ ॥

राजभवन से चल दिये और मन में जाना कि आज श्रीरामचन्द्र का अभिषेक होगा। सुमंत्र रंग बिरंगी ध्वजापताकाओं से शोभित राजमार्ग पर उपस्थित हो ॥ २९ ॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ ३० ॥

इधर उधर देखते भालते और हर्षित होते हुए तेज़ी के साथ जाने लगे। रास्ते में प्रत्येक दर्शक के मुख से वे श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी चर्चा ही सुनते हुए जाते थे ॥ ३० ॥

अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् ।
ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम् ॥ ३१ ॥

यह चर्चा और कुछ नहीं केवल श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की आनन्ददायिनी बातचीत थी। थोड़ी ही देर में सुमंत्र ने मनोहर कैलास पर्वत के शिखर के समान उज्ज्वल ॥ ३१ ॥

रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ।
महाकवाटसंयुक्तं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३२ ॥

और इन्द्रभवन के समान सुन्दर रामभवन देखा। उस राजभवन में बड़े बड़े किवाड़ लगे थे और सैकड़ों वेदियां शोभायमान थीं ॥ ३२ ॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमशोभितम् ।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहोपमम् ॥ ३३ ॥

भवन के कँगूरों पर सैकड़ों सोने की मूर्तियां रखी हुई थीं जिनमें मणियां, और मूँगे जड़े हुए थे। रामभवन की शोभा,

शारदीय मेघ के समान निर्मल और सुमेरु पर्वत की कन्दरा के समान चमकीली थी ॥ ३३ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलङ्कृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागरुधूपितम् ॥ ३४ ॥
गन्धान्मनोज्ञान्विसृजद्दर्दुरं[1] शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च निनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३५ ॥

राजभवन के द्वार को मणियों की सुन्दर मालाएँ (जो वंदनवारों की जगह लटक रही थीं) सुशोभित कर रही थीं। मोतियों और मणियों से सजा हुआ चन्दन और अगर से सुवासित और मनोहर गंधों से मलयागिरि समीपवर्ती चन्दनगिरि के शिखर की तरह सुवासित, वह श्रीरामचन्द्र का भवन था। उसमें अनेक सारस और मोर बोल रहे थे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुकृते[2]हामृगाकीर्णं सुकीर्णं भित्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत्तिग्मतेजसा[3] ॥ ३६ ॥

राजभवन के दरवाज़े पर, कमरों की दीवालों पर और खंभो पर सुनहली तसवीरें बनी थीं। ये तसवीरें जंगली जानवरों की यथा भेड़िया, बघर्रा शेर आदि की थीं। इनकी अत्यन्त सुन्दर कारीगरी देखने को, देखने वाले का मन और आंखें अपने आप आकर्षित हो जाती थीं ॥ ३६ ॥

---

१ दर्दुरः—मलयसन्निकृष्टश्चन्दनगिरिः । (वि०) २ सुकृतैः—स्वर्णादिना । (वि०) ३ तिग्मतेजसाऽऽददत्—अतिशयितशोभया आकर्षत । (वि०)

चन्द्रभास्करसङ्काशं कुवेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधाममतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का भवन चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमकता था, कुवेर भवन की तरह भरा पूरा था और इन्द्रभवन की तरह बनावट में अद्वितीय था। उसमें अनेक जाति के पक्षी किलोलें कर रहे थे ॥ ३७ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्मदृदर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३८ ॥

उस सुमेरुशिखर के समान ऊँचे श्रीरामभवन को सुमंत्र ने देखा। उस समय वहां अनेक लोग हाथ जोड़े हुए उपस्थित थे ॥ ३८ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तथा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलङ्कृतम् ॥ ३९ ॥

वहां अनेक राष्ट्रों के लोग भी थे जो श्रीरामचन्द्र जी को भेंटें देने के लिये भेंट की वस्तुएँ लिये उपस्थित थे और श्रीरामाभिषेक. देखने को उत्सुक थे तथा अच्छे अच्छे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे ॥ ३९ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविभूषितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुञ्जकैरातका[1]वृत्तम्* ॥ ४० ॥

वह रामभवन महामेघ के समान विशाल था और तरह तरह की मणियों से सजा हुआ था। वहां पर अनेक छोटे डील डौल के किरात जाति के नौकर भी थे ॥ ४० ॥

---

१ कुञ्जकैरात—किरातानां स्वल्प शरीरकाणां समूहः कैरातकं । (गो०)

* पाठान्तरे—" कुञ्जकैरपिचावृतं "

स वाजियुक्तेन रथेन सारथि-
र्नराकुलं राजकुलं[1] विलोकयन् ।
वरूथिना रामगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४१ ॥

घोड़ों के रथ में सवार सुमंत्र जी, लोगों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग को शोभित करते और सम्पूर्ण पुरवासियों के हृदय को हर्षित करते हुए श्रीरामभवन के द्वार पर पहुँचे ॥ ४१ ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्-
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्वणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४२ ॥

विपुल धनराशि से भरे हुए रामभवन में, जो अनेक मृग और मयूरों से भरा हुआ था और उत्तमता में इन्द्रभवन के तुल्य था, पहुँच कर और वहाँ की शोभा देख कर, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलङ्कृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
ययौ नरान्रामगतेः स्थितान्बहू-
नपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४३ ॥

सुमंत्र जी कैलास की तरह सजे हुए श्रीरामभवन की स्वर्ग समान ड्योढ़ियों को लाँघते और उन अनेक पुरुषों को जो श्रीराम-

---

[1] राजकुलं—राजमार्गं । (वि०)

चन्द्र के प्यारे और कृपापात्र थे, हटाते बचाते अन्तःपुर में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थयुता जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टः ॥ ४४ ॥

वहाँ भी सुमंत्र ने लोगों को प्रसन्न हो आपस में श्रीरामचन्द्र के अभिषेक की बातचीत करते हुए ही देखा । इससे सुमंत्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । क्योंकि उन लोगों की बातचीत श्रीरामचन्द्र के मङ्गल के लिये ही थी ॥ ४४ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं तु वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४५ ॥

सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी के रहने के इन्द्रभवन के समान भवन को देखा, जो रमणीक था और मृग पक्षियों से सेवित था और जो प्रभा से प्रकाशमान और उच्च मेरुशिखर के समान था ॥ ४५ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारकैश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्घैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपथं ददर्श ॥ ४६ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, वहाँ से अनेक देशों से आये हुए असंख्य लोग हाथ जोड़े (यानी नम्रभाव से) और मँहें किये हुए अपनी सवारियों से उतर कर नीचे खड़े हुए हैं ॥ ७६ ॥

ततो महामेघमहीधरामं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमप्रसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर सुमंत्र ने देखा कि, बादल की तरह श्याम रंग का और पर्वत के समान ऊँचा शत्रुञ्जय नाम का सुन्दर हाथी, जो अङ्कुश की मार कभी सहता ही न था और जिसके मस्तक से मद बहता था, श्रीरामचन्द्र जी की सवारी के लिये खड़ा है ॥ ७७ ॥

स्वलंकृतान्सान्वययान्सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यान्शतशश्च वल्लभान् ।
व्यपोह्य भूतः सहितान्समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ॥ ७८ ॥

फिर आगे बढ़ कर सुमंत्र ने देखा कि, अनेक महावत सारथी और राजा अपने अपने हाथियों, रथों और घोड़ों को सजाये हुए तैयार खड़े हैं। फिर देखा कि, श्रीरामचन्द्र के प्रधान मंत्री तथा सैकड़ों कृपापात्र वहाँ चारों ओर उपस्थित हैं। उन सब को हटा, सुमंत्र समृद्धशाली अन्तःपुर में गये ॥ ७८ ॥

तद्भित्तिदात्रैरुपसञ्चितं
महाविमानोत्तमवेश्मसङ्कुलम् ।

आचार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४९ ॥
इति पञ्चदशः सर्गः ॥

पर्वत की चोटी के समान ऊँचे, महामेघ की तरह विशाल, और अनेक झण्डों वाले श्रीरामभक्त में सुमंत्र घेरोकटोक उसी प्रकार चले गये, जिस प्रकार रत्नों से भरे पूरे समुद्र में मगर निशङ्क घुस जाता है ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षोडशः सर्गः

—: ※ :—

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

सुमंत्र अन्तःपुर की उस ड्योढ़ी को, जिस पर लोगों की बड़ी भीड़ थी, लाँघ कर, भीतर की ड्योढ़ी पर, जहाँ कोई भी बाहिरी आदमी न था, पहुँचे ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकविभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वनुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, उस ड्योढ़ी पर फरसा और धनुष को लिये, सुन्दर कुण्डल पहिने हुए युवा, जो पहिरा देने में बड़े दक्ष थे और अपने काम में सदा सावधान रहते थे तथा बड़े स्वामि-भक्त थे, पहरा दे रहे हैं ॥ २ ॥

तत्र कापायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान्द्वारिस्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान् ॥ ३ ॥

सुमंत्र ने इनके आगे लाल कपड़े पहिने, और सुन्दर वेषभूषा बनाये तथा हाथों में बेत लिये, वृद्ध पुरुष देखे, जो ज़नानी ड्योढ़ी पर बड़ी सावधानी से पहरा दे रहे थे ॥ ३ ॥

[नोट—"वृद्धान्" और "वृद्धपुरुषान्" शब्द इस श्लोक में देखने से, यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में रनवासों की ज़ास ड्योढ़ी पर, वृद्ध लोगों ही का पहरा रहता था ।]

ते समीक्ष्य समायान्तं राममियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे स्वासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र के हितैषीगण सुमंत्र को आते देख, झटपट बड़े आदर के साथ उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः[1] ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

तब सुमंत्र ने उन विनम्र और सेवानिपुण लोगों से कहा कि, तुम तुरन्त जा कर, श्रीरामचन्द्र जी से कह दो कि, सुमंत्र ड्योढ़ी पर खड़ा है ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

यह सुन, उन लोगों ने, जो श्रीरामचन्द्र का भला चाहते थे, तुरन्त सीता जी सहित श्रीरामचन्द्र जी को सुमंत्र के आने की सूचना दी ॥ ६ ॥

प्रविवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

---

१ प्रदक्षिणः—सेवानिपुणहृत्यर्थः । (गो०)

सुमंत्र के आने का समाचार सुन और उन्हें अपने पिता का अन्तरङ्गजन जान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने प्रीतिपूर्वक उन्हें भीतर ही बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसङ्काशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

सुमत्र ने भीतर जा कर देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सोने के पलंग पर बिछे हुए उत्तम मुलायम बिछौनों पर, कुबेर जैसे आभूषण धारण किये हुए, बैठे हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परन्तपम् ॥ ९ ॥

उनके शरीर में वराह के रुधिर के समान लाल, पवित्र और सुगन्ध वाला चन्दन लगा हुआ है ॥ ९ ॥

स्थितया पार्श्वतश्चापि बालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

और उनकी एक ओर बग़ल में चमर लिये जानकी जी बैठी हैं। उस समय देखने पर ऐसा जान पड़ता था, मानों चित्रा के सहित चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है ॥ १० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं[1] स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी[2] विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अपने तेज से मध्यान्ह के सूर्य की तरह प्रकाशमान थे। विनय के ज्ञाता सुमंत्र ने वरदाता श्रीरामचन्द्र जी को देख, विनयपूर्वक प्रणाम किया ॥ ११ ॥

---

१ उपपन्नं—युक्तं । (शि०) २ वन्दी—सुमंत्रः । (शि०)

साञ्जलिस्तु सुखं पृष्ट्वा विहारशयने स्थितम् ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

और हाथ जोड़ कर कुशल प्रश्न पूँछा। तदनन्तर महाराज से सन्मानित सुमंत्र ने, सेज पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ १२ ॥

कौसल्यासुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्या सह कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥१३॥

हे कौशल्या जी के शोभन पुत्र ! आपको कैकेयी सहित महाराज देखना चाहते हैं, अतः आप तुरन्त वहाँ चलें ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमंत्र जी से यह बात सुन कर, पुरुषसिंह महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र, अत्यन्त हर्षित हुए और सुमंत्र से यह कह कर कि, बहुत अच्छा, अभी चलता हूँ, सीता जी से बोले ॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

हे देवि ! मेरी माता कैकेयी और पिता जी एकत्र बैठे मेरे अभिषेक के विषय में अवश्य कुछ परामर्श करते हैं ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
सञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे ॥ १६ ॥

हे मदिरेक्षणे ! मैं अनुमान करता हूँ कि, मेरी हितैषिणी चतुरा माता कैकेयी, महाराज का अभिप्राय जान कर, प्रियकामना से मेरे लिये महाराज को कुछ प्रेरणा कर रही है ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामाऽनुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥
दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं माहिणोद्दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

क्योंकि वह केकय देश के राजा की बेटी और महाराज के इच्छानुसार चलने वाली, मेरी माता कैकेयी, मेरी भलाई चाहती है। यह बड़े ही आनन्द की बात है कि, महाराज ने जो इस समय अपनी प्यारी रानी के यहां विराजमान है, मेरी भलाई चाहने वाले सुमंत्र को मुझे बुलाने भेजा है ॥ १७ ॥ १८ ॥

यादृशी परिपत्तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

जैसी वहां इस समय मेरा हित चाहने वाली सभा है, वैसा ही मेरा हित चाहने वाला दूत भी आया है। निश्चय ही महाराज आज मुझे युवराजपद पर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

अहं शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण[1] सुखमास्स्व रामस्व[2] च ॥ २० ॥

अब मैं तुरन्त यहां से जा कर महाराज के दर्शन करूँगा ! तुम अपनी परिचारिकाओं के साथ आनन्द से वार्तालाप करो ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आद्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी[3] ॥ २१ ॥

---

१ परिवारेण—परिचारिकासंघेन । (गो०) २ रमस्व—वृत्तकीर्तनेन-रता भव । (गो०) ३ अभिदध्युषी—अभिध्यायन्ती । (गो०)

इस प्रकार पति का सम्मानसूचक वचन सुन कमलाक्षी सीता जी मङ्गलपाठ करती हुई श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे द्वार तक गयी ॥ २१ ॥

[सीता जी की इच्छा नहीं थी कि, श्रीरामचन्द्र जी युवराजपद पर अभिषिक्त हों । उनकी इच्छा थी कि श्रीरामचन्द्र जी राजसूययज्ञ कर के सार्वभौमपद प्राप्त करें—अतः वे सङ्केत करती हैं]

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं[1] राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥

(और बोलीं) इस राज्य में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं । महाराज! वे तुम्हारा राजसूयाभिषेचन वैसे ही करें, जैसे ब्रह्मा ने इन्द्र का किया था ॥ २२ ॥

[नोट—राजसूययज्ञ में सब राजाओं को जीत कर यज्ञ किया जाता है । अतः वीर्यशुल्का सीता भी चाहती हैं कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने विवाह में पराक्रम की परम सीमा प्रदर्शित की, उसी प्रकार राज्याभिषेक के समय सब राजाओं और राक्षसों को जीत कर, निज पराक्रम से वे राज्यप्राप्त करें । शिरोमणि टीकाकार का यह मत है ।]

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

मैं आपको राजसूय यज्ञ करने के लिये व्रत-धारण-पूर्वक दीक्षा लिये हुए, मृगचर्म पहिने हुए, पवित्र अवस्था में और मृग के सींग हाथ में लिये हुए देख कर, आपकी सेवा करना चाहती हूँ ॥ २३ ॥

---

१ जुष्टं—सेवितं । (गो०)

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

पूर्व दिशा में इन्द्र, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में कुवेर तुम्हारी रक्षा करें ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

श्रीरामचद्र जी, सीता जी से विदा हो और अपने अभिषेक के लिये मङ्गलाचार पूर्वक, सुमंत्र के साथ अपने भवन से रवाना हुए ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

जिस प्रकार पर्वत की कन्दरा में शयन करने वाला सिंह निर्भय हो अपनी गुफा से निकलता है, उसी प्रकार श्रीरामचद्र जी भी अपने भवन से निकले । बाहिर आ कर देखा कि, द्वार पर हाथ जोड़े लक्ष्मण जी खड़े हैं ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥

बीच की ड्योढ़ी पर पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने सुहृदों से मिले और सब लोगों को, जो अभिषेक दर्शनाभिलाषी हो वहाँ उपस्थित हुए थे, देखा और उनका यथोचित सम्मान किया ॥ २७ ॥

ततः पावकसङ्काशमारुरोह रथोत्तमम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजतं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर दशरथनन्दन पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी उस दिव्य रथ पर सवार हुए, जो अग्नि के समान चमकता था और जो व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ था ॥ २८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया हेमवर्चसम् ॥ २९ ॥

वह रथ जब चलता था, तब उसके चलने का शब्द मेघ की गरजन के समान होता था। उसमें सुनहला और मणियों की पच्चीकारी का काम किया गया था। उसको देखने से देखने वाले की आँखें वैसे ही चौंधिया जाती थीं, जैसे सूर्य को देखने से चौंधियाती हैं ॥ २९ ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें हाथी के बच्चों जैसे बड़े डीलडौल के घोड़े जुते हुए थे। वह रथ, इन्द्र के रथ की तरह शीघ्र चलने वाला था ॥ ३० ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥

श्रीराम जी रथ में बैठ शोभा से दीप्तिमान हुए। उनका रथ बड़े वेग से चला जा रहा था और उसके चलते समय आकाश में मेघ के गरजने जैसा शब्द हो रहा था ॥ ३१ ॥

निकेतान्निर्ययौ श्रीमान्महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।
छत्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी उस रथ पर सवार हो भवन के बाहिर आये, उस समय ऐसा बोध हुआ, मानों महाप्रकाशमान

चन्द्रमा मेघ से निकला हो। श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण छत्र चँवर ले ॥ ३२ ॥

जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।
ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥

बड़े भ्राता की रक्षा के लिये उनके पीछे उसी रथ पर बैठे। उस रथ के चलने के समय जनता ने जयनाद कर बड़ा तुमुल शब्द किया ॥ ३३ ॥

तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।
ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसन्निभाः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलने पर उनके पीछे चारों ओर से जनसमूह चला। श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे बढ़िया घोड़ों और पर्वत के समान बड़े ऊँचे हाथियों पर बैठ, लोग हो लिये ॥ ३४ ॥

[नोट—लोगों को यह मालूम न था कि, किसी कारण विशेष से श्रीरामचन्द्र जी को महाराज ने बुलाया है। लोगों ने तो यह समझा कि, श्रीरामचन्द्र अभिषेकक्रिया के लिये जा रहे हैं। अतः एक जलूस अपने आप ही बन गया।]

अनुजग्मुस्तदा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।
अग्रतश्चास्य सन्नद्धाश्चन्दनागरुरूषिताः[1] ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो[2] जनाः ।
ततो वादित्रशब्दास्तु स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥३६॥

---

१ रूषिताः—लिप्ताः। (वि०) २ आशंसवः—रामश्रेयआशंसमानाः। (वि०)

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाने वाले घोड़ों और हाथियों पर बैठ कर जाने वालों की तथा पैदल चलने वाले लोगों की संख्या लाखों पर थी। श्रीरामचन्द्र जी के रथ के आगे वीर सैनिक थे, जिनके माथे पर चन्दन और अगर लगा हुआ था और उनके हाथों में तलवारें और धनुष थे। वे श्रीरामचन्द्र जी की भलाई की आशा रखने वाले थे। उनके पीछे बाजे वाले और बाजे वालों के पीछे बंदी जन श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करते हुए चले जाते थे ॥३५॥ ३६ ॥

सिंहनादाश्च शूराणां तथा शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥

वीरों का सिंहनाद मार्ग में सुन पड़ता था। अटारी और झरोखों में बैठी हुई अच्छे भूषणों से भूषित. ॥ ३७ ॥

कार्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिरिरिन्दमः ।
रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामप्रियचिकीर्षया ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।
नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥

स्त्रियां चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रही थीं और उस पुष्पवर्षा के बीच शत्रुनिकन्दन श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। वे सब सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्रियां जो अटारियों पर बैठी थीं, श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना से प्रणाम करती थीं, मङ्गलगीत गा रही थीं और कहती थीं, कि हे मातृनन्दन ! आज तुम्हारी माता निश्चय ही बड़ी प्रसन्न होंगी ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमवस्थितम् ।
सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥४०॥

अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्तपः ॥ ४१ ॥

क्योंकि वे आज तुमको पिता के दिये हुए राजसिंहासन पर बैठे हुए देख सफल मनोरथ होंगी। उस समय उन सुभगा स्त्रियों ने सीता जी को, जो श्रीरामचन्द्र की प्राणप्यारी थी, सब सौभाग्यवती स्त्रियों से श्रेष्ठ माना और इसका कारण यह समझा कि, पूर्वजन्म में सीता ने अवश्य ही बड़ी तपस्या की है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ॥ ४२ ॥
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ।
आत्मसम्पूजनैः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ॥ ४३ ॥

रोहिणी ने जिस प्रकार चन्द्रमा को अपना पति पाया, वैसे ही सीता जी ने श्रीरामचन्द्र को अपना पति पाया है। इस तरह भवनों की छतों पर बैठी हुई स्त्रियों के ऐसे प्रिय और प्रशंसात्मक वचन, सड़क पर से ही, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी सुनते हुए, बड़े लंबे चौड़े मार्ग पर जा पहुँचे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

स राघवस्तत्र कथाप्रपञ्चा-[1]
च्छुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरो जनस्य ॥ ४४ ॥

---

१ कथाप्रपञ्चात्—लौकिककथा विस्तारान् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी आये हुए लोगों के मुख से अनेक प्रकार की बातें तथा पुरवासियों के मुख से निज अधिकार प्राप्ति के विषय में तरह तरह की बातें सुनते चले जाते थे, ॥ ४४ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोद्य
राजप्रसादाद्विपुलाङ्गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४५ ॥

(वे लोग कह रहे थे) यह श्रीरामचन्द्र आज राजा की कृपा से विपुल लक्ष्मी पावेंगे और हम लोग, जिनके यह शासनकर्त्ता होंगे सफल मनोरथ या पूर्णकाम हो जायंगे ॥ ४५ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किञ्चन जातु कश्चि-
त्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४६ ॥

चिरकाल के लिये निस्सन्देह यह श्रीरामचन्द्र समस्त राज्य पावेंगे। इनका राज्य पाना हमारे लिये बड़ा लाभदायक होगा, क्योंकि इनके राजा होने पर किसी प्रकार का अनिष्ट देखना न पड़ेगा ॥ ४६ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैर्मतङ्गजैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४७ ॥

घोड़े हाथी हिनहिना और चिंघाड़ रहे थे। सूत, मागध और वंदीजनों द्वारा अपने वंश का बखान तथा अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही चले जाते थे, जैसे कुबेर जी जाते हैं॥ ४७॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसङ्कुलं
महाजनौघप्रतिपूर्णचत्वरम्।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसञ्चयं
ददर्श रामो रुचिरं महापथम्॥ ४८॥

इति षोडशः सर्गः॥

जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, रास्ता बिना दाँतों के हाथियों और दाँत वाले हाथियों, रथों और घोड़ों से भरा है। चौराहों पर भद्र मनुष्यों की अपार भीड़ है। बाजारों की दूकानें रत्नों तथा अन्य सौदागरी माल से भरी हुई हैं। रास्ते अच्छी तरह सजे हुए हैं॥ ४८॥

अयोध्याकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

सप्तदशः सर्गः

—:०:—

स रामो रथमास्थाय संप्रहृष्टसुहृज्जनः।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागरुधूपितम्॥ १॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जाते जाते देखा कि, उनके सुहृद प्रसन्न हो रहे हैं, स्थान स्थान पर ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं, जगह जगह सुगन्धित गूगुल आदि चीज़ें जलायी जा रही हैं, जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है॥ १॥

अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमाकुलम् ।
स गृहैरभ्रसङ्काशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥

अनेक जनों से पूर्ण और श्वेत मेघ के समान गृहों से सुशोभित नगर को श्रीरामचन्द्र जी ने देखा ॥ २ ॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागरुधूपितम् ।
चन्दनानां च मुख्यानमगरूणां च सञ्चयैः ॥ ३ ॥

अगर की धूप से सुवासित राजमार्ग पर हो कर, श्रीरामचन्द्र जी जा रहे थे। सड़कों के किनारे चन्दन और अगर की लकड़ी के ढेर लगे हुए थे ॥ ३ ॥

उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥

अच्छे अच्छे इत्र, रेशमी व ऊनी वस्त्र, बिना बिंधे मोती, और स्फटिक मणियों के ढेरों से ॥ ४ ॥

शोभमानमसम्बाधैस्तं[1] राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं[2] विविधैः पण्यैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥

वे उत्तम राजमार्ग अबाधित (सब वस्तुएँ खुली हुई रखी थीं, चोरों का डर न था) सुशोभित हो रहे थे। दूकानें अनेक प्रकार के सौदागरी के सामानों से तथा खाने पीने की चीजों से भरी हुई थीं ॥ ५ ॥

---

१ असम्बाधः—चौरादिबाधा रहितम् । (शि०) २ संवृतं—व्याप्तं । (वि०)

ददर्श तं राजपथं दिवि देवपथं यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगरुचन्दनैः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, वह राजमार्ग उसी प्रकार सुशोभित है जिस प्रकार स्वर्ग में देवपथ सुशोभित होता है। शकुन के लिये जगह जगह दही, अक्षत, खीर, लावा, धूम, अगर, चन्दन रक्खे हुए थे ॥ ६ ॥

नानामाल्योपगन्धैश्च सदाऽभ्यर्चितचत्वरम् ।
आशीर्वादान्बहून्शृण्वन्सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥

अनेक प्रकार के पुष्पों और अनेक सुगन्ध द्रव्यों से चौराहे सुशोभित थे। श्रीरामचन्द्र जी सुहृदों के दिये हुए आशीर्वादों को सुनते जाते थे ॥ ७ ॥

यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान्ययौ ।
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥

और यथोचित उन सब लोगों का आदर करते जाते थे। अनेक बूढ़े लोग कहते थे कि, जिस प्रकार तुम्हारे बाबा (पितामह) और दादा (प्रपितामह) ने राज्य किया ॥ ८ ॥

अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।
यथा स्म लालिताः पित्रा यथा पूर्वैः पितामहैः ॥ ९ ॥

आज उसी प्रकार तुम भी राजसिंहासन पर बैठ कर, राज्य करो। तुम्हारे पूर्वजों के राज्य में हम जिस प्रकार सुखी थे ॥ ९ ॥

ततः सुखतरं रामे वत्स्यामः सति राजनि ।
अल्पमद्य हि भुक्तेन[1] परमार्थैरलं च नः ॥ १० ॥

उससे भी अधिक हम सब तुम्हारे सुशासन में सुखी हों। हम लोगों को अब इस लोक और परलोक के सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

यथा पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ।
ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किञ्चिद्भविष्यति ॥ ११ ॥

क्योंकि राज्याभिषिक्त हो कर, श्रीरामचन्द्र के इस मार्ग से निकलने पर और उनको देखने पर, जो आनन्द हमको प्राप्त होगा, उससे बढ़ कर प्रिय और सुखदायक हमारे लिये और कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

यथाऽभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ।
एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः कथाः शुभाः ॥ १२ ॥
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ।
न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ॥ १३ ॥

अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक से बढ़ कर हमारे लिये और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इस प्रकार अपने सुहृदों तथा अन्य जनों के मुख से अपनी प्रशंसा सुन, उदासीन भाव से श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी की ओर से न तो किसी का मन ही हटता था और न उनकी ओर से किसी की आँख ही हटती थी ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

[1] भुक्तेन—ऐहिक विषय भोगज सुखेन। (रा०)

नरः शक्नोत्यपाकृष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ।
यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ॥ १४ ॥

हालाँकि श्रीरामचन्द्र दूर निकल आते थे। जो श्रीरामचन्द्र को न देख पाता था या जिसे श्रीरामचन्द्र जी नहीं देख पाते थे ॥ १४ ॥

निन्दितः स वसेल्लोके स्वात्माऽप्येनं विगर्हते ।
सर्वेषां हि स धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ॥ १५ ॥

उसकी लोग भी निन्दा करते थे और वह स्वयं भी अपने को धिक्कारता था। क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी की दया चारों वर्णों पर समान रूप से थी ॥ १५ ॥

चतुर्णां हि वयस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ।
चतुष्पथान्देवपथां[1]श्चैत्यान्यायतनानि[2] च ॥ १६ ॥

इसीसे चारों वर्ण के लोग अपनी उम्र के अनुसार उनमें अनुराग रखते थे अथवा उनके अनुयायी थे। राजकुमार श्रीरामचन्द्र चौराहों, देवालयों, चैत्यवृक्षों, सभामण्डपों ॥ १६ ॥

प्रदक्षिणे परिहरन्जगाम नृपतेः सुतः ।
स राजकुल[3]मासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ॥ १७ ॥

के पास से इस प्रकार जाते जिससे उनकी प्रदक्षिणा हो जाती थी। (चलते चलते) श्रीरामचन्द्र जी राजभवन में पहुँचे। वह राजभवन मेघ समूह के समान जान पड़ता था ॥ १७ ॥

---

१ देवपथान्—देवतायान। (गो०) २ आयतनानि—समादीनि। (गो०)
३ राजकुलं—राजगृहम्। (गो०)

प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ।
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ॥ १८ ॥

और उस राजभवन के विविध शिखर, कैलास पर्वत के शिखर जैसे जान पड़ते थे। भवन की अनेक सफेद अटारियाँ गगनमण्डल को उसी प्रकार छाये हुए थीं, जैसे अनेक सफेद रंग के विमान आकाश को छा लेते हैं ॥ १८ ॥

वर्धमानगृहै[1]श्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ।
तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रभवनोपमम् ॥ १९ ॥

इस राजभवन के क्रीड़ागृह (खेल घर) रत्नों की जड़ाऊ कारीगरी से सुशोभित थे (अर्थात् उनकी दीवालों पर रत्नों की पच्चीकारी का काम था)। यह राजभवन पृथिवी भर के राजभवनों से श्रेष्ठ और इन्द्रभवन के समान था ॥ १९ ॥

राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ।
स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः ॥२०॥

राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता के ऐसी शोभा से युक्त राजभवन में पहुँचे। वे तीन ड्योढ़ियों पर, जहाँ तीरन्दाज़ सिपाहियों के पहरे लगे हुए थे, रथ पर बैठे हुए ही चले गये ॥ २० ॥

पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ।
स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तं पुनरभ्यगात् ॥ २१ ॥

तदनन्तर चौथी और पाँचवी दो ड्योढ़ियाँ उन्होंने पैदल पार कीं। इस प्रकार राजभवन की सब ड्योढ़ियाँ लाँघ और साथ के

---

१ वर्धमानगृहै—क्रीडागृहैः। (रा०)

लोगों को अन्तिम ड्योढ़ी पर छोड़ कर, दशरथनन्दन ने महाराज के अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ततः प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।
प्रतीक्षते तस्य पुनर्विनिर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

इति सप्तदशः सर्गः ॥

तदनन्तर, श्रीरामचन्द्र जी के अपने पिता के पास चले जाने पर, सब लोग परमानन्दित हो, उनके लौटने की उसी प्रकार चाहना करने लगे, जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय की समुद्र चाहना करता है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

अष्टादशः सर्गः

—:०:—

स ददर्शासने[1] रामो निषण्णं पितरं शुभे ।
कैकेयीसहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

अन्तःपुर में जा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, महाराज दशरथ दीनभाव से कैकेयी सहित पलङ्ग पर बैठे हैं और उनके मुख का रंग फीका पड़ गया है ॥ १ ॥

---

१ आसने—पर्यङ्के । (गो०)

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत् ।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

उन्होंने जाते ही पहले बड़े विनीतभाव से पिता के चरणों में माथा नवाया और फिर माता कैकेयी को बड़ी सावधानी से प्रणाम किया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा च वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र को देख महाराज दशरथ केवल "राम" ही कह सके। क्योंकि फिर दुःखी महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न कुछ बोल ही सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम् ।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सर्प को पैर से छूने पर मन में भय का संचार हो जाता है, उसी प्रकार पिता को भयावह दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी के मन में भय का सञ्चार हुआ ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसन्तापकर्शितम् ।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥

उस समय महाराज की सारी इन्द्रियाँ विकल थीं, वे शोक सन्ताप से क्लेशित हो रहे थे और मानसिक विकलता और विथा के कारण बारंबार दीर्घ निश्वास छोड़ रहे थे ॥ ५ ॥

---

१ अचिन्त्यकल्पं—असम्भावितम् । (गो०)

ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

प्रकृति से ही क्षोभ को न पाने वाले, किन्तु समय के फेर से लहरों से क्षुब्ध सागर की, राहु से ग्रस्त सूर्य की, मिथ्या भाषण से ऋषि की जो दशा होती है, वही दशा उस समय महाराज दशरथ की थी ॥ ६ ॥

अचिन्त्यकल्पं[1] हि पितुस्तं शोकमुपधारयन् ।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

अपने पिता की ऐसी असम्भावित दशा देख और उनके शोक का कारण न जान कर, श्रीरामचन्द्र जी के मन में वैसी ही खलबली मची जैसी कि, पूर्णमासी के दिन समुद्र में मचती है ॥ ७ ॥

चिन्तयामास च तदा रामः पितृहिते रतः ।
किं स्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिता को सदा भलाई चाहने वाले श्रीरामचन्द्र, मन ही मन सोचने लगे कि, क्या कारण है जो, आज पिता मुझे देख कर दुःखी हो रहे हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य माद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

और दिन तो पिता जी क्रुद्ध होने पर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाया करते थे, किन्तु आज मुझे देख कर, उन्हें क्यों कष्ट हो रहा है ॥ ९ ॥

---

१ अचिन्त्यकल्पं—असम्भावितम् । (गो०)

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वे क्यों दीनों की तरह शोक से आर्त, उदास और दीनद्युति हो रहे हैं। (इस प्रकार सोचते हुए जब स्वयं इसका कारण निश्चित न कर सके तब) कैकेयी को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१०॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

यदि मुझसे अनजाने कोई अपराध हो गया हो, जिससे कुपित हो पिता जी मुझसे नहीं बोलते तो, मेरी ओर से आपही इनको प्रसन्न कर दीजिये ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किंतु सदा मां प्रति वत्सलः ।
विवर्णवदनो दीनो न हि मामभिभाषते ॥ १२ ॥

अप्रसन्न मन होने पर भी पिता जी की मुझ पर सदा कृपा रहती थी। किन्तु आज मैं देखता हूँ कि, उनके चेहरे का रंग उतर गया है और वे दीनभाव से बैठे हैं और मुझसे बोलते भी नहीं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते ।
सन्तापो वाऽभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥१३॥

क्या पिता जी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट तो नहीं दुःखी कर रहा है? क्योंकि मनुष्य का सदा सुखी रहना दुर्लभ है ॥ १३ ॥

कच्चिन्न किञ्चिद्वरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

अथवा प्रियदर्शन कुमार भरत में वा महापराक्रमी शत्रुघ्न में व हमारी माताओं में अथवा मुझमें तो महाराज ने कोई बुराई नहीं देखी ॥ १४ ॥

अतोपयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥

महाराज का कहना न मान कर, उनको असन्तुष्ट एवं कुपित कर, मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता ॥ १५ ॥

यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥

क्योंकि जिन पिता माता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन प्रत्यक्ष देवताओं की आज्ञा क्यों न मानी जाय ॥ १६ ॥

कच्चित्ते परुषं किञ्चिदभिमानात्पिता मम ।
उक्तो भवत्या कोपेन यन्नास्य लुलितं[1] मनः ॥ १७ ॥

कहीं तुमने तो अभिमान से कोई कठोर वचन महाराज से नहीं कह दिया, जिसको सुन, क्रुद्ध होने के कारण महाराज का मन बिगड़ गया हो ? ॥ १७ ॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्वेन परिपृच्छतः ।
किन्निमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥

हे देवि ! मैं जो तुझसे पूँछता हूँ, उसको मुझे तू ठीक ठीक समझा कर कह । महाराज के मन में इस अपूर्व विकार के उत्पन्न होने का कारण क्या है ? ॥ १८ ॥

---

१ लुलितं—कलुषितं । (गो०)

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
श्वाचेदं सुनिर्लज्जा वृद्धमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह बेहया, और अपने मतलब में चौकस कैकेयी, धृष्टतापूर्वक बोली ॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन ।
किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते ॥ २० ॥

हे राम ! न तो राजा तुम पर अप्रसन्न हैं और न उनके शरीर में कोई पीड़ा है, किन्तु इनके मन में तुम्हारे विषय में एक बात है, जिसे यह तुम्हारे डर से कहते नहीं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्योपवर्तते ।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥

तुम इनके बड़े प्यारे हो, अतः तुमसे अप्रिय वचन कहने को इनकी वाणी नहीं खुलती, पर तुमको उसके अनुसार जिसको इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा कर रखी है, कार्य करना उचित है ॥ २१ ॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।
स पश्चात्तप्यते राजा ययाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥२२॥

पहिले इन्होंने आदर पूर्वक, मुझे वर दिया था और उसके लिये अब यह गँवारों की तरह सन्ताप कर रहे हैं ॥ २२ ॥

अतिस्रुज्य[1] ददामीति वरं मम विशांपतिः ।
स निरयं गतजलं सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

---

१ अतिस्रुज्य—प्रतिज्ञाय । (गो०)

मैं वर दूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर पीछे उसका बचाव सोचना वैसा ही है जैसा कि, पानी वह जाने पर उसको रोकने के लिये बाँध बाँधना ॥ २३ ॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।
तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥

हे राम ! कहीं ऐसा न हो कि, क्रुद्ध हो तुम्हारे लिये महाराज सत्य को त्याग बैठें । क्योंकि महात्माओं का कथन है कि, सत्य ही धर्म की जड़ है ॥ २४ ॥

यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५॥

अगर तुम यह बात स्वीकार करते हो कि, महाराज उचित अथवा अनुचित जो कुछ कहैं, उसे तुम करोगे, तो मैं तुम्हें सब हाल बतला दूँ ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।
ततोऽहमभिधास्यामि नं ह्येप त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

अथवा यदि महाराज तुमसे स्वयं न कहैं, तो मैं इनकी ओर से जो कुछ कहूँ, उसे तुम मानो, तो मैं कहने को तैयार हूँ । क्योंकि ये तो तुमसे न कहैंगे ॥ २६ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् ।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥ २७ ॥

जब इस प्रकार कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त व्यथित हो, महाराज के पास बैठी हुई कैकेयी से बोले ॥ २७ ॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥

हा ! धिक्कार है ! हे देवि ! तुमको ऐसी बात कहनी उचित नहीं । मैं महाराज के कहने से, और कामों को तो कोई बात ही नहीं, अग्नि में गिरने को तैयार हूँ ॥ २८ ॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥

परम गुरु हितकारी महाराज पिता जी के कहने से मुझे हलाहल विष पीना और समुद्र में कूद पड़ना भी स्वीकार है ॥ २९ ॥

तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

अतएव हे देवि ! जो कुछ महाराज की इच्छा हो सो तू मुझ से कह । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा । माता ! यह सदा याद रख कि, राम दो प्रकार की बातें कहना नहीं जानता । अथवा राम, जो कहता है वही करता है ॥ ३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या[1] सत्यवादिनम् ।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

जब सत्यवादी श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसे विनययुक्त वचन कहे, तब सर्वश्रेष्ठा कैकेयी ये अत्यन्त कठोर वचन बोली ॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

---

१ अनार्या—सर्वश्रेष्ठा । (शि०)

हे रामचन्द्र ! पूर्वकाल में जब देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तब उसमें महाराज बाण के लगने से घायल हुए थे। उस समय मैंने इनकी रक्षा की थी। तब इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

अत्र मे याचितौ राजा भरतस्याभिषेचनम् ।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

उन दो में से, आज मैंने एक से तो भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से आज ही तुम्हारा दण्डकारण्य वन में जाना माँगा है ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुम अपने पिता को और अपने आपको सत्यप्रतिज्ञ बनाये रखना चाहते हो तो, मैं जो कहूँ उसे सुनो ॥३४॥

सन्निदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।
त्वयाऽरण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है, उसको मान कर, तुम चौदह वर्ष के लिये वन को चले जाओ ॥ ३५ ॥

भरतस्त्वभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् ।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

और महाराज ने तुम्हारे अभिषेक के लिये जो यह समस्त सामग्री एकत्र की है, उससे भरत का राज्याभिषेक हो ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाजिनधरो वस ॥ ३७ ॥

तुम इस अभिषेक को त्याग कर और जटा और मृगचर्म धारण कर, चौदह वर्ष दण्डकारण्य में वास करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपुरे प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथकुञ्जराम् ॥ ३८ ॥

और भरत जी कोसलपुर में रह कर, इस पृथिवी का, जो नाना रत्नों से और हाथी घोड़ों से परिपूर्ण है, शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।
शोकसंक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

यही कारण है कि, महाराज करुणा से परिपूर्ण हैं और शोक से उनका मुख शुष्क हो रहा है और वे तुम्हारी ओर देख भी नहीं सकते ॥ ३९ ॥

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।
सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

हे रघुनन्दन ! तुम महाराज का यह कहना मानो और इनकी बात को सत्य कर अर्थात् पूरी कर इनका उद्धार करो ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा तु पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

इति अष्टादशः सर्ग ॥

जब कैकेयी ने ऐसे कठोर वचन कहे, तब भी उन्हें सुन कर श्रीरामचन्द्र को कुछ भी शोक न हुआ ; किन्तु महाराज (जो

पहिले ही महादुःखी थे) पुत्र के भावी कष्टों का विचार कर पुनः सन्तप्त हुए ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

एकोनविंशः सर्गः

तदप्रियमभिप्रेत्य वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र, मरण के समान पीड़ादायक कैकेयी के वचन सुनं कर, ज़रा भी दुःखी न हुए और उससे बोले ॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः[1] ।
जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

"बहुत अच्छा" महाराज की प्रतिज्ञा पूरी करने को मैं जटा और वल्कल वस्त्र धारण कर, अभी यहाँ से वन को जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापुरमरिन्दमः ॥ ३ ॥

किन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि, शत्रुहन्ता दुर्धर्ष महाराज, पूर्ववत् मुझसे क्यों नहीं बोलते ; इसका कारण क्या है ॥ ३ ॥

---

१ इतः—अस्मान्नगरात् । (वि०)

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

हे देवि ! तू रूठ मत । मैं तेरे सामने कहता हूँ कि, मैं जटा वल्कल धारण कर वन को चला जाऊँगा । तू प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः[1] किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥५॥

मेरा हित चाहने वाले गुरु, पिता और कृतज्ञ महाराज मुझे जो आज्ञा दें, उनकी प्रसन्नता के लिये, ऐसा कौन काम है, जिसे मैं निःशङ्क हो न करूँ ? ॥ ५ ॥

अलीकं[2] मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

मेरे मन में एक अप्रिय बात जो बुरी तरह खटक रही है, वह यह है कि, महाराज ने मुझसे भरत के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में स्वयं कुछ क्यों नहीं कहा ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरतायाप्रचोदितः[3] ॥ ७ ॥

महाराज की बात रहने दे, मैं तो तेरे ही कहने से प्रसन्नता पूर्वक भाई भरत को अकेला राज्य ही नहीं, बल्कि सीता, अपने प्राण, इष्ट, धन—सब कुछ दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

---

१ विस्रब्धः—निर्विशङ्कः । (रा०) २ अलीकं—अप्रियं । (गो०)
२ प्रचोदितः—त्वयापीतिशेषः । (माहेश्वरतीर्थी)

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

फिर महाराज पिता जी की तो बात ही क्या है । उनके सत्य की रक्षा के लिये और तेरा काम बनाने के लिये तो मैं कोई भी काम करने से मुँह नहीं मोड़ सकता ॥ ८ ॥

तदाश्वासय हीमं त्वं किंन्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

सो तू ये सब बातें महाराज को समझा दे । मैं देखता हूँ कि, पिता जी नीची गर्दन कर बैठे हुए आँसू गिरा रहे हैं ; सो क्या बात है ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

महाराज की आज्ञा से आज ही दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो, भरत जी को ननिहाल से लिवा लावें ॥ १० ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहमितोगच्छामि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

और मैं तुरन्त इसी समय, पिता के वचन के सम्बन्ध में युक्ता-युक्त विचार किये बिना ही, चौदह वर्ष के लिये दण्डकारण्य में वास करने जाता हूँ ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना हि त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन और प्रसन्न हो रानी कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी का वन जाना निश्चय जाना, और वन जाने के लिये वह जल्दी मचाने लगी ॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादुपावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

और बोली कि, बहुत अच्छा, अभी दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो जाते हैं और भरत को मामा के घर से लिवाये लाते हैं ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं[1] मन्ये नोत्सुकस्य[2] विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

हे राम ! तुम वन जाने को उत्सुक हो तो, वन जाने में विलम्ब करना अच्छा नहीं । अतः तुम शीघ्र वन को यात्रा करो ॥ १४ ॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

और महाराज स्वयं तुमसे वन जाने के लिये जो नहीं कह रहे हैं, सो इसका और कोई कारण नहीं. इसका कारण केवल लज्जा है । सो यह कुछ भी बात नहीं—इसका तुम ज़रा भी विचार मत करो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

---

१ क्षमं—युक्तम् । (रा०) २ उत्सुकस्य—वनगमनोत्सुकस्य । (रा०)

हे रामचन्द्र ! जब तक तुम इस नगर से वन जाने के लिये प्रस्थान न करोगे, तब तक महाराज न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्छितो न्यपतत्तस्मिन्पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन महाराज हा धिक् कंह और अत्यन्त शोकपीड़ित हो तथा दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए, मूर्छित हो, सोने के पलंग पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ।
कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज को उठाया और कैकेयी के कथन से प्रेरित हो चाबुक से पीटे हुए घोड़े की तरह वन जाने की जल्दी करने लगे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्यायां वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥

यद्यपि उस दुष्टा का वह वचन अत्यन्त कठोर था ; तथापि श्रीरामचन्द्र जी को उसके उस वचन से कुछ भी कष्ट न हुआ । वे कैकेयी से बोले ॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम् ॥२०॥

हे देवि ! मैं धन के लोभ से राज्य पाने की कामना नहीं करता । मैं तो राज्य की कामना केवल कर्त्तव्यपालन के लिये करता था । मुझे तो तू केवल धर्माश्रित ऋषियों के तुल्य जान ।

अर्थात् जिस प्रकार ऋषि अपने जीवन का लक्ष्य केवल धर्मपालन समझते हैं, उसी प्रकार मेरा भी लक्ष्य इस संसार में केवल धर्म का पालन करना है ॥ २० ॥

यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

यदि मैं अपने प्राण दे कर भी पिता जी का कोई हितसाधन कर सकूँ, तो समझ लें वह कार्य हुआ ही रखा है। अर्थात् पिता जी के प्रसन्न करने के लिये मैं प्राण भी दे सकता हूँ—वन जाना तो मेरे लिये कोई बड़ी बात हो नहीं है ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

क्योंकि, पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़ कर, संसार में दूसरा कोई धर्माचरण है ही नहीं ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

महाराज यदि मुझसे न भी कहेंगे, तो भी मैं तेरे ही कहने से चौदह वर्ष जनशून्य वन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणम् ।
यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा[1] सती ॥ २४ ॥

हे सती ! मेरी अधीश्वरी हो कर भी निश्चय तू मेरे स्वभाव को न जान पायी। यदि जानती होती तो ऐसी तुच्छ बात पिता जी से न कहती ॥ २४ ॥

---

१ ईश्वरतरा—अत्यन्त नियन्त्री । (गो०)

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥ २५ ॥

अच्छा, जो हुआ सो हुआ, मेरे दण्डकारण्य वन जाने में अब इतना ही विलंब है कि, मैं जा कर माता कौशल्या से पूँछ आऊँ और सीता को समझा आऊँ ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

परन्तु तू ऐसा करना जिससे भरत अच्छी तरह राज्य करें और पिता की सेवा शुश्रूषा करें । क्योंकि पुत्र के लिये यही सनातन धर्म है ॥ २६ ॥

स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता ।
शोकादशक्नुवन्बाष्पं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हुए । उनसे बोला तो कुछ गया नहीं ; किन्तु शोक से अधीर हो, ढाड़ मार कर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्यायाः निष्पपात[1] महाद्युतिः ॥ २८ ॥

तब महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्छित पिता के व दुष्टा कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया और वहां से चल दिये ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

---

१ निष्पपात—निर्जगाम । (गो०)

(चलने के पूर्व) श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों की परिक्रमा भी की और तदनन्तर अन्तःपुर से बाहिर निकल, अपने इष्टमित्रों को देखा ॥ २९ ॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनु जगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे नेत्रों में आंसू भरे और अत्यन्त क्रुद्ध सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी भी चले ॥ ३० ॥

[नोट—टीकाकारों का मत है कि, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के साथ अन्तःपुर में गये थे और शयनागार के बाहिर खड़े रह कर, उन्होंने वे सब बातें सुनीं थी, जो वहाँ कैकेयी और श्रीरामचन्द्र के बीच हुई थीं। मूल में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं है तो भी उक्त श्लोक से यह बात सिद्ध है ।]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो[1] दृष्टिं[2] तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अभिषेक की सामग्री की प्रदक्षिणा की और प्रार्थना की कि, इससे भरत जी का अभिषेक हो तथा उसकी ओर से अपनी निरपेक्षता प्रकट करने को पुनः उसकी ओर न देख, वे वहां से धीरे धीरे रवाना हुए ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा ॥ ३२ ॥

राज्याभिषेक न होने से श्रीरामचन्द्र की मुखद्युति में तिल भर भी अन्तर न पड़ा । वह जैसे पूर्व थे वैसे ही कान्तिमान बने

---

१ सापेक्षः—भरतस्यानेनाभिषेकोऽस्त्वितिशार्यनासहितः । (गो०)
२ दृष्टिं तत्राविचालयन्—स्वयंतत्रनिरपेक्षइत्यर्थः । (गो०)

रहे। क्योंकि उनमें तो स्वाभाविक कान्ति थी। जैसे कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कान्ति, नित्य क्षीण होने पर भी, नहीं घटती ॥ ३२ ॥

'न वर्नं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव[1] लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी अखिल पृथिवी का राज्य छोड़ कर, वन जा रहे थे, तथापि महायोगीश्वर की तरह, उनके मन में किसी प्रकार का विकार किसी को न देख पड़ा ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च सलङ्कृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस शुभ छत्र और बढ़िया चँवर को वहीं छोड़ दिया। फिर रथ को तथा अपने इष्टमित्रों, पुरवासियों एवं बाहिर के लोगों को भी वहीं से विदा कर ॥ ३४ ॥

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान्वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

और उनके दुःख को अपने मन में रख और अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर, वह अप्रिय संवाद सुनाने के लिये, अपनी माता के घर में गये ॥ ३५ ॥

सर्वो ह्यभिजनः श्रीमाञ्[2]श्रीमतःसत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के समीपस्थ लोगों ने भी, सत्यवादी श्रीरामचन्द्र के उस शारीरिक शृङ्गार में जो उन्होंने अभिषेकार्थ किया

---

१ सर्वलोकातिगस्य—तुल्यमानावमानस्य परम योगीश्वरस्येत्यर्थः। (गो०) २ श्रीमान्—रामाभिषेकार्थं कृतालङ्कारः। (गो०)

था, कुछ भी अन्तर न पाया और न उनके मन ही में किसी प्रकार की उदासी देख पड़ी ॥ २६ ॥

उचितं[1] च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रतेज इवात्मजम् ॥ २७ ॥

जिस प्रकार शरद्कालीन चन्द्रमा अपनी प्रभा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने अपने स्वाभाविक हर्ष को न छोड़ा ॥ २७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा* प्रविवेश महायशाः ॥ २८ ॥

जो लोग इधर उधर खड़े थे, उन सब का मधुरवाणी से सत्कार कर, महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी माता कौशल्या के पास पहुँचे ॥ २८ ॥

तं गुणैः[2] समतां[3] प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन्दुःखमात्मजम् ॥ २९ ॥

महापराक्रमी लक्ष्मण जो भी, जो श्रीरामचन्द्र के सुख दुःख में उनके समान ही सुखी दुःखी होने वाले थे, भाई के दुःख को अपने मन में रखे हुए, उनके पीछे पीछे गये ॥ २९ ॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं सुदान्वितं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्ति[4]मागताम् ।

---

१ उचितं—सहजं । (गो०) २ गुणैः—सुखदुःखादिभिः । (गो०) ३ समतां प्राप्तः—समान सुख दुःख । (गो०) ४ अर्थविपत्तिं—अर्थनाशं । (गो०) * पाठान्तरे "धीरात्मा ।"

न चैव रामोत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया[1] ॥ ४० ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

अपनी माता के अर्थ और अपने सुहृद्जनों के प्राण के नाश की आशङ्का उपस्थित होने पर भी, श्रीरामचन्द्र के मन में ज़रा भी विकार उत्पन्न न हुआ। वे अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, अपनी माता के घर पहुँचे ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

बिंशः सर्गः

—: ※ :—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महाञ्जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी को विदा माँगने के लिये हाथ जोड़े हुए, महाराज के अन्तःपुर से बाहिर आते देख, रनवास की स्त्रियों में हाहाकार मच गया ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिर्यः शरणं चापि स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे रोरो कर कहने लगीं, जो श्रीरामचन्द्र पिता की प्रेरणा हुए विना ही दास दासियों समेत सब अन्तःपुरवासियों की सब

---

१ आत्मविपत्तिशङ्कया—प्राणनाशशङ्कया। (गो०)

अभिलाषाएँ पूरी कर दिया करते हैं और जो हम लोगों के एक मात्र अवलंब हैं—वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

जो श्रीरामचन्द्र, जन्म ही से अपनी जननी कौशल्या की तरह हम सब को मानते चले आते हैं ॥ ३ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥

और जो कठोर वचन कहने पर भी कभी कुपित नहीं होते और न स्वयं किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित को भी प्रसन्न कर लिया करते हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्वत नो राजा जीवलोकं चरत्यम्[1] ।
यो गतिं सर्वलोकानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

जो सब प्राणियों के एक मात्र सहारे हैं, उन्हीं श्रीरामचन्द्र को वनवास दे, महाराज एक अनाड़ी की तरह प्रजा का नाश करने पर उतारू हैं ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
पतिमाचुक्रुशुश्चैव सस्वरं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार वे सब अन्तःपुरवासिनी महाराज दशरथ की रानियाँ वत्सरहित गौ की तरह, पति की निन्दा करती हुई उच्च-स्वर से रोने लगीं ॥ ६ ॥

---

१ चरति—भक्षयति, नाशयतीति । (गो०)

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा व्यालीयता[1]सने ॥ ७ ॥

उस समय महाराज दशरथ, जो पहले ही पुत्रशोक से सन्तप्त हो रहे थे, रानियों के आर्तनाद को सुन लज्जा और दुःख के मारे पलंग पर गिर पड़े ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निश्वसन्निव कुञ्जरः ।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

उधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी स्वजनों को इस प्रकार दुःख देख और स्वयं दुःखी हो, हाथी की तरह फुँसकार मारते, लक्ष्मण सहित माता के भवन में पहुँचे ॥ ८ ॥

सोपश्यत्पुरुषं[2] तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान्बहून् ॥ ९ ॥

उन्होंने पहिली ड्योढ़ी पर बैठे हुए आदरणीय वृद्ध द्वार-पालाध्यक्ष को तथा उसके नीचे काम करने वाले अनेक और लोगों को भी वहाँ देखा ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे सहसोत्थिताः ।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी को देख उठ खड़े हुए और जयजयकार कर उनको आशीर्वाद दिया ॥ १० ॥

---

१ व्यालीयत—लज्जा-दुःखभरेणशय्यायां विलीनोभूत् । (गो०)

२ पुरुष—द्वारपालाध्यक्षम् । (गो०)

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः ।
ब्राह्मणान्वेदसम्पन्नान्वृद्धान्राज्ञाभिसत्कृतान् ॥ ११ ॥

पहली ड्योढ़ी पार कर श्रीरामचन्द्र जी दूसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे और वहां पर उन्होंने उन वृद्ध ब्राह्मणों को देखा, जो वेदविद्या जानने वाले होने के कारण राजसन्मानित थे ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान्वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः ।
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी तीसरी ड्योढ़ी पर पहुँचे । तीसरी ड्योढ़ी पर देखा कि स्त्रियां, बूढ़े लोग और बालक पहरा दे रहे हैं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा[1] प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः ।
न्यवेदयन्त त्वरिता राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

वहां की स्त्रियों ने आशीर्वाद दिया और प्रसन्न हो तुरन्त भीतर जा कौशल्या जी को श्रीरामचन्द्र जी के आने का आनन्ददायी संवाद सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी, रात्रि भर नियम पूर्वक रह, पुत्र की हितकामना से विष्णु भगवान् का पूजन कर रही थीं ॥ १४ ॥

---

१ वर्धयित्वा—जयाशिषेतिशेषः । (गो०)

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति[1] स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

और वे रेशमी साड़ी पहिन, मङ्गलाचार पूर्वक हर्षित हो मंत्रों से हवन करवा रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य च तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी माता के पास पहुँच गये और उन्होंने देखा कि, वे हवन करवा रही हैं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यतम् ।
दध्यक्षतं घृतं चैव मोदकान्हविषस्तथा ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह भी देखा कि, देवताओं की पुजा के लिये दही, चावल, घी, लड्डू, खीर तैयार हैं ॥ १७ ॥

लाजान्माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं[2] तथा ।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

और वहां लावा, सफेद पुष्पों की माला, तिल, चावल, (तिल और जौ की) खिचड़ी, खीर, समिधा और जल से भरे कलश रखे हैं ॥ १८ ॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् ।
तर्पयन्तीं[3] ददर्शाद्रिदेवतां देववर्णिनीम् ॥ १९ ॥

---

१ जुहोति—हावयति । अतएव "हावयन्ती" मितिवक्ष्यति । (गो०)
२ कृसरं—तिलोदनं । (गो०) ३ तर्पयन्तीं—प्रीणयन्तीं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी ने सफेद वस्त्र पहिने हुए और बहुत दिनों से व्रत करने के कारण कृश शरीर, देवताओं को प्रसन्न करती हुई तथा गौराङ्गी कौशल्या को देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

वे बहुत देर बाद, पुत्र को अपने घर में आते देखते ही, छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चलीं आयीं ॥ २० ॥

स मातरमभिक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ॥ २१ ॥
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाघ्रातश्च मूर्धनि ।
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जब उनको प्रणाम किया तब उन्होंने उनके दोनों हाथ पकड़, उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और सिर सूँघा। तदनन्तर वे अपने दुराधर्ष पुत्र श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ २१ ॥ २२ ॥

कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ।
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ॥ २३ ॥

कौशल्या ने पुत्रवत्सलता से प्रेरित हो, यह प्यारा और हितकर वचन कहा। हे बेटा! तुम धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान ॥ २३ ॥

प्राप्नुह्यायुश्च कीर्त्तिं च धर्मं चोपहितं कुले ।
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ॥ २४ ॥

कुलोचित आयु, कीर्ति को प्राप्त हो और कुलोचित धर्म (कर्त्तव्य) पालन में सदा निरत रहो। हे राघव! तुम अब सत्य-प्रतिज्ञ महाराज के (जा कर) दर्शन करो ॥ २४ ॥

अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ।
दत्तमासनमालभ्य[1] भोजनेन निमन्त्रितः ॥ २५ ॥

क्योंकि वे तुम्हारा आज यौवराज्यपद पर अभिषेक करेंगे। बैठ कर भोजन करने के लिये जब कौशल्या जी ने आसन दिया, तब उसे छू कर ॥ २५ ॥

मातरं राघवः किञ्चिद्व्रीडात्माञ्जलिरब्रवीत् ।
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तदा नतः ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी मन में सकुचाते हुए हाथ जोड़ कर बोले। श्रीरामचन्द्र जी स्वभाव ही से विनम्र थे, तिस पर इस समय तो वे और भी अधिक नम्र हो माता के गौरव की रक्षा करते हुए बोले ॥ २६ ॥

प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ।
देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम् ॥ २७ ॥

हे देवि! मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ सो आपके पास जाने की आज्ञा माँगने आया। हे माता! निश्चय ही उपस्थित महाभय तुझे मालूम नहीं है ॥ २७ ॥

इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ।
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे ॥ २८ ॥

---

१ आलभ्य—स्पृष्ट्वा। (गो०)

यह तेरे लिये, वैदेही के लिये और लक्ष्मण के लिये दुःख-दायक समय आ पहुँचा है। मैं अब दण्डकारण्य जा रहा हूँ—अतः अब इस आसन पर बैठ कर क्या करूँगा ॥ २८ ॥

विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ।
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥ २९ ॥

अब तो मेरे लिये कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। मुझे चौदह वर्ष तक घोर वन में वास करना पड़ेगा ॥ २९ ॥

मधुमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम् ।
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ॥ ३० ॥

अब तो मुनिजन कथित (वर्जित) मांसादिक भोजन छोड़, मधु कन्दमूल फल आदि मेरे भोजन के पदार्थ हैं। महाराज ने भरत जी को यौवराज्य दिया है अथवा अब मुझे राजोचित राजस भोजन का परित्याग कर मुनिजनोचित कन्दमूल फल का भक्षण कर वन में रहना होगा। यौवराज्यपद महाराज अब भरत को प्रदान करेंगे ॥ ३० ॥

मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम् ।
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥३१॥

और मुझे तपस्वी के भेष में वन में रहने की आज्ञा दी है। अतः अब मैं चौदह वर्ष तक विजन वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ।
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः[1] परशुना वने ॥ ३२ ॥

---

१ यष्टि—शाखा। (रा०)

और वहाँ जंगली कन्दमूल फल का सेवन कर अर्थात् खा कर, वास करूँगा। श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, कुल्हाड़ी से काटी हुई साल वृक्ष की डाली की तरह ॥ ३२ ॥

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ।
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ॥ ३३ ॥

देवी कौशल्या अचानक भूमि पर गिर पड़ी—मानों स्वर्ग से कोई देवता गिरा हो। केले के पेड़ की तरह ज़मीन पर पड़ी, और दुःख सहने के लिये अनुपयुक्त ॥ ३३ ॥

रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ।
उपावृत्त्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् ॥ ३४ ॥

पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ।
सा राघवमुपासीन[1] मसुखार्ता सुखोचिता ॥ ३५ ॥

मूर्छित माता कौशल्या को श्रीरामचन्द्र जी ने झट उठा कर बैठाया। थकावट मिटाने के लिये जिस प्रकार घोड़ी ज़मीन पर लोटती है और उसके सारे शरीर में धूल लग जाती है, उसी प्रकार कौशल्या जी के शरीर में भी धूल लग गयी थी। श्रीरामचन्द्र जी ने उस धूल को अपने हाथ से पोंछा। जो कौशल्या सुख पाने के योग्य थीं, वे श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठी हुई, दुःखित हो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उवाच पुरुषव्याघ्रमुपस्पृण्वति लक्ष्मणे ।
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ॥ ३६ ॥

---

१ उपासीनं—समीपस्थितं। (वि०)

लक्ष्मण जी के सामने श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स राम ! यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न न हुए होते, तो सन्ततिहीन होने की ग्लानि ही मन में रहती, किन्तु यह दुःख तो मुझे न होता ॥ ३६ ॥

न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ।
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ॥३७॥

यदि मैं वन्ध्या रहती, तो उस दशा में मुझे इतने दुःख न होते। क्योंकि वन्ध्या रहने पर मन में केवल एक वन्ध्या होने ही का दुःख होता ॥ ३७ ॥

अप्रजास्मीति सन्तापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ।
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ॥ ३८ ॥

उसे (वन्ध्या को) और दूसरा कोई दुःख नहीं होता। हे बेटा ! पति के होने से सौभाग्यवती स्त्रियों को जो सुख हुआ करता है, मेरे भाग्य में वह भी नहीं रहा ॥ ३८ ॥

अपि पुत्रे तु पश्येयमिति रामास्थितं मया ।
सा वह्वन्य[1]मनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ॥ ३९ ॥

किन्तु मुझे यह आशा थी कि, पुत्र होने पर मुझे सुख मिलेगा, सो भी पूरी न हुई, अब तो मुझे हृदयविदीर्ण करने वाले कठोर वचन, ॥ ३९ ॥

अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां[2] वरा सती ।
अतो दुःखतरं किं नु मम दास्यां भविष्यति ॥ ४० ॥

---

१ अमनोज्ञानि—पदानि । (गो०) २ अवराणां—कनिष्ठानां । (गो०)

अपनी छोटी सौतों के सुनने पड़ेंगे और पटरानी होने पर भी,
मुझे अनादर सहना पड़ेगा। स्त्रियों के लिये इससे बढ़ कर दुःख
और कौनसा होगा ? ॥ ४० ॥

मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः[1] ।
त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ॥ ४१ ॥

जैसा कि मेरे सामने इस समय यह अपार शोक और विलाप
उपस्थित हुआ है। देखो न ! तुम्हारे रहते तो मेरा अपमान होता
ही था ॥ ४१ ॥

किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे ।
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमन्त्रिता* ॥ ४२ ॥

और जब तुम वन चले जाओगे, तब बेटा ! अवश्य ही मेरा
मरण होगा। पति की प्यारी होने से, मैंने कितनी ही लाञ्छनाएँ
सही हैं ॥ ४२ ॥

परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ।
यो हि मां सेवते कश्चिदथवाप्यनुवर्तते ॥ ४३ ॥

कैकेयी की सेवा शुश्रूषा में उद्यत रहने पर भी, कैकेयी की
दासी के बराबर भी तो मेरी पूँछ नहीं है। यही क्यों, मैं तो उसकी
दासी से भी गयी बीती समझी जाती हूँ। इस समय जो लोग
मेरे पक्ष में हैं, या मेरी सेवा करते हैं ॥ ४३ ॥

कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ।
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि[2] तत् ॥४४॥

---

१ अनन्तक—दुष्पारः । (गो०) २ खरवादि—परुषवचनशीलं । (गो०)
* पाठान्तरे—" असम्मता " ।

वे जब देखेंगे कि, कैकेयी के पुत्र भरत युवराज हैं, तब वे मुझ से बोलेंगे तक नहीं। क्योंकर सदा क्रोधयुक्त और कठोर वचन बोलने वाली ॥ ४४ ॥

कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता[1] ।
दश सप्त च वर्षाणि 'तव जातस्य[2] राघव ॥ ४५ ॥

कैकेयी का मुख मैं विपत की मारी देख सकूँगी। हे राम! यज्ञोपवीत हो चुकने के समय से आज १७ वर्ष बीते ॥ ४५ ॥

आसितानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ।
तदक्षयंमहद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरम् ॥ ४६ ॥

मैं इतने दिनों से यही आशा लगाये थी कि, जब तुम राजगद्दी पर बैठोगे, तब मेरे दुःखों का अन्त होगा, किन्तु वह न हो कर अब मुझे अपार दुःखों का सामना करना पड़ेगा। अब मैं इस अक्षय्य दुःखों को बहुत दिनों तक न सह सकूँगी ॥ ४६ ॥

विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ।
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ॥ ४७ ॥
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम् ।
उपवासैश्च योगैश्च[3] बहुभिश्च परिश्रमैः[4] ।
दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥

---

१ दुर्गता—दुर्दशामापन्ना । (रा०) २ जातस्य—उपनयनंकृतंतदनन्तरषोडशवर्षाणिजातानि । (वि०) ३ योगैः—देवताध्यानैः । (गो०) ४ परिश्रमैः—व्रतैः (गो०) ।

इस लिये कि भाई को राज्य नहीं मिला और हर्षित इस लिये कि धर्म का मर्म भाई ने समझा दिया) ॥ १ ॥

तदा तु वङ्का भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो विलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए क्रुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ (लक्ष्मण) दीर्घ निःश्वास त्यागने लगे ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

उस समय भौहें टेड़ी करने से उनका मुख, क्रुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं[1] शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर उधर घुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कँपा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥ ४ ॥

अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥

और तिरछी नज़र से भाई को देख कर बोले—हे भाई ! बुरे समय में तुमको यह बड़ा भ्रम हो गया है ॥ ५ ॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

---

१ तिर्यगित्यादि—क्रोधातिशयेन विविधं शिरो धूनं कृत्वा । (रा०)

अवश्य ही मेरा हृदय लोहे जैसा कठोर है, जो ऐसा दुःख पड़ने पर भी नहीं फटता और न पृथिवी ही फटती है, जिससे मैं उसमें समा जाऊँ। इससे जान पड़ता है कि, बिना मरने का समय आये, कोई मरना भी चाहे, तो मर नहीं सकता ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकारणा-
त्सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥

मेरे अनुष्ठित व्रत, दान, संयम और तपस्या—जो मैंने सन्तान के मङ्गल के लिये की थी—उसी प्रकार निष्फल हो गयी, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोये हुए बीज व्यर्थ जाते हैं ॥ ५२ ॥

यदि ह्यकाले मरणं स्वयेच्छया
लभेत कश्चिद्गुरुदुःखकर्शितः ।
गताऽहमद्यैव परेतसंसदं[1]
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

महादुःख पड़ने पर यदि मुँहमाँगी मौत मिल जाती, तो मैं तुम्हारे वियोग में बिना बछड़े की गौ की तरह—अपने प्राण दे कर, यमराज के घर पहुँच गयी होती ॥ ५३ ॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवानुकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

---

१. परेतसंसदं—यमसदनम् । (रा०)

हे चन्द्रमुख बेटा ! अब तो मेरा जीना ही वृथा है। जिस प्रकार दुर्बल गौ अपने बछड़े के साथ जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ वन चलूँगी ॥ ५४ ॥

भृशमसुखममर्पिता[1] तदा
बहु विललाप समीक्ष्य राघवम् ।
व्यसनमुपनिशाम्य[2] सा मह-
त्सुतमिव वद्धमवेक्ष्य किन्नरी ॥ ५५ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

महान् दुःख सहने में असमर्थ, रामजननी कौशल्या, श्रीराम को सत्य के बंधन में बँधा हुआ देख और अपने को अभागिनी जान, वैसे ही विलाप करने लगी, जैसे अपने पुत्र को बँधा देख, किन्नरी विलाप करती है ॥ ५५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकविंशः सर्गः

—:०:—

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् ।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौशल्या जी से, लक्ष्मण जी दुःखी हो, समयोचित वचन बोले ॥ १ ॥

---

१ अमर्षिता—सोढुं अशक्ता । (गो०) २ उपनिशाम्य—आलोच्य । (गो०)

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम् ।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशं गतः ॥२॥

हे माता ! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि, स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी वन में चले जांय ॥ २ ॥

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः ।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥

अति वृद्ध होने के कारण उनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, और इस बुढ़ापे में भी वे विषयवासना में ऐसे फँसे हैं, जिसका कुछ ठीकठौर नहीं। वे काम के वशीभूत हो जो न कहें सो थोड़ा है ॥ ३ ॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥

मुझे तो श्रीरामचन्द्र का कोई अपराध या दोष ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसके कारण वे राज्य से बहिष्कृत किये जाने योग्य समझे जायँ ॥ ४ ॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योस्य दोषमुदाहरेत् ॥ ५ ॥

ऐसा कोई मित्र या शत्रु भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पीछे भी श्रीरामचन्द्र जी को दोषयुक्त बतला सके ॥ ५ ॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् ।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार के देवतुल्य, सीधे, संयमी और शत्रुओं पर भी कृपा करने वाले, पुत्र को पा कर, अकारण कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा ॥ ६ ॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्त[1]मनुस्मरन् ॥ ७ ॥

ऐसी लड़कबुद्धि रखने वाले राजा का कहना, राजनीति जानने वाला कोई भी पुत्र कभी न मानेगा ॥ ७ ॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः ।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥

[तदनन्तर लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को सम्बोधन कर यह कहा ।]

हे भाई ! लोगों में इस अफवाह फैलने के पूर्व ही आप इस राज्य को अपने अधीन कर लें । मैं इस काम में आपको सहायता दूँगा ॥ ८ ॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥

हे राघव ! जब कि मैं काल की तरह हाथ में धनुष लिये आपकी रक्षा करता हुआ आपके निकट खड़ा हूँ, तब किस की मजाल है, जो आँख उठा कर भी आपकी ओर देख सके ॥ ९ ॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥१०॥

---

१ राजवृत्तं—राजनीतिम् । (गो०)

फिर एक दो की तो विसात ही क्या, यदि सारे के सारे अयोध्यावासी मिल कर भी इस कार्य में विघ्न डालें, तो मैं अपने तीक्ष्ण बाणों से इस अयोध्या को मनुष्यशून्य कर दूँगा ॥ १० ॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति ।
सर्वानेतान्वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥

भरत के पक्षपाती या उनके हितैषी जो होंगे, उनमें से एक को भी न छोड़ूँगा—सभी को मार डालूँगा। क्योंकि जो लोग सीधे होते हैं, लोग उन्हींको दबाते हैं ॥ ११ ॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता ।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥

यदि कैकेयी के उभाड़ने से हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जांय, तो अवध्य होने पर भी, उनको निःशङ्क हो, मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥

यदि गुरु भी करने अनकरने सभी काम कर उठे और अहङ्कार वश बुरे रास्ते पर चलने लगे, तो उसको भी दण्ड देना अनुचित नहीं है ॥ १३ ॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषर्षभ ।
दातुमिच्छति कैकेय्यै राज्यं स्थितमिदं तव ॥ १४ ॥

राजा किस बलबूते पर या किस हेतु से, ज्येष्ठा रानी के पुत्र के विद्यमान रहते, न्याय से तुम्हें प्राप्त यह राज्य, कैकेयी के पुत्र को दे सकते हैं ? ॥ १४ ॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम् ।
काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिनाशन् ॥ १५ ॥

हे शत्रुओं के मारने वाले ! आपसे या हमसे वैर कर, किस की मजाल है, जो भरत को राज्य दे सके ॥ १५ ॥

[लक्ष्मण जी पुनः कौशल्या जी से कहने लगे ।]

अनुरक्तोस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्ते[1]नेष्टेन[2] ते शपे ॥ १६ ॥

हे देवि ! मैं सत्य की, धनुष की, अपने दान की तथा देवार्चनादि (करके जो पुण्य सञ्चय किया है उस) की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मैं श्रीरामचन्द्र के सब प्रकार से अधीन हूँ। अर्थात् मेरी उनसे सच्ची प्रीति है ॥ १६ ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्र यदि जलती हुई आग में अथवा वन में, जहां कहीं भी प्रवेश करेंगे, वहां मुझे तू पहले ही से विद्यमान देखेगी ॥ १७ ॥

हरामि वीर्यदुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अँधकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आप और भाई श्रीरामचन्द्र देखते रहैं, मैं आपके सारे दुखों को अपने पराक्रम से अभी नष्ट किये डालता हूँ ॥ १८ ॥

---

१ दत्तेन—दानेन । २ इष्टेन—देवार्चनादिना । (गो०)

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं चास्थिरं बालं वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

कैकेयी के वशीभूत, वृद्ध, कृपण, चञ्चलचित्त, लड़कबुद्धि और बुढ़ाई के कारण जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, उन पिता को भी मैं मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा ॥ २० ॥

महात्मा लक्ष्मण जी की इन बातों को सुन, शोक से विकल और रोती हुई कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

हे वत्स ! तुम अपने भाई की सलाह सुन चुके । अब इसके बाद तुम्हें जो अच्छा जान पड़े सो करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

तुम सौत की अधर्ममूलक बात मान, मुझ शोकसन्तप्ता अपनी माता को छोड़ यहाँ से मत जाना ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ यदि धर्मिष्ठो धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

हे धर्मज्ञ ! यदि तुम धर्मिष्ठ हो और तुम्हें धर्माचरण ही करना है, तो यहाँ रह कर, मेरी शुश्रूषा कर के धर्माचरण करो । माता की सेवा से बढ़ कर उत्तम और कौन धर्म है ॥ २३ ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्रः स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः कश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

हे वत्स ! देखो, कश्यप ऋषि को अपने घर में नियम और तपस्या युक्त रहने से और माता की सेवा करने से स्वर्गप्राप्त हुआ था ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

जिस पूज्य भाव से महाराज तुम्हारे पूज्य हैं, उसी भाव से मैं भी तुम्हारी पूज्या हूँ। मैं तुम्हें वन जाने की अनुमति नहीं देती और कहती हूँ कि, वन मत जाओ ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में न तो मुझे कुछ सुख है और न मुझे जीने ही की अभिलाषा है। अतः तुम्हारे साथ तिनके खा कर रहने में भी मेरे लिये भलाई है ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥२७॥

यदि तुम मुझ शोक सन्तप्ता को छोड़ कर, वन चले गये, तो मैं भोजन न करूँगी और बिना भोजन किये मेरा जीना असम्भव है। अर्थात् मैं मर जाऊँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

मेरे आत्महत्या करने पर, हे पुत्र ! जिस प्रकार समुद्र को (अपनी माता का कहना न मानने से) ब्रह्महत्या का पाप लगा था और उसे नरक जाना पड़ा था उसी प्रकार मेरा कहना न मानने से तुमको भी नरक में जाना पड़ेगा। इस बात को सब लोग जानते हैं ॥ २८ ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार दीन दुखियारी माता को विलाप करते देख, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उससे ये धर्मयुक्त वचन बोले ॥ २९ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

हे देवि ! मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं पिता की आज्ञा उल्लङ्घन करूँ। अतः मैं तुझे प्रणाम कर, तुझे प्रसन्न कर और तेरी अनुमति ले, वन जाया चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता व्रतचारिणा ।
गौर्हता जानता धर्मं कण्डुनापि विपश्चिता ॥ ३१ ॥

देख, कण्डु मुनि ने जो व्रतचारी थे और बड़े पण्डित थे, अधर्म कार्य जान कर भी गौ मार डाली थी, किन्तु पिता की आज्ञा रहने के कारण उनको गोहत्या नहीं लगी ॥ ३१ ॥

अस्माकं च कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः ।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवासः सुमहान्वधः ॥ ३२ ॥

हमारे ही कुल में पहले ज़माने में सगर की आज्ञा से उनके साठ हज़ार पुत्रों ने, भूमि को खोदते हुए, अपनी जान गँवा दी थी ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ॥ ३३ ॥

और जमदग्न्य के पुत्र परशुराम ने वन में पिता की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् ।
पितुर्वचनमक्लीवं[1] करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

हे देवि ! इन लोगों ने तथा अन्य लोगों ने भी, जो देवतुल्य थे, दृढ़ता पूर्वक अपने पिता का कहा माना । अतएव जिस काम के करने से पिता की भलाई होती देख पड़ेगी, उस काम को मैं अकातर करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
एतैरपि कृतं देवि ये मया तव कीर्तिताः ॥ ३५ ॥

हे माता ! केवल मैं ही पिता की आज्ञा मानता हूँ—सो बात नहीं है, किन्तु जिन महात्माओं के नाम मैंने लिये, वे सब लोग अपने पिता के आज्ञाकारी थे ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं[2] ते प्रतिकूलं[3] प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

---

१ अक्लीवं—अकातरम् । २ अपूर्वं—नवीनं । (शि०) ३ प्रतिकूलं—स्वकुलानुरूपम् । (शि०)

मैं न तो किसी नवीन और न अपनी वंशपरम्परा के प्रतिकूल मार्ग पर ही चल रहा हूँ, प्रत्युत मैं तो उसी मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ, जिस पर पूर्वज चल चुके हैं। अर्थात् जिस बात को सब लोग आज तक मानते रहे हैं, वही मैं भी मान रहा हूँ, कोई अनोखी बात नहीं मान रहा ॥ ३६ ॥

तदेतत्तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

अतएव मैं जो कर रहा हूँ, वह ऐसा काम नहीं है, जो संसार में कहीं हुआ ही न हो। अर्थात् सारे भूतल पर लोग पिता की आज्ञा मानते हैं, ऐसा कहीं नहीं होता कि, पिता की आज्ञा न मानी जाय। फिर जो पिता की आज्ञा के अनुसार काम करता है, वह कभी भी धर्मच्युत नहीं होता ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।
वाक्यं वाक्यविदांश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ और धनुषधारियों में लब्धकीर्ति श्रीरामचन्द्र जी, माता से इस प्रकार कह, फिर लक्ष्मण जी से बोले। हे लक्ष्मण! मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा बहुत अनुराग है। मुझे तुम्हारा बल, और पराक्रम मालूम है। मैं जानता हूँ कि, तुम्हारा तेज दूसरे नहीं सह सकते ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण ।
अभिप्राय[1]मविज्ञाय सत्यस्य[2] च शमस्य च ॥ ४० ॥

---

१ अभिप्रायं—रहस्यं । (गो०) २ सत्यस्य—धर्मस्य ।' (गो०)

हे शुभलक्षणों वाले लक्ष्मण ! मेरी माता तो धर्म और शम (आत्मसंयम) का रहस्य न जानने के कारण महाशोक से कातर हो रही है (किन्तु तुम तो सब जानते हो—अतः तुम क्यों धर्मविरुद्ध बात अपने मुँह से निकाल माता की हां में हां मिलाते हो) ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम्[1] ॥ ४१ ॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) संसार में यावत् पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। क्योंकि धर्म का पर्यवसायी सत्य है। मेरे पिता जी की आज्ञा धर्मानुमोदित होने के कारण, माता की आज्ञा से उत्कृष्ट है। (अतः पितृआज्ञा मेरे लिये पालनीय है—माता की नहीं) ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य[2] तिष्ठता ॥ ४२ ॥

हे वीर ! पिता, माता अथवा ब्राह्मण से किसी काम के करने की प्रतिज्ञा कर के, पीछे उसे न करना, धर्मरूपी फल की इच्छा रखने वालों का कर्त्तव्य नहीं है। अर्थात् जो धर्मात्मा है—उन्हें प्रतिज्ञा कर के, फिर उसे न बदलना चाहिये। और जो ऐसा करते हैं, वे अधर्म करते हैं ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोग[3]मतिवर्तितुम् ।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याऽहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

---

१ उत्तमम्—मातृवचनपेक्षया उत्कृष्टं । (गो०) २ धर्ममाश्रित्यतिष्ठता—धर्मरूपफलमिच्छता । (गो०) ३ नियोगं—आज्ञां । (गो०)

सो मैं पिता की आज्ञा को उल्लङ्घन नहीं कर सकता। हे वीर! पिता जी के कहने ही से कैकेयी ने मुझे प्रेरित किया है ॥ ४२ ॥

तदेनां विसृजानार्यां[1] क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

अतएव हे लक्ष्मण! तुम इस क्षात्र-धर्म का अनुगमन करने वाली इसी लिये दुष्ट (पिता को मार कर राज्य ले लेने की) और मार काट करने की बुद्धि को (सुमति को) त्याग दो। उग्रता त्याग कर, धर्म का आश्रय ग्रहण करो और मेरी बुद्धि के अनुसार चलो। अर्थात् संसार में सर्वत्र केवल नीति (Diplomacy) ही से काम न लेना चाहिये, किन्तु लोक परलोक का विचार कर, धर्म का भी आश्रय लेना चाहिये) ॥ ४३ ॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद्भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥४५॥

लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी स्नेहपूर्वक लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर, तदनन्तर फिर हाथ जोड़ और सिर झुका कर, कौशल्या जी से बोले ॥ ४५ ॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥

हे देवि! अब मुझे यहाँ से वन जाने की आज्ञा दीजिये। तुझे मेरे प्राणों की शपथ है। अब तो तू वनवास में मेरे कुशल के लिये स्वस्त्ययनादि आवश्यक कर्म कर ॥ ४६ ॥

---

१ अनार्यां—दुष्टां। (गो०)

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

मैं प्रतिज्ञा पूरी कर फिर यहीं लौट आऊँगा जैसे राजर्षि ययाति स्वर्ग से भूमि पर गिर, फिर स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ४७ ॥

शोकः[1] सन्धार्यतां[2] मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

हे माता ! शोकातुर पिता जी को तू समझा बुझा कर, शान्त कर (यदि तू कहै कि मैं तो स्वयं शोकातुर हूँ—मैं भला क्या समझा सकती हूँ, तो कहते हैं ।) तू भी किसी बात का अपने मन में सोच (चिन्ता) मत कर । क्योंकि मैं पिता जी की आज्ञा के अनुसार चौदह वर्ष वनवास कर, पुनः घर लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

तुमको, मुझको, वैदेही को, लक्ष्मण को और सुमित्रा को, पिता की आज्ञानुसार ही चलना चाहिये । क्योंकि सनातन से यही शिष्टाचार चला आता है ॥ ४९ ॥

अम्ब संहृत्य सम्भारान्दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

हे माता ! अपने मन का दुःख दूर करो और यह अभिषेक के लिये जो सामान जोड़ा है इस सब को हटा दो और मेरे वन

---

१ शोकः—शोकविशिष्टः पितेतिशेषः । (शि०) २ सन्धार्यताम्—बोध्यतामित्यर्थः । (शि०)

वास का औचित्य समझ, मेरे मत का समर्थन करो (अर्थात् जिस प्रकार धर्मतः वन जाना मैं उचित समझता हूँ—वैसे ही तू भी समझ) ॥ ५० ॥

एवूचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धर्म एवं धीरतायुक्त और कादरतारहित वचन सुन, कौशल्या जी, जो (कुछ समय के लिये) मृतकवत् हो गयी थीं, सचेत हो कुछ काल तक तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर इकटक देखती रहीं, तदनन्तर बोलीं ॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्व[1]धर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वाऽनुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥ ॥ ५२ ॥

यदि तुम अपने धर्म* पर दृष्टि रख और उपकारों† का विचार कर देखो, तो तुम्हारे लिये जैसे तुम्हारे पिता पूज्य हैं, वैसी ही मैं भी हूँ। मैं कहती हूँ कि, मुझ अभागिनी को छोड़ तुम वन मत जाओ ॥ ५२ ॥

---

१ स्वस्य आत्मनः पुत्रस्येत्यर्थः । (शि०) .

* अपने धर्म पर—अर्थात् पुत्रधर्म पर अथवा पिता माता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों पर । † उपकारों—अर्थात् पिता माता के किये हुए उपकारों के प्रति ।

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधया[1]ऽमृतेन[2] ।
श्रेयो मुहूर्तं तव सन्निधानं
ममेह कृत्स्नादपि जीवलोकात्[3] ॥ ५३ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे विना न तो मुझे अपने जीवन से, न इस लोक से न पितृलोक से और न स्वर्गलोक और न बड़ी कठिनता से प्राप्त जीवों के लिये परमानन्दप्रद महर्लोकादि ही से कुछ प्रयोजन है। मेरे लिये तो मुहूर्त्त भर भी तुम्हारा मेरे पास रहना ही कल्याण-दायी है ॥ ५३ ॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो[4]
महागजोऽध्वान[5]मनुप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेनं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

माता का करुणायुक्त विलाप सुन, श्रीरामचन्द्र उसी प्रकार क्रोध और कुछ सन्ताप से क्षुब्ध हुए, जिस प्रकार रात्रि में हाथ में मशाल लिये हुए लोगों से मार्ग रोके जाने पर, कोई महागज अँधकार में पड़कर, क्रुद्ध और सन्तप्त हो क्षुब्ध होता है ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।

---

१ स्वधया—पितृलोकप्राप्तसिद्धया । (गो०) २ अमृतेन—स्वर्गलोकप्राप्ति-सिद्धेन । (गो०) ३ जीवलोकात्—आनन्दहेतुभूतमहर्लोकाद्युपरितन लोकान्त-र्वर्तिजीववर्गात् । (गो०) ४ अपोह्यमानः—निवार्यमाणोपि । (गो०) ५ अध्वानं—मार्गं । (गो०)

धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने, अपनी मूर्छितप्राय माता को और दुःखी एवं सन्तप्त लक्ष्मण को प्रबोध करने के लिये; ये धर्म-युक्त वचन, जो श्रीरामचन्द्र जी के ही मुख से निकलने योग्य थे, कहे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसन्निरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे लक्ष्मण ! मुझमें तुम्हारी जैसी भक्ति है और तुम जैसे पराक्रमी हो सो मैं भली भाँति जानता हूँ। परन्तु इस समय तुम्हें मेरा अभिप्राय समझे बिना ही मुझे उत्पीड़ित करने में, माता के सहायक बने हुए हो। अर्थात तुम व्यर्थ मुझे माता के साथ कष्ट दे रहे हो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याऽभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

हे भाई ! इस संसार में धर्मफलोदय अर्थात् सुखप्राप्ति के लिये, धर्म अर्थ और काम तीन कारण हैं। निस्सन्देह इन तीनों का सम्पादन सकल धर्माचरणों से वैसे ही हो सकता, है जैसे

अकेली भार्या पति को अनुगामिनी बन कर धर्म को, प्रिया हो कर काम को और पुत्रवती हो कर, अर्थ को सम्पादन करती है ॥ ५७ ॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥

अतएव जिस काम के करने से ये तीनों प्राप्त न हो सकें, उसको तो छोड़ देना चाहिये और जिससे धर्म का लाभ हो, उस काम को आरम्भ करना चाहिये। क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य केवल अर्थतत्पर होता है, उसका मित्र कोई भी नहीं होता, प्रत्युत उसके सब वैरी हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के लिये काम में तत्परता भी (किसी भी धर्मरहित कार्य में तत्परता)—सर्वथा निन्द्य है ॥ ५८ ॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात्प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

देखो, प्रथम तो महाराज हमारे गुरु हैं, दूसरे वे हमारे पिता हैं और तीसरे वृद्ध हैं। वे क्रुद्ध हों, प्रसन्न हों अथवा काम के वशवर्ती हो मुझे जो कुछ आज्ञा दें, उसका पालन करना मेरा धर्म है—अथवा धर्म की दृष्टि से मुझे उचित है। ऐसा कौन क्रूर स्वभाव पुत्र होगा, जो अपने पिता का कहना न माने ॥ ५९ ॥

स वै न शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमामकर्तुं सकलां यथावत् ।

स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिः स धर्मः ॥ ६० ॥

मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि, पिता की समस्त आज्ञा को यथोचितरीत्या पूरी न कर, उसे टाल दूँ। क्योंकि वे मेरे पिता हैं, उनको मेरे ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और वे देवी कौशल्या के भी पति हैं। वे ही इनके लिये धर्म और वे ही इनकी गति हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है वैसे ही अपनी पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार है। दोनों का यह धर्म है कि, पुत्र पिता का और पत्नी अपने पति का कहना मानें ॥ ६० ॥

तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोपगच्छे-
त्कथं स्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

फिर माता कौशल्या, ऐसे धर्मराज महाराज के जीवित रहते और राजकाज करते हुए महाराज को छोड़, विधवा स्त्री की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती हैं ॥ ६१ ॥

सा माऽनुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनरात्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥

हे देवि ! मुझे वन जाने की अनुमति दे और मेरे लिये स्वस्त्य-वाचनादि कर, जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, वैसे ही लौट

कर यहाँ आ जाऊँ, जैसे सत्य के बल महाराज ययाति पुनः स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ६२ ॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते
तृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

मैं केवल राज्यप्राप्ति के लिये पिता की आज्ञा पालन रूपी महायश की ओर से पीठ नहीं फेर सकता अथवा अपना मुँह नहीं मोड़ सकता। हे माता! थोड़े दिनों के जीवन के लिये मैं अधर्म द्वारा, इस पृथिवी का राज्य लेना नहीं चाहता ॥ ६३ ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स्वमातरं
पराक्रमा[1]ज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं[2]
चकार तां हृदि[3] जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इति एकविंशः सर्ग ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने अपनी जननी को मनाया और कैकेयी की प्रेरणा से दण्डकवन में जाना चाहा। तथा लक्ष्मण जी को अपना मत समझा कर, माता की प्रदक्षिणा करने का अपने मन में सङ्कल्प किया ॥ ६४ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—:※:—

१ पराक्रमात्—कैकेयी प्रेरणात् । (गो०) २ दर्शनं—स्वमतं । (गो०)
३ हृदिप्रदक्षिणंचकार—प्रदक्षिणं कर्तुं सङ्कल्पितवान् । (गो०)

द्वाविंशः सर्गः

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, अपने वनगमन से लक्ष्मण जी को अति दुखी और उस दुःख को सहने में असमर्थ तथा कैकेयी पर क्रुद्ध हो, हाथी की तरह फुँसकारते और आंखें फाड़े देख, ॥ १ ॥

आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन्सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

और उन्हें अपना प्यारा भाई और हितैषी मित्र समझ, बड़े धैर्य से अपनी चिन्ता को मन ही में रोक कर, लक्ष्मण से यह बोले ॥ २ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।
अवमानं निरस्येमं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥

हे भाई ! अब तुम क्रोध और शोक को त्याग कर, धैर्य धारण करो और इस अनादर का ज़रा भी विचार न कर अथवा इस अनादर को भूल कर, प्रसन्न हो जाओ। अर्थात् कैकेयी पर क्रुद्ध मत हो, राज्य न मिलने के लिये शोक मत करो और राज्य की अप्राप्ति के अपमान को भी भूल जाओ। प्रत्युत इस बात पर प्रसन्न हो कि, मैं पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

उपक्लृप्तं हि यत्किञ्चिदभिषेकार्थमद्य मे ।
सर्वं विसर्जय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरत्ययम् ॥ ४ ॥

मेरे अभिषेक के लिये आज जो ये तैयारियां की गयी हैं, उनकी ओर ध्यान न दे कर और तुरन्त उन सब को हटा कर, जो काम करना है, उसे करो अर्थात् मेरे वनगमन की तैयारी करो ॥ ४ ॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः ।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरे अभिषेक के लिये सामग्री एकत्र करने को तुमने जिस प्रकार प्रयत्न किया था, उसी प्रकार का प्रयत्न अब अभिषेक न होने के लिये करो अथवा उसी प्रकार वन जाने की सामग्री एकत्र करने के लिये तुम प्रयत्न करो ॥ ५ ॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते ।
माता मे सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥

मेरी माता कैकेयी का मन मेरे अभिषेक के लिये सन्तप्त हो रहा है । अतः तुम ऐसा करो जिससे उसके मन की शङ्का दूर हो जाय (अर्थात् कैकेयी के मन में जो यह शङ्का उत्पन्न हो गयी है कि, कहीं लक्ष्मण बरजोरी श्रीरामचन्द्र को राज्य न दिला दे—सो इस शङ्का को कैकेयी के मन से दूर करने के लिये प्रयत्नवान हो ।) ॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसञ्जातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! कैकेयी के मन में यह शङ्का उत्पन्न होने के कारण जो दुःख है, उसे मैं एक मुहूर्त भी न तो सह ही सकता हूँ और न देख ही सकता हूँ ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।
मातॄणां वा पितुर्वाऽहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥

क्योंकि जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने आज तक कभी भी जान-बूझ कर या अनजाने पिता माता का कोई साधारण सा भी अपराध नहीं किया ॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः[1] ।
परलोकभयाद्भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥

सदा सत्यप्रतिज्ञ और परलोक बिगड़ जाने के भय से ग्रस्त, तथा अमोघ पराक्रमी हमारे पिता महाराज दशरथ निर्भय हों। (हे लक्ष्मण ! हम तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये) ॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन्कर्मण्यप्रतिसंहृते ।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥ १० ॥

यदि मैं अपने अभिषेक की कामना त्याग न दूँगा, तो महाराज के मन में, अपने वरदान के पूरे होने न होने की चिन्ता से, जो सन्ताप हो रहा है, वह सन्ताप मुझे भी सन्तप्त करेगा ॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण ।
अन्वग्रमेवाद्यमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुनः ॥ ११ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! इस राज्याभिषेक के विधान को परित्याग कर, मैं शीघ्र ही यहाँ से वन जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

मम प्रव्राजनाद्य कृतकृत्या नृपात्मज ।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयिता ततः ॥ १२ ॥

क्योंकि आज मेरे वन जाने ही से कैकेयी कृतकार्य हो और अपने पुत्र भरत को बुला, सुचित्त हो, उनको राज्य दे सकेंगी ॥ १२ ॥

---

१ सत्यपराक्रमः—अमोघपराक्रमः । (गो०)

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि ।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥ १३ ॥

जब मैं चीर और मृगचर्म धारण कर और सिर पर जटा बाँध, वन को चला जाऊँगा, तब ही कैकेयी के मन में प्रसन्नता होगी। अर्थात् जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक कैकेयी प्रसन्न नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

बुद्धिः[1] प्रणीता[2] येनेयं मनश्च सुसमाहितम्[3] ।
तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि माचिरम् ॥१४॥

जिसने मुझे वनवास की यह शिक्षा दी और वन जाने के लिये मेरा मन पोढ़ा किया, उसे मैं क्लेश देना नहीं चाहता। अतः मैं वन जाऊँगा। अब जिससे विलंब न हो सो करो ॥ १४ ॥

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने ।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥ १५ ॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि[4] कथं स्यान्मम पीडने ।
यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्ता[5]विहितो भवेत् ॥१६॥

हे लक्ष्मण ! राज्य का मिलना न मिलना दैवाधीन है, इसमें किसी का कुछ वस नहीं। क्योंकि यदि दैव मेरे प्रतिकूल न होता, तो मुझे पीड़ा देने के लिये कैकेयी की बुद्धि कभी ऐसी न होती अर्थात् वह मुझे वन भेजने का दुराग्रह न करती ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ इयंबुद्धिः—वनवासबुद्धिः । (गो०) २ प्रणीता—शिक्षिता । (गो०)
३ मनश्च सुसमाहितं—स्थिरीकृतं । (गो०) ४ प्रतिपत्तिः—बुद्धिः । (गो०)
५ कृतान्तः—दैवः । (गो०)

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् ।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥१७॥

हे सौम्य ! यह तो तुम जानते ही हो कि, मैंने माताओं में कभी भेदबुद्धि नहीं रखी और न कैकेयी ही ने आज तक मुझमें और भरत में कुछ भी अन्तर माना ॥ १७ ॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः ।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥ १८ ॥

किन्तु आज उसी कैकेयी ने मेरा अभिषेक रोकने और मुझे वन भेजने के लिये कैसे कैसे उग्र और बुरे वचन कहे। सो इसका कारण दैव को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा ।
ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तुसन्निधौ ॥ १९ ॥

यदि यह बात न होती तो ऐसे सुन्दर स्वभाव वाली और गुणवती कैकेयी राजपुत्री हो कर, नीच गँवारों की तरह, पति के सामने मुझे मर्माहत करने की क्यों ऐसी बातें कहती ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते ।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥

जो समझ के बाहिर हो, उसका नाम दैव अथवा भाग्य है। भाग्य की रेख को ब्रह्मा जी भी नहीं मिटा सकते। उसी दुर्निवार्य दैव ने मुझमें और कैकेयी में इतना भेदभाव उत्पन्न कर दिया ॥ २० ॥

*क्वचिद्दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
यस्य न ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—"कश्च"

हे लक्ष्मण ! कर्मफल भोगने के सिवाय, जिसके जानने का अन्य कोई साधन ही नहीं है, उस दैव अथवा भाग्य से लड़ने का कौन पुरुष साहस कर सकता है ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ[1] ।
यच्च किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

देखो सुख दुःख, भय क्रोध, लाभ हानि, और जीवन मरण तथा अन्य बातें जो इन्हीं के समान हैं वे सब दैव ही के कृत्य हैं। अर्थात् ये सब बातें भाग्याधीन हैं ॥ २२ ॥

["हानि लाभ जीवन मरण
जस अपजस विधि हाथ । " गो० तुलसीदास]

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः ।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्भ्रंश्यन्ते काममन्युभिः ॥ २३ ॥

बड़े बड़े कठोर तप करने वाले तपस्वी लोग भी भाग्य के द्वारा सताये जाने पर, अपने उग्र नियमों का परित्याग कर, काम और क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असङ्कल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते ।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

जिसे करने के लिये कभी विचार भी न किया हो और वह अचानक हो जाय और जिस काम का विचार कर करो और वह न हो, बस इसी को दैव का कर्म समझना चाहिये ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया[2] बुद्ध्या संस्तभ्यात्मान[3]मात्मना[4] ।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥

---

१ भवाभवौ—उत्पत्ति विनाशौ । (गो०) २ तत्त्वया—अबाधितया । (गो०) ३ आत्मनं—अन्तःकरणं । (गो०) ४ आत्मना—स्वयमेव । (गो०)

ऐसी अबाधित बुद्धि से अपने अन्तःकरण को निश्चल कर के, स्वयमेव अभिषेक के कार्य के स्थगित होने का, मुझे ज़रा भी पश्चात्ताप नहीं है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः सन्त्वमप्यनुविधाय माम् ।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकींक्रियाम्[1] ॥ २६ ॥

अतएव तुम भी, मेरे कहने से, सन्ताप को त्याग कर, मेरा अनुसरण करो और इस अभिषेक की सजावट को बंद करवा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः ।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! ये घड़े जो मेरे अभिषेक के लिये भरे हुए धरे हैं, इनसे अब मेरा तापस-व्रत-स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राजद्रव्यमतेन तु ।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

अथवा अब मुझे इन अभिषेकार्थ लाये हुए तीर्थ के जलों से भरे घटों से क्या काम ? मैं तो अब अपने हाथ से कुएँ का जल भर कर, व्रताधिकार पूरा कर लूँगा ॥ २८ ॥

मा च लक्ष्मण सन्तापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये ।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! मुझको राज्याधिकार न मिलने के लिये तुम सन्ताप मत करो । क्योंकि विवेचन करने से राज्य और अरण्य-

---

१ अभिषेचनिकींक्रियां—अलङ्करणादि । (गो०)

वास में कुछ भी अन्तर नहीं, प्रत्युत मेरे लिये तो अरण्यवास ही महाफलप्रद है। (क्योंकि राज्य करने में बड़े भारी झंझटें होती हैं और वनवास में ऋषि महात्माओं के दर्शन से बड़ा पुण्य होता है) ॥ २६ ॥

न लक्ष्मणास्मिन्खलु कर्मविघ्ने
माता यवीयस्यतिशङ्कनीया ।
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं
जनासि दैवं च तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

॥ इति द्वाविंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य मिलने में विघ्न पड़ने का कारण मेरी छोटी माता कैकेयी है, ऐसी शङ्का अपने मन में तुम कभी मत करना। क्योंकि दैव के वशवर्ती हो कर ही लोग अनिष्ट बातें कह डाला करते हैं। दैव का प्रभाव तो तुमको मालूम ही है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

त्रयोविंशः सर्गः

—:०:—

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽधःशिरा मुहुः ।
श्रुत्वा मध्यं जगामेव मनसा दुःखहर्षयोः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के समझाने पर नीचे सिर झुकाये हुए लक्ष्मण जी मन ही मन दुःखी और हर्षित हुए (दुःखी तो

इस लिये कि भाई को राज्य नहीं मिला और हर्षित इस लिये कि धर्म का मर्म भाई ने समझा दिया) ॥ १ ॥

तदा तु वक्त्रं भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निश्वस्य सहसर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौंहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए क्रुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ (लक्ष्मण) दीर्घ निश्वास त्यागने लगे ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

उस समय भौंहें टेढ़ी करने से उनका मुख, क्रुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वन्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरं च पातयित्वा चिरोषणम् ॥ ४ ॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर उधर घुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कंधा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥ ४ ॥

अब्रवीद्वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमन्नवीत् ।
अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥

और तिरछी नज़र से भाई को देख कर बोले—हे भाई! तुरे समय में तुमको यह बड़ा भ्रम हो गया है ॥ ५ ॥

यदेतावमसङ्क्लेशं लोकस्यानतिशङ्कया ।
कर्तुं नैवंविधस्तस्माद्विधिवद्विधिरर्हति ॥ ६ ॥

१ तिर्यगूर्ध्वं—कोपाविष्टेन तिरश्चं शिरो धूतं कृत्वा । (गो०)

आपका यह समझना कि, पिता की आज्ञा का पालन न करने से धर्म की हानि होगी और लोग बुरा कहेंगे अथवा आप यदि पिता की आज्ञा का पालन न करेंगे तो अन्य लोग भी ऐसा न करेंगे और सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जायगी—सो आपका ऐसी शङ्का करना बड़े भ्रम की बात है। आप जैसे निर्भ्रान्त पुरुष को तो ऐसा कहना भी न चाहिये ॥ ६ ॥

यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥

आप क्षत्रियश्रेष्ठ और दैव का सामना करने में समर्थ हो कर भी, एक असमर्थ पुरुष की तरह, अशक्त और दीन हो, दैव की प्रशंसा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।
सन्ति धर्मोपधाः श्लक्ष्णा धर्मात्मन्किं न बुध्यसे ॥८॥

क्या आपको उन पापियों के बारे में शङ्का नहीं होती। हे धर्मात्मा ! क्या आपको यह नहीं मालूम कि, इस संसार में धर्म-छलिया भी अनेक लोग हैं ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः ।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ॥ ९ ॥

देखिये स्वार्थ में पड़ कर, महाराज और कैकेयी शठता पूर्वक आपको वनवास देते हैं। यदि ऐसा न होता तो, हे राघव ! वे आपके अभिषेक में ऐसा विघ्न उठा कर खड़ा न कर देते। (रा०) ॥ ९ ॥

तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः ।
लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ॥ १० ॥

यदि वर देने की बात ठीक होती तो अभिषेक की तैयारी आरम्भ होने के पूर्व ही वरदान देने की सूचना क्यों नहीं दी गयी ! यदि कहा जाय कि, महाराज ने यह काम भूल से किया है, तो भी इस भूल से बड़ी भारी हानि है। क्योंकि इससे लोगों में विद्वेष फैलेगा। फिर यह सरासर अनुचित भी है कि, बड़े के रहते छोटा राज्य पावे ॥ १० ॥

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ।
येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ॥ ११ ॥

अतः मैं तो यह नहीं सह सकता। हे वीर ! इसके लिये आप मुझे क्षमा करें। हे महामते ! जिस धर्म के द्वारा आपकी बुद्धि इस प्रकार की हो गयी है ॥ ११ ॥

स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसङ्गाद्यस्य मुह्यसि ।
कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ॥ १२ ॥

वह भी मुझे मान्य नहीं—क्योंकि उसीसे तो आपको मोह प्राप्त हुआ है। आप किस प्रकार सामर्थ्यवान हो कर भी, कैकेयी के वशवर्ती ॥ १२ ॥

करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ।
यद्ययं किल्विषा[1]द्भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ॥ १३ ॥

पिता की उस आज्ञा का, जो अधर्मयुक्त और निन्दित है, पालन करेंगे। वरदान का बहाना बतला आपके अभिषेक में बाधा डालने को, आप कपट नहीं समझते ॥ १३ ॥

---

१ किल्विषात्—मृषावरकल्पनात् । (गो०)

जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ।
मनसाऽपि कथं कामं कुर्यास्त्वं कामवृत्तयोः ॥ १४ ॥

इसका मुझे दुःख है । मैं तो ऐसी धर्म की आसक्ति को निन्द्य समझता हूँ । क्योंकि आपको छोड़ ऐसा दूसरा कौन होगा, जो उन दोनों का, जो कामी हैं, ॥ १४ ॥

तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्रवोः पित्रभिधानयोः ।
यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारा सदा अहित चाहने वाले हैं और माता पिता हो कर भी शत्रुता कर रहे हैं, कहना मन से भी मानेगा । यद्यपि आपका मत है कि, उन दोनों ने जो कुछ अहित किया है, उसका कारण दैव है ॥१५॥

तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ।
विक्लवो वीर्यहीनो यः सदैवमनुवर्तते ॥ १६ ॥

तथापि मुझे तो आपका यह मत अच्छा नहीं लगता । क्योंकि दैव का क्या भरोसा । कातर और वीर्यहीन पुरुष ही लोग दैव को मानते हैं ॥ १६ ॥

वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ।
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ॥ १७ ॥

किन्तु वीर और धीर दैव को नहीं मानते । जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से दैव को अपने अधीन कर सकता है ॥ १७ ॥

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ।
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ॥ १८ ॥

---

१ सम्भावित—सम्यक् प्रापितः दृढयावत् । (गो०) २ प्रबाधितुम्—अतिक्रम्यवर्तितुं । (गो०)

उसका दैव न तो कुछ बिगाड़ सकता है और न वह कभी दुःखी होता है। आज लोग दैव और पुरुष के (भाग्य और पुरुषार्थ के) बल और पौरुष को देखें कि, इन दोनों में कौन प्रबल है ॥ १८ ॥

दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता[1] व्यक्तिर्भविष्यति ।
अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ॥ १९ ॥

दैव (भाग्य) बलवान है अथवा पुरुष (पुरुषार्थ) इसका विवेचन आज ही स्पष्ट प्रकट हो जायगा। आज मेरे पौरुष द्वारा मारे गये दैव को, वे लोग देखेंगे ॥ १९ ॥

यद्दैवादाहतं[2] तेऽद्य हृष्टं राज्याभिषेचनम् ।
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं[4] गजं मदबलोद्धतम्[5] ॥ २० ॥

जिन्होंने दैवद्वारा तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न पड़ता हुआ देखा है। मैं आज उस दैव रूपी हाथी को, जो अङ्कुश को कुछ भी नहीं समझता, जिसने पैर की बेड़ियाँ तोड़ डाली हैं, और जो मद और बल से गर्वीला हो कर, ॥ २० ॥

प्रधावितं[6]महं दैवं पौरुषेण निवर्तये ।
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ॥ २१ ॥

बेरोकटोक इधर उधर दौड़ रहा है, अपने पौरुष से निवृत्त करता हूँ। जब आपके राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल ॥ २१ ॥

---

१ व्यक्ता—स्फुटा। (गो०) २ व्यक्तिः—प्रबलदुर्बलविवेकः। (गो०) ३ आहतं—विघ्नितं। (गो०) ४ उद्दामं—छिन्ननिगलं। (गो०) ५ मदबलोद्धतम—मदबलाभ्यामुगर्विष्टम्। ६ प्रधावितं—दुर्निवारं। स्वच्छन्द गमनम्। (गो०)

न च कृत्स्ना[1]स्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ।
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन्समर्थितः ॥ २२ ॥

और तीनों लोकों के समस्त निवासी अन्यथा नहीं कर सकते, तब अकेले पिता की क्या सामर्थ्य है, जो राज्याभिषेक न होने दें। जिन लोगों ने आपके वन जाने का समर्थन किया है, हे राजन्! ॥ २२ ॥

अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ।
अहं तदाशां छेत्स्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ॥२३॥
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ।
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा ॥ २४ ॥

वे ही लोग चौदह वर्ष तक वन में रहेंगे। मैं उस पिता और माता की आशा पर, जो आपको राज्य न दे कर, भरत को देना चाहती है, पानी फेर दूँगा। मेरे बल के, जो लोग विरुद्ध हैं, उनको दैवबल ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ।
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ॥ २५ ॥

उतना दुःखदायी न होगा, जितना कि, मेरा उग्र पौरुष दुःख देने वाला होगा। हज़ार वर्ष राज्य कर चुकने के अनन्तर, ॥ २५ ॥

आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ।
पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासो विधीयते ॥ २६ ॥

आप वन जाना और तब आपके पुत्र राज्य करेंगे। वन ही में रहना है, तो हमारे पूर्वज राजा लोग जिस प्रकार वृद्धा-

---

१ कृत्स्नाः—अन्यूनाः । (गो०)

वस्था में वनवास करते थे, उस प्रकार आप भी वनवास कीजिये ॥ २६ ॥

प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ।
स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ॥ २७ ॥
नैवमिच्छसि धर्मात्मन्राज्यं राम त्वमात्मनि ।
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ॥२८॥

पूर्ववर्ती राजा लोग (वृद्धावस्था में) प्रजा को पुत्र के समान पालन करने का भार अपने पुत्रों को सौंप, आप वन में जा, तप किया करते थे । हे आर्य ! यदि आप यह समझते हों कि, महाराज की आज्ञा के विरुद्ध राज्य लेने से राज्य में गड़बड़ी मच जाने की शङ्का है, और इसीलिये आप राज्य लेना नहीं चाहते, तो मैं प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, मुझे वीरगति प्राप्त न हो ॥ २७ ॥ २८ ॥

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ।
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो[1] भव ॥ २९ ॥

मैं तुम्हारे राज्य की रक्षा उसी प्रकार करूँगा, जिस प्रकार समुद्रतट की भूमि, समुद्र से पृथिवी की रक्षा करती है । अब आप मङ्गलाचार पूर्वक अपना राज्याभिषेक करवाने की ओर मन लगाइये ॥ २९ ॥

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ।
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ॥ ३० ॥

मैं अकेला ही उन सब राजाओं को, जो इस कार्य में बाधा डालने को अग्रसर होंगे, अपने पराक्रम से हटाने को पर्याप्त (काफ़ी)

१ व्यापृतोभव—आसक्तचित्तोभव । (गो०)

हूँ। मेरी ये दोनों बाहें शरीर की शोभा बढ़ाने के लिये नहीं हैं और न मेरा यह धनुष शरीर का शृङ्गार करने के लिये कोई आभूषण ही है ॥ ३० ॥

नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः[1] ।
अमित्रदमनार्थं मे सर्वमेतच्चतुष्टयम् ॥ ३१ ॥

न खड्ग केवल कमर में लटकाने के लिये है और न बाण केवल तरकस में पड़े रहने के लिये हैं। मेरी ये चारों चीज़ें तो शत्रु का दमन करने के लिये ही हैं ॥ ३१ ॥

न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ।
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ॥ ३२ ॥

जो हमारा शत्रु बन कर रहना चाहता है, उसका अस्तित्व मुझे सह्य नहीं। (राजाओं की तो बात ही क्या) मैं अपनी तेज़ धार वाली और बिजली की तरह चमचमाती तलवार से ॥ ३२ ॥

प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ।
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे ॥ ३३ ॥
हस्त्यश्वनरहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ।
खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाद्रयः ॥ ३४ ॥

यदि इन्द्र भी शत्रु बन कर मेरे सामने आवें, तो उनके भी टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा। इस तलवार के वार से काटे हुए हाथी घोड़े और मनुष्यों के हाथों पैरों और सिरों से भूमि पर ढेर लगा दूँगा, जिससे आने जाने का रास्ता तक न रहैगा। अर्थात् रणभूमि को मुर्दों से भर कर बड़ा भयङ्कर बना दूँगा। मेरी तलवार से कटे प्रदीप्त पर्वत की तरह ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

---

१ स्तम्भहेतवः—तूण्यां स्थापन हेतव । (गो०)

पतिष्यन्ति द्विपा भूमौ मेघा इव सविद्युतः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ॥ ३५ ॥

शत्रु लोग उस प्रकार ज़मीन पर गिरेंगे, जिस प्रकार बिजली सहित मेघ गिरते हैं। जब मैं गोह की खाल के बने दस्ताने पहिन हाथ में धनुष लूँगा ॥ ३५ ॥

कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ।
बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन* च बहूञ्जनान् ॥ ३६ ॥

तब मैं देखूँगा कि, वह कौनसा शूराभिमानी वीर है, जो मेरा सामना करता है। मैं बहुत से बाण चला कर, एक शत्रु को और एक ही बाण से अनेक शत्रुओं को ॥ ३६ ॥

विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ।
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य[1] प्रभावः[2] प्रभविष्यति ॥ ३७ ॥
राज्ञश्चामप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ।
अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां[3] च विमोक्षस्य[4] सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥

विनाश कर, सैनिकों, घोड़ों और हाथियों के मर्मस्थानों को बाणों से छेद डालूँगा। आज महाराज की प्रभुता मिटाने और आपकी प्रभुता जमाने में मेरे अस्त्रों के महात्म्य का प्रताप भी प्रकट हो जायगा। हे राम! आज मेरी ये दोनों बाहें जो चन्दनलेप, आभूषण धारण और द्रव्य दान देने तथा शत्रुओं से हितैषियों की रक्षा करने योग्य हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

---

१ अस्त्रप्रभावस्य—अस्त्रमहात्म्यस्य । (गो०) २ प्रभावः—प्रतापः । (गो०)
३ वसूनां—धनानां । (गो०) ४ विमोक्षस्य—त्यागस्य । (गो०)
* पाठान्तरे—"क्षेकेन"।

अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तृणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

ये आपके अभिषेक में विघ्न डालने वालों के निवारण में अपने अनुरूप काम करेंगी ॥ ३९ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥ ४० ॥

हे रामचन्द्र ! मैं आपका दास हूँ । मुझे आप अपने शत्रु को बतलाइये और आज्ञा दीजिये, जिससे मैं अभी उसे उसके प्राण, यश और हितैषियों से अलग कर दूँ और इस पृथिवी का राज्य आपके हस्तगत हो जाय ॥ ४० ॥

विमृज्य वाष्पं परिसान्त्व्य चासकृ-
त्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्र्ये वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथे ॥ ४१ ॥

॥ इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की इन बातों को सुन और उनके आंसू पोंछ बारंबार उनको समझाने लगे और कहने लगे—हे सौम्य ! मुझे तो तुम, पिता की आज्ञा मानने में अटल सत्पथगामी समझो । अथवा मैं पिता की आज्ञा मानूँगा,

क्योंकि पिता की आज्ञा मानना मानों सत्पथ पर चलना है अर्थात् सत्पुरुषों के लिये यही करणीय भी है ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुर्विंशः सर्गः

—: ※ :—

तं समीक्ष्य त्ववहितं पितुर्निर्देशपालने ।
कौसल्या वाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब कौशल्या जी ने देखा कि, धर्मिष्ठ श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा मानने के लिये तत्पर हैं ; तब वे आँखों में आँसू भर और गद्गद कण्ठ से बोलीं ॥ १ ॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।
मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

हे राम ! जिसने कभी दुःख नहीं सहा और जो धर्म में सदा तत्पर रहने वाला एवं सब से प्रिय वचन बोलने वाला है और जो महाराज दशरथ के औरस से मेरे गर्भ में उत्पन्न हुआ है, वह वन में किस प्रकार ऋषिवृत्ति से निर्वाह कर सकेगा ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते ।
कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥

जिसके नौकर चाकर मिठाई खाया करते हैं, वह मेरा, राम किस प्रकार वन में कन्दमूल फल खायगा ॥ ३ ॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद्भयम् ।
गुणवान्दयितो राज्ञा राघवो यद्विवास्यते ॥ ४ ॥

महाराज दशरथ अपने गुणवान् प्यारे पुत्र को देशनिकाला दे रहे हैं, यह बात सुन कर, इस पर कौन विश्वास करेगा और इस पर किसको भय न होगा। (जो कोई यह बात सुनेगा वही अपने पिता की ओर से भयभीत हो जायगा कि, जब महाराज जैसे श्रेष्ठ जन ने अपने निरपराध गुणी प्यारे पुत्र को निकाल दिया, तब हमारे पिता तो हमें क्यों घर में रहने देंगे) ॥ ४ ॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्[1] ।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

जब सब लोगों के प्यारे तुम (श्रीरामचन्द्र) वन को जाओगे, तब सुख दुःख के नियमन-कर्त्ता दैव ही को निस्सन्देह सब से बड़ा मानना पड़ेगा ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवादर्शनचित्तजः ।
कर्शयित्वा भृशं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानु[2]र्हिमात्यये ॥ ८ ॥

हे वत्स ! मेरे मन की यह शोकरूपी आँच; जो तुम्हारे अदर्शन रूपी हवा से जलेगी और विलाप एवं दुःख रूपी ईंधन तथा आँसू

१ सर्वं—सुखदुःखादिकं । (रा०) २ चित्रभानुः—वन्योऽग्निरिव । (गो०)

रूपी घी के पड़ने से प्रज्वलित होगी और जिससे चिन्ता रूपी धूआं निकलेगा—वह मुझे सुखा कर उसी प्रकार भस्म कर डालेगी, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के बीतने पर, दावानल (वन की आग) वन के घासफूस और लतागुल्मों को भस्म कर डालता है ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति ।
अहं त्वानुगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥ ९ ॥

हे वत्स ! जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ कर जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे जहां कहीं तुम जाओगे—वहीं चलूँगी ॥ ९ ॥

तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

जब कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुःखिनी अपनी माता से यह कहा ॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥

हे माता ! महाराज को कैकेयी ने धोखा दे कर, अत्यन्त क्लेशित कर दिया है, मैं भी इस समय महाराज से बिछुड़ कर, वन जा रहा हूँ, तिस पर यदि तुम भी मेरे साथ चल दीं तो, महाराज कभी जीवित न बचेंगे ॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनञ्सापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

स्त्री के लिये सब से बढ़ कर निष्ठुर काम केवल पतिपरित्याग ही है। सो ऐसे निन्द्य कार्य की कल्पना भी तुम्हें अपने मन में न करनी चाहिये ॥ १२ ॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

जब तक मेरे पिता महाराज दशरथ जीवित हैं, तब तक तुम उनकी सेवा करो, तुम्हारे लिये यही सनातन धर्म है ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना[1] ।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥ १४ ॥

बड़े से बड़े कठिन कार्य को सहज में करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, धर्मबुद्धि वाली महारानी कौशल्या मान गयीं और प्रसन्न हो कर बोलीं, (बेटा !) तुम ठीक कहते हो ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतांवरः ।
भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, माता की स्वीकारोक्ति सुन, अपनी अत्यन्त दुःखिनी माता से फिर बोले ॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥

हे देवि ! मुझे और तुम्हें पिता की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये । क्योंकि महाराज एक तो तुम्हारे पति हैं, दूसरे मेरे गुरु हैं, तीसरे पिता हैं और चौथे सब के पालन पोषण करने वाले स्वामी और प्रभु हैं ॥ १६ ॥

---

१ शुभदर्शना—धर्मबुद्धिरित्यर्थः । (गो०)

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीतः स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥[1]

मैं चौदह वर्षों को हँसी खुशी में बिता, तुरन्त लौट कर आता हूँ। तब तू जो कहैगी वही मैं करूँगा ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं वाष्पपूर्णानना तदा ।
दुःखान्यसहमाना सा कौसल्या राममब्रवीत्* ॥१८॥

प्रिय पुत्र की इन बातों को सुन, छलछल बहने वाले आंसुओं से भरे नेत्रों वाली और सर्वप्रकार के दुःखों को सहने में असमर्थ, महारानी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र से बोलीं ॥ १८ ॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथा† ।
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया[1] ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! मैं यहां सौतों के बीच रहने में असमर्थ हूँ, अतः यदि तुमने पिता की आज्ञा से वन जाने ही का निश्चय कर लिया है तो, मुझे भी वनैली हिरनी की तरह अपने साथ ही लेते चलो ॥१९॥

[नोट—वनैली हिरनी के साथ उपमा देने का भाव यह है कि, जिस प्रकार वन की हिरनी वन में प्रसन्न रहती है—वैसे ही मैं भी वहाँ प्रसन्न रहूँगी और तुम्हें किसी बात के लिये कष्ट न दूंगी । (गो०)]

तां तथा रुदतीं रामो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई माता से, श्रीरामचन्द्र जी रो कर, कहने लगे ॥ २० ॥

---

१ पितुरपेक्षया—पितुरिच्छया । (गो०) * पाठान्तरे—"उवाच परमार्तां तु कौसल्यां पुत्रवत्सला ।" † पाठान्तरे—"मृगीमव" ।

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं गुरुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥

जब तक स्त्री जिये, तब तक उसे उचित है, कि वह अपने पति ही को अपना देवता और मालिक माने । अतः इस समय तुम्हारे और मेरे मालिक महाराज ही हैं ॥ २१ ॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥

लोकनाथ और बुद्धिमान महाराज के रहते हम लोग अनाथ नहीं हो सकते (कौशल्या ने जो कहा कि मैं सौत के साथ नहीं रह सकूँगी इस बात के उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं) भरत भी धर्मात्मा हैं और सब से प्रिय बोलने वाले अर्थात् सज्जन हैं ॥ २२ ॥

भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥ २३ ॥

वे सब प्रकार तुम्हारा मन रखेंगे और तुम जो कहोगी वही वे करेंगे। मेरे वन जाने पर, मेरे वियोग में, जिससे महाराज को ॥ २३ ॥

श्रमं नावाप्नुयात्किञ्चिदममत्ता तथा कुरु ।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥

ज़रा भी कष्ट न हो सो काम बड़ी सावधानी से करती रहना । इस दारुण शोक से वे मरने न पावें ॥ २४ ॥

राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥

महाराज की अब वृद्धावस्था है, अतः बड़ी सावधानी से उनके हित में तत्पर रहना। क्योंकि जो परमोत्तम स्त्री व्रतोपवास तो किया करती है ॥ २५ ॥

भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः सुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥

किन्तु अपने पति की सेवा नहीं करती, वह पापियों की गति को प्राप्त होती है अर्थात् नरक में डाली जाती है और जो स्त्री (व्रतोपवास न कर) अपने पति (ही) की सेवा शुश्रूषा में लगी रहती है, उसे स्वर्ग मिलता है ॥ २६ ॥

अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषा मेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥

भले ही वह स्त्री किसी देवी देवता की पूजा न करे, किन्तु यदि वह पति की सेवा ही करती हुई, सदा पति की भलाई करने में तत्पर रहे तो, उसे निश्चय ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

एष धर्मः पुराद्दृष्टो[1] लोके वेदे श्रुतः[2] स्मृतः ।
अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥

स्त्रियों के लिये पतिसेवा ही प्राचीन-लोकाचार-सिद्ध, वेद और और स्मृत्यानुकूल धर्म है। हे देवि ! शान्तिक पौष्टिक कर्म कर के पुष्पादि से देवताओं का पूजन और ॥ २८ ॥

पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः ।
एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥

---

१ पुराद्दृष्टः—पुरातनालोकाचारसिद्धः । (गो०) २ वेदेश्रुतः—वेदागत । (गो०)

सुव्रती ब्राह्मणों का सत्कार, मेरे मङ्गल के लिये करती रहना और यह अनुष्ठान करती हुई, मेरे लौटने की प्रतीक्षा करना ॥ २९ ॥

नियता[1] नियताहारा[2] भर्तुशुश्रूषणे रता ।
प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति ॥ ३० ॥
यदि धर्मभृतांश्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।
एवमुक्ता तु रामेण वाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥

स्नानादि कर और मधु मांसादि छोड़ कर, शुद्धाहार कर, तू महाराज की सेवा करना। मेरे लौटने तक यदि धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाराज जीवित रहे, तो तेरा बड़ा मनोरथ पूर्ण होगा। जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार (महाराज की सेवा करने को अयोध्या ही में रहने के लिये) समझाया, तब आंखों में आंसू भर ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।
गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥

पुत्र वियोग के शोक से आर्त, कौशल्या जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा। हे वत्स ! जब तुम वन जाने की अपने मन में ठान ही चुके ; तब मुझमें शक्ति नहीं कि तुम्हें ॥ ३२ ॥

विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥

रोक सकूँ। हे वीर ! सचमुच काल दुर्लंघ्य है। अर्थात् भावी को कोई नहीं रोक सकता। अतः हे पुत्र ! तुम एकाग्र मन से

---

१ नियता—स्नानादिनियम युक्ता। (गो०) २ नियताहारा—मधुमांसादिवर्जनेन शुद्धाहारा। (गो०)

अर्थात् सावधानतापूर्वक वन जाओ। तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ३३ ॥

पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा[1] ।
प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ॥ ३४ ॥
पितुरानृण्यतां प्राप्ते त्वयि लप्स्ये परं सुखम् ।
कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे लौट आने पर ही मेरा क्लेश दूर होगा। हे महाभाग! जब तुम लौट आओगे, जब तुम्हारा यह व्रत पूरा हो जायगा और जब तुम पिता के इस ऋण से उऋण हो जाओगे (पिता की आज्ञा पालन कर चुकोगे) ; तब मुझे बड़ा आनन्द होगा। इस संसार में भाग्य की गति कभी समझ नहीं पड़ती ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

यस्त्वां सञ्चोदयति मे वच आच्छिद्य राघव ।
गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना शुद्धेन चेतसा* ॥ ३६ ॥

क्योंकि यह भाग्य ही की गति है, जो मेरे कथन के प्रतिकूल तुमको प्रेरणा कर रही है। हे राघव! तुम अब जाओ और कुशल पूर्वक लौट कर आ जाओ और शुद्ध चित्त से मुझे हर्षित करो ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः ।
यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

---

१ गतक्लमा—गतक्लेशा। (गो०) * पाठान्तरे—"वाक्येन चारुणा" ॥

हे वत्स ! मैं तो चाहती हूँ कि, वह समय शीघ्र आवे, जब मैं तुम्हें वन से लौटे हुए और जटा वल्कल धारण किये हुए देखूँ ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
समीक्ष्य देवी परमेण[1] चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी को परम-आदर पूर्वक वन जाने के लिये निश्चय किये हुए जान, स्वस्ति-वाचन करने की इच्छा से, उनसे शुभवचन बोलीं ॥ ३८ ॥

· अयोध्याकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

सापऽनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि ।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥ १ ॥

शोक को त्याग कौशल्या जी ने जल से आचमन किया और पवित्र हो, वे श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये मङ्गलाचार करने लगीं ॥ १ ॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम ।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥ २ ॥

---

१ परमेणचेतसा—आदरेणेति । (गो०)

हे रघुवंशियों में उत्तम ! मैं अब तुमको नहीं रोक सकती। अब तुम जाओ और शीघ्र ही वहां से लौट कर, सज्जनों के अनुसरण किये हुए मार्ग का अनुसरण करो ॥ २ ॥

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च ।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ३ ॥

हे राघवशार्दूल ! जिस धर्म को तुम धैर्य और नियमित रूप से पाल रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च ।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥

जिन देवताओं को तुम चौराहों और देवमन्दिरों में प्रणाम करते हो, वे महर्षियों सहित वन में तुम्हारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं[1] सदा ॥ ५ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी ने तुम्हें जितने अस्त्र दिये हैं, वे सब श्रेष्ठ गुणयुक्त अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा ।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! पिता की सेवा (के फल) से और माता की सेवा (के फल) से तथा सत्य की रक्षा (के फल) से रक्षित, तुम बहुत दिनों जीओ ॥ ६ ॥

---

१ समुदितं—श्रेष्ठं (गो०)

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च ।
स्थण्डिलानि[1] विचित्राणि शैला वृक्षाः क्षुपा[2] ह्रदाः ॥७॥

हे नरोत्तम ! समिध, कुश, कुश की बनी पवित्री, वेदियाँ, देव-मन्दिर, चित्रविचित्र देवपूजास्थल, पर्वत, छोटे बड़े वृक्ष, जलाशय ॥७॥

पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम ।
स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षयः ॥ ८ ॥

पक्षी, सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें । साध्यगण, विश्वदेव, उन्नचास पवन, सब महर्षि तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ८ ॥

स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा ।
लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ॥ ९ ॥

धाता, विधाता, पूषा, अर्यमा, इन्द्रादि लोकपाल, तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ९ ॥

ऋतवश्चैव पक्षाश्च मासाः संवत्सराः क्षपाः ।
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥ १० ॥

छः ऋतुएँ, दोनों पक्ष, बारहों मास, सब संवत्सर, रात दिन, तथा मुहूर्त्त, तुम्हारी रक्षा करें ॥ १० ॥

स्मृति[3]र्धृ[4]तिश्च धर्मश्च[5] पातु त्वां पुत्र सर्वतः ।
स्कन्दश्च[6] भगवान्देवः[7] सोमश्च[8] सबृहस्पतिः ॥११॥

---

१ स्थाण्डिलानि—देवपूजास्थलानि । (गो०) २ क्षुपाः—ह्रस्वशाखा-स्तरवः । (रा०) ३ स्मृतिः—ध्यानं । (गो०) ४ धृतिः—ऐकाग्र्यं । (गो०) ५ धर्मः—श्रुतिस्मृत्युदितः । (गो०) ६ स्कन्दः—सनत्कुमारः । कुमारो वा । (गो०) ७ भगवान्देवः—देवो महादेवः । (शि०) ८ सोमः—उमासहितः । (शि०)

हे वत्स ! ध्यान, एकाग्रता (अर्थात् निष्पन्न योग) और श्रुति-स्मृति-उक्त धर्म, सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करें । भगवान् सनत्कुमार, उमा सहित श्रीमहादेव जी, (अथवा महादेव और चन्द्रमा) वृहस्पति ॥ ११ ॥

सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।
ये चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥१२॥

सप्तर्षि, और नारद जी सदैव तुम्हारी रक्षा करें। जो और सिद्ध लोग और सब दिशाओं के स्वामी हैं ॥ १२ ॥

स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ।
शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! उन सब की मैं स्तुति करती हूँ कि, वे सब नित्य तुम्हारी रक्षा करें । सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण ॥ १३ ॥

द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी नद्यः सर्वास्तथैव च ।
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सहदेवताः ॥ १४ ॥

आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सब नदी, सब नक्षत्र, देवताओं सहित सब ग्रह ॥ १४ ॥

अहोरात्रे तथा सन्ध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ।
ऋतवश्चैव षट् पुण्या मासाः संवत्सरास्तथा ॥१५॥

दिन रात और दोनों सन्ध्याएँ, वन में तुम्हारी रक्षा करें । छहो ऋतुएँ, बारहों मास, सब संवत्सर, ॥ १५ ॥

[नोट—१० वें श्लोक में भी छः ऋतुएँ आदि वर्णित हो चुकी हैं । इसी प्रकार आगे भी कौशल्या जी के कथन में पुनरुक्ति पायी जाती है । इन पुनरुक्तियों का कारण केवल यह है कि, भावी पुत्रवियोग के कारण कौशल्या जी का मन स्थिर नहीं है ।]

कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म[1] दिशन्तु ते ।
महावने विचरतो मुनिवेषस्य धीमतः ॥ १६ ॥

कला, काष्ठा, तुमको सुख दें । बुद्धिमान् एवं मुनिवेष धारण कर, वन में विचरते हुए ॥ १६ ॥

तवादित्याश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ।
राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥ १७ ॥

तुम्हारे लिये आदित्यादि देवता और दैत्य, सदा सुखदायी हों । राक्षस, पिशाच, तथा भयङ्कर एवं क्रूर कर्म करने वाले जितने जीव हैं ॥ १७ ॥

क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम् ।
प्लवगा[2] वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ॥ १८ ॥

और जितने मांस भक्षी जीव हैं, इन सब से तुम्हें वन में भय न हो । वानर, बीछी, डांस, मच्छर ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन्गहने तव ।
महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ॥१९॥

पहाड़ी सर्प, कीड़े, ये भी तुम्हें वन में दुःखदायी न हों । मतवाले हाथी, सिंह, वाघ, रीछ आदि भयङ्कर दांतों वाले जानवर ॥ १९ ॥

महिषा शृङ्गिणो रौद्रा न ते हिंस्यन्तु पुत्रक ।
नृमांसभोजिनो रौद्रा ये चान्ये सत्त्वजातयः[3] ॥२०॥

---

१ शर्म—सुखं । (गो०) २ प्लवगाः—वानराः (गो०) ३ सत्त्वजातयः—क्रूरजन्तवः । (गो०)

जंगली भैंसे, जिनके सींग बड़े भयङ्कर हैं, हे पुत्र ! तुमसे द्रोह न करें। अन्यायी क्रूर जन्तु, जो मनुष्यमांस भक्षी और भयङ्कर हैं ॥ २० ॥

मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ।
आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ॥२१॥

उन सब की मैं यहां अराधना करती हूँ कि, वन में वे तुम्हारी हानि न करें। तुम्हारे मार्ग मङ्गल रूप हों और तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो ॥ २१ ॥

[नोट—शिरोमणिटीकाकार ने "आगम" का अर्थ किया है, आगमनानुकूल व्यापार—अर्थात् वेदविहित जितने कर्म हैं वे सब मङ्गलविशिष्ट हों अर्थात् निर्विघ्न पूरे होते रहैं।]

सर्वसम्पत्तये[1] राम स्वस्तिमान्गच्छ पुत्रक ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥२२॥

हे पुत्र ! वन के फल मूलादि, तुम्हें मिलते रहैं और तुम निर्विघ्न वन में विचरते रहो। आकाश और पृथिवी के पदार्थों से वार वार तुम्हारी रक्षा हो ॥ २२ ॥

सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः[2] ।
शक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ॥ २३ ॥

सब देवताओं से तथा उन सब से जो तुम्हारे शत्रु हों ; इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुबेर, यम ॥ २३ ॥

---

१ सर्वसम्पत्तये—वन्य फल मूलादि सम्पत्तये । (गो०) २ परिपन्थिनः—शत्रवः (गो०) ।

पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ।
अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखाच्च्युताः[1] ॥२४॥

ये सब तुमसे पूजित हो कर, दण्डकवन में तुम्हारी रक्षा करें। अग्नि, वायु, धूम और तुम्हें ऋषियों के बतलाये मंत्र ॥ २४ ॥

उपस्पर्शनकाले[2] तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतभर्ता[3] तथर्षयः ॥ २५ ॥

हे रघुनन्दन ! अछूतों के छूते समय अथवा अस्पृश्य पदार्थों को छूने के समय, तुम्हारी रक्षा करें। सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा, प्राणिमात्र का पालन करने वाले विष्णु, ऋषि ॥ २५ ॥

ये च शेषाः सुरास्ते त्वां रक्षन्तु वनवासिनम् ।
इति माल्यैः सुरगणान्गन्धैश्चापि यशस्विनी ॥ २६ ॥

तथा अन्य देवता जो मुझसे छूट गये हों, वे सब वन में तुम्हारी रक्षा करें। इस प्रकार यशस्विनी माता कौशल्या ने फूल चन्दन से देवताओं की पूजा ॥ २६ ॥

स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ।
ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ॥ २७ ॥

और उनकी यथायोग्य स्तुति की। तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित करना विधि विधान जानने वाले महात्मा ब्राह्मण द्वारा ॥ २७ ॥

---

१ मुखाच्च्युता—निर्गताः,त्वयागृहीता । (वि०) २ उपस्पर्शनकाले—अस्पृश्यस्पर्शनसमये । (शि०) ३ भूतभर्ता—नारायण । (गो०)

° पाठान्तरे " अनुकूलाभिः " ।

हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ।
घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधः श्वेतसर्षपान् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये विधिपूर्वक हवन करवाया। घी, सफेद फूल, समिधा और सफेद सरसों ॥ २८ ॥

उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ।
उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्ति[1]मनामयम्[2] ॥२९॥

आदि हवन का सामान कौशल्या जी ने एकत्र कर, वेदी के पास रख दिया। तब हवन करने वाले ब्राह्मण ने, सर्वोपद्रव शान्ति के लिये तथा श्रीरामचन्द्र जी की आरोग्यता के उद्देश्य से, हवन किया ॥ २९ ॥

हुतहव्यावशेषेण वाह्यं[3] बलिमकल्पयत् ।
मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्य द्विजांस्ततः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हवन से बचे हुए साकल्य से होमस्थान के बाहिर स्थल पर लोकपालों को बलि दी और शहत, दही, अक्षत, घी द्वारा ब्राह्मणों से ॥ ३० ॥

वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाः ।
ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वन में, श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये, स्वस्तिवाचन कर्म करवाया। तदनन्तर इस कर्म कराने वालों में मुख्य जो ब्राह्मण था, उसको श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौशल्या जी ने ॥ ३१ ॥

---

१ शान्तिं—सर्वोपद्रव शान्तिं । (गो०) २ अनामयम्—आरोग्यं । (गो०) ३ वाह्यं—होमस्थानाद्बहिर्भवं । (गो०)

दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ।
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ॥ ३२ ॥

सुँहमांगी दक्षिणा दी और श्रीरामचन्द्र जी से कहा । हे राम ! जैसा मङ्गल सब देवताओं से नमस्कृत इन्द्र का ॥ ३२ ॥

वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताऽकल्पयत्पुरा ॥ ३३ ॥

वृत्रासुर के नाश के समय हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो । जैसा मङ्गल पूर्वकाल में विनता की प्रार्थना से गरुड़ जी का, ॥ ३३ ॥

अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
अमृतोत्पादने दैत्यान्हतो वज्रधरस्य यत् ॥ ३४ ॥

जब वे अमृत लेने गये थे, हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो । समुद्र से अमृत निकलाने के समय वज्रधारी इन्द्र, जब दैत्यों को मारने के लिये प्रवृत्त हुए ॥ ३४ ॥

अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
त्रीन्विक्रमान्यक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ॥ ३५ ॥

तब उनकी माता अदिति ने उनका जैसा मङ्गल किया था, वैसा ही तुम्हारा भी हो । अतुल तेजधारी त्रिविक्रम भगवान का, जो तीन पाद से तीनों लोक नाप रहे थे ॥ ३५ ॥

यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ।
ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ॥ ३६ ॥

जैसा मङ्गल हुआ था, हे राम ! वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो । ऋतुएँ, समुद्र, द्वीप, वेद, लोक और दिशाएँ तुम्हारा, ॥ ३६ ॥

मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलाः ।
इति पुत्रस्य शेषांश्च[1] कृत्वा शिरसि भामिनी ॥३७॥

हे महाबाहो ! शुभ मङ्गल करें । इस प्रकार मङ्गलपाठ पढ़, पुत्र के मस्तक पर कौशल्या जी ने अक्षत चढ़ाये ॥ ३७ ॥

गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ।
ओषधीं चापि सिद्धार्थां[2] विशल्यकरणीं शुभाम् ॥३८॥

और फिर विशालाक्षी कौशल्या ने श्रीराम जी के मस्तक पर चन्दन लगाया और प्रत्यक्ष फल देने वाली शुभ विशल्यकरिणी* नाम की ओषधी भी रखी ॥ ३८ ॥

चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ।
उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ॥ ३९ ॥

तदनन्तर कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र की रक्षा के लिये मंत्र जपे । यद्यपि श्रीराममाता उस समय अत्यन्त दुःखी थीं, तथापि (यात्रा के समय दुःखी होने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण) हर्षित हो, बोलीं ॥ ३९ ॥

वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ।
आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ॥४०॥

---

१ शेषान्—अक्षतानि । (गो०) २ सिद्धार्थां—दृष्टफलां । (गो०)

* "विशल्यकरिणी" का गुण यह है कि, इसके लगाते ही शरीर में घुसा हुआ बाण या काटा, अपने आप बाहिर निकल आता है ।

किन्तु बोलते ही मारे प्रेम के उनकी वाणी गद्गद हो गयी। उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा कर, उनका सिर सूँघा ॥ ४० ॥

अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम् ।
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ४१ ॥

और बोलीं, हे बेटा ! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ चले जाओ और तुम रोग रहित शरीर से, पिता की आज्ञा पालन कर, फिर अयोध्या को लौट आओ ॥ ४१ ॥

पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं[1] राजवर्त्मनि ।
प्रनष्टदुःखसङ्कल्पा[2] हर्षविद्योतिताननाः ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! जब तुम (वन से लौट कर) राजा होगे और मैं जब तुमको मन भर कर, देखूँगी, मुझे तभी आनन्द प्राप्त होगा। उस समय मेरे मन की सब चिन्ताएँ नष्ट हो जायँगी। मुझे प्रसन्नता होगी और मेरे मन की उमँग पूरी होगी ॥ ४२ ॥

द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ।
भद्रासनगतं भद्रं वनवासादिहागतम् ॥ ४३ ॥

वन से लौट कर आये हुए और पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्रमा की तरह उदित और भद्रासन पर बैठे हुए तुम्हारे मङ्गल रूप को देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ ४३ ॥

---

१ सुस्थितंराजवर्त्मनि—प्राप्तराज्यमितियावत् । (रा०) २ प्रनष्टदुःख सङ्कल्पा—सङ्कल्पःमानसंकर्म—वनेरामस्यकिंभविष्यतीति चिन्तात्मक इत्यर्थः । (गो०)

द्रक्ष्यामि *त्वामहं पुत्र तीर्णवन्तं पितुर्वचः ।
मङ्गलैरुपसम्पन्नो[1] वनवासादिहागतम् ।[†]
वध्वा[2] मम च नित्यं त्वं कामान्संवर्ध याहि भो ॥४४॥

हे पुत्र ! जब मैं देखूँगी कि, तुम पिता की आज्ञा पालन कर चुके हो और वन से लौट कर राजोचित वस्त्र तथा आभूषण धारण किये हुए हो, मुझे तो तभी प्रसन्नता होगी। हे राघव ! अब तुम गमन करो और सीता जी के तथा मेरे मनोरथों को सदा पूर्ण करो ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतमहासुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥

हे राघव ! मैंने जिन शिवादि देवताओं की, महर्षियों की, भूतगण की और दिव्य सर्पों की आज तक पूजा की है, वे सब तथा सब दिग्पाल, चिरकाल पर्यन्त, वनयात्रा में तुम्हारा मङ्गल करते हैं ॥ ४५ ॥

इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

---

१ मङ्गलैरुपसम्पन्नो—राजोचितवस्त्राभरणैः । (रा०) २ वध्वाः—सीतायाः । (रा०)

* पाठान्तरे—"च पुनस्त्वां तु।" † पाठान्तरे—"इहागतः।"

इस प्रकार आशीर्वाद दे, कौशल्या जी ने स्वस्तिवाचन कर्म यथाविधि पूरा किया और आँखों में आँसू भर, श्रीरामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उनको वार वार हृदय से लगा, वे उनके मुख की ओर एकटक निहारती रहीं ॥ ४६ ॥

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य[1] मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितः स्वया[2] श्रिया ॥४७॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

जब देवी कौशल्या वारंवार श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर चुकीं, तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी वारंवार उनके चरण छुए। फिर महायशस्वी श्रीरामचन्द्र स्वतःसिद्ध शोभा से दीप्तिमान् सीता के घर चले गये ॥ ४७ ॥

अयोध्याकाण्ड का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

षड्विंशः सर्गः

—:०:—

अभिवाद्य च कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे[1] वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

---

१ निपीड्य—नमस्कृत्य । (गो०) २ स्वया—स्वतः सिद्धया । (गो०)

१ धर्मिष्ठे—अतिशयित धर्मे । (गो०)

स्वस्तिवाचन हो जाने पर, अतिशय धर्म में स्थित धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी माता के चरणों को प्रणाम कर, वन जाने को तैयार हुए ॥ १ ॥

विराजयन्राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्यामथन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लोगों (की भीड़) से भरे हुए राजमार्ग को सुशोभित करते एवं अपने गुणों के प्रभाव से सब लोगों के मनों को मथन करते हुए, चले जाने लगे ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

अभी तक यह सारा वृत्तान्त तपस्विनी सीता जी ने नहीं सुना था । उनके मन में उस समय श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक ही की बात थी ॥ ३ ॥

देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा[1] हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां[2] राजपुत्रं प्रतीक्षते ॥ ४ ॥

अतः उस समय स्वयं देवपूजादि कर्म समाप्त कर, राज-चिन्हों को जानने वाली सीता जी, अभिषिक्त हुए श्रीरामचन्द्र जी की अभ्यर्थना करने के लिये प्रसन्न हो, प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ४ ॥

---

१ कृतज्ञा—अभिषिक्तभर्तृविषयेपटमहिषिभिः गन्धपुष्पादिनाकृतपादार्चनादिसमाचारज्ञेत्यर्थः । (गो०) २ राजधर्माणामभिज्ञा—अभिषिक्तराजा साधारण लक्षणानि श्वेतच्छत्रचामर पुरस्कृत भद्रासनादीनिज्ञातवती । (गो०)

प्रविशन्नेव* रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी लज्जा से मुख नीचे किये हुए, भली भाँति सजे हुए और प्रसन्न मनुष्यों से भरे हुए अपने घर में गये ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसन्तप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता जी, शोक और चिन्ता से विकल श्रीरामचन्द्र जी को देख, काँपती हुई आसन से उठ खड़ी हुईं ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता को देख, अपने मानसिक शोक के वेग को न रोक सके। पति का उतरा चेहरा, उनको प्रस्वेद (पसीना) युक्त और अत्यन्त शोकान्वित देख, स्वयं दुःखसन्तप्त हो कर, सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी से पूछा—हे प्रभो ! यह क्या हुआ ? ॥ ७ ॥ ८ ॥

अद्य वार्हस्पतः श्रीमानुक्तः पुष्यो नु राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

आज तो चन्द्रमा के सहित पुष्य नक्षत्र का योग है और लग्न में बृहस्पति जी बैठे हुए हैं। विद्वान ब्राह्मणों के मतानुसार आज

---

* पाठान्तरे—" प्रविवेशाथ " ।

का दिन राज्याभिषेक के लिये अच्छा है। सो तुम ऐसे उदास क्यों हो रहे हो? ॥ ९ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु *च्छत्रेणापि विराजते ॥ १० ॥

सौ कीलियों का बना हुआ जलफेन के समान सफेद छत्र तुम्हारे ऊपर तना हुआ मैं नहीं देखती ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम्।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

और क्या कारण है जो चन्द्रमा और हंस के समान सफेद चँवर तुम्हारे ऊपर नहीं डुर रहे हैं ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि महृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नात्र दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

हे नरश्रेष्ठ! आज वाग्मी वन्दीजन प्रसन्न हो, तुम्हारी स्तुति नहीं करते और न सूत और मागध ही मङ्गलपाठ पढ़ते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य दधति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

राज्याभिषिक तुम्हारे सिर पर वेदज्ञ ब्राह्मणों ने शहद और दही यथाविधि क्यों नहीं छिड़का ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"छत्रेणपि"।

फिर मंत्री, पुरवासी, राज्यनिवासी तथा दरबारी लोग अनेक प्रकार के बढ़िया कपड़े और गहने पहन कर क्यों आपके पीछे चलना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषतैः* ।
मुख्यः पुष्यरथो[1] युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥१५॥

आज बड़े वेग वाले और सोने के आभूषणों से सजे हुए चार उत्तम घोड़ों से युक्त उत्सवरथ तुम्हारे आगे क्यों नहीं चलता ॥ १५ ॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमांस्तव लक्षणपूजितः ।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

सुलक्षणों से युक्त काले मेघ के समान रंग वाला और पर्वत के समान ऊँचा हाथी तुम्हारे प्रयाण (जलूस) में क्यों नहीं देख पड़ता ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन ।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यातं वीरपुरस्कृतम् ॥ १७ ॥

हे वीर ! आज सोने का बना हुआ और अति सुन्दर तुम्हारा भद्रासन, जिसे नौकर आगे ले कर चलता था, क्यों दिखलाई नहीं पड़ता ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न हर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

---

१ पुष्यरथः—उत्सवायकल्पितरथ इत्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—" भूषणैः " । † पाठान्तरे—" यथा " ।

जब कि अभिषेक की सभी तैयारियां हो चुकी हैं तब फिर आपके चेहरे का रंग ऐसा अपूर्व क्यों हो रहा है। चेहरे पर प्रसन्नता की रेख तक न देख पड़ने का कारण क्या है? ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः ।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

सीता जी के ऐसे दुःख भरे वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सीते! पूज्य पिता जी ने मुझे वन जाने की आज्ञा दी है ॥ १९ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाभ्यागतं मम ॥ २० ॥

हे बड़े कुल में उत्पन्न, धर्म जानने वाली और धर्म करने वाली जानकी! सुनो, जिस प्रकार मुझे यह वनवास की आज्ञा मिली है, उसे बतलाता हूँ ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन च ।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥ २१ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता महाराज दशरथ ने, मेरी माता कैकेयी को पूर्व काल में (आज से बहुत दिनों पहले) दो वर दिये थे ॥२१॥

तयाऽद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते ।
प्रचोदितः ससमयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

सो कैकेयी ने, महाराज को, मेरा राज्याभिषेक करने में उद्यत देख, उस समय के वरों की बात उठा कर, सत्यद्वारा महाराज को अपने वश में कर लिया ॥ २२ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया ।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

(उन दो वरों के अनुसार अब) मुझको चौदह वर्ष तक दण्डकवन में रहना पड़ेगा और भरत का युवराजपद पर अभिषेक होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् ।
भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥

तुझे देखने के लिये मैं यहां आया हूँ। क्योंकि मैं तो अब वन जा रहा हूँ। देखना भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना ॥२४॥

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

क्योंकि समृद्धिवान् पुरुषों को दूसरों की प्रशंसा सह्य नहीं होती। अतः तू भरत के सामने मेरी बड़ाई मत करना ॥ २५ ॥

नापि त्वं तेन भर्तव्या विशेषेण कदाचन ।
अनुकूलतया शक्यं समीपे त्वस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

नहीं तो भरत विशेषरूप से तेरा भरण पोषण न करेंगे। यदि तू भरत जी की इच्छा के अनुकूल चली, तो ही तेरा यहां निर्वाह हो सकेगा ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् ।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

भरत को महाराज ने सनातन यौवराज्य दिया है। अतः तुझको उचित है कि, इस तरह रहना जिससे वे तुझ पर प्रसन्न बने रहें। क्योंकि राजा को प्रसन्न रखना ही चाहिये ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरा भव मनस्विनी ॥ २८ ॥

अब मैं पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अभी वन जाता हूँ। सो हे मनस्विनी ! तू स्थिरचित्त हो कर रह ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

हे अनघे ! जब मैं मुनिवेषधारी हो वन को चला जाऊँ, तब तू व्रतोपवास करना अर्थात् जब हम वन में मुनिवेष धारण कर रहेंगे ; तब तुझे भी यहां शृङ्गारादि से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ २९ ॥

[नोट—यह उपदेश धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। याज्ञवल्क्य महर्षि ने लिखा है कि, "हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषित भर्तृका । "]

काल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः ॥ ३० ॥

प्रातःकाल उठ देवतांओं का यथाविधि पूजन करना। फिर मेरे पिता महाराज दशरथ जी को प्रणाम करना ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा सन्तापकर्शितः ।
[1]धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

मेरी माता कौशल्या एक तो वृद्धा हैं, दूसरे मेरे वन जाने के सन्ताप से पीड़ित हैं ; अतः उनका सम्मान करना तुम अपना धर्म समझना ॥ ३१ ॥

---

१ धर्ममेवाग्रतः कृत्वा—धर्मएव तत्फलं मुख्यं बुद्धौ कृत्वा तत्सम्मानः कार्य इतिभावः । (रा०)

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेह[1]प्रणय[2]सम्भोगैः[3] समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

शेष जो मेरी माताएँ हैं, उनको भी नित्य प्रणाम करना। क्योंकि मुझमें उनको प्रीति और उनका सौहार्द्र वैसा ही है, जैसा माता कौशल्या का और उन्होंने भी मेरा पालन पोषण वैसे ही किया है जैसे कि, माता कौशल्या ने। अतः वे माता कौशल्या से मेरी दृष्टि में, किसी प्रकार कम पूज्य नहीं हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

भाई भरत और शत्रुघ्न को, जो मुझे अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय हैं, अपने भाई और पुत्र की तरह देखना। अर्थात् भरत को जो बड़े हैं भाई की तरह और शत्रुघ्न को जो तुमसे छोटे हैं पुत्रवत् मानना ॥ ३३ ॥

विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा प्रभुश्चैव देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

भरत के साथ कभी बिगाड़ मत करना—क्योंकि वे देश के राजा और कुल के मालिक हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन[4] प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

---

१ स्नेहः—प्रीतिः । २ प्रणयः—सौहृदं । (गो०) ३ सम्भोगः—सेवा अन्नपानादि विशेष प्रदानम् । ४ शीलेन—अकुटिलवृत्त्या । (गो०)

देखो, शील से अर्थात् अकुटिल भाव से सेवा करने तथा प्रयत्न पूर्वक सेवन करने से राजा लोग प्रसन्न होते हैं और इसके प्रतिकूल करने से वे क्रुद्ध होते हैं ॥ ३५ ॥

औरसानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान्संप्रगृह्णन्ति परानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

राजा लोग अहित करने वाले अपने औरस पुत्रों को भी त्याग देते हैं, और हित करने वाले लोगों को, भले ही वे दूसरे ही लोग क्यों न हों—(अर्थात् अपने सम्बन्धी न भी हों तो भी) ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रत[1]परायणा ॥ ३७ ॥

हे कल्याणि ! तू राजा भरत की आज्ञा में रह कर तथा उनकी हितैषिणी बन कर एवं अमोघव्रत धारण कर यहीं रह ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीक[2] कुरुषे न कस्यचि-
त्तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

हे भामिनि ! मैं तो वन जाता हूँ । तुझको यहीं रहना चाहिये । मेरी तुझको यही शिक्षा है कि, ऐसा बर्ताव करना, जिससे तुझसे कोई बुरा न माने ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

सत्यव्रतं—१.मोघव्रतं । (गो०) २ व्यलीकं—अप्रियं । (गो०)

सप्तविंशः सर्गः

—:०:—

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव[1] संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रिय बोलने वाली और प्रीति की पात्र वैदेही से जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा (अयोध्या ही में रहने को कहा) ; तब जानकी जो प्रीतियुक्त (किन्तु ऊपर से) क्रोध प्रदर्शित कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥ २ ॥

हे राम ! आप यह कैसी हल्की बात कहते हैं । इसे सुन कर तो, हे राजकुमार ! मुझे हँसी आती है ॥ २ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥ ३ ॥

हे आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब अपने पुण्यों को भोगते हुए, अपने अपने भाग्य के भरोसे रहते हैं ॥ ३ ॥

भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ४ ॥

---

१ प्रणयादेव—सौहृदादेव नतुवैरात् । (गो०)

किन्तु स्त्री (अर्द्धाङ्गिनी होने के कारण) अपने पति के भाग्य का फल भोगती है। इस लिये मुझे भी महाराज की आज्ञा बन जाने की हो चुकी ॥ ४ ॥

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ५ ॥

स्त्री के मरने पर, परलोक में उसके पति को क्रोड़, पिता, पुत्र, भाईबन्धु, माता, सखी सहेलियों में से कोई भी उसके काम नहीं आता। स्त्री के लिये क्या इस लोक में और क्या परलोक में पति ही सब कुछ है ॥ ५ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्गन्ती कुशकण्टकान् ॥ ६ ॥

यदि तुम आज ही वन को जा रहे हो तो, मैं तुम्हारे आगे-आगे कुश और काँटों को हटा, रास्ता साफ करती पैदल ही चलूँगी ॥६॥

ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम् ।
नय मां वीर विस्रब्धः[1] पापं मयि न विद्यते ॥ ७ ॥

हे वीर ! ईर्ष्या और रोष को त्याग कर, निशङ्क हो मुझे अपने साथ ले चलो। क्योंकि मुझमें कोई ऐसा पाप नहीं है, जो मेरे यहाँ छोड़ने के लिये पर्याप्त कारण कहा जा सके ॥ ७ ॥

प्रासादाग्रैर्विमानैर्वा वैहायसगतेन[2] वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया[3] विशिष्यते ॥ ८ ॥

---

१ विस्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ वैहायसगतेन—अणिमाद्यष्टैश्वर्य सिद्धि सम्पन्नोचितविहायस्सम्बन्धि गमनाद्वा । (गो०) ३ पादच्छाया—पाद-सेवा । (गो०)

चक्रवर्ती राजाओं के महलों में वास करने से, अथवा स्वर्ग के विमानों में रहने से अथवा आठो प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति से जो सुख होता है, उससे कहीं अधिक सुख स्त्री को पति की सेवा करने में प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अनुशिष्टाऽस्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्[1] ।
नास्मि सम्प्रतिवक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ ९ ॥

स्त्री को अपने पति के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये—यह बात मुझे मेरे माता पिता ने अनेक प्रकार से समझा दी है। अतः इस विषय में मुझे अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं है ॥ ९ ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ॥ १० ॥

मैं निश्चय ही आपके साथ उस निर्जन वन में चलूँगी जो नाना भाँति के वनैले जीवों से पूर्ण, और शार्दूल एवं वृकादि (भेड़ियों) से सेवित है ॥ १० ॥

सुखं वने विवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रीँल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ ११ ॥

हे स्वामिन् ! मैं वन में बड़े सुख से वैसे ही रहूँगी, जैसे मैं अपने पिता के घर में सुख से रहती थी। वहाँ मुझे केवल पतिसेवा ही की चिन्ता रहैगी। मैं तीनों लोकों के सुख की कभी कल्पना भी अपने मन में उदय न होने दूँगी ॥ ११ ॥

---

१ विविधाश्रयम्—विविधप्रकारं । (गो०)

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी[1] ।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १२ ॥

हे वीर ! मैं नित्य नियमपूर्वक, काम-भोग-विवर्जिता हो, आपके साथ उन मधुर गन्धयुक्त वनों में विचरूँगी ॥ १२ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम् ।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १३ ॥

हे प्राणनाथ ! जब आप वन में असंख्य मनुष्यों का भरण पोषण करने का भार उठा सकते हैं, तब क्या आप मुझ अकेली की रक्षा न कर सकेंगे ? ॥ १३ ॥

सह त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! मैं भी आज अवश्य आपके साथ वन चलूँगी । आप मेरे इस उत्साह को भङ्ग नहीं कर सकते । अथवा अब आप निषेध न कीजिये ॥ १४ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया ॥ १५ ॥

मैं वन में उत्पन्न फल मूलों ही से नित्य अपना निर्वाह कर, आपके साथ वन में रहूँगी और आपको कष्ट न दूँगी ॥ १५ ॥

इच्छामि सरितः शैलान्पल्वलानि वनानि च ।
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ॥ १६ ॥

---

१ ब्रह्मचारिणी—कामभोगविवर्जिता । (गो०)

मैं आप जैसे बुद्धिमान प्राणनाथ से रक्षिता हो कर झीलें, पहाड़, तालाब और वन निशङ्क हो देखना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ।
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण सङ्गता ॥ १७ ॥

मैं चाहती हूँ कि, आप जैसे वीर के साथ, हंस और कारण्डव पक्षियों से सेवित और सुन्दर फूली हुई कमलिनियों से युक्त तड़ागों को सुखपूर्वक अर्थात् भली भांति देखूँ ॥ १७ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतव्रता ।
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ॥ १८ ॥

हे विशालाक्ष ! उनमें मैं नित्य आपके साथ स्नान करूँगी और परम आनन्द के साथ जलक्रीड़ा भी करूँगी ॥ १८ ॥

एवं वर्षसहस्राणां शतं वाऽहं त्वया सह ।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि न हि मे मतः ॥१९॥

इस प्रकार आपके साथ चाहें हज़ार वर्ष भी क्यों न व्यतीत हो जांय, मुझे न जान पड़ेंगे । आपके साथ रहने के सुख के सामने स्वर्गसुख भी मुझे पसन्द नहीं ॥ १९ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥ २० ॥

हे राघव ! यदि आपके बिना मुझे स्वर्ग में रहना पड़े, तो मुझे वह भी पसन्द नहीं है ॥ २० ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैर्युतम् ।

वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य संयता ॥ २१ ॥

मैं तो आपके साथ उस दुर्गम वन में. चलूँगी, जो हिरनों से युक्त और बंदरों तथा हाथियों से सेवित है। आपकी चरणसेवा करती हुई, मैं वहाँ उसी प्रकार सुखपूर्वक रहूँगी, जिस प्रकार मैं अपने पिता के घर सुख से रहती थी ॥ २१ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
न ते मयाऽतो गुरुता भविष्यति ॥ २२ ॥

मैं तो आपको छोड़ अन्य किसी को नहीं जानती। मेरा मन आप ही में अनुरक्त है। अतः यदि आपसे विछोह हुआ, तो मैं अपने प्राण त्यागने को तैयार हूँ। हे नाथ! मेरी प्रार्थना स्वीकार कर, मुझे अपने साथ लेते चलिये। मेरा कुछ भी भार आपको उठाना न पड़ेगा ॥ २२ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलो[1]
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति[2] ।
उवाच चैनां बहु सन्निवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २३ ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

---

१ धर्मवत्सलः—कान्ताक्लेशासहिष्णुः । (गो०) २ निनीषति—नेतुमिच्छति । (गो०)

सीता जी के इस प्रकार अनुनय विनय पूर्वक प्रार्थना करने पर भी, सीता जी को कष्टित देखने में असमर्थ श्रीरामचन्द्र जी, जानकी जी को अपने साथ वन में ले जाने को राज़ी न हुए। प्रत्युत वनवास के अनेक कष्टों का वर्णन कर, जिससे जानकी जी वन जाने का विचार छोड़ दे, बोले ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

अष्टाविंशः सर्गः

—:०:—

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञो धर्मवत्सलः।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मज्ञ और धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी वन के कष्टों को स्मरण कर, सीता जी के बहुत कहने पर भी, उनको अपने साथ वन ले जाने को राज़ी न हुए ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु *वाष्पपर्याकुलेक्षणाम्।
निवर्तनार्थं धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

रोती हुई जानकी जी को उन्होंने फिर समझाया और धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वन न जाने के लिये सीता जी से यह कहा ॥२॥

सीते महाकुलीनाऽसि धर्मे च निरता सदा।
इहाचर स्वधर्मं त्वं मा यथा मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

---

* पाठान्तरे—"बाष्पदूषितलोचनाम्।"

हे सीते ! तू बड़ी कुलीन घर की लड़की है और सदा धर्म-पालन में निरत रहती है। अतः यहीं रह कर धर्माचरण कर. जिससे मेरा मन सुखी हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाऽबले ।
वने दोषा हि बहवो वदतस्तान्निबोध मे ॥ ४ ॥

हे अबले सीते ! मैं जो कहता हूँ तू वही कर। वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं। मैं बतलाता हूँ तू उन्हें सुन ॥ ४ ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः ।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

हे सीते ! तू अपने वन जाने के विचार को त्याग दे। क्योंकि वनवास में बड़े कष्ट हैं। वन को कान्तार इसी लिये कहते हैं कि, वह जाने के योग्य नहीं है ॥ ५ ॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते ।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

मैं तेरी भलाई के लिये कहता हूँ। वन में कभी कुछ भी सुख नहीं है। प्रत्युत वहाँ सदा कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम् ।
सिंहानां निनदा दुःखाः[1] श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

क्योंकि पर्वतों से निकली हुई नदियों को पार करना महाकष्ट-दायी है, फिर पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की दहाड़ सुनने से बड़ा कष्ट होता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ७ ॥

---

१ दुःखाः—दुःसकराः। (गो०)

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये महामृगाः ।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

हे सीते ! निर्जन वन में निःशङ्क हो क्रीड़ा करने वाले अनेक वनजन्तु, मनुष्य को देखते ही मार डालने के लिये आक्रमण करते हैं, अतः वनवास कष्टदायी है ॥ ८ ॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः ।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

फिर नदियों में मगर घड़ियाल रहते हैं और उनमें दलदल रहने से उनको पार करना भी बड़ा कठिन है । इन दलदलों में यदि फँस जाय, तो हाथी का भी निकलना असम्भव है । फिर वन में बड़े बड़े मत्त गज भी घूमा करते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसङ्कीर्णाः कुकवाकूपनादिताः ।
निरपाश्च सुदुर्गाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

प्रायः वनों के मार्ग पैर में लिपट जाने वाली बेलों और पैर में चुभ जाने वाले काटों से ढके रहते हैं और वहाँ वनकुक्कुट (वन-मुर्ग़) बोला करते हैं । रास्तों में दूर तक पीने को जल भी नहीं मिलता । वन के रास्ते बड़े भयङ्कर होते हैं । अतः वन में बड़े क्लेश होते हैं ॥ १० ॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयं भग्नासु भूतले ।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ ११ ॥

दिन भर के थके मांदे वनवासी को रात के समय, सोने के लिये कोमल गद्दे तकिये नहीं, किन्तु अपने आप सूख कर गिरी हुई

पत्तियां बिछा कर, उन पर सोना पड़ता है। उसे वहां पलंग नहीं मिलता, प्रत्युत ज़मीन ही पर लेटना पड़ता है। अतएव वनवास बड़ा कष्टप्रद है ॥ ११ ॥

अहोरात्रं[1] च सन्तोषः कर्तव्यो नियतात्मना[2]।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥

हे सीते ! भोजन की अन्य वस्तुओं पर मन न चला, सायं प्रातः वृक्षों से गिरे हुए फल खा कर ही सन्तोष करना पड़ता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥ १२ ॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन[3] मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारिणा ॥ १३ ॥

हे मैथिलि ! वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वृक्ष की छाल, वस्त्रों की जगह पहननी पड़ती है ॥ १३ ॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥

वहां देवताओं और पितरों तथा समय पर आये हुए अतिथियों का विधिपूर्वक नित्य पूजन करना पड़ता है ॥ १४ ॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरता नियमेनैव तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥

नियम पूर्वक रहने वालों को नित्य (किसी ऋतु विशेष में नहीं) समय समय पर तीन बार स्नान करने पड़ते हैं। अतः वन में बड़ा क्लेश है ॥ १५ ॥

---

१ अहोरात्रं—सायंप्रातश्च। (गो०) २ नियतात्मना—नियतमनस्केन। इतरानभिलाषिणेत्यर्थः। (गो०) ३ यथाप्राणेन—यथाशक्त्या। (गो०)

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।
आर्षेण विधिना वेद्यां वाले दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

हे वाले ! वन में अपने हाथ से फूल तोड़ कर, ऋषियों की बतलाई हुई विधि से, वेदी की पूजा करनी पड़ती है, इस लिये वन में क्लेश ही क्लेश हैं ॥ १६ ॥

यथालब्धेन सन्तोषः कर्तव्यस्तेन मैथिलि ।
यताहारैर्वनचरैर्नित्यं दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

वनवासी को जो कुछ और जितना भोजन के लिये मिले उसे उतने ही नित्य नियत आहार से उसको सन्तोष करना पड़ता है । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १७ ॥

अतीव वातास्तिमिरं बुभुक्षा चात्र नित्यशः ।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

वनों में बड़ी आंधी चला करती हैं, अँधेरा भी छा जाता है, नित्य ही भूख भी बहुत अधिक लगती है और वहां और भी अनेक भय के कारण उपस्थित रहते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च[1] बहवो बहुरूपाश्च[2] भामिनि ।
चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

हे भामिनि ! वन में बड़े मोटे मोटे पहाड़ी सांप या अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १९ ॥

---

१ सरीसृपाः—गिरिसर्पाः । (गो०) २ बहुरूपाः—पृथुशरीराः । (गो०)

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानं ततो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

वहाँ नदियों में रहने वाले साँप जो नदी ही की तरह टेढ़ी मेढ़ी चाल से चला करते हैं, मार्ग रोक कर, सामने खड़े हो जाते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले तस्माद्दुःखतरं वनम् ॥ २१ ॥

हे अबले ! वहाँ पतंगे, बिच्छू, कीड़े, बनैली मक्खियाँ, मच्छड़ आदि नित्य ही सताया करते हैं। अतएव वनवास बड़ा क्लेशकारक है ॥ २१ ॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशकाशाश्च[1] भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखतरं वनम् ॥ २२ ॥

हे भामिनि ! काँटे और कुशकाश की तरह पत्तों और बनैले वृक्षों से सारा वन भरा हुआ है। अतः वनवास बड़ा कष्टकारक है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुखमेव ततो वनम् ॥ २३ ॥

फिर वन में रहने से शारीरिक अनेक क्लेश होते हैं और नाना प्रकार के भय उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये नित्यं दुःखमतो वनम् ॥२४॥

---

१. कुशकाशयोः शाखाः—कुशकाशपर्णान्येव । (गो०)

हे सीते ! वन में, क्रोध और लोभ को त्याग कर तप में मन लगाना पड़ता है। डरने योग्य वस्तुओं से भी डरना नहीं होता— अतः वनवास दुःखप्रद है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षमं न हि वनं तव ।
विमृशन्निह पश्यामि बहुदोषतरं वनम् ॥ २५ ॥

अतः तू वन जाने की इच्छा मत कर, क्योंकि तेरे बसने योग्य वन नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ, तब मुझे वनवास में कष्ट ही कष्ट दिखलायी पड़ते हैं ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिस्तदा
बभूव रामेण यदा महात्मना ।
न तस्य सीता वचनं चकार त-
त्ततोऽब्रवीद्रामामिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार जब सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने वन में ले जाना न चाहा, तब सीता जी उनकी इस बात को न मान कर और अत्यन्त दुःखी हो, यह बोलीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—:०:—

एतत्तु वचनं श्रुत्व सीता रामस्य दुःखिता ।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार के वचन सुन सीता जी दुःखी हुईं और रो कर, धीरे धीरे कहने लगीं ॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान्वीक्षे* तव स्नेहपुरस्कृतान् ॥ २ ॥

हे राम ! वनवास के जो दोष तुमने बतलाये, वे सब तुम्हारे स्नेह के सामने मुझे गुण दिखलायी पड़ते हैं ॥ २ ॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा[1] ।
पक्षिणः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥

मृग, सिंह, गज, शार्दूल, शरभ (आठ पैर का एक वनजन्तु विशेष) पक्षी और नील गायें तथा अन्य वन में रहने वाले जीव जन्तु ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वरूपत्वात्सर्वे ते तव राघवः ।
रूपं दृष्ट्वाऽपसर्पेयुर्भये सर्वे हि विभ्यति ॥ ४ ॥

स्वयं ही, हे राघव ! आपके इस अपूर्व रूप को देख और भय-भीत हो, भाग जांयगे । क्योंकि आपसे तो सब ही डरते हैं ॥ ४ ॥

---

१ शरभाः—अष्टपादमृगाः । (गो०) सृमराः गवयाः । (गो०)

* पाठान्तरे "तान्विद्धि" ; "तान्मन्ये" ।

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

मुझको बड़े लोगों का यह आदेश है कि, मुझे सदा आपके साथ अवश्य चलना चाहिये । नहीं तो मुझे आपके वियोग में प्राण-त्याग देना पड़ेगा ॥ ५ ॥

न च मां त्वत्समीपस्थामपि शक्नोति राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

जब कि मैं आपके साथ रहूँगी, तब देवताओं के स्वामी इन्द्र भी अपने पराक्रम से मेरा कुछ नहीं कर सकते ॥६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम विदर्शितम् ॥ ७ ॥

हे राम ! तुम्हींने तो मुझे यह बात बतलायी है कि, पतिव्रता स्त्री, पति बिना नहीं जी सकती ॥ ७ ॥

अथ वापि महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

हे महाप्राज्ञ ! पिता के घर रहते समय ज्योतिषी ब्राह्मणों से मैंने यह बात सुनी थी कि, मुझे वन में निश्चय ही रहना पड़ेगा ॥ ८ ॥

लक्षणिभ्यो[1] द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं पुरा ।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥

---

१ लक्षणिभ्यः—सामुद्रिकलक्षणज्ञेभ्यः ।

हे महाबलवान् ! सामुद्रिक जानने वाले ब्राह्मणों को कहते, मैं पहले ही यह सुन चुकी हूँ। अतः वन जाने का मेरा उत्साह तभी से है ॥ ९ ॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।
सा त्वया सह तत्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥

सो वनवास की आज्ञा मुझे अवश्य लेनी ही चाहिये। अतः हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी । इसके विपरीत नहीं हो सकता ॥ १० ॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि सह त्वया ।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाग्भवतु द्विजः ॥ ११ ॥

आपके साथ वन जाने ही से मैं गुरुजनों की आज्ञापालन करने वाली हो सकूँगी। ब्राह्मणों की भविष्यद्वाणी के सत्य होने का यह समय भी उपस्थित हो गया है ॥ ११ ॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः[1] ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह मुझे मालूम है कि, वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं ; किन्तु ये दुःख होते उन्हींको हैं जो अजितेन्द्रिय हैं। (न कि आप सरीखे पुरुषों के साथ) ॥ १२ ॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया ।
भिक्षिण्याः[2] *साधुवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥

---

१ अकृतात्मिभिः—अशिक्षितमनस्कैः । (गो०) २ भिक्षिण्याः—तापस्याः । (गो०) * पाठान्तरे—" शमवृत्तायाः " ।

जब मैं पिता के घर थी, तब मैंने एक साधुवृत्ति तपस्विनी के मुख से, माता के सामने, अपने इस वनवास की बात सुनी थी ॥ १३ ॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं वै बहुविधं प्रभो ।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! कई बार वनक्रीड़ा के लिये मैं आपसे प्रार्थना भी कर चुकी हूँ, सो अब वह अवसर आया है, अतः मेरी प्रार्थना मान, मुझे अपने साथ वन ले चलिये ॥ १४ ॥

कृतक्षणाऽहं[1] भद्रं ते गमनं प्रति राघव ।
वनवासस्य शूरस्य[2] चर्या हि मम रोचते ॥ १५ ॥

हे राघव ! आपका मङ्गल हो । सो (अब) आपके साथ वन जाने का अवसर प्राप्त हुआ है और वनवास में आपकी सेवा भी करना मुझे बहुत रुचता है ॥ १५ ॥

शुद्धात्मन्[3]प्रेमभावाद्धि[4] भविष्यामि विकल्मषा ।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि[5] मम दैवतम् ॥ १६ ॥

हे ईर्ष्यादि रहित स्वामिन् ! अपने प्रीतियुक्त स्वभाव से आपके पीछे गमन करती हुई, मैं पाप रहित हो जाऊँगी । क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है कि, मेरे लिये आप ही मेरे देवता हैं ॥ १६ ॥

प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः[6] सङ्गमो मे सह त्वया ।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां तपस्विनाम्* ॥ १७ ॥

---

१ कृतक्षणा—प्राप्तावसरा । (रा०) २ शूरस्य—तव । ३ शुद्धात्मन्—ईर्ष्यादिरहित (गो०) ४ प्रेमभावात्—प्रेमस्वभावात् । (गो०) ५ हिः—प्रसिद्धौ । (गो०) ६ कल्याणः—शोभनः । (गो०) * पाठान्तरे—"यशस्विनाम्" ।

(इस लोक का तो कहना ही क्या है) परलोक में भी मैं आपके साथ रह कर, शोभा को प्राप्त होऊँगी। यह बात मैंने यशस्वी पवित्र ब्राह्मणों के मुख से सुनी है ॥ १७ ॥

इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण[1] प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥

इस लोक में विवाहों की विधि के अनुसार पिता जिस स्त्री को जिस पुरुष को दे देता है, परलोक में भी वही स्त्री उस पुरुष की होती है ॥ १८ ॥

एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम् ।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥

अतः अपनी सदाचारिणी पतिव्रता स्त्री मुझको अपने साथ ले चलना आपको क्यों नहीं रुचता? इसका कारण क्या है? ॥ १९ ॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः ।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

हे काकुत्स्थ! आपमें पूर्ण भक्ति रखने वाली, दीन, सुख दुःख में समान रहने वाली और आपके सुख में सुखी तथा आपके दुःख से दुःखी मुझको आप अपने साथ ले चलिये ॥ २० ॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि ।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥

---

१ स्वधर्मेण—स्वस्ववर्णोक्तब्राह्मादिविवाहविधिना । (गो०)

यदि आप मुझ दुःखिनी को अपने साथ वन न ले चलोगे, तो मैं विष खा कर या अग्नि में जल कर अथवा पानी में डूब कर, प्राण दे दूँगी ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिये सीता जी बहुत प्रार्थना करती थीं, परन्तु श्रीरामचन्द्र उनको अपने साथ विजन वन में ले जाने को राज़ी नहीं होते थे ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्ती गामु[1]णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

तब सीता जी श्रीरामचन्द्र जी को असम्मत देख, अत्यन्त चिन्तित हुईं और उनके नेत्रों से निकली हुई गरम गरम अश्रुधारा पृथिवी को तर करने लगी—अर्थात् उनके आसुओं से वहाँ की ज़मीन तर हो गयी ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तथा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां च ताम्रोष्ठीं काकुत्स्थो बहुसान्त्वयत् ॥२४॥

इति एकोनत्रिंसः सर्गः ॥

सीता जी को चिन्तित और मारे क्रोध के लाल लाल ओंठ किये देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी को बहुत समझाया, जिससे वे उनके साथ वन न जायँ ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

---

१ गां—भुवं । (गो०) *. पाठान्तरे—"कुचाद्रुण्यैः" ।

त्रिंशः सर्गः

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वानवासनिमित्ताय भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

साथ वन न चलने के लिये सीता को श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत तरह से समझाया, किन्तु सीता जी ने उनके साथ वन जाने के लिये फिर अपने पति से यह कहा ॥ १ ॥

सा तमुत्तमसंविग्ना[1] सीता विपुलवक्षसम्[2] ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप[3] राघवम् ॥ २ ॥

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी से डर के मारे कांपती हुई जानकी जी ने, प्रेम और अभिमान के साथ, उपहास पूर्ण वचन कहे ॥ २ ॥

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

हे राम ! यदि मेरे पिता मिथलेश यह जानते कि, आप आकार मात्र के पुरुष हैं और व्यवहार में स्त्री हैं, तो वे कभी मेरा विवाह आपके साथ कर आपको कभी अपना दामाद न बनाते । (अर्थात् आप पुरुष हो कर वन में मेरी रक्षा न कर सकेंगे—यह कहना आप जैसे वीरवर पुरुष को शोभा नहीं देता) ॥ ३ ॥

अनृतं वत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्धि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

---

१ उत्तमसविग्ना—अत्यन्तं कम्पमाना । (गो०) २ विपुलवक्षसम्—शूरमिति यावत् । (गो०) ३ परिचिक्षेप—सोपहासवचन्मुक्तवती । (रा०)

खेद की बात है। लोग अज्ञान वश कहने लगे कि, राम सूर्य के समान तेजस्वी देख पड़ते हैं, किन्तु इनमें वास्तव में तेज है नहीं ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

हे राम ! आप किस लिये इतने उदास हो रहे हैं अथवा आप किस बात के लिये इतने डर रहे हैं कि, जो मुझ जैसी अपनी अनन्य भक्ता को यहाँ छोड़ कर, वन जाना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीर सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

वीरवर राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान में सावित्री के तुल्य मुझे भी अपने वश में जानो। अर्थात् द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान के पीछे पीछे सावित्री जैसे वन को गयी थी, वैसे ही मैं भी आपके पीछे पीछे चलूँगी ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसाऽप्यन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

हे अनघ ! मैंने आपको छोड़, परपुरुष को देखने की कभी मन में भी कल्पना नहीं की । जैसी की कुलकलङ्किनी स्त्रियाँ परपुरुषरत होती हैं, वैसी मैं नहीं हूँ। अतः मैं आपके साथ चलूँगी ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष[1] इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

---

१ शैलूष—जायाजीव । (गो०)

हे राम ! बहुत दिनों से आपके पास रहने वाली, कौमारावस्था ही में आपके साथ विवाहित, मुझ सती—पतिव्रता को, नट की तरह आप अपने से भिन्नपुरुष (अर्थात् भरत) के पास छोड़ना क्यों चाहते है ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदाऽनघ ॥ ९ ॥

हे अनघ ! आप जिसका हित चाहते हैं और जिसके कारण आपके राज्याभिषेक में बाधा पड़ी (अर्थात् कैकेयी और भरत) उसके वश में और उसके आज्ञाकारी आप ही बनें । मैं उसके वश में होना अथवा उसकी आज्ञानुवर्तिनी बन कर रहना नहीं चाहती ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थातुमर्हसि ।
तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह ॥१०॥

अतः आप मुझे अपने साथ ही वन में ले चलिये । चाहे आप तप करें, चाहे आप वनवास करें और चाहें स्वर्गवास करें—मुझे तो आपके साथ ही रहना उचित है ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः ।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव[1] ॥ ११ ॥

मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम न होगा । प्रत्युत आपके पीछे पीछे चलने में मुझे ऐसा सुख जान पड़ेगा जैसा कि बाग़ों में घूमने फिरने से अथवा आपके साथ शयन करने से प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

---

१ विहारशयनेष्विव—विहारः परिक्रमः, उद्यानसंञ्चार इति । "विहारस्तु रिक्रमः" इत्यमरः । (गो०)

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

हे राम ! कुशकाश, सरपत, मूँज तथा अन्य और भी जो कटीले वृक्ष हैं, वे आपके साथ रास्ता चलने पर मुझे रुई और मृगचर्म की तरह कोमल जान पड़ेंगे ॥ १२ ॥

महावातसमुद्धूतं यन्मामपकरिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

हे राम ! आँधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आ कर पड़ेगी, उसे मैं आपके साथ रह कर, उत्तम चन्दन के समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यथा शिश्ये वनान्ते वनगोचर ।
कुथास्तरणतल्पेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

मैं जब आपके साथ हरी हरी घास के बिछौने पर सोऊँगी, तब मुझे पलंग पर बिछे हुए, मुलायम गलीचे पर सोने जैसा सुख प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

पत्रं मूलं फलं यत्त्वमल्पं वा यदि वा बहु ।
दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

जो कुछ थोड़े अथवा बहुत शाक या फल आप स्वयं ला दिया करेंगे, वे ही मुझे अमृत जैसे स्वादिष्ट जान पड़ेंगे ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।
[1]आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥१६॥

---

१ आर्तवानि—तत्तदृतुसमुत्पन्नानि । (गो०)

वन में ऋतुफलों का और ऋतुपुष्पों का उपभोग करती हुई मैं न तो मा को, न बाप को, और न घर ही की याद करूँगी ॥१६॥

न च तत्र गतः किञ्चिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् ।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यति दुर्भरा ॥ १७ ॥

मेरे कारण वन में आपको न तो कुछ भी क्लेश होगा और न आपको शोच ही बाधा देगा और न मुझे खिलाने पिलाने की चिन्ता ही आपको करनी पड़ेगी ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।
इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥ १८ ॥

बहुत कहां तक कहूँ । आपके साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग के समान सुख है और आपके विना सब जगह नरक के समान दुःख है । बस आप यही विचार कर और प्रसन्नता पूर्वक मुझे अपने साथ वन में ले चलिये ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां[1] वनं नैव नयिष्यसि ।
विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ॥ १९ ॥

यदि आप मुझे, जिसे वन सम्बन्धी किसी भी बात का भय नहीं है, अपने साथ ले चलने को राजी न हुए, तो मैं आप ही के सामने विष पी कर प्राण त्याग दूँगी—किन्तु वैरियों की ही कर, मैं न रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् ।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

---

१ अव्यग्रां—वनगमनविषयभीतिरहिताम् । (गो०)

हे नाथ ! आपके जाने के बाद भी तो दुःख से मुझे मरना ही है। आप द्वारा परित्यक्ता, मुझ जैसी के लिये मरना ही अच्छा है ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

मैं आपके वियोग के शोक को मुहूर्त्त भर भी नहीं सह सकती, तब चौदह वर्ष के वियोगजन्य दुःख को, मैं क्यों कर सह सकूँगी ॥ २१ ॥

इति सा शोकसन्तप्ता विलप्य करुणं बहु ।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥२२॥

सीता जी शोक से सन्तप्त हो, बारंबार करुणपूर्ण विलाप कर और श्रीरामचन्द्र जी को आलिङ्गन कर, उच्च स्वर से रुदन करने लगीं ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव[1] गजाङ्गना ।
चिरसन्नियतं वाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥ २३ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से, विष में बुझे बाण से हथिनी की तरह विद्ध जानकी जी के बहुत काल से रुके हुए आंसू वैसे ही प्रकट हुए, जैसे अरणी से आग प्रकट होती है ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसङ्काशं वारि सन्तापसम्भवम् ।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

---

१ दिग्धैः—विषलिप्तैर्बाणैः । (गो०)

जानकी जी के नेत्रों से स्फटिक पत्थर जैसे सफेद आँसुओं की बूँदें वैसे ही गिरीं जैसे कमलों से पानी की बूँदें टपकती हैं ॥ २४ ॥

तच्चैवामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् ।
पर्यशुष्यत वाष्पेण जलोद्धूतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

उस समय प्रबल शोक की आग से पूर्णिमा के चन्द्र के समान चमचमाता हुआ सीता जी का मुखमण्डल, जल से निकाले हुए कमल की तरह, मुरझा गया ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्च्छितप्राय और शोकविकल जानकी जी को, अपनी दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर, उनको विश्वास दिलाते हुए कहा, ॥ २६ ॥

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयंभोरिव सर्वतः ॥ २७ ॥

हे देवि ! तुझे कष्ट दे कर मुझे स्वर्ग की भी चाहना नहीं है। (तू जो यह कहती है कि, डर के मारे मैं तुझे वन नहीं ले जाना चाहता—सो ठीक नहीं, क्योंकि) मुझे कुछ भी भय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मा जी किसी से नहीं डरते, वैसे ही मैं भी सब से निर्भय हूँ ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

(तेरा यह कहना भी ठीक नहीं कि, तुम हज़ारों का पालन और रक्षा कर सकते हो, तब क्या वन में मुझ अकेली की रक्षा और पालन न कर सकोगे—क्योंकि) मैं सब भांति तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ, किन्तु मुझे तुम्हारे मन का अभिप्राय मालूम नहीं था, इसी लिये मुझे तुम्हारा वन में रहना पसन्द नहीं था ॥ २८ ॥

यत्सृष्टाऽसि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या कीर्त्तिरात्मवता[1] यथा ॥२९॥

यदि तुम मेरे साथ वनवास के ही लिये बनायी गयी हो—अथवा तुम्हारे भाग्य में यदि मेरे साथ वनवास ही लिखा है, तो मैं तुम्हें छोड़ कर, वैसे ही नहीं जा सकता, जैसे शीलवान् अपनी कीर्ति नहीं छोड़ सकता ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तेऽद्य यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

हे गजनासोरु ! पहले के सज्जन लोग जैसा धर्माचरण कर चुके हैं, उसीका अनुसरण मैं भी करूँगा और तू भी कर। जैसे सुवर्चला देवी सूर्य भगवान का अनुसरण करती हैं, वैसे ही तू भी मेरा अनुसरण कर ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

हे जनकनन्दिनी ! मैं अपनी इच्छा से वन नहीं जा रहा। किन्तु सत्य के पाश में बँधे हुए पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये मैं वन जा रहा हूँ ॥ ३१ ॥

---

१ आत्मवता—शीलवता । (गो०)

एष धर्मस्तु सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

हे सुश्रोणि ! पिता और माता का कहना मानना ही पुत्र के लिये धर्म है । पिता माता की आज्ञा को उल्लङ्घन कर, मैं जीना भी नहीं चाहता ॥ ३२ ॥

स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ॥ ३३ ॥

जो दैव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रगट नहीं है, उसके ऊपर भरोसा कोई कैसे कर सकता है ; किन्तु माता, पिता और गुरु तो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, अतः इनकी आज्ञा का उल्लङ्घन न करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यत्रयं तत्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

जिनकी (अर्थात् माता, पिता और गुरुजनों की) आराधना करने से अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों की प्राप्ति होती है और जिनकी आराधना करने से तीनों लोकों की आराधना हो जाती है, उनकी आराधना से बढ़ कर, पवित्र कार्य इस पृथिवी तल पर दूसरा कोई नहीं है, इसी लिये मैं इनकी आराधना करता हूँ ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता[1] ॥ ३५ ॥

---

१ हिता—हितकारी । (गो०) * पाठान्तरे—"अतश्च तं ।"

हे सीते ! सत्य, दान, मान और दक्षिणा सहित यज्ञ, परलोक-प्राप्ति के लिये उतने हितकर नहीं, जितनी कि पिता आदि गुरु जनों की सेवा है। अर्थात् पितादि गुरुजनों की सेवा करने से परलोक में जो फल प्राप्त होता है, वह फल सत्य बोलने, दान मानादि करने से अथवा दक्षिणा सहित यज्ञ करने से प्राप्त नहीं होता ॥३५॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

जो लोग पिता मातादि गुरुजनों की सेवा किया करते हैं, उनके लिये, केवल स्वर्गादि लोक, धन धान्य, विद्या, सन्तानादि के सुख ही नहीं, किन्तु उनको कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

जो महात्मा लोग माता पिता की सेवा किया करते हैं, उनको देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों की भी प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

स मां* पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

अतः सत्यमार्ग में स्थित मेरे पिता मुझे जो आज्ञा दें, मुझे तदनुसार ही करना चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्ना[1] मतिः सीते त्वां नेतुं दण्डकावनम् ।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥३९॥

---

१ सन्ना—तद्भावापरिज्ञानात्क्षीणा । (गो०) * पाठान्तरे "मा । "

हे सीते प्रथम तो, तुम्हारे मन का अभिप्राय न जानने के कारण मेरी इच्छा तुम्हें अपने साथ वन में ले चलने की न थी, किन्तु अब मैंने तुम्हारी दृढ़ता देख—तुम्हें अपने साथ दण्डकवन में ले चलने का भली भाँति निश्चय कर लिया है ॥ ३९ ॥

सा हि सृष्टाऽनवद्याङ्गी वनाय मदिरे क्षणे
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

क्योंकि जब तू वन जाने ही के लिये बनायी गयी, है तब हे मदिरेक्षणे ! (लाल लाल नेत्रों वाली !) तू मेरे साथ वन को चल और मेरे धर्मानुष्ठान में तू भी योग दे ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च ।
व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

हे सीते ! तूने जो मेरे साथ वन में चलना विचारा है, सो यह बहुत ही अच्छी बात है और तेरा मेरे साथ चलना मेरे और मेरे कुल के सर्वथा अनुरूप कार्य है ॥ ४१ ॥

आरभस्व गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः ।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

हे गुरुश्रोणि ! अब वनवास की तैयारी कर । इस समय तेरे बिना मुझे स्वर्ग भी नहीं रुचता ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम् ।
देहि चाशंसमानेभ्यः सन्त्वरस्व च मा चिरम् ॥४३॥

अतः ब्राह्मणों को सब रत्न दान कर और भिक्षुकों को भोजन दे कर, चलने की जल्दी तैयारी कर । देर न होने पावे ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च ।
रमणीयाश्च ये केचित्क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥

अपने बहुमूल्य भूषण, और अनेक प्रकार के श्रेष्ठ वस्त्र तथा अन्य जो कुछ तेरे और मेरे विनोद का सामान है, वह सब ॥ ४४ ॥

शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च ।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

और मेरे और अपने ओढ़ने बिछौने, सवारी आदि ब्राह्मणों को दे कर, जो बचें—उन्हें नौकरों चाकरों को दे दो ॥ ४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः ।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेवोपचक्रमे ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को अपने अनुकूल देख और उनके साथ अपना वनगमन निश्चय जान, सीता जी प्रसन्न हुईं और (पति की आज्ञा के अनुसार) सब वस्तुएँ देने लगीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा[1]
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम् ।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ प्रतिपूर्णमानसा—निश्चिन्तेत्यर्थः । (गो०)

यशस्विनी सीता, पति को अपने अनुकूल बोलते देख, प्रसन्न और निश्चिन्त हो गयी । मनस्विनी जानकी जी धर्मात्मा ब्राह्मणों को धन, रत्नादि अपनी सब वस्तुएँ दान करने लगीं ॥४७॥

अयोध्याकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकत्रिंशः सर्गः

—: ※ :—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः ।
वाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और सीता जी की इस प्रकार आपस में बात-चीत आरम्भ होने के पूर्व ही लक्ष्मण वहाँ पहुँच गये थे । इस बात-चीत को सुन, मारे दुःख के लक्ष्मण जी की आँखों से अश्रु की धाराएँ बहने लगीं । वे इस समय शोक के वेग को रोकने में असमर्थ थे ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

लक्ष्मण जी ने भाई के चरणों में प्रणाम कर, महायशस्विनी जानकी जी और महाव्रतधारी श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम् ।
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

यदि मृग और गजों से भरे हुए वन में जाने का आप निश्चय कर चुके हैं, तो मैं आपके आगे धनुष बाण ले कर चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि बहूनि विचरिष्यसि ।
पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

मेरे साथ आप इन रमणीय वनों में, जिनमें पक्षी और हिरनों के झुण्ड चारों ओर नाना प्रकार के शब्द करेंगे, घूमना ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आपको छोड़, न तो मुझे देवलोक की, न अमरत्व की, और न अन्य लोकों के ऐश्वर्य की चाहना है ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर और उनको वन में जाने को उद्यत देख, बहुत प्रकार से समझाया, और वन में चलने को वर्जा । तब लक्ष्मण जी फिर बोले ॥ ६ ॥

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

भाई ! पहिले आपने मुझे जो आज्ञा दी थी, उसका निषेध अब आप क्यों करते हैं । अर्थात् आप पहले मुझसे कह चुके हैं कि, वन में चलना, अब आप अपने साथ मुझे ले चलने के लिये मना क्यों करते हैं ? ॥ ७ ॥

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

जिस कारण से आप मुझे वन जाने से रोकते हैं, हे अनघ ! वह मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इस निषेध को सुन, मुझे बड़ा सन्देह हो गया है ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामे लक्ष्मणमग्रतः ।
स्थितं प्राग्गामिनं वीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥९॥

हाथ जोड़ कर, वन जाने के लिये याचना करते हुए और पहिले यात्रा करने के लिये सामने तैयार खड़े हुए लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ९ ॥

स्निग्धो[1] धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो[2] भ्राता चापिसखा च मे ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, शूर, सदैव सन्मार्ग पर चलने वाले, प्राण के समान प्रिय, मेरे दास, छोटे भाई और मित्र भी हो ॥ १० ॥

मयाऽद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥११॥

(अतः तुम्हारे मेरे साथ चलने से मुझे सब प्रकार का सुपास होगा ; किन्तु) यदि आज तुम मेरे साथ वन चल दिये, तो यशस्विनी माता कौशल्या और सुमित्रा का पालन कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

---

१ स्निग्धः—मद्विषयकस्नेहवान् । (शि०) २ इतरेषांमवश्यः ममतु विधेया किङ्करः । (स०)

देखो जो महातेजस्वी महाराज, सब के मनोरथों को उसी प्रकार पूर्ण करते थे, जिस प्रकार मेघ पृथिवी के सब मनोरथों को पूर्ण करते हैं, वे तो कामवश हो रहे हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥१३॥

अश्वपति की बेटी कैकेयी जब राजमाता होगी, तब वह अपनी दुःखिनी सौतों के प्रति अच्छा बर्ताव न करेगी ॥ १३ ॥

न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

वह न तो कौशल्या का और न सुमित्रा ही का ध्यान रखेगी। भरत जी (भी) राज्य पा कर, कैकेयी ही के आज्ञानुसार काम करेंगे ॥ १४ ॥

तमार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थमिमं चर ॥ १५ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! तुम यहीं रह कर, स्वयं अथवा राजा के अनुग्रह को प्राप्त कर, अथवा जैसे हो वैसे, कौशल्यादि का भरण पोषण करो। यह मेरा कथन तुमको पूरा करना उचित है ॥ १५ ॥

एवं मम च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञ गुरुपूजायां[1] धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

हे धर्मज्ञ ! इस प्रकार कार्य करने से, मेरे में तुम्हारी परम भक्ति प्रदर्शित होगी और साथ ही माताओं की सेवा से तुमको बड़ा भारी पुण्य भी होगा ॥ १६ ॥

---

१. गुरुपूजां—मातृशुश्रूषणं । (गो०)

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत्सुखम् ॥ १७ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरा कहना मान कर, तुम ऐसा ही करो । क्योंकि हम दोनों के यहाँ न रहने पर हमारी माताओं को सुख न होगा ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥१८॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने जब कहा, तब लक्ष्मण जी ने वाक्य-विशारद श्रीरामचन्द्र जी को मधुर वचनों से उत्तर दिया ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नात्र संशयः ॥१९॥

हे वीर ! आपके प्रताप से भरत जी कौशल्या और सुमित्रा का प्रतिपालन करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

[यदि दुष्टो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥

हे वीर ! और यदि दुष्ट भरत इस उत्तम राज्य को पा कर, दुष्टता से और विशेष कर गर्व से, माताओं को रक्षा न करेंगे, ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।
तत्पक्ष्यानपि तान्सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं नु सा ॥२१॥]

तो मैं उस नीच और नृशंस को मार डालूँगा—इसमें भी सन्देह नहीं है । उसकी हिमायत में भले ही तीनों लोक हो क्यों

न खड़े हों—मैं उसके सब हिमायतियों अथवा पक्षपातियों का संहार करूँगा ॥ २१ ॥

कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रामपि मद्विधान् ।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम्* ॥ २२ ॥

हे आर्य ! माता कौशल्या तो मुझ जैसे हज़ारों का स्वयं भरण पोषण कर सकती हैं, क्योंकि जिनके नेग पाने वाले सहस्रों गाँवों के मालिक हैं ॥ २२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च ।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय यशस्विनी ॥ २३ ॥

वे यशस्विनी माता कौशल्या अवश्य ही अपना और मेरी माता का अथवा मुझ जैसे (हज़ारों) का पालन भली भाँति कर सकती हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते ।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥ २४ ॥

अतएव आप मुझे अपना अनुचर बनाइये । मेरे वन चलने में कुछ भी अधर्म न होगा । प्रत्युत मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा और आपका भी अर्थ साधन होगा ॥ २४ ॥

धनुरादाय सशरं खनित्रपिटकाधरः ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमनुदर्शयन् ॥ २५ ॥

(अर्थसाधन क्या होगा ? यही) मैं तीरों सहित धनुष, खंता (ज़मीन से कंदमूल खोदने का औज़ार) और बाँस की बनी फल फूल रखने की कंडी लिये हुए, आपके आगे आगे मार्ग बतलाता हुआ चलूँगा ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे "जीवनम् ।"

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहाराणि[1] तपस्विनाम् ॥२६॥

और कन्दमूल तथा फल तथा तपस्वियों के भोजन करने योग्य वन में उत्पन्न होने वाले शाक पातादि तथा अन्य वस्तुएँ भी नित्य ला दिया करूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः[2] स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

आप वैदेही सहित पर्वतों के शिखरों पर विहार कीजियेगा। मैं सोते जागते अर्थात् हर समय आपके सब काम कर दिया करूँगा ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, अति प्रसन्न हो, उनसे बोले—हे लक्ष्मण! तुम माता सुमित्रा और अपने सब सुहृज्जनों से मेरे साथ वन चलने की आज्ञा ले आओ ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥

और वरुण देव ने स्वयं राजर्षि जनक के, उनके महायज्ञ में जो रौद्र रूप दो धनुष ॥ २९ ॥

*अमेयबलवेगे दिव्ये तूणी चाक्षयसायकौ।
आदित्यविमलौ चोभौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥

---

१ स्वाहाराणि—सुखेननाहर्तुं भोक्तुं योग्यानि। (गो०); २ जाग्रतः स्वपतश्चेत्यनेन स्वस्य निद्रा वशीकरण सामर्थ्यं सूचितम्। (शि०)

* पाठान्तरे "ऽमेय।"

सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि ।
स त्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

अमोघ कवच और दिव्य दो अक्षय तरकस (ऐसे तरकस जिनसे बाण कभी चुकते ही न थे) और सूर्य की तरह चमचमाती और सुनहले काम की दोनों तलवारें दी थीं, और (जो हमें महाराज जनक से विवाह के दहेज़ में मिली हैं) जो वशिष्ठ जी के घर में बड़ी चौकसी के साथ रखे हैं, लक्ष्मण ! इस समय तुम उन सब आयुधों को ले कर, जल्दी यहाँ चले आओ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः ।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

अपना वन जाना निश्चित हुआ जान, लक्ष्मण जी ने सुहृज्जनों से विदा माँगी और वशिष्ठ जी के घर से, उन उत्तम आयुधों को ले आये ॥ ३२ ॥

तद्दिव्यं रघुशार्दूल सत्कृतं माल्यभूषितम् ।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

जो बड़े यत्न से रखे हुए थे और जो पुष्पों से भूषित थे । उन सब आयुधों को वहाँ से लक्ष्मण जी ने ला कर, श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान्रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम् ।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥३४॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने (आये हुए) लक्ष्मण जी से प्रसन्न हो कर, कहा—हे सौम्य ! तुम भले समय पर आ गये ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परन्तप ॥ ३५ ॥

हे भाई ! मेरे पास जो कुछ धन है—उसे मैं ब्राह्मणों और तपस्वियों को देना चाहता हूँ । सो तुम इस कार्य में मुझे सहायता दो ॥ ३५ ॥

[1]वसन्तीह[2] दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः ।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

इस नगर में जो ब्राह्मणोत्तम गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाले वसते हैं, उन सब को और अपने नौकरों चाकरों को धन देना उचित है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम् ।
अभिप्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन् ॥ ३७ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

वशिष्ठ जी के पुत्र सुयज्ञ को जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं, तुम जा कर, शीघ्र बुला लाओ । मैं इनका तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणों का सत्कार कर, वन जाऊँगा ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

---

१ वसन्ति—गुरुषुभक्तया ये दृढं वसन्ति । (गो०) २ इह नगरे । (गो०)

द्वात्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः शुभतरं प्रियम् ।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पाने पर, लक्ष्मण जी सुयज्ञ के घर गये ॥ १ ॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥

और यज्ञशाला में बैठे हुए सुयज्ञ को प्रणाम कर बोले—हे मित्र ! श्रीरामचन्द्र जी राज छोड़ कर, वन जा रहे हैं, सो आप घर चलिये और देखिये कि, वे कैसा दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २ ॥

ततः सन्ध्यामुपास्याशु गत्वा सौमित्रिणा सह ।
जुष्टं तत्प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, सुयज्ञ ने सन्ध्योपासन शीघ्र समाप्त किया और वे लक्ष्मण जी के साथ सुशोभित रमणीक राम-भवन में पहुँचे ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं माञ्जलिः सीतया सह ।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

वेदविद् और अग्नि के समान तेजस्वी सुयज्ञ को आते देख, सीता समेत श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥

और अच्छे अच्छे सोने के गहने, सुन्दर कुण्डल, सुवर्ण सूत्र में गुथी मणियों की माला, केयूर (बाजूबंद) कंकण ॥ ५ ॥

अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः सत्यमूजयत् ।
सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीतामचोदितः ॥ ६ ॥

तथा अन्य भूषणों तथा बहुत से रत्नों से श्रीरामचन्द्र जी ने उनका पूजन किया । तदनन्तर सीता जी की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र सुयज्ञ से बोले ॥ ६ ॥

हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।
रत्नानां[1]चाधुना सीता दातुमिच्छति ते सखे ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! यह हार और यह सोने की गुंज लो । हे सखे ! सीता जी ये तुम्हारी स्त्री के लिये देना चाहती हैं ॥ ७ ॥

अङ्गदानि विचित्राणि केयूराणि शुभानि च ।
प्रयच्छति सखे तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

इनके अतिरिक्त ये बढ़िया बाजूबंद की जोड़ी तथा ये दिव्य केयूर, मेखला मेरे साथ वन को जाने वाली सीता, तुम्हारी स्त्री को देती हैं ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।
तमर्पयति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

इस पलंग को भी जो कोमल स्वच्छ बिछौनों से युक्त है और जिसमें तरह तरह के रत्न जड़े हुए हैं, वैदेही आप ही को देना चाहती हैं ॥ ९ ॥

---

१ रत्नांचते—भार्यायै सीतादातुमेच्छति तत्सर्वहरण दारयेत्यर्थः । (गो०)

नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥

यह शत्रुञ्जय नाम का हाथी, जो मुझे अपने मामा से मिला है, सो हे द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें हज़ार निष्क दक्षिणा सहित देता हूँ ॥ १० ॥

इत्युक्तः स हि रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाःपक्ष*शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कह कर दिये हुए पदार्थों को ले, सुयज्ञ ने श्रीराम लक्ष्मण और सीता को शुभाशीर्वाद दिया ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदः ।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर, जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी इन्द्र से बोलते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अव्यग्र और प्रियवचन बोलने वाले, प्रिय लक्ष्मण जी से कहा ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
आर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! अगस्त्य और विश्वामित्र के पुत्रों को भी बुला लो और इन दोनों उत्तम ब्राह्मणों को भी उसी प्रकार से रत्नों से सत्कारित करो, जिस प्रकार अनाज का खेत जल से सींचा जाता है ॥ १३ ॥

तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रैश्च मानद ।
सुवर्णैः रजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

---

* पाठान्तरे—"शुभाः ।"

दोनों को एक एक हज़ार गौएँ और बहुमूल्य सोने चाँदी के मणिजटित आभूषण तथा बहुत सा धन दे कर तृप्त करो ॥ १४ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥

तैतरीय शाखा के आचार्य इस ब्राह्मण को, जो कौशल्या और सुमित्रा को नित्य बड़ी भक्ति के साथ आशीर्वाद दिया करता है और सब वेद वेदान्त का जानने वाला है और सब प्रकार से योग्य है ॥ १५ ॥

तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत्तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

सवारी, दासियाँ और रेशमी वस्त्र दो. जिससे यह ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय ॥ १६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥

यह श्रेष्ठ चित्ररथ नाम का पुरुष, जो मेरा मंत्री है और बहुत दिनों से मेरे यहाँ रहता है, इसको बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन दे कर सन्तुष्ट करो ॥ १७ ॥

पशुकामश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।
ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः[1] ॥ १८ ॥

ये जो मेरे कठ और कलाप शाखाध्यायी बहुत से ब्रह्मचारी हैं, इनको दस हज़ार गौएँ और अन्य बहुत से पशु दो ॥ १८ ॥

---

१ दण्डमाणवाः—पलाशदण्ड धारिणो ब्रह्मचारिण इत्यर्थः । (गो०)

नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किञ्चन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां[1] चापि सम्मताः ॥ १९ ॥

क्योंकि वे सदा वेद पढ़ा करते हैं और कोई दूसरा काम नहीं करते। ये भिक्षावृत्ति करने में आलसी तो हैं, किन्तु स्वादिष्ट पदार्थ खाने की उनकी बड़ी इच्छा रहती है, किन्तु हैं वे बड़े सदाचारी ॥ १९ ॥

तेषामशीतियानानि[2] रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं[3] च द्वे शते भद्रकां[4]स्तथा ॥ २० ॥

अतः इनको रत्नों से भरे अस्सी ऊँट, शालि नामक अन्न से भरे एक हज़ार तथा खेती के काम योग्य दो सौ बैल दो ॥ २० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ॥ २१ ॥

दही, घी, दूध खाने के लिये इनको अनेक गौएँ भी दे दो। देखो मेखला धारण किये हुए ब्रह्मचारियों की जो भीड़ माता कौशल्या के पास उपस्थित है, ॥ २१ ॥

तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ।
अम्बा यथा च सा नन्देत्कौसल्या मम दक्षिणाम् ॥२२॥

---

१ महतां चापि सम्मताः—अतीव साध्वाचारा इत्यर्थः । (गो०) २ यानानि—उष्ट्राः । (गो०) ३ शालिवाहसहस्रं—शालिधान्यवाहक-बलीवर्दसहस्रं । (गो०) ४ भद्रकान—कर्षणयोग्याननडुहइत्यर्थः । (गो०)

उनमें से प्रत्येक को सहस्र गौ और सहस्र निष्क दे दो। अथवा जितनी दक्षिणा देने से माता कौशल्या आनन्दित हों, उतनी उतनी दक्षिणा ॥ २२ ॥

तथा द्विजातींस्तान्सर्वाल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं लक्ष्मणः स्वयम् ॥ २३ ॥

उनको दे कर, हे लक्ष्मण ! उन सब ब्राह्मणों का सत्कार करो। श्रीरामचन्द्र के इन वचनों को सुन, पुरुषश्रेष्ठ श्रीलक्ष्मण जी ने स्वयं ॥ २३ ॥

यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद्धनदो यथा ।
अथाब्रवीद्बाष्पकलांस्तिष्ठतश्चोपजीवनः ॥ २४ ॥

वह समस्त धन कुबेर की तरह उन ब्राह्मणों को दे दिया जैसा कि, श्रीरामचन्द्र जी ने देने को कहा था । तदनन्तर उन उपजीवियों (नौकरों तथा नेगियों) में से, जो खड़े खड़े रो रहे थे, ॥ २४ ॥

सम्प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ।
लक्ष्मणस्य च यद्वेश्म गृहं च यदिदं मम ॥ २५ ॥
अशून्यं[1] कार्यमेकैकं[2] यावदागमनं मम ।
इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ॥ २६ ॥

प्रत्येक को जीविका के लिये बहुत सा द्रव्य दे कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा—जब तक मैं वन से लौट कर न आऊँ,

---

१ अशून्यं—यथापूर्वमवस्थितविश्यरक्षणीयमित्यर्थः । (गो०)
२ एकैकं—पृथक् पृथक् । (गो०)

तब तक लक्ष्मण का और मेरा घर ख़ाली न रहने पावे और आप लोग एक एक कर (अर्थात् बारी बारी से) जैसी कि मेरे सामने रखवाली करते हैं वैसी ही मेरे पीछे भी किया करना। सब नौकरों चाकरों को दुःखी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ २५ ॥ २६ ॥

उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतामिति ।
ततोऽस्य धनमाजहुः सर्वमेवोपजीविनः ॥ २७ ॥

खजाञ्ची से कहा धन ले आओ। यह आज्ञा पाते ही नौकरों ने ला कर धन का ढेर लगा दिया ॥ २७ ॥

स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ।
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं सहलक्ष्मणः ॥ २८ ॥

उस समय उस धन के ढेर की शोभा देखे ही बन आती थी। तदनन्तर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह धन, ॥ २८ ॥

द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ।
तत्रासीत्पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ॥२९॥

ब्राह्मणों, बूढ़ों और दीन दुखियों को बँटवा दिया। वहाँ पर गर्ग गोत्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम त्रिजट था और (चिन्ता के मारे) उसका शरीर पीला पड़ गया था ॥ २९ ॥

उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ।
तं वृद्धं तरुणी भर्या बालानादाय दारकान् ॥ ३० ॥
अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्र्येणाभिपीडिता ।
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम ॥ ३१ ॥

वह उञ्छवृत्ति से निर्वाह करता था, वह नित्य फावड़ा, कुदाल तथा हल ले वन जाता और फलमूल जो कुछ वहाँ मिलते उनसे अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करता था। उस बूढ़े की युवती स्त्री, जो दारिद्र्य से पीड़ित थी, छोटे छोटे लड़कों को ला कर, ब्राह्मण से बोली—अब इन फावड़ा कुल्हाड़ी को तो पटक दो और मैं जो कुछ कहूँ, उसे करो ॥ ३० ॥ ३१ ॥

रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिदवाप्स्यसि ।
भार्यायाः वचनं श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम् ॥३२॥

यदि तुम अभी धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी के पास जाओगे तो तुम्हें कुछ न कुछ अवश्य मिल जायगा। स्त्री का वचन सुन, ब्राह्मण पुराने फटे चीथड़े से किसी प्रकार अपना शरीर ढाँक ॥ ३२ ॥

स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ।
भृग्वङ्गिरसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ॥ ३३ ॥
आ पञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ।
स राजपुत्रमासाद्य त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के घर की ओर चल दिया। उस त्रिजट का तेज भृगु और अंगिरा के समान था। (अर्थात् यद्यपि वह ब्राह्मण चिथड़ा लपेटे हुए था, तथापि वह ऋषियों के समान सदाचारी होने के कारण बड़ा तेजस्वी था—अतः) वह बिना रोक टोक रामभवन की पाँचवीं ड्योढ़ी लाँघ, भीतर पहुँचा, जहाँ लोगों की भीड़ लगी थी। वहाँ जा त्रिजट ने राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महायशः ।
उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति ॥ ३५ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! मैं निर्धन हूँ, तिस पर मेरे बहुत से लड़के बाले भी हैं । मैं वन में जा, उञ्छवृत्ति से जो कुछ पाता हूँ, उसीसे निर्वाह करता हूँ । मेरी ओर भी दयादृष्टि होनी चाहिये ॥ ३५ ॥

तमुवाच तदा रामः परिहाससमन्वितम् ।
गवां सहस्रमप्येकं न तु विश्राणितं[1] मया ॥ ३६ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी ने उससे परिहास पूर्वक कहा—हमारे पास हज़ारों गौएँ हैं, जिनको अब तक मैंने नहीं दिया है ॥ ३६ ॥

परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसि ।
स शाटीं त्वरितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्टय ताम् ॥३७॥

सो तुम अपनी लाठी फेंको, जितनी दूर तुम्हारी लाठी जा कर गिरेगी, उतने बीच में जितनी गौएँ खड़ी हो सकेंगी, उतनी गौएँ मैं तुम्हें दूँगा । श्रीरामचन्द्र जी की यह बात सुन, त्रिजट ने वह चिथड़ा कस कर, तुरन्त कमर में लपेटा ॥ ३७ ॥

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगितः ।
स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः ॥३८॥

और लाठी घुमा तथा अपना सारा बल लगा उसे फेंका । वह लाठी सरयू नदी के उस पार ॥ ३८ ॥

---

१ न विश्राणितं—न दत्तं । (गो०)

गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षण[1]सन्निधौ ।
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात्सरयूतटात् ।
आनयामास ता गोपैस्त्रिजटायाश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

जहाँ हज़ारों गायें और बैलों का झुण्ड था, जा गिरी । उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्राह्मण को वहाँ से सरयू पार तक जितनी गौएँ आ सकती थीं, उन सब को त्रिजट के आश्रम पर भिजवा दिया ॥ ३९ ॥

उवाच च ततो रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन् ।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

और उस गर्ग गोत्री ब्राह्मण को सान्त्वना देते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे बोले—हे ब्राह्मण ! क्रोध मत करना । क्योंकि मैंने जो कहा था, वह हँसी में कहा था ॥ ४० ॥

इदं हि [2]तेजस्तव यद्दुरत्ययं[3]
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
ब्रूणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यति ॥ ४१ ॥

तुम्हारे अतिशय बल की परीक्षा करने के लिये ही मैंने यह बात तुमसे कही थी । उतनी गौएँ तो आपके स्थान पर पहुँच गयीं—अब इन गौएँ के अतिरिक्त और जो कुछ आप चाहते हों सो कहिये ॥ ४१ ॥

---

१ उक्षणां—वृषभानाम् । (गो०) २ तेजः—बलं । (गो०) ३ दुरत्ययं—निरतिशयं । (गो०)

ब्रवीमि सत्येन न तेऽस्ति यन्त्रणा
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात् ।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
तन्मयाऽऽर्जितं प्रीतियशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

मैं सत्य कहता हूँ कि, आपके लिये किसी वस्तु के देने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है । क्योंकि मेरा समस्त धन ब्राह्मणों ही के लिये तो है । यदि मैं अपनी पैदा की हुई धन सम्पति आप सरीखे ब्राह्मणों को दे दूँ, तो मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हो और मुझे यश भी मिले ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-[1]
स्तदाऽऽशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

तब द्विजश्रेष्ठ त्रिजट, अपनी स्त्री सहित प्रमुदित मन से और भी असंख्य गौ ले तथा बल, यश, प्रीति और सुख की वृद्धि के लिये श्रीरामचन्द्र जी को अनेक आशीर्वाद देता हुआ चला गया ॥ ४३ ॥

स चापि रामः परिपूर्णमानसो
महद्धनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।
नियोजयामास सुहृज्जने चिरा-
द्यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

---

१ बृंहिणी—वर्धनी । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी शुद्ध और गाढ़ी कमाई के धन को बड़े आदर के साथ अपने सुहृदों को बाँटा ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद्भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च योऽभवत् ।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

उस समय ऐसा कोई ब्राह्मण सुहृद, नौकर, निर्धन और भिक्षुक न था, जिसका यथायोग्य दान मान से सत्कार श्रीरामचन्द्र ने न किया हो ॥ ४५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—:०:—

दत्त्वातु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी ने ब्राह्मणों को बहुत धन दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी मिलने के लिये, महाराज दशरथ के पास गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते *प्रेषाभ्यामशोभेतां तदायुधे ।
मालादामभिरावद्धे सीतया समलङ्कृते ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरं "दृष्प्रेक्षे त्वशोभेतां ।"

सीता जी द्वारा फूल चन्दनादि से सजाये हुए आयुध, जिन्हें नौकर लोग लिये हुए थे (और जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जा रहे थे) शोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः प्रासादहर्म्याणि[1] विमानशिखराणि[2] च ।
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो[3] व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस समय पुरवासी लोग देवताओं के मन्दिरों, रईसों के भवनों और सतखने मकानों की अटारियों पर चढ़ और निरुत्सुक हो उन तीनों को देखते थे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः स्म शक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः ।
आरुह्य तस्मात्प्रासादान्दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥ ४ ॥

क्योंकि उस समय रास्तों पर लोगों की ऐसी अपार भीड़ थी कि, लोग निकल बैठ नहीं सकते थे । अतः लोग ऊँचे मकानों की छत्तों पर बैठ और दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र को देखते थे ॥ ४ ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं रामं दृष्ट्वा तदा जनाः ।
ऊचुर्बहुविधा वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को पैदल और छत्ररहित जाते देख, लोग अत्यन्त दुःखी होते और अनेक प्रकार की बातें कहते थे ॥ ५ ॥

---

१ प्रासादहर्म्याणि—प्रासादोदेवतानाभूभुजांयावासः हर्म्याणि—धनिनां मन्दिराणि । (गो०) २ विमानशिखराणि—विमानं सप्तभूमि सहितंसद्म । (गो०) ३ उदासीनः—निरुत्सुकः । (गो०)

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

कोई कहता—देखो, जिसके पीछे, यात्रा करते समय, चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, उसके पीछे केवल सीता सहित लक्ष्मण चलते हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः[1] सन्कामिनां[2] चैव कामदः[3] ।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं पितरं धर्मगौरवात्[4] ॥ ७ ॥

कोई कहता—जो श्रीरामचन्द्र जी सब ऐश्वर्यों के सुखों का अनुभव करने वाले और अर्थार्थियों को यथेच्छित धन देने वाले हैं, वे ही आज अपने कर्त्तव्यपालन के अनुरोध से पिता के वचन को मिथ्या करना नहीं चाहते ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

कोई कहता जिन सीता जी को पहिले आकाशचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, उन्हीं सीता जी को आज राह चलते लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

[नोट—इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में स्त्रियों के लिये परदे में रहने की प्रथा प्रचलित थी ।]

---

१ रसज्ञः—संग्रहसुखज्ञः । (रा०) २ कामिनां—अर्थकाङ्क्षिणाम् । (गो०) ३ कामदः—अभीष्टधनप्रदः । (गो०) ४ धर्मगौरवात्—पितृशुश्रूषण वचनकरण विधेयत्वादि रूपधर्म विषयक बहुमानात् । (गो०)

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यन्त्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

कोई कहता—चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं के लगाने योग्य जानकी जी को, वन में वर्षा, शीत, गरमी विवर्ण (शरीर का रंग और का और) कर देगी ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।
न हि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमिच्छति ॥ १० ॥

कोई कहता—निश्चय ही महाराज दशरथ के सिर भूत सवार है, नहीं तो ऐसे प्यारे पुत्र को वे वनवास कभी न देते ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विप्रवासनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥११॥

कोई कहता—लोग अपने गुणहीन पुत्र को भी घर से नहीं निकालते, फिर श्रीरामचन्द्र जी ने तो अपने सदाचरण से यह लोक जीत लिया है । अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी संसार में सदाचारी कहला कर प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं[1] शीलं[2] दमः[3] शमः[4] ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

कोई कहता—(केवल सदाचार ही के लिये नहीं—प्रत्युत) अहिंसा, दया, यथाविधि शास्त्राध्ययन, सत्स्वभाव, इन्द्रियों का

---

१ श्रुतं—अनुष्ठानपर्यवसायिशास्त्राध्ययनम् । (रा०) २ शीलं—सत्त्व-भावः (रा०) दमः—बाह्येन्द्रिय निग्रहः । (रा०) ४ शमः—चित्तनिग्रहः । (रा०)

निग्रह, मन का निग्रह इन छः गुणों से श्रीरामचन्द्र जी शोभित हैं अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी में ये छः गुण हैं ॥ १२ ॥

तस्मात्तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥१३॥

ऐसे (गुणी पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने से लोगों को वैसा ही महाकष्ट हो रहा है, जैसा कि, ग्रीष्मकाल में जल के अभाव से जलजन्तुओं को होता है ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

कोई कहता—जगत्पति श्रीरामचन्द्र के कष्ट से सारा संसार कष्ट पा रहा है। जैसे जड़ काटने से फला फूला पेड़ सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

अत्यन्त कान्ति वाले और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी (वृक्ष के) जड़ स्थानीय हैं और अन्य लोग (उस वृक्ष के) पुष्प, फल, पत्र, शाखा आदि स्थानीय हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्नीकाः सबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

अतएव हम लोग भी लक्ष्मण की तरह, अपनी स्त्रियों को साथ ले, अपने भाई बन्धों सहित, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे शीघ्र जायँगे ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखा[1] राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

कोई कहता –हम लोग बाग बगीचा, खेती बारी और घर द्वार छोड़, बराबर सुख दुःख सहते, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जाँयगे ॥ १७ ॥

[नोट—घर द्वार छोड़ कर जब लोग चल देंगे तब घरों की क्या दशा होगी, वही प्रजाजन आगे कहते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं, कि जब हम सब अयोध्या छोड़ चले जाँयगे, तब श्मशान तुल्य पुरी में कैकेयी शासन करे ।]

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि[2] सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाऽभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः[3] ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्भिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रनष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव[4] भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

जिन घरों को हम त्याग देंगे, उनमें धन नहीं रह जायगा, उनके आँगन टूट फूट जाँयगे, उनमें अन्न और धन रहने न पावेगा, उनकी रमणीयता नष्ट हो जायगी, धूल गरद्दा भर जायगी, गृह

---

१ एकदुःखसुखाः—समान सुखदुःखाः । (गो०) २ साराणि—शय्यासनादीनि । (गो०) ३ दैवतैः—गृहदैवतैः । ४ दुष्काले—राजिक दैविक क्षोभकालः । (रा०)

देवता घरों से चल देंगे, मूँसे दौड़ लगाया करेंगे, घर भर में बिल ही बिल देख पड़ेंगे, उनमें जल की बूँद भी न देख पड़ेगी, लिपाई पुताई न होने से मकान धुमैले और स्वच्छता रहित हो जायंगे, उनमें बलिवैश्वदेव, होम, जप होना बंद हो जायगा, उनमें टूटे फूटे बरतन इधर उधर पड़े देख पड़ेंगे, मानों राजा और दैव के कोप से वे दुर्दशाग्रस्त हो रहे हों—ऐसे घरों से युक्त अयोध्या का राज्यसुख, कैकेयी भोगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

(कोई कहता हमारी तो ईश्वर से यह प्रार्थना है कि,) जिस वन में श्रीरामचन्द्र जी जांय वहां तो नगर बस जाय, और हमारी छोड़ी हुई यह अयोध्यापुरी वन हो जाय । (अर्थात् वन बसे अयोध्या उजड़े) ॥ २२ ॥

विलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्यस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥२३॥

हमारे भय से भीत हो सर्पादि अपने विलों को, मृग और पक्षी पर्वत शृङ्गों को तथा हाथी एवं सिंह वनों को त्याग, इस अयोध्यापुरी में आ कर बसें ॥ २३ ॥

अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तां सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥ २४ ॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सहबान्धवैः ।
राघवेण वने सर्वे सहवत्स्याम निर्वृताः ॥ २५ ॥

हमारी ओढ़ी हुई इस प्रकार की पुरी में, जिसमें केवल घास फूस, मांस और फल मिल सकेंगे और जो सांपों, मृगों और पक्षियों से भरी हुई होगी—कैकेयी अपने पुत्र और भाई बन्धों के सहित राजसुख भोगे और हम सब श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में सुखपूर्वक वास करें ॥ २४ ॥ २५ ॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव रामः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥२६॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार की विविध बातें अने लोगों के मुख से सुनते आते थे, तथापि उनकी इन बातों को सुनने से उनके मन में ज़रा सा भी विकार उत्पन्न नहीं होता था ॥ २६ ॥

स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम् ।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी धीरे धीरे मतवाले हाथी की तरह विक्रम प्रदर्शित करने वाली चाल से, कैलाशशृङ्ग के समान एवं शोभित पिता जी के भवन की ओर जाने लगे ॥ २७ ॥

विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम् ।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

राजमहल के द्वार पर वीर लोग विनीत भाव से खड़े थे। श्रीरामचन्द्र जी उनके पास से आगे बढ़े और थोड़ी ही दूर पर उदास मन खड़े हुए सुमंत्र को देखा ॥ २८ ॥

प्रतीक्षमाणोऽपि जनं तदाऽऽर्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।

जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥

वहाँ के लोग जो श्रीरामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, सब के सब शोकाकुल होने के कारण खिन्न थे, उनको देख और मुसक्या, श्रीरामचन्द्र जी पिता को देखने और उनकी आज्ञा का विधिवत् पालन करने को चले जाते थे ॥ २९ ॥

तत्पूर्व[1]मैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन्वनमार्तरूपम् ।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

निश्चित राम-वियोग-जनित दुःख से महाराज दशरथ के समीप जाने के पूर्व ऐक्ष्वाकुसुत, महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े पुराने सुमंत्र को द्वार पर अपने आगमन की सूचना महाराज को देने के लिये, खड़ा हुआ देखा ॥ ३० ॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ तत्पूर्वं—तस्मात्पितुरपिपूर्वं पौर्वकालिकं सुमंत्रं । (शि०)

धर्मवत्सल पिता की आज्ञा को पूरी करने के लिये, वन जाने का निश्चय किये हुए श्रीरामचन्द्र, सुमंत्र को खड़ा देख, उनसे बोले कि, महाराज को हमारे आने की सूचना दे दो ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो※ महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥

कमलपत्र के समान नेत्र वाले, श्याम अंग, उपमा रहित श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हमारे आने की सूचना महाराज को दो ॥ १ ॥

स राममेषितः क्षिप्रं सन्तापकलुषेन्द्रियः।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र के भेजे हुए सुमंत्र ने तुरन्त भीतर जा कर, वहाँ देखा कि, महाराज दशरथ शोक से विकल उसाँसे ले रहे हैं ॥ २ ॥

[1]उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥

उस समय सुमंत्र ने महाराज को राहुग्रस्त सूर्य की तरह अथवा भस्माच्छादित अग्नि की तरह, अथवा जलरहित तड़ाग की तरह, देखा ॥ ३ ॥

---

१ उपरक्तं—राहुग्रस्तं। (गो०) ※ पाठान्तरे " निरुदरो। "

आलोक्य तु महाप्राज्ञः परमाकुलचेतसम् ।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरासदत् ॥ ४ ॥

महापण्डित सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता से विकल और अत्यन्त घबड़ाये हुए महाराज दशरथ जी को देख, हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

तं वर्धयित्वा[1] राजानं सूतः पूर्वं जयाशिषा ।
भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत् ॥ ५ ॥

सुमंत्र ने प्रथम तो राजोचित अभिवादन किया, तदुपरान्त महाराज़ की जय हो कह कर, आशीर्वाद दिया । फिर डरते डरते वे धीमे स्वर से यह मधुर वचन बोले ॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्व[2] चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥

हे महाराज ! ये पुरुषसिंह आपके पुत्र द्वार पर खड़े हैं । ब्राह्मणों और अपने नौकर चाकरों को धन और सामान दे ॥ ६ ॥

स त्वा पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥

और सब सुहृज्जनों से विदा हो, सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र आपके दर्शन करने के लिये आये हुए हैं ॥ ७ ॥

गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

---

१ वर्धयित्वा—सम्पूज्य । (रा०) २ सर्वं—गृहोपकरणादिकं । (गो०)

जिस प्रकार सूर्य भगवान् अपनी किरणों से सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी भी विविध प्रकार के राजोचित गुणों से शोभित हैं। वे अब शीघ्र ही दण्डकवन को जायंगे। सो हे पृथ्वीनाथ! आप उनको दर्शन दीजिये ॥ ८ ॥

स सत्यवादी धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥

सुमंत्र के ये वचन सुन, सत्यवादी, धर्मात्मा, गम्भीरता में समुद्र के समान और आकाश की तरह निर्मल, महाराज दशरथ ने कहा ॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान्ये केचिदिह मामकाः ।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम्* ॥ १० ॥

हे सुमंत्र! इस घर में मेरी जितनी स्त्रियां हैं, उन सब को बुला लो। मैं उन सब के सहित श्रीरामचन्द्र को देखना चाहता हूँ ॥१०॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्या ह्वयति वो राजाऽगम्यतां तत्र मा चिरम् ॥११॥

यह सुन सुमंत्र भीतर गये और स्त्रियों से बोले कि, महाराज आपको बुलाते हैं—शीघ्र आइये ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद्भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥

जब सुमंत्र ने उन सब स्त्रियों को इस प्रकार महाराज की आज्ञा सुनायी, तब अपने पति की आज्ञा से वे महाराज के पास जाने को तैयार हुईं ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"धार्मिकम्।"

अर्धसप्तशतास्तास्तु प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

साढ़े तीन सौ स्त्रियां जिनके नेत्र श्रीरामचन्द्र जी के वियोगजन्य दुःख के कारण रोते रोते लाल हो गये थे, कौशल्या को घेर कर धीरे धीरे महाराज के पास गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

जब महाराज ने देखा कि, सब स्त्रियाँ आ गयीं, तब उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि, हे सुमंत्र ! मेरे पुत्र को ले आओ ॥ १४ ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

तब सुमंत्र जी श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, शीघ्र महाराज के निकट चले ॥ १५ ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा दूरात्कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥

उस समय, महाराज़ दूर ही से हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र को आते देख, तुरन्त पलंग छोड़, स्त्रियों सहित उठ खड़े हुए ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशांपतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥ १७ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी को देख उनकी ओर बड़े वेग से दौड़े; किन्तु श्रीरामचन्द्र के पास तक न पहुँच, बीच ही में दुःखी होने के कारण मूर्छित हो, ज़मीन पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत्क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तदा ॥ १८ ॥

यह देख श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने बड़ी तेज़ी से दौड़ कर, दुःख और शोक से चेष्टाशून्य से हुए महाराज को उठा लिया ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमूर्च्छितः ॥ १९ ॥

उस समय वह राजभवन सहस्रों स्त्रियों के विलाप से भर गया और उनके आभूषणों की झनकार का शब्द उस रोने पीटने के कोलाहल में दब गया ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने दोनों भुजाओं को पकड़ कर, सीता सहित रोते रोते महाराज को ले जा कर, पलंग पर बैठाया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

जब एक मुहूर्त्त बाद महाराज सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र जी, शोकसमुद्र में डूबे हुए महाराज दशरथ से हाथ जोड़ कर बोले ॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन[1] माम् ॥२२॥

---

१ कुशलेन चक्षुषेतिशेषः । (गा०)

हे महाराज ! मैं आपसे विदा होने आया हूँ। आप हम सबके स्वामी हैं। अब मैं दण्डकवन को प्रस्थान करता हूँ। अब आप मेरी ओर एक वार कृपादृष्टि से देख तो लें ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिः [1]तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैंने अनेक कारण बतला, इन दोनों ही को मना किया, परन्तु ये दोनों यहाँ रहने को राज़ी ही नहीं होते ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २४ ॥

सो हे महाराज ! शोक को परित्याग कर, हम सब को वैसे ही आज्ञा दीजिये जैसे प्रजापति अपनी प्रजा को आज्ञा देते हैं ॥ २४ ॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

तब महाराज दशरथ, व्यग्रता रहित अपने पुत्र को वन जाने की आज्ञा की प्रतीक्षा करते जान, उनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देख, बोले ॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः[2] ।
अयोध्यायास्त्यमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥२६॥

हे रामचन्द्र ! मुझे कैकेयी ने वरदान द्वारा धोखा दिया है। सो तुम मुझे बाँध कर (गिरफ़्तार कर) बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो ॥ २६ ॥

---

१ तथ्यैः—परमार्थैः । (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः । (गो०)

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥

महाराज का यह वचन सुन धर्मधुरन्धर और बातचीत करने में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जो हाथ जोड़ कर, पिता से बोले ॥ २७ ॥

भवान्वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयाऽनृतम् ॥२८॥

हे महाराज ! (परमात्मा करें) आप आगे और भी हज़ारों वर्ष की आयु पा कर, पृथिवी का पालन करते रहैं। मैं आपको मिथ्यावादी बनाना नहीं चाहता । मैं अवश्य वन में वास करूँगा ॥ २८ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

हे महाराज ! वनवास में १४ वर्ष बिता और अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, पुनः आपके चरण पकड़ूँगा। अथवा प्रणाम करूँगा ॥ २९ ॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो[1] राजा तमब्रवीत् ॥३०॥

सत्यरूपी पाश में बधे, और इशारे से कैकेयी द्वारा प्रेरित हो, महाराज आर्त हो और रोदन करते हुए श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३० ॥

---

१ मिथः—रहसि । (गो०)

श्रेयसे[1] वृद्धये[2] तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्ट[3]मव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! पारलौकिक सुख और इस लोक के यश आदि फल की प्राप्ति, तथा फिर यहां लौट आने के लिये तुम अव्यग्र मन से वन जाओ । मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हें किसी भी वनैले जीव जन्तु का भय न हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुम सत्य के पालन में तत्पर और धर्मकार्य करने में दत्तचित्त हो, अतः तुमको इनसे हटा कर, दूसरे मार्ग पर चलाने की बुद्धि (केवल मुझीमें नहीं प्रत्युत) किसी में नहीं है ॥ ३२ ॥

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहदर्शनेनापि साधु[4] तावच्चराम्यहम्[5] ॥ ३३ ॥

परन्तु आज की रात तो किसी तरह रह जाओ । भला एक दिन तो और तुम्हारे साथ रहने का सुख मैं भोग लूँ ॥ ३३ ॥

मातरं मां च सम्पश्यन्वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः[6] सर्वकामैः[7] त्वं श्वः काले[8] साधयिष्यसि[9] ॥३४॥

---

१ श्रेयसे—पारलौकिकफलाय । (गो०) २ वृद्धये—ऐहिकफलाय । (गो०)३ अरिष्टं—शुभं । (गो०) ४ साधुः—सुखं । (गो०) ५ चरामि—वसामि । (गो०) ६ तर्पितः—ममातृप्तिप्राप्तः । (शि०) ७ सर्वकामैः—इच्छाविषयभूतैः । (शि०) ८ काले—प्रातःकालं । ९ साधयिष्यसि—गमिष्यसि । (गो०)

मेरी और अपनी माता की ओर देखो और आज की रात यहीं रह जाओ। रात में मैं अपनी साध पूरी कर लूँगा, तब तुम सवेरा होते ही कल वन चले जाना ॥ ३४ ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया ।
मत्प्रियार्थं[1] प्रियांस्त्यक्त्वा यद्यासि विजनं वनम् ॥३५॥

हे वत्स ! तुम ऐसा दुष्कर काम कर रहे हो जैसा और कोई नहीं करेगा कि, हमारा परलोक बनाने के लिये तुम अपने सब प्यारे जनों को छोड़ विजन वन को जाते हो ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया[2] चलित[3]स्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया ॥३६॥

हे वत्स ! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मुझे तुम्हारा वन जाना कभी अभिमत नहीं है। पर क्या करूँ—इस कैकेयी की, जो भस्म से ढ़ँपी हुई आग की तरह (भयङ्कर) है, छल भरी चाल में मैं आ गया ॥ ३६ ॥

वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याऽभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

मैं कुलकलङ्किनी कैकेयी के जिस छलजाल में पड गया हूँ, उसे तुम इसके कहने में आ, पार करना चाहते हो। अर्थात् मैं तो इसकी बातों में फसा ही हूँ, तुम क्यों फसते हो, या मैं तो इसके धोखे में आ चुका, तुम इसके धोखे में क्यों आते हो ॥ ३७ ॥

---

१ मत्प्रियार्थं—ममपरलोकप्रियार्थं । (गो०) २ छन्नया—गूढाभिप्रायया । (गो०) ३ चलित.—स्वाधीनत्वाच्चलनंप्राप्तः । (गो०)

न चैतदाश्चर्यतमं यस्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

हे वत्स ! इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि तुम मेरे ज्येष्ठपुत्र हो, अतः तुम अपने पिता को सत्यवादी ठहराया चाहते हो ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अति दुःखी पिता के वचन सुन, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी दीन हो बोले ॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति ।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

हे पिता ! (यदि मैं आपके कथनानुसार रह जाऊँ तो) आज मुझे राजोचित सब पदार्थ व सुख यहाँ मिल जायँगे ; किन्तु कल मुझे ये पदार्थ कौन देगा, अतः मैं अब सब के बदले आपसे तुरन्त वन जाने की आज्ञा माँगता हूँ ॥ ४० ॥

[नोट—"तिलक" टीकाकार ने इस श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ यह किया है, आज वन जाने से प्रतिज्ञापालन रूपी जो पुण्य फल मुझे प्राप्त होगा वह फल कल जाने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता । "अद्य प्रयाणेऽति यान्गुणान् प्रतिज्ञापालनज धर्मरूपान् प्राप्स्यामि श्वोगमने कस्तदान्दास्यति प्रत्युता-धर्मएव" ।]

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

अब आप मेरी छोड़ी हुई धन धान्य और मनुष्यों से भरी पूरी, विविध राज्यों से घिरी पृथिवी भरत को दे दीजिये ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तुष्टेन वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥

क्योंकि मैंने वन जाने के विषय में जो निश्चय किया है वह टल नहीं सकता । हे वरद ! आपने सन्तुष्ट हो ऐसा वर कैकेयी को दिया ॥ ४२ ॥

दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।
अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥

अतः हे पृथिवीनाथ ! आप मुझे आज्ञा दीजिये और आप सम्पूर्णतः सत्यप्रतिज्ञ हूजिये । आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार मैं उसका पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

मैं तपस्वियों के साथ चौदह वर्ष तक वन में रहूँगा । आप भरत को राज्य देने में कुछ भी विचार मत पलटिये ॥ ४४ ॥

न हि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि[1] वा प्रियम् ।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

क्योंकि आप की आज्ञा का प्रतिपालन करने के समान मुझे न तो राज्य की चाहना ही है और न मुझे अपने मन में किसी सुख की ही चाहना है ॥ ४५ ॥

---

१ आत्मनि—मनसि । (गो०)

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्वाप्यपरिप्लुतः ।
न हि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

आप रुदन न कीजिये और दुःखी न हूजिये । भला नदियों का स्वामी दुर्धर्ष समुद्र भी कभी क्षुब्ध होता है ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मैथिलीम् ।
नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं नैव जीवितम् ॥ ४७ ॥

हे महाराज ! अधिक तो मैं क्या कहूँ ! मैं राज्य, सुख, जानकी, भोग, स्वर्ग—यहाँ तक कि, मैं अपना जीवन भी नहीं चाहता ॥४७॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं[1] तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

किन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं मिथ्याभाषण से छुड़ा, आपको सत्यवादी करना चाहता हूँ । आप देवता रूप हैं, आपके सामने मैं अपने सुकृत और सत्य की शपथ खा कर ये बातें कह रहा हूँ । मेरे इस कथन में ज़रा सा भी झूठ या बनावट नहीं है ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।
न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः ॥४९॥

हे तात ! हे प्रभो ! (रात भर की क्या चलाई) मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहर सकता । (मेरी आपसे प्रार्थना है कि,) आप मेरे लिये अधीर न हों । क्योंकि वनयात्रा सम्बन्धी मेरे सङ्कल्प में तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता ॥ ४९ ॥

---

१ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षदैवतस्य तवसन्निधौ । (गो०)

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव ।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

जब कैकेयी ने मुझसे कहा कि, रामचन्द्र तुम वन जाओ तब मैंने कहा कि अच्छा मैं वन जाता हूँ । अतएव अपने इस कथन के सत्य का भी पालन करना मुझे आवश्यक है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुननादिते ॥ ५१ ॥

हे देव ! आप ज़रा भी न घबड़ायँ । मैं ऐसे वन में रहूँगा जहाँ शान्त चित्त हिरन विचरते हैं और अनेक प्रकार के पक्षियों की बोलियाँ सुनायी पड़ती हैं ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

हे तात ! पिता देवताओं के भी देवता होते हैं । अतः आपको परम देवता समझ मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नरसत्तम ।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं सन्तापोऽयं विमुच्यताम् ॥५३॥

हे नरसत्तम ! जब चौदह वर्ष पूरे हो जायँगे, तब मैं फिर यहाँ आ ही जाऊँगा । अतः आप मेरे लिये अब दुःखी न हों ॥ ५३ ॥

येन सन्स्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पगलो जनः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

इस समय आपको उचित है कि, इन लोगों को जो रुदन कर रहे हैं समझा बुझा कर शान्त करें। सो हे पुरुषसिंह! आप (इस समय) स्वयं दुःखी क्यों हो रहे हैं? (अर्थात् आपका कर्त्तव्य है कि, आप इन लोगों को समझावें न कि स्वयं रुदन करें) ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालय-
न्वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

मैं अयोध्यापुरी और पृथिवी के राज्य को छोड़ कर जाता हूँ। आप इसे भरत को दे दीजिये। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुकाल तक वनवास करने के लिये जाऊँगा ॥ ५५ ॥

मया निसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरां सकाननाम्।
शिवां[1] सुसीमा[2]मनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

पर्वतों और वनों से शोभायमान, नगर और ग्रामों से भरी पूरी और राजकल्याणकारिणी इस पृथिवी का भरत जी वंशमर्यादा के अनुसार केवल शासन करें, यह इसलिये कि जिससे आपने जैसा कहा है वैसा ही हो। अर्थात् आपका दिया हुआ वरदान सत्य हो। (इससे यह ध्वनि निकलती है कि,

---

१ शिवासु—राजकल्याणकारिणीषु। (शि०) २ सीमासु—मनुवंश मर्यादा सुसंस्थिते भरते। (शि०)

श्रीरामचन्द्र जो राज्य पर अपना स्वत्व नहीं छोड़ रहे, किन्तु पिता की आज्ञा पालन करने को अस्थायी रूप से भरत को शासन भार मात्र दे रहे हैं। इसीके अनुसार भरत जो ने भी नन्दिग्राम में रह कर, प्रतिनिधि रूप से १४ वर्ष तक राज्य किया था) ॥ ५६ ॥

न मे तथो पार्थिव दीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

हे राजन् ! मुझे अच्छी अच्छी भोग व सुखकर वस्तुओं की रुचि नहीं है। न मुझे किसी प्रीतिकर वस्तु की चाहना है। मुझे तो केवल सज्जनों की सराही हुई आपकी आज्ञा का पालन करना (सब से बढ़ कर) रुचिकर है। अतः मेरे लिये आपको जो दुःख हो रहा है, उसे त्यागिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान्न सुखं न मैथिलीम् ।
न जीवितं त्वामनृतेन योजय-
न्नृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

हे राजन् ! आपको मिथ्यावादी सिद्ध कर न तो अक्षय्य राज्य न अतुलनीय सुख सम्पत्ति, न पृथिवी, न जानकी जी और न अपना जीवन ही मुझे अपेक्षित है। किन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि, आपका सत्यव्रत पूरा हो। अर्थात् आप संसार के आगे सत्यवादी कहलाते रहें ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन्वनं
गिरींश्च पश्यन्सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः[1] ॥५९॥

मैं फल मूलों को खा और पर्वतों, नदियों एवं सरोवरों को देखता हुआ भाँति भाँति के वृक्षों से परिपूर्ण वन में जा, सुखी होऊँगा । आप प्रसन्न हूजिये ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः
शोकेन[2] दुःखेन[3] च ताम्यमानः ।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
मोहं गतो नैव चिचेष्ट[4] किञ्चित् ॥ ६० ॥

यह सुन महाराज दशरथ, क्लेशित एवं शोक तथा दुःख से सन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा, मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े । उस समय उनको कुछ भी होश न रहा । वे मोह को प्राप्त हुए ॥ ६० ॥

देव्यस्ततः संरुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन्सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ निर्वृतिः—सुखं । (गो०) २ शोकः—त्वद्दाहोत्पादकः शोकः । (गो०)
३ दुःखं—अन्तर्व्यथोत्पादकं । (गो०) ४ नचिचेष्ट—नचेष्टतेस्म । (गो०)

कैकेयी को छोड़ वहां और जितनी रानियां थीं वे सब की सब विलाप कर रोने लगीं। बूढ़े सुमंत्र भी मूर्छित हो गये। राजभवन में सर्वत्र हाहाकार होने लगा ॥ ६१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौंतीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:o:—

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान्कटकटाप्य च ॥ १ ॥

तदनन्तर (कुछ काल बाद सुमंत्र की मूर्छा भङ्ग हुई) वे क्रोध से अधीर हो, बारंबार लंबी लंबी सांस लेने लगे, दांत किट-किटाने लगे और हाथ मलने लगे और सिर पीटने लगे ॥ १ ॥

लोचने कोपसंरक्ते वर्ण[1] पूर्वोचितं[2] जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा सन्तापमशुभं[3] गतः ॥ २ ॥

मारे क्रोध के उनकी दोनों आंखें लाल हो गयीं, शरीर का रंग बदल गया। सहसा क्रोध के वश हो, वे बहुत दुःखी हुए ॥ २ ॥

मनः[4] समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य सः।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्छरैः शितैः ॥ ३ ॥

---

१ वर्ण—देहकान्तिं। (गो०) २ पूर्वोचितं—पूर्वाभ्यस्तं। (गो०) ३ अशुभं—तीव्रं। (गो०) ४ मनः समीक्षमाणः—कैकेयीविषयस्नेहरहितं ज्ञानद्विरूपर्यः। (गो०)

यह देख कर कि, महाराज दशरथ के मन में कैकेयी का अब कुछ भी आदर नहीं रहा—सुमंत्र वाग् के समान तीक्ष्ण वचनों से कैकेयी के हृदय को छेद कर मानों कँपाने लगे ॥ ३ ॥

[1]वाक्यवज्रै[2]रनुपमैर्निर्भिन्दन्निव[2] चाशुगैः ।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि[3] सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

जिस प्रकार तेज़ बाण शरीर में पैठ शरीर के मर्मस्थलों को चीर कर खोल देता है, उसी प्रकार सुमंत्र ने वचन रूपी बाणों से कैकेयी के वे दोष प्रकट किये, जो बड़े मर्मस्पर्शी थे अर्थात् कैकेयी के मन में चुभते थे ॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् ।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥

न ह्यकार्यतमं किञ्चित्तव देवीह विद्यते ।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

सुमंत्र ने कहा, हे देवि ! तूने अपने पति महाराज दशरथ को, जो चराचर जगत के पालन पोषण करने वाले हैं, त्याग दिया, तब तेरे लिये (संसार में) और कौन सा अनकरना काम करने को बाकी रहा । इसीसे मैं तुझे न केवल पति की हत्या करने वाली, प्रत्युत कुल का नाश करने वाली भी मानता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं सन्तापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

---

१ वाक्यवज्रैः—वाक्शरैः । (नि०) २ निर्भिन्दन—प्रकाशयन । (गो०) ३ मर्माणि—मर्मतुल्यान्दोषान् । (गो०)

जो महाराज दशरथ, इन्द्र के समान अजेय और पर्वत की तरह कभी क्षोभ को प्राप्त न होने वाले हैं उनको तू अपनी करतूतों से सन्तप्त कर रही है ॥ ७ ॥

माऽवमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

कैकेयी ! तू ऐसे वर देने वाले अपने स्वामी महाराज दशरथ का अपमान मत कर । क्योंकि करोड़ पुत्रों के स्नेह से भी बढ़ कर, स्त्री के लिये अपने पति की इच्छानुसार चलना है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तल्लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

देख, राजा के मरने पर राज्य का मालिक (अवस्थानुसार) ज्येष्ठ पुत्र होता है । इस प्राचीन (इक्ष्वाकुकुल की) प्रथा को इक्ष्वाकुकुल के स्वामी महाराज दशरथ के जीवित रहते ही तू (भरत को राज्य दिला कर) मेंट देना चाहती है ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

अच्छी बात है—तेरा पुत्र भरत राज्य करे, हम लोग तो वहीं जायंगे, जहां श्रीरामचन्द्र जी जायंगे ॥ १० ॥

न हि ते विषये[1] कश्चिद्ब्राह्मणो[2] वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

---

१ विषये—देशे । (गो०) २ ब्राह्मणइति सत्पुरुषमात्रोपलक्षणं ।

तेरे पुत्र के कामं ही राज्य में कोइ भी भला आदमी न रह जायगा। क्योंकि तू ऐसी अमर्यादा का करने पर उतारू है ॥ ११ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विवृता[1] सद्यो भवति मेदिनी ॥ १२ ॥

मुझे बड़ा आश्चर्य है कि, तेरे इस दुष्टाचरण को देख, फौरन ज़मीन क्यों नहीं फट जाती ॥ १२ ॥

[2]महाब्रह्मर्षिसृष्टा* हि ज्वलन्तो[3] भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥१३॥

जब तू श्रीरामचन्द्र जी को वनवास देने को उद्यत हुई है, तब वशिष्ठादि महर्षियों का तीव्र और भयङ्कर धिक्कार रूप वाक्दण्ड तुझे नष्ट क्यों नहीं कर डालता ॥ १३ ॥

आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु यः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १४ ॥

कौन ऐसा (मूर्ख) मनुष्य होगा, जो मधुर फल देने वाले आम के पेड़ को कुल्हाड़ी से काट, उस कड़ुवे नीम के पेड़ को सींचेगा, जो दूध से सींचने पर भी, कभी मीठे फल नहीं दे सकता ॥ १४ ॥

अभिजातं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१५॥

---

१ विवृता—नविदीर्णा । (गो०) २ महाब्रह्मर्षिभिः—वसिष्ठादिभिः । (गो०) ३ ज्वलन्तः—तीव्राः । * पाठान्तरे—" जुष्टा वा । "

लोग जो कहा करते हैं कि, नीम के वृक्ष से शहद नहीं चूता, सो इसे मैं भी मानता हूँ। यही कारण है कि, तेरी माता जैसी थी वैसी ही तू भी है ॥ १५ ॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्मः पूर्वं यथा श्रुतम् ।
पितुस्ते वरदः कश्चिद्ददौ[1] वरमनुत्तमम् ॥ १६ ॥

तेरी माता का पापकर्म मुझे मालूम है, मैं पहले उसे ज्यों का त्यों सुन चुका हूँ। किसी वरदान देने वाले योगी गन्धर्व ने तेरे पिता को एक यह उत्तम वर दिया था ॥ १६ ॥

सर्वभूतरुतं[2] तस्मात्सञ्जज्ञे वसुधाधिपः ।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १७ ॥

कि, तुम सब जीवों की बोली समझ लिया करोगे। इस वर के प्रभाव से तेरे पिता पक्षियों की भी बोली समझने लगे ॥ १७ ॥

ततो जृम्भस्य[2] शयने विरुताद्भूरिवर्चसः ।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ १८ ॥

तेरे पिता एक बार लेटते अत्यन्त चमकदार (अर्थात्) समय सुनहले रंग की किसी चींटी की बात चीत सुन और उसका आशय समझ बहुत हँसे ॥ १८ ॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्यु पाशमभीप्सती ।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥

---

१ कश्चित्—योगीगन्धर्व इतिश्रुतम् । (गो०) २ रुतं—शब्दं । (गो०)
२ जृम्भस्य—पिपीलिका विशेषस्य । (गो०)

इस पर तेरी माता बहुत क्रुद्ध हुई और अपनी जान दे देने की धमकी देती हुई बोली—हे राजन्! मैं आपके हँसने का कारण जानना चाहती हूँ ॥ १९ ॥

नृपश्चोवाच तां देवीं देवि शंसामि ते यदि ।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति, न संशयः ॥ २० ॥

इस पर राजा ने कहा, हे देवि! यदि मैं अपने हँसने का कारण कहूँ, तो मैं तुरन्त मर जाऊँगा। इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

माता ते पितरं देवि ततः केकयमब्रवीत् ।
शंस मे जीव वा मा वा न मामपहसिष्यसि ॥ २१ ॥

यह सुन तेरी माता अपने पति राजा केकय से बोली—तुम चाहे जीओ चाहो मरो, किन्तु अपने हँसने का कारण मुझे बतलाओ। क्योंकि (यदि तुम मर भी गये तो) आगे फिर तो मेरा उपहास न करोगे ॥ २१ ॥

प्रियया च तथोक्तः सन्केकयः पृथिवीपतिः ।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्वतः ॥ २२ ॥

प्यारी रानी के इस प्रकार कहने पर राजा केकय ने वह सारा हाल जा कर, वर देने वाले योगी से कहा ॥ २२ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।
म्रियतां ध्वंसतां[1] वेयं मा कृथास्त्वं महीपते ॥ २३ ॥

तब उस वर देने वाले साधू ने राजा से कहा—हे राजन्! तेरी रानी भले ही मर जाय, या अपने बाप के घर चली जाय, पर तू ऐसा कभी मत करना ॥ २३ ॥

---

१ ध्वंसतांवा—(क) स्वपित्रादिसमीपं गच्छतु । (रा०); (ख) स्वाधिकारात्प्रच्युतास्यात् । (गो०)

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।
मातरं ते [1]निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २४ ॥

यह सुन, राजा केकय ने प्रसन्न मन से तेरी माता का परित्याग कर दिया और स्वयं कुबेर की तरह विहार करने लगा ॥ २४ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।
असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनि ॥ २५ ॥

हे पापिष्ठा ! इसी प्रकार तू भी दुर्जनों के मार्ग का अनुसरण कर, महाराज को धोखा दे कर, उनसे बुरा काम करवाती है ॥ २५ ॥

सत्यश्चाद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ।
पितृन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २६ ॥

लोग ठीक ही कहते हैं कि, लड़के अपने पिता के स्वभाव के और लड़कियाँ अपनी माता के स्वभाव की हुआ करती हैं। अर्थात् लड़कों का स्वभाव अपने बाप जैसा और लड़कियों का अपनी माता जैसा हुआ करता है ॥ २६ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २७ ॥

देख तू अपनी माता जैसी मत बन और महाराज का कहना कर । अपने पति के कथनानुसार चल कर तू हम लोगों की रक्षा कर ॥ २७ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादधाः ॥ २८ ॥

---

१ निरस्य—परित्यज्य । (गो०)

तू, पापों से प्रोत्साहित हो कर, इन्द्र के समान और मनुष्यों के राजा, अपने पति से यह अधर्म का काम (बड़े के सामने छोटे को राज्य) मत करवा ॥ २८ ॥

न हि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान्दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ २९ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्याभिरक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य ब्रूहि रामोऽभिषिच्यताम् ॥३०॥

महाराज दशरथ तुझसे जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे मिथ्या न करेंगे । हे देवि ! राजीवलोचन महाराज दशरथ से तू कह कि, ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले, और प्राणीमात्र की रक्षा करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करवाना चाहिये ॥ २९ ॥ ३० ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३१ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ को छोड़, कहीं वन चले ही गये, तो संसार में तेरी बड़ी निन्दा होगी ॥ ३१ ॥

स राज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसेत् ॥ ३२ ॥

अतएव अब तू अपने मन का सब क्षोभ दूर कर, राज्य श्रीरामचन्द्र को करने दे । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, अन्य किसी के अयोध्या में रह कर राज्य करने से तेरी भलाई नहीं होगी । (अर्थात् भरत के राजा होने पर भी तेरा कल्याण न होगा) ॥ ३२ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
मक्षेष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

जब युवराजपद श्रीरामचन्द्र को मिल जायगा, तब महाराज दशरथ पूर्वजों की प्रथानुसार, स्वयं वन चले जायँगे ॥ ३३ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
सुमन्त्रः क्षोभयामास भूय एव कृताञ्जलिः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सुमंत्र जी ने सब लोगों के सामने हाथ जोड़ कर, कड़े वचनों से बार बार कैकेयी को लुब्ध किया ॥ ३४ ॥

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य विक्रिया लक्ष्यते तदा ॥ ३५ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

किन्तु न तो वह लुब्ध हुई और न उसको कुछ पश्चात्ताप ही हुआ । और तो और, उसके मुख की रंगत भी तो न बदली ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षड्त्रिंशः सर्गः

—: ※ :—

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।
सबाष्पमतिनिश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः ॥ १ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ, अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी हो, आंसू बहाते हुए और बार बार उसांसे ले, सुमन्त्र से बोले ॥ १ ॥

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबलां चमूः ।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥

हे सुमन्त्र ! तुम श्रीरामचन्द्र जी के साथ भेजने को बहुत सा धन रत्न दे, चतुरंगिनी सेना को शीघ्र तैयार करो ॥ २ ॥

रूपाजीवाश्च[1] वादिन्यो[2] वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीं सुप्रसारिताः[3] ॥ ३ ॥

बातचीत कर दूसरे के मन को अपनी ओर खींचने वाली वेश्याएँ, व्यापारी, महाजन, बिकने वाले पदार्थों की दूकानें लगा श्रीरामचन्द्र जी की सेना के शिविर को सुशोभित करें ॥ ३ ॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥

जो श्रीरामचन्द्र जी के नौकर चाकर हैं, और जिनके पराक्रम से वे प्रसन्न हैं, उन सब को बहुत सा धन दे कर, इनके साथ भेजो ॥ ४ ॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यगोचराः ॥ ५ ॥

---

१ रूपाजीवाः—वेश्याः । (गो०) २ वादिन्योः—परचित्ताकर्षणचतुरवचनाः । ३ सुप्रसारिताः—शिविरदेशे पण्यपदार्थप्रसारणंकुर्वन्तः । (गो०)

षड्त्रिंशः सर्गः

उत्तम अस्त्र शस्त्र, मुख्य मुख्य नागरिक जन, लकड़े और वनवासी वहेलिया जो वन का मार्ग जानते हैं, इनके साथ जाँय ॥ ५ ॥

निघ्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु ।
नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यस्य स्मरिष्यति ॥ ६ ॥

ये वहाँ जा कर मृगों और हाथियों का शिकार खेलेंगे और वन का शहद पी कर और अनेक नदियों को देख कर, राज्य का स्मरण न करेंगे ॥ ६ ॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः ।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७ ॥

मेरे (ख़ास) जो अन्न के भण्डार हैं—वे भी निर्जन वन में वास करने वाले श्रीरामचन्द्र के साथ जाँय ॥ ७ ॥

यजन्पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः ।
ऋषिभिश्च समागम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऋषियों से समागम होने पर, तीर्थस्थानों में यज्ञ करेंगे और दक्षिणा देंगे और परम सुख से रहेंगे ॥ ८ ॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान्रामः संसाध्यतामिति[1] ॥ ९ ॥

यहाँ भरत अयोध्या का पालन करेंगे। सब सामान के साथ श्रीरामचन्द्र जी प्रस्थान करें ॥ ९ ॥

---

1 संसाध्यताम्—प्रस्थाप्यता । (शि०)

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि न्यरुध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज ने यह कहा, तब कैकेयी डरी—उसका मुख सूख गया और बोल भी बंद हो गया ॥ १० ॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता ।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह व्याकुल हुई और डरी तथा उसका मुख सूख गया । वह महाराज के सामने ही यह बोली ॥ ११ ॥

राज्यं गतजनं साधो पीतमण्डां सुरामिव ।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

हे साधो ! सारहीन शराब की तरह धनहीन और जनशून्य राज्य भरत न लेंगे ॥ १२ ॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

जब लज्जा को छोड़ कैकेयी ने यह अति कठोर बात कही, तब तो महाराज दशरथ के दोनों नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये और वे कहने लगे ॥ १३ ॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपाक्षथः ॥ १४ ॥

हे दुष्टे ! क्यों मुझे धोखों मारे डालती है ! जब तूने श्रीरामचन्द्र के वन जाने के लिये वर माँगा था तभी यह भी क्यों नहीं माँगा कि, श्रीरामचन्द्र ख़ाली हाथ वन जायँ ॥ १४ ॥

तस्यैतत्क्रोधसंयुक्तंमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना ।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाराज के इस क्रोधयुक्त वचन को सुन, कैकेयी दुगुनी क्रुद्ध हो महाराज से बोली ॥ १५ ॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।
असमञ्ज इति ख्यातं तथाऽयं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने अपने ज्येष्ठपुत्र असमञ्जस को निकाल दिया था । उसी प्रकार यह भी जायँ ॥ १६ ॥

एवमुक्तोधिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तं नावबुध्यत ॥ १७ ॥

कैकेयी की इस बात को सुन महाराज दशरथ ने कहा "हा ! धिक्कार है" !! अन्य लोग जो वहाँ बैठे थे वे सब लज्जित हुए, परन्तु उस (कैकेयी) को तो भी कुछ बोध न हुआ (अर्थात् महाराज ने सब के सामने कैकेयी को धिक्कारा तो भी उसको शर्म न आयी) ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।
[1]शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

---

१ शुचिः—अकुटलः । (गो०)

तब सिद्धार्थ नामक प्रधान मंत्री ने, जो कुटिल न था और जिसे महाराज दशरथ बहुत चाहते थे, कैकेयी से कहा ॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् ।
सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि ! (असमञ्जस का और श्रीरामचन्द्र का क्या सादृश्य है ?) असमञ्जस तो बड़ा ही दुष्टबुद्धि का था, वह तो सड़क पर खेलते हुए बालकों को पकड़ सरयू में फेंक दिया करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।
असमञ्जं [1]वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

उसके ऐसे दुष्टकर्मों को देख, नगरनिवासियों ने क्रुद्ध हो महाराज सगर से कहा हे राष्ट्रवर्धन महाराज ! आप केवल असमञ्जस ही को पुरी में रखना चाहते हैं अथवा हम लोगों को भी ॥ २० ॥

तानुवाच ततो राजा किन्निमित्तमिदं भयम् ।
तांश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥ २१ ॥

तब सगर ने प्रजाजनों से पूँछा कि, तुम्हारे इस भय का कारण क्या है ? इनके उत्तर में प्रजाजनों ने कहा ॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान्बालानुद्भ्रान्तचेतन[2] ।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥ २२ ॥

राजकुमार असमञ्जस का दिमाग़ बिगड़ गया है, वह हमारे खेलते हुए बालकों को पकड़ कर सरयू में डुबो कर, मूर्खतावश बड़ा प्रसन्न होता है ॥ २२ ॥

---

१ वृणीष्व—अत्रनगरेस्थापय । (गो०) २ उद्भ्रान्तचेतनः—भ्रान्तबुद्धिः । (गो०)

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तेषांꣳप्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

तब प्रजाजनों की यह बात सुन और उनको प्रसन्न करने के लिये महाराज सगर ने अपने उस अहितकारी पुत्र को त्याग दिया था ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति स्वानन्वशात्पिता ॥२४॥

(किस प्रकार असमञ्जस को देशनिकाला दिया गया सो प्रधानमंत्री बतलाते हैं) महाराज की आज्ञा से वह तुरन्त भय अपनी स्त्री और कपड़े आदि आवश्यक सामान के रथ में सवार कराया गया और नगर में यह राजाज्ञा घोषित की गयी कि, यह सदा के लिये निकाला जाता है ॥ २४ ॥

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोलयत् ।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन्स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

तब वह कुदाली और कंडी ले पर्वतों पर और वनों में चारों ओर मारा मारा फिरने लगा । उसने जैसा पापकर्म किया था तदनुरूप उसे उसका फल भी मिला ॥ २५ ॥

इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।
रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते ॥ २६ ॥

धार्मिक महाराज सगर ने अपने दुष्ट चरित्र ज्येष्ठपुत्र को देश निकाला दिया था । किन्तु हे दानी ! भला बतलाओ तो कि श्रीराम

---

* पाठान्तरे—" तासां । " † पाठान्तरे—" इत्येन । "

ने कौनसा दुष्ट कर्म किया है, जो तुम इन्हें देशनिकाला दे रही हो ॥ २६ ॥

न हि कश्चन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम्[1] ॥ २७ ॥

हमको तो श्रीराम में कोई भी दोष दृष्ट नहीं पड़ता ; प्रत्युत हम तो इनमें दोष का मिलना उसी प्रकार असम्भव समझते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा में मलिनता का मिलना ॥ २७ ॥

अथवा देवि दोषं त्वं कञ्चित्पश्यसि राघवे ।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन ततो रामो विवास्यताम् ॥ २८ ॥

अथवा हे देवि ! तूने यदि कोई दोष श्रीरामचन्द्र में पाया हो, तो उसे साफ साफ खोल कर कह, तब श्रीरामचन्द्र को देश निकाला दिया जाय ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि सन्त्यागः सत्पथे निरतस्य च ।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मनिरोधनात् ॥ २९ ॥

हे कैकेयी ! देख, सज्जन एवं सुमार्ग पर चलने वाले पुरुष को अकारण त्यागने से अधर्म होता है और ऐसा अधर्म इन्द्र के समान तेज को भी नष्ट कर देता है ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया ।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

हे सुमुखी ! अतएव तू श्रीरामचन्द्र जी की श्री—शोभा नष्ट मत कर और अपने को लोकनिन्दा से बचा अर्थात् ऐसा काम कर जिससे लोग तेरी निन्दा न करें ॥ ३० ॥

---

१ कल्मषं—मालिन्यं । (रा०)

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वनः ।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थ के ऐसे वचन सुन, महाराज दशरथ ने बड़े धीमे स्वर से और शोक से विकल हो, कैकेयी से कहा ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते
हितं न जानासि ममात्मनो वा ।
आस्थाय मार्गं कृपणं[1] कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

हे पापिन ! मैं जान गया कि, सिद्धार्थ का कहना भी तुझे अच्छा न लगा । अपनी और हमारी भलाई किस में है, यह भी तू नहीं जानती, तू कुत्सित मार्ग पर चलने की कुचेष्टा कर रही है, तेरा यत्न साधु मार्ग छोड़ कर चलने ही का है । (अर्थात् अपने और हमारे हित चाहने वाले सिद्धार्थ के कथन पर जो तू ध्यान नहीं देती सो यह तेरी कुचेष्टा है, यह भले आदमियों का काम नहीं है) ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च ।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥३३॥

इति षड्त्रिंशः सर्गः ॥

---

१ कृपणं—कुत्सितं । (गो०)

अतएव धन सम्पत्ति सहित इस राज्य और राज्यसुखों को छोड़, हम तो श्रीरामचन्द्र के साथ जाते हैं। तू अपने पुत्र भरत के साथ सदा के लिये सुखपूर्वक राज्य कर ॥ ३३ ॥

अयोध्याकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

सप्तत्रिंशः सर्गः

—:०:—

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

प्रधानमंत्री सिद्धार्थ के तथा महाराज दशरथ के वचन सुन, सुशील श्रीरामचन्द्र जी ने नम्रता पूर्वक महाराज दशरथ से कहा ॥ १ ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन्वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

हे महाराज! जब मैं सब भोगों को छोड़ चुका और वन में उत्पन्न पदार्थों से अपना निर्वाह करना स्वीकार कर चुका, तब मेरे साथ धन सम्पत्ति, सेना आदि इन सारे समानों के जाने की क्या आवश्यकता है ॥ २ ॥

यो हि दत्त्वा*गजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥

* पाठान्तरे—" द्विपश्रेष्ठं। "

कैकेयी द्वारा राजकुमारों को वल्कल वस्त्रदान

जो मनुष्य हाथी तो दे डाले, किन्तु अंबारी कसने की रस्सी देते मोह करे, अर्थात् देना न चाहे, तो उस उत्तम हाथी देने वाले को उस रस्सी की ममता से लाभ क्या ? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि[1] चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

हे सज्जनश्रेष्ठ ! ठीक यही बात मेरे सम्बन्ध में भी है। हे नर नाथ ! मैं सेना साथ ले जा कर क्या करूँगा ? आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं, उस सब को मैं भरत जी को देता हूँ। मेरे लिये तो वल्कलादि मँगवा दीजिये ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छतः ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

चौदह वर्ष तक मुझे वन में रहना है, अतः कन्दमूल फल खोदने और काटने के लिये एक खन्ता और एक कुंडी मँगवा दीजिये, जिससे मैं अब वन को शीघ्र जाऊँ ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् ।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥

(ये वचन सुनते ही) कैकेयी स्वयं उठ कर गयी और चीर वल्कल ले आयी। तदनन्तर सब लोगों के सामने लज्जा छोड़ श्रीरामचन्द्र से बोली—लो इन्हें पहिन लो ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्या प्रतिगृह्य ते ।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥

---

१ अनुजानामि—ददामि । (गो०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने वे वल्कल वस्त्र कैकेयी से ले लिये और उनको धारण कर महीन बहुमूल्य वस्त्रों को उतार डाला ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

लक्ष्मण ने भी वहीं पर अच्छे अच्छे वस्त्र, जो वे पहिने थे, उतार डाले और पिता के सामने ही मुनियों के पहनने योग्य वल्कल वस्त्र पहिन लिये ॥ ८ ॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।
समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥

सीता जी, जो रेशमी साड़ी पहिने हुए थीं अपने पहिनने के लिये उन वल्कल वस्त्र को देख, उससे वैसे ही डरीं, जैसे हिरनी बहेलिया के जाल को देख डरती है ॥ ९ ॥

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः ।
कैकेयीकुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥

शुभलक्षणा जानकी जी ने लज्जित हो और दुःखी मन से कैकेयी के दिये वल्कलों को ले लिया ॥ १० ॥

अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा[1] धर्मदर्शिनी[2] ।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

पतिव्रतधर्म को जानने वाली पतिव्रता जानकी जी ने नेत्रों में आँसू भर, गन्धर्वराज के तुल्य अपने पति से, यह कहा ॥ ११ ॥

---

१ धर्मज्ञा—पातिव्रत्यधर्मज्ञा । (गो०) २ धर्मदर्शिनी—स्वानुष्ठानेन पातिव्रत्यधर्मप्रदर्शिनी । (गो०)

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः ।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

वनवासी मुनि किस प्रकार यह वल्कल वस्त्र पहिना करते हैं। यह कह वह मुनिवस्त्र पहिनने में अकुशल जानकी बार बार घबड़ाने लगी ॥ १२ ॥

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना ।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

तब इस कार्य में अनिपुण सीता जी उस वल्कल वस्त्र का एक छोर गले में लपेट और दूसरा छोर हाथ में ले लज्जित हो, वहाँ खड़ी रहीं ॥ १३ ॥

तस्यास्तत्क्षिप्रमागम्य रामो धर्मभृतांवरः ।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥१४॥

इतने में धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त उनके समीप जा कर, रेशमी साड़ी के ऊपर उस चीर को स्वयं बाँध दिया ॥१४॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बन्धन्तं चीरमुत्तमम् ।
अन्तःपुरगता नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र को सीता जी के चीर बाँधते देख, अन्तःपुर की सब स्त्रियाँ रोने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमायस्ता रामं ज्वलिततेजसम् ।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥ १६ ॥

और अत्यन्त कातर हो कर परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स ! तुम्हारे पिता ने इस मनस्विनी जानकी जी को वन जाने की आज्ञा नहीं दी ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् ।
तावद्दर्शनमस्यां नः सफलं भवतु प्रभो ॥ १७ ॥

पिता की आज्ञा मान तुम तो वन जाओगे ही, परन्तु जानकी जी को अपने साथ मत ले जाओ, जिससे हम सब इसीका मुख देख देख कर, अपना जीवन सफल कर सकें ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥ १८ ॥

हे वत्स ! तुम लक्ष्मण जी को अपनी सहायता के लिये अपने साथ ले जाओ, किन्तु कल्याणी जानकी तो तपस्वियों की तरह वन में रहने योग्य नहीं हैं ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी ।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥१९॥

हे राम ! यदि तुम इस समय धर्म के अनुरोध से यहां रहना नहीं चाहते, तो हमारी यह प्रार्थना मानों कि. सीता को यहीं छोड़ दो ॥ १९ ॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन्दशरथात्मजः ।
बबन्धैव तदा चीरं सीतया तुल्यशीलया[1] ॥ २० ॥

दशरथनन्दन ने उन रानियों के ये वचन सुन कर भी, जानकी जी को रहने में सम्मति न देख, उनके चीर बाँध ही तो दिये ॥२०॥

चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः ।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

---

१ तुल्यशीलया—अनङ्गीकृतानुगतस्थित्यासीतयाप्रेरितःसन् । (रा०)

सीता जी को चीर धारण किये हुए देख, महाराज के गुरु वशिष्ठ जी ने सीता जी को चीर वस्त्र धारण करने के लिये मना कर, कैकेयी से कहा ॥ २१ ॥

अतिप्रवृत्ते[1] दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।
वञ्चयित्वा च राजानं न प्रमाणे[2]ऽवतिष्ठसे ॥ २२ ॥

रे कुलकलङ्किनी ! अरी दुष्टबुद्धिवाली कैकेयी ! महाराज को धोखा दे कर, अपनी कामना या वरदान की सीमा के बाहिर तू काम करवा चुकी अर्थात् तू अति कर चुकी । ख़ैर जो किया सो किया, अब तो मर्यादा के भीतर रह ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति[3] रामस्य सीता प्रकृतमास[4]नम्[5] ॥ २३ ॥

अरे कैकेयी ! तुझमें शील तो रहा ही नहीं । सीता वन को न जायगी । वह श्रीरामचन्द्र जी के लिये तैयार हुए राजसिंहासन पर बैठेगी अर्थात् जब तक श्रीरामचन्द्र वन से लौट कर न आयेंगे तब तक सीता ही राज्य करेगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्[6] ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

क्योंकि सब गृहस्थों की स्त्रियाँ अपने अपने पतियों की अर्द्धाङ्गिनी होती हैं । अतः वे पति के समान ही पति के स्वत्वों

---

१ अतिप्रवृत्ते—अतिक्रम्यप्रवर्तमाने । (गो०) २ प्रमाणे—मर्यादायां । (गो०) ३ अनुष्ठास्यति—अधिष्ठास्यति । (गो०) ४ प्रकृतं—प्रस्तुतं । (गो०) ५ आसनम्—सिंहासनं । (गो०) ६ दारसंग्रहवर्तिनाम्—गृहस्थानां । (गो०)

की अधिकारिणी हैं। सीता जी भी श्रीरामचन्द्र की अर्द्धाङ्गिनी अथवा उनका रूप हैं। अतः ये भी पृथिवी का पालन अर्थात् राज्य करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता ।
वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥

यदि सीता जी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को गयीं, तो केवल हम ही नहीं, किन्तु सारी अयोध्यापुरी के लोग श्रीरामचन्द्र के साथ वन को चले जायंगे ॥ २५ ॥

[1]अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः ।
सहोपजीव्यं[2] राष्ट्रं[3] च पुरं[4] च सपरिच्छदम्[5] ॥२६॥

जहां सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी जायंगे, वहां ही ये सब ड्योढ़ीदार, राज्य भर में बसने वाले लोग तथा अयोध्यावासी धन धान्य और नौकरों चाकरों सहित चले जायंगे ॥ २६ ॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः ।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

भरत जी और शत्रुघ्न जी भी चीर पहिन कर तपस्वियों के वेश में अपने बड़े भाई के साथ वनवासी होंगे ॥ २७ ॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह ।
त्वमेका शासि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

---

१ अन्तपालाः—राष्ट्रान्तपरिपालकाः । (गो०) २ उपजीव्यं—जीवनसाधनं धनं । (शि०) । ३ राष्ट्रं—राष्ट्रस्थोजनः । (शि०) ४ पुरं—अयोध्या । (शि०) ५ सपरिच्छदम्—दासदासीशकटादिपरिकरयुक्तम् । (गो०)

तब इस राज्य की भूमि मनुष्यों से शून्य हो जायगी—केवल वृक्ष ही वृक्ष रह जायंगे। तब तू अकेली प्रजा की अहितकारिणी बन कर, पेड़ों पर राज्य करना ॥ २८ ॥

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

(तू अच्छी तरह समझ रख कि,) जहां श्रीरामचन्द्र का राज्य नहीं, वह स्थान राज्य कहला ही नहीं सकता और जहां पर श्रीरामचन्द्र जी रहेंगे—वह भले ही वन हो, तो भी वह राज्य कहा जायगा ॥ २९ ॥

न ह्यदत्तां[1] महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति।
त्वयि वा पुत्रवद्वृत्तं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥

महाराज अप्रसन्नतापूर्वक भरत को राज्य दे रहे हैं, सो भरत यदि महाराज के पुत्र होंगे, तो वे इस राज्य को कभी न लेंगे और न तेरे साथ पुत्रवत् वर्ताव करेंगे ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यति।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

भले ही तू पृथिवी छोड़ आकाश में चली जा, (अर्थात् मर जा) तो भी अपने कुल के चरित्र को जानने वाले भरत जी कभी अन्यथाचरण न करेंगे अर्थात् बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के रहते राज्य न करेंगे ॥ ३१ ॥

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या[2] पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके हि न स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

---

१ अदत्तां—प्रीतपूर्वकमदत्तां। (गो०) २ पुत्रगर्धिन्या—पुत्रविषयस्नेहयुक्तया। (गो०)

तू भरत की भलाई सोच, उनको जो राज्य दिला रही है, सो तू उनकी भलाई नहीं कर रही है ; प्रत्युत उनके लिये बुराई कर रही है, क्योंकि ऐसा कोई जन नहीं जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे न जाय ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् ।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान्[1] ॥ ३३ ॥

मनुष्यों की बात रहने दे, तू देखेगी कि, पशु, सर्प, मृग, पक्षी श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हैं। (जंगमों की बात भी जाने दे स्थावर) वृक्ष भी श्रीरामचन्द्र जी को वन जाते देख, उनके स्नेह में आसक्त हो, उनकी ओर झुक जायँगे—अर्थात् उनके साथ जाना चाहेंगे ॥ ३३ ॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय[2] चीरम् ।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥

अतएव हे देवि ! चीर को हटा कर अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण अपनी वधू (सीता) को पहिना, क्योंकि यह सीता चीर पहनने योग्य नहीं है । इस प्रकार कह कर वशिष्ठ जी ने सीता जी को चीरधारण कराने के लिये मना किया ॥ ३४ ॥

एकस्य रामस्य वने निवासः
त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।

---

१ तदुन्मुखान्—रामविषयस्नेहासक्तत्वं । (गो०) २ व्यपनीय—निरस्य । (गो०)

विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

हे राजा केकय की बेटी ! तूने तो अकेले श्रीरामचन्द्र के वनवास के लिये वर माँगा था । अतः जानकी जी वसन भूषण धारण कर (अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियों के अनुरूप शृङ्गार कर) श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में वसें । (अर्थात् उनके ऐसा करने से तेरी हानि ही क्या है) ? ॥ ३५ ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानैः[1]
नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

जब तू ने सीता को वन में भेजने का वरदान ही नहीं मांगा, तब वह अच्छी सवारी में बैठ और मुख्य मुख्य अपनी दासियों को साथ ले और अच्छे गहने कपड़े पहिन और शृङ्गार की अन्य सामग्री साथ ले वन में जाँय ॥ ३६ ॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्यामतिमप्रभावे ।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ विधानैः—शृङ्गाराद्युपकरणैः । (गो०)

अमित प्रभावशाली, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ एवं राजगुरु वशिष्ठ जी के इतना कहने पर भी, सीता ने उस चीर को न उतारा। उतारती क्यों, वे तो अपने प्यारे पति की तरह वन में रहना चाहती थीं ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अष्टात्रिंशः सर्गः

—:०:—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् ।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥

सनाथा सीता को अनाथा की तरह चीर पहिनते देख, जो वहाँ उपस्थित थे, चिल्लाये और महाराज दशरथ जी को धिक्कारने लगे ॥ १ ॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः ।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां[1] धर्मे यशसि चात्मनः ॥ २ ॥

इस महाकोलाहल को सुन, महाराज दुःखी हुए और अपने जीवन में, धर्म में, और यश में जो पहिले आदर था, उसे उन्होंने त्याग दिया ॥ २ ॥

स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् ।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥

---

१ श्रद्धां—आदरं । (गो०)

अष्टात्रिंशः सर्गः

उन्होंने उससे ले कर कैकेयी से यह कहा—हे कैकेयी ! कुशचीर धारण कर सीता न जायगी ॥ ३ ॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता ।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥

हमारे गुरु वशिष्ठ जी ने ठीक ही कहा है कि, सीता वन जाने योग्य नहीं है ; क्योंकि वह सुकुमारीबाला सदा सुख भोगने योग्य है ॥ ४ ॥

इयं हि कस्यापकरोति किञ्चि-
त्तपस्विनी राजवरस्य कन्या ।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा[1] श्रमणीव[2] काचित् ॥ ५ ॥

क्या नृपश्रेष्ठ महाराज जनक की कन्या ने किसी का कुछ बिगाड़ा है, जो यह लोगों की भीड़ में, चीर धारण कर, मुग्धा तपस्विनी की तरह खड़ी है ॥ ५ ॥

चीराण्यपास्याजनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा[3] सह सर्वरत्नैः[4] ॥ ६ ॥

मैंने यह वर नहीं दिया है कि, महाराज जनक की पुत्री भी चीर धारण करे । अतः यह राजपुत्री अपेक्षित वसन भूषण तथा समस्त उत्तम सामग्री सहित जाय ॥ ६ ॥

---

१ विसंज्ञा—मुग्धा । (गो०) २ श्रमणीव—तपस्विनीव । (गो०) ३ समग्रा—वस्त्रालङ्कार सम्पूर्णा । ४ सर्वरत्नैः—सर्वश्रेष्ठ वस्तुभिः । (गो०)

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि [1]बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्[2]-
तन्मां दहेद्वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥

मरने का समय निकट होने से मेरी बुद्धि बिगड़ गयी । इसीसे मैंने शपथपूर्वक तुझे वर देने की प्रतिज्ञा कर के जो मूर्खता का काम किया है, वह मुझे वैसे ही जला रहा है, जैसे बाँस का फूल बाँस को जलाता है ॥ ७ ॥

[बाँस का फूल जब फूलता है तब वह बाँस को सुखा देता है ।]

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम् ।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽथ मे ॥ ८ ॥

माना कि, श्रीरामचन्द्र ने तेरा कुछ बिगाड़ा था, पर अरे पापिन ! मुझे बता तो सही जानकी जी ने तेरा क्या बिगाड़ा था ॥ ८ ॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला तपस्विनी ।
अपकारं कमिह ते करोति जनकात्मजा ॥ ९ ॥

हिरनी के समान सुन्दर नेत्र वाली तथा तपस्विनी की तरह कोमल और शील स्वभाव वाली जानकी ने तेरा क्या बिगाड़ा है ॥ ९ ॥

ननु पर्याप्तमेतत्ते पापे रामविवासनम् ।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः ॥ १० ॥

---

१ बाल्यात्—बालिशत्वात् । (गो०) २ एतत्—प्रतिज्ञातं । (गो०)

अरी पापिन ! तुझे नरक में डालने के लिये श्रीरामचन्द्र को अकारण वनवास दिलाना ही पर्याप्त है, फिर न जाने अधिक दुष्ट कर्मों के करने से तेरी क्या गति होगी ॥ १० ॥

प्रतिज्ञातं[1] मया तावत्त्वयोक्तं देवि शृण्वता ।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥ ११ ॥

अभिषेक के लिये जब श्रीरामचन्द्र यहाँ आये थे, तब तूने इनसे यही न कहा था कि, तुम अपना अभिषेक न करा कर और चीर जटा धारण कर वन जाओ। तेरी यह बात सुन, हमने उसे (चुपचाप—"मौनं सम्मतिलक्षणम्" न्याय से) स्वीकार कर लिया। (उस समय तूने केवल श्रीरामचन्द्र ही का नाम लिया था, सीता का नहीं) ॥ ११ ॥

तत्त्वेतत्समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि ।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम् ॥ १२ ॥

सो तू उस बात को छोड़, नरक में जाया चाहती है। तभी तो तू सीता को मुनियों जैसे चीर पहिना वन में भेजती है ॥ १२ ॥

इतीव राजा विलपन्महात्मा
शोकस्य नान्तं स ददर्श किञ्चित् ।
भृशातुरत्वाच्च पपात भूमौ
तेनैव पुत्रव्यसने निमग्नः ॥ १३ ॥

महात्मा महाराज दशरथ विलाप कर तथा अपने शोक का पार न देख और अत्यन्त आतुर हो, पृथिवी पर गिर पड़े और पुत्र के वियोगजन्य दुःख (को स्मरण कर) में डूब गये ॥ १३ ॥

---

१ प्रतिज्ञातं—अङ्गीकृतम् । (शि०)

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते हुए और नीचा सिर किये हुए पिता महाराज दशरथ से, वन जाने के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र यह वचन बोले ॥ १४ ॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥ १५ ॥

हे देव ! यह मेरी माता कौशल्या जो पतिव्रता है, यशस्विनी है, बूढ़ी है, उत्तम स्वभाव वाली है और जो कभी आपकी निन्दा नहीं करती ॥ १५ ॥

मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् ।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः[1] सम्मन्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे वरद ! मेरे बिना यह शोकसागर में डूब जायगी । इसने कभी पहिले दुःख नहीं देखा, अतः आप इसका अत्यन्त सम्मान कीजियेगा ॥ १६ ॥

पुत्रशोकं यथा नच्छेत्त्वया पूज्येन पूजिता ।
मां हि सञ्चिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत्तपस्विनी ॥१७॥

आप पूज्य हैं, आप इसका ऐसा सम्मान या सत्कार करें, जिससे इसे पुत्र-वियोग-जन्य शोक न होने पावे और मेरे वियोग को सह सके तथा आपके भरोसे जीती रहे ॥ १७ ॥

---

१ भूयः—अतिशयेन । (गो०)

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥ १८ ॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली महाराज ! आप, पुत्रवत्सला मेरी माता को इस तरह रखना, जिससे मेरे वन में रहने के समय, वह क्षीणबला हो मर न जाय और यमलोक न चली जाय ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन और उनको मुनि का वेष धारण किये हुए देख, महाराज अपनी रानियों सहित मूर्च्छित हो गये ॥ १ ॥

नैनं दुःखेन सन्तप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःख से सन्तप्त हो, उदास मन महाराज न तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख सकते थे और न उनकी ओर देख कर, उनसे बोल ही सकते थे ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

महाराज दशरथ दुःखित हो, एक मुहूर्त तक अचेत पड़े रहे। तदनन्तर महाबाहु दशरथ चैतन्य हो, श्रीराम का स्मरण कर, अनेक प्रकार के विलाप करने लगे ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तस्मादिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

हम मानते हैं कि, हमने निस्सन्देह पूर्वजन्म में बहुत सी गौओं के बछड़े उनसे अलग कर दिये हैं अथवा बहुत से प्राणियों का वध किया है; इसीसे यह दुःख हमारे ऊपर पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

विना समय आये शरीर से प्राण नहीं निकलते। क्योंकि कैकेयी हमें इतना क्लेश दे रही है, तिस पर भी हमें मौत नहीं आती ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसङ्काशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

हा! अग्नि के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र को हम अपने आगे खड़ा और राजसी वस्त्र त्याग कर, मुनिवस्त्र पहिने देख रहे हैं ॥ ६ ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं क्लिश्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं[1] त्विमाम् ॥७॥

---

१ निकृतिः—शाठ्यं । (गो०)

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

निश्चय ही अकेली कैकेयी की करतूत ही से इतने लोग कष्ट पा रहे हैं। वह यह शठता का प्रयत्न केवल स्वार्थसाधन के लिये कर रही है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं वाष्पेण पिहितेक्षणः* ।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥ ८ ॥

ऐसा कह कर, महाराज ने नेत्रों में आंसू भर एक बार "राम" कहा ; किन्तु इसके आगे वे कुछ भी न बोल सके ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

एक मुहूर्त बाद जब महाराज को चेत हुआ, तब उन्होंने आंखों में आंसू भर, सुमंत्र से यह कहा ॥ ९ ॥

औपवाह्यं[1] रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम् ॥ १० ॥

तुम, उत्तम घोड़े जोत कर, सवारी करने योग्य रथ ले आओ और इस महाभाग श्रीरामचन्द्र को उस पर सवार कर इस नगर से बाहिर पहुँचाओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

अब हम समझे कि, गुणी पुरुषों के गुणवान होने का यही फल है कि, ऐसे साधु और वीर पुत्र, पिता माता द्वारा वन में निकाले जाते हैं, (अर्थात् अब से गुणी होना भी ठीक नहीं) ॥ ११ ॥

---

१ औपवाह्यं—उपवहनमात्रयोग्यं । (तो०) * पाठान्तरे—"विहितेन्द्रियः ।"

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः[1] ।
योजयित्वाऽऽययौ तत्र रथमश्वैरलङ्कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज की आज्ञा पा कर, सुमंत्र तुरन्त घोड़े जोत कर, अच्छी तरह सजा हुआ एक रथ ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

और उस सुवर्णभूषित और बढ़िया घोड़ों से युक्त रथ को राजकुमार (श्रीरामचन्द्र) के सामने खड़ा कर तथा हाथ जोड़ कर सुमंत्र ने उनसे कहा, "रथ तैयार है" ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं[2] वित्तसञ्चये[3] ।
उवाच देशकालज्ञं निश्चितं[4] सर्वतः शुचिम्[5] ॥ १४ ॥

तदनन्तर महाराज ने तुरन्त अपने उस खजानची को बुलाया, जो जानता था कि, कौन वस्तु कहाँ धरी है और जो सब प्रकार से मन का और हाथ का सच्चा (ईमानदार) था । उससे महाराज ने देश और काल के अनुरूप यह वचन कहा ॥ १४ ॥

वासांसि च महार्हाणि भूषणानि वराणि च ।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

अच्छे अच्छे कपड़े और बहुमूल्य आभूषण जो चौदह वर्ष को जानकी के लिये पर्याप्त हों—शीघ्र जा कर ले आओ ॥ १५ ॥

---

१ शीघ्रविक्रमः—शीघ्रपदविक्षेपः । (गो०) २ व्यापृतं—अध्यक्षत्वेन व्यापृतं, धनाध्यक्षं । (गो०) ३ वित्तसञ्चये—कोशगृहे । (गो०) ४ निश्चितं—यावदवस्थितत्तद्वस्तुविषयनिश्चितज्ञानवन्तं । (गो०) ५ शुचिम्—बाह्यान्तरशुद्धियुक्तं । (गो०)

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।
प्रायच्छत्सर्वमाहृत्य सीतायै सममेव तत् ॥ १६ ॥

महाराज की ऐसी आज्ञा पा कर कोषाध्यक्ष कोशागार में गया और जिन जिन वस्तुओं को लाने के लिये महाराज ने कहा था, उन सब को ला कर सीता जी को दे दिया ॥ १६ ॥

सा सुजाता[1] सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

अयोनिसम्भूत सीता जी ने वन जाने के समय उन विचित्र भूषणों और वस्त्रों से अपने शरीर को शोभित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत्सुविभूषिता ।
उद्यतांशुमतः[2] काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

जानकी जी ने उस समय वस्त्राभूषण धारण कर, उस घर को सुशोभित ऐसा किया जैसे प्रातःकाल अर्थात् उदयकाल में सूर्य की प्रशस्त किरणें आकाश को भूषित करती हैं ॥ १८ ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य [3]श्वश्रूर्वचनमब्रवीत् ।
अनाचरन्तीं[4] कृपणं[5] मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥१९॥

कौशल्या जी ने अच्छे आचरण करने वाली जानकी जी को हृदय से लगाया और मस्तक को सूँघ, यह कहा ॥ १९ ॥

---

१ सुजाता—सुजन्मा अयोनिजेतियावत् । (गो०) २ अंशुमता—प्रशस्त-किरणस्य । (गो०) ३ श्वश्रूः—कौसल्या । (गो०) ४ अनाचरन्तीं अकुर्वन्तीं । (गो०) ५ कृपणं—क्षुद्रं । (गो०)

असत्यः[1] सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते[2] विनिपातगतं[3] स्त्रियः ॥ २० ॥

सब लोकों में जो कुलटा स्त्रियाँ होती हैं, उनका उनकी चाही हुई प्रिय वस्तुओं से भले ही सदैव सत्कार ही क्यों न किया जाय, किन्तु पति पर विपत्ति पड़ने पर ऐसी स्त्रियाँ अपने पति को नहीं मानती अर्थात् जैसा आदर वे समृद्ध काल में अपने पतियों का करती हैं—वैसा आदर सत्कार वे अपने पतियों का विपत्ति के समय नहीं करतीं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

वास्तव में कुलटा स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पहले सुख को भोग कर भी, ज्योंही जरा भी विपत्ति पड़ी कि त्योंही वे पति पर केवल दूषण ही नहीं लगाने लगती बल्कि पति को छोड़ भी बैठती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता[4] दुर्ग्राह्यहृदयाः सदा ।
युवत्यः पापसङ्कल्पाः क्षणमात्राद्विरागिणः[5] ॥ २२ ॥

संसार में अधिक स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जो सदा झूठ बोला करती हैं, जिनको देखते ही देखने वाले के मन में विकार उत्पन्न होता है, उनके मन की बात बड़ी कठिनाई से जानी जाती है, वे

---

१ असत्यः—कुलटाः । (गो०) २ नानुमन्यन्ते—नगणयन्ति । (गो०) ३ विनिपातगतं—स्वस्थानात्प्रच्युतिं प्राप्तं । (गो०) ४ विकृताः—दर्शनमात्रेण विकारोत्पादिकाः । (शि०) ५ क्षणमात्राद्विरागिणाः—क्षणमात्रेण त्यक्त्वानुरागः । (वि०)

सदा हृदयशून्य होती हैं। वे अपने को सदा जवान ही समझती रहती हैं, उनके मन में नाना प्रकार के पापपूरित संकल्प उठा करते हैं और वे क्षणमात्र में चिरपोषित प्रीति को तिनके की तरह तोड़ डालती हैं, अथवा बात बात में बिगड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि संग्रहम्[1] ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

न तो प्रशस्त कुल, न उपकार, न गुरूपदिष्ट धर्मविद्या, न वस्त्राभूषणादि का दान, न वैवाहिक बन्धन ही (अथवा उनको बाँध कर रखना ही) इन कुलटा स्त्रियों के मन को वश में कर सकता है। क्योंकि ये सब बड़ी चञ्चल स्वभाव की होती हैं ॥ २३ ॥

[कुलटा स्त्रियों के लक्षण समझा कर, आगे कौशल्या जी सती स्त्रियों के लक्षण बतलाती हैं।]

साध्वीनां हि स्थितानां[2] तु शीले[3] सत्ये श्रुते[4] शमे[5] ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते[6] ॥ २४ ॥

जो सती और पतिव्रता स्त्रियाँ होती हैं, वे कुलोचित आचरण वालीं, सत्य में आस्था रखने वालीं, गुरुजनों के उपदेश में श्रद्धा रखने वालीं और शान्तचित्त वालीं होती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिये उनका केवल पति ही परम पवित्र और सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २४ ॥

---

१ संग्रहं—अग्निसाक्षिकपाणिग्रहणं । (गो०)—दृष्टे विदोषे स्वीकारः यद्वा संग्रहो बंधनादि । (रा०) २ स्थितानां—पतिव्रतानाम् स्त्रीणाम् । (रा०) ३ शीले—कुलोचितचरित्रे । (गो०) ४ श्रुते—गुरुजनकृतोपदेशे । (गो०) ५ शमे—शान्तौच (गो०) ६ विशिष्यते—उत्कृष्टोभवति । (गो०)

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो मम ।
तव दैवतमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

अतः तू मेरे पुत्र का जो वनवास करने के लिये उद्यत है, अपमान मत करना । क्योंकि चाहे वह धनी है, चाहे निर्धन ; तेरे लिये तो वह देवता के समान ही पूज्य एवं मान्य है ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिताम् ॥ २६ ॥

तब सीता जी सास के धर्म और अर्थ युक्त इन वचनों का अभिप्राय समझ, सास के सामने जा और हाथ जोड़ कर, यह बोलीं ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुसास्ति माम् ।
अभिज्ञाऽस्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं[1] श्रुतं[2] च मे ॥ २७ ॥

हे आर्ये ! आपने मुझे जैसी आज्ञा दी है, मैं तदनुसार ही करूँगी । स्त्री को अपने पति की, जिस प्रकार सेवा करनी चाहिये वह मैं जानती हूँ । क्योंकि मैं माता पिता के मुख से यह सब सुन चुकी हूँ ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

हे आर्ये ! आप मुझे असती स्त्रियों के समान न समझें । मैं धर्म से कभी भी विचलित नहीं हो सकती ; जैसे चन्द्रमा की प्रभा चन्द्रमा से कभी भी विचलित नहीं होती ॥ २८ ॥

---

१ वर्तितव्यं—शुश्रूषितव्यं । (गो०) २ श्रुतं—मातापितृभ्यां इति शेषः । (गो०)

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

जिस प्रकार बिना तार की वीणा नहीं बजती, बिना पहिये का रथ नहीं चलता, उसी प्रकार स्त्री सौ पुत्रवाली हो क्यों न हो, उसे बिना पति के सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

क्या पिता, क्या माता और क्या पुत्र—ये सब तो थोड़े थोड़े सुख के देने वाले हैं। परन्तु पति, जो अमित सुख का देने वाला है, उसका ऐसी कौन (अभागी) स्त्री होगी, जो आदर न करेगी। (अर्थात् पति से इहलोक और परलोक में भी स्त्री को अपरिमिति सुख मिलता है)॥ ३० ॥

साऽहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।
आर्ये किमवमन्येऽहं स्त्रीणां भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

मैं पतिव्रत धर्म की सब बातें धर्म जानने वाले श्रेष्ठ लोगों से सुन कर जान चुकी हूँ। सो मैं, यह जान कर भी कि, स्त्री के लिये उसका पति ही देवता है; मैं पति का अनादर क्यों करूँगी (अर्थात् कभी न करूँगी) ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम्[1] ।
शुद्धसत्त्वा[2] सुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम्[3] ॥ ३२ ॥

---

१ हृदयङ्गमम्—मनोहरं । (शि०) २ शुद्धसत्त्वा—शुद्धचित्ता । (शि०)
३ दुःखहर्षजम्—पुत्रादेर्वनगमनेन दुःखं, सीतायावाक्यश्रवणेन च हर्षः । (रा०)

भोलीभाली माता कौशल्या, जो श्रीरामचन्द्र के वनगमन से दुखी हो, आंसू गिरा रही थी, सीता जी के ये मनोहरवचन सुन, सहसा प्रसन्न हो गयी ॥ ३२ ॥

तां माञ्जलिरभिक्रम्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

सब माताओं में अधिक पूज्य कौशल्या की परिक्रमा कर, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ कर, कहा ॥ ३३ ॥

अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम ।
क्षयो हि वनवासस्य[1] क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

हे अम्मा ! (मेरे वन जाने के बाद) तुम दुःखी हो, मेरे पिता की ओर मत देखना ; क्योंकि वनवास की अवधि शीघ्र ही पूरी हो जायगी ॥ ३४ ॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
सा समग्रमिह[2] प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥

ये चौदह वर्ष तुझे ऐसे कट जायँगे जैसे सोने में एक रात कट जाती है । अथवा तुझे ये १४ वर्ष एक रात के समान जान पड़ेंगे । पिता की आज्ञा पालन कर, सुहृदों सहित तू मुझे यहां आया हुआ देखेगी ॥ ३५ ॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।
त्रयः शतशतार्थाश्च ददर्शावेक्ष्य[3] मातरः ॥ ३६ ॥

---

१ वनवासस्य—वनवासकालस्य । (गो०) २ समग्रं—सम्पूर्णं मनोरथं अथवा निर्वर्तितपितृवचनं । (गो०) ३ ददर्शावेक्ष्य—वक्तव्यं आलोक्य । (गो०)

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच गये होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय का न्ववस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया । ज़रा विचारो तो उनकी अब क्या दशा होगी ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है । यह तरुण अवस्था उनकी राजसुख भोगने की थी ; किन्तु ऐसे समय वे वन में भेज दिये गये हैं । मेरी समझ में नहीं आता कि, वे बेचारे कन्दमूल फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सभार्यं यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

क्या मेरे भाग्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥ ९ ॥

सुप्त्वैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥

मुरजपणवमेघघोषव-
दशरथवेश्म बभूव यत्पुरा ।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत्सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हा ! महाराज के जिस भवन में पहले मृदङ्ग ढोल के मेघ-गर्जनवत् शब्द हुआ करते थे, वही भवन आज रानियों के करुण-पूर्ण आर्तनाद और परिताप के अत्यन्त दुःख से भर गया ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः[1] प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥

अनन्तर दीन दुःखी श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी और लक्ष्मण सहित महाराज दशरथ के चरणों को स्पर्श कर, प्रणाम किया और प्रदक्षिणा की ॥ १ ॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सीतया सह ।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥

पिता जी से विदा माँग, सीता सहित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने शोक से विकल कौशल्या जी को प्रणाम किया ॥ २ ॥

---

१ उपसंगृह्य—पादग्रहणपूर्वकंप्रणम्य । (गो०)

अन्वक्षं[1] लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत् ।
अथ मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम कर चुकने पर लक्ष्मण जी ने कौशल्या को प्रणाम किया । तदनन्तर अपनी जननी सुमित्रा के चरण छुए ॥ ३ ॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

रुदन करती हुई और लक्ष्मण का हित चाहने वाली माता सुमित्रा ने, महाबाहु लक्ष्मण का सिर सूँघ कर उनसे कहा ॥ ४ ॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र को लोकरक्षणार्थ उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मैंने श्रीरामचन्द्र में अनुराग रखने वाले और उनके साथ वन जाने के लिये तुम्हें जना है । अतः श्रीराम के वन जाने पर तुम वहाँ उनकी सेवा शुश्रूषा में असावधानी मत करना । (अथवा ऐसा न करना कि, श्रीरामचन्द्र जी तो वन जायँ और तुम बीच ही में रह जाओ—भूषण) ॥ ५ ॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥ ६ ॥

हे अनघ ! चाहे यह दुःखी हों या सुखी हों, (तुम जान रखो कि, यही) तुम्हारी एक मात्र गति हैं अर्थात् तुम्हारे ये ही सर्वस्व

---

१ अन्वक्षं—अनुपद (गो०)

हैं। लोक में सज्जनों का धर्म ही यह है कि, बड़ों के कहने में चलना ॥ ६ ॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ॥ ७ ॥

विशेष कर के इस वंश की तो पुरानी रीति यह है कि, दान देना, यज्ञ करना और संग्राम में शरीर त्याग करना ॥ ७ ॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं[1] प्रियराघवम् ।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनःपुनरुवाच तम् ॥ ८ ॥

सुमित्रा ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा और उनको वन जाने के लिये तत्पर देख और उनको श्रीरामचन्द्र जी का प्यारा जान, सुमित्रा जी उनसे बारंबार कहने लगीं ; बेटा ! देर मत करो, जल्दी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को जाओ ॥ ८ ॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छं तात यथासुखम् ॥ ९ ॥

हे वत्स ! (माता, पिता, घर द्वार और देश छूटने का सोच मत करना और वहां अपना मन प्रसन्न रखने के लिये) श्रीरामचन्द्र को महाराज दशरथ के समान, जानकी को मेरे समान और वन को अयोध्या के समान जानना ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥ १० ॥

---

१ संसिद्धं—गमनोद्युक्तं । (गो०)

तदनन्तर सुमंत्र हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से उसी प्रकार बोले, जैसे मातलि इन्द्र से बोलता है ॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
क्षिप्रं त्वां शापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसि ॥११॥

हे महायशस्वी राजपुत्र ! आप रथ पर सवार हों । आप जहां कहेंगे, वहीं मैं आपको तुरन्त पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया ।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्याऽसि चोदितः ॥ १२ ॥

आपको १४ वर्ष वन में वास करना है, सो कैकेयी की प्रेरणा के अनुसार आज ही से उसका आरम्भ कीजिये ॥ १२ ॥

तं रथं सूर्यसङ्काशं सीता हृष्टेन चेतसा ।
आरुरोह वरारोहा कृत्वा[1]लङ्कारमात्मनः ॥ १३ ॥

तब सुन्दर मुख वाली जनकनन्दिनी प्रफुल्ल मन से ससुर के दिये हुए अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों सहित, सब से प्रथम सूर्य से समान (चमकीले) रथ पर चढ़ीं ॥ १३ ॥

अथो ज्वलनसङ्काशं[2] चामीकरविभूषितम् ।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण भी उस सुवर्णभूषित और आयुधों से सज्जित रथ पर सवार हुए ॥ १४ ॥

---

१ अलंकारंकृत्वा—श्वशुरदत्तवस्त्राभरणादिभिः इतिशेषः । (गो०)

२ ज्वलनसङ्काशं—आयुधपूर्णत्वादितिभावः । (गो०)

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ ॥ १५ ॥

सीता जी के ससुर महाराज दशरथ ने वनवास के दिनों को गिन, पति के साथ वन जाती हुई सीता को, जिस प्रकार गहने कपड़े दिये थे ॥ १५ ॥

तथैवायुधजालानि भ्रातृभ्यां कवचानि च ।
रथोपस्थे प्रतिन्यस्य सचर्म कठिनं च तत् ॥ १६ ॥

वैसे ही महाराज ने दोनों भाइयों के लिये बहुत से अस्त्र शस्त्र, कवच, उत्तम मज़बूत ढालें भी रथ पर रखवा दी थीं ॥ १६ ॥

सीतातृतीयानारूढान्दृष्ट्वा[1] धृष्टमचोदयत् ।
सुमन्त्रः [2]सम्मतानश्वान्वायुवेगसमाञ्जवे ॥ १७ ॥

सुमंत्र ने तीनों को रथ पर बैठे हुए देख, उन वायु तुल्य तेज़ चाल से चलने वाले अपने पसंद किये हुए घोड़ों को, सावधानी के साथ आगे बढ़ाया ॥ १७ ॥

प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय[3] राघवे ।
बभूव नगरे मूर्छा बलमूर्छा[4] जनस्य च ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बहुत दिनों के लिये दण्डकवन को प्रस्थान करते ही, केवल नगरवासी या बाल वृद्ध स्त्री पुरुष ही नहीं, किन्तु राजसैन्य के हाथी घोड़े तक अपने आपे में न रहे ॥ १८ ॥

---

१ धृष्टं—सधैर्यं । (गो० २ सम्मतान्—श्रेष्ठान् । (गो०) ३ चिररात्राय—चिरकालं । (गो०) ४ बलमूर्च्छा—अश्वगजादिमोहः । (गो०)

तत्समाकुल[1]सम्भ्रान्तं मत्तसङ्कुपितद्विपम् ।
हयशिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम् ॥ १९ ॥

वहाँ जितने लोग थे, वे सब क्षुब्ध और क्रुद्ध हो, मतवालों की तरह हो गये। हाथी बिगड़ गये, घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्यापुरी में हलचल मच गयी ॥ १९ ॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्ता सलिलं यथा ॥ २० ॥

अयोध्या के क्या बालक और क्या बूढ़े और क्या युवक—सभी अत्यन्त विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे वैसे ही दौड़ने लगे, जैसे घाम से सताया हुआ जीव पानी की ओर दौड़ता है ॥ २० ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः[2] ।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिस्वनाः ॥ २१ ॥

कोई तो रथ की अगल बगल, और कोई रथ के पीछे, श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये ऊपर को मुख उठाये चले जाते थे। सब के सब उस समय रो रहे थे और चिल्ला चिल्ला कर सुमंत्र से कह रहे थे ॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन्सूत याहि शनैः शनैः ।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥ २२ ॥

---

१ समाकुलं—अन्तःकरणक्षोभयुक्तं । (गो०) २ उदन्मुखा—रामम् पश्यन्त । (शि०)

हे सूत ! घोड़ों की रास कड़ी करो, रथ धीरे धीरे चलाओ। श्रीरामचन्द्र जी का मुख हमें ज़रा देख लेने दो। क्योंकि हमारे लिये अब इनके मुख का दर्शन दुर्लभ हो जायगा ॥ २२ ॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम् ।
यद्देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥ २३ ॥

अब हमको निश्चय हो गया कि, श्रीरामचन्द्र जी की माता का हृदय लोहे का है। क्योंकि देव समान इन श्रीरामचन्द्र को वन जाते देख, वह फट क्यों नहीं गया ॥ २३ ॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् ।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ २४ ॥

धन्य है वैदेही, जो अपने पति के पीछे शरीर की छाया की तरह उसी प्रकार जा रही है और पातिव्रतधर्म में दृढ़ है, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को नहीं छोड़ती ॥ २४ ॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् ।
भ्रातरं देवसङ्काशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥

अहो लक्ष्मण ! तुम भी कृतार्थ हुए, जो तुम सदैव प्रियवादी और देवतुल्य भाई को वन में सेवा करोगे ॥ २५ ॥

महत्येषा हि ते सिद्धिरेष चाभ्युदयो महान् ।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥

यही तुम्हारे लिये बड़ी सिद्धि है और यही तुम्हारे लिये महान् अभ्युदय है और यही तुम्हारे लिये स्वर्ग जाने का मार्ग है, जो तुम अपने भाई के अनुगामी हुए हो ॥ २६ ॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम् ।
नरास्तमनुगच्छन्तः प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

प्यारे इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाते हुए और इस प्रकार कहते हुए लोग आँसुओं को न रोक सके अर्थात् रोने लगे ॥ २७ ॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः ।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्गृहात् ॥ २८ ॥

उधर राजभवन में दीनदुखी महाराज दशरथ शोक से विकल रानियों सहित यह कहते हुए "मैं अपने प्यारे बेटे को देखूँगा" भवन से पैदल ही निकल पड़े ॥ २८ ॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदन्तीनां महास्वनः ।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

हाथी को ज़ंजीरों में बँधा देख, जिस प्रकार हथिनी चिंघाड़ मारती है, उसी तरह अति ज़ोर से स्त्रियों के रोने का शब्द महाराज दशरथ ने सुना ॥ २९ ॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान्सन्न[1]स्तदाऽभवत् ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ हतश्री और हततेज वैसे ही हो गये, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा राहु से ग्रसे जाने पर हततेज और हतश्री हो जाता है ॥ ३० ॥

---

१ सन्नः—अवसन्नतेजा । (गो०)

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा[1] रामो दशरथात्मजः ।
सूतं सञ्चोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जिनको साधारण लोग नहीं पहिचान सकते थे, सूत से बोले कि, रथ जल्दी जल्दी हाँकों ॥ ३१ ॥

रामो याहीति सूतं तं तिष्ठेति स जनस्तदा ।
उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी तो रथ शीघ्र हाँकने को कहते और उधर प्रजाजन कहते कि, रथ धीरे धीरे चलाओ । ऐसी दशा में सुमंत्र न तो रथ को तेज़ ही चला सके और न खड़ा ही कर सकते थे—बेचारे बड़े सङ्कट में थे ॥ ३२ ॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः ।
पतितैरभ्युपहितं प्रशशाम महीरजः ॥ ३३ ॥

जिस समय महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी बन जाने लगे, उस समय उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पुरवासियों की अश्रुधारा से दब गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्[2] ।
प्रयाणे राघवस्यासीत्पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रयाण के समय अयोध्यापुरी के रहने वाले हाहाकार कर रोते रोते किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये—लोगों को बड़ा ही दुःख हुआ ॥ ३४ ॥

---

१ अचिन्त्यात्मा—प्राकृतजनैरचिन्त्यस्वरूपः । (वि०) २ अचेतनम्—मूढं । (गो०)

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामास्रमायाससम्भवम् ।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

उस समय स्त्रियों के नेत्रों से ऐसा अश्रुधारा बह रही थी, जैसे मछलियों के खलबला देने से कमल के पत्तों पर गिरा हुआ जल बहता है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं[1] पुरम् ।
निपपातैव दुःखेन हतमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

महाराज सारे नगरवासियों को दुखी देख, जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः ।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे जो लोग थे, वे महाराज की यह महादुःखपूर्ण दशा देख, हाहाकार करने लगे ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद्राममातेति चापरे ।
अन्तःपुरं समृद्धं च क्रोशन्तः पर्यदेवयन्[2] ॥ ३८ ॥

महाराज को तथा उनके रनवास की समस्त रानियों और नौकर चाकरों को दुःखी देख, कोई कहता "हा राम!" और कोई कहता "हा कौशल्ये!"—सारांश यह कि, उस समय सब लोग रुदन कर रहे थे ॥ ३८ ॥

---

१ एकचित्तगतं—दुःखेनैकचित्ततांगतम् । (रा०) २ पर्यदेवयन्—अरुदन् । (गो०)

अन्वीक्षमाणो[1] रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

इस प्रकार लोगों का रोना और चिल्लाना सुन, जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने पीछे की ओर देखा कि, उनके पिता महाराज दशरथ और उनकी माता कौशल्या पैदल ही उनके पीछे चली आ रही हैं और वे विषाद से ग्रसित हैं और भ्रान्तचित्त हैं ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।
धर्मपाशेन संक्षिप्तः[2] प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

बंधा हुआ घोड़ी का बच्चा जिस प्रकार अपनी माता को देख नहीं पाता, उसी प्रकार सत्य के पाश में बँधे होने के कारण श्रीरामचन्द्र जी ने (माता पिता की यह दशा देख कर भी) उधर से दृष्टि फेर ली ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ ।
दृष्ट्वा सञ्चोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

सदा सवारी में चलने वाले, जिन्होंने कभी सुख को छोड़ दुःख जाना ही नहीं, उनको पैदल चले आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से रथ शीघ्र हाँकने को कहा ॥ ४१ ॥

न हि तत्पुरुषव्याघ्रो दुःखदं दर्शनं पितुः ।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ ४२ ॥

---

१ अन्वीक्षमाणः—आक्रोशानुसारेणपश्चात्सामान्यतईक्षमाणः । (गो०)

२ संक्षिप्तः—बद्ध इति यावत् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी अपने माता पिता की यह अवस्था न देख सके, उस समय उनकी वैसी ही दशा थी जैसी कि, किसी मतवाले हाथी की अंकुश लगने से होती है ॥ ४२ ॥

प्रत्यागारमिवायान्ती वत्सला वत्सकारणात् ।
वद्धवत्सा यथा धेनू राममाताऽभ्यधावत ॥ ४३ ॥

गोष्ठ में बँधे हुए बच्चे की क्षुधा कर दिन भर वन में रही हुई गौ, जैसे शाम को गोठ की ओर दौड़ती है, वैसे ही कौशल्या जी भी दौड़ीं ॥ ४३ ॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम् ।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥४४॥

रुदन करती हुई कौशल्या रथ के पीछे दौड़ी चली जाती थीं और हा राम, हा सीता, हा लक्ष्मण कह कर चिल्ला रही थीं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम् ।
असकृत्सैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव[1] मातरम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने एक बार फिर कर देखा कि, उनकी माता राम, लक्ष्मण सीता के लिये रुदन करती एवं गिरती पड़ती चक्कर खाती चली आ रही हैं ॥ ४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः ।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा [2]चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

---

१ नृत्यन्तीमिव—तद्वदितस्ततः परिभ्रमन्तीमिव । (गो०) २ चक्रयोरिवचान्तरा—चक्रयोर्युयुत्ससेनयोरन्तरास्थितः उदासीनः पुरुष इव सुमंत्रस्यात्मामनःदोलयितो बभूव । (रा० तथा वि०)

इधर तो महाराज दशरथ सुमंत्र से कहते थे ठहरो ठहरो और उधर श्रीरामचन्द्र जी कहते थे शीघ्र चलो शीघ्र चलो। उस समय सुमंत्र उसी प्रकार घबड़ा उठे, जिस प्रकार युद्धार्थ खड़ी हुई सेनाओं के बीच खड़ा उदासीन मनुष्य घबड़ा उठता है। (अर्थात् सुमंत्र पशोपेश में पड़े हुए थे कि, महाराज की आज्ञा का पालन करें कि, श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा का पालन करें) ॥ ४६ ॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं[1] दुःखस्य [2]पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सूत से कहा कि, तुम जब लौट कर महाराज के पास आओ, तब यदि महाराज तुमसे पूँछें कि, मेरी आज्ञा की अवहेला कर रथ क्यों नहीं ठहराया; तब कह देना कि, (रथ की गड़गड़ाहट और लोगों के रुदन के चीत्कार में) मैंने आपकी बात सुनी नहीं। क्योंकि इस समय जो दुःख हो रहा है, वह यहाँ ठहर कर देर करने से और भी अधिक हो जायगा। अर्थात् यहाँ ठहरने से सिवाय दुःख और कष्ट बढ़ जाने के और कुछ भी लाभ नहीं है ॥ ४७ ॥

रामस्य स वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम् ।
व्रजतोऽपि[3] हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

तब सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी का कहना माना और जो लोग रथ के पीछे आ रहे थे, उनसे जाने के लिये कहा, और तब चलते हुए घोड़ों को तेज़ दौड़ाया ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
मनसाप्यश्रुवेगैश्च न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

---

१ चिरं...इति—दुःखस्य इदानीमनुभूयमान-दुःखस्याचिरं विलम्बः । (गो०) २ पापिष्टं—अति दुःसहं । (गो०) ३ व्रजतोऽपि—गच्छतोपि पुनः । (रा०)

जिस समय रथ तेज़ी से चला, उस समय महाराज के कुटुम्ब के लोग श्रीरामचन्द्र जी को मन से परिक्रमा कर, शरीर से लौट आये, परन्तु मन से नहीं लौटे, किन्तु अन्य पुरवासी जन तो मन से भी न लौटे और इसी लिये उनका अश्रुवेग भी न थमा ॥ ४६ ॥

यमिच्छेत्पुनरायान्तं नैनं दूरमनुव्रजेत् ।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

मंत्रिवर्ग ने महाराज से कहा कि, जिसका शीघ्र पुनरागमन चाहे, उसको पहुँचाने के लिये दूर तक न जाना चाहिये ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नं
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः ।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

शास्त्र का ऐसा वचन सुन, महाराज दशरथ जी, (रथ के पीछे दौड़ने के कारण) जो पसीने से सराबोर और शोक से दीन हो रहे थे, रानियों सहित श्रीरामचन्द्र जी की ओर टकटकी लगाये वहीं खड़े हो गये। अर्थात् रथ के पीछे फिर न गये। (धर्मशास्त्र की आज्ञा अथवा मंत्रियों के युक्तियुक्त वचन के आगे पुत्रस्नेह दब गया) ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे विनिर्याते कृताञ्जलौ ।
आर्तशब्दोऽथ संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥

हाथ जोड़े विदा होते हुए पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने पर, अन्तःपुर की स्त्रियों ने बड़ा हाहाकार मचाया ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः ।
यो गतिः शरणं चासीत्स नाथः क्वनु गच्छति ॥२॥

वे विलाप कर के कहने लगीं—जो अनाथों, दुर्बलों और शोचनीय मनुष्यों के एकमात्र अवलंब और रक्षक हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ २ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्समदुःख क्वचिद्गतः ॥ ३ ॥

जो कठोर वचन कहने पर भी कभी क्रोध नहीं करते हैं और न किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित हुए जन को प्रसन्न करने वाले हैं तथा जो सब के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझने वाले हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ ३ ॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क्वनु गच्छति ॥ ४ ॥

जो महातेजस्वी अपनी जननी कौशल्या की तरह ही हम सब को माता मानते हैं, वे महात्मा अब कहाँ जा रहे हैं ॥ ४ ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा सञ्चोदितो वनम् ।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क्वनु गच्छति ॥ ५ ॥

कैकेयी से सताये जा कर और महाराज द्वारा वनवास के लिये प्रेरित हो, इस जगत के समस्त जनों के रक्षक श्रीरामचन्द्र कहाँ चले जाते हैं ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनो[1] राजा जीवलोकस्य सम्प्रियम् ।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

हा ! महाराज की बुद्धि पर तो पत्थर पड़े हैं, जो धर्मात्मा सत्यवादी और जीवों के पूर्ण रीति से प्रीतिपात्र श्रीराम को वनवास दे रहे हैं ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे सब रानियाँ बछड़ा रहित गौ की तरह शोकार्त्त हो, रोने लगीं और उच्चस्वर से विलाप करने लगीं ॥ ७ ॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा चासीत्सुदुःखितः ॥ ८ ॥

महाराज पुत्रवियोगजन्य शोक से तो पहिले ही दुःखी हो रहे थे, तिस पर रनवास के इस घोर आर्त्तनाद को सुन, वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन्गृहमेधिनः ।
अकुर्वन्न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥ ९ ॥

---

१ निश्चेतनः—बुद्धिहीनः । (गो०)

उस दिन न तो किसी ब्रह्मचारी ने अग्निहोत्र किया और न किसी गृहस्थ के घर चूल्हा ही जला अथवा न किसी ने रसोई बनाई। उस सारे दिन किसी ने कुछ काम न किया और दिन डूब गया। अर्थात् वह समस्त दिन लोगों का दुःख ही दुःख में बीता ॥ ९ ॥

व्यसृजन्कवलान्नागा गावो वत्सान्नपाययन्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥

(केवल मनुष्यों ही की यह दशा हुई हो सो बात नहीं) हाथियों ने अपनी अपनी भूलें गिरा दीं, गौओं ने बछड़े बछियों को दूध न पिलाया। माताएँ अपने ज्येष्ठ पुत्रों को देख हर्षित नहीं होती थीं ॥ १० ॥

त्रिशङ्कुलोंहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥११॥

त्रिशङ्कु, मङ्गल, बृहस्पति, बुध, शनि और शुक्र आदि क्रूर ग्रह वक्री हो, चन्द्रमा के निकट जा थर थर काँपने लगे ॥ ११ ॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः।
विशाखा[1]स्तु सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥

नक्षत्र प्रभाहीन और ग्रह तेजहीन हो गये। विशाखा नक्षत्र धुमैला पड़ गया था और आकाश में धुँधला सा चमक थी ॥ १२ ॥

---

१ विशाखाः—इक्ष्वाकुदेशनक्षत्रं। (गो०)

[1]कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल[2] तत् ॥ १३ ॥

तेज़ वायु के चलने से आकाश में मेघों के समूह उसी प्रकार एक के ऊपर एक उठते थे, जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करतीं हैं। श्रीराम के वन जाने पर नगर में भूकम्प हुआ ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किञ्चन ॥ १४ ॥

दशों दिशाओं में अन्धकार छा गया, जिससे आकाश में ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ १४ ॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

अकस्मात् सारे नगरनिवासी उदास हो गये। उस दिन किसी ने भी न तो भोजन किये और न कोई किसी खेल कूद या मनोरञ्जन के कार्य में सम्मिलित हुआ ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसन्तप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।
अयोध्यायां जनः सर्वः शुशोच जगतीपतिम् ॥ १६ ॥

सब अयोध्यावासी शोकसन्तप्त हो बराबर आहें भर रहे थे और महाराज दशरथ पर क्रुद्ध रहे थे ॥ १६ ॥

---

१ कालिका—मेघपंक्तिः अनिलवेगेन आकाशे उत्थितः उदधिरिव दृश्यते । (रा०) २ नगरं प्रचचालेत्यनेन भूकम्पः । (रा०)

वाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।
न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित्सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

राह चलते मनुष्यों के भी नेत्र आंसुओं से भरे हुए थे, कहीं प्रसन्नता का नाम तक न था, क्योंकि सब के सब पुरवासी शोक सन्तप्त हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

न तो शीतल हवा चलती थी न चन्द्रमा सुहावना जान पड़ता था और न सूर्य ही तपते थे । सारा जगत ही रामवियोग में विकल हो रहा था ॥ १८ ॥

अनार्यिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा ।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

न तो पुत्र को अपने माता पिता से, न पतियों को अपनी सहधर्मिणियों से और न भाई को अपने भाई से कुछ प्रयोजन रहा-सब ने सब को छोड़ सा दिया था। क्योंकि उस दिन सब लोग केवल श्रीरामचन्द्र की चिन्ता में डूबे हुए थे ॥ १९ ॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं न जहुस्तदा ॥ २० ॥

जो श्रीरामचन्द्र के हितैषी मित्र थे उनको अपनी कुछ भी सुध बुध ही न थी । वे शोकभार से इतने दबे हुए थे कि, उनकी निद्रा तक जाती रही ॥ २० ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।
चचाल घोरं भयशोकपीडिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र से रहित पर्वतों सहित पृथिवी की जो दशा होती है, वही दशा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी रहित अयोध्या की हुई और वह घोर शोक से सन्तप्त हो कम्पित हो गई। वह पुरी हाथी, घोड़ों और वीरों के हाहाकार व आर्त्तनाद से पूर्ण हो गयी। (इन्द्र से रहित का तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र का कोप होने पर अनावृष्टि के कारण सारी पृथिवी और पहाड़ उत्तप्त हो उठते हैं और मनुष्य, पशु पक्षी सभी विकल हो उठते हैं, उसी प्रकार श्रीराम के अयोध्या छोड़ कर चले जाने पर अयोध्या की दशा हो गयी) ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—: ※ :—

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्सञ्जहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल दिखलाई देती रही, तब तक महाराज ने उस ओर से अपनी निगाह न फेरी अर्थात् उधर ही देखते रहे ॥ १ ॥

यावद्राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यन्तधार्मिकम् ।
तावद्व्यवर्धते[1]वास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

जब तक महाराज दशरथ को अपने अत्यन्त प्रिय और धार्मिक पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दिखलाई पड़े, तब तक वे ज़मीन से बार बार उठ उठ कर उनको देखते रहे ॥ २ ॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।
तदार्त्तश्च विषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

किन्तु जब रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल भी अदृश्य हो गयी तब महाराज दशरथ आर्त्त और विषादपूर्ण हो, भूमि पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना ।
वामं चास्यान्वगात्पार्श्वं कैकेयी भरतप्रिया ॥ ४ ॥

उस समय महाराज के दहिने हाथ को कौशल्या और बाये हाथ को भरतप्रिया कैकेयी पकड़ कर, उनको ले चलीं ॥ ४ ॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन[2] च ।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्ययितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

नीतिवान् धर्मात्मा और सदाचारी महाराज दशरथ कैकेयी को अपने पास देख कर विकल हो बोले ॥ ५ ॥

कैकेयि मा ममाङ्गानि स्पाक्षीस्त्वं दुष्टचारिणी ।
न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी[3] ॥६॥

---

१ व्यवर्धतइव यथायोत्थायोलोकने । (शि०) २ विनयेन—सदाचारेण । ३ नचबान्धवी—पत्नीत्व सम्बन्धोपिना । (गो०).

रे दुष्टा कैकेयी ! हमारे शरीर को मत छू। हम तेरा मुँह देखना नहीं चाहते। तू न तो अब हमारी भार्या है और न हमारे साथ तेरा अब पत्नी का कोई नाता ही रहा है ॥ ६ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम ।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अकेली तू ही नहीं, बल्कि तेरे नौकर चाकर भी हमारे नहीं हैं और हम भी उनके नहीं हैं। हम तो, स्वार्थतत्पर हो, पातिव्रतधर्म का त्याग करने वाली तुझको त्यागते हैं ॥ ७ ॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं[1] च यत् ।
अनुजानामि[2] तत्सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥

हमने अग्नि की परिक्रमा कर, जो तेरा हाथ पकड़ा था, उसका इहिलौकिक और परलौकिक कर्मफल भी हम त्यागते हैं ॥ ८ ॥

[१ इसलोक का फल— क्रीड़ादि व्यवहार अब से तेरे साथ न करेंगे २ पारलौकिक कर्मफल—परलोकसिद्धि के लिये जो यज्ञानुष्ठानादिकर्म किये जाते हैं।]

भरतश्चेत्प्रतीतः[1] स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम् ।
यन्मे स दद्यात्प्रीत्यर्थं मां मा तदत्तमागमत् ॥ ९ ॥

इस अक्षय्य राज्य को पा कर, यदि भरत प्रसन्न हो, तो उसका दिया तर्पण श्राद्धादि का जल और पिण्ड हमें न मिले ॥ ९ ॥

अथ रेणुसमुध्वस्तं तमुत्थाप्य नराधिपम् ।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥

---

१ पर्यणयं—प्रदक्षिणमनयं । (गो०) २ अनुजानामि—परित्यजामि । (गो०) १ प्रतीतः—प्रमुदितइति । (गो०)

कौशल्या जी स्वयं शोक से पीड़ित थीं। वे धूलधूसरित महाराज को उठा कर, घर को फिरीं ॥ १० ॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना ।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य तापसम् ॥ ११ ॥

जानबूझ कर ब्रह्महत्या करने से व जलते हुए अंगारे को हाथ से छूने से, जैसा सन्ताप होता है, वैसा ही सन्ताप, महाराज को मुनिभेषधारी पुत्र का स्मरण कर के हो रहा था ॥ ११ ॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु ।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ का, जो बार बार मुड़ मुड़ कर, रथ के मार्ग को देखते जाते थे, रूप राहुग्रस्त सूर्य की तरह अच्छा नहीं लगता था ॥ १२ ॥

विललाप च दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन् ।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज ने अनुमान कर जब जाना कि, हमारे प्यारे राम अब नगर की सीमा के बाहिर निकल गये होंगे, तब वे अत्यन्त दुःखी हो और पुत्र का स्मरण कर विलाप करने लगे ॥ १३ ॥

वाहनानां[1] च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम् ।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥

---

१ वाहनानां—अश्वानांमध्येमुख्यानां । (शि०)

हमारे घोड़ों में से जो घोड़े, हमारे पुत्र, श्रीरामचन्द्र जी के रथ में जुत कर गये हैं, उनके खुरों के निशान तो रास्ते में देख पड़ते हैं, किन्तु वह महात्मा नहीं दिखलाई पड़ता ॥ १४ ॥

यः सुखेष्वूपधानेषु शेते चन्दनरूषितः ।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥

जो हमारे श्रेष्ठ पुत्र चन्दन से चर्चित हो, कोमल तकियों एवं गद्दों पर सुख से सोते थे और जिनके ऊपर सुन्दरी स्त्रियां चँवर डुलाया करतीं और पंखा झला करती थीं ; ॥ १५ ॥

स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
काष्ठं वा यदि वाऽश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥

वे हमारे पुत्र, हाय ! आज किसी वृक्ष के नीचे लकड़ी या पत्थर का तकिया लगा कर सोवेंगे ॥ १६ ॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः* ।
विनिश्वसन्प्रस्रवणात्[1] करेणूनाम्[2] इवर्षभः ॥ १७ ॥

और प्रातःकाल वे भूमि से उदास मन और धूलधूसरित, उसाँसे लेते हुए, उसी प्रकार उठेंगे, जिस प्रकार झरने के पास से बैल उठता है ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः ।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥ १८ ॥

---

१ प्रस्रवणात्—निर्झरात् । तस्मादीषदित्यर्थः । (गो०) २ करेणूनामृषभ । (शि०) * पाठान्तरे—"कुण्ठितः ।"

वन में रहने वाले लोग महाबाहु एवं लोकनाथ श्रीरामचन्द्र को अनाथ की तरह उठ कर जाते हुए देखेंगे ॥ १८ ॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता ।
कण्टकाक्रमणाक्रान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥ १९ ॥

वह जनकदुलारी जो सदा निश्चय ही सुख भोगने योग्य है, वन में चलते समय अब उसके पैरों में काँटे चुभेंगे ॥ १९ ॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति ।
श्वापदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥

व्याघ्रादि वन पशुओं की गम्भीर और रोमाञ्चकारी गर्जन सुन कर, वनवास के भयों से अनभिज्ञ सीता, अवश्य ही बहुत डरेगी ॥ २० ॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस ।
न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

हे कैकेयी ! तेरी मनसा पूरी हुई । तू अब विधवा हो कर राज्य कर, क्योंकि हम तो बस पुरुषसिंह के बिना जीवित नहीं रह सकते ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपन्राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात[1] इवारिष्टं प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार महाराज विलाप करते करते लोगों के साथ वैसे ही नगर में आये जैसे कोई मुरदनी में स्नान कर और दुःखित हो आता है ॥ २२ ॥

---

१ अपस्नातः—मृतस्नातः । "अपस्नातो मृतस्नातः" । (अमरः) (गो०)

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणदेवताम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥

नगरी में देखा तो चबूतरे और घर सूने पड़े थे, बाज़ार तथा देवालय बंद थे। बड़ी बड़ी सड़कों पर थके, दुर्बल और पीड़ित मनुष्य ही देख पड़ते थे ॥ २३ ॥

तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन्माविशद्राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

पुरी की दुर्दशा का इस प्रकार का दृश्य देखते हुए और श्रीराम का स्मरण कर के, विलाप करते हुए महाराज अपने भवन के भीतर उसी प्रकार गये, जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल में जाता है ॥ २४ ॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

जैसे गरुड़ जी द्वारा अपहृत सर्पों के अभाव में किसी बड़े तालाब के जल में खलबली नहीं होती—जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही श्रीराम लक्ष्मण और सीता के वनवासी होने पर, राज-भवन में स्तब्धता छाई हुई थी ॥ २५ ॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन्मनुजाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम्[1] ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ ने भरे हुए कण्ठ से और अति क्षीण स्वर में, दीन भाव से, मृदु और अल्पार्थवाची ये वचन कहे ॥ २६ ॥

---

१ अस्वरम्—कण्ठस्वररहितं । (गो०)

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
न ह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

जिस घर में राममाता कौशल्या रहती हैं, हमें उस घर में शीघ्र पहुँचा दो। क्योंकि अन्यत्र कहीं भी हमारा हृदय शान्त नहीं होगा ॥ २७ ॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेश्यत विनीतवत्[1] ॥ २८ ॥

महाराज के यह कहने पर द्वारपालों ने उनको ले जा कर कौशल्या के घर में सेज पर लिटा दिया ॥ २८ ॥

ततस्तस्य प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिस्थायि शयनं बभूव लुलितं[2] मनः ॥ २९ ॥

कौशल्या जी के घर में पहुँच ने और सेज पर लेटने पर भी, महाराज का मन चञ्चल ही बना रहा—(जैसा उन्होंने विचारा था सो बात न हुई अर्थात् हृदय शान्त न हुआ ।) ॥ २९ ॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषयाऽपि विवर्जितम् ।
अपश्यद्भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-विहीन और सीता जी रहित वह भवन, महाराज दशरथ को चन्द्रमाहीन आकाश की तरह बोध होने लगा ॥ ३० ॥

---

१ विनीतवत्—पर्यङ्केन्यवेश्यत । (रा०) २ लुलितं—कलुषं । (रा०)—चञ्चलं । (शि०)

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।
उच्चैः स्वरेण चुक्रोश हा राघव जहासि माम् ॥ ३१ ॥

उस समय अपने भवन को शोभारहित देख, पराक्रमी महाराज दशरथ दोनों हाथ ऊपर को उठा, उच्चस्वर से चिल्ला कर बोले—हे बेटा राम ! तुम हमको छोड़े जाते हो ॥ ३१ ॥

सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥

वे श्रेष्ठजन सुखी होंगे, जो उस समय तक जीवित रह कर, वन से लौट कर आये हुए श्रीराम को देखेंगे और उन्हें हृदय से लगावेंगे ॥ ३२ ॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां[1] कालरात्र्यामिवात्मनः ।
अर्धरात्रे दशरथः कौशल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

महाराज दशरथ के लिये कालरात्रि के समान रात्रि होने पर आधी रात के समय वे कौशल्या से कहने लगे ॥ ३३ ॥

रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ।
न त्वा पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ॥३४॥

हे कौशल्ये ! हमें तू नहीं दिखलाई पड़ती । क्योंकि हमारी दृष्टि श्रीराम के पीछे चली गयी है, वह अभी तक नहीं लौटी है । अतएव तू हमारा शरीर अपने हाथ से छू ॥ ३४ ॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।

---

१ प्रपन्नायां—प्राप्तायां । (गो०) ।

उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिश्वसन्ती विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥
इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज के इस प्रकार कहने पर, महारानी कौशल्या महाराज को श्रीराम के स्मरण में निमग्न देख, उनकी सेज के समीप बैठ गयीं और अत्यन्त दुःखी हो, ऊँची साँसे ले, वे महाविलाप करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततः समीक्ष्य शयने सङ्गं शोकेन पार्थिवम् ।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पुत्र के वियोगजन्य शोक से विकल महारानी कौशल्या, सेज पर पड़े हुए और शोक से विह्वल महाराज दशरथ जी को देख, उनसे कहने लगीं ॥ १ ॥

राघवे नरशार्दूले विषमुप्त्वा हिजिह्मगा[1]* ।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव[2] हि पन्नगी ॥ २ ॥

हे राजन्! कुटिल चरित्रा कैकेयी श्रीरामचन्द्र जी के प्रति विष उगल, कैचुली छोड़ी हुए साँपिन की तरह विचरेगी ॥ २ ॥

---

१ अविजिह्मगा—कुटिलचरित्रा । (रा०) २ निर्मुक्ता—त्यक्तकञ्चुकी । (रा०) * पाठान्तरे—" विजिह्मताम् । "

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥

और श्रीरामचन्द्र को वन भेज और अपना मन चीता पा कर, वृत्तचित्त हो, वह दुष्ट साँपिन की तरह घर में मुझे त्रास देगी ॥ ३ ॥

अथ स्म नगरे रामश्चरन्भैक्षं गृहे वसेत् ।
कामकारो[1] वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥

यदि वह ऐसा वर माँगती कि, श्रीरामचन्द्र नगर में रह कर भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह करें और घर में बने रहें अथवा कैकेयी उन्हें अपना दास ही बना लेती, तो भी इस वनवास से अच्छा था ॥ ४ ॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद्यथेष्टतः ।
प्रदिष्टो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥

अग्निहोत्र करने वाले, जिस प्रकार पर्वकाल में, राक्षसों का भाग निकाल कर, फेंक देते हैं, वैसे ही कैकेयी ने अपनी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्र को यहाँ से निकलवाया ॥ ५ ॥

[नोट—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि, राक्षसों को जो यज्ञभाग दिया जाता है, उसे राक्षस खा डालते हैं. श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने से वहाँ राक्षस उनको खा डालेंगे अब फिर उनका मुख देखना नसीब न होगा। (गो०)]

गजराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः ।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥

---

१ कामकारदृष्टमेव । (रा०)

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच गये होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय का न्ववस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया । ज़रा विचारो तो उनकी अब क्या दशा होगी ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है । यह तरुण अवस्था उनकी राजसुख भोगने की थी ; किन्तु ऐसे समय वे वन में भेज दिये गये हैं । मेरी समझ में नहीं आता कि, वे बेचारे कन्दमूल फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सभार्यं यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

क्या मेरे भाग्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥ ९ ॥

सुप्तवैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥

अहो वह शुभ घड़ी कब आवेगी जब यह प्रसिद्ध अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र का पुरी के समीप आना सुन और हर्षित जनों से युक्त हो, बड़ी बड़ी ध्वजा पताकाओं और मालाओं से सजायी जायगी ॥ १० ॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात्पुनरागतौ ।
नन्दिष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥

अहो वह शुभ घड़ी कब देखने को मिलेगी, जब उन दोनों नर-श्रेष्ठों का प्रत्यागमन सुन, यह नगरी उसी प्रकार हर्षित होगी, जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र हर्षित होता है ॥ ११ ॥

कदाऽयोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥

जिस प्रकार वृषभ गोधूलि के समय गौ को आगे कर बस्ती में आता है, उसी प्रकार महाबाहु एवं वीर श्रीरामचन्द्र जी सीता को रथ में आगे बैठा, कब अयोध्यापुरी में प्रवेश करेंगे ॥ १२ ॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।
लाजैरवकिरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिन्दमौ ॥ १३ ॥

किस दिन शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामलक्ष्मण को नगर में प्रवेश करते देख, सड़कों पर खड़े सहस्रों जन, उन पर खीलों (लावा) को वर्षा करेंगे ॥ १३ ॥

प्रविशन्तौ कदाऽयोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ[1] सम्पृङ्क्तावि व पर्वतौ ॥ १४ ॥

---

१ उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ—आयुधशब्देन नात्र धनुरुच्यते । निस्त्रिंशः खड्गः । "खड्गोतु निस्त्रिंशः" इत्यमरः । (गो०)

वह शुभ दिन कब आवेगा, जब मैं देखूँगी कि, मेरे दो पुत्ररत्न कानों में कुण्डल पहिने हुए और शृङ्गयुक्त पर्वतों के तुल्य खड्गादि शस्त्रों को लिये हुए अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १४ ॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

किस दिन जानकी सहित दोनों राजकुमार कन्याओं और ब्राह्मणों के दिये हुए फूल फलों को ग्रहण कर और प्रसन्न होते हुए, पुरी की प्रदक्षिणा करेंगे ? ॥ १५ ॥

[नोट—यह उस समय का उत्तरभारतवासियों में प्रचलित मङ्गलाचार का एक विधान है ।]

कदा परिणतो बुद्ध्या[1] वयसा[2] चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मज्ञस्त्रिवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ज्ञानवृद्ध और तरुण (२५ वर्ष के) होने पर भी, तीन वर्ष के बालक की तरह खेलते हुए मेरे पास कब आवेंगे ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया[3] ।
पातुकामेषु[4] वत्सेषु मातृणां शातिताः[5] स्तनाः ॥१७॥

---

१ बुद्ध्यापरिणतः—ज्ञानवृद्धः । (गो०) २ वयसा—चामरप्रभः पञ्चविंशतिवर्षइत्यर्थः । अमराहिसदापञ्चविंशति वर्षाः । (गो०) ३ कदर्यया—क्षुद्रया । (गो०) ४ पातुकामेषु—स्तन्यपानकामेषु । (गो०) ५ शातिताः—कृत्ताः । (रा०)

मुझे निश्चय बोध होता है कि, मैंने किसी पूर्वजन्म में नीचता वश, बच्चों के दूध पीने के समय, उनकी माताओं के स्तन काट डाले थे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! इसीसे तो कैकेयी ने मुझे पुत्रवत्सला को उसी प्रकार बिना पुत्र का बना दिया, जिस प्रकार सिंह, छोटे बच्चे वाली गौ के बच्चे को बरजोरी ले जा कर, गौ को बेबच्चेवाली कर देता है ॥ १८ ॥

न हि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र मेरा एकमात्र पुत्र है। परन्तु वह एकमात्र पुत्र सर्वशास्त्रविशारद है और जितने अच्छे गुण हैं, वे सब उसमें हैं। अतः ऐसे पुत्र के बिना मैं जीती नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्प्यते[1] ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं महाबाहुं महाबलम् ॥ २० ॥

महाबाहु और महाबली अपने प्यारे पुत्र को देखे बिना, मुझ में जीवित रहने की सामर्थ्य नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयते[2] समुत्थितः
तनूजशोकप्रभवो हुताशनः ।

---

१ कल्प्यतेदैवेनेतिशेषः । (गो०) २ दीपयते—सन्तापयिति । (गो०).

महीमिमां रश्मिभिरुद्धतप्रभो[1]
यथा निदाघे भगवान्दिवाकरः ॥ २१ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

पुत्र-वियोग-जन्य-शोक-रूपी आग, मुझे उसी प्रकार सन्तप्त कर रही है, जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में भगवान् सूर्य की प्रखर किरणें इस पृथिवी को तप्त करती हैं ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:०:—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे[2]*स्थिता धर्म्यं[3] सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सब रानियों में श्रेष्ठ कौशल्या जी को इस प्रकार विलाप करते देख, धर्मशीला सुमित्रा जो धर्मयुक्त वचन बोलीं ॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः पुत्रः स पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

आपका पुत्र तो गुणवान और पुरुषश्रेष्ठ है । अतः उसके लिये तुम दीन हो कर, क्यों इतना विलाप और रुदन करती हो ॥ २ ॥

---

१ उद्धतप्रभः—उत्कटकिरणः । (गो०) २ धर्मेस्थिता—सुमित्रां । (शि०) ३ धर्म्यः—धर्मादनपेतम् । (शि०) * पाठान्तरे—"धर्म्ये" ।

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु[1] कुर्वन्महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥

हे आर्ये ! आपके पुत्र श्रीराम राज्य छोड़ कर, जो वन को गये हैं, सो केवल अपने महात्मा पिता के साधु सङ्कल्प को पूरा करने तथा उन्हें सत्यवादी सिद्ध करने के लिये गये हैं ॥ ३ ॥

शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत्प्रेत्यफलोदये[2] ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर, शिष्ट पुरुषोचित आचरण इसलिये किया है, जिससे महाराज का परलोक बने। अतएव धर्ममार्ग पर स्थित एवं श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वनगमन के लिये आप दुःखी न हो ॥ ४ ॥

वर्तते[3] चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन्सदाऽनघः ।
दयावान्सर्वभूतेषु [4]लाभस्तस्य[5] महात्मनः ॥ ५ ॥

सब प्राणियों पर दया रखने वाले लक्ष्मण के लिये भी आप दुःखी न हों—क्योंकि वह तो पिता के समान अपने बड़े भाई की सेवा शुश्रूषा करने के लिये श्रीरामचन्द्र के साथ गया है। इससे तो उस महात्मा (लक्ष्मण) का सब प्रकार लाभ ही है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद्दुःखं जानती वै सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

---

१ साधु—सिद्धमङ्गल्यंकुर्वन्गतः । (रा०) २ प्रेत्यफलोदये—दशरथस्य परलोकहिते । (गो०) ३ उत्तमांवृत्तिं—पितृतुल्य शुश्रूषाव्यापारं वर्तयते । (रा०) ४ लाभः—सुखमेव । (रा०) ५ तस्य—लक्ष्मणस्य । (गो०)

(अकेला लक्ष्मण ही श्रीरामचन्द्र के साथ वन गया हो, सो बात भी नहीं है, प्रत्युत) सुकुमारी जानकी भी वन के कष्टों को जान जान कर भी आपके धर्मात्मा पुत्र की अनुगामिनी बनी है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः[1] ।
धर्मसत्यव्रतधनः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों का पालन करने वाले आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र, जिनकी यशपताका तीनों लोकों में फहरा रही है, (इसलिये कि उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन करने के सामने राज्य को तृणवत् त्याग दिया) और धर्म का पालन और सत्यव्रत धारण ही जिनका धन है, उनका वनगमन सब प्रकार से कल्याणकारक ही है, (अतः आप उनके लिये दुःखी न हो) ॥ ७ ॥

[वनगमन के बाद वन के कष्टों के सम्बन्ध में सुमित्रा जी कौशल्या को इस प्रकार सान्त्वना प्रदान करती हैं ।]

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं[2] माहात्म्यमुत्तमम्[3] ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः सन्तापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की पवित्रता और उनकी श्रेष्ठता देख, भगवान् सूर्य अपनी किरणों से उनके शरीर को उत्तप्त नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

---

१ प्रभुः—सर्वभूतपालकोदयया । (रा०) २ शौचं—त्रिविधकरण शुचित्वं । (गो०) ३ माहात्म्यं सर्वोत्तमत्वं । (गो०)

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

वसन्तादि ऋतुओं में, ऋतु के अनुसार मङ्गलरूप वन का
अर्थात् गर्मियों में ठंडी हवा और जाड़ों में गर्म हवा हो जायगी ॥९॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।
रश्मिभिः संस्पृशञ्शीतैश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

पाप रहित श्रीरामचन्द्र जब रात में सोवेंगे, तब चन्द्रदेव पिता
की तरह अपनी शीतल किरणों से उन्हें आह्लादित करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा[1] महौजसे ।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा [2]तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

फिर जिन श्रीरामचन्द्र जी को ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने शंवर के पुत्र
सुबाहु का रण में मारा जाना देख, अनेक दिव्यास्त्र दिये हैं* ॥११॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।
असंत्रस्तोऽप्यरण्यस्थो वेश्मनीव निवत्स्यति ॥ १२ ॥

वे आपके शूर एवं पुरुषसिंह पुत्र अपने बाहुबल के सहारे भय
रहित हो, वन में उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार कोई अपने घर में
निर्भय हो रहता हो ॥ १२ ॥

---

१ ब्रह्मा—ब्राह्मणो विश्वामित्रः ब्रह्मैव सृष्टिकर्त्तावा । (रा०) २ तिमिध्वजः शंवरः तत्सुतः सुबाहुः । (रा०)

* भूषणटीकाकार लिखते हैं कि, जान पड़ता है किसी समय श्रीरामचन्द्र ने दण्डकवन में जा और वैजयन्तपुर को घेर महाराज दशरथ के शत्रु शंबर के पुत्र को मारा था । इस पर प्रसन्न हो ब्रह्मा जी ने श्रीरामचन्द्र जी को कुछ दिव्यास्त्र दिये थे । यदि यह बात ठीक है, तो श्लोक १२ के अर्थ में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की जगह "ब्रह्मा" होगा ।

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

जिनके बाण के लक्ष्य होने पर शत्रुओं का नाश हो जाता है, उनके शासन में यह पृथिवी क्यों न रहेगी ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता[1] ।
निवृत्तारण्यवासः स क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में श्री, शौर्य और प्रशस्त बल है, वे वनवास की अवधि को समाप्त कर, शीघ्र अपने राज्य को पावेंगे ॥ १४ ॥

सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियः श्रीश्च भवेद्ज्या कीर्त्तिः कीर्त्त्याः क्षमाक्षमा ॥१५॥

दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः[2] ।
तस्य के ह्यगुणा[3] देवि राष्ट्रे वाप्यथ वा पुरे ॥१६॥

हे देवि ! जो सकल जगत को प्रकाशित करने वाले सूर्य को प्रकाशित करता है, जो अग्नि में दहनशक्ति उत्पन्न करता है, जो सब नियंत्र करने वालों का भी नियन्ता है, जो कान्ति की भी कान्ति है, जो कीर्ति की भी कीर्ति है, जो क्षमा की भी क्षमा है, जो देवताओं का भी देव है और जो प्राणियों में सर्वोत्तम प्राणी है—वह चाहे वन में रहे अथवा नगर में, उसके लिये कहीं किसी प्रकार की प्रतिबन्धकता नहीं है ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

१ कल्याणसत्त्वता—प्रशस्तबलयुक्तता । (गो०) २ भूतानांभूतसत्तमः—उत्तम भूतमित्यर्थः । (गो०) ३ अगुणः—प्रतिबन्धकीभूत । (गो०)

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यति ॥ १७ ॥

ऐसे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र, पृथिवी, सीता और विजयलक्ष्मी इन तीनों सहित शीघ्र राज्य पावेंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजन्त्यास्रं निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनाः सर्वे शोकवेगसमाहताः ॥ १८ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से जाते हुए देख, अयोध्यावासी सब जनों ने शोक से विह्वल हो, दुःखजनित आँसू बहाये, (वे श्रीरामचन्द्र शीघ्र ही अयोध्या के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होंगे ॥ १८ ॥

कुशचीरधरं देवं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जो किसी से न जीते जाने योग्य हो कर भी, कुशचीर धारण कर वन को गये और जिनके पीछे पीछे साक्षात् लक्ष्मी रूपिणी सीता गयीं—उनके लिये संसार में कौनसी वस्तु दुर्लभ है ॥ १९ ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत्स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

और जिसके आगे आगे धनुषबाण और खड्ग लिए हुए स्वयं लक्ष्मण चलते हैं, उनके लिये क्या दुर्लभ है ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

हे देवि ! आप शोक और मोह को त्याग दें। मैं सत्य सत्य कहती हूँ कि, वनवास से लौटे हुए श्रीरामचन्द्र को आप फिर देखेंगी ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्द्यमानमनिन्दिते ।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

हे अनन्दिते ! हे कल्याणी ! आप अपने चरणों में माथा टेक कर प्रणाम करते हुए पुत्र को उदय हुए चन्द्रमा की तरह फिर देखेंगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम् ।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां क्षिप्रमानन्दजं पयः ॥ २३ ॥

आप फिर अयोध्या में आये हुए अभिषिक्त, और राज्यलक्ष्मी को प्राप्त अपने पुत्र को देख, शीघ्र ही आनन्दाश्रु बहावेंगी ॥ २३ ॥

मा शोको[1] देवि दुखं[2] वा न रामे दृश्यतेऽशिवम् ।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं* ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

हे देवि ! आप न तो विलाप करें और न अपने मन ही को व्यथित करें। क्योंकि श्रीरामचन्द्र के विषय में कुछ भी तो अमङ्गल नहीं दीख पड़ता। आप अपने पुत्र को सीता और लक्ष्मण सहित शीघ्र देखेंगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चैव समाश्वास्यो यदाऽनघे ।
किमिदानीमिमं देवि करोषि हृदि विभ्रमम् ॥ २५ ॥

---

१ मोह—प्रलापादि । (गो०) २ दुखं—मनोव्यथा । (गो०)

* पाठान्तरे—"तं" ।

हे अनघे ! हे देवि ! आपको तो यह उचित है कि, अन्य लोगों को धीरज बँधाये, सो आप इस समय (स्वयं) क्यों (अपने ही) हृदय को पीड़ा दे रही हैं ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।
न हि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥

हे देवि ! आप शोक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस लोक में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर सुमार्ग पर चलने वाला अर्थात् धर्म पालन करने वाला अन्य कोई भी नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघलेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र वन से लौट सुहृदों सहित आपको प्रणाम करेंगे, तब उनको देख आप उसी प्रकार आनन्दाश्रु गिरावेंगी, जिस प्रकार मेघमाला जल बरसाती है ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः ।
पाणिभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥

अधिक तो मैं आपको क्या अब समझाऊँ ; इतना फिर भी कहती हूँ कि, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र शीघ्र अयोध्यापुरी में लौट कर, कोमल और मांसल हाथों से आपके चरण दबावेंगे ॥ २८ ॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।
मुदाऽऽक्ष्णैः *मोक्ष्यसि[1] पुनर्मेघराजिरिवाचलम् ॥ २९ ॥

---

१ मोक्ष्यपे—इक्षणेचने वर्तमान लामीप्येऊट् । (रा०) * पाठान्तरे—"मोक्षसि ।"

उस समय आप अपने पुत्र को मित्रों सहित प्रणाम करते देख, उसे अपने आनन्दाश्रुओं से भिंगोवेंगी, जैसे मेघ अपने जल से पर्वतों को भिंगोते हैं ॥ २९ ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यैः
वाक्योपचारे कुशलाऽनवद्या ।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा[1] ॥ ३० ॥

इस प्रकार रमणीया सुमित्रा, जो निन्दा रहित और बातचीत करने में निपुण थीं, तरह तरह के वचनों से महारानी कौशल्या जी को समझा कर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज की पटरानी और श्रीराम की जननी कौशल्या, लक्ष्मण जी की माता सुमित्रा की इन बातों को सुन कर, शान्त हुईं और उनके शरीर का शोक उसी प्रकार नष्टप्राय हो गया, जिस प्रकार शरदकालीन अल्प जल वाले मेघों का जल नष्टप्राय हो जाता है ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ रामा—रमणीया । (रा०)

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—: * :—

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

वनवास के लिये जाते हुए महात्मा एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी के पीछे लगे हुए पुरवासी उनमें अनुरक्त हो गये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्वर्गे च राजनि ।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

यद्यपि महाराज दशरथ और उनके सुहृद्वर्ग, (जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे दूर तक न जाय—मंत्रियों के मुख से यह सुन कर) लौट आये थे, तथापि जो पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे पीछे जा रहे थे, वे नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुण सम्पन्नः पूर्णचन्द्रः इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि महायशस्वी अयोध्यावासी समस्त जनों को गुणवान श्रीरामचन्द्र पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्यारे थे ॥ ३ ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

वे सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से अयोध्या लौट चलने की बार बार प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिये वन ही की ओर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रभाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे लोग श्रीराम की ओर उसी प्रकार (बड़ी उत्कण्ठा से) देखते थे, जैसे प्यासा जल को देखता है । (अपने में ऐसा अनुराग देख) श्रीरामचन्द्र जी बड़े प्यार से उन लोगों से वैसे ही बोले जैसे पिता अपने पुत्रों से बोलता है ॥ ५ ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम् ॥ ६ ॥

हे अयोध्यावासियों ! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है और जैसा आदर तुम लोग मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिये, इससे भी अधिक प्रीति और आदर तुम लोग भरत के प्रति प्रदर्शित करना ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद्धः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

कैकेयीनन्दन भरत जी चरित्रवान् हैं, वे अवश्य ही तुम्हारे लिये यथोचित हितकर और प्रिय कार्य करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

भरत जी अवस्था में छोटे होने पर भी बड़े ज्ञानवान हैं । वे बड़े कोमल चित्त के हैं, साथ ही बड़े पराक्रमी भी हैं । इनके अतिरिक्त उनमें वात्सल्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं । वे सब प्रकार से योग्य हैं । उनके राजा होने पर तुम्हें किसी बात का खटका नहीं रहेगा ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः[1] ।
अपि चैव मया शिष्टैः[2] कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥९॥

उनको राजोचित गुणों से युक्त देख कर, महाराज ने उनको युवराज पद देना निश्चित किया है। अतः हम सब को राजा के आज्ञानुसार चलना चाहिये ॥ ९ ॥

न च तप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

मेरे वन जाने पर मेरी प्रसन्नता के लिये तुम लोगों को वह काम करना चाहिये, जिससे महाराज को कष्ट न हो अथवा यदि तुम मेरे प्रिय बनना चाहो, तो ऐसा करना जिससे मेरी अनुपस्थिति में महाराज को कष्ट न हो ॥ १० ॥

[सो सब भाँति मोर हितकारी ।
जाते रहैं भुवाल सुखारी ॥

तुलसीदास जी की यह चौपाई इसी श्लोक का भाव लेकर लिखा गयी है।]

यथा यथा दाशरथिर्धर्म एव स्थितोऽभवत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र ज्यों ज्यों पितृ-वचन-पालन-रूपी धर्म में दृढ़ता प्रदर्शित करते थे, त्यों त्यों पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना राजा होने की इच्छा करते थे ॥ ११ ॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षैव गुणैर्बद्ध्वा जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

---

१ समीक्षितः—निश्चितः । (शि०) २ शिष्टैः—अवशिष्टैः लक्ष्मण शत्रुघ्नादिभिः । (गो०)

इस समय लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र जी ने रुदन करते हुए दुःखी पुरवासियों को मानों डोरी में बाँध, अपनी ओर खींच लिया अथवा अपने अधीन कर लिया ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा[1] ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूराद्दूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उन लोगों में तीन प्रकार के वृद्ध ब्राह्मण थे, अर्थात् उनमें से कोई तो वयोवृद्ध, कोई ज्ञानवृद्ध, और कोई तपोवृद्ध था। इनमें से जो वयोवृद्ध थे और वृद्धावस्था के कारण जिनका सिर काँप रहा था, वे दूर से यह वचन बोले ॥ १३ ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो [2]जात्यास्तुरङ्गमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

हे वेगवान एवं अच्छी जाति के घोड़ो ! लौटो लौटो, अब आगे मत बढ़ो और श्रीरामचन्द्र का हित करो (अर्थात् हम वृद्धों की आज्ञा का उल्लङ्घन करने से श्रीरामचन्द्र जी का अहित होगा।) ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

जीवधारी मात्र के कान होते हैं (अर्थात् उनमें सुनने की शक्ति होती है) किन्तु घोड़े सब से अधिक सुनते हैं, अतः तुम हमारी यह प्रार्थना सुनो और लौट आओ ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद्वनम् ॥ १६ ॥

---

१ ओजसा—तपोबलेन । (गो०) २ जात्या—उत्तमजातीयाः । (रा०)

हम लोग जानते हैं कि, तुम्हारे स्वामी का मन सरल एवं कोमल है, वे वीर हैं और शुभ एवं दृढ़ व्रतधारी हैं। इसलिये इनको अयोध्या पहुँचाना चाहिये, न कि अयोध्या से वन को ले जाना चाहिये ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान्वृद्धान्प्रलपतो द्विजान् ।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

जब उन बूढ़े ब्राह्मणों के, जो बड़े कातर हो रहे थे, ऐसे वचन सुनें और उन्हें पीड़ित देखा, तब श्रीरामचन्द्र जी रथ खड़ा करवा कर, उससे झट उतर पड़े ॥ १७ ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।
सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

और सीता लक्ष्मण सहित पैदल वन की ओर चलने लगे और जब तक वे सब लोग समीप न पहुँच गये, तब तक ये तीनों धीरे धीरे चलते रहे ॥ १८ ॥

द्विजातींस्तु पदातींस्तान्रामश्चारित्रवत्सलः ।
न शशाक [1]घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

क्योंकि सदाचार युक्त एवं दयालु श्रीरामचन्द्र को उन पैदल चले आते हुए ब्राह्मणों को रथ से दूर रखना इष्ट न था ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः ।
ऊचुः परमसन्तप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

---

१ घृणाचक्षुः—दयासूचक दृष्टिमान् । (रा०) दयार्द्रचक्षुरित्यर्थः । (गो०)

जब ब्राह्मणों ने देखा कि, प्रार्थना करने पर भी श्रीरामचन्द्र नहीं लौटे और वन को चले ही जाते हैं, तब तो वे अत्यन्त विकल और शोकसन्तप्त हो श्रीरामचन्द्र से यह बोले ॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं[1] कृत्स्नमेतत्वां [2]ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।
द्विजस्कन्धाधिरूढा[3]स्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्यमी ॥ २१ ॥

हे राम ! तुम ब्राह्मणों के हितकारी हो । इसीसे तुम्हारे पीछे यह अखिल ब्राह्मण समूह ही केवल नहीं आ रहा, प्रत्युत उनके कंधों पर चढ़े हुए अग्निदेव भी तुम्हारे पीछे आ रहे हैं । (अर्थात् ब्राह्मण लोग तुम्हारे साथ चलने का निश्चय कर, घर से अग्निहोत्र का सामान अरणि आदि ले कर चले हैं । "अग्निदेव" से अभिप्राय उन अरणि लकड़ियों से है जिनको आपस में घिसने से यज्ञाग्नि उत्पन्न होता है) ॥ २१ ॥

वाजपेयसमुत्थानि[4] छत्राण्येतानि पश्य नः ।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥

देखिये, वाजपेय यज्ञ करने से जो छत्र प्राप्त हुए हैं, (अर्थात् वाजपेय यज्ञ करने से जिन छत्रों को लगाने का हमको अधिकार प्राप्त हुआ है ।) और जो शरत्कालीन मेघ के समान हैं, वे सब भी आपके पीछे चले आ रहे हैं ॥ २२ ॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसन्तापितस्य ते ।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयिकैः ॥२३॥

---

१ ब्राह्मण्यं—ब्राह्मण समूहः । (गो०) २ ब्रह्मण्यं—ब्रह्महितं । (रा०) ३ द्विजस्कन्धाधिरूढाः—पात्रारणिद्वारेणनिर्गेयः । (रा०) ४ वाजपेय-समुत्थानि—वाजपेयानुष्ठानि संभृतानि । (गो०)

वाजपेय यज्ञ से प्राप्त हुए इन छत्रों से हम लोग तुम्हारे ऊपर छाया करेंगे, जिससे छत्र रहित तुमको घाम से कष्ट न हो ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

हे वत्स ! हमारा मन अभी तक केवल वेद के स्वाध्याय ही की ओर लगा रहता था, किन्तु अब उस ओर न लग, आपकी वनयात्रा की ओर लगा हुआ है। (श्रीरामचन्द्र जी से यह कह ब्राह्मण लोग उन पर बड़ा दबाव डालते हैं, अर्थात् तुम्हारे पीछे हमने स्वाध्याय त्याग दिया है)। यदि तुम कहो कि तुम लोग घर का क्या प्रबन्ध कर आये हो और तुम्हारी स्त्रियाँ कैसे रहेंगी, तो ब्राह्मण इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं) ॥ २४ ॥

हृदयेष्वेव तिष्ठन्ति वेदा ये नः परे धनम् ।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

हमारा परम धन जो वेद है, वह तो हमारे हृदय में है (अर्थात् हमारे पीछे चोरी होने का हमें भय नहीं है) और हमारी स्त्रियाँ अपने अपने पातिव्रत्य से अपनी रक्षा करती हुई, घरों में रहेंगी (अर्थात् घर की रक्षा स्त्रियाँ करती रहेंगी) ॥ २५ ॥

न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम् ॥ २६ ॥

हमें अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना ; क्योंकि हम तो तुम्हारे साथ चलना निश्चित कर चुके हैं। (अर्थात् हम तो घर का सब प्रबन्ध कर, यह दृढ़ निश्चय कर के चले हैं कि, हम तुम्हारे साथ रहेंगे) किन्तु जब तुम हमारी आज्ञा का उल्लङ्घन कर

धर्म की उपेक्षा करोगे, तब धर्ममार्ग पर चलना क्या कहलावेगा ? (अर्थात् तुम्हारी देखादेखी और लोग भी ब्राह्मणों का कहना न मानेंगे और ब्राह्मणों का कथन न मानने से अधर्म होगा) ॥ २६ ॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः[1] ।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः[2] ॥ २७ ॥

हे राम ! अब हम अधिक क्या कहैं, हम हंस के समान सफेद बालों वाले (अर्थात् अत्यन्त बूढ़े हो कर भी) तुमको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं कि, तुम बन को न जाओ । (ब्राह्मण हो कर क्षत्रिय राजकुमार को साष्टाङ्ग प्रणाम करना, केवल विशेष रूप से दबाव डालना मात्र है । किन्तु भूषण टीकाकार का मत है कि, ब्राह्मण दिव्य दृष्टि वाले थे, अतः श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार समझ कर नहीं, किन्तु उनको साक्षात् परमेश्वरावतार समझ कर उन लोगों ने प्रणाम किया था । रामाभिरामी टीकाकार का मत है कि— "राज्ञो विष्णुवंशत्वेन नतौ न दोष इत्याहुः । ") ॥ २७ ॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

इन ब्राह्मणों में ऐसे भी कई एक हैं जो आरम्भ किये हुए यज्ञों को अधूरा छोड़ कर तुम्हारे साथ चले आये हैं, अतः हे वत्स ! उन यज्ञों की समाप्ति तुम्हारे लौटने पर निर्भर करती है (अर्थात् यदि न लौटे तो इन यज्ञों में विघ्न डालने का दोष तुम्हारे माथे पड़ेगा) ॥ २८ ॥

---

१ हंसशुक्लशिरोरुहैः—पलितकेशैः । (गो०) २ महीपतनपांसुलैः—कृतसाष्टाङ्गप्रणामैः । (गो०)

[1]भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं[1] भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

केवल हम लोग ही यह नहीं कहते कि, तुम लौट चलो, किन्तु पशु पक्षी वृक्ष आदि भी प्रार्थना कर रहे हैं, सो तुम इन भक्तों के प्रति तो स्नेह प्रदर्शित करो। अथवा अपने भक्तों के इस स्नेह को सफल करो ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

ये बड़े ऊँचे ऊँचे पेड़ भी तुम्हारे साथ जाना चाहते हैं, किन्तु इनकी जड़े भूमि में गहरी गड़ी होने से साथ चलने में असमर्थ होकर, वायु के वेग से हिलती हुई अपनी शाखाओं से, तुमको वन जाने का निषेध कर, ये चिल्ला रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थानविष्ठिताः ।
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

देखो, पक्षियों ने भी उड़ना और चुगना बंद कर दिया है। ये वृक्ष रूपी गृहों में बैठे हुए, तुमको प्राणिमात्र पर दया करने वाला जान, वन न जाने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये चिल्लाते हुए उन ब्राह्मणों को चलते चलते तमसा नदी देख पड़ी, जो मानों मार्ग

---

१ भक्तिं—स्नेहं । (गो०)

रोक कर, श्रीरामचन्द्र जी से आगे जाने का निषेध कर रही थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य
श्रान्तान्हयान्सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्ग-
नचारयद्वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तब सुमंत्र ने थके हुए घोड़ों को रथ से खोल दिया और उनकी थकावट मिटाने को उनको ज़मीन पर लुटाया । फिर वे उनको पानी पिला और स्नान करा के तमसा के तट के समीप चराने लगे ॥ ३३ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी रमणीय तमसा नदी के तट पर पहुँच, सीता की ओर देख लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा[1] सौमित्रे प्रस्थिता* वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

---

१ पूर्वा—प्रथमा । (गो०) * पाठान्तरे—"प्रहिता" ।

हे लक्ष्मण ! हम लोगों की वनयात्रा की आज यह पहली रात है। घबड़ाने की कोई बात नहीं ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथानिलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

ये वन चारों ओर से शून्य और रोते हुए से देख पड़ते हैं, क्योंकि यहाँ के पशु और पक्षी बसेरा ले चुके हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

आज मेरे पिता की राजधानी अयोध्या नगरी के नरनारी हम लोगों के चले आने से निस्सन्देह बहुत दुःखी होते होंगे ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

क्योंकि हम लोगों में अनेक गुणों को देख, प्रजाजन, पुरुषसिंह महाराज को, तुम्हें, मुझे और भरत शत्रुघ्न को बहुत चाहते हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।
अपि वाऽन्धौ भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

मुझको, (अपने) पिता और (अपनी) यशस्विनी माता की बड़ी चिन्ता है कि, कहीं वे हम लोगों के लिये रोते रोते अंधे न हो जाँय ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत धर्मात्मा हैं, वे अवश्य ही धर्म, अर्थ और काम युक्त वचनों से पिता माता को धीरज बँधावेंगे, (तो भी मेरा मन चिकल होता है) ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः ।
नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ॥ ८ ॥

हे महाबाहु लक्ष्मण ! भरत के दयालु स्वभाव को जब मैं भली भाँति विचारता हूँ, तब मैं पिता और माता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९ ॥

हे पुरुषसिंह ! मेरे साथ आ कर तुमने बड़ा काम किया । क्योंकि यदि तुम साथ न होते तो सीता की रखवाली के लिये मुझे कोई दूसरा सहायक ढूढ़ना ही पड़ता ॥ ९ ॥

अद्भिरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि वन में अनेक प्रकार के कन्दमूल फल मौजूद हैं, तथापि मेरी इच्छा है कि, आज की रात जल पी कर ही बिता दी जाय ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः ।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार के वचन लक्ष्मण से कह कर, श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र से भी बोले—हे सौम्य ! घोड़ों को सावधानी से रखना ॥ ११ ॥

सोऽश्वान्सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते ।
प्रभूतयवसान्कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब सुमंत्र ने घोड़ों को बाँधा और उनके सामने बहुत सी घास डाल कर, उनके ऊपर दृष्टि रखी ॥ १२ ॥

उपास्य[1] तु शिवां सन्ध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपस्थिताम् ।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

तदनन्तर सायंकालीन उपासना का समय उपस्थित होने पर, सूत सुमंत्र ने वर्णोचित उपासना (अर्थात् भगवन्नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार किया) की और रात्रि हुई देख, सुमंत्र ने लक्ष्मण जी की सहायता से, श्रीरामचन्द्र जी के लिये सोने का प्रबंध किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम् ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥ १४ ॥

तमसा के तट पर वृक्षों के (कोमल) पत्तों से बनी हुई शैय्या देख, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण और सीता सहित उस पर लेट कर आराम किया ॥ १४ ॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः ।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान्गुणान् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र और सीता को निन्द्रित देख, लक्ष्मण जी (उठ बैठे और) सूत से श्रीरामचन्द्र जी के विविध गुणों का बखान करने लगे ॥ १५ ॥

---

१ उपासनं—नमस्कारः । सूतजातेरपिनमस्कारमात्रं सम्भवति । (गो०)

जाग्रतो ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः ।
स्रुतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

लक्ष्मण जी ने सुमंत्र से श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का वखान करने ही में सारी रात विता दी और सूर्य उदय हुए ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः ।
अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसा नदी के तट से कुछ ही हट कर गौओं को हेड़ थी— वहीं साथ आये हुए लोगों सहित श्रीरामचन्द्र जी उस रात में रहे ॥ १७ ॥

उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्तां निशाम्य च ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रातःकाल उठे और उन प्रजाजनों को सोते हुए देख, शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १८ ॥

अस्मद्व्यपेक्षान्सौमित्रे निरपेक्षान्गृहेष्वपि ।
वृक्षमूलेषु संसुप्तान्पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ये लोग अपने घर द्वारों को छोड, हम लोगों को पहुंचा रहे हैं। देखो तो, वृक्षों के नीचे पड़े कैसे सो रहे हैं। (अर्थात् हमारे पीछे सब सुखों को तिलाञ्जलि दे, दुःख सह रहे हैं और अब तक उनको विश्वास है कि, हमें वे लौटा ले जांयगे) ॥१९॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने ।
अपि प्राणानसिष्यन्ति[1] न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥२०॥

---

१ असिष्यन्ति—त्यक्ष्यन्ति । (गो०)

इससे जान पड़ता है कि, ये लोग जो हम लोगों को लौटाने के लिये बड़ी चेष्टा कर रहे हैं, अपने प्राण गँवा देंगे, किन्तु अपना निश्चय (हमें बनवास से लौटने का निश्चय) न त्यागेंगे ॥ २० ॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु[1] ।
रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥

अतः जब तक ये सब सो रहे हैं, तब तक हम सब रथ पर सवार हो, तुरन्त यहाँ से रवाना हो जाँय । फिर कुछ भी भय नहीं है । (क्योंकि तमसा के आगे कुछ दूर तक रास्ता भी नहीं है, सो ये लोग आवेंगे कैसे) ॥ २१ ॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।
स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलानि संश्रिताः ॥ २२ ॥

हमारे चुपचाप चल देने से महाराज इक्ष्वाकु की राजधानी में बसने वाले इन लोगों को, फिर हमारे साथ वृक्षों की जड़ों में न सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

[नोट—नगरनिवासी और विशेष कर राजधानी जैसे बड़े नगरों के रहने वाले सुकुमार और आरामतलब होते हैं—अतः श्रीरामचन्द्र जी ने इन लोगों को यहाँ पर राजधानी के बसने वाले बतला कर, उनका वृक्षों के नीचे पड़ना ठीक नहीं समझा, ऐसा जान पड़ता है ।]

पौरा ह्यात्मकृतादुःखाद्विप्रमोक्ष्या नृपात्मजैः ।
न तु* खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥

राजकुमारों का यह कर्त्तव्य है कि, पुरवासियों के कष्टों को दूर करें, न कि उनको भी (कष्ट में) अपना साथी बनावें ॥ २३ ॥

---

१ लघु—क्षिप्रं । (गो०) * पाठान्तरे—"न ते" ।

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥ २४ ॥

ऐसे वचन सुन लक्ष्मण जी ने साक्षात् धर्म की मूर्ति श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, हे प्राज्ञ ! आपने जो कहा वह मुझे भी पसंद आया । अतः झटपट रथ पर सवार हो जाइये ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीच्छीमान्सुमन्त्रं युज्यतां रथः ।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २५ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हे प्रभो ! झट-पट रथ तैयार कीजिये—मैं वन की ओर चलूँगा, सो यहाँ से अब शीघ्र चल दीजिये ॥ २५ ॥

सूतस्ततः सन्त्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः ।
योजयित्वाऽथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥ २६ ॥

तब सुमंत्र ने बड़ी जल्दी रथ में घोड़े जोते और हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र से निवेदन किया ॥ २६ ॥

अयं युक्तो महावाहो रथस्ते रथिनांवर ।
त्वमारोहस्व भद्रं* ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ २७ ॥

हे रथियों में श्रेष्ठ ! आपके लिये आपका यह रथ तैयार है, अब आप सीता और लक्ष्मण सहित इस पर बैठ जाइये ; आपका मङ्गल हो ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"त्वमारोह सुभद्रं ।"

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः[1] ।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम् ॥ २८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी अपने धनुष कवच आदि सामान के साथ रथ पर सवार हुए और उस तेज़ धार वाली एवं भँवरवाली नदी के पार हुए ॥ २८ ॥

स सन्तीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्छिवमकण्टकम् ।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥ २९ ॥

तमसा नदी के उस पार कुछ दूर तक तो ऊबड़ खाबड़ कण्टकाकीर्ण मार्ग मिला । फिर आगे जा कर बहुत अच्छा मार्ग मिला, जिस पर न तो चलने में कष्ट होता था और न वहाँ किसी अन्य प्रकार का भय था । (जङ्गली जानवरों का) ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः ।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे ॥ ३० ॥

पुरजनों को भ्रम में डालने के लिये अथवा बहकाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा—हे पार्थ ! पहिले उत्तर की ओर रथ हाँको ॥ ३० ॥

मूहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥

फिर एक मुहूर्त बाद शीघ्र रथ हाँक कर, फिर रथ लौटा लो । सावधानता पूर्वक इस प्रकार रथ हाँको, जिससे पुरवासियों को यह न मालूम हो पावे कि, हम किस ओर गये ॥ ३१ ॥

---

१ परिच्छदैः—धनुः कवचादि । (रा०)

रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः ।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, सुमंत्र ने तदनुसार ही रथ हाँका और रथ को पुनः लौटा कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़ा कर दिया ॥ ३२ ॥

तौ सम्प्रयुक्तं[1] तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।
प्रचोदयामास ततस्तुरङ्गमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ॥ ३३ ॥

जब सुमंत्र जी ने लौटा कर रथ उनके सामने खड़ा किया, तब रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता सहित उस पर बैठे और सूत से बोले कि, अब घोड़ों को तपोवन की ओर हाँको ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार स
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्त[2]दर्शनात् ॥ ३४ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

यात्रा मङ्गलपूर्वक हो, इसलिये सुमंत्र ने रथ को उत्तर की ओर मुख कर के खड़ा किया । उस रथ पर महारथी श्रीरामचन्द्र जी सवार हो, सुमंत्र सहित वन को रवाना हुए ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का छियालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

१ संप्रयुक्तं—सम्यगानीतं । (गो०) २ निमित्त—शकुन । (रा०)

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना ।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हृतचेतसः ॥ १ ॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ, तब वे पुरवासी जागे और वहां श्रीरामचन्द्र जी को न देख, मारे शोक के चेष्टारहित हो गये और उनको कुछ भी सुधबुध न रही ॥ १ ॥

शोकजाश्रुपरिप्लुना वीक्षमाणाः समन्ततः* ।
[1]आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥२॥

शोकाश्रुओं से तर, इधर उधर खोज करने पर भी जब वे श्रीरामचन्द्र जी के जाने के मार्ग का कुछ भी निशान न पा सके, तब तो वे सब बहुत दुःखित हुए ॥ २ ॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता ।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के विना व्याकुल, आर्त्त और दीन हो, वे करुणयुक्त वचन कहने लगे ॥ ३ ॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः ।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥

धिक्कार है हमारी नींद को, जिसने हमें ऐसा अचेत कर दिया कि, हम विशालवक्षःस्थल और महाभुज श्रीरामचन्द्र को अब नहीं देख सकेंगे ॥ ४ ॥

---

१ आलोकं—साधनं । (रा०) *पाठान्तरे—"वीक्षमाणास्ततः" ।

कथं नाम महाबाहुः स तथाविधक्रियः[1] ।
भक्तं जनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः ॥ ५ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी कैसे निष्फल करने वाले (अर्थात् भक्तों की कामनाओं को निष्फल करने वाले) काम करते हैं, जो हम जैसे अपने अनुरागियों को यहाँ छोड़ कर वन को चल दिये ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् ।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥

जो हम लोगों को अपने निज सन्तानवत् पालते थे, वे रघु-कुलश्रेष्ठ क्यों हमें छोड़ वन को चले गये ॥ ६ ॥

इहैव निधनं यामो [2]महाप्रस्थानमेव वा ।
रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हि नः ॥ ७ ॥

या तो अब हम लोग यहीं प्राण दे देंगे अथवा हिमालय पर जा बर्फ़ में गल कर मर जायँगे । क्योंकि बिना श्रीराम के हमारे जीने से क्या प्रयोजन है ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च ।
तैः प्रज्वालय चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम् ॥ ८ ॥

यहाँ सूखी और बड़ी बड़ी बहुत सी लकड़ियाँ पड़ी हैं, इनको एकत्र कर और चिता बना जलती आग में गिर, हम सब भस्म हो जायँ ॥ ८ ॥

---

१ अवितथक्रियः—अमोघानुवृत्तिः । (गो०) २ महाप्रस्थानं—मरणदीक्षापूर्वक मुत्तराभिमुखगमनं । (गो०)

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः ।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

हम लौट कर लोगों से क्या कहेंगे ? क्या हमारा उनसे यह कहना उचित होगा कि, हम लोग महाबाहु, ईर्ष्यारहित और प्रियवादी श्रीरामचन्द्र को वन में छोड़ आये । ऐसा तो हमसे न कहा जायगा ॥ ९ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान्राघवं विना ।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीवालवयोधिका ॥ १० ॥

वह दीन अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र विना हमको लौटा हुआ देख, स्त्री बालक, और बूढ़े लोगों के सहित उदास हो जायगी ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना ।
*रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

हम लोग तो उस वीर एवं जितेन्द्रिय के साथ सदैव चलने के लिये घर से निकले थे । अब हम उनको छोड़ किस प्रकार फिर पुरी को देखें (अर्थात् पुरी में अपना मुँह क्योंकर दिखलापँ) ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः ।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता विवत्सा इव धेनवः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे सब लोग अपनी भुजाओं को ऊँचा कर, शोकाकुल हो, विविध प्रकार से विलाप करने लगे । वे लोग उस समय उसी प्रकार दुःखी थे, जिस प्रकार बच्चा पास न होने पर, गौ दुःखी होती है ॥ १२ ॥

---

* पाठान्तरे—"विहीनास्तेन" ।

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किञ्चित्क्षणं पुनः ।
मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥ १२ ॥

वे लोग रथ के पहियों की लकीर के सहारे कुछ दूर तक गये भी, किन्तु आगे रथ के जाने का कुछ भी चिन्ह न पा, वे और भी अधिक दुःखी हुए। (जान पड़ता है पहले तो रास्ता रेतीला था जिस पर रथ के पहियों के चिन्ह हो गये थे, किन्तु आगे को रास्ते पर घास आदि उगी होगी जिससे वहाँ पहियों का निशान नहीं बन सका होगा) ॥ १३ ॥

रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः ।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

जब रथ के आगे जाने का रास्ता न मिला, तब वे सब दृढ़ चित्त वाले लोग लौट आये और आपस में कहने लगे कि, यह क्या हुआ—अब हम क्या करें, हमारा भाग्य ही खोटा है ॥ १४ ॥

ततो यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः ।
अयोध्यामगमन्सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे सब के सब अत्यन्त उदास हो, जिस मार्ग से आये थे, उसीसे फिर अयोध्या को लौट गये। श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं न लौट कर, अयोध्यापुरीवासी सज्जनों को व्यथित किया ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च [1]क्षयव्याकुलमानसाः ।
अवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

---

१ क्षयो—हर्षक्षयस्तेनव्याकुलमानसाः । (रा०)

वहाँ जा कर वे लोग पुरी को देख, हर्षरहित विकल मन और शोक पीड़ित हो नेत्रों से आंसू बहाने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते ।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥ १७ ॥

वे आपस में कहने लगे कि, देखो श्रीरामचन्द्र जी के न होने से इस नगरी की शोभा भी नहीं रही । यह तो अब उस नदी के दह के समान दीख पड़ती है, जिसके सर्प गरुड़ ने हरण कर लिये हों ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् ।
अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

चन्द्रहीन आकाश, अथवा जलहीन समुद्र की तरह वे लोग आनन्दशून्य नगरी को देख अचेत से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।
नैव प्रजज्ञुः स्वजनं जनं वा
निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

वे लोग अपने उत्तमोत्तम घरों में, अत्यन्त दुःखित हो कर गये । उन दुःखपीड़ितों को इस समय इतनी भी सुध न रह गयी थी कि, वे देख कर, अपने और पराये को पहचान सकें ॥ १९ ॥

अयोध्याकाण्ड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च ।
वाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां सुमूर्षया ॥ १ ॥

अब वे पुरवासी जन, विषादयुक्त, अत्यन्त दुःखी होने के कारण आँसुओं से नेत्र भरे हुए थे और शोकाकुल थे तथा मरना चाहते थे ॥ १ ॥

अनुगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।
उद्गतानीव सत्त्वानि[1] बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

जब वे श्रीरामचन्द्र को वन भेज कर आये, तब वे बड़े खिन्न, और मृतप्रायः हो गये थे ॥ २ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे वाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे अपने अपने घरों में आ कर, पुत्रों और स्त्रियों सहित रोने लगे और रोते रोते उनके मुख आँसुओं से भींग गये ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन्न चामोदन्वणिजो न प्रसारयन् ।
न चाशोभन्त पुण्यानि[2] नापचन्गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उस समय पुरवासियों में न तो कोई प्रसन्न और न कोई अमोदित होता था । बनियों ने अपनी दूकानें बंद कर रखी थीं । अर्थात्

---

१ सत्त्वानि—प्राणाः । २ पुण्यानि—पुण्यफलभूतपुत्रकलत्रादीनि । (गो०)

बाज़ार बंद था। घरों में किसी ने न तो अपने लड़के लड़कियों को सजाया और न स्त्रियों ने अपना शृङ्गार किया। यहां तक कि, गृहस्थों के घर चूल्हा ही न जला अर्थात् रसोई न हुई—सब लोग भूखे प्यासे रहे ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन्विपुलं वा धनागमम् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ ५ ॥

न तो कोई अपने नष्ट हुए धन को पा कर और न कोई विपुल धन पा कर ही हर्षित होता था। ज्येष्ठपुत्र को पा कर माता प्रसन्न न होती थी ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम् ।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

घर घर रोना पीटना हो रहा था और (वन से ख़ाली लौट कर) घर में आये हुए पतियों के हृदय को, उनकी स्त्रियां शोकार्त्त हो, वचन रूपी बाणों से उसी प्रकार वेधती थीं, जिस प्रकार महावत हाथी को अङ्कुश से गोदता है ॥ ६ ॥

किन्नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।
पुत्रैर्वा किं सुखैर्वाऽपि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

सब पुरवासी यही कह रहे थे कि, जब वे लोग श्रीरामचन्द्र जी ही को नहीं देख पाते, तब उन्हें घर, स्त्री, धन दौलत, पुत्र अथवा सुख का प्रयोजन ही क्या है ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन्वने ॥ ८ ॥

इस लोक में एकमात्र लक्ष्मण ही सज्जन हैं, जो सीता के साथ श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने वन में चले गये ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च ।
येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥९॥

उन नदियों और कमलयुक्त सरोवरों ने बड़ा पुण्य किया है, जिनके पवित्र जल में श्रीरामचन्द्र जी घुस कर स्नान करेंगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकानना: ।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

रमणीय वन, सुन्दर तट वाली नदियां और सुन्दर शिखर वाले पर्वत काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी की शोभा बढ़ावेंगे ॥ १० ॥

काननं वाऽपि शैलं वा यं रामोऽभिगमिष्यति ।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

वन अथवा पहाड़—जहां कहीं श्रीरामचन्द्र जी जायंगे, उनको अपना प्रिय पाहुना समझ, वे सब आदर सत्कार करने में कसर न करेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा[1] भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

वे पेड़ भी, जिनकी फुनगियां फूलों से शोभित हैं और अनेक मंजरी धारण किये हुए हैं और जिन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं, अपना सुन्दर स्वरूप श्रीरामचन्द्र को दिखलावेंगे ॥ १२ ॥

---

१ नगाः—वृक्षाः । (गो०)

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद्[1] गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

वहाँ के पर्वत श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये, फूलने फलने की ऋतु न होने पर भी, उत्तम उत्तम फूलों फलों से श्रीरामचन्द्र जी का सन्मान करेंगे ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।
विदर्शयन्तो विविधान्भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

पर्वत निर्मल जल चुआयेंगे और अनेक विचित्र झरनों को श्रीरामचन्द्र जी के लिये प्रकट करेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥

पहाड़ों पर के पेड़ श्रीरामचन्द्र जी का मनोरञ्जन करेंगे । जहाँ श्रीरामचन्द्र जी होंगे वहाँ न तो उनको किसी का भय ही होगा और न उनकी कभी हार ही होगी ॥ १५ ॥

स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।
पुरा भवति नो दूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

वे महाबाहु और शूर दशरथनन्दन अभी बहुत दूर नहीं गये होंगे, अतः चलो हम सब श्रीरामचन्द्र जी के पास चलें ॥ १६ ॥

पादच्छाया[2] सुखा भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम्[3] ॥१७॥

---

१ अनुक्रोशात्—आदरात् । (गो०) २ पादच्छायेति पादसेवा लक्ष्यते । (गो०) ३ परायणम्—परमयनं, सर्वप्रकारेणाधारभूत इत्यर्थः । (गो०)

क्योंकि वैसे महात्मा और स्वामी की चरणसेवा भी हमको सुख देगी। वे ही इस अखिल संसार के स्वामी गति और आधार हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम् ।
इति पौरस्त्रियो भर्तृन्दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

हम सब सीता की और तुम सब श्रीरामचन्द्र जी की सेवा टहल करना। इस प्रकार पुरजनों की स्त्रियां दुःख से विकल हो, अपने पतियों से कह कर, फिर कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये [1]योगक्षेमं विधास्यति ।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

देखो वन में श्रीरामचन्द्र सब प्रकार तुम्हारा भरणपोषण करेंगे और सीता जी हम स्त्रियों का भरणपोषण करेंगी ॥ १९ ॥

[योगक्षेम—जो वस्तु प्राप्त नहीं उसको दिलाना योग और प्राप्तवस्तु का रक्षण क्षेम कहलाता है।]

को न्वनेनाप्रतीतेन[2] सोत्कण्ठितजनेन च ।
सम्भोगेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

ऐसी बुरी जगह जहां चित्त उद्विग्न हो और मन न लगे, वहां रहने से क्या प्रयोजन ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनार्यवत् ।
न हि नो जीवितेनार्यः कृतः पुत्रे हते धनैः ॥ २१ ॥

---

१ योगक्षेमं—अनाप्तस्य प्राप्तियोगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमं । (रा०) २ अप्रतीतेन—अमनोज्ञेन । (गो०)

यदि यह राज्य धर्मविरुद्ध (ज्येष्ठ को छोड़ छोटे को राज्य मिलना धर्मविरुद्ध है।) और अनाथ की तरह कैकेयी के अधीन हुआ, तो धन और पौत्रादि की बात कौन चलावे, जीवित रहने ही से हमको क्या प्रयोजन है ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

हा ! यह कुलकलङ्किनी कैकेयी जिसने राज्यप्राप्ति के लोभ में पड़, अपने पति महाराज दशरथ और पुत्र श्रीरामचन्द्र तक को त्याग दिया, वह भला दूसरों को क्यों न त्याग देगी ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका निवसेमहि ।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

हम अपने पुत्रों की शपथ खा कर कहती हैं कि, प्राण रहते हम कैकेयी के राज्य में उसकी दासी बन कर न रहेंगी ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥२४॥

क्योंकि जिस निर्लज्जा ने महाराज दशरथ के पुत्र को घर से निकलवा दिया उस अधर्मिन और दुष्टा के राज्य में बस कौन सुखपूर्वक जीता रह सकता ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम् ।
कैकेय्या हि कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

यह समूचा राज्य, उपद्रवों से युक्त, निराधार और अनाथ हो, केवल कैकेयी की करतूत से नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

न हि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।
मृते दशरथे व्यक्तं विलापः[1]तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने के कारण महाराज का बचना असम्भव है और जब महाराज न रहेंगे तब यह राज्य भी नष्ट हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुर्गताः ।
राघवं वाऽनुगच्छध्वमशुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥

अब हम लोगों का सुकृत सिरा चुका है । इसीसे हमारी यह दुर्गति हुई है । सो लाओ अब विष घोल कर पी लें, अथवा श्रीरामचन्द्र जी के पास चले चलें अथवा किसी ऐसे स्थान में चले चलें जहां से हमारा नाम भी कोई न सुन पावे ॥ २७ ॥

मिथ्या[2] प्रव्राजितो रामः ससीतः सहलक्ष्मणः ।
भरते सन्निसृष्टाः[3] स्मः सौनिके[4] पशवो यथा ॥२८॥

सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र को कपट से वन भेज कर, हमें भरत को उसी प्रकार सौंप दिया है जिस प्रकार कसाई को पशु सौंप दिया जाता है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिन्दमः ।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः ।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

---

१ विलापो—विनाशः । (गो०) २ मिथ्या—कपटेन । (गो०)
३ सन्निसृष्टाः—निक्षिप्ताः । (गो०) ४ सौनिके—पशुमारके । (गो०)

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः ।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन्स महारथः ॥ ३१ ॥

वह श्रीरामचन्द्र तो पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख वाले, श्यामवर्ण, मांसल हँसुली वाले, शत्रुओं को नाश करने वाले, अजानुबाहु, कमल के समान नेत्र वाले लक्ष्मण के बड़े भाई, पहले बोलने वाले, मधुरभाषी, सत्यवादी, महाबली, सीधे और सब लोगों को चन्द्रमा की तरह प्रिय, पुरुषसिंह, मत्तगज जैसी चाल चलने वाले और महारथी हैं, वे जहां विचरेंगे वहां के वन को भी निश्चय ही शोभायुक्त कर देंगे ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः ।
चुक्रुशुर्दुःखसन्तप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार अयोध्या की बसने वाली स्त्रियां घरों में विलाप कर रोती चिल्लाती थीं, जैसे किसी के मरते समय उसके इष्टमित्र और आत्मीयजन विलाप कर रोते चिल्लाते हैं ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम् ।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार उन स्त्रियों के अपने घरों में रोते ही रोते दिन डूब गया और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलन[1]सम्पाता प्रशान्ताध्याय[2]सत्कथा[3] ।
तिमिरेणाभिलिप्तेव सा तदा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

---

१ ज्वलनस्य—आहवनीयाग्नेः ऊष्मायस्यां सा प्रशान्ता । (शि०)
२ अध्यायो—वेदः । (गो०) ३ सत्कथा—पुराणादिः । (गो०)

उस दिन अग्निहोत्र की आग की गर्मी नष्ट हो गयी, स्वाध्याय-निरत ब्राह्मणों ने वेद का स्वाध्याय नहीं किया, न कहीं पुराणों की कथा वार्ता हुई। सब नगरी में अँधेरा सा छा गया। (अर्थात् लोगों के घरों में दीपक भी नहीं जलाये गये।) ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

वनियों की मण्डियाँ बंद रहीं। सब ही लोग निराश और अनाथ हो गये। जिस प्रकार तारागण से हीन आकाश शोभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी शोभा हीन हो गयी ॥ ३५ ॥

तथा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिको हि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥

अयोध्या की सब स्त्रियाँ श्रीरामचन्द्र के लिये ऐसी आतुर हो रही थीं, मानों उनके पुत्र या भाई ही वन को भेज दिये गये हों। वे विलाप कर रोती रोती अचेत सी हो गयीं। उनकी इस चेष्टा से ऐसा बोध होता था मानों वे श्रीरामचन्द्र जी को अपने पुत्रों से भी अधिक मानती थीं ॥ ३६ ॥

प्रसान्तगीतोत्सवनृत्तवादना
व्यपास्तहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

गाना, बजाना, नाचनाकूदना आदि उत्सवसूचक सब काम बंद थे। बाज़ारों में जहाँ देखो वहीं उदास हो दूकानदार अपनी दूकानें बंद किये चुपचाप बैठे हुए थे। इस प्रकार अयोध्यापुरी जल रहित समुद्र की तरह उजाड़ सी हो गयी ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अड़तालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥

(पिछले सर्ग में, अयोध्यावासियों के पुरी में लौटने पर उनकी तथा उनके कारण अयोध्यापुरी की जो दशा दिखलाई पड़ती थी उसका वर्णन किया गया। अगले सर्ग में आदि कवि पुनः श्रीरामचन्द्र के वनगमन का वृत्तान्त आरम्भ करते हैं।) उस रात के बीतते बीतते श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता की आज्ञा का स्मरण करते हुए, बहुत दूर निकल गये ॥ १ ॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा।
उपास्य स शिवां सन्ध्यां विषयान्तं[1] व्यगाहत ॥२॥

चलते ही चलते सवेरा हो गया और रात बीत गयी। तब उन्होंने प्रातः सन्ध्योपासन किया। तदनन्तर फिर चलने लगे और चल कर उत्तर कोशल की दक्षिण सीमा पर पहुँच गये ॥ २ ॥

---

१ विषयान्तं—उत्तरकोसलदक्षिणावधिं। (गो०)

ग्रामान्विकृष्टसीमान्तान्पुष्पितानि वनानि च ।
पश्यन्नतियया[1] शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

गावों के सिवानों पर खेती के लिये जुते हुए खेतों और अनेक प्रकार के पुष्पित वृक्षों से युक्त वनों के देखने में श्रीरामचन्द्रादि ऐसे मग्न थे कि, उन उत्तम घोड़ों की तेज़ चाल भी उनको धीमी चाल जैसी जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन्वाचो मनुष्याणां ग्राम[2]संवास[3]वासिनाम् ।
राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥

जाते जाते श्रीरामचन्द्र जी उन छोटे बड़े ग्रामों के निवासियों की बातचीत सुनते जाते थे । वे कहते थे कि, कामवशवर्ती महाराज दशरथ को धिक्कार है ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।
तीक्ष्णा[4] सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

हाय ! पापिनी कैकेयी का स्वभाव कैसा कड़ुआ है और उसका व्यवहार कैसा क्रूर है कि, उसने मर्यादा को तोड़, ऐसा बुरा काम कर ही डाला ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।
वनवासे महाभाज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

उसने ऐसे धार्मिक राजपुत्र को वनवास दिया है, जो महाविद्वान्, दयालु और जितेन्द्रिय है ॥ ६ ॥

---

१ शनैरिवयया—उत्तमाश्वानांगतिचातुर्यात् पुष्पितवनरामणीयकदर्शन पारवश्याच्चातिशीघ्रं अपि गमनं शनैरिवजानन् । (गो०) २ ग्रामाः—महाग्रामाः । (गो०) ३ संवासा—अल्पग्रामाः । (गो०) ४ तीक्ष्णा—क्रूरा । (गो०)

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो घर में सदा सुख ही सुख में रही है, किस प्रकार वन के कष्ट सह सकेगी ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रियम् ।
प्रजानामनघं[1] रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥

हा ! महाराज दशरथ को अपने प्यारे पुत्र में ज़रा भी मोह ममता नहीं है । नहीं तो वे प्रजा के पापों को दूर करने वाले अथवा निर्दोष पुत्र को क्यों त्यागते ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।
शृण्वन्नतियशौ वीरः कोसलान्कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उन बड़े छोटे ग्रामों के रहने वालों के अनेक प्रकार की बातचीत सुनते हुए कोशलेश्वर श्रीरामचन्द्र कोशलदेश की सीमा को उल्लङ्घन कर आगे चले ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्या[2]ध्युषितां दिशम् ॥१०॥

तदनन्तर वे वेदश्रुति नामक निर्मल जल से भरी हुई नदी के पार हो, दक्षिण दिशा की ओर चले ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शिवजलां नदीम् ।
गोमतीं [3]गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥ ११ ॥

---

१ प्रजानामनघं—अघनिवर्तकम् । (शि०) २ अगस्त्याध्युषितांदिशं—दक्षिणांदिशं । (गो०) ३ गोयुतानूपां—गोयुक्तकच्छप्रदेशां । (गो०)

फिर बहुत देर तक मार्ग चल, शीतल जल वाली और सागरगामिनी गोमती नदी के तट पर पहुँचे। उसके कछार में बहुत सी गौएँ चर रही थीं ॥ ११ ॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥

शीघ्र चलने वाले घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, गोमती को पार कर, स्यन्दका नाम नदी के, जिसके किनारों पर मयूर और हँस बोल रहे थे, पार उतरे ॥ १२ ॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।
स्फीतां राष्ट्रावृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥

वह भूमि, जिसे राजा मनु ने पहिले इक्ष्वाकु को दिया था और जो बहुत विस्तृत थी तथा जिस पर अनेक राष्ट्र बसे हुए थे, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को दिखलायी ॥ १३ ॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः[1] ।
मत्तहंसस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥

तदनन्तर सुमंत्र को सम्बोधन कर पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी मत्तहंस जैसी वाणी से बोले ॥ १४ ॥

कदाऽहं पुनरागम्य सरय्वा पुष्पिते वनेः ।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च सङ्गतः ॥ १५ ॥

हे सारथे ! वह दिन कब आवेगा जब मैं वन से लौट कर माता पिता से मिल कर सरयू के पुष्पित वनों में शिकार के लिये घूमा फिरा करूँगा ॥ १५ ॥

---

१ अभीक्ष्णशः आभाष्य सम्बोधय । (शि०)

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन्नत्यर्थं मृगया वने ।
काले[1] वृतां[2] तां मनुजैः[3]धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१६॥

इस संसार में यह पुरानी चाल चली आती है कि राजर्षि, लोग आवश्यकता पड़ने पर वनों में शिकार खेला करते हैं। सदाचारी लोगों को भी श्राद्ध आदि करने के लिये धनुषबाण की आवश्यकता होती है ॥ १६ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।
रतिर्ह्येषाऽऽनुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १७ ॥

यद्यपि बहुत शिकार खेलना मुझे पसंद नहीं, तथापि राजा लोग इसे अच्छा बतलाते हैं और लोगों की भी प्रवृत्ति इस ओर अधिक है। अतः मैं इसे बुरा भी नहीं समझता और सरयू के तट पर शिकार खेलना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।
तं[4] तमर्थमभिप्रेत्य[5] ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी प्रयोजन के अनुसार सुमंत्र जी को मधुरवाणी से समझा कर, उनसे वर्तालाप करते हुए चले जाते थे ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

१ काले—श्राद्धादिकाले । (गो०) २ वृतां—स्वीकृता । (गो०) ३ मनुजैः—सदाचारपरैः । (गो०) ४ तं तमर्थं—राजगुणादिरूपं । (गो०) ५ अभिप्रेत्य—हृदये कृत्वा । (गो०)

पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

विशालान्कोसलान्रम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्याभिमुखो धीमान्याञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विशाल कोशल राज्य के देशों की सीमा से निकल, अयोध्या की ओर मुख कर और हाथ जोड़ कर यह बोले ॥ १ ॥

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्यपरिपालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥

हे काकुत्स्यवंशीय नृपतियों से पालित पुरियों में श्रेष्ठ अयोध्ये ! तुझसे तथा तुझमें रहने वाले उन देवताओं से जो तेरा पालन करते हैं, मैं विदा होने के लिये अनुज्ञा माँगता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह सङ्गतः ॥ ३ ॥

वनवास से लौट कर और महाराज से उऋण हो, मैं फिर तेरे दर्शन करूँगा और माता पिता से मिलूँगा ॥ ३ ॥

ततो रुधिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण भुजा उठा नेत्रों में आँसू भर और दीन हो, उन जनपदवासियों से (जो रथ को घेरे चले जाते थे) कहा ॥ ४ ॥

अनुक्रोशो[1] दया[2] चैव यथार्हं[3] मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो[4] गम्यतामर्थसिद्धये[5] ॥ ५ ॥

आपने मेरा वैसा ही आदर सत्कार किया है और अनुकम्पा प्रदर्शित की है, जैसी मालिक के प्रति करनी उचित थी। बहुत देर तक मेरे साथ आपका रहना शोभा नहीं देता, अतः अब आप लोग अपने अपने घरों को लौट जाइये और जा कर घर के कामों को कीजिये ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठन्त क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

तब वे श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर और उनकी परिक्रमा कर, अपने अपने घरों को चल तो दिये, किन्तु रास्ते में बीच बीच में जाते जाते रुक जाते और रुदन कर घोर विलाप करने लगते थे ॥ ६ ॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विलाप करते देख तथा अपने दर्शन से अतृप्त जान, रथ तेज़ी से हँकवाया और उनके नेत्रों की ओट वैसे ही हो गये, जैसे सूर्य सन्ध्या को नेत्रों की ओट हो जाते हैं ॥७॥

ततो धान्यधनोपेतान्दानशीलजनाञ्शुभान्* ।
अकुतश्चिद्भयान्रम्यांश्चैत्य[6]यूपसमावृतान् ॥ ८ ॥

---

१ अनुक्रोशः आदरः । (गो०) २ दया—अनुकम्पा । (गो०) ३ यथार्हं—स्वामित्वानुगुणं । (गो०) ४ पापीयः—अशोभनं । (गो०) ५ अर्थसिद्धये—गृहकृत्यादि करणाय । (गो०) ६ चैत्यानि—देवतायतनानि ॥ * पाठान्तरे—"शिवान्" ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने जाते हुए देखा कि, रास्ते में जो गाँव या नगर हैं, वे धनधान्य से भरे पूरे हैं। वहां के लोग बड़े दानी और धार्मिक हैं और निर्भीक हैं। यह बात उन नगरों के रम्य देव-मन्दिरों तथा जहां तहां खड़े यज्ञस्तम्भ के देखने से विदित होती थी ॥ ८ ॥

उद्यानाम्रवणोपेतान्सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान्गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥

वहाँ के बाग़ आमों के वृक्षों से परिपूर्ण थे, तालाबों में जल भरा हुआ था, सब लोग प्रसन्नवदन और हृष्टपुष्ट थे और जगह जगह गौओं की हेड़ें खड़ी थीं ॥ ९ ॥

लक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥

राज्य की ओर से उन जनपदों की रक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। उनमें वेद की ध्वनि सदा हुआ करती थी। पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी रथ पर चढ़े और ये सब देखते भालते कोशल देश की सीमा के पार हुए ॥ १० ॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।
राज्यं भोग्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतांवरः ॥ ११ ॥

धृतिमतांवर श्रीरामचन्द्र बीच बीच में छोटे छोटे राज्यों को, जो हर्षित और सम्पन्न लोगों से भरे और रमणीय उपवनों से युक्त थे, देखते चले जाते थे। (ये सब छोटे राज्य महाराज दशरथ के करद राज्य थे) ॥ ११ ॥

तत्र[1] त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम् ।
ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम् ॥ १२ ॥

---

१ तत्र—कोसलादक्षिणदेशे। (गो०)।

पञ्चाशः सर्गः

चलते चलते श्रीरामचन्द्र ने कोशलराज्य की दक्षिण सीमा पर स्थित, पवित्र तथा शीतल नौका और ऋषियों से सेवित त्रिपथगा गङ्गा को देखा ॥ १२ ॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् ।
1कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोहृदां शिवाम् ॥१३॥

गङ्गा के तट से कुछ ही हट कर, ऋषियों के रमणीक आश्रम देखे, जिनके कुण्डों के निर्मल जल में स्वर्गीय अप्सरायें जलक्रीड़ा करने को उचित समय पर आया करती हैं ॥ १३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किन्नरैरुपशोभिताम् ।
*नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥

जो गङ्गा देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नागपत्नी और गन्धर्व-पत्नी द्वारा सदा सेवित हैं ॥ १४ ॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानशतायुताम् ।
देवार्थमाकाशगमां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥

उन गङ्गा के तट पर देवताओं की जलक्रीड़ा के लिये सैकड़ों स्थान और वाटिकाएँ बनी हुई हैं। गङ्गा ने आकाशमार्ग से गमन किया है और वहाँ वह देवपद्मिनी अर्थात् सुवर्ण-कमलवाली के नाम से प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

[गङ्गा का जी का रूपक बाँधा है]।

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥

---

1. काले—क्रीड़ा काले उचित काले वा। (गो०) * पाठान्तरे—"नाना"।

गङ्गा का जल जहाँ टकराता है, वहाँ ऐसा शब्द होता है मानों गङ्गा अट्टहास कर रही है, कहीं पर धार बड़े वेग से बह रही है और कहीं वह निर्मल फेन से भूषित हो मानों हँस रही है। ऊँची नीची चट्टानों पर जल के गिरने से ऐसा जान पड़ता है, मानों किसी युवती की वेणी (चोटी) हो और कहीं कहीं पर भँवरों के पड़ने से गङ्गा सुशोभित हो रही है ॥ १६ ॥

क्वचित्स्तिमितगम्भीरां क्वचिद्वेगजलाकुलाम् ।
क्वचिद्गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद्भैरवनिस्वनाम् ॥ १७ ॥

कहीं स्थिर, कहीं बहुत गहरा जल है और कहीं जल के गंभीर नाद से और कहीं भयङ्कर शब्द से श्रीगङ्गा जी घोषित हो रही है ॥ १७ ॥

देवसङ्घाप्लुतजलां निर्मलोत्पलशोभिताम् ।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥

कहीं देवता लोग स्नान करते हैं, और कहीं पर वह श्वेत कमलों से सुशोभित है। कहीं कहीं तट पर ऊँचे करारे हैं और कहीं निर्मल बालुका बिछी है ॥ १८ ॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपकूजिताम् ।
सदा मत्तैश्च विहगैरभिसन्नादितान्तराम् ॥ १९ ॥

कहीं हंस और सारस बोल रहे हैं और कहीं तट पर चकवा चकई कुहुक रहे हैं। गङ्गा का तट मत्त पक्षियों के शब्द से सदा कूजित ही रहता है ॥ १९ ॥

क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरुपशोभिताम् ।
क्वचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित्पद्मवनाकुलाम् ॥ २० ॥

कहीं तटों पर वृक्षों की पंक्तियाँ माला की तरह शोभायमान हैं, कहीं खिली हुई कुईं जल को ढके हुए हैं और कहीं कमल के फूलों के वन भरे पड़े हैं ॥ २० ॥

क्वचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां[1] समदामिव[2] च क्वचित् ॥२१॥

कहीं कुईं की कलियाँ शोभायमान हैं, और कहीं अनेक प्रकार के पुष्पों के पराग से जल का रंग बदला हुआ है अर्थात् लाल हो गया है। वह लाल रंग का ठहरा हुआ जल ऐसा जान पड़ता है, मानों कोई स्त्री लाल रंग की साड़ी पहने हुए खड़ी है ॥ २१ ॥

व्यपेतमलसङ्घातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिग्गजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः[3] ॥ २२ ॥

गङ्गा जी का जल वैडूर्यमणि की तरह चमक रहा है। दिग्गज मत्त बनैले हाथी तथा राजाओं के हाथी स्नान कर रहे हैं ॥ २२ ॥

देवोपवाह्यैश्च मुहुः सन्नादितवनान्तराम् ।
प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥

देवताओं के वाहन मत्तगजों से सेवित और जल की धार के हर हर शब्द से वनों को गुंजाती गङ्गा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों कोई स्त्री बड़े यत्न से उत्तम आभूषणों से अपना शृङ्गार किये हुए हो ॥ २३ ॥

---

१ नानापुष्परजोध्वस्तां—वर्णान्तरंप्राप्तां । (गो०) २ समदामिव—प्रमदामिवस्थिताम् । (रा०) एवं रक्तवर्णत्वात् समदामिवस्थिताम् । (गो०)
३ वरवारणैः—राजगजैः ।

फलैः पुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजै[1]स्तथा ।
शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजङ्गैश्च निषेविताम् ॥ २४ ॥

(गङ्गा) फल, पुष्प, पत्र, पुष्पगुच्छ और नाना पक्षियों रूपी आभूषणों से भूषित स्त्री की तरह सुशोभित है। सूंस, (अथवा जलमानुस-जलकपि) घड़ियाल और भुजङ्गों से सेवित है (अर्थात् ये सब उसके जल के भीतर रहते हैं) ॥ २४ ॥

विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम् ।
तां शङ्करजटाजूटाद्भ्रष्टां सागरतेजसा[2] ॥ २५ ॥

गङ्गा भगवान् विष्णु के चरण से निकली हैं, दिव्य हैं, स्वयं पाप रहित हैं और दूसरों के पाप का नाश करने वाली हैं। शिव जी के जटाजूट से निकल कर, भगीरथ की तपस्या से पृथिवी पर आयी हैं ॥ २५ ॥

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

समुद्र की पटरानी और सारस एवं क्रौंच पक्षियों से कूजित गङ्गा के निकट, शृङ्गवेरपुर को जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी पहुँचे ॥ २६ ॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

तरंगों पर तरंगें जिनमें उठ रही हैं, ऐसी श्रीगङ्गा जी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा, हे सूत ! आज मैं यहीं निवास करूँगा ॥ २७ ॥

---

१ द्विजैः—पक्षिभिः । (गो०) २ सागरतेजसा—भगीरथतपसा । (रा०)

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

हे सारथे ! यहां से निकट ही पत्तों और फूलों से सुशोभित जो इंगुदी का वृक्ष है, उसीके नीचे टिकने की मेरी इच्छा है ॥२८॥

द्रक्ष्यामः सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम् ।
देवदानवगन्धर्वमृगमानुषपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

इसी श्रेष्ठ नदी गङ्गा को, जो मनोहर जलयुक्त है और देव, दानव, गन्धर्व, मृग, नाग और पक्षियों से सेवित हैं, (हम लोग) देखें और उसका (यहां ठहर कर) सन्मान करें ॥ २९ ॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् ।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण और सुमंत्र ने कहा "बहुत अच्छा" और वे इंगुदी वृक्ष के पास रथ ले गये ॥ ३० ॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
रथादवातरत्तस्मात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र उस रमणीक वृक्ष के पास पहुँच, सीता और लक्ष्मण सहित रथ से उतर पड़े ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्यास्मान्मोचयित्वा हयोत्तमान् ।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

सुमंत्र भी रथ से उतर पड़े और उन उत्तम घोड़ों को खोल दिया और स्वयं हाथ जोड़े हुए उस वृक्ष के नीचे श्रीरामचन्द्र जी के पास जा उपस्थित हुआ ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः[1] सखा ।
निषादजात्यो [2]बलवान्स्थपति[3]श्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्रीरामचन्द्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था, तथा उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि श्रीरामचन्द्र जी उसके देश में आये हैं, तब वह अपने बूढ़े मंत्रियों और जाति बिरादरी के बड़े बड़े लोगों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी से मिलने चला ॥ ३४ ॥

[नोट—गुह, जाति का केवट हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी का मित्र था, इस पर कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं--क्योंकि मैत्री "समानशील व्यसनेषु सख्यम्" होना चाहिये—सो कहाँ क्षत्रियकुलोद्भव राजकुमार श्रीरामचन्द्र और कहाँ केवटों का राजा गुह ! गुह केवटों का चौधरी न था, बल्कि राजा था—यह बात उसके साथ बूढ़े मंत्रियों के आने से प्रकट होती है। एक राजा का दूसरे राजा के साथ समानव्यसन होने से मैत्री होना आश्चर्य की बात नहीं। गुह "स्थपति" कहलाता था। वैजयन्ती कोष के अनुसार "स्थापत्येधिपतोतार्क्ष्ये" गुह बढ़ई भी था अतः ;

"हीनप्रेष्यं हीनसख्यं हीनगोह निषेवणं" का दोष महाकुलप्रसूत श्रीरामचन्द्र के ऊपर इसलिये नहीं आता कि, "स्थपति" होने से गुह यज्ञ में आ सकता था, "निषादस्थपतिंयाजयेत्त" इति श्रुत्या"। फिर जब श्रीरामचन्द्र भक्तवत्सल भगवान के अवतार थे तब,

---

१ आत्मसमः—प्राणसमः । (गो०) २ बलवान्—चतुरंग बलवान् । (गो०) ३ स्थपतिः—निषादाधिपतिः । (गो०)

"न शूद्र भगवद्भक्ता विप्रा भगवतास्मृताः
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥"

अर्थात् भगवद्भक्त भले ही शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह शूद्र नहीं, भगवद्भक्त होने के कारण उसकी विप्र संज्ञा हो जाती है। प्रत्युत सब वर्णों में शूद्र तो वह है जो भगवान् का भक्त नहीं है।]

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद्गुहेन सः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र गुह को दूर से आते देख लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जा, गुह से मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः[1] सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।
यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी को मुनि भेष धारण किये देख, गुह वड़ा दुःखी हुआ और श्रीरामचन्द्र जी से मिल, यह बोला—हे श्रीरामचन्द्र! अयोध्या की तरह यह राज्य भी आप ही का है, सो आज्ञा दीजिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ॥ ३६ ॥

[गुह का श्रीराम को तपसी भेष में देख कर दुःखी होना यह सूचित करता है कि गुह का और श्रीरामचन्द्र का शिकार आदि में पहले भी कई बार समागम हो चुका था। इसीसे वह राजकुमार का परम सखा भी हो गया था। (गो०)]

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम्।
ततो [2]गुणवदन्नाद्यम्[3] उपादाय पृथग्विधम्[4] ॥ ३७ ॥

---

१ आर्तः—धृत वल्कल दर्शनेन सन्तप्तः (गो०)। २ गुणवत्—स्वादु शीघ्र परिपाकादि गुण विशिष्टम्। (शि०) ३ आद्य शब्देन पेयादिकमुच्यते। (गो०)
४ पृथग्विधम्—मांसादिभेदेन बहुविधं। (गो०)

हे महाबाहो ! आप जैसे प्रिय अतिथि का आना साधारण बात नहीं है। यह कह अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ॥३७॥

अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥

और अर्घ्य की सामग्री तुरन्त ला कर, गुह बोला, हे महाबाहो! मैं आपका स्वागत करता हूँ, यह सारा राज्य आप ही का है ॥३८॥

वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥ ३९ ॥

हम सब आपके टहलुए हैं, आप हम लोगों के प्रभु हैं। अब आप इस राज्य को ले कर शासन कीजिये। ये भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य (अर्थात् खाने पीने के लिये) पदार्थ उपस्थित हैं ॥ ३९ ॥

शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं[1] च ते ।
गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ॥ ४० ॥

सोने के लिये अच्छे अच्छे पलंग और आपके घोड़ों के लिये दाना घास भी ला कर रखा है। गुह के इस प्रकार कह चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ४० ॥

अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वथा वयम् ।
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसन्दर्शनेन च ॥ ४१ ॥

आपने मेरे निकट पैदल आ कर जो इतना स्नेह जनाया, सो मेरा सब प्रकार से आदर सत्कार हो चुका। मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ४१ ॥

---

१ खादनं—घासः । (गो०)

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि [1]तीर्थान्यायतनानि[2] च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की मैं पूजा करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें कि; जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्दोष महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अनन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से जा लगी ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥ ९३ ॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को छोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

---

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काश्यादीनि । (रा०)

एतावताऽत्रभवता भविष्यामि सुपूजितः ।
एते हि दयिता राज्ञा पितुर्दशरथस्य मे ॥ ४६ ॥

बस इसीसे मानों आपने मेरा अच्छी तरह से सत्कार कर दिया। क्योंकि वे घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथ को अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४६ ॥

एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ।
अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् ॥४७॥

अतः इनको जब अच्छी तरह से दाना घास जल मिल गया तब मानों मेरा ही भली भाँति आदर सत्कार हो चुका ॥ ४७ ॥

गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ।
ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

यह सुन गुह ने अपने नौकरों को तुरन्त आज्ञा दी कि, घोड़ों को दाना घास दो और इनको पानी पिलाओ। तदनन्तर वल्कल का दुपट्टा ओढ़े हुए श्रीरामचन्द्र जी ने, सायं सन्ध्योपासन किया और स्वयं लक्ष्मण का लाया हुआ जल मात्र पिया ॥ ४८ ॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः ।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी और सीता इंगुदी वृक्ष के नीचे भूमि पर लेट गये, तब लक्ष्मण जी ने जल ला कर उन दोनों के पैर धोये। और वहीं पेड़ के समीप वे बैठे रहे ॥ ४९ ॥

[नोट—सोने के पूर्व पैर धोना आयुर्वेद की दृष्टि से आवश्यक है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, पैर धो कर और पोंछ कर सोने से स्वप्न या स्वप्नदोष नहीं होता।]

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः॥ ५०॥

गुह, सुमंत्र और सावधानतापूर्वक धनुषबाण धारण करने वाले लक्ष्मण, आपस में वातचीत करते हुए रात भर जागते रहे॥ ५०॥

तथा शयानस्य ततोऽस्य धीमतो
यशस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीयाय चिरेण शर्वरी॥ ५१॥

इति पञ्चाशः सर्गः॥

धीमान एवं यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, जो सदा सुख भोगने योग्य थे, किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय दुःख पा रहे थे, सो गये और सोते सोते उन्हें यह भी न मालूम पड़ा कि, रात कब बीत गयी॥ ५१॥

[नोट—इस श्लोक का भावार्थ यह है कि, जो श्रीरामचन्द्र जी चक्रवर्ती के पुत्र थे और जिन्होंने कष्ट का नाम भी कभी नहीं सुना था—वे इस वनयात्रा के कष्टों से परिश्रान्त तथा कुछ भी न खाने से क्लान्त होने के कारण ऐसे सोये कि, उन्हें यह न जान पड़ा कि, रात कब बीत गयी।]

अयोध्याकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

एकपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् ।
गुहः सन्तापसन्तप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण जी से—जो भाई की रखवाली करते हुए, बड़ी सावधानी से जाग रहे थे, गुह सन्तप्त हो बोला ॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम्हारे सोने के लिये यह बिछौना तैयार है इस पर हे राजकुमार ! तुम सुखपूर्वक विश्राम करो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्व क्लेशानां त्वं सुखोचितः ।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥३॥

हम लोग जो वन में रहा करते हैं, कष्ट सहने के आदी हैं, और तुम सदा सुख भोगते रहे हो, अतः तुमको सुख मिलना उचित है। श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिये, हम लोग रात भर जागते रहेंगे। अतः तुम लेट रहो और सोओ ॥ ३ ॥

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।
ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥

(कदाचित् लक्ष्मण का यह सन्देह हो कि, गुह रात भर न जागेगा और लक्ष्मण को सुलाने को वह बात कहता है इस पर गुह

कहता है) इस संसार में श्रीरामचन्द्र से बढ़ कर मेरा प्यारा दूसरा कोई नहीं है। यह बात मैं सत्य की शपथ खा कर तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ ४ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम् ॥ ५ ॥

क्योंकि इन्हीं (श्रीरामचन्द्र जी) की प्रसन्नता से मैं बड़ा यश, धर्म, बहुत सा धन, और काम चाहता हूँ, (अर्थात् इनके प्रसन्न होने से मुझे अर्थ धर्म काम मोक्ष सभी कुछ मिल सकता है, अतः मैं रात भर जाग कर और रखवाली कर इनको प्रसन्न रखूँगा) ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वतो ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

अतः मैं हाथ में धनुष ले कर अपने परिवार के लोगों के साथ सीता सहित सोये हुए अपने प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की हर तरह से रखवाली करूँगा ॥ ६ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं सुमहत्प्रसहेमहि ॥ ७ ॥

इस वन में मेरा बिना जाना हुआ कुछ भी नहीं है (अर्थात् मुझे इस वन का रत्ती रत्ती हाल मालूम है।) क्योंकि मैं तो इस वन में सदा विचरा ही करता हूँ। यदि चतुरङ्गिणी सेना भी मेरे ऊपर आक्रमण करे, तो मैं (इस वन का जानकार होने के कारण) उसका भी सामना करने को समर्थ हूँ ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी ने गुह से कहा, हे पुण्यात्मन्! तुम्हारी रखवाली का तो हमें पूरा भरोसा है। मुझे डर किसी बात का नहीं है, किन्तु अपने कर्त्तव्यपालन का मुझे पूरा ध्यान है ॥ ८ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥९॥

जब चक्रवर्ती महाराज दशरथ के कुमार, राजा जनक की बेटी सीता जी के सहित, भूमि पर पड़े सो रहे हैं, तब मेरा यह कर्त्तव्य नहीं कि, मैं पड़ कर सुख से सोऊँ अथवा अपने जीते रहने या अपने आराम के लिये प्रयत्न करूँ ॥ ९ ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥

युद्ध में जिन श्रीरामचन्द्र जी का सब देवता और असुर मिल भी सामना नहीं कर सकते, देखो, आज वे ही सीता सहित फूस के ऊपर सो रहे हैं ॥ १० ॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः[1]।
एको[2] दशरथस्येष्टः पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥

अनेक जप तप और यज्ञानुष्ठान के बाद महाराज के उन जैसे लक्षणों वाले यही तो एक प्रिय पुत्र हुए हैं ॥ ११ ॥

अस्मिन्प्रवाजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १२ ॥

---

१ परिश्रमैः—यज्ञादिभिः। (गो०) २ एकः—मुख्यः। (गो०)

सो इनके अयोध्या से चले आने पर महाराज बहुत दिनों तक न ठहर (जीवित रह) सकेंगे। अतः यह पृथिवी बहुत शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १२ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषोपरतं चातो मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥

मैं समझता हूँ, जो स्त्रियाँ हमारे आने पर रोती पीटती थीं, वे अब शान्त हो गयी होंगी और राजभवन में भी सन्नाटा छा गया होगा ॥ १३ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥

कौशल्या, महाराज दशरथ और मेरी जननी सुमित्रा ये सब इस रात में जीते जागते बच जायंगे मुझे इसमें सन्देह है ॥ १४ ॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
तद्दुःखं यत्तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १५ ॥

शत्रुघ्न का मुख देखती हुई मेरी माता तो जीती भी रहै, किन्तु यह बड़ा दुःख है कि, वीरजननी कौशल्या जो विना श्रीराम के अवश्य शरीर त्याग देंगी ॥ १५ ॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा ।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी में अनुराग रखने वाले प्रजाजनों से भरी हुई सुख समृद्धि वाली, लोकप्रिय अयोध्यापुरी, हाय ! महाराज के मरने के शोक से नष्ट हो जायगी ॥ १६ ॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठं प्रियमपश्यतः ।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

क्योंकि अपने महात्मा प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को देखे बिना महाराज दशरथ जी के प्राण शरीर में कैसे ठहर सकेंगे ॥ १७ ॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति ।
अनन्तरं च माताऽपि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

महाराज के मरते ही महारानी कौशल्या भी मर जायंगी और कौशल्या के बाद मेरी माता भी नाश को प्राप्त होगी ॥ १८ ॥

[1]अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

हाय ! सब बना बनाया खेल ही बिगड़ जायगा जब कि, महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक का मनोरथ अपने मन में लिये हुए ही इस संसार से चल देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ऽप्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ २० ॥

अब तो भाग्यवान वही है, जो महाराज के पास उनके अंत समय में उपस्थित रह कर, उनके सब और्द्धदैहिक कृत्य करेगा ॥२०॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥

---

१ अतिक्रान्तमतिक्रान्त—सर्वं प्रयोजनमतीत्यगतं इत्यर्थः ॥

वे लोग धन्य होंगे जो रमणीय चबूतरों, और बैठकों से युक्त उस नगरी में विचरेंगे, जिसमें सड़कें अच्छे प्रकार से नगरी का विभाग कर बनाई गयी हैं, जिसमें बड़े ऊँचे ऊँचे भवन अटारियों से युक्त हैं तथा जो सुन्दरी वेश्याओं से सुशोभित है ॥ २१ ॥

रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥

जिसमें बहुत से रथ, घोड़े और हाथी मौजूद हैं और जिसमें सदा तुरही बजा करती हैं और जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ हैं, और जो हृष्टपुष्ट जनों से भरी हुई है ॥ २२ ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

जो वाटिकाओं और उद्यानों से सम्पन्न है; जहाँ नित्य सामाजिक उत्सव, (विवाह, यज्ञोपवीत कनछेदन, मूँड़न अथवा सार्वजनिक देवोत्सव आदि) हुआ ही करते हैं, अथवा जहाँ सदा जातीय सभाएँ हुआ करती हैं। ऐसी पिता की राजधानी में, वन से लौट कर कब हम प्रसन्न होते हुए घूमेंगे ॥२३॥

अपि जीवेदशरथो वनवासात्पुनर्वयम् ।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्येम सुव्रतम् ॥ २४ ॥

महाराज दशरथ जीवित रहैं। जिससे हम लोग वनवास से लौट कर, उन महात्मा सुव्रत के दर्शन फिर पावें ॥ २४ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते* वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥

---

* पाठान्तरे—"निवृत्त" ।

और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक वन से लौट कर, फिर अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ २५ ॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी साऽत्यवर्तत ॥ २६ ॥

महात्मा राजकुमार लक्ष्मण ने दुःखपूरित हृदय से इस प्रकार विलाप करते करते और खड़े खड़े सारी रात बिता दी ॥ २६ ॥

तथा हि सत्यं[1] ब्रुवति प्रजाहिते
[2]नरेन्द्रपुत्रे [3]गुरुसौहृदाद्गुहः ।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

महाराजकुमार लक्ष्मण ने जो बातें माता पितादि गुरुजनों के स्नेह के वश, प्रजा के सम्बन्ध में गुह से कहीं, वे सब वास्तव में ठीक ही थीं। उनको सुन गुह बहुत दुःखी हुआ और उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह उसी प्रकार व्यथातुर हुआ, जिस प्रकार ज्वर आने से हाथी व्यथातुर होता है ॥ २७ ॥

[नोट—हाथी को वैसे तो ज्वर कभी आता नहीं और जब आता है, तब उसे बड़ा भारी क्लेश होता है। यहाँ तक कि उसके इस क्लेश की समाप्ति बहुधा मृत्यु ही से होती है।]

अयोध्याकाण्ड का पञ्चावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

१ सत्यं—वास्तवं । (गो०) २ नरेन्द्रपुत्रे—लक्ष्मणे । (गो०) ३ गुरुसौहृदात्—गुरुपितृव्यादिपुत्रस्नेहात् ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर जब सवेरा हुआ तब बड़े वक्षःस्थल वाले महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से बोले ॥१॥

भास्करोदयकालोऽयं गता भगवती निशा ।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥

देखो, भगवती रात बीत गई, अब सूर्य भगवान् उदय होना ही चाहते हैं । देखो न, यह अत्यन्त काली कोयल कूकने लगी ॥ २ ॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने ।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम् ॥ ३ ॥

उधर वन में मयूरों का नाद भी सुन पड़ता है, अतः चलो, अब इस तेज़ बहने वाली सागरगामिनी भागीरथी गङ्गा जी के पार उतर चलें ॥ ३ ॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीराम जी के सामने खड़े हुए सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, गुह और सुमंत्र जी को बुलाया ॥ ४ ॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

गुह ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिप्राय को जान, तदनुसार उसी समय मंत्रियों को बुला कर, यह आज्ञा दी कि, ॥ ५ ॥

अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चढ़ने योग्य अच्छे डाँड़ों वाली, मय मल्लियों के घाट पर शीघ्र एक ऐसी नाव लगवाओ, जो मज़बूत हो और जिसमें बैठ आराम से श्रीरामचन्द्र जी पार जा सकें ॥ ६ ॥

तं निशम्य* समादेशं गुहामात्यगणो महान् ।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥

गुह की आज्ञा पा कर, उसके मंत्री ने एक सुन्दर नाव मँगवा ली और गुह से जा कर निवेदन किया कि नाव उपस्थित है ॥ ७ ॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

तब हाथ जोड कर गुह ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि, हे देव ! नाव तैयार है । आज्ञा दीजिये आपकी और क्या सेवा करूँ ॥ ८ ॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगां नदीम् ।
नौरियं पुरुषव्याघ्र तां त्वमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥

हे सुव्रत ! हे पुरुषसिंह ! सागरगामिनी गङ्गा के पार जाने के लिये नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इस पर सवार हूजिये ॥ ९ ॥

---

* पाठान्तरे—"गुहादेशं" ।

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, आराम से बैठे हुए धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास ही वट वृक्ष के नीचे लक्ष्मण जी की रची पर्णशय्या को देख, उस पर जा लेटे ॥ ३२ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं[1] वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर, श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष बिताने की इच्छा करते हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन्विजने वने तदा
महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्द्धन दोनों भाइयों ने, उस निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो,, वैसे वास किया, मानों पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास करते हों ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

[1] पुष्कलं—पूर्णार्थं । (गो०)

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥

तुम अब यहाँ से लौट आओ—क्योंकि हमें इतनी ही आवश्यकता थी—अब हम रथ पर सवार न हो, पैदल ही वन को जायँगे ॥ १४ ॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब सुमंत्र, जिन्हें श्रीरामचन्द्र जी ने लौटने की आज्ञा दी, अपने को श्रीरामचन्द्र से बिछुड़ा जान, अतः दुःखी हो, उनसे बोले ॥ १५ ॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित् ।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥ १६ ॥

एक मामूली मनुष्य की तरह, लक्ष्मण और सीता सहित आपके वनवास के सम्बन्ध में, किसी की भी सम्मति नहीं है ॥१६॥

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः[1] ।
[2]मार्दवार्जव[3]योर्वाऽपि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥ १७ ॥

जब आप जैसे दयालु और सरल सीधे मनुष्य को भी ऐसे दुःख का सामना करना पड़ता है ; तब मैं तो यही मानूँगा कि, न तो ब्रह्मचर्य धारण करने से, न वेदाध्ययन से, न दयालुता से और न सरलता से कुछ भी फल होता है। क्योंकि आपने तो ब्रह्मचर्य भी धारण किया, वेदाध्ययन भी किया और आप दयालु तथा सरल भी हैं ॥ १७ ॥

---

१ फलोदयः—फलसिद्धिर्नास्तीतिमन्ये । २ -मार्दवे—दयालुत्व इति यावत् । ३ आर्जवे अकौटिल्ये । (गो०)

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन् ।
त्वं गतिं[1] प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

हे राघव ! लक्ष्मण और सीता सहित वन में वास करने से आपकी वैसी ही कीर्ति होगी, जैसी कि, तीनों लोकों को जीतने से किसी की हो सकती है (अर्थात् इस लोक में आपकी बड़ी ख्याति होगी) ॥ १८ ॥

वयं खलु हता राम ये त्वयाप्युपवञ्चिताः[2] ।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥१९॥

हे राम ! आपसे अलग होते ही हमें अब उस पापिन कैकेयी के अधीन हो रहना पड़ेगा । अतः हम लोगों का तो अब निस्सन्देह मरण ही है ॥ १९ ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं[3] सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।
दृष्ट्वा दूरगतं[4] रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥ २० ॥

यह कहते हुए अति बुद्धिमान सुमंत्र, श्रीरामचन्द्र जी का दूर देश जाना निश्चित जान, दुःखी हो बहुत देर तक रुदन करते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाष्पे स्रुतं स्पृष्टोदकंशुचिम्[5] ।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

---

१ गतिः—कीर्तिः । (गो०) २ उपवञ्चिताः—त्यक्ताः । (रा०) ३ आत्मसमं—अतिबुद्धिमन्मंत्रियोग्यं । (रा०) ४ दूरगतं—दूरदेशावस्थानवेतं निश्चित्य । (रा०) ५ स्पृष्टोदकंशुचिम्—रोदनस्याशुचिता हेतुत्वात्-स्पृष्टोदकं आचान्तं अतएव शुचिं । (गो०)

कुछ देर तक रोते रहने के अनन्तर सुमंत्र आचमन कर पवित्र हुए (रोने से अपवित्रता होती है, उसकी निवृत्ति के लिये आचमन किया)। तब श्रीरामचन्द्र जी ने मधुरवाणी से बार बार सुमंत्र से कहा ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥ २२ ॥

(मंत्रियों में) तुम्हारे समान इक्ष्वाकुवंश का हितैषी मित्र, दूसरा मुझे कोई नहीं देख पड़ता । सो अब तुम ऐसा करना जिससे महाराज मेरे लिये दुःखी न हों ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।
कामभारावसन्नश्च[1] तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

क्योंकि महाराज एक तो वृद्ध हैं, दूसरे काम के वेग से सताये हुए हैं । इसीलिये यह बात मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद्यदाज्ञापयेत्किञ्चित्स महात्मा महीपतिः ।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया[2] ॥२४॥

वे महात्मा महाराज, कैकेयी की प्रसन्नता के लिये जो जो और जिस जिस तरह से करने को कहें, उसको आदर सहित करना ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नरेश्वराः ।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

---

१ कामभारावसन्नः—कामवेगेन पीडितः । (रा०) २ विकाङ्क्षा—अनादरः तदभावेन आदरेणेत्यर्थः । (गो०)

राजा लोग इसी लिये शासन करते हैं कि, सब काम उनकी इच्छानुकूल ही हों ॥ २५ ॥

यथथा स महाराजो नालीक[1]मधिगच्छति ।
न च ताम्यति[2] दुःखेन सुमन्त्र कुरु तत्तथा ॥ २६ ॥

हे सुमंत्र ! महाराज किसी बात से अप्रसन्न न हों और उनके मन में दुःख से ग्लानि उत्पन्न न हो, तुम वैसा ही काम करना ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् ।
ब्रुयास्त्वमभिवाद्यैव मम[3] हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

जिन महाराज ने कभी दुःख नहीं सहा, उनसे मेरी ओर से प्रणाम कर, यह बात कहना कि, ॥ २७ ॥

नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली ।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्सामहेति च ॥ २८ ॥

राम, लक्ष्मण तथा सीता ने कहा है कि, हमको न तो अयोध्या छूटने का और न वनवास ही का कुछ दुःख है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान् ॥२९॥

चौदह वर्ष बीतने पर आप लक्ष्मण और सीता सहित मुझे शीघ्र ही फिर अयोध्या में आया हुआ देखेंगे ॥ २९ ॥

---

१ अलीकं—अप्रियं । (गो०) २ ताम्यति—ग्लायति । (रा०)
३ ममहेतोः—मदर्थं, ममप्रतिनिधित्वेनेत्यर्थः । (गो०)

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे ।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥३०॥

इस प्रकार तुम महाराज से, मेरी माता कौशल्या से तथा अन्य रानियों से और कैकेयी से भी वार वार कह देना ॥ ३० ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् ।
सीताया मम चार्यस्य[1]वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

माता कौशल्या से प्रणाम पूर्वक मेरी, सीता की और लक्ष्मण की कुशलक्षेम कहना ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्च हि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय ।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते[2] पदे[3] ॥ ३२ ॥

महाराज से कहना कि, भरत जी को शीघ्र बुलवा कर और उनके आते ही उनको अपनी इच्छानुसार युवराजपद पर नियुक्त कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च ।
अस्मत्सन्तापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

भरत जी को गोद में बिठा कर और उनको युवराज पद देने से, हमारे वियोग से उत्पन्न सन्ताप का दुःख आपको न होगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

---

१ आर्यस्य—ज्येष्ठस्य । (रा०) २ नृपसते—राजेच्छाविषयीभूते । (शि०) ३ पदे—स्थानेस्थाप्य । (शि०)

भरत से कहना कि, तुम जिस प्रकार महाराज को मानों उसी प्रकार सब माताओं के साथ बरतना और सब को एक दृष्टि से देखना ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार तुम्हारी माता कैकेयी है, उसी प्रकार सुमित्रा और विशेष कर मेरी माता कौशल्या को मानना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता[1] ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्[2] ॥ ३६ ॥

यदि तुम महाराज को प्रसन्न करने के लिये युवराजपद लेना स्वीकार कर लोगे, तो उभयलोक में तुम्हारे लिये सुख की सदा वृद्धि होगी ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जब सुमंत्र को समझा बुझा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने विदा करना चाहा, तब सुमंत्र उनकी बातें सुन, स्नेहवश श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवः[1] ।
भक्तिमानिति तत्त्वावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

---

१ अवेक्षता—स्वीकुर्वता । (शि०) २ एधितुं—वर्द्धयितुम् । (शि०)

१ विक्लवः—धृष्टः सन् । (गो०)

हे श्रीरामचन्द्र ! इस समय मैं स्नेहवश जो ढिठाई कर के कहता हूँ, उसे आप बनावट न समझिये, किन्तु भक्ति के आवेश में मेरे मुख से निकली हुई समझ, (यदि उनमें कोई अनुचित बात भी हो तो) उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये ॥ ३८ ॥

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामिव ॥ ३९ ॥

हे श्रीराम ! जो अयोध्यापुरी आपके विछोह से, निज पुत्रविछोह की तरह शोकाकुल है, उसमें मैं आपके बिना कैसे जाऊँ ॥ ३९ ॥

स राममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

जो लोग आपको इस रथ में बैठ कर आते हुए देख चुके हैं, वे ही जब इस रथ को आपके बिना ख़ाली देखेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी । वह पुरी ही फट जायगी ॥ ४० ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद्दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

इस रथ को ख़ाली देख, अयोध्यावासियों की वैसे ही दीन दशा हो जायगी जैसी कि, युद्ध में रथी के मारे जाने पर, रथीहीन रथ पर केवल सारथी को देख सेना की हो जाती है ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥४२॥

यद्यपि अयोध्या से आप इतनी दूर चले आये हैं, तथापि वहाँ वालों को, आप उनके मन के सामने ही खड़े से देख पड़ते हैं।

आपके लिये चिन्ता करते हुए उन लोगों ने निश्चय ही आज अन्न जल तक ग्रहण नहीं किया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद्धि त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।
प्रजानां सङ्कुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

आप तो वन को प्रस्थान करते समय स्वयं प्रजा की दुर्दशा देख चुके हैं कि, लोग किस तरह आपके लिये शोक से खिन्नचित्त हो गये थे ॥

आर्तनादो हि यः पौरैर्मुक्तस्त्वद्विप्रवासने ।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

और किस प्रकार आर्त्तनाद करते हुए लोग उच्चस्वर से रो रहे थे । वे ही लोग जब रथ सूना देखेंगे, तब सौ गुना अधिक रोदन करेंगे और दुःखी होंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।
नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथा इति ॥४५॥

फिर मैं अयोध्या जा कर देवी कौशल्या से क्या यह कहूँ कि, मैं तुम्हारे पुत्र को मामा के घर पहुँचा आया, अब आप दुःखी मत हों ॥ ४५ ॥

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

मैं ऐसी झूठी बात भी तो नहीं कह सकता । और यदि सत्य बोलूँ तो ऐसी अप्रिय बात मुझसे कैसे कही जायगी ॥ ४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

मेरे अधीन में रह कर, जिन उत्तम घोड़ों ने आपको तथा लक्ष्मण और सीता को अपनी पीठ पर यहाँ पहुँचाया है—वे आपके बिना इस रथ को किस प्रकार ले चलेंगे ॥ ४७ ॥

तन्न शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

हे अनघे ! मुझसे तो आपके बिना अयोध्या में जाया न जायगा । अतः मुझे भी आप वन में अपने साथ लेते चलिये अथवा मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि ।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र[1] इह त्वया ॥ ४९ ॥

यदि आप इतना गिड़गिड़ाने पर भी मेरा त्याग ही करेंगे, तो त्याग करते ही मैं यहीं (आपके सामने ही) रथ सहित अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाऊँगा ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।
रथेन[2] प्रतिवाधिष्ये तानि सत्त्वानि राघव ॥ ५० ॥

हे राघव ! वन में आपके तप में विघ्न डालने वालों को रथ ही से रोक दिया करूँगा । (अर्थात् रथी बन कर उनका सामना किया करूँगा) ॥ ५० ॥

त्वत्कृते न मयाऽऽप्तं रथचर्याकृतं सुखम् ।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

---

१ त्यक्तमात्रः—तत्क्षण एवत्यक्तः । (गो०) २ रथेन—रथीभूत्वा निवर्तयिष्यामि । (गो०)

द्विपञ्चाशः सर्गः

आप ही के कहने से मैंने इस रथ को हाँकने का सुख पाया है। अब मेरी प्रार्थना यह है कि, आप ही के द्वारा आपके साथ वनवास का भी सुख मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः ।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

अतः आप प्रसन्न हूजिये और मुझे भी अपना पासवान बना कर, अपने साथ वन ले चलिये। आप प्रसन्न हो कर, मुझे अपना पासवान बनने की आज्ञा दीजिये ॥ ५२ ॥

इमे चापि हया वीर यदि ते वनवासिनः ।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥५३॥

हे वीर! यदि ये घोड़े वनवास के समय आपकी सेवा में रहेंगे, तो इनको भी परमगति प्राप्त हो जायगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन् ।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

यदि मैं वन में रह कर सिर के बल भी आपकी सेवा कर सकूँ, तो अयोध्या की तो बात ही क्या, स्वर्ग तक को सर्वथा छोड़ दूँगा ॥ ५४ ॥

न हि शक्या प्रवेष्टुं सा मयाऽयोध्या त्वया विना ।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

समीपवर्ती । (स्त्री०)

मुझमें आपके बिना, अयोध्या में प्रवेश करने की उसी प्रकार सामर्थ्य नहीं है, जिस प्रकार पापी इन्द्र को, राजधानी अमरावती में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं होती ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः ।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

मेरा मनोरथ तो यह है कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर, मैं ही पुनः इसी रथ में बिठा कर, आपको अयोध्या ले चलूँ ॥५६॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यान्यतोऽन्यथा ॥ ५७ ॥

आपके साथ वन में रहने से ये चौदह वर्ष एक क्षण की तरह बीत जायंगे, नहीं तो ये चौदह वर्ष सैकड़ों वर्षों के समान जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं[1] भर्तृपुत्रगते पथि[2] ।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्यां[3] त्वं न मां हातुमर्हसि ॥५८॥

हे भृत्यवत्सल ! मैं अपने मालिक के पुत्र के साथ वन जाने का निश्चय किये हुए हूँ । अतः अपने इस भक्तभृत्य को, जो अपनी मर्यादा में स्थित है, आप कैसे छोड़ कर जा सकते हैं ॥ ५८ ॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

---

१ तिष्ठन्तं—निश्चितत्वदनुगमनंमां । (गो०) २ पथि—वन गमने । (गो०) । ३ स्थित्यां—मर्यादायां स्थितं । (गो०)

इस प्रकार बार बार प्रार्थना करते हुए सुमंत्र को देख, भृत्य-वत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से यह कहा ॥ ५९ ॥

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल ।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥

हे भर्तृवत्सल (स्वामिभक्त) ! मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा बड़ा अनुराग है, किन्तु मैं जिस कारणवश तुम्हें अयोध्या भेजता हूँ, उसे सुन लो ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी ।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

जब तुम अयोध्या में जाओगे, तब तुम्हें देख कर, मेरी छोटी माता कैकेयी को यह विश्वास हो जायगा कि, राम वन में गया ॥६१॥

परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि ।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

मेरे वनवास से वह सन्तुष्ट हो जायगी और महाराज के धार्मिक और सत्यवादी होने में को वह फिर शङ्का भी न करेगी ॥ ६२ ॥

एष मे प्रथमः[1] कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।
[2]भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्नुयात् ॥ ६३ ॥

मेरा यह मुख्य कर्त्तव्य या प्रयोजन है कि, मेरी छोटी माता कैकेयी अपने पुत्र भरत द्वारा पालित समृद्धशाली राज्य पावे ॥६३॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज ।
सन्दिष्टश्चासि यानर्थांस्तांस्तान्ब्रूयास्तथा तथा ॥६४॥

---

१ प्रथमः कल्पः—कर्त्तव्येषु मुख्यः । (गो०) २ भरतारक्षितं—भरतेन आसमन्तात रक्षितं पुत्रराज्यं । (गो०)

अतः मेरी प्रसन्नता के लिये तुम अयोध्या को लौट जाओ और मैंने जो जो सन्देश, जिस जिसके लिये तुमसे कहे हैं, वे उस उस के पास ज्यों के त्यों पहुँचा दो ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।
गुहं वचनमक्लीवो[1] रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कह कर, वार वार सुमंत्र को समझाया और फिर गुह से उत्साहवर्द्धक एवं युक्तियुक्त ये वचन कहे ॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥६६॥

हे गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वन में जहाँ अपने लोग रहते हों, रहना ठीक नहीं । अतएव हम कहीं पर्णकुटी बना कर, तपस्वियों की भाँति वास करेंगे । (यह गुह की उस बात का उत्तर है, जो उसने अपने राज्य का शासन करने को और वहीं रहने के लिये श्रीराम जी से कही थी ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः[2] सीताया लक्ष्मणस्य च ॥६७॥

जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

---

१ अक्लीवं—क्लीवता निवर्तकं । (शि०) २ भूयोहितकामः—अतिशयेन परलोकसाधन पुण्यकामः सन् । (गो०)

द्विपञ्चाशः सर्गः

इस लिये मैं पिता के तथा सीता और लक्ष्मण के अतिशय
परलोकसाधन रूप पुण्य के निमित्त यथानियम तपस्वियों की भूषण-
रूपी जटा बना कर, वन जाऊँगा। इसलिये तुम वरगद का दूध ले
आओ। यह सुन गुह ने तुरन्त ही वरगद का दूध ला दिया ॥६७॥६८॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस वरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण
की जटा बनाई। महाबाहु और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण
जटा रख, तपस्वी बन गये ॥ ६९ ॥

तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण चीरवसन
और जटा बाँधे ऋषियों की तरह शोभित हुए ॥ ७० ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।
व्रतमादिष्टवान्[1] रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वानप्रस्थ हो और ब्रह्मचर्य
ग्रहण कर अपने सहायक रूप गुह से बोले ॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो वले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

हे गुह ! तुम सेना, कोश, दुर्ग और राष्ट्र की रक्षा करने में
सदा सावधान रहना, क्योंकि मेरी समझ से राज्य की रक्षा करना
बड़ी कठिन बात है ॥ ७२ ॥

१ आदिष्टवान्—अङ्गीकृतवान् । (गो०)

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

यह कह कर, इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने गुह को विदा किया और स्वयं चञ्चल चित्त हो शीघ्रता के साथ सीता और लक्ष्मण सहित चल दिये ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर तट पर नाव को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने तेज़ धार से बहने वाली गङ्गा के पार जाने की इच्छा से, लक्ष्मण जी से कहा ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः ।
सीतां चारोपयान्वक्षं[1] परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

हे पुरुषसिंह ! यह जो नाव खड़ी है, इसे पकड़ कर धीरे से मनस्विनी सीता जी को इस पर चढ़ा दो और तुम भी सवार हो लो ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाई की ऐसी आज्ञा सुन, तदनुसार ही लक्ष्मण जी ने सीता जी को पहले नाव पर सवार कराया और पीछे स्वयं भी नाव पर सवार हुए ॥ ७६ ॥

---

१ अन्वक्षं—अनुपदंत्वं चारोहेतिसम्बन्धः । (गो०)

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीन्[1] चोदयत् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी स्वयं नाव पर चढ़े। तब गुह ने अपने भाईबंदों को नाव को खे कर, पार ले जाने की आज्ञा दी ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी, नाव पर बैठ, अपने हित के लिये (अर्थात् जिससें कुशलपूर्वक पार हो जांय) ब्राह्मण और क्षत्रियों के जपने योग्य नावारोहण सम्बन्धी वेदमंत्र जपने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्राणमत्प्रीतिसंहृष्टो लक्ष्मणश्चामितप्रभः ॥ ७९ ॥

तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार सीता सहित उन्होंने आचमन कर, श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया। फिर अमितप्रभ लक्ष्मण ने भी परम प्रसन्न हो कर श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥८०॥

श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र एवं ससैन्य गुह को विदा कर, नाव में बैठे और माझियों से नाव खेने को कहा ॥ ८० ॥

---

१ ज्ञातीन्—बन्धून् । (गो०)

ततस्तैश्चोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता[1] ।
शुभस्फ्यवेगाभिहता[2] शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तब माझियों ने उस नाव को चलाया, पतवार और डाँड़ों के ज़ोर से नाव शीघ्रता से जल पर चलने लगी ॥ ८१ ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

जब नाव बीच धार में पहुँची, तब अनन्दिता सीता जी ने हाथ जोड़ कर, श्रीगङ्गा जी की अधिष्ठात्री देवी से यह कहा ॥ ८२ ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

हे गङ्गे ! बुद्धिमान् राजाधिराज दशरथ जी के यह पुत्र श्रीरामचन्द्र जी, आपसे रक्षित हो, अपने पिता की आज्ञा पालन करें ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास के पूरे कर, अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ लौट आवेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये[3] प्रमुदिता गङ्गे सर्वकाम समृद्धिनी ॥ ८५ ॥

---

१ समाहिता—सज्जीकृता । (वि०) २ वेगाभिहता—प्रेरिता । (वि०)
३ यक्ष्ये—पूजयिष्यामि । (गो०)

द्विपञ्चाशः सर्गः

तो हे देवी ! हे सुभगे ! मैं सकुशल लौट कर, आपकी पूजा करूँगी । हे गङ्गे ! आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥८५॥

त्वं हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोकं समीक्षसे ।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन्सम्प्रदृश्यसे ॥८६॥

हे त्रिपथगे ! आप तो ब्रह्मलोक तक में व्याप्त हैं । आप सागर-राज की भार्या के रूप में इस लोक में भी देख पड़ती हैं ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन[1] पुनरागते ॥ ८७ ॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्[2] ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया[3] ॥ ८८ ॥

अतः हे शोभने ! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ और स्तुति करती हूँ । जब श्रीरामचन्द्र सकुशल वन से लौट आवेंगे और इन्हें राज्य मिल जायगा, तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिये एक लक्ष गौ, सुन्दर वस्त्र और अन्न, मैं ब्राह्मणों को दान करूँगी ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च ।
यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरुपागता ॥ ८९ ॥

अयोध्यापुरी में लौट कर मैं एक सहस्र घड़े सुरा के और मांस युक्त भात से तुम्हारे निमित्त बलिदान दे कर, तुम्हारी पूजा करूँगी ॥ ८९ ॥

---

१ शिवेन—क्षेमेण । (गो०) २ पेशलं—रम्यं । (गो०)
३ चिकीर्षया—ब्राह्मणमुखेनहिदेवतानांग्रहणमितिभावः । (गो०)

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि [1]तीर्थान्यायतनानि[2] च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की मैं पूजा करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।
अयोध्यां वनवासात्तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें कि; जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्दोष महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अनन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से जा लगी ॥ ९२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥ ९३ ॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को छोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

---

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काश्यादीनि । (रा०)

वनगमन

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥

और लक्ष्मण जी से कहा कि देखो, चाहे निर्जन स्थान हो चाहे सजन स्थान हो, तुम सीता जी की रखवाली में चौकसी रखना ॥ ९४ ॥

अवश्यं रक्षणं कार्यमदृष्टे[1] विजने वने ।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥

हमको इस अनदेखे विजन वन में अवश्य रक्षा करनी उचित है । अतः हे लक्ष्मण ! तुम तो आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता जी चलें ॥ ९५ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन् ।
अन्योन्यस्येह नो[2] रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तुम्हारे दोनों के पीछे, तुम्हारी रक्षा करता हुआ मैं चलूँगा । हे पुरुषश्रेष्ठ ! अब हमको परस्पर एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिये ॥ ९६ ॥

न हि तावदतिक्रान्ता[3] सुकरा[4] काचन क्रिया ।
अद्य दुखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

जिन जानकी जी को आज तक कोई ऐसा काम नहीं करना पड़ा, जिसके करने में उन्हें बड़ा परिश्रम उठाना पड़ा हो, उन्हीं जानकी जी को आज वनवास के दुःख जान पड़ेंगे ॥ ९७ ॥

---

१ अदृष्टे—अदृष्ट पूर्वे । (गो०) २ नः—आवयोः । (गो०) ३ न अति क्रान्ता—न कृतेत्यर्थः । (शि०) ४ असुकरा—अतिप्रयत्नसाध्या । (शि०)

प्रनष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं[1] च प्रपातं[2] च वनं ह्यद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

क्योंकि इस वन में—जहां न तो कोई मनुष्य देख पड़ता है, और न खेत अथवा वाटिका देख पड़ती है, तथा जहां की ज़मीन भी ऊबड़ खाबड़ है और जहां बड़े बड़े खार देख पड़ते हैं, आज उसी वन में जानकी प्रवेश करेंगी ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी आगे, उनके पीछे जानकी जी और जानकी जी के पीछे श्रीरामचन्द्र जी चले ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः प्रततं[3] निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच वाष्पं व्यथितस्तपस्वी[4] ॥ १०० ॥

उधर सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को शीघ्र गङ्गा के उस पार जाते देख, उस ओर टकटकी बांध, देखते रहे और उस ओर से अपनी दृष्टि न हटायी तथा सन्तापयुक्त हो रुदन करने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाववां-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।

---

१ विषमं—निम्नोन्नतप्रदेशयुक्तं । (गो०) २ प्रपातः—गर्तः । (गो०) ३ प्रततंनिरीक्ष्य—अविच्छिन्नंनिरीक्ष्य । (गो०) ४ तपस्वी—सन्तापयुक्तः । (शि०)

ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान्[1]मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालों के समान प्रभावशाली महात्मा एवं वरद श्रीरामचन्द्र जी, महानदी—श्रीगङ्गा को पार कर, समृद्ध एवं अन्न से परिपूर्ण तथा प्रमुदित वत्सदेश (गङ्गा यमुना के बीच प्रयाग प्रदेश का नाम वत्सदेश है) में जा पहुँचे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम्[2] ॥ १०२ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाइयों ने ऋष्य, पृषत, वराह और रुरु जाति के चार बड़े बड़े वनैले जानवरों की शिकार खेली । तदनन्तर उन लोगों ने भूख लगने पर ऋष्योचित भोजन कन्दमूल फलादि ला कर खाये और जब सन्ध्या हुई तब एक वृक्ष के नीचे जा टिके ॥ १०२ ॥

अयोध्याकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

१ वत्सान्—वत्सदेशान् । गङ्गा यमुनयोर्मध्ये प्रयाग प्रदेशो वत्सदेशः । (गो०) २ वत्स्यदेशेवराहादीश्चतुरोमक्षामृगान् हत्वा—खेलनार्थंसंताड्य । बुभुक्षितौ तौ रामलक्ष्मणौ मेध्यं व्रतिभिःभोक्तव्यं फलादिक मित्यर्थः । (शि०)

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स तं वृक्षं समासाद्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतांश्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र उस वृक्ष के नीचे जा और सायं सन्ध्योपासन कर, लक्ष्मण जी से बोले ॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद्बहिः ।
या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

बस्ती के बाहिर आ कर और सुमंत्र का साथ छोड़ कर, आज यह प्रथम रात है, जो हमें बितानी है ; उसके लिये तुम घबड़ाना मत अथवा उसके लिये तुम चिन्तित मत होना ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।
योगक्षेमं हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः[1] ॥ ३ ॥

आज से ले कर प्रत्येक रात्रि में हमें नींद त्याग कर, रात भर जागना पड़ेगा ; क्योंकि सीता जी का योगक्षेम हम दोनों ही के ऊपर निर्भर है अथवा हम दोनों ही के अधीन है ॥ ३ ॥

रात्रिं कथञ्चिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।
उपावर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

---

१ आवयोः वर्तते—अस्मदधीनमित्यर्थः । (गो०)

हे लक्ष्मण ! यह प्रथम रात है, सो आओ किसी तरह इसे तो व्यतीत करें और खर पत्तों को स्वयं बटोर कर और उनका बिछौना बना, उस पर लेट रहें ॥ ४ ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।
इमाः सौमित्रिये रामो व्याजहार कथाः शुभः ॥५॥

जो श्रीरामचन्द्र जी बड़े मूल्यवान बिस्तरों पर लेटा करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर पड़े हुए लक्ष्मण जी से वार्तालाप करने लगे ॥ ५ ॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही आज महाराज दशरथ जी, बड़े दुःख से सोये होंगे ; किन्तु कैकेयी अपना अभीष्ट पा कर और कृतार्थ हो सन्तुष्ट हुई होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्[1] ।
अपि न च्यावयेत्प्राणान्दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि कैकेयी भरत के आने पर, राज्य के लोभ से, महाराज दशरथ को मार डाले ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः ।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेयीवशमागतः ॥ ८ ॥

क्योंकि इस समय महाराज अनाथ हैं, बूढ़े हैं तथा कामी होने के कारण कैकेयी के वशवर्ती हैं । फिर मैं भी वहाँ नहीं हूँ। ऐसी दशा में वे बेचारे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे ॥ ८ ॥

---

१ राज्यकारणात्—राज्यस्थैर्यकारणात् । (शि०)

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्[1] ।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

इस दुःख को और महाराज की अत्यन्त निस्पृहता को देख, मैं तो समझता हूँ कि, अर्थ और धर्म दोनों से काम ही अधिक प्रबल है ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमानप्रमदायाः कृते त्यजेत् ।
[2]छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि, स्त्री के कहने से मुझ जैसे आज्ञाकारी अपने पुत्र को त्याग दे ॥ १० ॥

सुखी बत सभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।
मुदितान्कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

एकमात्र कैकेयी के पुत्र भरत अपनी पत्नी के सहित सुखी होंगे । क्योंकि ये अति प्रमुदित हो, अयोध्यामण्डल के राज्य का महाराजाओं की भाँति अकेले उपभोग करेंगे ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य राज्यस्य मुखमेकं[2] भविष्यति ।
ताते च वयसाऽतीते मयि चारण्यमास्थिते ॥ १२ ॥

अब भरत अखिल राज्य के मुख्य शासक हो जायँगे । क्योंकि महाराज की आयु तो समाप्ति पर है ही और मैं यहाँ वन में चला ही आया हूँ ॥ १२ ॥

---

१ अतिविभ्रमम्—अतिनिस्पृहत्वं । २ छन्दानुवर्तिनं—स्वेच्छानुवर्तिनं । (गो०) २ मुखमेकं—अद्वितीयं, प्रधानभूतं । (गो०)

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अर्थ और धर्म को छोड़ केवल काम का अनुगामी बन जाता है, उस पर तुरन्त उसी प्रकार विपत्ति पड़ती है जैसे महाराज दशरथ पर ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्रजनाय च ।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥१४॥

हे सौम्य ! मैं तो समझता हूँ कि, महाराज को मारने, मुझे वन पठाने और भरत को राज्य दिलाने के लिये ही कैकेयी का, हमारे घर में आगमन हुआ ॥ १४ ॥

अपीदानीं न कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता ।
कौसल्यां च सुमित्रां च सम्भवार्धेत मत्कृते[1] ॥ १५ ॥

मुझे डर है कि, कैकेयी सौभाग्यमद से मोहित हो, मेरा सम्बन्ध होने के कारण कहीं कौशल्या और सुमित्रा को न सताती हो ॥ १५ ॥

मा स्म मत्कारणाद्देवी सुमित्रा दुःखमावसेत् ।
अयोध्यामित एव त्वं काल्ये प्रविश लक्ष्मण ॥१६॥

मेरे कारण कौशल्या और सुमित्रा कष्ट भोगने न पावें, अतः तुम कल ही अयोध्या जा पहुँचो ॥ १६ ॥

---

१ मत्कृते, मत्संबन्धादित्यर्थः । (गो०)

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।
अनाथाया हि नाथस्त्वं[1] कौसल्याया भविष्यसि ॥१७॥

सीता जी को ले कर मैं अकेला ही दण्डकवन को चला जाऊँगा। तुम अयोध्या में पहुँच कर, उस अनाथा कौशल्या के रक्षक बनो अर्थात् रक्षा करो ॥ १७ ॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेष्यमन्याय्यमाचरेत् ।
परिदद्याद्धि* धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥

क्योंकि उस कैकेयी का बड़ा ही ओछा स्वभाव है। वह हम लोगों के वैरभाव से अन्याय कर, तुम्हारी और मेरी माताओं को विष दे देगी ॥ १८ ॥

नूनं जात्यन्तरे कस्मिंस्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः ।
जनन्या मम सौमित्रे तस्मादेतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! पूर्व जन्म में मेरी माता ने अवश्य स्त्रियों को पुत्रहीन किया था, इस जन्म में उसीका यह फल उसके सामने आया है ॥ १९ ॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च ।
विप्रयुज्यतां† कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥

मुझे धिक्कार है ! जिस माता ने बड़े बड़े दुःख सह कर मेरा इतने दिनों तक लालन पालन कर मुझे इतना बड़ा किया, उसी

---

१ नाथः—रक्षकः । (गो०) * पाठान्तरे—"परिदद्या हि धर्मज्ञे भरते मम मातरम्" ॥ † पाठान्तरे—"विप्रायुज्यत" ॥

माता को, जब उसको मुझसे सुख मिलने का समय आया, तब मैंने उसको त्याग दिया ॥ २० ॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥२१॥

हे लक्ष्मण ! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री मुझ जैसे पुत्र को, जो माता को अनन्त कष्ट दे रहा हूँ, कभी उत्पन्न न करे ॥ २१ ॥

मन्ये प्रीति विशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण शारिका ।
यस्यास्तच्छ्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, "मुझसे अधिक मेरी माता को प्रीतिपात्रा वह मैना है, जिसकी यह बात कि, हे सुग्गे ! शत्रु के पैर काट खाओ, मेरी माता सुनती है ॥ २२ ॥

शोचन्त्या अल्पभाग्याया न किञ्चिदुपकुर्वता ।
पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिन्दम ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! वह अल्पभाग्या मेरी माता शोकसागर में निमग्न होगी—हाय ! मैं उसका कुछ भी उपकार नहीं कर सकता । मुझ जैसे पुत्र से तो वह विना पुत्र ही के अच्छी थी अथवा मुझ जैसे पुत्र को उत्पन्न कर उसे कौन सुख मिला ॥ २३ ॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया ।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥

निश्चय ही मेरी माता कौशल्या अल्पभाग्या है । इस समय वह मेरे विछोह के कारण अत्यन्त दुःखी होने के कारण, शोकसागर में निमग्न लेटी होगी ॥ २४ ॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्[1] ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! क्रुद्ध होने पर मैं अकेला ही अयोध्या क्या—सारी पृथिवी को बाणों से अपने वश में कर सकता हूँ ; किन्तु यह धर्म-सङ्कट का समय है, ऐसे समय पराक्रम प्रदर्शन उचित नहीं ॥ २५ ॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ ।
तेन लक्ष्मण नात्मानमभिषेचये ॥ २६ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! ऐसा करने से मुझे पाप और परलोक का भय है । इसीसे मैं (पराक्रम प्रदर्शनपूर्वक) अपना अभिषेक नहीं करवाता अर्थात् बलपूर्वक राज्य नहीं लेता ॥ २६ ॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने वने ।
अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तूष्णीमुपाविशत् ॥ २७ ॥

उस निर्जन वन में, उस रात्रि को इस प्रकार के अनेक विलाप कर, आँखों में आँसू भर (गद्गद कण्ठ होने के कारण) चुप हो बैठ रहे ॥ २७ ॥

विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम् ।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥ २८ ॥

जब विलाप कर श्रीरामचन्द्र जी चुप हो गये, तब उन्हें ज्वाला-रहित अग्नि और वेगरहित समुद्र के समान शान्त देख, लक्ष्मण जी समझाने लगे ॥ २८ ॥

---

१ नन्वीर्यमेवकरणम्—धर्मबाधिकरहितं वीर्यं साधकत्वेनावलम्बनीयं । इत्यर्थः । (गो०)

ध्रुवमद्य पुरी राजन्नयोध्याऽऽयुधिनांवर ।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्तं गतचन्द्रेव शर्वरी ॥२९॥

हे योद्धाओं में श्रेष्ठ राजन् ! यह बात तो निश्चित है कि, आपके चले आने पर अयोध्यापुरी तो उसी प्रकार निष्प्रभ हो गयी होगी, जिस प्रकार चन्द्रमा के अस्त होने पर रात्रि हो जाती है ॥२९॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे ।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

परन्तु हे राम ! आपका इस प्रकार सन्तप्त होना तो उचित नहीं । क्योंकि आपके सन्तप्त होने से मुझको और सीता को भी विषाद होता है ॥ ३० ॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥ ३१ ॥

हे राघव ! मैं और सीता आपके बिना एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकते, जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती ॥ ३१ ॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप ।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं वाऽपि त्वया विना ॥ ३२ ॥

हे शत्रु को ताप देने वाले ! मैं आपके बिना न तो अपने पिता को, न अपने सहोदर शत्रुघ्न को और न अपनी जननी माता सुमित्रा ही को देखना चाहता हूँ । यही नहीं, किन्तु मुझे तो आपके बिना स्वर्ग को भी देखने की इच्छा नहीं है ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र सुखासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम् ।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, आराम से बैठे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास ही वट वृक्ष के नीचे लक्ष्मण जी की रची पर्णशय्या को देख, उस पर जा लेटे ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं[1] वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।
समाः समस्ता विदधे परन्तपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर, श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष बिताने की इच्छा करते हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन्विजने वने तदा
महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्द्धन दोनों भाइयों ने, उस निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो,, वैसे वास किया, मानों पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास करते हों ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

[1] पुष्कलं—पूर्णार्थं । (गो०)

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रत्याहरत विस्रब्धं वलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।
भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिकाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

—※—

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥

श्रुत्वन्रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥

यन्मङ्गलं महत्तत्ते सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान्प्रतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महावाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥

—※—

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड—३

उत्तराद्ध
अनुवादक
ACC No.

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,
उपाध्याय

प्रकाशक
रामनारायण लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध

की

विषय-सूची

चौवनवाँ सर्ग ५६३–५७३

गङ्गा-यमुना के सङ्गम-स्थल पर भरद्वाज के आश्रम में श्रीरामचन्द्रादि का पहुँचना। भरद्वाज को श्रीरामचन्द्र जी का अपने आगमन की सूचना दिलाना। भरद्वाज जी का आतिथ्य ग्रहण कर, श्रीरामचन्द्र जी का उनसे रहने के लिये किसी एकान्त स्थल के विषय में प्रश्न करना। उत्तर में भरद्वाज का चित्रकूटपर्वत पर रहने की सम्मति देना।

पचपनवाँ सर्ग ५७४–५८२

भरद्वाज जी के बतलाये हुए मार्ग से श्रीरामचन्द्रादि का चित्रकूट की ओर प्रस्थान। यमुना के दक्षिणतट पर वटवृक्ष के नीचे सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का टिकना।

छप्पनवाँ सर्ग ५८२–५९३

सीता सहित श्रीरामलक्ष्मण का चित्रकूट पहुँचना, वहाँ वाल्मीकि मुनि से भेंट और उनसे वार्तालाप। चित्रकूट पर लक्ष्मण जी का पर्णकुटी बनाना।

सत्तावनवाँ सर्ग ५९३–६०१

श्रीरामचन्द्रादि को विदा कर और गुह से विदा माँग सुमंत्र का अयोध्या की ओर प्रयाण। राजमार्ग में पुर-

वासियों का आर्तनाद सुनते हुए दशरथ-सदन में उनका प्रवेश। श्रीरामचन्द्र जी के बिना सुमंत्र को आया देख, महाराज दशरथ और उनकी स्त्रियों का पुनः विलाप।

अट्ठावनवाँ सर्ग ६०२–६११

पुत्रों के वनप्रवेश का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना। तदनन्तर किसी प्रकार सचेत होने पर महाराज दशरथ की सुमंत्र के साथ बातचीत। सुमंत्र द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का संदेसा महाराज दशरथ को सुनाया जाना।

उनसठवाँ सर्ग ६११–६२०

श्रीरामचन्द्र जी के विरह में अपने राज्य में बसने वालों के विषाद का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना।

साठवाँ सर्ग ६२०–६२६

पुत्रवात्सल्य के कारण पुत्र के वियोग का दुःख सहने में असमर्थ कौशल्या जी को वन जाने का आग्रह करते देख, सुमंत्र जी का उनको समझाना बुझाना।

इकसठवाँ सर्ग ६२६–६३३

महाराज के सामने कौशल्या का विलाप।

बासठवाँ सर्ग ६३३–६३८

सचेत होने पर महाराज दशरथ का कौशल्या जी से, अपने पूर्वकृत कर्मों का स्मरण करते हुए, वार्तालाप।

तिरसठवाँ सर्ग ६३९–६५२

अन्ध-मुनि-पुत्र-वध सम्बन्धी अपनी पापकथा का कौशल्या जी से दशरथ जी का निरूपण करना।

चौसठवाँ सर्ग ६५३–६७२

अन्धमुनि से महाराज दशरथ का अपने हाथ से मारे गये मुनिकुमार के वध का वृत्तान्त निवेदन करना। अपने सुत के मरण का दुस्संवाद सुन और दुःखी हो अन्धमुनि का महाराज दशरथ को शाप देना। महाराज दशरथ की मरणावस्था का वर्णन। महाराज के जीवन का अन्त।

पैंसठवाँ सर्ग ६७२–६८०

महाराज के मरजाने पर उनकी पत्नियों का रोनाधोना।

छ्यासठवाँ सर्ग ६८०–६८८

कैकेयी की निन्दा कर के कौशल्या जी का विलाप। अमात्यों द्वारा महाराज के शव की रक्षा।

सरसठवाँ सर्ग ६८८–६९९

मार्कण्डेयादि द्वारा सार्वजनिक सभा का बुलाया जाना और उसमें अराजक राज्य के दोषों का वर्णन।

अड़सठवाँ सर्ग ६९९–७०५

वशिष्ठ जी की सम्मति से राजदूतों का भरत जी के बुलाने को भेजा जाना।

उनसठवाँ सर्ग ७०५–७१०

ननिहाल में उदास भरत जी का अपने सुहृदों से पिछली रात के दुःस्वप्न का वर्णन करना।

सत्तरवाँ सर्ग ७११-७१९

इतने ही में अयोध्या के दूतों का भरत जी के सामने पहुँचना। दूतों से भरत जी द्वारा कुशलप्रश्न पूँछा जाना। दूतों के साथ भरत शत्रुघ्न का अयोध्या की ओर प्रस्थान।

इकहत्तरवाँ सर्ग ७१९-७३१

केकय देश से बड़ी हड़बड़ी में प्रस्थान कर, भरत जी का उदास अयोध्या में पहुँच वहाँ की शोच्य निरानन्दनयी दशा को देखना।

बहत्तरवाँ सर्ग ७३२-७४५

पिता के भवन में पिता के दर्शन न पाकर भरत का कैकेयी के भवन में जाना और वहाँ अपनी जननी के मुख से अपने पिता की मृत्यु का संवाद एवं अपने को राज्य दिलाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी के निर्वासन का वृत्तान्त सुनना।

तिहत्तरवाँ सर्ग ७४५-७५२

माता के वचनों को सुन शोकसन्तप्त भरत की शोकावस्था का वर्णन।

चौहत्तरवाँ सर्ग ७५२-७६२

भरत द्वारा कैकेयी का फटकारा जाना।

पचहत्तरवाँ सर्ग ७६२-७८१

विलाप करते हुए भरत का कण्ठस्वर पहचान, कौशल्या का सुमित्रा जी को भेज कर, भरत को अपने निकट बुल-

जाना। कौशल्या जी के सामने भरत जी का अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये शपथें खाना।

छिहत्तरवाँ सर्ग ७८१–७८७

वशिष्ठ जी के समझाने बुझाने पर भरत जी का पिता जी के शव का दाहकर्म करने को प्रवृत्त होना।

सत्तरवाँ सर्ग ७८७–७९३

महाराज दशरथ के शव का प्रेतकर्म, पिता के गुणों को स्मरण कर, भरत शत्रुघ्न का विलाप करना।

अठत्तरवाँ सर्ग ७९३–८००

पूर्वद्वार पर खड़े हुए और आपस में बातचीत करते हुए भरत शत्रुघ्न का कुब्जा को देखना, और भरत द्वारा शत्रुघ्न का ध्यान उस ओर आकर्षित किया जाना, तब रोष में भर शत्रुघ्न का मन्थरा को घसीटना।

उन्नासीवाँ सर्ग ८००–८०४

राजकर्मचारियों द्वारा राजगद्दी पर बैठने की प्रार्थना किये जाने पर, भरत जी का उसे अस्वीकार करना और श्रीरामचन्द्र जी को वन से लाने के लिये वन जाने की इच्छा प्रकट करना और मार्ग ठीक करने को कारीगरों को भेजने की आज्ञा देना।

अस्सीवाँ सर्ग ८०५–८११

भूप्रदेश-विशेषज्ञों द्वारा मार्ग की मरम्मत।

इक्यासीवाँ सर्ग ८११–८१५

प्रातःकाल होने पर मागधवन्दीजनों द्वारा अपनी स्तुति सुन, भरत जी का उनको वर्जना और स्वयं विलाप करना।

व्यासीवाँ सर्ग ८१५-८२४

सभा में बैठे हुए मन्त्रियों द्वारा भरत जी से अभिषेक कराने का अनुरोध किया जाना। उनके वचन को अस्वीकार कर, भरत का पास बैठे हुए सुमंत्र से वन जाने के लिये सेना तैयार करने की आज्ञा देना।

तिरासीवाँ सर्ग ८२५-८३१

अपने अनुयायियों के साथ भरत जी का गङ्गातट पर पहुँचना।

चौरासीवाँ सर्ग ८३२-८३६

गङ्गातट पर पड़ी हुई भरत की सेना को देख और यह सोच कि भरत, श्रीरामचन्द्र जी को मारने जाते हैं, गुह का अपने अनुयायियों को एकत्र करना। तदनन्तर गुह का भरत जी को फल फूलों की भेंट देना।

पचासीवाँ सर्ग ८३६-८४२

भरद्वाजाश्रम का मार्ग जानने के लिये भरत का गुह से प्रश्न। भरत और गुह का वार्तालाप।

छ्यासीवाँ सर्ग ८४३-८४९

भरत के प्रति गुह का लक्ष्मण जी के गुणों का वर्णन करना।

सत्तासीवाँ सर्ग ८४९-८५६

गुह की बातें सुन मूर्छित भरत जी का कौशल्या जी को समझाना। भरत को गङ्गातट पर गुह द्वारा श्रीरामलक्ष्मण के टिकने का स्थान दिखलाया जाना।

अट्ठासीवाँ सर्ग ८५६–८६४

इङ्गुदी वृक्ष के नीचे गुह को दिखलायी श्रीरामचन्द्र जी की साथरी देख, भरत जी का विलाप करना।

नवासीवाँ सर्ग ८६५–८७१

सोकर उठने पर भरत का शत्रुघ्न जी से गुह द्वारा नावें मँगवाने को कहना और गुह का भरत के समीप आना। भरतादि का गङ्गा के पार होना।

नव्वेवाँ सर्ग ८७२–८७८

वशिष्ठ जी को आगे कर भरत का भरद्वाजाश्रम में प्रवेश। भरत और भरद्वाज जी का संवाद। भरद्वाज द्वारा भरत को श्रीरामचन्द्र जी के वसने का स्थान वतलाया जाना।

इक्यानवेवाँ सर्ग ८७८–८९८

अपने तपःप्रभाव से भरद्वाज द्वारा भरत और उनके लश्कर का आतिथ्य किये जाने के वृत्तान्त का वर्णन।

वानवेवाँ सर्ग ८९९–९०८

आतिथ्य ग्रहण करने के वाद भरत जी का भरद्वाज जी से विदा माँगना। मुनि का भरत जी को चित्रकूट का मार्ग वतलाना। भरद्वाज जी के पूँछने पर भरत जी का अपनी माताओं का परिचय देते हुए अपनी जननी कैकेयी की निन्दा करना। तव भरद्वाज जी का श्रीरामचन्द्र जी की वनयात्रा का प्रयोजन वतलाना। भरत जी का वहाँ से प्रस्थान।

तिरानवेंवाँ सर्ग ९०८–९१५

दूर ही से भरत द्वारा चित्रकूट पर्वत पर श्रीरामचन्द्र जी का देखा जाना।

चौरानवेंवाँ सर्ग ९१५–९२१

श्रीरामचन्द्र जी का सीता के प्रति चित्रकूट के वन की शोभा का वर्णन करना।

पञ्चानवेंवाँ सर्ग ९२२–९२७

चित्रकूट के निकट बहने वाली मन्दाकिनी के तट की शोभा का वर्णन।

छ्यानवेंवाँ सर्ग ९२७–९३४

भरत जी के सैन्य-चालन का शब्द सुन वनवासी पशु-पक्षियों का भयभीत हो इधर उधर भागना। यह देख श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को बुलाना। साल के वृक्ष पर चढ़ लक्ष्मण जी का भरत जी की सेना को देखना। ससैन्य भरत को आया हुआ देख, सशङ्कित हो लक्ष्मण जी का भरत के वध के लिये श्रीरामचन्द्र जी से अनुरोध करना।

सत्तानवेंवाँ सर्ग ९३५–९४२

श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी को उनकी भूल बतलाना। लक्ष्मण जी का अपनी भूल पर लज्जित होना। श्रीरामाश्रम से दूर भरत जी का अपनी सेना को ठहराना।

अट्ठानवेंवाँ सर्ग ९४२–९४६

श्रीरामाश्रम की ओर गुह के साथ भरत जी का पैदल प्रस्थान करना।

निन्यानवेंवाँ सर्ग ९४६–९५७

पर्णशाला में श्रीरामचन्द्र जी को देख भरत जी का उनको प्रणाम करना।

सौवाँ सर्ग ९५७–९७९

भरत के प्रति कुशल प्रश्न पूँछने के मिस श्रीरामचन्द्र जी का राजनीति का उपदेश।

एक सौ पहला सर्ग ९८०–९८२

भरत का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के स्वर्ग-वासी होने का संवाद सुनाना।

एक सौ दूसरा सर्ग ९८२–९९४

पिता के मरने का दुस्संवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना और जलाञ्जलि देने के लिये सब भाइयों का मन्दाकिनी के तट पर जाना।

एक सौ तीसरा सर्ग ९९४–१००२

वशिष्ठ जी को आगे कर, महाराज दशरथ की रानियों का मन्दाकिनी के तट पर जाना। कौशल्या जी का सीता जी को धीरज बँधाना।

एक सौ चौथा सर्ग १००३–१००९

श्रीरामचन्द्र जी का भरत जी से उनके वहाँ आने का कारण पूँछना। इस पर वन से लौट कर अयोध्या में जा, राज्य करने के लिये भरत जी को श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना। उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी का पिता के वचन का गौरव रखने तथा उनके सत्य की रक्षा करने के लिये अयोध्या जाना अस्वीकार करना।

एक सौ पाँचवाँ सर्ग १००९–१०२१

"पितृशोक को दूर कर तुम स्वयं राज्य करो"—यह उपदेश श्रीरामचन्द्र जी का भरत को देना।

एक सौ छठवाँ सर्ग १०२१–१०३०

श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिये भरत जी का प्रयत्न करना।

एक सौ सातवाँ सर्ग १०३१–१०३६

बिरादरी वालों के बीच बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी का भरत के गुणों की प्रशंसा करना।

एक सौ आठवाँ सर्ग १०३७–१०४२

ब्राह्मणोत्तम जाबालि का नास्तिकवाद के सहारे श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का प्रयास करना।

एक सौ नवाँ सर्ग १०४२–१०५४

जाबालि की बातों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उत्तर।

एक सौ दसवाँ सर्ग १०५४–१०६२

इक्ष्वाकुकुल में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजगद्दी पर बैठते आये हैं, यह समझाने के लिये वंशानुचरित कथनपूर्वक वशिष्ठ जी का श्रीरामचन्द्र को कुलधर्मोपदेश।

एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग १०६२–१०७१

वशिष्ठ के समझाने पर भी श्रीरामचन्द्र जी को लौटने के लिये तैयार न देख, भरत जी का अनशनव्रत धारण करने की तैयारी करना। तब श्रीरामचन्द्र जी का भरत को सान्त्वना प्रदान करना।

एक सौ बारहवाँ सर्ग १०७१–१०७९

दशग्रीव-वधैषी महर्षि का भरत जी को समझाना कि, वे श्रीरामचन्द्र जी का कहना मान लें और अयोध्या में जा राज्य करें। इतने बड़े भारी राज्य का शासन करने के विचार से भयभीत भरत का श्रीरामचन्द्र जी की पादुकाओं का उनसे माँगना।

एक सौ तेरहवाँ सर्ग १०७९–१०८५

पादुका ग्रहण कर भरत जी का पुनः भरद्वाजाश्रम में आना। भरद्वाज जी का भरत के आचरण की प्रशंसा करना। भरत जी का शृङ्गवेरपुर में पहुँचना।

एक सौ चौदहवाँ सर्ग १०८५–१०९२

भरत के अयोध्या में जाने पर वहाँ की दुर्दशा देख, भरत जी का विलाप करना।

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग १०९२–१०९९

पुरोहित, मंत्री और पुरवासियों सहित भरत का नन्दिग्राम में प्रवेश और वहाँ पर पादुकाओं का पट्टाभिषेक।

एक सौ सोलहवाँ सर्ग १०९९–११०६

अपने अपने आवासस्थानों को छोड़ कर भागे हुए ऋषियों का श्रीरामचन्द्र जी के सामने खर की दुष्टता का वर्णन करना।

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग ११०६–१११३

श्रीरामचन्द्र जी का महर्षि अत्रि के आश्रम में गमन। अनुसूया को सीता जी का प्रणाम करना और अनुसूया जी का सीता को आशीर्वाद देना।

एक सौ अट्ठारहवाँ सर्ग ११११४–११२६

पातिव्रत्य धर्म के विषय में सीता और अनुसूया जी का परस्पर कथोपकथन। अत्रिपत्नी अनुसूया का सीता को प्रीतिपुरस्कार। सीता का अनुसूया जी को अपने स्वयंवर का समस्त वृत्तान्त सुनाना।

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग ११२६–११३२

रात भर अत्रिआश्रम में रह कर, दूसरे दिन श्रीरामादि का मुनि से विदा माँग, दण्डकवन में प्रवेश करना।

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध की विषय-सूची समाप्त हुई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—※—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
समधुरोपनतार्थवाक्यबन्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

—:※:—

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्भक्तप्रवरौ हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुरुस्तं च नमाम्यहम् ॥ २

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रशमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं सर्वारिष्टनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुरुवन्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं निमलं सदा ।
आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम वचसि विधत्तां सन्निधिं मानसे च ॥ ७ ॥

मिथ्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासतां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चिह्नैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति मे जयतीर्यवाक् ॥ ९ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
मावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाम्भोधिनन्यमानसमन्दरम् ।
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
नानावीरद्युवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
उत्तुङ्गचारुरङ्गाय मध्वदुग्धाब्धये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकेर्गौः पुनीयान्नो नहीधरपदाश्रया।
यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूत्तरामायणार्णवे ।
विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
तस्य निःसरते वाणी जह्नुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

द्वौभिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तैर्नैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन्रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादरात्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१८॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वायव्यादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥ २० ॥

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।
राजाधिराजराजाय रामभद्राय मंगलम् ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:*:—

अयोध्याकाण्डः

(उत्तरार्द्ध)

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

ते तु तस्मिन्महावृक्ष उषित्वा रजनीं शिवाम् ।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्मादेशात्ससंस्थिरे ॥ १ ॥

इस प्रकार वे तीनों उस बड़े वटवृक्ष के नीचे रात बिता कर, प्रातःकाल विमल सूर्योदय होने पर वहाँ से रवाना हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते ।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥ २ ॥

जहाँ पर श्रीगङ्गा और श्रीयमुना का सङ्गम होता था, वहाँ अर्थात् उस देश की ओर, उस महावन में हो कर वे चले जाते थे ॥ २ ॥

ते [1]भूमिभागान्विविधान्देशांश्चापि मनोरमान् ।
अदृष्टपूर्वान्पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे यशस्वी दोनों भाई रास्ते में अनेक वन प्रदेशों और अनेक पहिले न देखे हुए और रमणीक देशों को देखते हुए चले जाते थे ॥३॥

---

१ भूमिभागान्—वनप्रदेशान् । (गो०

यथा क्षेमेण[1] गच्छन्स पश्यंश्च विविधान्द्रुमान् ।
निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ते में उठते बैठते तथा अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों की शोभा निरखते हुए, जब दिन थोड़ा रह गया तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुद्गतम्* ।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रयाग तीर्थ की ओर जो धुआ उठ रहा है, वह मानों भगवान् अग्नि देव की पताका फहरा रही है । इससे जान पड़ता है कि, भरद्वाज जी का आश्रम भी यहीं कहीं पास ही है ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं[2] गङ्गायमुनयोर्वयम् ।
तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिघट्टजः† ॥ ६ ॥

हम लोग गङ्गा यमुना के सङ्गम के समीप निश्चय ही आ पहुँचे हैं, क्योंकि दोनों नदियों के जलों की टक्कर से उत्पन्न शब्द साफ़ सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः ।
भरद्वाजाश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥

यहाँ के वन में से लकड़ी इत्यादि काट कर बेचने वालों ने लकड़ियाँ काटी हैं । देखो भरद्वाज जी के आश्रम में ये नाना प्रकार के वृक्ष कटे हुए देख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

---

१ क्षेमेण—उपविश्योत्थायच शनैः शनैः स्वेच्छानुरोधेन सम्पश्यन् सम्पश्यन् । (रा०) २ संभेदं—संगमं । (गो०) * पाठान्तरे—"धूममुद्यतम्" † पाठान्तरे—"वारिघट्टतः" ।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे ।
गङ्गायमुनयोः सङ्गौ[1] प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपस में बातचीत करते हुए दोनों धनुर्धारी भाई ; सूर्य के छिपते छिपते सङ्गम पर स्थित भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन्मृगपक्षिणः ।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥

आश्रम में दो धनुर्द्धरों को आते देख, आश्रमवासी पशुपक्षी भयभीत हुए । इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी एक मुहूर्त्त चल कर, भरद्वाज जी की (कुटी के) पास पहुँच गये ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
सीतयाऽनुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥

तदनन्तर सीता सहित दोनों वीर भरद्वाज जी के दर्शन करने की अभिलाषा से, कुटी से कुछ दूर रुक गये । (रुकने का कारण भूषण टीकाकार ने यह बतलाया है कि सन्ध्या का समय था । अतः उस समय ऋषिप्रवर अग्निहोत्र कर रहे थे । कहीं उनके कार्य में विघ्न न पड़े, अतः कुछ देर वे ठहर गये, किन्तु जब अनुमति मिल गयी तब) ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम् ।
[2]संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥ ११ ॥

---

१ सन्धौ—सङ्गमेवर्तमानं । २ संशितव्रतं—तीक्ष्णव्रतं । (गो०)

फिर श्रीरामचन्द्र (आदि) आश्रम में गये। वहां पहुँच कर उन्होंने शिष्यों से घिरे, उग्र व्रतधारी एवं तपद्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान प्राप्त किये हुए, भरद्वाज जी को देखा ॥ ११ ॥

हुताग्निहोत्रं ददृशे महाभागं कृताञ्जलिः ।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥१२॥

महाभाग ऋषि को अग्निहोत्र करते हुए देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीता सहित हाथ जोड़ कर, प्रणाम किया ॥ १२ ॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः ।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन्रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

और यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपना परिचय दिया—हे भगवन्! हम दोनों श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महाराज दशरथ के पुत्र हैं ॥ १३ ॥

भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा ।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

और यह कल्याणी जानकी मेरी स्त्री और राजा जनक की पुत्री है और यह अनिन्दिता जानकी मेरे साथ विजन तपोवन में जाने के लिये आयी है ॥ १४ ॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।
अयमन्वगमद्भ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥ १५ ॥

पिता ने मुझे वनवास दिया है और सुमित्रा देवी के पुत्र तथा मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण दृढ़व्रत धारण किये हुए, मेरे पीछे हो लिये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन्प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम् ।
धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! हम लोग पिता के आदेशानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और वहाँ फलमूल खा कर धर्माचरण करेंगे ॥ १६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
उपानयत[1] धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः ॥ १७ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने धीमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन कर, उनको मधुपर्क, अर्घ्य और चरण धोने को जल रखा ॥ १७ ॥

[श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार का विशेषण आदिकवि ने इसलिये दिया है कि, भरद्वाज ने उनको मधुपर्क दिया था मधुपर्क देने का विधान स्मृत्यानुसार राजा को भी है । यथा—

गो मधुपर्काहों वेदाध्याय्याचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा वा धर्मयुक्तः इति ।]

नानाविधान[2]न्नरसान्वन्यमूलफलाश्रयान् ।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवान्वकल्पयत्* ॥ १८ ॥

नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल अन्न तथा रसीले पदार्थ उनके भोजन के लिये दिये और टिकने के लिये स्थान बतलाया । (रसीले पदार्थ से अभिप्राय शरबत से जान पड़ता है) ॥ १८ ॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः ।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥ १९ ॥

---

१ उपानयत—रामसमीपं प्रापयत । (शि०) २ अन्नरसान्—रस प्रधानान्यदार्थविशेषानित्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—"चैवाभ्यकल्पयत् ।"

मुग, पक्षी और मुनियों के बीच में बैठे हुए महर्षि भरद्वाज ने श्रीरामचन्द्र जी का स्वागत किया और उनसे कुशल पूँछी ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य च तामर्चामुपविष्टं स राघवम् ।
भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥ २० ॥

तदनन्तर, इस प्रकार महर्षि की पूजा ग्रहण कर के, आसीन श्रीरामचन्द्र जी से, भरद्वाज जी ने ये धर्मयुक्त वचन कहे ॥ २० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम् ।
श्रुतं तव मया चेदं विवासनमकारणम् ॥ २१ ॥

हे काकुत्स्थ ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ । मैंने सुना है कि, तुमको अकारण वनवास हुआ है ॥ २१ ॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसात्रैव भवान्सुखम् ॥ २२ ॥

अतः इन दोनों महानदियों के सङ्गम पर, इस एकान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुखपूर्वक वास करें ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥ २३ ॥

भरद्वाज के इन वचनों को सुन, सर्वहितैषी श्रीरामचन्द्र जी ने ये शुभ वचन कहे ॥ २३ ॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः ।
[1]सुदुर्दर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥ २४ ॥

---

[1] सुदुर्दर्शं—सुखेनदृष्टुंशक्यं । (गो०)

आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः ।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

हे भगवन्! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा। अतः मुझे और सीता जी को देखने के लिये लोग यहां आसानी से चले आया करेंगे। अतः मुझे यहां का रहना उचित नहीं जान पड़ता ॥ २४ ॥ २५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।
रमेत यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

हे भगवन्! अतः मेरे रहने के लिये कोई ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिये बतला दीजिये, जहां जानकी जी का मन लगे और (यह) सुखपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः ।
राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहक[1]मब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन शुभ वचनों को सुन, महर्षि भरद्वाज उनसे यह अर्थबोधक वचन बोले ॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।
महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः ॥ २८ ॥

हे वत्स! यहां से दस कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से सेवित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य है ॥ २८ ॥

---

१ अर्थग्राहकं—अर्थबोधकं। (गो०)

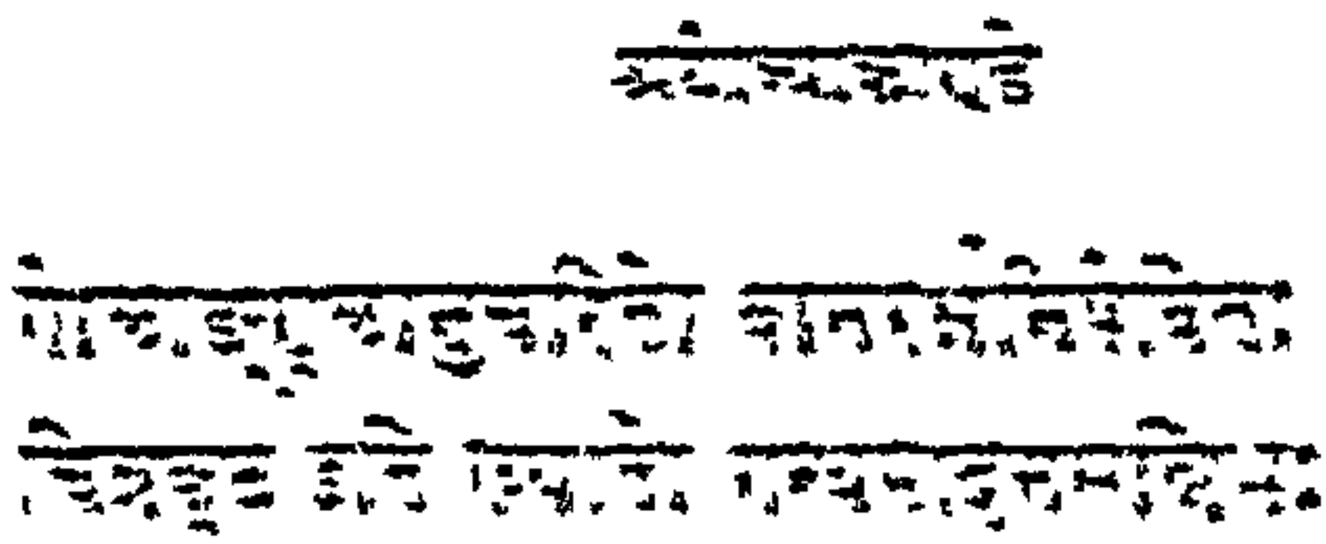

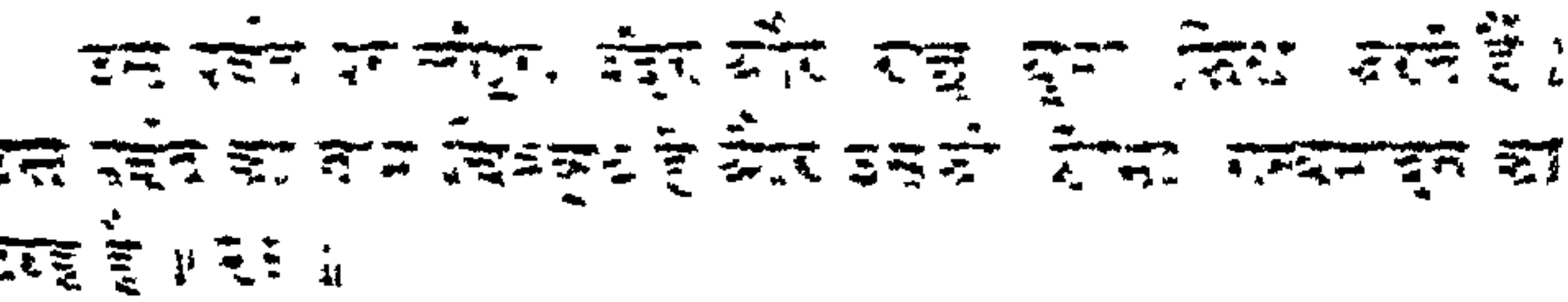

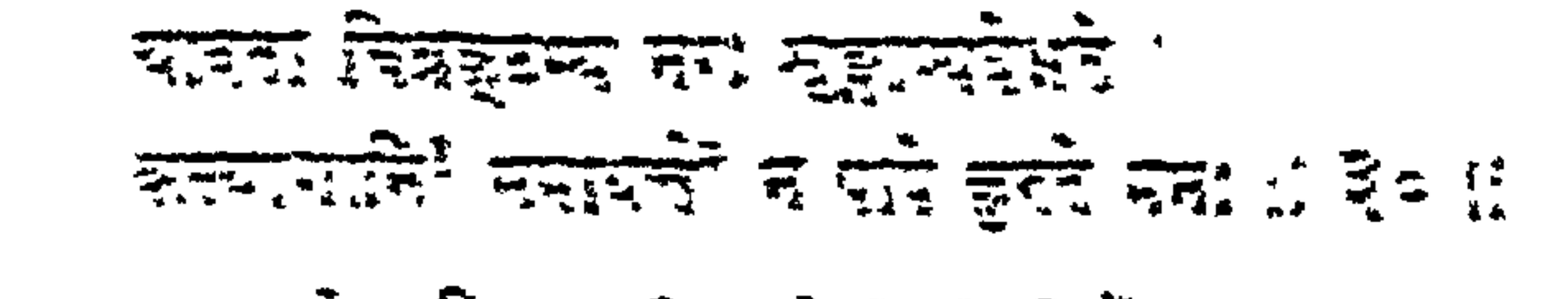

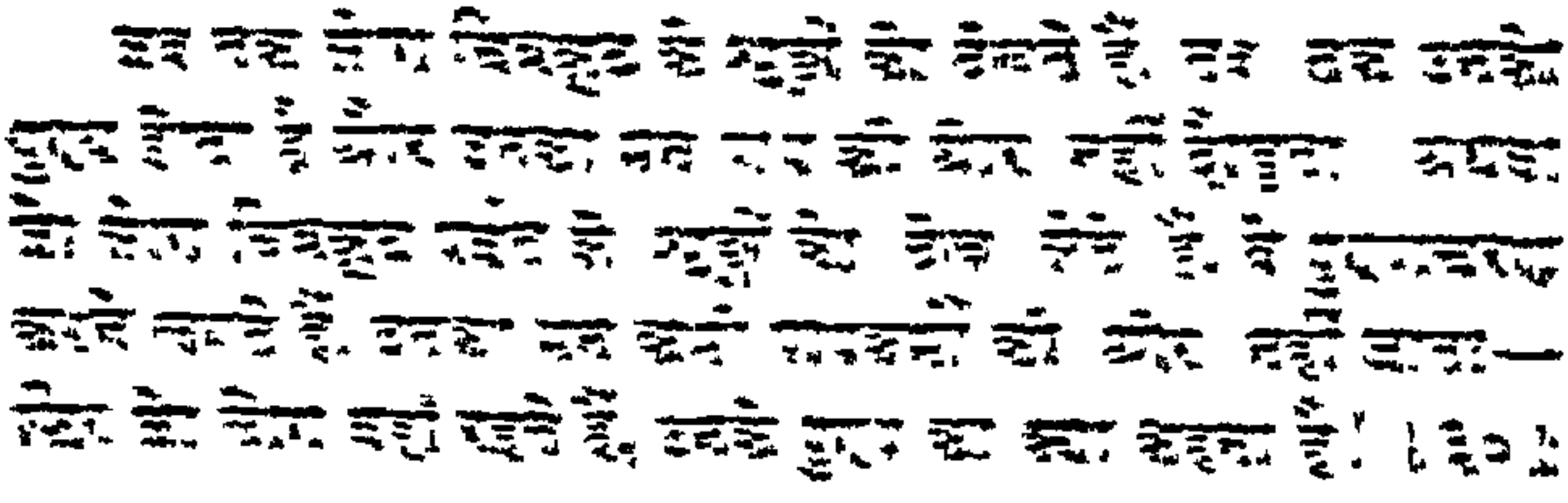

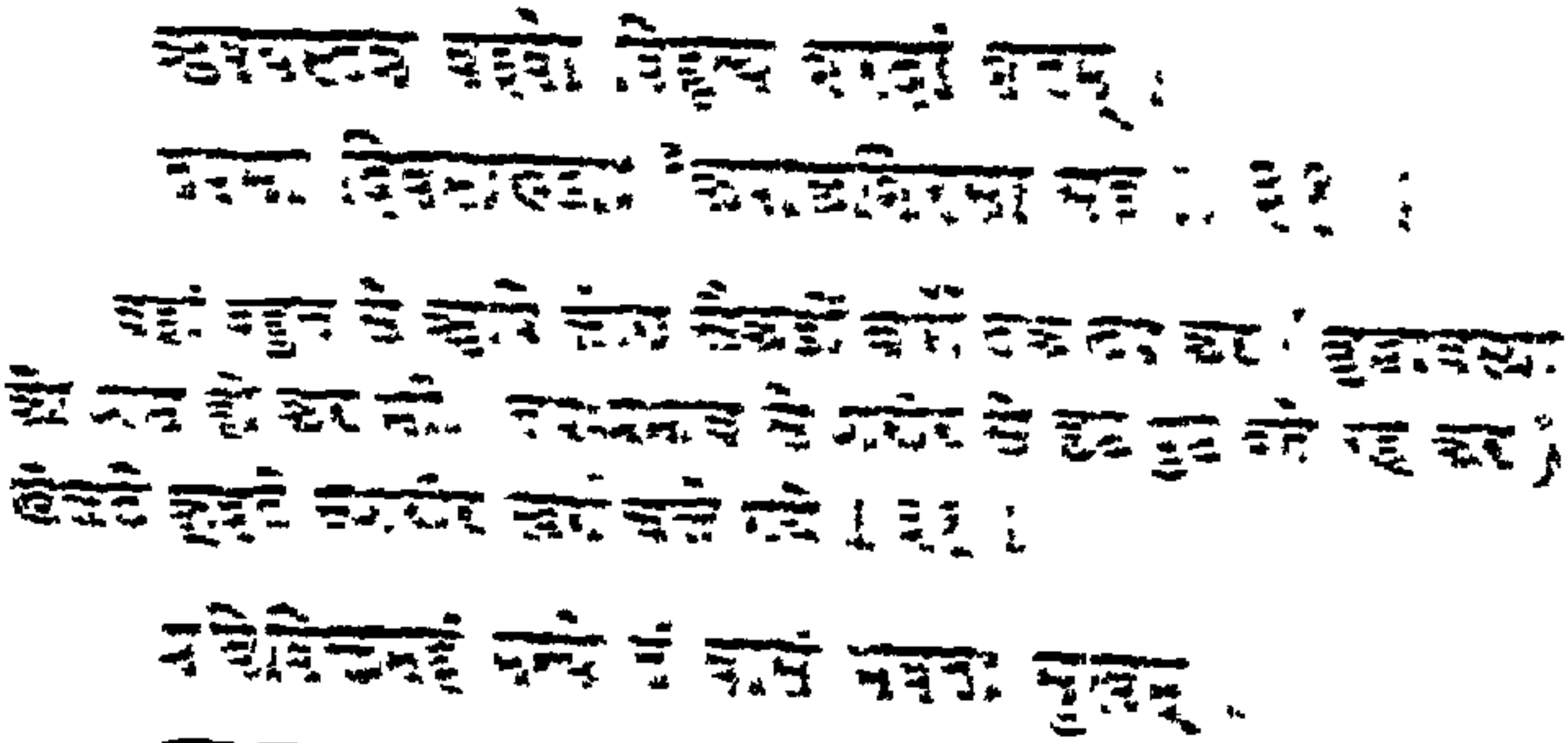

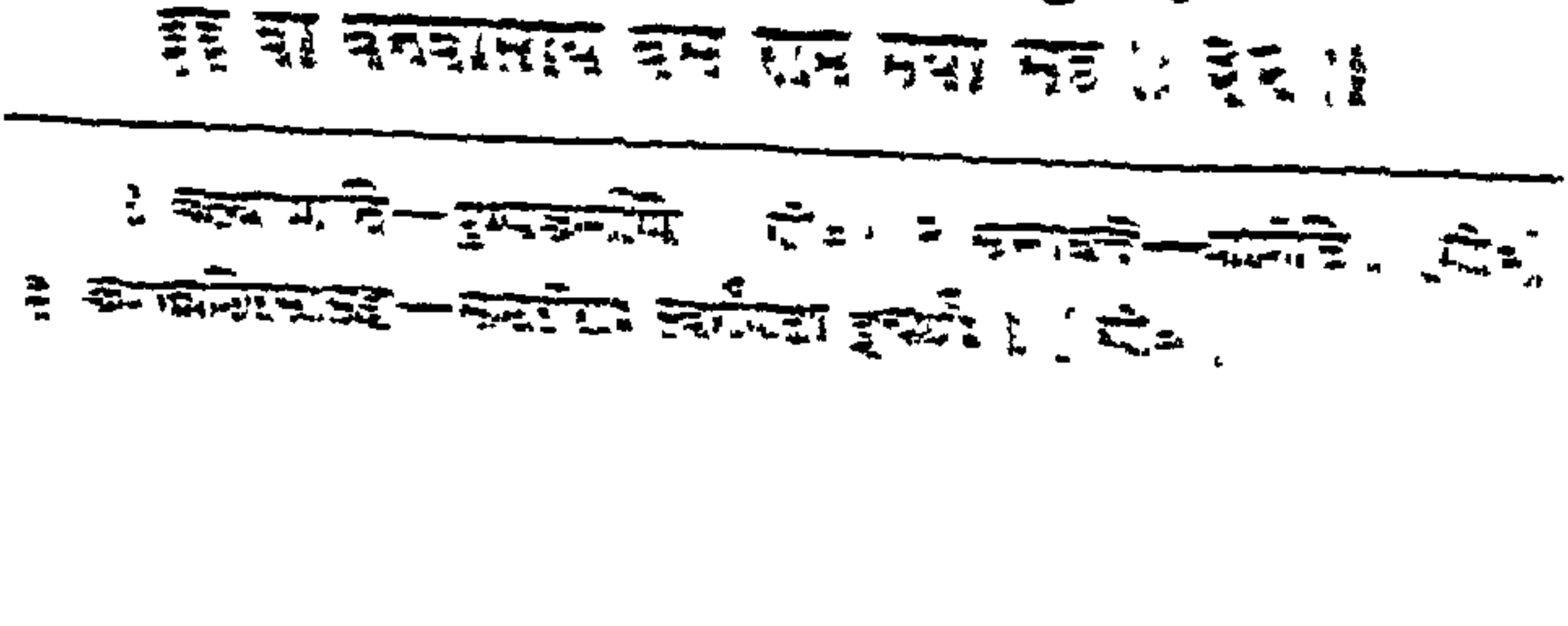

वह स्थान बिलकुल एकान्त है। मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम से रहेंगे। अथवा हे राम! वनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम ही में रहिये ॥ ३२ ॥

स रामं [1]सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम्।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह धर्मवित् ॥ ३३ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का, अतिथि योग्य सत्कार कर, उनको अपने वश में कर लिया ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः।
प्रपन्ना[2] रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥३४॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रयागक्षेत्र में महर्षि भरद्वाज जी के साथ समागम होने पर अनेक प्रकार की कथा वार्त्ता होते होते पुण्यमयी रात्रि हो गयी ॥ ३४ ॥

[3]सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम् ॥ ३५ ॥

सुख से रहने योग्य श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और तीसरी सीता अर्थात् तीनों मार्ग चलने की थकावट से कातर हो, रमणीक भरद्वाज के आश्रम में उस रात सुखपूर्वक वास करते हुए ॥ ३५ ॥

प्रभातायां रजन्यां तु भरद्वाजमुपागमत्।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

---

१ सर्वकामैः प्रतिजग्राह—अतिथियोग्यसत्कारैर्वशीकृतवान्। प्रतिजग्राह—उपचार। (गो०) २ प्रपन्ना—प्राप्ता। (गो०) ३ सीतातृतीयायस्यसः। (शि०)

जब रात व्यतीत हुई और सवेरा हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान महर्षि भरद्वाज के पास गये और यह बोले ॥ २६ ॥

शर्वरीं भवगन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे ।
उषिताः स्मेह वसतिमनुजानातु[1] नो भवान् ॥ २७ ॥

हे सत्यशील भगवन ! आज हमने आपके इस आश्रम में वस कर, रात (बड़े आराम से) बितायी । अब आप कृपा कर, हमें उस स्थान पर, जिसे आपने बतलाया है, जाने की आज्ञा दीजिये ॥ २७ ॥

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ २८ ॥

उस रात के बीत जाने पर भरद्वाज जी ने यह कहा—अब आप मधु, मूल, फलयुक्त चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ २८ ॥

वासमौपयिकं मन्ये तव राम महावल ।
नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ २९ ॥

हे महाबली राम ! मेरी समझ में चित्रकूट ही आपके रहने योग्य ठीक स्थान है । क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, वहाँ किन्नर और नाग बसते हैं ॥ २९ ॥

मयूरनादाभिरुतो गजराजनिषेवितः ।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

वहाँ मोर बोला करते हैं और बड़े बड़े हाथी घूमा करते हैं, अतः आप उस प्रसिद्ध चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ ४० ॥

---

१ अनुजानातु—आज्ञापयतु । (गो०)

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चाभितः ॥ ४१ ॥

वह स्थान अति पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार के फूल फलों से परिपूर्ण है। वहां कुञ्जरों और मृगों के झुण्ड चरा करते हैं। उन्हें आप वहां देखेंगे ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तेऽस्मिंस्तानि द्रक्ष्यसि राघव ।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्दरान् ।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

वहां की नदियों, झरनों, पर्वतशिखरों और कन्दराओं को देखते हुए, विचरण करने पर, तुम्हारा और सीता का मन बहुत प्रसन्न होगा ॥ ४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टि[1]ककोकिलस्वनै-
र्विनादितं तं वसुधाधरं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उस पवित्र पर्वत पर टिटहरी और कोयलें प्रसन्न हो बोला करती हैं। उस पर अनेक मृग और बहुत से मत्त गज घूमा करते हैं। इस प्रकार के उस बड़े रमणीक पर्वत पर आप जा कर वास कीजिये ॥ ४३ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौवनवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ कोयष्टिकाः—टिट्टिभकाः । (गो०)

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिन्दमौ ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम और लक्ष्मण प्रयाग में उस रात रह कर, प्रातःकाल होते ही मुनि को प्रणाम कर, चित्रकूट पर्वत की ओर प्रस्थानित हुए ॥ १ ॥

तेषां चैव स्वस्त्ययनं महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितांश्चैव तान्प्रेक्ष्य पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥२॥

उनको वहाँ से यात्रा करते देख, महर्षि भरद्वाज ने उसी प्रकार उनका स्वस्त्यवाचन किया जैसे पिता अपने निज पुत्र का करता हो ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महर्षि भरद्वाज सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां[1] नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्[2] ॥ ४ ॥

---

१ अनुगच्छेतां—अनुसृत्यगच्छेतां । (गो०) २ पश्चान्मुखाश्रिताम्—पश्चिमाभिमुखौभूत्वागच्छेतां । (गो०)

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस गङ्गा यमुना के सङ्गम से, पश्चिम की ओर यमुना के किनारे किनारे आप जाइये ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतसमापगाम् ।
तस्यास्तीर्थं[1] प्रचरितं[2] पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥

आप लोग शीघ्र वहने वाली गङ्गा में मिलने वाली यमुना के किनारे किनारे चल कर, एक घाट देखेंगे, जो वहुत पुराना होने से टूटा फूटा है ॥ ५ ॥

तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं[3] नदीम् ।
ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥

वहाँ पर घरनई वना कर तुम यमुना पार करना । तदनन्तर उस पार जाने पर एक वड़ा वरगद का वृक्ष मिलेगा, जिसके हरे हरे पत्ते हैं ॥ ६ ॥

विवृद्धं वहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।
तस्मै सीताऽञ्जलिं कृत्वा [4]प्रयुञ्जीताशिषः[5] शिवाः ॥७॥

वह वट वृक्ष अनेक वृक्षों के वीच में हैं, उसके पत्तों का रंग श्यामता लिये हुए हरा है और सिद्धों द्वारा वह सेवित है । वहाँ पहुँच कर, जानकी जी हाथ जोड़ कर, अपने शुभ मनोरथों के सफल होने के लिये प्रार्थना करें ॥ ७ ॥

समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा ।
क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥

---

१ तीर्थं—अवतरणप्रदेशं । (गो०) २ प्रचरितं—गमनागमनाभ्यामति क्षुण्णमित्यर्थः । (गो०) ३ अंशुमतीं—अंशुमतः सूर्यस्यापत्यभूतां । (गो०) ४ प्रयुञ्जीता—प्रार्थयेत् । (गो०) ५ आशिषः—मनोरथान् । (गो०)

या तो उस पेड़ के नीचे कुछ देर तक ठहर कर विश्राम कर लेना अथवा आगे को चले जाना। वहाँ से एक कोस आगे जाने पर नीलवन देख पड़ेगा ॥ ८ ॥

पलाशबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ।
स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुबहुशो मया ॥ ९ ॥

उस वन में साल, जामुन और बेरी के अनेक वृक्ष हैं। वही मार्ग चित्रकूट को जाता है और उस मार्ग से मैं कितनी ही बार चित्रकूट गया हूँ ॥ ९ ॥

रम्यो मार्दवयुक्तश्च वनदावैर्विवर्जितः ।
इति पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यवर्तत ॥ १० ॥

यह मार्ग रमणीक, कोमल (अर्थात् काँटों कंकड़ों से रहित अथवा रेतीला होने से कोमल) है। उस वन में दावानल का भी भय नहीं है। इस प्रकार (कुछ दूर साथ जा कर) रास्ता बतला महर्षि भरद्वाज लौट आये ॥ १० ॥

अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ।
उपावृत्ते मुनौ तस्मिन्रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ११ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने भी प्रणाम कर उनको विदा किया। जब भरद्वाज लौट गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ११ ॥

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ।
इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वास्तव में हम लोग बड़े पुण्यवान हैं, तभी तो महर्षि भरद्वाज हमारे ऊपर इतनी कृपा करते हैं, दोनों मनस्वी पुरुषसिंह राजकुमार इस प्रकार बातचीत करते ॥ १२ ॥

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ।
अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतोवहां नदीम् ॥१३॥

और सीता को आगे कर यमुना की ओर चले और शीघ्र बहने वाली यमुना के पास पहुँचे ॥ १३ ॥

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः ।
तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम् ॥ १४ ॥

वे सब उसको पार करने के लिये चिन्ता करने लगे। उन दोनों राजकुमारों ने बहुत सी लकड़ियाँ एकत्र कर एक बड़ा बेड़ा बनाया ॥ १४ ॥

शुष्कैर्वंशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ।
ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ।
तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां[1] रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥१६॥

(वह बेड़ा किस प्रकार बनाया गया—यह बतलाते हैं।) उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सूखे बाँसों को पास पास बाँध कर बेड़ा बनाया। फिर बाँसों की सन्धियों भरने को संधों में खस भरा। तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर बेत तथा जामुन की डालियाँ काट कर और बिछा कर सीता जी के आराम से बैठने के

---

१ अचिन्त्यां—अचिन्त्य सौन्दर्यां । (गो०)

लिये आसन बना दिया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्य सौन्दर्यवती प्यारी सीता को ॥ १५ ॥ १६ ॥

ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम्।
पार्श्वे च तत्र वैदेह्या वसने भूषणानि च ॥ १७ ॥

जो (पति के हाथ का सहारा पाने से) कुछ कुछ लज्जायुक्त थीं, हाथ पकड़ कर उस बेड़े पर बैठाया। उनके पास ही उनके गहने कपड़े रख दिये ॥ १७ ॥

प्लवे कठिनकाजं[1] च रामश्चक्रे सहायुधैः।
आरोप्य प्रथमं सीतां सङ्घाटं परिगृह्य तौ ॥ १८ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने काठ के बेट की कुदाली और मृग-चर्म से मढ़ा हुआ पिटारा तथा अपने आयुध रखे। प्रथम सीता को उस पर बिठा दोनों भाइयों ने बेड़ा पकड़ कर चलाया ॥ १८ ॥

[नोट—इससे स्पष्ट है कि, उस बेड़े पर केवल सीता जी बैठी थीं और साथ का सारा सामान रखा था। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस बेड़े को दोनों ओर से पकड़ कर जल पर तैरते हुए उस पार हुए थे। आगे के श्लोक में "प्रतेरतुर्युक्तौ" से यह बात समर्थित होती है।]

ततः प्रतेरतुर्युक्तौ वीरौ दशरथात्मजौ।
कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥ १९ ॥

तदनन्तर दोनों वीर दशरथनन्दनों ने उस बेड़े में युक्त अर्थात् लग कर यमुना पार की। जब बेड़ा बीचोबीच धार में पहुँचा, तब सीता जी ने यमुना जी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥

---

१ कठिनकाजं—कठिनकं कन्दमूलखननसाधनं आयसाग्रंदारु। आजं—अजचर्मपिनद्धं पिटकं। (गो०)

स्वस्ति देवि तरामि त्वां [1]पारयेन्मे पतिर्व्रतम्[2] ।
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥ २० ॥

हे देवि ! हम लोग आपके पार जा रहे हैं। यदि मेरे पति का व्रत अर्थात् (वनवास का सङ्कल्प) निर्विघ्न पूरा हो गया, तो आपकी प्रसन्नता के लियें मैं एक हज़ार गौएँ दान कर तथा सौ घड़े सुरा के नैवेद्य से आपका पूजन करूँगी ॥ २० ॥

स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ।
कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

सीता जी यमुना से हाथ जोड़ कर यह वर माँगती हुई कि, श्रीरामचन्द्रजी सकुशल इक्ष्वाकुपालित अयोध्या में लौट आवें ॥२१॥

तीरमेवाभि सम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ।
ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥ २२ ॥

शीघ्रगामिनी और तरङ्गवती सूर्यपुत्री यमुना को पार कर, उसके दक्षिण तट पर सीता जी पहुँची ॥ २२ ॥

तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः सन्तेरुर्यमुनां नदीम् ।
ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात्[3] ॥ २३ ॥

वे यमुना के पार हो, उस बेड़े को त्याग कर, यमुना के तीरवर्ती अनेक वृक्षों से युक्त वन में हो कर चले ॥ २३ ॥

श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ।
न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

---

१ पारयेत्—समापयेत् । (गो०) २ मेपतिः व्रतं—वनवाससङ्कल्पं । (गो०) ३ यमुनावनात्—यमुनातीरवनात् । (गो०)

वे श्यामवर्ण और हरितपत्तों से युक्त, शीतल छाया वाले वरगद वृक्ष के नीचे पहुँचे। वटवृक्ष के पास पहुँच, जानकी जी कहने लगीं ॥ २४ ॥

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिव्रतम् ।
कौसल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥२५॥

हे महावृक्ष ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप मेरे पति का व्रत पूरा कीजिये, जिससे मैं अपनी यशस्विनी कौशल्या और सुमित्रा के फिर दर्शन कर सकूँ ॥ २५ ॥

इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छत्[1] वनस्पतिम् ।
अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ॥२६॥
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज[2] ॥ २७ ॥

यह प्रार्थना कर और हाथ जोड़े हुए सीता जी ने वट वृक्ष की परिक्रमा की। तब अनिन्दिता, प्राणप्यारी एवं अनुकूलवर्तिनी जानकी को इस प्रकार वर माँगते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, हे भरत के छोटे भाई ! तुम सीता को अपने साथ ले आगे चलो ॥ २६ ॥ २७ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांवर ।
यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम ! मैं शस्त्र लिये पीछे पीछे आता हूँ। सीता जी जिस फल और जिस फूल को माँगे ॥ २८ ॥

---

१ पर्यगच्छत्—प्रदक्षिणं चकार। (गो०) २ भरताग्रजेतिबहुव्रीहिः। (गो०)

तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ।
गच्छतोऽतु तयोर्मध्येऽ वभौ च जनकात्मजा ॥ २९ ॥

वह फूल और फल जानकी को दे दिया करना, जिससे इसका मन बहला रहे। जानकी जी उन दोनों के बीच में वैसे चलने लगीं ॥२९॥

मातङ्गयोर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव ।
एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥ ३० ॥
अदृष्टपूर्वां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साऽबला ।
रमणीयान्बहुविधान्पादपान्कुसुमोत्कटान् ॥ ३१ ॥
सीतावचनसन्रब्ध आनयामास लक्ष्मणः ।
विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३२ ॥

जैसे हाथियों के बीच हथिनी चले। सीता प्रत्येक वृक्ष गुल्म और पुष्पित लता के बारे में जिन्हें सीता जी ने कभी नहीं देखा था, श्रीरामचन्द्र जो से पूँछती जाती थी। वहां पर तरह तरह के रमणीय वृक्ष और फूल लगे थे, जिनमें से जिसे सीता जी पसंद करतीं, लक्ष्मण जी उसे ला दिया करते थे। उस नदी को, जिसका वालुकामय तट और निर्मल जल था तथा जिसके तट पर हंस सारस मधुर शब्द कर रहे थे, देख कर, सीता जो प्रसन्न होती जाती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बहून्मेध्यान्[1]मृगान्हत्वा चेरतु[2]र्यमुनावने ॥ ३३ ॥

---

१ मेध्यान्—शुचीन् भक्ष्यानितियावत् । (गो०) २ चेरतुः भक्षितवन्तौ । चरगतिभक्षणयोः । (गो०) * पाठान्तरे—"बभूव ।"

दोनों भाइयों ने एक कोस चल कर तथा यमुना तीरवर्ती वन में अनेक पवित्र मृगों को मार कर, खाया ॥ ३३ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगना[1]दिते
शुभे वने वानरवारणायुते ।
[2]समं [3]नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं[4]
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३४ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार दोनों वीर भाइयों ने सीता सहित उस मनोहर वन में, जहां मोरों के झुंड के झुंड बोल रहे थे, तथा हाथी और बंदर घूम रहे थे; विहार कर, नदीतट पर एक सुन्दर समथर स्थान पर, जिसे सीता जी ने भी पसंद किया, निर्भय हो, वास किया ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचपनवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्त[5]मनन्तरम्[6] ।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥

---

१ पूगः—समूहः । (गो०) २ समं—अनिम्नोनतं । (गो०) ३ नदीवप्रं—नदीतीरं । (गो०) ४ सम्मतं—निवासं सीताभिमतंवासस्थानं । (गो०) ५ अवसुप्तं—ईषत् सुप्तं । (गो०) ६ अनन्तरम्—स्वप्रबोधानन्तरं । (गो०)

जब रात बीत गयी तब श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं जाग कर, ओंघते हुए लक्ष्मण को धीरे धीरे चैतन्य किया ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां[1] वल्गु[2] व्याहरतां स्वनम् ।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परन्तप ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने कहा) हे लक्ष्मण ! देखो तो ये वन के तोते, कोयल मैंना आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं। हे परन्तप ! मार्ग चलने के लिये यही समय (अच्छा) है। अतः अब हमको यहां से चल देना चाहिये ॥ २ ॥

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः ।
जहौ निद्रां च तन्द्रीं च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥ ३ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने जागने के समय लक्ष्मण जी को जगाया, तब वे, निद्रा जनित आलस्य को त्याग और रास्ता चलने की थकावट को दूर कर उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा[3] नद्याः[4] शिवं जलम् ।
पन्थानं[5] मुपिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः ॥ ४ ॥

तदनन्तर सब जनों ने उठ कर पवित्र यमुना जल में स्नानादि क्रिया पूरी की। फिर उन सब ने महर्षि भरद्वाज के बतलाये हुए पलाशवन में हो कर, चित्रकूट का रास्ता पकड़ा ॥ ४ ॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह ।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

---

१ वन्यानां—शुकपिकसारिकादीनां । (गो०) २ वल्गु—सुन्दरं । (गो०) ३ स्पृष्ट्वा—स्पृष्टेत्युपलक्षणंप्रातःकालिकस्नानादिकृत्यानां । (गो०) ४ नद्याः—कालिन्द्याः । (गो०) ५ पन्थानम्—पलाशवनरूपं । (गो०)

लक्ष्मण जी !के साथ जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कमल के समान नेत्र वाली सीता जी से यह वचन बोले ॥ ५ ॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् ।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान्पश्य मालिनः[1] शिशिरात्यये ॥६॥

हे वैदेही ! वसन्त के आगमन से देखो पलास कैसा फूला है । पलास के लाल फूलों को देख ऐसा जान पड़ता है, मानों पलाश के वृक्षों में आग लग गयी है। फूलों से सब वृक्षों की ऐसी शोभा हो रही है, मानों सब वृक्ष पुष्पों की मालाएँ धारण किये हुए हों ॥ ६ ॥

पश्य भल्लातकान्फुल्लान्नरैरनुपसेवितान् ।
फलपत्रैरवनतान्नूनं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ७ ॥

देखो, भिलावे के वृक्ष कैसे फूले हैं। अगम्य होने के कारण मनुष्य की उनमें गुज़र नहीं। मैं तो फल और पत्ते खा कर ही अपना गुज़ारा कर सकता हूँ अथवा जीवित रह सकता हूँ ॥ ७ ॥

पश्य [2]द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण ।
मधूनि[3] मधुकारीभिः सम्भृतानि[4] नगे[5] नगे ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो हरेक वृक्ष में शहद की मक्खियों के लगाये शहद से भरे हुये लटक रहे हैं। इनमें ३२ सेर से कम शहद न था ॥ ८ ॥

---

१ मालिनः—मालावत् इवस्थितान् (गो०) । २ द्रोणं—आढकद्वयं । (गो०) ३ मधूनिक्षरन्तीति मधुक्षरैः कर्मण्यण डीप् । (गो०) ४ संभृतानि—निर्मितानि । (गो०) ५ नगे नगे—वृक्षे वृक्षे । (गो०)

एष क्रोशति नत्यूहस्तं[1] शिखी प्रतिकूजति ।
रमणीये वनोद्देशे[2] पुष्पसन्स्तरसङ्कटे ॥ ९ ॥

देखो यह जलकौवा कैसा बोल रहा है । इसका बोलना सुन मोर भी शोर करता है। इस रमणीय वन प्रदेश की भूमि फूलों से ढक गयी है ॥ ९ ॥

मातङ्ग[4]यूथानुसृतं पक्षिसङ्घानुनादितम् ।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं[5] गिरिम् ॥ १० ॥

देखो यह चित्रकूट पर्वत का उच्चशिखर देख पड़ता है, जहाँ पर हाथियों के झुंड घूम रहे हैं और पक्षियों के झुंड बोल रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते ।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

हम लोग इस चित्रकूट के वन में (कहीं) समतल भूमि, सुन्दर वृक्षों का झुरमुट तथा साफ सुथरा रमणीक स्थल देख, रमेंगे ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया ।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सीता को साथ लिये हुए दोनों भाई बातचीत करते पैदल चल कर, मनोरम और रम्य चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे ॥ १२ ॥

---

१ नत्यूहः—द्रात्यूहः । (गो०) २ वनोद्देशे—वनप्रदेशे । (गो०) ३ पुष्पसंस्तर सङ्कटे—पुष्पमयास्तरणेननिविडे । (गो०) ४ मातङ्गयूथानुसृतं—गजकुलैः व्याप्तं । (गो०) ५ प्रवृद्धशिखरं—उन्नतशिखरं । (गो०)

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् ।
बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नं सरसोदकम्[1] ॥ १३ ॥

उस पर्वत पर अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे, बहुत से फल व मूल थे तथा अनेक स्वादिष्ट जल के कुण्ड थे ॥ १३ ॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः[2] प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—हे सौम्य ! यह पर्वत कैसा मनोहर है । यह अनेक प्रकार के वृक्ष, लता और बहुत से फलों तथा मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीक देख पड़ता है । यहाँ बड़ी सरलता से हम लोगों का निर्वाह हो जायगा ॥ १३ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये[3] ।
अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥ १५ ॥

इस पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं । अतएव यही हमारे रहने योग्य है और हम यहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

इति[4] सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
अभिगम्याश्रमं[5] सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥ १६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता (तीनों जन) वाल्मीकि जी के आश्रम में गये और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १६ ॥

---

१ सरसोदकं—स्वादूदकम् । (गो०) २ स्वाजीवः—शोभनः जीविका यस्मिन् । (गो०) ३ शिलोच्चये—पर्वते । (गो०) ४ इति—इतिनिश्चित्य । (गो०) ५ आश्रमं—वाल्मीकियं । (गो०)

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् ।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च ॥१७॥

तब धर्मात्मा महर्षि वाल्मीकि ने इनको देख और प्रसन्न हो, इनका पूजन किया और बैठने को आसन दे और यह कह कर कि, पधारिये स्वागत किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।
सन्निवेद्य [1]यथान्यायमात्मानमृषये[2] प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी महर्षि को अपना, लक्ष्मण का तथा सीता का परिचय दे और वनवासादि का कारण बतला—लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च ।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! अच्छी और मज़बूत लकड़ियां एकत्र कर कुटी बनाओ । क्योंकि हे सौम्य ! यहीं बसने की मेरी इच्छा है ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान्द्रुमान् ।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः ॥ २० ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी छोटी डालें काट कर लाये और उनसे पर्णकुटी बना दी ॥ २० ॥

---

१ यथान्यायं—यथाक्रमं । (गो०) २ आत्मानं ऋषये सन्निवेद्य—अमुकस्य पुत्रोऽहं अयं मद्भ्राता इत्यादि । (गो०)

तां निष्ठितां[1] बद्धकटां[2] दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं[3] वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उस अचल और किवाड़ेदार और देखने में भी सुन्दर कुटी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सेवाकार्य में निरत लक्ष्मण जी से कहा ॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां[4] यक्ष्यामहे वयम् ।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरवासिभिः* ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! हिरन का मांस ले आओ, जिससे हम दोनों पर्ण-शालाधिष्ठात्री देवता की पूजा करें । क्योंकि यदि बहुत दिनों (किसी नवीन बने हुए घर में) रहना चाहे, तो उसे वास्तुशान्ति (गृहप्रवेश कर्म) करनी चाहिये ॥ २२ ॥

[ब्रह्माण्डपुराण में वास्तुशान्ति की फलस्तुति के सम्बन्ध में यह एक श्लोक दिया है :—

" नचव्याधिभयं तस्य न च बन्धुजनक्षयः
जीवेद्वर्षशतं स्वर्गकल्पमेवंवसेच्चरः ॥ "

अर्थात् जो नवीन गृह में वास्तुशान्ति कर के रहता है उसको न तो किसी प्रकार की व्याधि का भय होता और न उसके बन्धुबान्धवों का वंशलोप होता है । उस घर का मालिक बहुत दिनों तक इस लोक में जीवित रह कर मरने पर एक कल्प भर स्वर्ग में रहता है ।]

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण ।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्म[5]मनुस्मर[6] ॥ २३ ॥

---

१ निष्ठितां—निश्चलां । (गो०) २ बद्धकटां—बद्धबाह्यावरणां वा । (गो०) ३ एकाग्रंलक्ष्मणं । (रा०) ४ शालां—शालधिष्ठात्रीः तत्तद्दिग्वासिनीःदेवताः । (गो०) ५ धर्मं—तदनुकूलधर्मशास्त्रं । (गो०) ६ अनुस्मर—अवधेहि । (गो०)
* पाठान्तरे—" चिरजीविभिः " ।

हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र एक काला हिरन मार कर ले आओ ; क्योंकि भली भाँति विचार कर, इस विषय की धर्मशास्त्र द्वारा निर्णीत विधि को यथारीति करना उचित है ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
चकार स यथोक्तं च तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जी भाई की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण काला मृग मार कर ले आये । फिर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार कार्य कर चुकने पर श्रीरामचन्द्रजी ने पुनः उनसे कहा ॥ २४ ॥

ऐणेयं [1]श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।
त्वर सौम्य मुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च[2] दिवसोऽप्ययम् ॥२५॥

अच्छा अब इस मांस को रांधो, जिससे हम हवन करें । हे सौम्य ! शीघ्रता करो । क्योंकि यह मुहूर्त्त भी स्थिर है और दिन भी अच्छा है ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् ।
अथ चिक्षेप[3] सौमित्रिः समिद्धे[4] जातवेदसि[5] ॥ २६ ॥

तब प्रतापी लक्ष्मण ने मारे हुए यज्ञीय काले मृग को अच्छी तरह जलती हुई आग में डाल कर भूना ॥ २६ ॥

तं तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम् ।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

और जब वह भुन गया और उसका रुधिर जल गया, तब लक्ष्मण जी ने पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २७ ॥

---

१ श्रपयस्व—पच । (गो०) २ ध्रुवः—स्थिरइत्यर्थः । (गो०) ३ चिक्षेप—पपाच । (गो०) ४ समिद्धे—सम्यग्दीप्ते । (गो०) ५ जातवेदसि—अग्नौ । (गो०)

अयं कृष्णः समाप्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो यथा ।
देवतां देवसङ्काश यजस्व कुशलो[1] ह्यसि ॥ २८ ॥

हे देवतुल्य ! मैंने इस सम्पूर्ण अंगोंयुक्त कृष्ण मृग को रांध कर तैयार कर, दिया । आप यज्ञकर्म करने में समर्थ हैं, अतः वास्तुदेवता की प्रसन्नता के लिये यज्ञ कीजिये ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जप्यकोविदः ।
संग्रहेणा[2]करोत्सर्वान्मन्त्रान्सत्रावसानिकान्[3] ॥ २९ ॥

तब अमित तेजधारी, गुणवान एवं जप करने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने नियमपूर्वक स्नान किये और संक्षेप से वास्तुयज्ञ समाप्त करने के लिये, समाप्ति के सब मंत्रों को पढ़ा ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान्[4]सर्वान्विवेश* सदनं शुचि ।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

सब वास्तु देवताओं का पूजन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस पवित्र घर में प्रवेश किया । उस समय अपरमित तेजसम्पन्न श्रीराम जी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।
[5]वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि[6] प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

---

१ कुशलोसि—समर्थोसि । (गो०) २ संग्रहेण—संक्षेपेण । ३ सत्रावसानिकान् सत्रं वास्तुयागः यैर्मंत्रैरवसीयतेपरिसमाप्यतेतेसत्रावसानाः सत्रावसाना एव सत्रावसानिकाः । (गो०) ४ देवगणान्—वास्तुदेवताः । (गो०) ५ वास्तुसंशमनीयानि—गृहारिष्टशामकानि । (गो०) ६ मङ्गलानि—मंगलकराणि-पुण्याहवाचन शानिजपदीनि । (गो०) * पाठान्तरे—" सर्वान्विवेशावसथं-शुचिः । "

अनन्तर उन्होंने वैश्वदेव के लिये रुद्र और विष्णु के निमित्त वलिदान किया। फिर उन्होंने गृह के अरिष्टादि दूर करने के लिये, पुण्याहवाचन, शान्ति, जप आदि किये ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि ।
पापसंशमनं रामश्चकार वलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

फिर यथोचित जप कर तथा यथाविधि फिर नदी में स्नान कर, पाप की शान्ति के लिये उत्तम वलिदान किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्याय[1]तनानि[2] च ।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

फिर आठों दिशाओं में वलिहरणार्थ, वेदियां और गन्धर्वों के वासस्थानों को तथा विष्णु आदि देवताओं के वासस्थानों का आश्रम के अनुरूप स्थापन किया ॥ ३३ ॥

वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पक्वैर्मांसैर्यथाविधि ।
अद्भिर्जपैश्च वेदोक्तैर्दर्भैश्च ससमित्कुशैः ॥ ३४ ॥
तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया ।
तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ ॥ ३५ ॥

फिर यथाविधि फूल मालाओं, फलों, मूलों और रंधे हुए मांस से, तथा कुश की पवित्रियां धारण कर, कुश मिले हुए जल से, वैदिक मंत्रों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी ने भूतों को तृप्त कर, सीता सहित उस मनोहर और शुभलक्षण वाली (अर्थात् हवा

---

१ चैत्यानि—गन्धर्वाद्यावासस्थानानि । (गो०) २ आयतनानि—विष्ण्वद्यावास स्थलानि । (गो०)

रोशनी जाने आने के लिये पर्याप्त साधनों से युक्त) शाला में प्रवेश करने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

ता वृक्षपर्णच्छदना मनोज्ञा
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम् ।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३६ ॥

देवतागण जिस प्रकार सुधर्मा नाम की सभा में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार (श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीता) तीनों जनों ने एक साथ, उस वृक्षों के पत्तों से छायी हुई, उचित स्थान में प्रतिष्ठित, मनोहर एवं वायु रहित पर्णशाला में रहने के लिये, उसमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनेकनानामृगपक्षिसङ्कुले
विचित्रपत्रस्तवकैर्द्रुमैर्युते ।
वनोत्तमे व्याल[1]मृगानुनादिते
तदा विजह्रुः सुसुखं जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

अनेक पशु पक्षियों से पूर्ण, तरह तरह के पत्र पुष्पों से शोभित, वृक्षों से युक्त उस उत्तम वन में, जिसमें हाथी और अन्य जङ्गली जानवर बोला करते थे, जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां[1] माल्यवतीं सुतीर्थाम्[2] ।

---

१ व्यालाः—सर्पाः गजा वा । (गो०) १ तां—प्रसिद्धां । (गो०)
२ सुतीर्थाम्—शोभनजलावतरणप्रदेशां । (गो०)

ननन्द रामो* मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३८ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार सुन्दर और रमणीय तथा मृग पक्षियों से युक्त चित्रकूट पर्वत पर, स्वच्छ मीठे जल वाली प्रसिद्ध माल्यवती नदी को पा कर, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और अयोध्या त्यागने का दुःख त्याग दिया अर्थात् भूल गये ॥ ३८ ॥

[नोट—इस सर्ग तक महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी की अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया। अब आगे फिर अयोध्या का वर्णन आरम्भ होता है। स्मरण रखना चाहिये कि, श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिन में आये थे। रास्ते में तीन दिन तो केवल जल पी कर ही रह गये थे, चौथे दिन माँस खाया था और पाँचवे दिन चित्रकूट में नियमित रूप से भोजन किये थे।]

अयोध्याकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

गुह अत्यन्त दुःखी हो, सुमंत्र के साथ बहुत देर तक वार्तालाप करता रहा और जब श्रीरामचन्द्र जी गङ्गा के दक्षिणतट पर पहुँच गये, तब गुह अपने घर को चला गया ॥ १ ॥

---

*पाठान्तरे—"हृष्टो।"

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सहासनम् ।
आगिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, शृङ्गवेरपुर के चरों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का प्रयाग में भरद्वाज जी के आश्रम में जाना, उनके यहाँ ठहरना, तथा वहाँ से चित्रकूट पर्वत पर जाने आदि का पता लेते रहे ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुह से विदा हो, सुमंत्र रथ में उत्तम घोड़े जोत अत्यन्त उदास हो अयोध्या को ओर चल दिये ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।
पश्यन्नतियया शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

सुमंत्र जी सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण वनों, नदियों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों को देखते हुए बड़ी तेज़ी से चले जाते थे ॥ ४ ॥

ततः सायाह्नसमये तृतीयेऽह्नि सारथिः ।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुर से रवाना होने के तीसरे दिन सायङ्काल को सुमंत्र अयोध्या में पहुँचे और पुरी को उदास देखा ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

जनशून्य जैसी नगरी अयोध्या में सन्नाटा छाया हुआ देख, सुमंत्र बहुत उदास हुए और शोकाकुल हो सोचने लगे ॥ ६ ॥

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरनिवासियों और महाराज सहित; श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य सन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न, शोकरूपी आग से भस्म तो नहीं हो गयी ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इस प्रकार सोचते हुए सुमंत्र शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर सवार, नगरद्वार पर पहुँच, तुरन्त नगर में प्रवेश करते हुए ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः ।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥

सुमंत्र को नगर में आया हुआ देख, सैकड़ों हज़ारों पुरी-वासी जनों ने दौड़ कर, उन्हें घेर लिया और यह पूँछने लगे कि, श्रीरामचन्द्र जी कहाँ हैं ? ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् ।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥

उन सब को सुमंत्र ने यही उत्तर दिया कि, गङ्गा जी के तट पर पहुँच, धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने की आज्ञा दी, तब मैं लौट कर आया हूँ ॥ १० ॥

ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा जनाः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशः ॥११॥

तब वे पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी को गङ्गा के पार उतरा जान, नेत्रों में आंसू भर, मुख से हाय! धिक्कार है कह, और दीर्घ श्वास ले "हा राम" कह कर चिल्लाने लगे ॥ ११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दंवृन्दं च तिष्ठताम् ।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

उस समय उस जनसमुदाय से यही सुन पड़ता था कि, हा! हम लोग मारे गये जो हम राम को नहीं देख पाते ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु[1] धार्मिकं राममन्तरा[2] ॥ १३ ॥

हाय! दान, यज्ञ, विवाह, और बड़े बड़े समाजों में लोगों के बीच, माला के सुमेरु की तरह बैठे हुए श्रीराम को हम अब कभी न देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।
इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥ १४ ॥

हा! वे श्रीरामचन्द्र जी तो अमुकजन के लिये क्या ठीक है, क्या अच्छा है और क्या सुखदायी है, इन सब बातों का विचार कर, पिता की तरह नगरवासियों का पालन करते थे ॥ १४ ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।
रामशोकाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम् ॥ १५ ॥

सुमंत्र जाते जाते, सड़क के दोनों तरफ़ झरोखों में बैठी हुई श्रीराम के वियोग से सन्तप्त पुरनारियों के विलाप सुनते थे ॥ १५ ॥

---

१ पुनःजातु—कदाचिदपि । (रा०) २ अन्तरा—मध्येनायकमर्णिवद्वर्तमानं । (गो०)

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहितानन: ।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन, सुमंत्र ने अपना मुख ढक लिया और बड़ी शीघ्रता से वे महाराज के देवोपम गृह की ओर गये ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च ।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

सुमंत्र ने रथ से उतर बड़ी शीघ्रता से लोगों की भीड़ से परिपूर्ण सात फाटकों को पार कर राजभवन में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १८ ॥

छज्जों, सतखने मकानों की अट्टारियों और भवनों में बैठी तथा श्रीराम के वियोग से कर्शित स्त्रियां (अकेले) सुमंत्र को आया देख, हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १९ ॥

वे बड़े बड़े विमल नेत्रों से आंसू ढलकाती हुई परस्पर देखती थीं और अत्यन्त दुःखी हो ऐसे विलाप भरे वचन कहती थीं, जो अस्पष्ट थे ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम् ॥ २० ॥

राजभवन के भीतर भी इधर उधर महाराज दशरथ की रानियों का जो श्रीरामचन्द्र के शोक से सन्तप्त थीं, धीमा आलाप सुन पड़ता था ॥ २० ॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः ।
मृतः किं नाम कौसल्यां शोचन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥२१॥

वे कहती थीं कि, यह सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को ले कर गया था, किन्तु उनको छोड़ कर अकेला लौट कर आया है। अब देखें रोती हुई कौशल्या को किस प्रकार यह धीरज बंधाता है ॥ २१ ॥

यया च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।
आच्छिद्य[1] पुत्रे निर्याते कौसल्या यन्न जीवति ॥२२॥

हम तो यही कहेंगी कि, जीव को दुःख भोगने के लिये जीना जैसा पसन्द है वैसा सुख के लिये नहीं। देखो इसीसे तो अपने पुत्र (श्रीरामचन्द्र) के राज्य छोड़ कर वन चले जाने पर भी, कौशल्या अब तक जी रही है ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद्वाक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् ।
*प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन रानियों के ये सत्यवचन सुनते हुए सुमंत्र, शोक से दग्ध हो, अचानक महाराज के घर में जा पहुँचा ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् ।
पुत्रशोकपरिद्यूनं[2] ऽपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

---

१ आच्छिद्य—राज्यं त्यक्त्वे । (शि०) २ परिद्यूनं—क्षीणं । (गो०)

* पाठान्तरे—" प्रदीप्तइव । "

आठवीं ड्योढ़ी लाँघ उसने महाराज के सफेद रंग के कमरे में जा कर देखा कि, महाराज दीन, आतुर और पुत्रशोक से क्षीण हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च ।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमंत्र ने जा कर बैठे हुए महाराज को प्रणाम किया और जो बातें श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज से कहने के लिये उससे कहीं थीं—वे बातें ज्यों की त्यों उसने महाराज से कहीं ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः ।
मूर्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिपीडितः ॥ २६ ॥

उन बातों को चुपचाप सुन, महाराज की बुद्धि ठीक ठिकाने न रही । वे श्रीराम के वियोगजनित शोक से अत्यन्त विकल होने के कारण, अचेत हो पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं[1] मूर्छिते पृथिवीपतौ ।
उद्धृत्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥

उस समय महाराज को मूर्छित हो, पृथिवी पर पड़ा देख, रनवास की सब रानियाँ बड़ी दुःखी हुईं और बाहें उठा उठा कर रोने लगीं ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् ।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

---

१ आविद्धं—शोकेनाभिहितं । (गो०)

तब सुमित्रा और कौशल्या ने ज़मीन पर पड़े हुए महाराज को उठाया और कहने लगीं ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

हे महाभाग ! महाकठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र के, ये दूत वन कर वन से आये हुए हैं। इनसे आप क्यों बातचीत नहीं करते ॥ २९ ॥

अद्येममनयं[1] कृत्वा व्यपत्रपसि राघव ।
उत्तिष्ठ सुकृतं[2] तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥३०॥

हे राघव ! श्रीरामचन्द्र जी को देशनिकाला दे कर, अब आप क्यों लज्जित हो रहे हैं। उठिये उठिये ! अब इस शोक के लिये कोई चारा नहीं—अतः अब आप शोक मत कीजिये । अर्थात् अब इस शोक को निवृत्त करने के लिये कोई उपाय शेष नहीं रहा। ऐसी दशा में आपके लिये अब शोक करना शोभा नहीं देता ॥३०॥

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।
नेह तिष्ठति कैकेयी विस्रब्धं[3] प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

हे देव ! जिसके भय से आप सुमंत्र से बातचीत नहीं करते वह कैकेयी यहां नहीं है। आप निर्भय हो बातचीत कीजिये ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा ।
धरण्यां निपपाताशु वाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

---

१ इममनयं—पुत्रविवासनं । (गो०) २ सुकृतं—शोभनं । (गो०)
३ विस्रब्धं—निःशङ्कम् । (गो०)

महाराज से ये वचन कहते कहते कौशल्या शोक से कातर हो गयीं, उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। वे भूमि पर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

एवं विलपतीं दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि ।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः सुस्वरं रुरुदुः स्त्रियः ॥३३॥

इस प्रकार विलाप करती हुई और भूमि पर मूर्छितावस्था को प्राप्त कौशल्या को तथा महाराज को देख, वहां जो अन्य रानियां तथा अन्तःपुर की स्त्रियां थीं—वे उच्चस्वर से रुदन करने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य[1] वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीऽऽपुनरेव[2] सङ्कुलम् ॥ ३४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

रनवास में रोने का शब्द सुन, अयोध्यापुरी में उस समय जितने बूढ़े और जवान पुरुष थे तथा वहां जितनी स्त्रियां थीं, वे सब की सब चारों ओर रोने लगीं और समूची अयोध्यापुरी में फिर एक बार वैसा ही हाहाकार हुआ, जैसा श्रीरामचन्द्र के वन जाते समय हुआ था ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तावनवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ समीक्ष्य—श्रुत्वा । (गो०) २ पुनरेवसङ्कुलम् । रामगमनकाल-इवव्याकुलमासीत् । (गो०)

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

प्रत्याश्वस्तो[1] यदा राजा मोहात्मत्यागतः[2] पुनः ।
अथाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

कुछ देर बाद जब महाराज उपचारद्वारा सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त सुनने के लिये सूत को पुकारा और उनकी ओर अपना मुख फेरा ॥ १ ॥

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, महाराज के सामने हाथ जोड़े खड़े थे। उस समय महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र के वियोग से चिन्तित और शोक से विकल थे ॥ २ ॥

वृद्धं परमसन्तप्तं [3]नवग्रहमिव द्विपम् ।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम्[4]अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥३॥

बूढ़े महाराज दशरथ, हाल के पकड़े हुए हाथी की तरह परम सन्तप्त थे और उसी तरह उसाँसे ले रहे थे, जिस प्रकार एक व्याधिग्रस्त हाथी उसाँसे लेता है ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा सूतं* ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

---

१ प्रत्याश्वस्तः—उपचारैरुद्बोधितः । (रा०) २ प्रत्यागतः—सूतस्याभिमुखागतः । (गो०) ३ नवग्रहं—सद्योगृहीतं । (गो०) ४ अस्वस्थ—व्याधिग्रस्तं । (गो०) * पाठान्तरे—" धूतं "

सुमंत्र के सारे शरीर में धूल लगी थी, आंखों से आंसू बह रहे थे, देखने से वे अत्यन्त विकल जान पड़ते थे। ऐसी दशा को प्राप्त सुमंत्र से, महाराज दशरथ अत्यन्त कातर मनुष्य की तरह बोले ॥ ४ ॥

कनु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमिशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे सुमंत्र ! वह धर्मात्मा कहाँ—वृक्ष के नीचे वास करता होगा और जो हर प्रकार से सुखपूर्वक रहने योग्य है—वह राम वन में क्या खायगा ? ॥ ५ ॥

दुःखस्यानुचितो दुखं सुमन्त्र शयनोचितः ।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

हे सुमंत्र ! हमारा राम दुःख भोगने योग्य नहीं—वह तो सेज पर सोने योग्य है। भला एक राजकुमार एक अनाथ की तरह कैसे भूमि पर सो सकता है ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्मपदातिरथकुञ्जराः ।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

जिस राजकुमार की सवारी के पीछे अनेक पैदल सिपाही, रथ और घोड़े चला करते थे, वह राम जनशून्य वन में कैसे रह सकेगा ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥

जिस वन में अनेक अजगर और दुष्ट वनजन्तु विचरा करते हैं और जिसमें काले साँप रहा करते हैं, उस वन में सीता सहित दोनों राजकुमार कैसे रहते होंगे ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद्गतौ ॥ ९ ॥

हे सुमंत्र ! उस सुकुमारी और दुःखियारी सीता को साथ ले—वे दोनों राजकुमार किस तरह रथ से उतर कर पैदल चले होंगे ॥९॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥

हे सुमंत्र ! तू बड़ा भाग्यवान् है, जिसने मेरे दोनों राजकुमारों को वन में उसी प्रकार जाते देखा, जिस प्रकार अश्विनीकुमार मन्दराचल पर जाते हैं ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

हे सुमंत्र ! वन में पहुँच, राम ने क्या कहा, लक्ष्मण ने क्या कहा और सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम राम के उपवेशन, शयन तथा भोजन का वृत्तान्त कहो, जिसके सुनने से मैं कुछ देर और उसी प्रकार जीवित रह सकूँ, जिस प्रकार साधु के वचनों को सुन, राजा ययाति जीवित रहे थे ॥ १२ ॥

[नोट—लिखा है, राजा ययाति जब स्वर्ग में पहुंचे और अपने सुकृतों का वर्णन करने लगे ; तब इन्द्र ने उनसे कहा कि, जिह्वा पर अग्निदेव का वास है । तुमने अपने सुकृतों का अपने आप वर्णन कर अपने सुकृतों को दग्ध कर डाला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते । मृत्युलोक को चले जाओ । तब ययाति ने यह प्रार्थना की कि, यदि आप मुझे मृत्युलोक में भेजते हैं, तो वहाँ ऐसी जगह भेजिये जहाँ साधुओं का साथ मिले । ययाति की यह प्रार्थना स्वीकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि, ययाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था, वह साधुसमागम से दूर हो गया था ।]

इति स्तुतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया[1] ।
उवाच वाचा राजानं स वाष्प[2]परिरुद्धया ॥ १३ ॥

जब महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुमंत्र गद्गद कण्ठ हो, लड़खड़ाती वाणी से कहने लगे ॥ १३ ॥

अब्रवीन्मां महाराज धर्ममेवानुपालयन् ।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥१४॥
सूत मद्वचना[3]त्तस्य तातस्य विदितात्मनः[4] ।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ[5] पादौ*पुनः पुनः ॥१५॥

हे महाराज ! धर्म के पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ और मस्तक झुका कर यह कहा कि, मेरी ओर से संसार में धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध एवं वन्दनीय महाराज पिता के चरणों को बार बार प्रणाम कर ॥ १४ ॥ १५ ॥

---

१ सज्जमानया—हृष्यन्त्या । (गो०) २ वाष्पपरिरुद्धया—कण्ठगतवाष्प रुद्धयेत्यर्थः । (गो०) ३ मद्वचनात्—ममप्रतिनिधित्वेन । (रा०) ४ विदितात्मनः लोकेधार्मिकत्वेनप्रसिद्धस्य । (रा०) ५ वन्द्यौ—वन्दनीयौ । (रा०)

* पाठान्तरे—"महात्मनः । "

सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात्त्वया ।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हं चाभिवादनम् ॥ १६ ॥

अन्तःपुरवासी समस्त स्त्रियों और पुरुषों को भी मेरी ओर से मेरा कुशलसमाचार कहना और यथायोग्य प्रणामादि कहना ॥ १६ ॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥ १७ ॥

मेरी माता कौशल्या से भी मेरा कुशलसमाचार कह कर, मेरी ओर से प्रणाम कहना और यह भी कह देना कि, अपने कर्त्तव्य के पालन में प्रमाद न करें अर्थात् तत्पर रहें ॥ १७ ॥

धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा[1] भव ।
देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय[2] ॥ १८ ॥

और यथासमय नित्य धर्मानुष्ठानादि करती रहें और यज्ञशाला की चौकसी रखें । फिर यह कहा है कि, हे देवी ! महाराज को देवतावत् मान उनकी चरणसेवा करो ॥ १८ ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।
अनु राजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय[3] ॥ १९ ॥

और कुलाभिमान एवं बड़प्पन का विचार त्याग कर, मेरी अन्य माताओं के साथ व्यवहार करना । महाराज की विशेष

---

१ अग्न्यागारपरा—यागशालारक्षिकाभव । (शि०) २ परिपालय—निषेवस्व । (शि०) ३ कारय—राजानं कैकेयीमनुल्यमनुवर्तस्व ।

कृपापात्र माता कैकेयी है। : उसके प्रति भी वैसा ही व्यवहार करना जैसा महाराज के साथ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

और कुमार भरत से राजा जैसा वर्ताव करना—यद्यपि भरत वय में नहीं, तथापि धन से ज्येष्ठ होने के कारण, राजधर्मानुसार उनके प्रति राजा जैसा व्यवहार करना ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

(हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के लिये यह कहा है कि) भरत जी से मेरा कुशलवृत्त कहना और यह बात कहना कि, वे सब माताओं के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें ॥ २१ ॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत से यह भी कहना कि, युवराज हो कर महाराज पिता की आज्ञा में चलें ॥ २२ ॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यवरोरुधः[1] ।
कुमारराज्ये जीव त्वं तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

महाराज अब बहुत बूढ़े हैं, अतएव उनको राज्यभ्रष्ट न करना अर्थात् राज्यासन की अभिलाष मत करना और युवराज पद पा कर ही सन्तोष कर, महाराज जो कहें सो करना ॥ २३ ॥

---

१ व्यवरोरुधः—व्यपरोरुधः राज्यात् भ्रंशयेत्यर्थः । (रा०)

अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुखिया कर मुझसे यह भी कहा है कि, भरत जी से यह बात कह देना कि. मेरी पुत्रवत्सला माता को अपनी माता की तरह समझें ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः ।
रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

महाबाहु, महायशस्वी, पद्मपलाशलोचन श्रीरामचन्द्र ने मुझसे ये सन्देशे कहे और बहुत रोये ॥ २५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन्वाक्यमब्रवीत् ।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

तब लक्ष्मण जी ने अत्यन्त कुपित हो और ऊँची सांस ले यह कहा । इन राजकुमार ने कौनसा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें देशनिकाला दिया गया है ॥ २६ ॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु त्वाश्रित्य शासनम् ।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

महाराज ने कैकेयी की तुच्छ बात मान और प्रतिज्ञा कर, कार्य अकार्य का कुछ भी विचार न किया । (इसका फल यह हुआ कि) दुःख हम लोगों को भोगना पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी, कैकेयी के (अनुचित) लालच वश अथवा वरदान पूरा करने के लिये वन भेजे गये हैं, तो यह कार्य सर्वथा बुरा है ॥ २८ ॥

इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

यदि ईश्वर के करने से उन्होंने ऐसा किया है, तो भी श्रीरामचन्द्र के निर्वासन में ईश्वर की कृति का कोई हेतु या कारण नहीं देख पड़ता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारम्भं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।
जनयिष्यति संक्रोशं[1] राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

महाराज ने इसका परिणाम न सोचा, केवल बुद्धि की कोताई ही से यह काम किया, अतः श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास महाराज को दुःख देगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

मुझे तो महाराज में पितृकर्त्तव्य का पालन कुछ भी नहीं देख पड़ता । अतः अब तो मेरे भाई, स्वामी, बन्धु और पिता (जो कुछ हैं—सो) श्रीरामचन्द्र हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं त्वाऽऽनेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

---

१ संक्रोशं—दुःखं । राज्ञोऽनुतापहेतिभावः । (गो०)

सब लोगों के प्रिय और सब लोगों की भलाई करने में निरत श्रीरामचन्द्र जी को जब तुमने वनवास दिया—तब (तुम्हारे इस कर्म से तुम्हारे ऊपर) प्रजाजन कैसे प्रसन्न होंगे ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम् ।
सर्वलोकं विरुद्धयेमं कथं राजा भविष्यसि ॥३३॥

ऐसे धार्मिक और प्रजाप्रिय श्रीरामचन्द्र को वन में निकालने के कारण सब प्रजाजनों के विरोधी बन, आप किस प्रकार राजा कहला सकेंगे ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती मनस्विनी[1] ।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मिता स्थिता ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! जानकी जो बड़े गम्भीर मन की है—भूत लगे हुए जन के चित्त की तरह आश्चर्यचकित हो, टकटकी बाँधे खड़ी की खड़ी ही रह गयी ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

क्योंकि उस यशस्विनी राजदुलारी पर इसके पूर्व कभी दुःख नहीं पड़ा था । अतः इस दुःख में, मुँह से कुछ भी न कह, केवल वह विलख रही थी ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।
मुमोच सहसा बाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥३६॥

---

१ मनस्विनी—गम्भीरमनस्का । (गो०)

और पति के अश्रुपूर्ण मुख को देख, उसका मुख सूख गया था और वह मेरी ओर देख सहसा आँसू गिराने लगी थी ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽभवल्लक्ष्मणबाहुपालितः ।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जो, जिनकी बाँह पकड़ लक्ष्मण खड़े थे, अश्रुमुख हो और हाथ जोड़े खड़े खड़े, मेरी ओर देख रहे थे। तपस्विनी सीता भी उसी तरह रोती हुई राजरथ को और मुझको देख रही थी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठानवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—:०:—

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि ।
उष्णमश्रु प्रमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम् ॥ १ ॥

(सुमंत्र, महाराज दशरथ से कहने लगे) श्रीरामचन्द्र जी के वन को चले जाने पर जब मैं लौटने लगा, तब मेरे थके घोड़े रास्ते में अड़ गये और गरम गरम आँसू गिराने लगे ॥ १ ॥

उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाऽहमञ्जलिम् ।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

मैंने दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर रथ में बैठ वहां से प्रस्थान किया और उस दुःख को भी किसी प्रकार सह लिया ॥ २ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून् ।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी मुझे बुला कर, (अपने साथ ले चलें) इस आशा में मैं गुह के साथ वहीं कई दिनों तक ठहरा रहा ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज रामव्यसनकर्शिताः ।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

मैंने लौटते समय देखा कि, आपके राज्य के वृक्ष तक दुःखी हैं। क्योंकि उनके फूल अङ्कुर और कली कुम्हला गयी हैं ॥ ४ ॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

नदियों, तलैयों और तालाबों का जल सूख रहा है। (और नदियों तलैयों और तालाबों में जल कम हो जाने के कारण) वनों और उपवनों के वृक्षों के पत्ते मुरझाये हुए हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्ति[1] सत्त्वानि[2] व्यालाः[3] न प्रचरन्ति च
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद्वनम् ॥ ६ ॥

---

१ नसर्पन्ति—नगच्छन्ति । (गो०) २ सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)
३ व्यालाः—हिंस्रपशवः सर्वदासञ्चारस्वभावा गजादयः । (गो०)

जीव जन्तुओं ने चलना बंद कर दिया है और हिंस्रपशु अथवा सदैव घूमने वाले हाथी भी अब वनों में घूमते हुए नहीं देख पड़ते। राम के वियोगजनित शोक से वनों में सन्नाटा छाया हुआ है ॥ ६ ॥

लीनपुष्करपत्राश्च[1] नरेन्द्र कलुषोदकाः ।
सन्तप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीन[2]विहङ्गमाः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तालाबों का जल गंदला हो गया है और कमलों के पत्ते राम-वियोग-जन्य अतिशय ग्लानि उत्पन्न होने के कारण जल के भीतर डूब गये हैं। कमल के तालाबों में कमल सूख रहे हैं। मछलियों और (जल) पक्षियों ने पानी में घूमना फिरना छोड़ दिया है ॥ ७ ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि[3] स्थलजानि च ।
नाद्य भान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥८॥

जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसी गन्ध ही रह गयी और न फलों में पहले जैसा स्वाद ही रह गया ॥ ८ ॥

अन्तःपुराणि शून्यानि प्रलीनविहगानि च ।
न चाभिरामानारामान्पश्यामि मनुजर्षभ ॥ ९ ॥

यहाँ के उपवनों में भी पक्षियों के चुपचाप घोंसलों में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है। यहाँ की वाटिकाएँ भी मुझे शोभाहीन देख पड़ती हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यां मां न कश्चिदभिनन्दति ।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

---

१ लीनपुष्करपत्राः—म्लान्यतिशयेनम्लानत्वेर्लीनरम्भपत्राः । (गो०)
२ लीनाः—सञ्चाररहिताः । (गो०) ३ माल्यानि—पुष्पाणि । (गो०)

मैं जब अयोध्या में आया, तब मैंने किसी को भी प्रसन्न न पाया प्रत्युत लोग (मेरे रथ में) श्रीरामचन्द्र को न देख, बार बार लंबी साँसे लेने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम् ।
दुःखादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गगतो जनः ॥ ११ ॥

हे देव ! राजरथ में बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी को आते न देख, रास्ते में जितने लोग थे, वे सब दुःखी हो रोने लगे ॥ ११ ॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को न देखने के कारण विकल और दुखी, सतखने मकानों की छतों और भवनों के झरोखों में बैठी हुई स्त्रियों ने सुने रथ को आते देख, बड़ा हाहाकार किया ॥ १२ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्ते व्यक्त[1]मार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

वे (स्त्रियाँ) बड़े बड़े विमल नेत्रों में आँसू भर और बहुत कातर एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं देखती थीं ॥ १३ ॥

[नोट—नेत्रों को विमल कहने का भाव यह है कि, नेत्रों में अंजन या काजल जो स्त्रियों के शृङ्गार का एक अङ्ग है, वह नहीं लगा था ।]

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।
अहमार्ततया किञ्चिद्विशेषमुपलक्षये ॥ १४ ॥

---

१ अव्यक्तं—सम्यक् न । (रा०)

मुझे तो आज क्या मित्र, क्या शत्रु और क्या उदासीन—किसी भी जन में, सिवाय कातरता के और कोई भी विशेषता नहीं देख पड़ती ॥ १४ ॥

अमहृष्टमनुष्या च दीननागतुरङ्गमा ।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥

जितने मनुष्य हैं वे सब दुःखी हैं, जितने हाथी घोड़े हैं वे भी उदास हैं। सब ही आर्तनाद करते हुए लंबी लंबी उसांसे ले रहे हैं ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा ।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मा ॥ १६ ॥

हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने से सब लोग दुःखी हैं। अयोध्यापुरी तो मुझे पुत्र से बिछुड़ी हुई कौशल्या की तरह (दीन) दिखलाई पड़ रही है ॥ १६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा राजा परमदीनया ।
बाष्पोपहतया वाचा तं सूतमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमंत्र के वचन सुन महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो गद्गद कण्ठ से सुमंत्र से यह बोले ॥ १७ ॥

कैकेय्या हि नियुक्तेन [1]पापाभिजनभावया ।
न मया मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम्[2] ॥ १८ ॥

---

१ पापाभिजनभावया—क्रूरकर्मविषयकसंमतिदानजनितपापविशिष्टाये अभिजनाः अभितः समीपं विद्यमानाः जनाः मन्थरादयाः तैस्सहभावो यंस्थितिर्यस्याः । (शि०) २ नसमर्थितं—नविचारितं । (गो०)

हे सुमंत्र ! दुष्ट बुद्धिवाली मन्थरादि का सहवास करने वाली कैकेयी को जब मैं वर देने लगा, तब (शोक है कि) न तो परामर्श देने में निपुण वृद्ध जनों के साथ मैंने विचार किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा च नैगमैः ।
मयाऽयमर्थः सम्मोहात्स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

और न अपने सुहृदों और न अपने मंत्रियों और न (राजधानी के) महाजन साहूकारों से सलाह ली । मैंने यह अनर्थ केवल कैकेयी के लिये मोहवश सहसा कर डाला ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत् ।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया[1] ॥ २० ॥

हे सुमंत्र ! निश्चय हो यह दारुण कष्ट होनी के वश, इक्ष्वाकु कुल का सर्वनाश करने को अपने आप अथवा दैवइच्छा से उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किञ्चिन्मया तु सुकृतं[2] कृतम् ।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम् ॥२१॥

हे सुमंत्र ! यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो, तो तू मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा । (क्योंकि) मेरे प्राण (शरीर से निकलने के लिये) जल्दी कर रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम् ।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

---

१ यदृच्छया—दैवेच्छया । (रा०) २ सुकृतं—उपकारः (गो०) ।

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरी आज्ञा मान वन से लौट सकें, तो तू ही जा कर उनको लौटा ला। क्योंकि मैं राम बिना एक मुहूर्त्त भी नहीं जी सकता ॥ २२ ॥

अथवाऽपि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति ।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

अथवा यदि महाबाहु राम बहुत दूर निकल गये हों, तो मुझे रथ में बिठा शीघ्र ले चल कर, मुझे राम को दिखला दे ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रो[1] महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

कुन्दपुष्पसम दाँतों वाले, महाधनुर्धर और लक्ष्मण के बड़े भाई राम कहाँ हैं? यदि मैं जीता रहा तो सीता सहित इस साधु को अवश्य देखूँगा ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

यदि मैं लाल नेत्र वाले, महाबाहु, रत्नकुण्डलधारी राम को न देखूँगा तो मैं यमालय को चला जाऊँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

---

१ वृत्तदंष्ट्रो—कुन्दकुड्मलाकारदंष्ट्रः । (गो०)

हा ! इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी, जो मैं इक्ष्वाकु-कुल-नन्दन राम को इस (मरण) अवस्था में भी नहीं देख सकता ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनी ।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा तपस्विनी वैदेही ! मैं अनाथ की तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ, यह तू नहीं जानती ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पित[1]चेतनः ।
अवगाढः[2] सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

यह कहते कहते महाराज दशरथ का मन बहुत दुःखी हो गया । वे अपार शोकसागर में डूब कर कहने लगे ॥ २८ ॥

[शोकसागर का रूपक बाँधा है ।]

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पफेनजलाविलः ॥ २९ ॥
बाहुविक्षेपमीनौघो विक्रन्दितमहास्वनः ।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः ।
वरवेलो नृशंसाया राममत्राजनायतः ॥ ३१ ॥

राम का विरहजन्य शोक उस सागर की गहराई या चौड़ाई है, जिसके किनारे हैं सीता जी का विछोह । श्वास का निकलना उसके भँवर हैं, नेत्रजल से मानों वह गंदला हो रहा है । हाथों का पट

---

१ अर्पित चेतनः—व्याप्तचित्तः । (गो०) २ अवगाढः—प्रविष्टः । (गो०)

कना मानों मछलियाँ हैं और आर्त्तनाद उस महासागर का मानों गर्जन तर्जन है। बिखरे हुए बाल मानों सिवार हैं और कैकेयी मानों वड़वानल (वह आग जो समुद्र के नीचे रहती है।) नेत्रों का जल गम्भीरता उत्पन्न करने वाला है, मन्थरा के वाक्य मानों बड़े बड़े घड़ियाल हैं, कैकेयी के वर, जिससे श्रीरामचन्द्र जी बन गये मानों लंबे लंबे तट हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

यस्मिन्वत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।
दुस्तरो जीवता देवि ममाऽयं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

हे कौशल्या ! मैं बिना राम के इस प्रकार के अथाह शोक-सागर में डूब रहा हूँ, सो जीते जी तो मैं इसे पार न कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

अशोभनं[1] योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।
इतीव राजा विलपन्महायशाः
पपात तूर्णं शयने स मूर्छितः ॥ ३३ ॥

मैं आज लक्ष्मण सहित राम को देखना चाहता हूँ, किन्तु नहीं देख सकता, यह मेरे किसी महापातक का फल है। इस प्रकार महायशस्वी महाराज अनेक प्रकार से विलाप करते हुए तत्काल ही अचेत हो पलंग पर गिर पड़े ॥ ३३ ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे[2]
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।

---

१ अशोभनं—ममहत्पापं । (रा०) २ प्रनष्टे—मूर्च्छिते सीता । (रा०)

वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥ २४ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः ॥

महाराज जब श्रीरामचन्द्र के लिये अत्यन्त करुणपूर्ण विलाप करते करते मूर्छित हो गये तब राममाता महारानी कौशल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन, दूना भय हुआ। (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के लिये महाराज को करुणपूर्ण विलाप कर के मूर्छित हुआ देख, कौशल्या बहुत डरी कि, कहीं महाराज प्राण न त्याग दें) ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनसठवां सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

षष्टितमः सर्गः

—:०:—

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः।
धरण्यां गतसत्वेव[1] कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौशल्या, जो भूताविष्ट की तरह भूमि पर निर्जीव सी पड़ी कांप रही थी, सुमंत्र से बोलीं ॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः।
तान्विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

हे सूत! जहां राम, लक्ष्मण जानकी हों, वहीं मुझे ले चलो, क्योंकि विना उनके आज मैं एक क्षण भी नहीं जी सकती ॥ २ ॥

---

१ गतसत्वेव—गतप्राणेव। (गो०)

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्नय मामपि ।
अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

अतः अति शीघ्र रथ फिर लौटाओ और मुझे भी दण्डकवन में पहुँचा दो, जो मैं उनके पास न गयी तो मैं यमपुरी को चल दूँगी ॥ ३ ॥

वाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया[1] ।
इदमाश्वासयन्देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

यह सुन सुमंत्र आँसू बहा, विकल हो, और हाथ जोड़ कर, महारानी को धीरज बँधाते हुए बोले ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं[2] दुःखजं तथा ।
व्यवधूय च सन्तापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे देवी ! तुम शोक, मोह और दुःख के कारण उत्पन्न विकलता को त्याग दो । क्योंकि श्रीरामचन्द्र सुख से वन में वास करेंगे ॥५॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन्वने ।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं[3] जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्र की चरणसेवा कर, धर्मपूर्वक एवं जितेन्द्रिय हो, अपना परलोक सुधार रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव ।
विस्रम्भं[4] लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

---

१ सज्जमानया—विकुलया । (गो०) २ सम्भ्रमं—व्याकुलत्वं । (गो०) ३ परलोकमाराधयति—परलोकं साधयति । (गो०) ४ विस्रम्भं—प्रणयं । (गो०)

विजन वन में भी सीता राम में अपना मन लगा, घर ही के समान, प्रीतिपूर्वक एवं निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किञ्चित्सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते ।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मा ॥ ८ ॥

सीता जी में मुझे ज़रा सी भी दीनता नहीं देख पड़ी । अतः मुझे तो वह प्रवास में रहने के योग्य ही मालूम पड़ती है ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीता नगर के बाग़ बगीचों में जा कर पहले यहां विहार किया करती थीं उसी प्रकार वह वहाँ निर्जन वन में भी विहार करती है ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीताऽबालचन्द्रनिभानना ।
रामा रामे ह्यधीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥१०॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह मुखवाली सीता निर्जन वन में भी प्रसन्नचित्त हो कर राम में मन लगा और अधीन हो क्रीड़ा किया करती है ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं ह्यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।
अयोध्यापि भवेत्तस्या रामहीना तथा वनम् ॥११॥

क्योंकि केवल उसका मन ही सम्पूर्णतया श्रीराम के अधीन नहीं है, प्रत्युत उसका जीवन भी उन्हींके ऊपर निर्भर है । अतः

विना श्रीराम के उसके लिये यह अयोध्या भी वन के समान है ॥ ११ ॥

पथि पृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान्विविधानपि ॥ १२ ॥

मार्ग में जो गाँव, नगर, नदी और अनेक प्रकार के वृक्ष सीता देखती, उनके विषय में वह ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि पृष्ट्वा जानाति जानकी ।
अयोध्याक्रोशमात्रे तु विहारमिव संश्रिता ॥ १३ ॥

राम से और लक्ष्मण से पूँछ, उनका वृत्तान्त अथवा परिचय जान लेती थी । वह वन तो उसके लिये मानों अयोध्या से एक कोस के अन्तर पर उपस्थित विहारस्थल जैसा हो रहा है ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम् ।
कैकेयीसंश्रितं वाक्यं नेदानीं प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

सीता जी के विषय में तो मुझे इन्हीं बातों को याद है, उसने कैकेयी के बारे में जो कहा था—वह मुझे इस समय याद नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद्वाक्यं प्रमादात्पर्युपस्थितम् ।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

सुमंत्र ने भूल से कैकेयी की चर्चा छेड़ दी थी—सो उस चर्चा को वहीं छोड़, फिर सुमंत्र कौशल्या को प्रसन्न करने वाले वचन कहने लगे ॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन[1] च ।
न विगच्छति[2] वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

हे महारानी ! जानकी के मुख की चन्द्रमा जैसी प्रभा, मार्ग की थकावट से, हवा के झोंको से, व्याघ्रादि भयङ्कर वन के जीव जन्तुओं के डर से, अथवा तेज़ धूप से फीकी नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य[3] पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।
वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥
अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

और न कमल एवं पूर्णचन्द्र के तुल्य सीता जी का मुख मलिन होता है। यद्यपि उसके चरणों में महावर नहीं लगायी गयी तथापि अब तक उसके दोनों चरण कमल की तरह लाल लाल देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥

नूपुरोद्घुष्टहेलेव खेलं[4] गच्छति भामिनी ।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अनुरागवती होने के कारण सीता ने अब तक आभूषण नहीं उतारे हैं, वह पैरों की पायजेबों की झनकार से हंस आदि के गमन को लजाती हुई बड़े आनन्द से चलती है ॥ १९ ॥

---

१ सम्भ्रमेण—व्याघ्रादिदर्शनजन्यव्याकुलत्वेन । (गो०) २ नविगच्छति—नविकरोति । (गो०) ३ शतपत्रस्य—पद्मस्य । (गो०) ४ खेलं—सल्लीलं । (गो०)

गजं वा वीक्ष्य सिंह वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

वन में हाथी, सिंह और व्याघ्र को देख—वह डरती नहीं, क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के भुजबल पर विश्वास होने से वह निर्भय रहती है ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मानः[1] शोच्यो नापि जनाधिपः ।
इदं[2] हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

अतः हे देवी ! तुम उन तीनों के लिये, अपने लिये और महाराज के लिये ज़रा भी चिन्ता न करो । पिता की आज्ञा मान कर वन जाने का श्रीराम जी का चरित्र आचन्द्रार्क इस संसार में प्रसिद्ध होगा, प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते[3] पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

वे (श्रीरामचन्द्र) शोक को दूर कर, प्रसन्न मन से महर्षियों के चले हुए मार्ग का भली भाँति अनुसरण कर, अर्थात् तपस्वियों के नियमों का पालन करते हुए वन में रह और कन्दमूल फल खा पिता की परम पवित्र आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥ २२ ॥

---

१ आत्मनः—स्वयं । (गो०) २ इदंचरितं—पितृवचनपरिपालनरूपं-चरितं । (गो०) ३ महर्षियाते—महर्षिभिः प्राप्ते । (गो०)

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम क्रूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेतिच ॥ २३ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

यद्यपि सूत ने कौशल्या को अनेक युक्तियों से बहुत कुछ समझाया, तथापि कौशल्या पुत्रवियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, रोने चिल्लाने से न रुकीं और "अरे मेरे लाड़ले," "अरे मेरे बेटे," "अरे राम!" बराबर कह कह कर रोती ही रहीं ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का साठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकषष्टितमः सर्गः

—:०:—

वनं गते धर्मपरे रामे रमयतांवरे ।
कौसल्या रुदती* सार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

गुणाभिराम, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के वन चले जाने पर, कौशल्या विकल हो रुदन करती हुई अपने पति से यह बोलीं ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु मथितं ते महद्यशः ।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

---

* पाठान्तरे—"रुती।"

हे महाराज ! यद्यपि तीनों लोकों में आपकी यह कीर्ति फैली हुई है कि, महाराज बड़े दयालु, उदार, और प्रियवादी हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।
दुखितौः सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

तथापि हे पुरुषोत्तम ! (यह तो बतलाइये कि) सीता सहित आपके वे दोनों पुत्र, जो सुख में पाले पोसे गये हैं, दुःखी हो, किस तरह वन में दुःख सह सकेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी[1] श्यामा[2] सुकुमारी सुखोचिता ।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली प्रसहिष्यते ॥ ४ ॥

निश्चय ही युवावस्था को प्राप्त युवती एवं सुकुमारी सीता, जो सुख से रहने योग्य है, किस प्रकार गर्मी सर्दी सह सकेगी ॥ ४॥

भुक्त्वाऽशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं[3] शुभम् ।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

जो बड़े बड़े नेत्र वाली, (रसोइयों के बनाये हुए) सुन्दर व्यञ्जन खाती थी, वह सीता क्योंकर वन के चावलों को खा सकेगी ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभमनिन्दिता ।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

---

१ तरुणी—आरब्धयौवना । (गो०) २ श्यामा—यौवनमध्यस्था । (गो०) (श्यामातरुणी—यौवनमध्यस्था तरुणी । गो०) ३ सूपदंशान्वितं—शोभनव्यञ्जन सहितं । (गो०)

जो अनिन्दिता सीता गाने और बजाने की (मधुर) ध्वनि ही सुना करती थी, इस समय वह क्यों कर मांसाहारी सिंहों का भयङ्कर शब्द सुनेगी ॥ ६ ॥

[1]महेन्द्रध्वजसङ्काशः क नु शेते महाभुजः ।
भुजं परिघसङ्काशमुपधाय *सहानुजः ॥ ७ ॥

जो इन्द्रधनुष के समान बड़ी भुजाओं वाले और महाबली हैं, वे अपनी विशाल भुजा तकिये की जगह सिर के नीचे रख कहाँ शयन करते होंगे ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

कमल के समान और सुन्दर केशों से युक्त, कमल जैसी सुगन्ध और कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द को, मैं कब देखूँगी ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदये मे न संशयः ।
अपश्यन्त्या न तं यद्वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। क्योंकि राम को न देखने से इसके सहस्र टुकड़े नहीं हो जाते ॥ ९ ॥

यत्त्वयाऽकरुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

---

१ महेन्द्रध्वजोनाम इन्द्रधनुः । (गो०) * पाठान्तरे—"महाबलः ।"

महाराज ! आपने मेरे प्रियजनों को राज्य से निकाल कर बड़ा निर्दयतापूर्ण कर्म किया है। जो सुख से रहने योग्य हैं, हाय वे दीन हो वन में मारे मारे फिरते हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।
जह्याद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपभुज्यते ॥ ११ ॥

यदि चौदह वर्ष बाद श्रीरामचन्द्र लौट भी आवें (तो भी मुझे भरोसा नहीं कि) भरत उनको राज्य और कोश दे देंगे ॥११॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्स्वानेव बान्धवान् ।
ततः पश्चात्समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजर्षभान् ॥ १२ ॥

कोई कोई श्राद्ध करने वाले विद्वान् ब्राह्मण को निमंत्रण दे, पहले गुणहीन भाई बंदों को श्राद्ध में भोजन करवाते हैं। पीछे से उन निमंत्रित ब्राह्मणों को बुलाते हैं ॥ १२ ॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।
न पश्चात्तेऽनुमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः ॥ १३ ॥

तब उन ब्राह्मणों में जो गुणवान् एवं विद्वान् होते हैं, वे श्राद्ध के अमृत तुल्य भोज्य पदार्थों को, मदिरा के समान (त्याज्य) क्यों नहीं समझते ? ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि तृप्तेषु पश्चाद्भोक्तुं द्विजर्षभाः ।
नाभ्युपैतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥

(यही नहीं बल्कि) अन्य ब्राह्मणों के भोजन से बचे हुए अन्न को, विद्वान् ब्राह्मण अङ्गीकर करने में वैसा ही अपना अनादर समझते हैं, जैसा बैल का अनादर उसके सींगों के काटने से होता है ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं [1]विशांपते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥ १५ ॥

हे प्रजानाथ ! इसी तरह छोटे भाई के भोगे हुए राज्य का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भाई क्यों न अनादर करेगा, अर्थात् अवश्य अनादर करेगा ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं[2] न मंस्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र दूसरे की मारी हुई शिकार का खाना पसंद नहीं करता, वैसे ही पुरुषसिंह श्रीराम भी दूसरे की चक्खी हुई वस्तु कदापि अङ्गीकार न करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार एक यज्ञ में व्यवहृत हवि, घी, पुरोडाश, कुश और खैर के खंभे दूसरे यज्ञ के काम के नहीं रहते ॥ १७ ॥

तथा ह्यात्त[3]मिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तु[4]मलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इस उपयुक्त राज्य को सार निकली हुई सुरा और सोमरहित यज्ञ की तरह कभी लेने की इच्छा न करेंगे ॥ १८ ॥

---

१ विशांपते—हे प्रजानाथ । (गो०) २ परलीढं—परेणास्वादितं । (गो०)
३ आत्तं—उपभुक्तपूर्वं । (गो०) ४ अभिमन्तुं—अभिलषितुं । (गो०)

नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।
बलवानिव शार्दूलो बालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार बलवान् सिंह अपनी पूँछ का मरोड़वाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम भी इस तरह के असत्कार को न सह सकेंगे ॥ १९ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे[1] ।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

क्या सब लोग यहाँ संग्राम में श्रीरामचन्द्र जी से नहीं डरते (अर्थात् सब डरते हैं। अतः वे बड़े बलवान् हैं, वे चाहते तो यह राज्य अपने बाहुबल से ले सकते थे, किन्तु) वे (केवल स्वयं ही) धर्मात्मा (नहीं) हैं, प्रत्युत अधर्मियों को भी धर्म पर चलने की शिक्षा देते हैं। वे ही क्यों कर अधर्म करें (अर्थात् बलपूर्वक राज्य लें) ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

बड़ी भुजाओं वाले और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र जो अपने सुनहले रंग के बाणों से प्रलयकाल के समय जैसा, (केवल) सब प्राणियों ही को (नहीं) समुद्र (तक) को भस्म कर सकते हैं ॥२१॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

---

१ महामृधे—महायुद्धे । (गो०)

वे सिंह के समान बलशाली, पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम उसी प्रकार अपने पिता द्वारा मारे पड़े, जिस प्रकार मछली के बच्चे (अपने पिता) मत्स्य द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं (मत्स्य अपने सन्तान को खा डालते हैं) ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

यदि आप द्विजों द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त सनातन धर्म मानते होते, तो ऐसे धर्मनिरत पुत्र को देश निकाला कभी न देते ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज ! स्त्री के लिये पहला सहारा पति का, दूसरा पुत्र का, तीसरा भाईबंदों का है। स्त्री के लिये चौथा सहारा तो कोई है ही नहीं ॥ २४ ॥

तत्र त्वं चैव मे नास्ति रामस्य वनमाश्रितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया ॥२५॥

इनमें से आप तो मेरे हैं ही नहीं (और दूसरे सहारे) राम को आपने वन भेज ही दिया है। आपको छोड़ मैं वन भी नहीं जा सकती। आपने तो मुझे बारहबाट कर दिया (अर्थात् मुझे कहीं का नहीं रखा सब तरह से बरबाद कर दिया) ॥ २५ ॥

हतं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं
हतस्त्वयाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च ।
हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पौराः ।
सुतश्च भार्या च तव महाद्यौ ॥ २६ ॥

हे महाराज ! (आपने श्रीराम को वन में भेज कर) अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य को, मंत्रियों सहित अपने आपको, पुत्र सहित मुझको और समस्त अयोध्यावासियों को बरबाद कर डाला । (आपके इस कार्य से प्रसन्न केवल दो ही हैं) आपकी भार्या कैकेयी और उसका पुत्र भरत ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंश्रितां
निशम्य राजाऽपि मुमोह दुःखितः ।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तदा स्मरन्[1] ॥ २७ ॥

इति इकषष्टितमः सर्गः ॥

कौशल्या के इस प्रकार के कठोर वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो मूर्छित हो गये और शोकसागर में निमग्न हो महाराज इस दुःख का आदिकारण विचारने लगे ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

द्विषष्टितमः सर्गः

—:०:—

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया ।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

---

१ स्वदुष्कृतं स्मरन्—एतादृशदुःखस्यनिदानभूतं किंकर्म पूर्वं कृतं इति स्मरन् । (गो०)

महाराज दशरथ शोक के कारण क्रुद्ध राममाता कौशल्या के ऐसे कठोर वचन सुन, दुखी हो सोचने लगे कि, अब क्या करें ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मुमोह व्याकुलेन्द्रियः ।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परन्तपः ॥ २ ॥

यंही सोचते सोचते महाराज विकल हो मूर्छित हो गये और बहुत देर बाद वे सचेत हुए ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा पुनश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

वे सचेत होने पर बड़ी गहरी साँसे लेने लगे । कौशल्या को पास बैठी देख, वे फिर सोच में पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् ।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

सोचते सोचते उनको अपना दुष्कर्म याद पड़ा । (वह था) पहले किसी समय अनजाने एक तपस्वी का शब्दवेधी बाण से वध ॥ ४ ॥

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत ॥ ५ ॥

महाराज एक तो श्रीरामचन्द्र के वियोग से दुःखी थे ही, अब उस दुष्कर्मका स्मरण भी उन्हें दुःखी करने लगा । इन दोनों के शोक से महाराज सन्तप्त हो विकल हो गये ॥ ५ ॥

दह्यमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः ।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ ने काँप कर और नीचा सिर कर कौशल्या को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

हे कौशल्ये ! मैं तेरी विनती करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ। तू तो अपने शत्रुओं पर भी सदा दया दिखाती और उनके प्रति अकोर व्यवहार करती है ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

हे देवी ! (यह भी तू जानती ही है कि,) धर्म की दृष्टि से, धर्माचरण करने वाली स्त्री के लिये उसका पति ही चाहे गुणी हो अथवा निर्गुणी, प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा[1] ।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

सो तू नित्य धर्माचरण में तत्पर और संसार का ऊँच नीच समझने वाली हो कर भी, तुझे ऐसे अप्रिय वचन कहना उचित

---

१ दृष्टलोकपरावरा—दृष्टौ लोकेजनेपरावरौ—उत्कर्षापिकर्षौ यया सतथोक्ता । (गो०)

नहीं। (मैं यह जानता हूँ कि. तू दुःखी होने के कारण ऐसा कह रही है, तो भी) मुझ जैसे अत्यन्त दुःखी से तुझे ऐसा कहना उचित नहीं ॥ ९ ॥

तद्वाक्य करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।
कौसल्या व्यसृजद्बाष्पं प्रणालीव नवोदकम्[1] ॥१०॥

महाराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुन, कौशल्या के नेत्रों से आंसुओं की धार इस भांति बही, जिस भांति नालियों में वर्षा का जल बहता है ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्धा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् ।
सम्भ्रमादब्रवीत्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

कौशल्या ने महाराज के दोनों जुड़े हुए कमल सदृश हाथों को अपने सिर पर रख लिया और रोती हुई घबड़ाती सी वह बोली ॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ[2] निपतिताऽस्मि ते ।
याचितास्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया ॥ १२ ॥

हे देव ! आप दुःखी न हों ; प्रसन्न हों । मैं अपना सिर आपके चरणों में रख आपको प्रणाम करती हूँ । आपका मेरी विनती करना, मेरे लिये मरने के समान कष्टदायी है । अतः आप मुझसे क्षमा न मांग कर, मुझे मेरे अनुचित कर्म के लिये दण्ड दें ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।
उभयोर्लोकयोर्वीर पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

---

१ नवोदकं—वर्षजलं । (गो०) २ भूमौनिपतितास्मि—प्रणतास्मीत्यर्थः । (गो०)

वह स्त्री कुलीन नहीं कहला सकती, जिसको दोनों लोकों की एक मात्र गति (अर्थात् पति) विनतो कर प्रसन्न करे ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं स्त्री कर्त्तव्य को जानती हूँ और आपको सत्यवादी मानती हूँ । उस समय मेरे मुख मे जो थोड़ा बहुत अनुचित निकल गया, वह पुत्रशोक से विकल होने के कारण निकल गया ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्[1] ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक (मनुष्य का केवल) धैर्य और शास्त्रज्ञान ही नष्ट नहीं करता, प्रत्युत सर्वनाश कर देता है । अतः शोक से बढ़ कर (मनुष्य का) शत्रु दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥१६॥

अतएव अन्य वैरी के हाथ का प्रहार तो सह भी लिया जा सकता है, किन्तु हठात्प्राप्त बहुत थोड़ा सा भी शोक नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गण्यते ।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

---

१ श्रुतम् —शास्त्रश्रवणजनितनिश्चितधर्मं । (शि०) २ आपतितः—हठात्प्राप्तः । (गो०)

राम को वनवास गये आज पांचवी रात है किन्तु, मेरे लिये ता ये पांच रातें पांच वर्ष के समान हो गयीं। क्योंकि राम-वियोग-जनित शोक के कारण हर्ष तो एकदम मुझसे विदा हो गया है॥ १७॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत्॥ १८॥

श्रीराम की चिन्ता करने से मेरे हृदय में उसी प्रकार शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदी के जल के वेग से समुद्र का जल बढ़ता है॥ १८॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः।
मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत॥ १९॥

कौशल्या जी के इस प्रकार विनम्रतापूर्ण वचन कहते कहते, सूर्य अस्त हो गये और रात हो गयी॥ १९॥

*अथ ग्लानदितो वाक्यैर्दैन्या कौसल्यया नृपः।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान्॥ २०॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः॥

महाराज दशरथ, कौशल्या की यह बातचीत सुन, हर्षित हुए और शोक से उत्पीड़ित होने के कारण उनको नींद आ गयी॥२०॥

अयोध्याकाण्ड का बासठवां सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

* पाठान्तरे--"तथा प्रसादितो।"

त्रिषष्टितमः सर्गः

—:०:—

मतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।
अथ राजा दशरथश्चिन्तामभ्यवपद्यत ॥ १ ॥

एक मुहूर्त सोने के पीछे महाराज की आँखें खुलीं। आँखें खुलते ही शोक ने उनको आ घेरा और वे चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद्वासवोपमम् ।
आविवेशोपसर्गः[1]तं तमः[2] सूर्यमिवासुरम्[3] ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के वनवास के उपद्रव से बढ़े हुए शोक ने इन्द्र के समान महाराज दशरथ को उसी प्रकार आच्छादित कर लिया, जिस प्रकार राहु सूर्य को आच्छादित कर लेता है ॥ २ ॥

सभार्ये निर्गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः ।
विवक्षु[4]रसितापाङ्गां स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

सस्त्रीक श्रीराम जी के वनवासी होने पर महाराज ने अपने उस दुष्कृत कर्म की सुधि कर, उसे महारानी कौशल्या से कहने की इच्छा की ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।
अर्धरात्रे दशरथः संस्मरन्दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥

---

१ उपसर्गः—महोपद्रवःपुत्रशोकरूपः । (गो०) २ तमः—राहुः । ३ आसुरं—असुर संबन्धि । (गो०) ४ विवक्षुः वक्तमिच्छुः । (शि०

श्रीराम के वनवास के दिन से छठवीं रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पापकृत्य को स्मरण किया ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्र के वियोग के शोक से विकल महाराज ने अपने पापकर्म को स्मरण कर, पुत्रवियोग से विकल महारानी कौशल्या से कहा ॥ ५ ॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥

हे कल्याणि ! मनुष्य भला या बुरा—जैसा कर्म करता है, उस कर्म का फल, कर्त्ता को अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

गुरुलाघवमर्थाना[1]मारम्भे कर्मणां फलम् ।
दोषं वा यो न जानाति स बाल[2] इति होच्यते ॥७॥

अतएव कर्म करने के पूर्व जो मनुष्य कर्म के 'फल का गुरुत्व लघुत्व (भलाई बुराई) अथवा उसके दोष (त्रुटि) को नहीं जानता, वह अज्ञानी कहलाता है ॥ ७ ॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति ।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

जो आदमी पलाश के लाल लाल फूलों को देख, फल पाने की अभिलाषा से, आम के पेड़ को काट कर, पलाश वृक्ष को

---

१ अर्थानाम्—फलानाम् । (गो०) २ बालः—अज्ञः । (गो०)

सींचता है, फल लगने का समय आने पर वह अवश्य ही पछ-ताता है ॥ ८ ॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वेवानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥

अतः जो मनुष्य कर्म का परिणाम विचारे विना ही कर्म करने लगता है, उसे भी फल प्राप्ति के समय, पलाश वृक्ष सींचने वाले (अज्ञानी) मनुष्य की तरह पछताना पड़ता है ॥ ९ ॥

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम् ।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥१०॥

हे देवी ! मैंने भी आम के वृक्ष को काट कर पलाश के वृक्ष को सींचा है। वैसा फल पाने के समय, श्रीराम को त्याग कर मुझ दुष्टमति को भी पछताना पड़ता है ॥ १० ॥

लब्धशब्देन[1] कौशल्ये कुमारेण धनुष्मता ।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

हे कौशल्ये ! मैंने अपनी कुमारावस्था में अपने को शब्दवेधी कहला कर, प्रसिद्ध होने की अभिलाषा से धनुष धारण कर, यह पाप किया ॥ ११ ॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम् ।
सम्मोहादिह *बाल्येन यथा स्याद्भक्षितं विषम् ॥१२॥

---

१ लब्धशब्देन—प्राप्तख्यातिनामया यद्वालब्धगजतुल्य मुनिपुत्र शब्देन ।
(गो०) * पाठान्तरे—"बालेन तदा ।"

सो हे देवी ! मैं इस दुःख का कारण स्वयं ही हूँ। जिस प्रकार बालक अज्ञानवश विष खा ले, वैसे ही मैंने भी अजान में पाप कर अपना सर्वनाश अपने आप किया है ॥ १२ ॥

यथाऽन्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्मोहितो भवेत् ।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे कोई आदमी पलाशपुष्प को देख, उससे उत्तम फल पाने की आशा से उसकी सेवा करे, पर उससे उसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती—वैसे ही मैंने भी शब्दवेधी शिकार को उत्तम समझ विना जाने बूझे ऐसा किया, उसका मुझे यह फल प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

देव्यनूढा[1] त्वमभवो युवराजो [2]भवाम्यहम् ।
ततः [3]प्रावृडनुप्राप्ता मदकामविवर्धनी ॥ १४ ॥

हे देवी ! यह हाल उस समय का है जिस समय तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था। उन्हीं दिनों काम के वेग को उत्तेजित करने वाली वर्षा ऋतु आयी ॥ १४ ॥

[4]उपास्य हि रसान्[5]भौमांस्तप्त्वा च [6]जगदंशुभिः ।
[7]परेताचरितां भीमां[8] रविराविशते[9] दिशम् ॥१५॥

---

१ अनूढा—अकृत विवाहा । (गो०) २ भवामि—अभवं । (गो०) ३ प्रावृट्—वर्षाकालः । (गो०) ४ उपास्य—गृहीत्वा । (गो०) ५ रसान् —जलानि । (गो०) ६ जगत्—भूमिं । (गो०) ७ परेताचरितां—प्रेताचरितां । (गो०) ८ भीमांदिशम्—दक्षिणामित्यर्थः । (गो०) ९ आविशते —आविशतेस्म । (गो०).

सूर्यदेव पृथिवी के जल को सोख, और अपनी किरणों से भूमि को तप्त कर, प्रेतगण सेवित भयङ्कर दक्षिण दिशा को चले गये (अर्थात् दक्षिणायन हो गये) ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा[1] ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

गरमी एक दम दूर हो गयी। शीतल बादल दिखलाई देने लगे। उनको देख, मेढक, चातक और मयूर हर्षित हो गये ॥ १६ ॥

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान्पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

बरसाती हवा से हिलते हुए पेड़ों पर, उन पक्षियों ने, जिनके पर जल से भींग जाने के कारण, स्नान किये हुए जैसे जान पड़ते थे, बड़े कष्ट से बसेरा लिया ॥ १७ ॥

पतितेनाम्भसाच्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ [2]मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

बरसे हुए और बरसते हुए जल से आच्छादित मत्त हाथी उस समय उसी प्रकार जान पड़ते थे, जिस प्रकार स्थिर महासागर में पर्वत खड़ा हो ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजङ्गवत् ॥ १९ ॥

---

१ स्निग्धाः—शीतलाः । (गो०) २ मत्तसारङ्गः—मत्तगजः । (गो०)

पर्वतों की धातुओं से मिश्रित होने के कारण विमल जल के सोते भी पीले लाल अथवा राख मिलने से काले रंग के जल से युक्त हों, सांप की तरह टेढ़ी मेंढ़ी चाल से वह निकले ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले *धनुष्मान्कवची रथी ।
[1]व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

उस सुखदायी समय मैं शिकार खेलने के लिये धनुष बाण ले और रथ में बैठ सरयू नदी के तट पर पहुँचा ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाऽभ्यागतं नदीम् ।
अन्यं वा श्वापद[2] कञ्चिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥२१॥

मैं वहां गया, जहां रात के समय वनभैंसा, हाथी, तथा व्याघ्रादि अन्य दुष्ट जन्तु जल पीने आया करते थे । (मैं इस उद्देश्य से वहां गया कि, कोई जानवर आवे और उसे मैं मारूँ) क्योंकि उस समय तक मेरी प्रवृत्ति शिकार खेलने की ओर विशेष थी (अथवा मुझे शिकार से निवृत्ति नहीं हुई थी) ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

इसी बीच में अँधेरे में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन, मैंने समझा कि कोई हाथी चिंघार रहा है । मुझे कुछ दिखलाई न पड़ा, मैंने केवल वह शब्द ही सुना ॥ २२ ॥

---

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः—मृगयाविहारेकृतसङ्कल्पः । (गो०) २ श्वापदं —व्याघ्रादिदुष्टमृगं । (गो०) * पाठान्तरे—" धनुष्मानिषुमान्रथी । "

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्य त्वपातयम् ॥ २३ ॥

(मैंने तरकस से सर्प के विष से बुझा अर्थात् पैना और चमचमाता बाण निकाल, उस हाथी को बेधने की इच्छा से, शब्द को लक्ष्य कर छोड़ा ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।
तत्र वागुपसि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः[1] ॥ २४ ॥

मैंने ज्योंही वह विष का बुझा पैना बाण छोड़ा, त्योंही किसी वनवासी का शब्द मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा ॥ २४ ॥

हाहेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः ।
तस्मिन्निपतिते बाणे वागभूत्तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

वह (तपस्वी जिसके बाण लगा था) हाय हाय कह जल में गिर पड़ा—क्योंकि उस बाण से उस तपस्वी के मर्मस्थल विध गये थे । वह बाण की व्यथा से जब पानी में गिर पड़ा, तब मनुष्य जैसी बोली (इस प्रकार) सुन पड़ी ॥ २५ ॥

कथमस्मद्विधे[2] शस्त्रं निपतेत्तु तपस्विनि ।
प्रविविक्तां[3] नदीं [4]रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

(वह बोला) मेरे जैसे अजातशत्रु तपस्वी के क्यों इस प्रकार बाण लगा । मैं तो रात्रि के समय, निराले में जल भरने आया था ॥ २६ ॥

---

१ वनौकसः—तपस्विनः । (गो०) २ अस्मद्विधे—अजातशत्रौ । (गो०)
३ प्रविविक्तां—प्रकर्षेण निर्जनां । (गो०) ४ रात्रौ—अपररात्रौ । (गो०)

इषुणाऽभिहतः केन कस्य वा किं कृतं मया।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य[1] वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

किसने मुझे बाण से मारा, मैंने किसी का क्या बिगाड़ा था? उस ऋषि को जो वाणी और शरीर से किसी जीव को नहीं सताता और वन में रह कर जो वन में उत्पन्न कन्दमूल फल खा कर जीवन बिताता है ॥ २७ ॥

कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

ऐसे मुझ जैसे (ऋषि) का बाण मार कर वध क्यों किया जाता है। अरे मैं जटाभार धारण कर, वल्कल और मृगचर्म पहिनता ओढ़ता हूँ ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात्किं वास्यापकृतं मया।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

इस दशा में रहने पर भी मुझे मारने से किसी का क्या अर्थ साधन हो सकता है, अथवा मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा था (जो उसने मुझे बाण से मारा) ऐसा निष्फल कर्म तो केवल अनर्थ ही का मूल है ॥ २९ ॥

न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम्।
नाहं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥

जैसे गुरु की शय्या पर बैठने वाला साधु नहीं समझा जाता (वैसे ही उसको भी कोई भला न कहेगा जिसने अकारण मेरा

---

१ न्यस्तदण्डस्य—उपरतवाङ्मनःकायसम्बन्धिपरहिंसस्य। (गो०)

वध करना चाहा है।) मुझे अपने प्राण जाने की उतनी चिन्ता अथवा शोक नहीं है ॥ ३० ॥

मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे ।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

जितनी चिन्ता मुझे अपने मरने पर माता पिता की है। उन दोनों वृद्धों का अब तक तो मैंने पालन पोषण किया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥

किन्तु मेरे मर जाने पर उनकी क्या दशा होगी, मेरी माता और मेरे पिता तो बूढ़े हैं और मैं इस प्रकार बाण से मारा गया ॥ ३२ ॥

केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना[1] ।
तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥

किसी दुर्बुद्धि मूर्ख ने (एक ही बाण से) हम सब को मार डाला। (हे कौशल्या!) इस प्रकार की करुणा भरी वाणी सुन, मुझ जैसे पुण्योपार्जन की इच्छा रखने वाले अथवा धर्ममोह ॥३३॥

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि ।
तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशि लालपतो बहु ॥ ३४ ॥
सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः ।
तं देशमहमागम्य दीनसत्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥

---

१ अकृतात्मन—अनिश्चितबुद्धिना । (गो०) २ धर्मानुकांक्षिणः—धर्मप्रतीक्षाशीलस्य । (शि०)

ऐसा व्यथित हुआ कि मेरे हाथ से धनुष बाण भूमि पर गिर पड़े। उस रात में, मैं उस तपस्वी का विलाप सुन उद्विग्न हो और अत्यन्त शोकाकुल हो अचेत हो गया। तदनन्तर मैं दुःखी और उदास हो उस जगह गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम् ।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्ध[1]कलशोदकम् ॥ ३६ ॥

सरयू के तट पर जा कर देखा कि, एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा है। उसके सिर की जटा बिखरी हुई है और कलसा का जल फैला हुआ है अथवा पानी का कलसा अलग पड़ा है ॥ ३६ ॥

पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं *शरपीडितम् ।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम् ॥ ३७ ॥
इत्युवाच †वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा ।
किं तवापकृतं राजन्वने निवसता मया ॥ ३८ ॥

सारे शरीर में खून और धूल लगी हुई है, वह बाण की व्यथा से ज़मीन पर पड़ा तड़फड़ा रहा है। उसने मुझे भयभीत और विकल जान अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर ऐसे देखा मानों अपने नेत्राग्नि से मुझे भस्म कर डालेगा। तदनन्तर वह ये कठोर वचन बोला। हे राजन्! मैंने बन में बसते हुए तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं[2] यदहं ताडितस्त्वया ।
एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥

---

१ प्रवृद्ध—भ्रष्टं । (रा०) २ गुर्वर्थं—मातापितृनिमित्तं । (गो०)
* पाठान्तरे—"शल्यपीडितम्" "शल्यबेधितं वा" † पाठान्तरे—"ततः ।"

जो माता पिता के (पीने के) लिये जल भरने आये हुए मुझ-को तुमने मारा। एक ही बाण से तुमने मेरा मर्मस्थल घायल कर दिया ॥ ३९ ॥

द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे।
तौ कथं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥

और मेरे माता पिता को भी, जो दुर्बल तथा अन्धे हैं एवं मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार डाला ॥ ४० ॥

चिरमाशाकृतां तृष्णां *कथं सन्धारयिष्यतः।
न नूनं तपसो वाऽस्ति फलयोगः श्रुतस्य[1] वा ॥ ४१ ॥

वे मेरे आने की बाट देखते हुए प्यास के कष्ट को कैसे सह सकेंगे! हा! इससे तो तप का व इतिहास पुराणादि के श्रवण का कुछ भी सम्बन्ध न ठहरा ॥ ४१ ॥

पिता यन्मां न जानाति शयानं पतितं भुवि।
जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तिरपरिक्रमः ॥ ४२ ॥

जो पिता जी यह नहीं जानते कि मैं इस दशा में यहाँ ज़मीन पर पड़ा हूँ और यदि जान भी जायँ तो कर ही क्या सकते हैं, क्योंकि उनमें (अँधे होने से) चलने की शक्ति नहीं है अर्थात् वे पङ्गु हैं ॥ ४२ ॥

भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम्।
पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥

---

१ श्रुतस्य—मच्छ्रवणविषयीभूतेतिहासपुराणादेर्वीफलयोगः। (शि०)
* पाठान्तरे—" कष्टा। "

जैसे कटते हुए वृक्ष की रक्षा दूसरा वृक्ष नहीं कर सकता (क्योंकि उसमें चलने की शक्ति नहीं) उसी प्रकार मेरे माता पिता भी अँधे और पङ्गु होने के कारण मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं—अतः हे राजन्! मेरे पिता के पास जा कर तुरन्त यह समाचार उनसे कहो ॥ ४३ ॥

न त्वामनुदहेत्क्रुद्धो वनं वह्निरिवैधितः ।
इयमेकपदी[1] राजन्यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥

नहीं तो वे क्रोध में भर तुम्हें वैसे ही (शाप द्वारा) भस्म कर डालेंगे, जिस प्रकार आग वन को भस्म कर डालती है। हे राजन्! यह पगडंडी, जो देख पड़ती है, वही मेरे पिता के आश्रम तक चली गयी है ॥ ४४ ॥

तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत् ।
विशल्यं कुरु मां राजन्मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥

सो तुम वहाँ जा कर उनको प्रसन्न करो नहीं तो कुपित हो वे तुमको शाप दे देंगे। हे राजन्! तुम इस बाण को जो मेरे मर्मस्थल में घुसा हुआ है, निकाल दो ॥ ४५ ॥

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो[2] यथा ।
सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य[3] च ॥ ४७ ॥

---

१ एकपदी—एकपदन्यासमात्रयुक्ता । सरणिरित्यर्थः । (गो०) २ अम्बुरयः—नदीवेगः । (गो०) ३ शोकातुरस्य—ब्रह्महत्याभविष्यतीतिभियाशोकेन पीडितस्य । (गो०)

क्योंकि यह बाण मेरे कोमल मर्मस्थल को उसी प्रकार काट रहा है, जिस प्रकार ऊँचे और बालुकामय करारे को नदी की धार का वेग काटता है। हे देवी! उस समय इस बात की चिन्ता उत्पन्न हुई कि, जब तक यह बाण गड़ा है तब तक उसे पीड़ा तो है, किन्तु जीता भी तभी तक है। क्योंकि बाण निकालते ही यह मर जायगा। अतः बाण निकालने में मेरे मन में खटका पैदा हो गया। उसने मुझे दीन दुःखी और शोकातुर देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

लक्षयामास हृदये चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।
तास्यमानः स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्तवत् ॥ ४८ ॥

तब उस मुनिपुत्र ने मेरे मन की चिन्ता को लख लिया और मुझे सन्तप्त देख, अत्यन्त दुःखी हो बड़े कष्ट से कहा ॥ ४८ ॥

सीदमानो विवृत्ताङ्गो[1] वेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

यद्यपि मैं इस समय बहुत कष्ट में हूँ, मुझे साफ साफ कुछ दिखलाई भी नहीं पड़ रहा, पीड़ा से छटपटा रहा हूँ, और मरा ही चाहता हूँ, तथापि धीरज धर के शोक के वेग को रोक मैं स्थिर चित्त होता हूँ ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन्मा भूत्ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

हे राजन्! आप ब्रह्महत्या के पाप के भय को अपने मन से निकाल अपने मन की व्यथा दूर कीजिये। क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ॥ ५० ॥

---

१ विवृताङ्गः—परावृत्तनेत्रः। (गा०)

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ।
*इत्येवं वदतः कृच्छ्राद्वाणाभिहतमर्मणः ।
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ॥ ५१ ॥

हे भूपाल ! मैं शूद्रा माता के गर्भ से एक वैश्य द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ । यह कहते कहते बाण से घायल मर्मस्थल की पीड़ा से उसकी दोनों आँखें उलट गयीं, उसकी चेष्टा बिगड़ गयी और वह ज़मीन पर तड़फड़ाने लगा ॥ ५१ ॥

तस्य त्वानम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य सन्त्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

उसकी यह दशा देख, मैंने बाण खींच लिया । बाण खींचते ही उस मुनिपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो मेरी ओर देखा और प्राण छोड़ दिये ॥ ५२ ॥

जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रात्
मर्मव्रणं सन्ततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रेऽस्मि भृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

हे कौशल्ये ! उस तपोधन को, (जो कुछ ही क्षणों पूर्व) मर्मस्थल में बाण का घाव लगने से अत्यन्त कष्टित हो विलाप कर रहा था और जिसका शरीर (छटपटाने से) जल से तर हो गया था—उस समय सरयू के तट पर, प्राणरहित पड़ा देख, मुझे बड़ा ही विषाद हुआ ॥ ५३ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

* पाठान्तरे—" इतीव । "

चतुःषष्टितमः सर्गः

—: * :—

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।
[1]विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यां पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

मुनिपुत्र के अनुचित वध का वर्णन कर और बीच बीच में अपने पुत्र का स्मरण कर के विलाप करते हुए, धर्मात्मा महाराज दशरथ, कौशल्या से फिर बोले ॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वाहं सङ्कुलेन्द्रियः ।
एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

हे कौशल्या ! उस समय, अनजाने उस महापाप को कर, विकल हो, मैं अकेला सोचने लगा कि, अब मेरा कल्याण किस तरह हो ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

अन्त में यह निश्चय कर कि, अब मेरा कल्याण इसीमें है कि, मैं मुनि-कुमार के कथनानुसार उनके पिता को जा कर प्रसन्न करूँ। अतः मैं उस मुनिपुत्र के कलसे में जल भर उसे लेकर, उसके बतलाये रास्ते से मुनि के आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

---

१ विलपन्नेव—मध्येस्वपुत्रं विलपन्नेव । (गो०)

वहाँ जा कर देखा कि, पंख रहित पक्षियों की तरह उसके माता पिता जो वृद्ध, दुर्बल और दीन थे, बैठे हुए थे ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिक्रमौ ।
तामाशां मत्कृते हीनावुदासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

वे जल की प्रतीक्षा में बैठे पुत्र ही की चर्चा कर रहे थे । उनकी आशा पर मैंने पानी फेर दिया था । वे अनाथ की तरह निश्चेष्ट बैठे हुए थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसन्त्रस्तचेतनः ।
तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

उस समय मैं शोक से विकल और भय से ग्रस्त तो था ही, उस आश्रम में पहुँचने पर, (उन दोनों की दशा देख कर) मुझे और भी अधिक दुःख हुआ ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

मेरे पाँवों की आहट पा, उस मुनि ने कहा—हे वत्स ! क्यों देर कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ ॥ ७ ॥

किन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।
उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

तुम इतनी देर तक क्यों जल में खेलते रहे । आश्रम में तुरन्त जाओ, तुम्हारी माता बड़ी उत्कण्ठित हो रही है ॥ ८ ॥

यद्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।
न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

बेटा ! यदि मुझसे या तेरी माता से कोई अप्रिय कार्य बन पड़ा हो तो हे तपस्वी ! उस पर तू ध्यान मत देना ॥ ९ ॥

*गतिस्त्वमगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः किं त्वं नो नाभिभाषसे ॥१०॥

तुम्हीं हम दोनों असमर्थों के एकमात्र अवलंब हो और हम अंधों की तुम्हीं आंखें हो और तुम्हारे ही अधीन हमारे दोनों के प्राण हैं । तुम जवाब क्यों नहीं देते ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया[1] ।
[2]हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतोऽभीत[3] इवाब्रवम् ॥ ११ ॥

मैंने उस मुनि को देख, अत्यन्त डरे हुए मनुष्य की तरह, लड़खड़ाती ज़बान से अतः अस्पष्ट अक्षरों में, उससे कहा ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य[4] वाग्बलम् ।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

बोलने के समय मैंने मन से और क्रियात्मक प्रयत्नों से जिह्वा को अपने वश में किया और धीरे से उसके पुत्र का कष्टमय वृत्तान्त उससे कहा ॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।
सज्जना[5]वमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

---

१ सज्जमानया—स्खलन्त्या । (गो०) २ हीनव्यञ्जनया—अस्पष्टाक्षरया । (गो०) ३ भीतोभीतः—अत्यन्तभीतः । (गो०) ४ अभिसंस्तभ्य—स्खलितां वाचांबलाद्दृढीकृत्येति । (गो०) ५ सज्जनावमतं—सत्पुरुषगर्हितं । (गो०) * पाठान्तरे—"त्वंगतिस्त्वगतीनां"

हे महात्मन् ! मैं दशरथ नाम का क्षत्रिय हूँ। आपका पुत्र नहीं हूँ। मुझसे एक निन्द्य कर्म बन पड़ा है, जिसका मुझे बड़ा ही दुःख है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।
जिघांसुः श्वापदं कञ्चिन्निपाने चागतं गजम् ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं हाथ में धनुष ले सरयू नदी के तट पर इसलिये आया कि, यदि कोई हाथी या शेर बाघ आदि वनजन्तु पानी पीने आवे तो उसका शिकार खेलूँ ॥ १४ ॥

तत्र श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
द्विपोऽयमिति मत्वायं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

इसी बीच में मैंने घड़े में जल भरने का शब्द सुना और यह समझा कि, हाथी बोल रहा है, अतः मैंने बाण मारा ॥ १५ ॥

गत्वा नद्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

किन्तु जब मैं सरयू के तट पर पहुँचा तब मैंने देखा कि, छाती में बाण लगने के कारण एक तपस्वी मृतप्राय अवस्था में भूमि पर पड़ा है ॥ १६ ॥

भगवञ्शब्दमालक्ष्य मया गजजिघांसुना ।
विसृष्टोऽम्भसि *नाराचस्तेन तेऽभिहतः सुतः ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! हाथी की शिकार के धोखे में, शब्दवेधी बाण चला कर मैंने जल भरने के लिये गये हुए आपके पुत्र को मार डाला है ॥ १७ ॥

---

* पाठान्तरे—"नाराचस्तवतस्ते निहतः सुतः" ।

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।
स मया सहसा बाण उद्धृतो* मर्मणस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर मैंने उसीके कहने से, अत्यन्त कष्टदायी बाण सहसा उसको छाती से खींचा ॥ १८ ॥

स चोद्धृतेन बाणेन तत्रैव स्वर्गमास्थितः ।
भवन्तौ पितरौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १९ ॥

बाण के खींचते ही वह वहीं स्वर्गवासी हो गया । (मरने के पूर्व) उसने आप दोनों अँधे माता पिता के लिये विलाप और आप ही के लिये शोक किया ॥ १९ ॥

अज्ञानाद्भवतः पुत्रः सहसाऽभिहतो मया ।
शेषमेवं गते यत्स्यात्तत्प्रसीदतु[1] मे मुनिः ॥ २० ॥

अनजान में अचानक आपके पुत्र को मैंने मारा है । जो होना था वह तो हो गया । आप मुनि हैं ; अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें (अर्थात् शापानुग्रह जो कुछ उचित समझें सो मेरे प्रति करें) ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मयोक्तमघशंसिना ।
नाशकत्तीव्रमायासमकर्तुं भगवान्मुनिः† ॥ २१ ॥

मेरे किये हुए पापकर्म का दारुण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुन कर, वे महात्मा मुनि (जो सब प्रकार का शाप दे सकते थे, किन्तु) मुझे तीव्र शाप न दे सके ॥ २१ ॥

---

* पाठान्तरे—"मर्मतस्तदा ।" † पाठान्तरे—"भगवानृषि" । प्रसीदतु—शापोवाऽनुग्रहोवाऽमः कर्त्तव्यस्तंकरोत्वित्यर्थः । (गो०)

स वाष्पपूर्णनयनो* निःश्वसञ्शोककर्शितः ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

किन्तु नेत्रों में आंसू भर और शोक से व्याकुल हो ठंडी ठंडी सांसे लेते हुए उन महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा ॥ २२ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयेः स्वयम् ।
फलेन्[1]मूर्धा स्म ते राजन्सद्यः शतसहस्रधा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! अगर तू अपने इस कर्म को स्वयं ही मुझसे न कहता, तो मेरे शाप से तेरे सिर के अभी हज़ारों टुकड़े हो जाते ॥ २३ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन्वानप्रस्थे विशेषतः ।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! जो क्षत्रिय जान बूझ कर किसी वानप्रस्थ का वध करे तो वह भले ही इन्द्र ही क्यों न हो, उसे अवश्य स्थानच्युत होना पड़ता है ॥ २४ ॥

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।
ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २५ ॥

जो कोई मेरे पुत्र जैसे तपस्वी एवं ब्रह्मवादी मुनि पर जान बूझ कर शस्त्र का प्रयोग करता है, तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।
अपि ह्यद्य कुलं न स्यादिक्ष्वाकूणां कुतो भवान् ॥२६॥

---

* पाठान्तरे—" वाष्पपूर्णवदनो " । १ फलेत्—विशीर्येत् । (गो०)

तूने अनजाने यह निन्द्य कर्म किया है, इसीसे तू अब तक जीवित (भी) है। नहीं तो अभी (समस्त) रघुकुल ही का नाश हो जाता, तेरी तो हस्ती ही क्या है॥ २६॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम्[1] ॥ २७॥

हे कौशल्ये! मुनि ने मुझसे कहा, हे राजन्! अब तू मुझे उस स्थान पर ले चल, जहाँ वह पड़ा है। क्योंकि अपने पुत्र की अन्तिम दशा देखने की मेरी इच्छा है॥ २७॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम्।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम्॥ २८॥

हा! वह काल के वश और अचेत हो भूमि पर पड़ा होगा। उसका सारा शरीर रक्त से सना होगा, मृगचर्म जो वह ओढ़े था वह अलग पड़ा होगा॥ २८॥

अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया॥ २९॥

हे कौशल्ये! मैं अकेला उन अत्यन्त दुःखित मुनि और उनकी स्त्री को उस जगह ले गया। (अंधे होने के कारण वे देख तो न सके, किन्तु) हाथ से उन्होंने मृतपुत्र का शरीर टटोला॥ २९॥

तौ पुत्रमात्मानः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत्॥ ३०॥

---

१. पश्चिमदर्शनम्—अन्तदर्शनम्। (रा०)

वे दोनों जन पुत्र के पास जा और हाथ से उसका शरीर टटोल, दोनों के दोनों पुत्र के मृतशरीर से लिपट गये। उसका पिता कहने लगा ॥ ३० ॥

नाभिवादयसे माऽद्य न च मामभिभाषसे ।
किन्नु शेषेऽद्य भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥३१॥

हे वत्स ! तूने आज न तो मुझे प्रणाम किया और न मुझसे कुछ बातचीत की। तू ज़मीन पर क्यों पड़ा है ? क्या तू मुझसे रूठ गया है ? ॥ ३१ ॥

न त्वहं ते प्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।
किन्नु नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३२ ॥

यदि तू मुझसे रूठा है तो हे वत्स ! तू अपनी धार्मिक माता की ओर तो देख। तू क्यों मुझसे आ कर नहीं लिपटता और क्यों कोमल वचन नहीं बोलता ॥ ३२ ॥

कस्य वाऽपररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्[1] ।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वाऽन्य[2]द्विशेषतः ॥ ३३ ॥

अब मैं पिछली रात में धर्मशास्त्र और पुराणादि पढ़ते समय किसका मनोहर एवं मधुर स्वर सुनूँगा ॥ ३३ ॥

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।
श्लाघयिष्य[3]त्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३४ ॥

---

१ हृदयङ्गमम्—मधुरस्वरं । (गो०) २ अन्याद्वापुराणं—वैश्याच्छूद्रयोंऽचात-स्वेन सङ्कटत्वाद्वेदप्रसङ्गोनोक्तः । (रा०) ३ श्लाघयिष्यति—उपचरिष्यति । (गो०)

हे बेटा ! अब शोक और भय से कातर हुए प्रातःकाल स्नान कर, सन्ध्योपासन एवं होम कर मेरे निकट आ कौन सेवा करेगा ॥ ३४ ॥

[नोट—मुनिपुत्र तो वर्णसङ्कर था अतः उसे सन्ध्योपासन एवं होम का शास्त्रोक्त अधिकार प्राप्त नहीं था ; तब सन्ध्योपासन और होम करने की बात यहाँ क्यों लिखी गयी ; इस शङ्का का समाधान शास्त्रानुसार इस प्रकार किया गया है ।

"नमस्कारेणमंत्रेणपञ्चयज्ञान्समापयेत्"

इस वचनानुसार पञ्चयज्ञों के (इस प्रकार) करने का अधिकार चतुर्थ वर्ण को भी प्राप्त है ।]

[1]कन्दमूल[2]फलं हृत्वा को मां प्रियमिवातिथिम् ।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यम[3]प्रग्रहमनायकम्[4] ॥ ३५ ॥

मुझ जैसे असमर्थ, असंग्रही (वन्य चाँवल आदि जिसके पास एकत्र नहीं) और अनाथ को अब कौन वन से कन्दमूल फल ला कर प्यारे अतिथि की तरह भोजन करावेगा ॥ ३५ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् ।
कथं वत्स भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३६ ॥

हे वत्स ! इस अंधी, तपस्विनी एवं दुःखिनी एवं पुत्रवत्सला तेरी बूढ़ी माता का भरण पोषण अब मैं कैसे करूँगा ॥ ३६ ॥

---

१ कन्दं—जलोद्भवानांपद्मादीनां । (गो०) २ मूलं—स्थलोद्भवानाम् । (गो०) ३ अप्रग्रहम्—नीवारादि संग्रहरहितम् । (गो०) ४ अनायकम्—अनाथम् । (गो०)

तिष्ठ मामागमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति ।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३७॥

हे पुत्र ! ठहर जा और आज यमालय को मत जा । कल मेरे और अपनी माता के साथ चलना ॥ ३७ ॥

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने ।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया सह यमक्षयम् ॥ ३८ ॥

तुझे छोड़ कर, शोकपीड़ित, अनाथ और असहाय हम दोनों इस वन में नहीं रह सकेंगे, अतः तेरे साथ ही हम भी शीघ्र यमालय को चलेंगे ॥ ३८ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् ।
क्षमतां धर्मराजो मे [1]विभृयात्पितरावयम् ॥ ३९ ॥

और चल कर यमराज से मिल उनसे कहेंगे कि, पुत्र-वियोग-कारी पूर्वजन्म में किये हुए हमारे अपराध को आप क्षमा करें, और यह बालक हमारा (दोनों का) पालन करे ॥ ३९ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ४० ॥

ऐसी अक्षय्य और अभय-प्रदायिनी दक्षिणा हम जैसों को दीजिये । क्योंकि आप धर्मात्मा एवं महायशस्वी लोकपाल हैं ॥ ४० ॥

---

१ विभृयात्—पालयतु । (रा०)

अपापोऽसि यदा पुत्र निहतः पापकर्मणा ।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकाः शस्त्रयोधिनाम् ॥४१॥

हे पुत्र ! तू निर्दोष होने पर भी इस पापी द्वारा मारा गया है । अतः तू अपने सत्य बल से, उस लोक में जा, जहां योद्धा लोग जाते हैं ॥ ४१ ॥

यान्ति शूरा गतिं यां च संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
हताःस्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! युद्ध में पीठ न दिखाने वाले वीर लोग, शत्रु द्वारा मारे जाने पर, जिस गति को प्राप्त होते हैं, तू भी उसी परम गति को प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः ।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४३ ॥

हे बेटा ! महाराज सगर, शैव्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धमार जिस गति को प्राप्त हुए हैं, उसी गति को तू भी प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपसा च या ।
भूमिदस्याहिताग्नेरेकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४४ ॥

जो गति स्वाध्याय और तप में निरत सब महात्मा पुरुषों को प्राप्त होती है वही गति तुझे भी प्राप्त हो । जो गति भूमिदान करने वाले अग्निहोत्री और एक-पत्नी-व्रत-धारी को प्राप्त होती है, वही तुझे भी प्राप्त हो ॥ ४४ ॥

गोसहस्रप्रदातृणां या या गुरुभृतामपि[1] ।
देहन्यासकृतां[2] या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४५ ॥

हे वत्स ! जो गति सहस्र गौ दान करने वाले को, गुरुशुश्रूषा करने वाले को तथा महाप्रस्थान का सङ्कल्प कर (प्रयाग में या अग्नि में) शरीर त्याग करने वाले को प्राप्त होती है, वह तुझे भी प्राप्त हो ॥४५॥

न हि त्वत्कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः[3] ॥४६॥

क्योंकि हमारे तपस्विकुल में उत्पन्न हो कोई भी नीच गति को प्राप्त नहीं हुआ । नीच गति को तो वह प्राप्त होगा जिसने मेरे पुत्र तुझको मारा है ॥ ४६ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वह तपस्वी बार बार करुणापूर्ण विलाप कर, स्त्री सहित अपने मृतपुत्र को जलाञ्जलि देने में प्रवृत्त हुआ ॥ ४७ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।
स्वर्गमध्यारुहत्क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४८ ॥

तब तो वह धर्मात्मा मुनिकुमार अपने पुण्यकर्मों के बल, दिव्य रूप धारण कर, इन्द्र के साथ तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥ ४८ ॥

---

१ गुरुभृतां—गुरुशुश्रूषाकारिणां । (गो०) २ देहन्यासकृतां—महाप्रस्थानादिनापरलोकार्थंतनुत्यजः । (रा०) परलोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं गङ्गायमुना संगमादौज्वलनौ वातनुं त्यज्यता मित्यर्थः । (गो०) ३ ममबान्धवः—ममपुत्रः । (गो०)

[नोट—स्वर्ग को, इन्द्र के साथ जाने से, जान पड़ता है कि स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में ले जाने को आये थे ।]

आश्वभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।
आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरौ वाक्यमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

मुनिकुमार स्वर्ग जाते समय, इन्द्र के सहित, उन दोनों वृद्धों को एक मुहूर्त तक समझा बुझा, पिता से बोला ॥ ४९ ॥

स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचारणात् ।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यतः ॥ ५० ॥

मैंने जो आपकी सेवा की थी उसी पुण्य के बल मुझे यह उत्तम स्थान मिला । आप दोनों भी अति शीघ्र मेरे पास आवेंगे ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

यह कह, वह जितेन्द्रिय मुनिपुत्र अति दिव्य विमान में बैठ, तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥ ५१ ॥

स कृत्वाथोदकं* तूर्णं तापसः सह भार्यया ।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

महाराज दशरथ कहने लगे, हे देवी ! उस महातेजस्वी तपस्वी ने भार्या सहित झटपट पुत्र को जलाञ्जलि दे, मुझसे, जो वहाँ हाथ जोड़े हुए खड़ा था, कहा ॥ ५२ ॥

अद्यैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा ।
यच्छरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५३ ॥

---

* पाठान्तरे—" कृत्वातूदकं " ।

हे राजन्! तुम अब मुझे भी मार डालो। मुझे मरने में कुछ भी कष्ट न होगा। क्योंकि मेरे यही इकलौता पुत्र था सो इसे तुमने एक ही बाण से मार मुझे बिना पुत्र का कर दिया ॥ ५३ ॥

त्वया तु यदविज्ञानान्निहतो मे सुतः शुचिः।
तेन त्वामभिशप्स्यामि सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५४ ॥

हे राजन्! तुमने यद्यपि अनजान में मेरे धर्मात्मा पुत्र का वध किया है, तथापि मैं इसके लिये तुम्हें यह अति दुस्सह दारुण शाप देता हूँ ॥ ५४ ॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं *गमिष्यसि ॥ ५५ ॥

हे राजन्! मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्रशोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी ॥ ५५ ॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५६ ॥

तुम क्षत्रिय हो और अनजान में तुमने मुनि की हत्या कर डाली है। इसीसे हे नरेन्द्र! तुमको ब्रह्महत्या नहीं लगी ॥ ५६ ॥

त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणा ॥ ५७ ॥

किन्तु जिस प्रकार दाता को दान का फल अवश्य मिलता है, उसी प्रकार तुमको भी घोर दुःख प्राप्त होगा और उसी दुःख से तुम्हें प्राण भी त्यागने पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

---

* पाठान्तरे—"करिष्यसि"।

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

(दशरथ जी कौशल्या से कहने लगे) हे देवि ! इस प्रकार मुझे शाप दे और बहुत सा विलाप कर, चिता बना और उस पर बैठ (भस्म हो) वे दोनों स्वर्ग को चले गये ॥ ५८ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।
तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५९ ॥

हे देवि ! इस चिन्ता में पड़ कर, आज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया, जो मैंने मूर्खतावश, शब्दवेधी बाण चला कर किया था ॥ ५९ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।
अपथ्यैः* सह सम्भुक्ते व्याधिमन्नरसो यथा ॥ ६० ॥

हे देवि ! जिस प्रकार खाये हुए अपथ्य अन्न के रस से रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस पापकर्म का फल स्वरूप यह कर्मविपाक आ कर उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।
इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह च भूमिपः ॥ ६१ ॥

हे भद्रे ! उस उदार तपस्वी के दिये हुए शाप के पूरे होने का समय आ गया है । यह कह, रुदन कर और (मरण) भय से ग्रस्त हो, महाराज दशरथ कौशल्या से कहने लगे ॥ ६१ ॥

यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यक्ष्याम्यद्य जीवितम् ।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये साधु मां स्पृश ॥६२॥

---

* पाठान्तरे—"सम्भुक्तो ।"

हे कौशल्ये ! पुत्रशोक के कारण मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं, इसीसे तू अब मुझे नहीं देख पड़ती। अतः तू मेरे शरीर को छू ॥ ६२ ॥

यमक्षयमनुप्राप्तं *द्रक्ष्यन्ति न हि मानवाः ।
यदि मां संस्पृशेद्रामः सकृदद्य लभेत वा ॥ ६३ ॥
[धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।
न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६४ ॥

क्योंकि यमधाम को जाने वाले लोगों को आँखों से नहीं देख पड़ता। यदि श्रीरामचन्द्र इस घड़ी एक बार भी मुझे छू लें अथवा यौवराजपद तथा धन सम्पत्ति ग्रहण करना स्वीकार कर लें, तो बोध होता है कि, कदाचित् मैं जीता बच जाऊँ। हे कल्याणी ! मैंने श्रीरामचन्द्र के साथ जैसा व्यवहार किया है, वैसा करना मेरे लिये उचित नहीं था ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।
दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत श्रीरामचन्द्र का मेरे प्रति वह व्यवहार सर्वथा उचित है। इस संसार में कौन ऐसा विचारवान मनुष्य होगा, जो अपने दुष्ट भी पुत्र को त्याग दे ॥ ६५ ॥

कश्च प्रवाज्यमानो वा नासूयेत्पितरं सुतः ।
चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥६६॥]

और कौन ऐसा पुत्र होगा, जो घर से निकाले जाने पर भी पिता की निन्दा न करे। हे देवि ! आँखों से तू अब मुझे नहीं देख पड़ती और मेरी स्मरणशक्ति भी नष्ट होती जाती है ॥ ६६ ॥

---

* पाठान्तरे—"प्राप्ता"।

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।
अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६७ ॥

हे कौशल्ये ! यमराज के दूत, चलने के लिये जल्दी कर रहे हैं। अतः अब इससे बढ़ कर अन्य दुःख कौन सा हो सकता है कि, मैं मरते समय भी ॥ ६७ ॥

न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।
तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः[1] ॥ ६८ ॥

उस सत्यपराक्रमी और धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ। उस पुत्र को, जिसने कभी मेरा किसी बात में सामना नहीं किया, न देखने से उत्पन्न शोक ॥ ६८ ॥

उच्छोषयति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ।
न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६९ ॥

मेरे प्राणों को उसी प्रकार सोख रहा है, जिस प्रकार उष्णता जल को थोड़ा थोड़ा कर सुखाती है। वे मनुष्य नहीं, किन्तु देवता हैं, जो सुन्दर कुण्डल पहिने हुए ॥ ६९ ॥

मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।
पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ७० ॥

कमल नेत्र वाले, सुन्दर भ्रुकुटि वाले सुन्दर दाँतों वाले और सुन्दर नासिका युक्त श्रीराम के मुख को पन्द्रहवें वर्ष पुनः देखेंगे ॥ ७० ॥

---

१ अप्रतिकर्मणः—प्रतिक्रियारहितस्य । (गो०)

धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपनिभं मुखम् ।
सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७१ ॥
सुगन्धि मम नाथस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति तन्मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७२ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो श्रीराम के चन्द्रमा तुल्य मुख को देखेंगे। शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, प्रफुल्लित कमल की सुगन्ध से युक्त, श्रीराम का मुख जो लोग उनके वनवास से लौट कर अयोध्या में आने पर देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।
कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं[1] सीदतीव[2] मे ॥ ७३ ॥

अथवा अपने मार्ग को प्राप्त हुए शुक्र की तरह वनवास से अयोध्या में आये हुए श्रीराम को जो लोग देखेंगे, वे यथार्थ में सुखी होंगे। हे कौशल्ये! मन की घबड़ाहट से मेरा हृदय फटा जाता है ॥ ७३ ॥

येन वेद न संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् ।
चित्तनाशाद्विपद्यन्ते[3]सर्वाण्येवेन्द्रियाणि मे ॥ ७४ ॥

अतएव इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द, स्पर्श, रसादि गुण भी मुझे नहीं जान पड़ते। क्योंकि चित्त के नाश होने पर ये सब इन्द्रियाँ भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं; ॥ ७४ ॥

---

१ हृदयं—मनसोधिष्ठानं। (गो०) २ सीदतीव—विसीर्यतीव। (गो०)
३ विपद्यन्ते—परिणतानिभवन्ति। (शि०) * पाठान्तरे—"वेदयेे न च"।

क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संसक्ता[1] रश्मयो यथा ।
अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतसम्* ॥ ७५ ॥

जैसे तेल के जल जाने पर दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है । यह मेरे हृदय में उत्पन्न शोक मुझ अचेत और अनाथ को, ॥ ७५ ॥

संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ।
हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन[2] ॥ ७६ ॥

उसी प्रकार गिरा रहा है, जिस प्रकार नदी की धार का वेग नदी के करारे को गिराता है । हा राघव ! हा महाबाहो ! हा मेरे दुःख को दूर करने वाले ! ॥ ७६ ॥

हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽद्य क्वासि गतः सुत ।
हा कौसल्ये विनश्यामि† हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हां नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७७ ॥

हा पिता के लाडले, हे मेरे नाथ ! हे मेरे बेटा, तुम कहां गये ? हा कौशल्या, हा तपस्विनी सुमित्रा ! अब मैं मरता हूँ । हा क्रूर मेरी वैरिन, और कुलनाशिनी कैकेयी ! ॥ ७७ ॥

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्चसन्निधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ ने राममाता और सुमित्रा की सन्निधि में, विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिये ॥ ७८ ॥

---

१ संसक्तः—दीपाविनाभूताः । (गो०) २ आयासनाशन—दुःखनाशन ।
(गो०) * पाठान्तरे—"अचेतनम्" । † पाठान्तरे—"नशिष्यामि" ।

तथा॑ तु दीनं कथयन्नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः
तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७९ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

उदार एवं दर्शनीय महाराज ने दीन वचन कहते हुए, प्रिय पुत्र के वनवास से व्याकुल हो, आधी रात बीतने पर अत्यन्त दुःखी हो प्राण त्यागे ॥ ७९ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां मातरेवापरेऽह्नि ।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठन्पार्थिवस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर अगले दिन प्रातःकाल के समय, महाराज के राजद्वार पर वन्दीजन आये ॥ १ ॥

सूताः परमसंस्कारा[1] मागधाश्चोत्तमश्रुताः[2] ।
गायकाः स्तुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

---

१ परमसंस्काराः—व्याकरणाद्युत्तमसंस्कारयुक्ताः । (गो०) २ उत्तम श्रुताः—वंशपरम्पराश्रवणमेषां ते मागधाः । (रा०) * पाठान्तरे—यदा तु" ।

व्याकरणादि शास्त्रों में चतुर सूत, और वंशपरम्परा का कीर्तन करने में निपुण मागध; तान, लय एवं, स्वर के ज्ञाता गवैया राजभवन के द्वार पर उपस्थित हो, पृथक् पृथक् अपनी रीति के अनुसार महाराज के गुण कीर्तन करने लगे ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो* व्यवर्धत ॥ ३ ॥

उच्चस्वर से महाराज की स्तुति करने वाले और आशीर्वाद देने वाले उन लोगों के नाद से सम्पूर्ण राजभवन भर गया ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।
[1]अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर ताली बजा कर ताल देने में निपुण (पाणिवादक) लोग ताली बजा बजा कर महाराज के अद्भुत कर्मों का वर्णन करने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विसस्वनुः ।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

इससे वे पक्षी जो राजभवन के वृक्षों की शाखाओं पर रहते थे और जो पालतू होने के कारण पिंजड़ों में रहते थे, जाग और बोलने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः[2] पुण्यशब्दाश्च[3] वीणानां चापि निःस्वनाः ।
आशीर्गेयं च गाथानां[4] पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

---

१ अपदानानि—वृत्तान्यद्भुतकर्माणि । (गो०) २ व्याहृताः—ब्राह्मणैरुक्ताः । (गो०) ३ पुण्यशब्दाः—पुरुषक्षेत्रतीर्थकीर्तनादिरूपाः । (गो०) ४ गाथानां—दशरथ विषय प्रबन्ध पुण्य विशेषाणां । (गो०) * पाठान्तरे—"ह्यवर्तत" ।

ब्राह्मणों के आशीर्वादात्मक वाक्यों से, पालतू पक्षियों की उन बोलियों से, जो भगवन्नाम अथवा पवित्र तीर्थों के नाम ले कर बोल रहे थे, वीणा की ध्वनि से, आशीर्वाद से तथा महाराज दशरथ सम्बन्धी प्रबन्ध विशेषों के बखान से राजभवन पूरित हो गया ॥६॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः[1] ।
स्त्रीवर्षधर[2]भूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचार सम्पन्न कालोचित सेवा करने में निपुण और नपुंसक (खोजा लोग) प्रतिदिन की प्रथानुसार आ कर उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसंस्पृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः ।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥८॥

महाराज को स्नान करवाने वाले लोग जो स्नान कराने की विधि के विशेषज्ञ थे, सुवर्ण के कलसों में हरिचन्दन मिला हुआ जल भर कर यथासमय और यथाविधान लाये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।
उपानिन्युस्तथाऽप्यन्याः कुमारी[3]बहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

अनेक कुमारीप्राय सुन्दर स्त्रियों ने तेल उबटनादि, दन्तधावन तथा कुल्ली करने के लिये जलादि तथा शीशा, कंघा, तोलिया आदि सामग्री ला कर उपस्थित की ॥ ९ ॥

---

१ पर्युपस्थानकोविदाः—कालोचितपरिचर्याविचक्षणाः । (गो०) २ स्त्री-वर्षधरभूयिष्ठाः—अन्तःपुराध्यक्षस्त्रीभिः वर्षधरैःपण्डैश्चसमृद्धाः । (गो०) ३ कुमारीबहुला—कुमारीप्रायाः । (गो०)

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्बभूवाभिहारिकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण युक्त, विधि पूर्वक सजी हुई, अतः सर्वगुण और शोभायुक्त, महाराज के लिये प्रातःकृत्य की सब सामग्री ला कर एकत्र की गयी ॥ १० ॥

तत्तु सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् ।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय पर्यन्त सब लोग महाराज के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित रहे और आपस में कहते थे कि, कारण क्या है जो महाराज आज अब तक सो कर नहीं उठे ॥ ११ ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं[1] प्रत्यनन्तराः ।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

कौशल्या जी के अतिरिक्त और जो सब स्त्रियाँ वहाँ महाराज की सेज के समीप थीं, मिल कर महाराज को जगाने लगीं ॥ १२ ॥

तथाप्युचित[2]वृत्तास्ता विनयेन[3] नयेन[4] च ।
न ह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किञ्चिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने बड़े प्यार से और युक्ति से महाराज के शरीर को स्पर्श कर, जब देखा, तब उनमें जीवित पुरुष जैसी कुछ भी

---

१ शयनंप्रत्यन्तरा—शयनप्रत्यासन्नाइत्यर्थः । (गो०) २ उचितवृत्ताः—स्पर्शनादिव्यापारोचिताः । (गो०) ३ विनयेन—प्रश्रयेण । (गो०) ४ नयेन—युक्त्या । (गो०)

चेष्टा न पायी (अर्थात् सांस का आना जाना आदि न जान पड़ा) ॥ १३ ॥

ताः स्त्रियः [1]स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टासञ्चलनादिषु ।
तां वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

तब वे सब स्त्रियां, जो महाराज के सोने के समय की हालत चेष्टा और नाड़ीसञ्चार को भली भांति जानती थीं, महाराज की यह दशा देख, थरथरा उठीं और महाराज के जीवित रहने में उनको सन्देह उत्पन्न हो गया ॥ १४ ॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं सञ्चकम्पिरे* ।
अथ संवेपमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ॥ १५ ॥

महाराज के जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण, वे सब स्त्रियां उसी प्रकार थरथर कांपने लगीं जिस प्रकार नदी के सोत में उत्पन्न बेत या नरकुल कांपा करता है ॥ १५ ॥

यत्तदाशङ्कितं पापं[2] तस्य जज्ञे विनिश्चयः ।
कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते[3] ॥ १६ ॥

उन लोगों को महाराज के जीवित रहने में जो सन्देह था, वह अब निश्चय में परिणत हो गया—(अर्थात् उनको निश्चय हो गया कि, महाराज ने शरीर त्याग दिया)। तब कौशल्या और सुमित्रा जो पुत्रों के वियोगजन्य शोक से ग्रस्त हो ॥ १६ ॥

---

१ स्वप्नशीलज्ञा—स्वापस्वभावज्ञाः । (गो०) २ मत्पापं—मरणरूप माशङ्कितं । (गो०) ३ पराजिते—आक्रान्ते । (गो०) * पाठान्तरे—"संचकाशिरे" ।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथाकालसमन्विते[1] ।
निष्प्रभा च विवर्णा च सन्ना शोकेन सन्नता ॥ १७ ॥

मृतक की तरह सो रही थीं न जागीं। मारे शोक के कौशल्या निस्तेज और पीली पड़ गयी थीं, उनका शरीर एकदम कृश हो गया था ॥ १७ ॥

न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ।
कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार बादल के अंधेरे में छिपे नक्षत्र शोभित नहीं होते वैसे ही महाराज के समीप कौशल्या व सुमित्रा शोकरूपी बादल से ढकी होने के कारण शोभा रहित हो रही थीं ॥ १८ ॥

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ।
ते च दृष्ट्वा तथा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ॥ १९ ॥

राजभवन की अन्य स्त्रियां भी शोक से अश्रुपात करती हुईं शोभित नहीं होती थीं। उन स्त्रियों ने देखा कि, कौशल्या और सुमित्रा सो रही हैं और महाराज ॥ १९ ॥

सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमदृश्यत ।
ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ॥ २० ॥

के निद्रावस्था ही में प्राण निकले हुए देख वे अन्तःपुरवासिनी स्त्रियां अति दीन हो उच्च स्वर से रोने लगीं ॥ २० ॥

---

१ यथाकालसमन्विते—मृतेइवप्रसुप्ते नप्रबुध्येते। (गो०)

करेणव इवारण्ये स्थानभ्रच्युतयूथपाः ।
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने ॥ २१ ॥

जिस प्रकार वन में अपने समूह से बिछुड़ने पर हथनियाँ चिल्लाती हैं, उसी प्रकार इन सब का बड़े ज़ोर से रोने का चीत्कार सुन, एकाएकी जाग कर ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौशल्या और सुमित्रा महाराज को देख वा उनके शरीर पर हाथ रख (और शरीर को ठंडा पा महाराज को मरा हुआ जान,) "हा नाथ!" कह कर चिल्लाती हुई, पृथिवी पर पछाड़ खा कर, गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता वेष्टमाना महीतले ।
न बभ्राज रजोध्वस्ता तारेव गगनाच्च्युता ॥ २३ ॥

कौशल्या जी ज़मीन पर लोट रही थीं, अतः उनके सारे शरीर में धूल लग गयी थी । उस समय धूलधूसरित वे आकाश से गिरे हुए तारा की तरह जान पड़ती थीं ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे[1] जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

महाराज के मरने पर, कौशल्या को ज़मीन पर लोटते हुए उन सब स्त्रियों ने देखा, मानों कोई नागवधू पड़ी हो ॥ २४ ॥

---

१ शान्तगुणे—शान्तदेहेऽप्यस्पन्दनादिगुणे । (गो०)

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः ।
रुदन्त्यः शोकसन्तप्ता निपेतुर्धरणीतले* ॥ २५ ॥

तब महाराज की कैकेयी आदि सब स्त्रियां रुदन करती हुई, शोक से सन्तप्त होने के कारण, मूर्छित हो, ज़मीन पर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः[1] ।
येन स्थिरीकृतं भूयस्तद्गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर (पूर्व) आयी हुईं स्त्रियों के रोने का तुमुल शब्द पीछे आयी हुई कैकेयी आदि स्त्रियों के रोने के शब्द से मिल, और भी अधिक हो गया और उस आर्तनाद से सम्पूर्ण राजभवन पूरित हो गया ॥ २६ ॥

तत्समुत्रस्तसम्भ्रान्तं पर्युत्सुकजनाकुलम् ।
सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥
सद्यो निपतितानन्दं दीनविक्लवदर्शनम् ।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज दशरथ का राजभवन त्रस्त, विकल और व्यग्र जनों से भरा, महा चीत्कार से युक्त और परिताप से सन्तप्त बन्धुजनों से भरा हुआ आनन्द रहित और दीनता से परिपूर्ण हो गया था । वह राजभवन भाग्यहीन सा देख पड़ता था ॥ २७ ॥ २८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं सम्परिवार्य पत्नयः ।

---

१ अनुद्रुतः—अनुसृतोभूत् । (गो०) * पाठान्तरे—"निपेतुर्गतचेतनाः" ।

भृशं रुदन्त्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

राजाओं में श्रेष्ठ और यशस्वी महाराज दशरथ को मरा देख, उनकी सब रानियाँ बड़ा दुःखी हो अत्यन्त करुणपूर्ण स्वर से रो रो कर और महाराज दशरथ की बाहें पकड़ अनाथ की तरह विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

षट्षष्टितमः सर्गः

—:o:—

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।
हतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ को बुझी हुई आग, अथवा जलहीन समुद्र अथवा हतप्रभ सूर्य की तरह स्वर्गवासी हुआ देख ॥ १ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगूह्य[1] शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

कौशल्या ने महाराज का सिर अपनी गोद में रख और विविध प्रकार के शोकों से उत्पीड़ित होने के कारण रोते रोते कैकेयी से कहा ॥ २ ॥

---

१ राज्ञा शिरउपगूहय—राज्ञःशिरअङ्के कृत्वा । (गो०)

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा[1] नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

अरी दुष्ट कसाइन ! अब अपनी साध पूरी कर और निष्कण्टक राज्य सुख भोग । महाराज को विदा कर अब तू अपने पुत्र के राज्यसुख में एकाग्रचित्त हो ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।
विपथे सार्थहीनेव[2] नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

श्रीराम तो मुझे छोड़ चला ही गया था, महाराज भी अब नहीं रहे । दुर्गम पथ में सहायक साथी छूटे हुए पथिक की तरह मुझे अब जी ने की साध नहीं है ॥ ४ ॥

भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

हाय ! कौन ऐसी स्त्री होगी, जो अपने परम देवता स्वामी को छोड़ कर, जीवित रहना पसन्द करेगी । एक कैकेयी अवश्य जीवेगी, क्योंकि उसने अपना धर्म त्याग दिया (अर्थात् पतिव्रत धर्म) ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान्[3] किंपाकमिव भक्षयन् ।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

हा ! जो लालची होता है वह लालच के दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, जैसे भूखा मनुष्य विषमिश्रित पदार्थ को क्षुधा

---

१ एकाग्रा—पुत्रराज्यैकाग्रचित्ता । (रा०) २ सार्थहीना—सहायभूत पथिकसङ्गरहितेत्यर्थः । (गो०) ३ किंपाकं—कुत्सितपाकं । (गो०)

वश खाते समय तज्जनित दुष्परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, हा ! कुब्जा के कहने से कैकेयी ने महाराज रघु के कुल का नाश कर डाला ॥ ६ ॥

[1]अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

जब राजा जनक सुनेंगे कि, कैकेयी के द्वारा अनुचित रीति से प्रेरणा किये जाने पर महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को स्त्री सहित वन भेज दिया, तब उनको कैसा सन्ताप होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो [2]जीवनाशमितो[2] गतः ॥ ८ ॥

इस समय कमलनयन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र यह न जानते होंगे कि, यहां महाराज के मरने से मैं अनाथ और विधवा हो गयी ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा सीता तपस्विनी[4] ।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यते* ॥ ९ ॥

राजा जनक की पुत्री बापुरी सीता जो दुःख सहने योग नहीं है, वन में अनेक प्रकार के दुःख पा कर घबड़ाती होगी ॥९॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।
निशम्य नूनं संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

---

१ अनियोगे—वरप्रदान समये वरस्य विशेषनिर्देशा भावे सति । (गो०)
२ जीवनाशंगतः—राज्ञाजीवनाशंगतः प्राप्तः । (गो०) ३ इतः अन्नदेशे । (गो०) ४ तपस्विनी—शोचनीया । (गो०) * पाठान्तरे—"विजिष्यति" ।

सीता जब कि, रात में सिंह व्याघ्रादि जन्तुओं का डराना दहाड़ना और पक्षियों की बोलियाँ सुनती होगी, तब मारे डर के श्रीराम के गले में लिपट जाती होगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पऽपुत्रश्च[1] वैदेहीमनुचिन्तयन् ।
सोऽपि[2] शोकसमाविष्टो ननु त्यक्ष्यति जीवितम् ॥११॥

वे राजा जनक भी, जो वृद्ध हैं और जिनके केवल कन्या सन्तति है, सीता जी के कष्टों का, स्मरण कर और शोक से विकल हो शरीर छोड़ देंगे ॥ ११ ॥

साऽहमद्यैव [3]दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

अतः पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई मैं आज ही प्राण त्यागने के लिये, महाराज के शव से चिपट, अग्नि में प्रवेश करूँगी अर्थात् सती हो जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम् ।
*व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः[4] ॥१३॥

अन्तःपुर के तथा राज्य के रीति व्योहार (अर्थात् ज़ासा) जानने वाले अर्थात् मंत्रियों ने महाराज के शव से अत्यन्त दुःखिनी बापुरी कौशल्या को हटा कर अलग किया ॥ १३ ॥

---

१ अल्पपुत्रः—दुहितृमात्रपुत्रः । (गो०) २ सोऽपि—जनकोपि । (गो०)
३ दिष्टान्तं—मरणं । (गो०) ४ व्यावहारिकाः—व्यवहारेबाह्याभ्यन्तर सकलराजकृत्येनियुक्ताः अमात्याइत्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—" व्यवनीय " ।

तैलद्रोण्यामथामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥

और उन मंत्रियों ने महाराज के शव को तेल भरे कड़ाह में रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं। तदनन्तर वे राजाज्ञानुसार सब कृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

न तु *संस्करणं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।
सर्वज्ञाः[1] कर्तुमोषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥

समयोचित कर्त्तव्यों को जानने वाले मंत्रियों ने बिना किसी राजकुमार के आये महाराज के शव के अग्निसंस्कारादि क्रियाकर्म करना उचित न समझा। अतः महाराज के शव (को तेल से भरी कढ़ाई में) रखवा दिया ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम् ।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥१६॥

जब मंत्रि लोग महाराज के शव को तेल से भरी कढ़ाई में लिटाने लगे, तब वे स्त्रियां महाराज का मरना निश्चय जान, हा महाराज! मर गये।"— कह कर विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुद्यम्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः ।
रुदन्त्यः शोकसन्तप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

वे दुःखिनी स्त्रियां अपनी भुजाओं को उठा उठा कर और आंखों से अश्रुधारा बहा तथा शोक से सन्तप्त हो, विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

---

१ सर्वज्ञाः—सर्वधर्मज्ञाः । (गो०) * पाठान्तरे—"सङ्कलं"।

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।
विहीनः* सत्यसन्धेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

हा महाराज ! हमें सदैव प्रिय बोलने वाले श्रीराम से रहित कर, आप हमें छोड़ कर क्यों चले जाते हैं ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण वियोजिताः ।
कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

अब हम श्रीरामचन्द्र जी से बिछुड़ कर इस दुष्टा तथा पति को मारने वाली कैकेयी के साथ, विधवा हो कर कैसे रह सकेंगी ॥ १९ ॥

स हि नाथः सदाऽस्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।
वनं रामो गतः श्रीमान्विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

क्योंकि श्रीराम जो जो हमारे और आपके जीवनाधार थे, राज्यलक्ष्मी को छोड़, वन को चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः[1] ॥२१॥

अब हम सब तुम्हारे बिना और श्रीराम के न रहने पर, दुःख में फँस, कैकेयी के तिरस्कारों को सहन करती हुई, किस प्रकार रह सकेंगी ॥ २१ ॥

यया तु राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सीतया सह सन्त्यक्ता सा कमन्यं न हास्यति ॥२२॥

---

१ विदूषिताः—राज्यगर्वातिरस्कृताः । (गो०) * पाठान्तरे—विहीनाः ।

जिसने महाराज को, श्रीरामचन्द्र एवं महाबली लक्ष्मण तथा सीता को त्याग करने में सङ्कोच न किया वह भला किसको नहीं छोड़ सकता ॥ २२ ॥

ता वाष्पेण च संवीतः शोकेन विपुलेन च ।
व्यवेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ की सर्वश्रेष्ठ रानियां नेत्रों से आंसू बहाती और महाशोकग्रस्त होने के कारण आनन्द रहित हो गयीं ॥ २३ ॥

निशा चन्द्रविहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या विना राज्ञा महात्मना ॥२४॥

उस समय अयोध्यापुरी चन्द्र बिन यामिनी और कन्त बिन कामिनी की तरह महाराज दशरथ के बिना, शोभित नहीं होती थी ॥ २४ ॥

वाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवे[1]श्मान्ता न बभ्राज यथापुरम्[2] ॥ २५ ॥

क्योंकि जिधर देखो उधर लोग रोते हुए देख पड़ते थे, और स्त्रियां हाहाकार मचा रही थीं। घर और चौराहों में झाड़ू तक नहीं पड़ी थी। सारांश यह कि अयोध्या की जैसी शोभा पहले थी वैसी अब नहीं देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोका[3]न्त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

---

१ शून्यचत्वरेति—समार्जनानुलेपनबल्यादि शून्यचत्वरादियुक्तेति यावत् (गो०) २ यथापुरं—यथापूर्वं । (गो०) ३ शोकात्—पुत्रशोकात् । (गो०)

निवृत्तचारः[1] सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा[2] रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

पुत्रशोक में महाराज दशरथ के स्वर्ग सिधारने पर, उनकी सब रानियाँ ज़मीन पर पड़ी रो रही थीं। इतने में दिन डूब गया और अंधकार को लिये हुए रात हो आयी ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राद्दहनं महीपतेः
न रोचयन्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

राजवंश के जो हितैषी भाईबंद वहाँ एकत्र हुए थे, उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि, बिना किसी राजपुत्र के आये महाराज के शव की दाहक्रिया किया जाना ठीक नहीं। अतः शव को तेल के कढ़ा में रखा रहने दिया जाय ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
न चास्रकण्ठाऽऽकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

उस समय महाराज के स्वर्ग सिधारने पर अयोध्यापुरी को सड़कें और चौराहों पर रोते हुए और बाष्परुद्धकण्ठ वाले लोगों

---

१ निवृत्तचारः—निवृत्तकिरणप्रचारः। (गो०) २ प्रवृत्तचारा—प्रवृत्ततमः प्रचारा। (गो०)

की भीड़ हो जाने से, अयोध्यापुरी सूर्यहीन आकाश अथवा नक्षत्र हीन रात्रि की तरह प्रभाहीन हो गयी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य सङ्घशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरीवासी क्या पुरुष, क्या स्त्री सब इकट्ठे हो एक स्वर से भरत की माता कैकेयी को धिक्कारने लगे। उस समय सभी दुःखी थे; सुखी कोई न था ॥२९॥

अयोध्याकाण्ड का छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:०:—

आक्रन्दितनिरानन्दा साश्रुकण्ठजनाकुला ।
अयोध्यायामवतता[1] सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

रोते रोते किसी के भी मन में आनन्द नहीं रह गया था, सब लोग आँसू गिराते बराबर रो रहे थे। वह दुःख की रात लोगों के लिये पहाड़ जैसी बड़ी हो गयी थी। किसी न किसी तरह वह व्यतीत हुई ॥ १ ॥

---

१ अवतता—दीर्घा। (गो०)

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीती और सूर्य उदय हुए, तब राजकाज में साहाय्य देने वाले अधिकारी ब्राह्मण इकट्ठे हो सभा में आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः ।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥

उनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अथवा मुख्य थे मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जाबालि ॥ ३ ॥

एते द्विजाः सहामात्यैः [1]पृथग्वाचमुदीरयन्[2] ।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

ये ब्राह्मण मंत्रियों सहित आ कर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वशिष्ठ जी के सामने बैठ, अलग अलग अपना अपना आशय प्रकट करने लगे ॥ ४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा ।
अस्मिन्पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

बीती हुई रात जो हमें सौ वर्ष के समान जान पड़ती थी, किसी प्रकार बीती । क्योंकि इसी रात में पुत्रशोक से विकल महाराज पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मरे) ॥ ५ ॥

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

---

१ पृथक्—भिन्न । (शि०) २ उदीरयन्—अकथयन् । (शि०)

महाराज स्वर्गवासी हुए हैं और श्रीरामचन्द्र जी वन में हैं। तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीराम के साथ वन में हैं ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकयेषु परन्तपौ ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

परन्तप दोनों भरत और शत्रुघ्न केकय देश की राजधानी में अपने नाना के घर में विराजमान हैं ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम् ।
अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा बनाना चाहिये। नहीं तो कहीं राजा के बिना हमारा राष्ट्र नष्ट न हो जाय ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं [1]दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

क्योंकि जहां राजा नहीं होता वहां बिजली की चमक सहित अत्यन्त गरजने वाले मेघ दिव्य जल पृथिवी पर नहीं बरसाते—अर्थात् ओले बरसाते हैं ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

अराजक देश में किसान लोग खेतों में बीज नहीं छिटकाते, और अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के वश में नहीं रहती अर्थात् सब स्वतंत्र हो जाते हैं ॥ १० ॥

---

१ दिव्येनेत्यनेन शिलावर्षंस्तुभविष्यतीतिभावः । (गो०)

अराजके धनं नास्ति नास्ति [1]भार्याऽप्यराजके ।
इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाता (क्योंकि चोर डाकू बरजोरी ले लेते हैं।) स्त्रियां व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं। जब घर की स्त्री तक का ठिकाना नहीं, तब सत्य भला कैसे रह सकता है। (अर्थात् अराजक देश में सत्य व्यवहार भी नहीं रह जाता) ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि[2] च ॥१२॥

अराजक देश में प्रसन्न हो कर प्रजाजन (अस्वस्थ्य मन रहने के कारण) न तो सभा समाज करते, न रमणीक बाग़ बगीचा लगवाते—(क्योंकि राजा के दण्ड का भय न रहने से लोग पेड़ काट डालते हैं) और न पुण्य बढ़ाने वाले देवालय (अथवा धर्मशालाएँ) आदि बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
[3]सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥१३॥

अराजक देश में न तो द्विजाति यज्ञ करते और न कठोर व्रत धारण करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण महायज्ञ ही कराते हैं (विघ्न के भय से) ॥ १३ ॥

---

१ नास्तिभार्या—व्यभिचार निरतत्वात् गृहे न तिष्ठतीत्यर्थः। (शि०)
२ पुण्यगृहाणि—देवतायतनादीनि । (गो०) ३ सत्राणि—महायज्ञान् । (गो०)

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।
ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः[1] ॥ १४ ॥

अराजक राज्य में धनसम्पन्न ब्राह्मण भी बड़े यज्ञों में ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा नहीं देते ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।
उत्सवाश्च[2] समाजाश्च [3]वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

अराजक राज्य में नट और बेड़िया लोग भी (आजीविका के अभाव से) प्रसन्न नहीं रहते। और न वहाँ देश की वृद्धि करने वाले देवोत्सव होते हैं और न तीर्थों पर यात्रियों के मेले आदि ही लगते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्थाः[4] व्यवहारिणः[5] ।
कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

अराजक राज्य में व्यवहार करने वालों में (रुपये का लैन देन करने वालों में) अथवा (माल बेचने खरीदने वालों में) विवाद उपस्थित होने पर, किसी का भी प्रयोजनसिद्ध नहीं होता अर्थात् मुकद्दमा लड़ने वालों का न्याय (राजा के अभाव से) नहीं होता। (राजा के न रहने से पुरस्कार के अभाव में) कथा वाचने वाले अच्छी कथा बाँच कर कथा सुनने वालों को सन्तुष्ट नहीं करते ॥ १६ ॥

---

१ आप्तदक्षिणाः—मृद्दक्षिणाः । (गो०) २ उत्सवाः—देवतोत्सवाः । (गो०) ३ समाजाः—तीर्थयात्राः । (गो०) ४ सिद्धार्थाः—लब्धप्रयोजनाः । (गो०) ५ व्यवहारिणः—कमप्यर्थमुद्दिश्यान्योन्यं विवदमानाः । (गो०)

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥

अराजक राज्य में सोने के गहने धारण कर कुमारियाँ सायङ्काल के समय वाटिका और उपवन में खेलने नहीं जातीं (क्योंकि राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है) ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रगामिभिः ।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥१८॥

अराजक राज्य में कामी पुरुष तेज़ चलने वाली सवारियों में बैठ, स्त्रियों सहित वनविहार करने नहीं जाते ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षंजीविनः ॥ १९ ॥

अराजक राज्य में धनी सुरक्षित नहीं रह सकते और न किसान और ग्वाले गड़रिये ही अपने घरों के किवाड़ खोल ठंढी हवा में सुख से सो सकते हैं ॥ १९ ॥

नाराजके जनपदे वद्धघण्टा विषाणिनः[1] ।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः[2] ॥ २० ॥

अराजक राज्य में हाथी, जो साठ वरस की उम्र के होने पर, बड़े बड़े दातों वाले हो जाते हैं, घंटों को घनघनाते राजमार्गों पर नहीं चल सकते (क्योंकि गुरुडे उनके दाँतों ही को काट लें) ॥ २० ॥

---

१ विषाणिनः—प्रशस्तदन्ताः । (गो०) २ षष्टिहायनाः—षष्टिवर्षाः । (गो०)

नाराजके जनपदे शरान्सतन्तम्[1]स्यताम् ।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने[2] ॥ २१ ॥

अराजक देश में बाणविद्या का अभ्यास करने वाले धनुर्द्धरों के हस्ततल का शब्द नहीं सुन पड़ता ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

अराजक जनपद में दूर देशों में सौदागर लोग बेचने के लिये बहुत सा माल ले कर निर्भय हो अथवा सकुशल यात्रा नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी[3] ।
भावय[4]न्नात्मनात्मानं[5] यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ २३ ॥

अराजक देश में, अकेले घूमने वाले, जितेन्द्रिय और अपने आत्मा से परमात्मा का चिन्तवन करने वाले (अर्थात् परब्रह्म का ध्यान करने वाले) मुनि, सन्ध्याकाल होने पर किसी के द्वार पर नहीं टिकते (क्योंकि कोई उन्हें भोजन नहीं देता ।) अथवा अराजक देश में जितेन्द्रिय मुनि लोग, परमेश्वर का एकान्त में भजन करते हुए दिन भर घूम फिर सायङ्काल होने पर, किसी के द्वार पर नहीं टिकते ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।
न चाप्यराजके सेना शत्रून्[6]विषहते युधि ॥ २४ ॥

---

१ अस्यतां—क्षिपतां । (गो०) २ उपासने—अभ्यासे । (गो०) ३ वशी—जितेन्द्रियः । (गो०) ४ भावयन्—चिन्तयन् । (गो०) ५ आत्मन—परमात्मनं । (गो०) ६ विषहते—जयति । (गो०)

अराजक राज्य में न तो अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा हो सकती और न बिना नायक की सेना रण में शत्रु को जीत सकती है ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः ।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च परिमण्डिताः[1] ॥ २५ ॥

अराजक देश में उत्तम घोड़ों और रथों पर बैठ कोई भी स्वयं सजधज कर बेखटके एकाएकी बाहिर नहीं निकल सकता ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
संवदन्तोऽवतिष्ठन्ते वनेषु नगरेषु च ॥ २६ ॥

अराजक राज्य में शास्त्रज्ञानी लोग वन में या नगर में बैठ निर्भीक हो परस्पर शास्त्र सम्बन्धी विचार करते हुए, नहीं रह सकते ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते[2] नियतैर्जनैः[3] ॥ २७ ॥

संयमी लोग, अराजक देश में, देवताओं की पूजा के लिये माला, लड्डू, दक्षिणादि कोई भी पूजा को सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्द[4]नागरुरूषिताः ।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्त इव शाखिनः ॥ २८ ॥

---

१ परिमण्डिताः—भूषिताः । (गो०) २ कल्प्यन्ते—सम्पाद्यन्ते । (गो०)
३ नियतैर्जनैः—यतचित्तैर्जनैः । (शि०) ४ रूषिताः—लिप्ताः । (गो०)

अराजक राज्य में राजकुमार चन्दन और अगर से चर्चित हो कर (अर्थात् शरीर में लगा कर) वसन्त ऋतु के पेड़ों की तरह शोभायमान् नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाऽप्यतृणं वनम् ।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे विना जल की नदी, अथवा विना घास फूस का वन, अथवा विना चरवाहे की गौएँ होती हैं, वैसा ही विना राजा का राष्ट्र है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं[1] धूमो ज्ञानं[2] विभावसोः ।
तेषां यो नो ध्वजो[3] राजा स देवत्वमितो[4] गतः ॥३०॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिन्ह उसकी ध्वजा होती है, जिस प्रकार अग्नि का ज्ञापक चिन्ह धुआँ होता है, उसी प्रकार हम लोगों के प्रकाशक चिन्ह स्वरूप जो महाराज थे, वे यहाँ से मर कर देवयोनि को प्राप्त हो गये हैं । (अतः यह देश इस समय अराजक है) ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मार कर खा जाते हैं ॥ ३१ ॥

---

१ प्रज्ञानं—ज्ञापकं । (गो०) २ ज्ञानं—लिङ्गं । (गो०) ३ ध्वजः—प्रकाशकः । (गो०) ४ इतः—अस्माल्लोकादित्यं देवत्वंगत इत्यर्थः । (गो०)

ये हि सम्भिन्नमर्यादा[1] नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः[2] ।
तेऽपि भावाय[3] कल्पन्ते[4] राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

जो लोग वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को त्याग नास्तिक हो जाते हैं, किन्तु राजदण्ड के डर से दबे रहते हैं, वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो, लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं अथवा अपना प्रभुत्व प्रकट करते हैं ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार दृष्टि, या आँखें शरीर की भलाई करने और बुराई दूर करने में सदा ही तत्पर रहती हैं—उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में सत्य व धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में और दुष्टात्माओं का शासन कर बुराई दूर करने में सदा तत्पर रहता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां[5] कुलम्[6] ।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥३४॥

राजा ही सत्य और धर्म का प्रजा में प्रवर्त्तक है, राजा ही कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्त्तक है, राजा ही प्रजा का मा बाप है और राजा ही प्रजाजनों का हितसाधन करने वाला अर्थात् हितैषी है ॥ ३४ ॥

---

१ सम्भिन्नमर्यादाः—उल्लङ्घितस्वस्वजातिवर्णाश्रममर्यादाः । (गो०) २ छिन्न-संशयाः—राजदण्डशङ्कारहिताः । (गो०) ३ भावाय—सद्भावाय, प्रभावायवा। (गो०) ४ कल्पन्ते—समस्तदैष्टिकपीडासमर्थाभवन्तीत्यर्थः । (गो०) ५ कुलवतां—क्षेत्रबीजशुद्धवतां । (गो०) ६ कुलं—कुलाचारप्रवर्तकः । (गो०)

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः ।
विशेष्यन्ते[1] नरेन्द्रेण[2] वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन करने वाला एक राजा—यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा है ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किञ्चन ।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

शिष्ट और अशिष्टों का विभाग कर के प्रजा का पालन करने के लिये, यदि राजा न हो तो सारे राज्य में अन्धेर मच जाय—कोई किसी को न पूँछे ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! (वशिष्ठ जी) जब महाराज जीवित थे तब भी हम लोगों ने आपकी आज्ञा उसी प्रकार कभी उल्लङ्घन नहीं की जिस प्रकार समुद्र अपनी सीमा उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३७ ॥

स[3] नः[4] समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राज्यमरण्यभूतम् ।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं*
त्वमेव राजानमहाभिषिञ्च ॥ ३८ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ विशेष्यन्ते—अधः क्रियन्ते । (गो०) २ नरेन्द्रेण—महतावृत्तेन सर्व प्रकाररक्षणरूपचरित्रेण । (गो०) ३ सः—त्वं । (गो०) ४ नः—अस्माकं । (गो०) ५ वृत्तं—अराजकत्वमभुपितंसर्वकृत्यं । (गो०) * पाठान्तरे—"वदान्यं ।"

हे द्विजश्रेष्ठ ! हमारे वर्णित अराजक राज्य के दोषों पर विचार कर इस राष्ट्र का—जो राजा के न रहने से जंगल जैसा हो रहा है, किसी को चाहे वह इक्ष्वाकुकुल हो अथवा अन्य कोई हो—राजा बना दीजिये ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:*:—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
[1]मित्रामात्यगणान्सर्वान्[2]ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥

उन लोगों के मुख से ऐसी बातें सुन वशिष्ठ जी, हितैषी सुमंत्रादि मंत्रियों और मार्कण्डेयादि ब्राह्मणों से यह बोले ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परंसुखी ।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ २ ॥

महाराज, भरत को राज्य दे गये हैं । वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ मामा के घर परम सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवना[3] दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः ।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

---

१ मित्रामात्यगणान्—मित्रभूतामात्यगणान्सुमन्त्रादीन् । (गो०) २ ब्राह्मणान्—मार्कण्डेयादीन् । (गो०) ३ जवनाः—वेगवन्तः । (गो०)

अतः शीघ्र चलने वाले घोड़ों पर शीघ्रगामी दूत उन दोनों राजकुमारों को लिवा लाने के लिये जाँय। इसके अतिरिक्त और इस विषय में विचार ही क्या हो सकता है। (अर्थात् महाराज भरत को राज्य दे गये हैं—अतः सिवाय उनके दूसरे को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्।
तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब सब ने ही वशिष्ठ जी से कहा कि, दूत अभी जाने चाहिये। उनका यह वचन सुन वशिष्ठ जी बोले ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

हे सिद्धार्थ! हे विजय! हे जयन्त! हे अशोकनन्दन! तुम सब यहाँ आओ और तुम लोगों को जो इस समय करना चाहिये, वह मैं कहता हूँ—तुम सब सुनो! ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्भरतो मम ॥ ६ ॥

तुम सब शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो कर, शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ और शोक रहित हो, भरत से मेरा यह अनुशासन कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

कि पुरोहित वशिष्ठ जी ने तथा सब मंत्रियों ने तुमसे कुशल क्षेम कहा है और ये कहा है कि, बड़ा ज़रूरी काम है अतः तुम शीघ्र यहां आओ ॥ ७ ॥

मा चास्मै शोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा[1] राघवाणामिमं क्षयम् ॥ ८ ॥

किन्तु सावधान ! रघुवंशियों के तेजक्षय (नामोसी की बात) का यह वृत्तान्त कि, श्रीरामचन्द्र वन गये और महाराज स्वर्ग वासी हुए, वहां मत कहना ॥ ८ ॥

कैशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च ।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च[2] भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

केकयराज और भरत के लिये इन रेशमी वस्त्रों और (बहुमूल्यवान) सुन्दर आभूषणों को ले कर तुरन्त चले जाओ ॥ ९ ॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वंस्वं निवेशनम् ।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानास्थाय सम्मतान्[3] ॥ १० ॥

वशिष्ठ जी के वचन सुन और मार्ग के लिये भोजन ले कर दूत लोग अपने अपने घर गये और फिर तेज और बहुत दूर की यात्रा करने में अभ्यस्त घोड़ों पर चढ़, तुरन्त केकयराज की राजधानी की ओर जाने के लिये तैयार हुए ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं[4] कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्[5] ।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः सन्त्वरिता ययुः ॥ ११ ॥

---

१ मा शंसिषुः—माकथयन्तु । (रा०) २ राज्ञः—केकयराजस्य । (गो०) ३ संमतान्—जवनत्वेनाध्वश्रम सहत्वेन च संमतान् । ४ प्रास्थानिकं—प्रस्थान प्रयोजकं । (गो०) ५ कार्यशेषमनन्तरम्—पाथेयादिकंचकृत्वा । (गो०)

वे दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय (रास्ते में खाने के लिये भोजन) ले, और वशिष्ठ जी से विदा हो बड़ी तेज़ी से रवाना हुए ॥ ११ ॥

[1]न्यन्तेनापरता[2]लस्य प्रलम्व[3]स्योत्तरम्प्रति[4] ।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पहाड़ के दक्षिण और प्रलंब नामक पहाड़ के उत्तर अर्थात् इन्हीं पहाड़ों की मध्यवर्तिनी मालिनी नदी के किनारे किनारे वे पश्चिम की ओर चलते गये ॥ १२ ॥

ते हस्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः ।
पाञ्चालादेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

उन्होंने हस्तिनापुर के समीप पहुँच गङ्गा पार की। फिर पश्चिमाभिमुख चल पञ्चाल तथा कुरुजाँगल के बीच में पहुँचे॥ १३ ॥

सरांसि च सुपूर्णानि नदीश्च विमलोदकाः ।
निरीक्षमाणास्ते जग्मुर्दूताः कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १४ ॥

रास्ते में उन लोगों ने बहुत से जल से लबालब भरे तालाब तथा निर्मल जल वाली नदियाँ देखीं। किन्तु काम की त्वरा होने के कारण (वे लोग उन रम्य सरोवरों अथवा नदियों के तट पर ठहरे नहीं) वे शीघ्र शीघ्र चले जाते थे ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जनाकुलाम् ॥ १५ ॥

---

१ अपरतालस्य—अपरतालो नामगिरिःतस्य । (गो०) २ न्यन्तेन—नितरामन्तेन —चरमप्रदेशेनेत्यर्थः । (गो०) ३ प्रलंवस्य —प्रलम्बाख्यगिरेः । (गो०) ४ उत्तरंप्रति—उत्तरभाग्यमुद्दिश्य । (गो०)

तदनन्तर वे लोग तरह तरह के जलचर पक्षियों से सेवित, और निर्मल जल से पूर्ण शरदण्डा नाम्नी नदी के तट पर पहुँचे ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं[1] सत्योपयाचनम् ।
अभिगम्या[2]भिवाद्यं तं कुलिङ्गां गाविशन्पुरीम् ॥१६॥

शरद्दण्डा नदी के तीर पर सत्योपयाचन नाम का एक पूज्य वृक्ष था। दूतों ने उस वंदनीय वृक्ष की परिक्रमा कर कुलिङ्गा नामक नगरी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[इस वृक्ष में यह गुण था कि इससे जो प्रार्थना की जाती, उसे यह पूरी करता था, इसीसे उसका नाम "सत्योपयाचन" पड़ गया था।]

अभिकालं ततः प्राप्य ते वैधिभवनाच्च्युताः[4] ।
पितृपैतामहीं[5] पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्हें अभिकाल नामक ग्राम मिला। फिर वे वैधिभवन नामक पर्वत से निकली हुई इक्षुमती नामकी उस नदी के पार हुए जिसके तट के गावों पर कभी महाराज दशरथ के पूर्वजों का राज्य था ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।
ययुर्मध्येन वाह्लीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

---

१ दिव्यं—देवाधिष्ठानवत् । (गो०) २ अभिगम्य—प्रदक्षिणीकृत्य । (गो०) ३ अभिवाद्यं—सर्वनमस्कार्यं । (गो०) ४ वैधिभवनात्च्युता—तदाख्यात् पर्वतात् । (गो०) ५ पितृपैतामहीं—दशरथवंश्यानुभूतां । तत्तीर प्रदेशग्रामा इक्ष्वाकूणामितिभावः । (गो०).

दूतों ने इक्षु नदी के तट पर अंजुलि भर जल पी कर रहने वाले, वेदविद् ब्राह्मणों को देखा। वाल्हीक नामक देश में हो कर जाते समय उनको सुदामा नामक पर्वत मिला ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम् ।
नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर विष्णु भगवान् के पदचिन्ह के दर्शन कर, उन्हें, विपाशा, शाल्मली आदि अनेक नदियां, बावड़ी, तालाब और सरोवर मिलीं ॥ १९ ॥

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।
ययुः पथागतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

वे लोग विविध प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन्य जन्तुओं को देखते हुए स्वामी की आज्ञा का पालन करने को बराबर उस लंबे मार्ग पर चले जाते थे ॥ २० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेनः पया ततः ।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा[2] ॥ २१ ॥

बहुत दूर चलने के कारण वे सब दूत (और उनके घोड़े) श्रान्त (थक) हो गये थे। तिस पर भी वे शीघ्र गिरिव्रज नामक केकयराज के श्रेष्ठ पुर में बहुत शीघ्र जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्[4] ।

---

१ विकृष्टेन—अतिदूरेण । (गो०) २ शीघ्रशब्दसाहित्येन । (गो०)
३ अञ्जसामानन्तर्यमुच्यते । ४ परिग्रहार्थं—प्रतिष्ठार्थं । (गो०)

अहेडमाना[1]स्त्वरया स्म दूता
राज्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

इति अष्टषष्टितमः सर्गः ॥

अपने स्वामी अर्थात् महाराज दशरथ का प्रियकार्य (भरत को ले जा कर महाराज के शव का दाहादि कर्म) करवाने को, कुल की रक्षा के लिये और महाराज दशरथ के वंश की प्रतिष्ठा के लिये, बड़े आदर के साथ, जल्दी के कारण रात ही में उन दूतों ने उस पुर में प्रवेश किया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रात को वे दूत उस नगर में पहुँचे, उसी रात में भरत ने भी एक अशुभ स्वप्न देखा ॥ १ ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

राजाधिराज के पुत्र ने वह बुरा स्वप्न, रात्रि के अन्तिम पहर में देखा था (रात्रि के अन्तिम पहर का देखा हुआ शुभाशुभ स्वप्न

---

१ अहेडमानाः—अनादरमकुर्वाणाःसादराइतियावत् । (गो०)

का फल तुरन्त होता है—अतः) भरत जी बहुत घबड़ाए हुए थे ॥ २ ॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।
आयासं[1] हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥३॥

उनको घबड़ाया हुआ अथवा उदास देख, उनके समवयस्क (हमजोली) अथवा उनके साथ उठने बैठने वाले तथा प्रियवचन बोलने वाले मित्र, उनका खेद मिटाने के लिये, सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तथा गान्ति [2]लासयन्त्यपि चापरे ।
नाट्कान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

उनमें से कोई कोई भरत जी का खेद मिटाने के लिये बीणा बजाने लगे कोई कोई ठुनुक ठुमुक नाचने या थिरकने लगे । कोई कोई नाट्य करने लगे, और कोई हास्य कथा कहने लगे ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

उन प्रियवचन बोलने वाले मित्रों द्वारा अनेक प्रकार से भरत जी को (खेद दूर करने के लिये और) हँसाने के लिये अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी, भरत जी का मानसिकखेद दूर न हो सका ॥ ५ ॥

तमब्रवीत्प्रियसखो[3] भरतं सखिभिर्वृतम् ।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

---

१ आयासं—मनःखेदं । (गो०) २ लासयन्ति—हास्यंकुर्वन्ति-हास्यं—सुकुमारनृत्तं । (गो०) ३ प्रियसखः—अन्तरङ्गसुहृत् (गो०) ।

मित्रों के बीच बैठे भरत जी से उनके एक अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र ने कहा, हे मित्र ! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी तुम हर्षित क्यों नहीं होते ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच तम् ।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस मित्र के कहने पर भरत जी बोले—हे मित्र ! मेरे मन के उदास होने का कारण सुनो ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम् ।
पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमयेह्रदे* ॥ ८ ॥

मैंने स्वप्न में मैले कपड़े पहने और सिर के बाल खोले हुए अपने पिता को पर्वत की चोटी से बुरे गोबर के गड्ढे में गिरते हुए देखा है ॥ ८ ॥

प्लवमानश्च[1] मे दृष्टः स तस्मिन्गोमयेह्रदे ।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

और देखा है कि, वह उस गोबर के कुण्ड में मैंड़क की तरह तैरते तैरते बारंबार हँस कर अञ्जलि भर भर कर तेल पी रहे हैं ॥९॥

ततस्तिलौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवावगाहत ॥ १० ॥

यह भी देखा है कि, महाराज तिल मिश्रित भात खा कर बारंबार मस्तक नीचे झुका कर, सर्वाङ्ग में तेल लगाये हुए हैं और तेल ही में डूब रहे हैं ॥ १० ॥

---

१ प्लवमानः—मण्डूकवत् । (गो०) * पाठान्तरे—"गोमयह्रदे" ।

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।
उपलब्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा है कि, समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा है, सारी पृथिवी पर अंधेरा छाया हुआ है ॥ ११ ॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं चक्रलीकृतम् ।
सहसा चापि संवान्तं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ १२ ॥

महाराज की सवारी के हाथी के दाँतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं, और प्रज्वलित आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवतीर्णां[1] च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान्द्रुमान् ।
अहं पश्यामि विध्वस्तान्सधूमांश्चापि पर्वतान् ॥१३॥

पृथिवी नीचे धस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गये हैं। मैंने देखा है कि, पर्वतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं और उनमें से धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे कार्ष्णायसे चैनं निषण्णं कृष्णवाससम् ।
हसन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

महाराज काले लोहे के पीढ़े पर काले वस्त्र पहिने हुए बैठे हैं और काली तथा पीले रंग की स्त्रियाँ उनका उपहास कर रही हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

---

१ अवतीर्णां—अवःपतितां । (गो०)

धर्मात्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाये और लाल ही फूलों की माला पहिने हुए गधों से खींचे जाने वाले रथ में बैठ शीघ्रता पूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

एक विकट वदना राक्षसी जो लालवस्त्र पहिने हुए है, अट्टहास करती हुई महाराज को पकड़ कर ज़बरदस्ती खींच रही है ॥ १६ ॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम् ।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥१७॥

मैंने रात में ऐसे भयानक स्वप्न देखे हैं, इससे यह निश्चय बोध होता है कि, मैं या राम या महाराज अथवा लक्ष्मण की मृत्यु होगी ॥ १७ ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।
अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥

क्योंकि जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार हो यात्रा करता है, उसका थोड़े ही दिनों में चिता में धुआं निकलता हुआ देख पड़ता है ॥ १८ ॥

एतन्निमित्तं दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये ।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ।
न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ॥ १९ ॥

बस मेरे उदास होने का यही कारण है और इसीलिये आप लोगों की बातें मुझे नहीं भातीं । मेरा गला सूखा जा रहा है और

मेरा मन ठिकाने नहीं है यद्यपि इस समय भय का कोई कारण देख नहीं पड़ता, तथापि मन से खटका दूर नहीं होता ॥ १९ ॥

भ्रष्टश्च[1] स्वरयोगो[2] मे च्छाया चोपहता मम ।
जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥२०॥

इसीसे मेरा कण्ठस्वर भी बिगड़ गया है अर्थात् आवाज़ भारी पड़ गयी है, और मेरे शरीर की कान्ति भी जाती रही है। मैं जानता हूँ कि, यह अवश्यम्भावी विपत्ति है इससे डरना बुरी बात है, तो भी मेरे मन में जो खटका उत्पन्न हो गया है उसको दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ॥ २० ॥

इमां हि दुःस्वप्नगतिं *निगम्य ता-
मनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम्[3] ॥ २१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

पहले कभी इस प्रकार के खोटे स्वप्न की तर्कना भी नहीं हुई थी, किन्तु अब जब से यह स्वप्न देखा है तब से मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गयी है कि, जाने महाराज के दर्शन फिर हों कि नहीं ; इसीसे मेरा मन अत्यन्त भयभीत हो गया है ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१ छाया—कान्तिः । (गो०) २ स्वरयोग—युक्तस्वरः । (शि०)
३ अचिन्त्यदर्शनम्—अप्रतर्क्यदर्शनम् । (गो०) * पाठान्तरे—"निशम्य" ।

सप्ततितमः सर्गः

—: ० :—

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
प्रविश्यासह्यपरिखं* रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

भरत जी इस प्रकार अपने इष्ट मित्रों के साथ बातचीत कर ही रहे थे, कि थके थकाये अयोध्या के दूत रम्य राजगृहपुर में, जिसके चारों ओर इतनी बड़ी और गहरी खाई थी कि, उसे कोई लांघ नहीं सकता था, पहुँचे ॥ १ ॥

समागम्य च राज्ञा[1] च राजपुत्रेण[2] चार्चिताः ।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

दूतों ने प्रथम केकयराज से, तदनन्तर राजकुमार युधाजित से भेंट की । राजपुत्र युधाजित ने उन दूतों का आदर सत्कार किया । अनन्तर दूतों ने केकयराज को प्रणाम कर, भरत जी से कहा ॥२॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी ने और सब मंत्रियों ने आपसे कुशल-क्षेम कहा है और कहा कि, आप शीघ्र अयोध्या आइये । क्योंकि यहाँ एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है ॥ ३ ॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

---

१ राज्ञा—केकयराजेन । (गो०) २ राजपुत्रेण—युधाजिता । (गो०)
पाठान्तरे—" परिघं " ।

हे विशालाक्ष ! ये महामूल्यवान वस्त्र और भूषण उन लोगों ने भेजे हैं। इनको ले कर आप अपने मामा को दे दीजिये ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु[1] नृपतेर्मातुलस्य ते ।
दश कोट्यस्तु सम्पूर्णा[2]स्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

इनमें से लगभग बीस करोड़ के मूल्य के वस्त्राभूषण तो आपके नाना के लिये हैं और लगभग दस करोड़ के मूल्य के आपके मामा के लिये हैं ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य[3] तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः[4] सुहृज्जने[4] ।
दूतानुवाच भरतः कामैः[5] सम्मतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

भरत जी ने उन सब को ले और बड़े अनुराग के साथ वे सब वस्त्राभूषण अपने नाना मामा को दे दिये। तदनन्तर दूतों को भोजनादि की सामग्री द्वारा उनका सत्कार कर भरत जी उनसे बोले ॥ ६ ॥

कच्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम ।
कच्चित्चारोगता रामे लक्ष्मणे वा महात्मनि ॥ ७ ॥

हे दूतों ! यह तो कहो, मेरे पिता महाराज दशरथ तो प्रसन्न हैं ? महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तो आरोग्य हैं ? ॥ ७ ॥

---

१ विंशतिकोट्यः विंशतिकोटि मूल्यानि । (गो०) २ सम्पूर्णाः—अन्यूना । (गो०) ३ सुहृज्जने—मातुलादौ । (गो०) ४ स्वनुरक्तः प्रदाप्येतिशेषः । (गो०) ५ कामैः अभीष्टान्नपानादिभिः । (गो०)

आर्या[1] च धर्मनिरता[2] धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी[3] ।
अरोगा चापि[4] कौसल्या माता रामस्य धीमतः ॥८॥

धर्मानुष्ठानों के करने में तत्पर, धर्म के तत्त्व को जानने वाली और धर्मात्मा जनों को देखने वाली पूज्य एवं ज्येष्ठा धीमान श्रीरामचन्द्र की माता कौशल्या तो निरोग है ? ॥ ८ ॥

कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य सऽरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

धर्म का मर्म समझने वाली वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता और महाराज की मझली रानी सुमित्रा जी निरोग तो हैं ? ॥ ९ ॥

आत्मकामा[5] सदा चण्डी[6] क्रोधना माज्ञमानिनी ।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, उग्र और क्रोध स्वभाव वाली तथा अपने को सब से बढ़ कर बुद्धिमती समझने वाली मेरी माता कैकेयी तो कुशल से है? चलती बेर उन्होंने क्या कोई संदेसा भी कहा है ? ॥ १० ॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना[7] ।
ऊचुः सप्रश्रयं वाक्यमिदं[8] तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

---

१ आर्या—ज्येष्ठा मातृत्वेनपूजिता । (गो०) २ धर्मनिरता—धर्मानुष्ठानपरा । (गो०) ३ धर्मदर्शिनी—धर्ममेवजनेषु पश्यतीतिः धर्मदर्शिनी । (गो०) ४ अपिः—प्रश्ने । (गो०) ५ आत्मकामा—स्वप्रयोजनपरा । (गो०) ६ चण्डी—उग्रा । (गो०) ७ महात्मना—महाबुद्धिना । (गो०) ८ सप्रश्रयं—सविनयं । (गो०)

वड़े बुद्धिमान् भरत जी का वचन सुन, दूतों ने विनय पूर्वक भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥१२॥

हे पुरुषसिंह ! आप जिनका कुशल चाहते हैं, वे कुशलपूर्वक हैं। इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिये उद्यत है, अतएव यात्रा के लिये आप अपना रथ जुतवाइये। (एक टीकाकार ने इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है ; क्योंकि आपके मुखादि शारीरिक अंगों में इस समय ऐसी शोभा देख पड़ती है कि, जिससे किसी भी अमङ्गल की शङ्का नहीं हो सकती अतः अब आप अपना रथ जुतवावें) ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान्दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत ।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः सन्त्वरयन्ति माम् ॥१३॥

दूतों का वचन सुन भरत बोले—अच्छा, मैं महाराज से चलने की आज्ञा माँगता हूँ और जा कर कहता हूँ कि, दूत लोग चलने के लिये बड़ी शीघ्रता कर रहे हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान्दूतान्भरतः पार्थिवात्मजः ।
दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

राजकुमार भरत दूतों से यह कह कर, दूतों के कथनानुसार नाना से जा कर बोले, ॥ १४ ॥

राजन्पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः ।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

हे राजन् ! अब मैं अपने पिता के पास जाऊँगा—क्योंकि, दूत लोग मुझे ले जाने के लिये जल्दी मचा रहे हैं। फिर जब आप मुझे याद करेंगे मैं आ जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा ।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरत का वचन सुन केकयराज, भरत का मस्तक सूँघ यह शुभ वचन बोले ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजानेे त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया ।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप ॥ १७ ॥

हे भरत ! कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पा कर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुसूदन ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम वहाँ पहुँच कर अपनी माता और पिता से मेरा कुशल क्षेम कह देना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

पुरोहित वशिष्ठ जी तथा अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा महा धनुर्द्धर श्रीराम और लक्ष्मण दानों भाइयों से कुशल क्षेम कह देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान्कम्बलानजिनानि च ।
अभिसत्कृत्य[1] कैकेयो भरताय धनं ददौ ॥ १९ ॥

यह कह, केकयराज ने भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथी, क़ीमती शाल दुशाले और मृगचर्म उनकी बड़ाई कर कर के दिये ॥ १९ ॥

---

१ अभिसत्कृत्य—श्लाघापूर्वं । (गो०)

रुक्मनिष्क[1]सहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च ।
सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत्[2] ॥ २० ॥

यह कह कर केकयराज ने सत्कारपूर्वक भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथी, वढ़िया शाल दुशाले तथा धन (नक़दी) दिया ॥ २० ॥

तथाऽमात्यानभिप्रेतान्[3] विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।
ददावश्वपतिः क्षिप्रं भरतायानुयायिनः ॥ २१ ॥

दो हज़ार गले में पहने जाने वाले कंठे, गुंजें, कठुले आदि आभूषण तथा सोलह सौ घोड़े दिये और बड़े सत्कार के साथ धन दे कर, वह सब सामान अयोध्या पहुँचा देने के लिये नौकरों को आज्ञा दी। केकयराज ने भरत के साथ शीघ्रता पूर्वक जाने के लिये कई एक अपने विश्वासी और गुणवान अर्थात् बुद्धिमान मंत्री आदि कर दिये। (ये तो नाना ने विदाई की अब आगे मामा की विदाई का वर्णन है) ॥ २१ ॥

[4]ऐरावतानैन्द्रशिरान्[5] नागान्वै प्रियदर्शनान् ।
खराञ्शीघ्रान्सुसंयुक्तान्[6] मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥२२॥

भरत जी के युधाजित मामा ने, भरत जो को इरावत नामक तथा इन्द्रशिख नामक पर्वत पर उत्पन्न और देखने में बड़े सुन्दर हाथी तथा अपने जाने हुए शीघ्रगामी अनेक खच्चर भी दिये ॥२२॥

---

१ निष्काः—वक्षोभूषणानि । (गो०) २ आदिशत्—आदायभिगच्छति स्म आज्ञापयामास । (गो०) ३ अभिप्रेतान्—सहायभूतान् । (गो०) ४ ऐरावतान्—इरावत पर्वतभवान् । (गो०) ५ ऐन्द्रशिरात्—इन्द्रशिराख्य पर्वतभवान् । (गो०) ६ सुसंयुक्तान्—परिचितान् । (गो०)

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान्व्याघ्रवीर्यबलान्वितान् ।
दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥ २३ ॥

युधाजित् मामा ने भरत को, इनके अतिरिक्त रनवास में पले हुए तथा वनवीर्य में व्याघ्र के तुल्य और बड़े बड़े दांतों वाले तथा बड़े डील डौल के कुत्ते भी दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत ।
भरतः केकयीपुत्रो *गमनं त्वरयंस्तदा ॥ २४ ॥

परन्तु केकयराज की दी हुई इन वस्तुओं की ओर भरत जी ने ध्यान नहीं दिया । अनन्तर कैकेयीनन्दन भरत जाने के लिये शीघ्रता करने लगे ॥ २४ ॥

बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥२५॥

एक तो भरत खोटा स्वप्न देखने से चिन्तित थे ही, तिस पर चलने के लिये दूतों के जल्दी मचाने से वे और भी चिन्तित हो गये ॥ २५ ॥

स स्ववेश्म व्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंवृतम् ।
ययौ सुमहच्छ्रीमान्राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

मनुष्य हाथी और घोड़ों को लिए हुए भरत जी अपने घर से निकले और उत्तम एवं बड़े लंबे राजमार्ग में आ कर उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमुदारधीः ।
ततस्तद्भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—" गमनत्वरयातदा " ।

और उस मार्ग से हो कर उदार बुद्धि वाले भरत जी रनवास में गये। रनवास में जाते समय किसी ने उन्हें रोका नहीं ॥ २७ ॥

स मातामहमापृच्छय मातुलं च युधाजितम् ।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

भरत जी ने वहां पहुँच कर, नाना तथा मामा युधाजित् से विदा माँगी। तदनन्तर शत्रुघ्न सहित रथ में सवार हो वहां से वे चल दिये ॥ २८ ॥

रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् ।
उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

तब अनेक नौकर अनेक रथों में घोड़े, ऊँट, बैल और खच्चर जोत, भरत के रथ को चारो ओर से घेर कर, उनके साथ रवाना हुए ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा[1]
सहार्यकस्या[2]त्मसमैरमात्यैः[3] ।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-[4]
र्गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

महाधैर्यवान् भरत नाना के आत्मसदृश विश्वासी मंत्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजभवन से उसी

---

१ महात्मा—महाधैर्यो भरतः । (गो०) २ आर्यकस्य—मातामहस्य । (गो०) ३ आत्मसमैः—स्वप्रभावसदृशैः । (गो०) ४ अपेतशत्रु—निष्कण्टकः सन् । (गो०)

प्रकार निर्भय हो चले, जिस प्रकार इन्द्रलोक से सिद्ध चलते हैं ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—भरत जी राजगृह से अयोध्या जिस मार्ग से गये, वह राज मार्ग था । दूत जिस मार्ग से राजगृह गये थे, वह मार्ग समीप का था, किन्तु उसमें अनेक नदियाँ और पहाड़ पड़ते थे । भरत जी के साथ रथ हाथी घोड़े तथा अनेक मनुष्य थे अतः वह पहाड़ी मार्ग उनके लिये उपयुक्त न था अतः वे आम रास्ते से अयोध्या गये ।]

—:※:—

एकसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान्※ ।
ततः सुदामां द्युतिमान्सन्तीर्याविक्ष्य तां नदीम् ॥१॥

पराक्रमी एवं तेजस्वी भरत राजगृह से रवाना हो कर, पूर्व की ओर चले । कुछ दूर पर उनको सुदामा नाम की नदी देख पड़ी । वे उस नदी के पार हुए ॥ १ ॥

ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्[1] ।
शतद्रूमतरच्छ्रीमान्नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

अनन्तर बड़े फाँट वाली ह्लादनी नदी मिली, तिस पीछे पश्चिम वाहिनी शतद्रू (सतलज) मिलीं । इन दोनों नदियों के भी इक्ष्वाकुनन्दन भरत पार हुए ॥ २ ॥

---

१ प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम्—पश्चिमप्रवाहां नदीम् । (रा०) ※ पाठान्तरे—"राघवः" ।

एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्पटान्[1] ।
शिलामा[2]कुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्तनम् ॥ ३ ॥

फिर वे एलाधान गाँव के पास बहने वाली नदी को पार कर पर्पट नामक ग्राम में पहुँचे । फिर उस नदी को, जिसमें जो वस्तु डाल दी वह पत्थर हो जाय, पार कर और आग्नेय दिशा की ओर चल कर, वे शल्यकर्तन नामक नगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान्प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।
अत्ययात्स महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

उसके आगे सत्यसन्ध एवं धर्मात्मा भरत जी ने शिलावहा नदी देखी । फिर बड़े बड़े पहाड़ों को बचाते हुए वे चैत्ररथ नामक वन की ओर चले ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।
उत्तरं वीर मत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

अनन्तर सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम पर होते हुए, वीर-मत्स्य नामक देशों के उत्तर भागों को देखते हुए वे भारुण्ड वन में पहुँचे ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् ।
यमुनां प्राप्य सन्तीर्णो बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥

अनन्तर वेगवती, हर्ष देने वाली और पर्वतों से घिरी हुई कुलिङ्गा को तथा यमुना को पार कर, उन्होंने सेना को विश्राम दिया ॥ ६ ॥

---

१ पूर्वपर्पटाऽपरपर्पटा इचेति ग्रामद्वयमस्ति । (गो०) २ शिलामा-कुर्वतीं—शिलामासमन्ताकुर्वतीं । (गो०)

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥

थके हुए घोड़ों के शरीरों को ठंडा किया अर्थात् उनके शरीर की थकावट दूर की। लोगों ने भी स्नान किये और जलपान किया और रास्ते में पीने के लिये जल साथ ले, वे आगे बढ़े ॥ ७ ॥

[जल साथ इसलिये लिया था कि, आगे वन पड़ता था, वहाँ जल मिलने की सुविधा नहीं थी।]

राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण[1] यानेन मारुतः[2] खमिवात्ययात् ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर भरत जी उस निर्जन महारण्य में पहुँचे और भद्र जाति के हाथी (इस जाति का हाथी वनों में खूब चलता है) पर सवार हो, बड़ी तेज़ी के साथ उस वन के पार हुए ॥ ८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरामंशुधाने महानदीम् ।
उपायाद्राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

अंशुधान नगर के नीचे गङ्गा जी का पार करना असम्भव था। अतः वे बड़ी शीघ्रता से प्राग्वट नामक प्रसिद्ध घाट पर पहुँचे ॥९॥

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् ।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समायाद्धर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

---

१ भद्रेण—भद्रगजरूपेणयानेन । (गो०) २ मारुतःखमिवात्ययात्—अतिवेगेनातिक्रान्तवान् । (गो०)

वे प्राग्वट घाट से गङ्गा को पार कर, कुटिकोष्ठिका नदी पर पहुँचे और सेना सहित उसे भी पार कर, धर्मवर्द्धन नामक ग्राम में पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् ।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

फिर तोरण नामक ग्राम के दक्षिण की ओर जम्बूप्रस्थ ग्राम में पहुँचे । फिर दशरथनन्दन भरत जी रमणीक वरूथ नामक ग्राम में पहुँचे ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वाऽसौ प्राङ्मुखो ययौ ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका[1] यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

फिर वरूथ ग्राम के वन में ठहर वहाँ से पूर्व की ओर रवाना हुए और उज्जिहाना नाम की पुरी के उपवन में, जहाँ पर वन्धूक अथवा कदम्ब के पेड़ लगे थे, पहुँचे ॥ १२ ॥

सालांस्तु प्रियकान्प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस साल और वन्धूक के उपवन में पहुँच, रथ में शीघ्रगामी घोड़े जोत और सेना को धीरे धीरे पीछे आने की आज्ञा दे, भरत जी वहाँ से शीघ्रतापूर्वक रवाना हुए ॥ १३ ॥

[नोट—उज्जिहानापुरी के आगे कोसलराज्य की सीमा आरम्भ होती थी —अतः अपने राज्य में किसी प्रकार का खटका न समझ, सेना का साथ छोड़, भरत जी, रथ में बैठ, शीघ्रतापूर्वक अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए ।]

---

१ प्रियका—वन्धूकाः कदम्बावासन्ति (गो०) ।

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां[1] नदीम् ।
अन्या नदीश्च विविधाः पार्वतीयै[2]स्तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥

(रास्ते में भरत जी ने) सर्वतीर्थ नामक ग्राम में ठहर और उत्तानिका नदी को पार किया । फिर अन्य अनेक नदियों को उन पहाड़ी घोड़ों की सहायता से पार किया ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यवर्तत ।
ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये सिकतावतीम्* ॥१५॥

तदनन्तर हस्तिपृष्ठक नगर के समीप कुटिका नदी पार की । पुरुषश्रेष्ठ भरत ने लोहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमती नदीम् ।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥

भरत जी एकसाल नगर में स्थाणुमती नदी को और विनत नामक नगर में गोमती नदी को पार कर, कलिङ्ग नगर के सालवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः ।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥

भरत जी बड़ी तेज़ी से यात्रा कर रहे थे । अतः उनके रथ के घोड़े थक गये थे । सो वे रात भर सालवन में विश्रामार्थ ठहर गये । जब रात बीती और सबेरा हुआ ॥ १७ ॥

---

१ उत्तानिकां—उन्नतजलत्वेनतदाख्यां । (गो०) २ पार्वतीयैः—पर्वत-देशोत्पन्नैः । * पाठान्तरे—"स कपीवतीम्" ।

अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां सन्ददर्श ह ।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥ १८ ॥

तब वहाँ से रवाना हो भरत ने महाराज मनु की बसाई अयोध्यापुरी देखी। राजगृह से अयोध्या तक आने में, रास्ते में भरत को सात रातें (दिन) लगीं ॥ १८ ॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

दूर ही से अयोध्या को देख, भरत जी सारथी से कहने लगे कि, यह पुरी तो मुझे जगत्प्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे भरे उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी तो नहीं जान पड़ती ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

[1]भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता ।
अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥२१॥

हे सारथे ! दूर से देखने पर तो अयोध्या पीली मिट्टी का एक ढेर सा जान पड़ती है। देखो, अत्यन्त समृद्धशालिनी और राजर्षियों द्वारा पालित अयोध्यापुरी में तो पहले यज्ञकर्त्ता, गुणी एवं वेदपाठी ब्राह्मणों का बड़ा तुमुल शब्द सुनाई पड़ता था ॥ २० ॥ २१ ॥

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।
उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

---

१ भूयिष्ठं—भृशं । (गो०)

और चारो ओर स्त्री पुरुषों का जो बड़ा कोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे आज सुनाई ही नहीं पड़ता । यहाँ के उपवनों में सायङ्काल के समय खेलों से निवृत्त हो, बहुत से पुरुष ॥ २२ ॥

समन्ताद्विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यदा[1] ।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥

इधर उधर दौड़ते हुए पहले देख पड़ते थे, किन्तु आज तो वे उपवन मुझे कामी लोगों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति मे ।
न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ॥ २४ ॥

निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम् ।
उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च ॥ २५ ॥

हे सारथे ! यह अयोध्या नहीं, किन्तु यह तो मुझे उजड़ी हुई अयोध्या का वन जैसा जान पड़ता है । क्योंकि न तो यहाँ कोई सवारी और न कोई हाथी अथवा घोड़ों पर चढ़े प्रतिष्ठित पुरवासी आते जाते देख पड़ते हैं । वाटिकाओं में पहले खूब चहल पहल बनी रहती थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

जनानां रति[2]संयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ।
तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ॥ २६ ॥

---

१ अन्यदा—पूर्वं । (गो०) २ रतिसंयोगेषु—रत्यर्थसंयोगेषु । (गो०)

और वाटिकाएँ विहार करने के लिये एकत्र हुए जनों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों तथा लता गृहादि से शोभायमान होती थीं—उन वाटिकाओं में मुझे आज उदासी सी छाई हुई देख पड़ती है ॥ २६ ॥

स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ।
नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ॥ २७ ॥

संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ।
चन्दनागरुसंपृक्तो धूप[1]सम्मूर्छितोऽतुलः ॥ २८ ॥

प्रवाति पवनः [2]श्रीमान्किन्नु नाद्य यथापुरम् ।
भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसङ्घट्टितः पुनः ॥ २९ ॥

सड़कों के अगल बगल लगे हुए वृक्ष पत्तों से रहित हो मानों चिल्ला चिल्ला कर रोते हुए से जान पड़ते हैं। मदमाते मृगों और पक्षियों के अनुराग में भर कर, कलरव करने का शब्द भी तो आज नहीं सुनाई पड़ती। हे सुत ! इस पुरी में सदा चन्दन और अगर की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा। पहले भेरी मृदङ्ग और वीणा आदि बाजों के बजाये जाने का शब्द बार बार हुआ करता था, ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ।
अनिष्टानि च पापानि[3] पश्यामि विविधानि च ॥३०॥

---

१ धूपसंमूर्छितः—धूपव्याप्तः । (गो०) २ श्रीमान्—रमणीयः । (गो०)
४ पापानि—क्रूराणि । (गो०)

किन्तु आज क्या कारण है, जो वह पहले जैसा प्रसन्न करने वाला शब्द बंद है ? मुझे तरह तरह के अनिष्ट और क्रूर शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३० ॥

[1]निमित्तान्यमनोज्ञानि[2] तेन सीदति मे मनः ।
सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु ॥ ३१ ॥

देखने ही से दुःख देने वाले इन अपशकुनों से मेरा मन दुःखी हो रहा है। इससे मुझे जान पड़ता है कि, मेरे बन्धु बान्धवों का कुशल पूर्वक होना सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

तथा ह्यसति संमोहे[3] हृदयं सीदतीव मे ।
विषण्णः[4] श्रान्तहृदय[5]स्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः[6] ॥ ३२ ॥

हे सूत ! घबड़ाने का कारण न होने पर भी, मेरा हृदय धड़क रहा है, मन उदास है और भय के कारण सब बाह्य इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो रही हैं ॥ ३२ ॥

भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ।
द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छान्तवाहनः ॥ ३३ ॥

भरत जी इक्ष्वाकुपालित अयोध्यापुरी में, पुरी के वैजयन्त नामक पश्चिमद्वार से घुसे। उस समय उनके रथ के घोड़े बहुत थक गये थे ॥ ३३ ॥

---

१ निमितानि—अशुभसूचकानि । (गो०) २ अमनोज्ञानि—दर्शनमात्रेण दुःख कराणि । (गो०) ३ संमोहे—संमोहकारणे । (गो०) ४ विषण्णः—दुखितः । (गो०) ५ श्रान्तहृदयः—कलुषितमनस्कः । (गो०) ६ लुलितेन्द्रियः—क्षुभितबाह्येन्द्रियः । (गो०)

द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्टस्तैः सहितो ययौ ।
स त्वनेकाग्रहृदयो[1] द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य[2] तं जनम् ॥३४॥

भरत जी को देख द्वारपाल उठ खड़े हुए और (रीत्यानुसार) विजय प्रश्न कर उनके साथ हो लिये । उस समय भरत जी का मन व्यग्र हो रहा था । अतः उन्होंने उन द्वारपालों को सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥ ३४ ॥

सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ।
किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनाऽनघ[3] ॥ ३५ ॥

केकयराज का सारथी जो बहुत थक गया था उससे भरत जी ने कहा—हे अनघ ! किस लिये बिना कारण बतलाये शीघ्रता से मैं यहां बुलाया गया हूँ ॥ ३५ ॥

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं[4] च पततीव[5] मे ।
श्रुता नो यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ॥ ३६ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शङ्काएँ उत्पन्न हो रही हैं और मन पर दीनता छाती जाती है । राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण देख पड़ते हैं और जिन्हें मैंने पहले सुन रखे हैं ॥ ३६ ॥

आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे !
संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये ॥ ३७ ॥

---

१ अनेकाग्रहृदयः—व्याकुलमनाः । (गो०) २ प्रत्यर्च्य—सत्कारपूर्वकं निवर्त्य । (शि०) ३ अनघेति—चिन्तासमर्थनोक्तिः । (गो०) ४ शीलं—निर्दैन्यरहितस्वभावः । (शि०) ५ पतति—अधोगच्छतीव । (शि०)

हे सारथे ! आज वे ही सब कुलक्षण मुझे यहां देख पड़ रहे हैं। देखो, गृहस्थों के घर बिना झाड़े बुहारे होने के कारण गंदे जान पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ।
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च ॥ ३८ ॥

द्वारों के किवाड़ खुले पड़े हैं, सब घरों की शोभा नष्ट सी हो गयी है। वे सब बलिकर्म-विहीन, धूपगन्ध रहित हैं, ॥ ३८ ॥

अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ।
अलक्ष्मीकानि[1] पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ॥३९॥

तथा भूखे और हतश्री जनों से भरे हैं। गृहस्थों के मकान मुझे विचित्र ध्वजाओं और वंदनवारों से रहित देख पड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

अपेतमाल्यशोभान्यप्यसंमृष्टाजिराणि च ।
देवागाराणि शून्यानि[2] न चाभान्ति यथापुरम् ॥४०॥

किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती नहीं देख पड़तीं—सब घरों के आंगन बिना झाड़े बुहारे पड़े हैं। देवालयों में पुजारी आदि कोई भी नहीं है, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है ॥ ४० ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च[3] यज्ञगोष्ठ्यश्च[4] तथाविधाः ।
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ॥४१॥

---

१ अलक्ष्मीकानि—विचित्रध्वजतोरणाद्यभावात् । (रा०) २ शून्यानि—पूजापरिचारिकादिरहितानि । (गो०) ३ प्रविद्धाः—लुप्ताः । (गो०) ४ यज्ञगोष्ठ्यः—यज्ञसभा । (गो०)

न तो कोई अब देवताओं का पूजन कर रहा है और न यज्ञशालाओं में यज्ञविधान ही हो रहा है। आज पूजनालाओं को तथा अन्य वस्तुओं को दूकाने सोमहीन हो रही हैं ॥ ४१ ॥

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै।
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारचेष्टिताः[1] ॥ ४२ ॥

यहाँ पर पहले की तरह बनिये भी प्रफुल्ल मन नहीं देख पड़ते। चिन्ता के मारे इनका मन घबड़ाया हुआ है। इनका व्यापार बंद सा हो गया है ॥ ४२ ॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगणास्तथा।
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कुलम्।
सन्नीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

देवताओं के मन्दिरों में तथा देवालय शिखरों में पक्षिगण उदास बैठे हैं। मैले कपड़े पहिने, आँखों में आँसू भरे उदास, चिन्तातुर, दुबले पतले और उत्कण्ठित स्त्री पुरुष ही नुक्कड़ नगर भर में देख पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्त्वा भवनं सूतं तं दीनमानसः।
तान्यरिष्टान्ययोध्यायां पश्यन् राजकुलं ययौ ॥ ४४ ॥

उदास मन सूत जी, इस प्रकार के वचन उस सूत से कहते और अयोध्या में उन अरिष्टों को देखते हुए, राजभवन की ओर गये ॥ ४४ ॥

---

१ पाठान्तरः—शङ्कितोऽभवत् । (वि०)

तां शून्य[1]शृङ्गाटक[2]वेश्मरथ्यां
रजोरुण[3]द्वारकपाटयन्त्राम् ।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

उस इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहे के घरों और गलियों को जनशून्य, और मकानों के किवाड़ों और किवाड़ों के कील काँटों को धूलधूसरित (अर्थात् गर्द्दा पड़ी हुई) देख, भरत जी अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ४५ ॥

बहूनि पश्यन्मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा[4] नात्र* पुरे बभूवुः ।
अवाक्शिरा दीनमना नहृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म ॥ ४६ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

भरत जी ने ऐसी ऐसी अनेक अप्रिय घटनाओं को, जो इसके पूर्व उन्होंने कभी नहीं देखी थीं, देख कर—नीचा सिर किये हुए, उदास मन होने के कारण हर्ष रहित हो, अपने महात्मा पिता के घर में प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ शून्या—जनरहिताः । (गो०) २ शृङ्गाटक वेश्मरथ्याः—चतुष्पथ गृहबोधयोयस्यां । (गो०) ३ रजोरुणद्वारकपाटयंत्राम्—रजोभिः मलिनानि-द्वारस्थकपाटानां दारुबन्धादीनियस्यां । (गो०) ४ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०)

* पाठान्तरे—"नास्य" ।

द्विसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

भरत जी पिता के घर में पिता को न देख, माता के दर्शन की लालसा से अपनी माता के घर में गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी मोपितं सुतम् ।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

बहुत दिनों बाद विदेश से लौट कर घर आये हुए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सोने की चौकी से उठ खड़ी हुई ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।
भरतः प्रतिजग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरत जी ने अपने माता के घर में जा कर देखा कि, घर की शोभा नष्ट हो गयी है। अनन्तर भरत जी ने अपनी माता के शुभ दोनों चरण छुए ॥ ३ ॥

सा मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

उस समय कैकेयी भरत जी का मस्तक सूँघ, उनको हृदय से लगा और गोद में बैठा कर, उनसे पूँछने लगी ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्या[1]र्यक[2]वेश्मनः ।
अपि[3] नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! आज तुमको नाना के घर से चले कितने दिन हो गये ? तुम रथ पर सवार जल्दी जल्दी आये हो, सो रास्ते की थकावट तो तुम्हें कष्ट नहीं दे रही ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे नाना और मामा युधाजित तो बहुत अच्छी तरह से हैं ? बेटा ! जब से तुम विदेश गये, तब से रहे तो अच्छी तरह न ? यह सब मुझसे कहो ॥ ६ ॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयी के इस प्रकार पूँछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का सारा वृत्तान्त कहा ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

हे अम्मा ! नाना का घर छोड़े हुए मुझे आज सात रातें बीत चुकीं । मेरे नाना और मामा कुशल से हैं ॥ ८ ॥

---

१ च्युतस्य—निर्गतस्य । (गो०) २ आर्यकः—मातामहः । (गो०)
३ अपिः—प्रश्ने । (गो०)

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परन्तपः ।
परिश्रान्तं पथ्यभवत्ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥

शत्रुओं का दमन करने वाले राजा केकय ने मुझे विदाई में जो रत्न धन दिये हैं उन सबको मैं रास्ते ही में छोड़ कर आगे चला आया हूँ। क्योंकि सवारियों के जानवर बहुत थक गये थे ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

महाराज का संदेसा ले कर जो दूत गये थे, उनके जल्दी करने पर ही मैं इतनी जल्दी आया हूँ। हे अम्मा ! अब मैं जो कुछ पूछूँ उसका तू उत्तर दे ॥ १० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।
न चायमिक्ष्वाकुजनः[1] प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

तुम्हारा यह सुवर्ण का पलंग महाराज बिना सूना क्यों है ? महाराज के कोई भी जन मुझको प्रसन्न नहीं जान पड़ते ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठं[2]मिहाम्बाया निवेशने ।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

महाराज अधिक तर तेरे ही घर में रहा करते थे—सो वे आज नहीं देख पड़ते। मैं उन्हींके दर्शन करने को यहां आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः ।
—आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

---

१ इक्ष्वाकुजनः—दशरथजनः । (गो०) २ भूयिष्ठ—प्रायुर्येण । (गो०)

इस समय पिता जी कहां हैं ? मुझे यह बतलाओ, क्योंकि मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा। वे क्या मेरी माताओं में सब से बड़ी माता कौशल्या जी के घर में है ? ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी [1]प्रियवद्घोरमप्रियम् ।
अजानन्तं[2] प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में, सारा वृत्तान्त जानने वाली कैकेयी राज्य के लोभ में फँस, महाराज का वृत्तान्त न जानने वाले भरत से, प्रिय संवाद की तरह, घोर अप्रिय वचन बोली ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगतिं ॥१५॥

हे बेटा ! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को तुम्हारे महात्मा, तेजस्वी और सज्जनों के आश्रयस्थल पिता महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं [3]धर्माभिजनवाञ्शुचिः ।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥ १६ ॥

कैकेयी को यह बात सुनते ही, धर्मात्माओं के वंश में उत्पन्न—निष्कपट भरत, पितृशोक से विकल हो, सहसा पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥,

---

१ प्रियवत्—प्रियमिव । (गो०) २ अजानन्तं—राजवृत्तान्तमजानन्तं । (गो०) ३ धर्माभिजनवान्—धर्मयुक्तवंशवान् । (रा०)

और गिरते समय, महाबाहु एवं महाबली भरत जी दोनों हाथ पृथिवी पर पटक "हाय मैं मारा गया" कह कर, करुणापूर्ण वचन बोले ॥ १७ ॥

ततः शोकेन संविग्नः* पितुर्मरणदुःखितः[1] ।
विललाप महातेजा भ्रान्ता[2]कुलितचेतनः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भरत, पिता के मरने का संवाद सुनने के कारण, शोक और दुःख से विकल हो, घबड़ा गये और विलाप करने लगे ॥ १८ ॥

एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

बादलों के विदा होने पर अर्थात् शरत्काल में चन्द्रमा से आकाश की जैसी शोभा होती है, पहले वैसी ही शोभा मेरे पिता की इस सेज की थी ॥ १९ ॥

यदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इव सागरः ॥२०॥

आज उन बुद्धिमान पिता जी के विना चन्द्रहीन आकाश और जलहीन सागर की तरह यह सेज बुरी मालूम पड़ती है ॥ २० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन सार्तः परमपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्वस्त्रेण जयतांवरः[3] ॥ २१ ॥

---

१ मरणदुःखितः—मरणश्रवणेनसञ्जातदुःखः । (गो०) २ भ्रान्ता—अनवस्थिता । (गो०) ३ जयतांवरः भरतः । (शि०) * पाठान्तरे—"संवीतः" ।

इस प्रकार भरत अपना मुख वस्त्र से ढक आंसू बहाते, अत्यन्त व्यथित हो गद्गद् कण्ठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसङ्काशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥

जिस प्रकार वन में कुल्हाड़ो से कटा हुआ शालवृक्ष का गुद्दा गिर पड़ता है, उसी प्रकार देवता के समान भरत जो पिता को मृत्यु से दुःखित हो भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसङ्काशं चन्द्रार्कसदृशं भुवः ।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह देख, कैकेयी चन्द्र, सूर्य और हाथी के समान तेजस्वी शोकाकुल अपने पुत्र को, पृथिवी से उठा कर उससे बोली ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः ।
त्वद्विधा न हि शोचन्ति सन्तः सदसिसम्मताः[1] ॥२४॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! उठो ! उठो !! तुम ज़मीन पर क्यों पड़े हो ? तुम जैसे सज्जन और सभ्य लोग कभी शोक नहीं करते ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शील[2]श्रुति[3]वचोनुगा ।
बुद्धिस्ते[4] बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य[5] मन्दिरे ॥ २५ ॥

---

१ सदसिसमताः—सभ्या इत्यर्थः । (गो०) २ शीलं—सद्वृत्तं । (गो०) ३ श्रुतिवचोवेदवाक्यं । (गो०) ४ बुद्धिः—अध्यवसाय । (गो०) ५ अर्कस्यप्रभामन्दिरइव— सूर्यप्रभायथास्वस्थानेनिश्चलाभवति तथातेबुद्धिर्निश्चलाभातीत्यर्थः । (गो०)

हे बुद्धिमान्! जिस प्रकार सूर्य की प्रभा अपने स्थान पर निश्चल होती है—उसी प्रकार तुम्हारा अध्यवसाय, जो दान, यज्ञ, सदाचरण और वेदवाक्यों का अनुसरण करने वाला है—निश्चल है ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपरिवृत्य च ।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

इस प्रकार माता के समझाने पर भी भरत बहुत देर तक भूमि पर लोटते और रोते रहे। तदनन्तर अत्यन्त शोकाकुल हो माता से बोले ॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्[1] ॥ २७ ॥

हे अम्मा! मैंने तो यह समझा था कि, महाराज श्रीराम को राज्य देंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे। इसीलिये मैं प्रसन्न हो वहाँ से चला था ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

किन्तु इस समय उसके विपरीत बात देख, मेरा मन फटा जाता है। क्योंकि अब मैं अपने सदाहितैषी पिता को नहीं देख पाता ॥ २८ ॥

---

१ यात्रामयासिषम्—यात्रामकार्षं । (गो०)

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२९॥

हे अम्मा ! महाराज को क्या बीमारी हुई थी कि, मेरे आने के पूर्व ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया। धन्य है श्रीराम आदि भाई, जिन्होंने पिता की और्द्धदैहिक क्रिया की होगी ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्त्तिमान् ।
उपजिघ्रेद्धि मां मूर्ध्नि तातः सन्नम्य सत्वरम् ॥३०॥

निश्चय ही कीर्तिशाली महाराज को यह नहीं मालूम कि, मैं यहाँ आ गया हूँ—नहीं तो वे अवश्य अपना मस्तक झुका मेरे सिर को तुरन्त सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः ।
येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

हा ! महाराज का वह हाथ, जो अंग से स्पर्श करते ही सुख दिया करता था और मेरे धूलधूसरित शरीर को धूल बार बार झाड़ता था, कहाँ गया ? ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

अब जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु भी हैं, और जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उन श्रीरामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला कि, वे कहाँ है ? ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्मंमार्यस्य[1] जानतः ।
तस्य पादौ गृहीष्यामि स ह्यदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

क्योंकि धर्मज्ञ और विवेकी जन का जेठा भाई पिता के तुल्य होता है। अतः मैं उनके पैर पकड़ूँगा क्योंकि अब तो मुझे उन्हीं का सहारा है ॥ ३३ ॥

धर्मविद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।
आर्यः किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

हे माता ! धर्मज्ञ और धर्म में निरत रहने वाले, सत्यप्रतिज्ञ, तथा दृढ़व्रत महाराज मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गये हैं अथवा मेरे लिये क्या कह गये हैं ॥ ३४ ॥

पश्चिमं[2] साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।
इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

जो मैं अपने विषय में महाराज का अन्तिम काल का संदेसा सुनना चाहता हूँ भरत जी के ऐसा पूँछने पर कैकेयी ने जो ठीक बात थी वही कही ॥ ३५ ॥

रामेति राजा विलपन्हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

(कैकेयी बोली मरते समय महाराज ने तुम्हारा तो नाम भी नहीं लिया) उत्तम गति को प्राप्त होने वालों में श्रेष्ठ महाराज,

---

१ धर्मंमार्यस्यजानतः—धर्मंजानत आर्यस्य श्रेष्ठस्य विवेकिनः पुरुषस्य । (रा०) २ पश्चिमं संदेशं—अन्त्यकालिकम् । (रा०)

हा राम ! हा सीता ! हा लक्ष्मण ! ऐसा विलाप करते हुए, परलोक सिधारे हैं ॥ ३६ ॥

इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मपरिक्षिप्तः[1] पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

बड़ा हाथी जिस प्रकार बंधन में बाँधा जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने काल और धर्म के वश हो कर, अन्तिम समय यह कहा था ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

कि, वे नर ही सफल मनोरथ होंगे, जो सीता सहित श्रीराम और लक्ष्मण को वन से लौटा हुआ देखेंगे ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

जब कैकेयी ने यह दूसरी अप्रिय बात कही, तब भरत जी और भी अधिक उदास हुए और फिर माता से पूँछने लगे ॥ ३९ ॥

क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः ॥ ४० ॥

हे अम्मा ! वे धर्मात्मा और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराम, इस समय सीता और लक्ष्मण के सहित कहाँ हैं ? ॥ ४० ॥

---

१ कालधर्मपरिक्षिप्तः—कालधर्मेभ्यः शरीरविकारादिभ्यः परित्यक्तः । (शि०)

तथा पृष्टा यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
माताऽस्य [1]युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशङ्कया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भरत जी के पूँछने पर उनकी माता कैकेयी ने ज्यों की त्यों समस्त घटना सुनानी आरम्भ की। उसने समझा कि, इस दारुण अप्रिय घटना का वृत्तान्त सुन, भरत अवश्य प्रसन्न होंगे ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।
दण्डकान्सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! वे राजकुमार चीर को धारण कर, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन को चले गये हैं ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

कैकेयी के मुख से श्रीराम का वन जाना सुन—भरत जी के मन में भाई के चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ और वे बहुत भयभीत हुए। क्योंकि वे अपने वंश की महिमा जानते थे। उन्होंने माता से फिर पूँछा ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

हे माता ! क्या श्रीरामचन्द्र ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था ? अथवा बिना अपराध किसी धनाढ्य या दरिद्री की हत्या की थी ? ॥ ४४ ॥

---

१ युगपत्—राजमरणकथनसमकालमेव । (गो०)

कंचिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात्स दण्डकारण्ये [1]भ्रूणहेव विवासितः ॥ ४५ ॥

अथवा किसी परस्त्री को और बुरी दृष्टि से देखा था? किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययनसम्पन्न श्रीराम वन में निकाले गये? ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् ।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन[2] व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब भरत की चपल मति माता ने अपनी ज्यों की त्यों करनी, स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता-वश कहनी आरम्भ की ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।
उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

जब भरत ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह मूर्खा और अपने को पण्डिता समझने वाली, प्रसन्न हो कर यह बोली ॥४७॥

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्धृतं रामेण धीमता ।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥४८॥

बेटा! बुद्धिमान राम ने न तो किसी ब्राह्मण का धन छीना और न बिना अपराध किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही किया ॥ ४८ ॥

---

१ भ्रूणः—श्रुताध्ययन सम्पन्नः । (गो०) २ स्त्रीस्वभावेन—चापलेन । (गो०) धर्माधर्महिताहितोचितानुचितविवेकशून्यतारूपेण । (रा०)

न रामः परदारांश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ।
मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम् ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्र परस्त्री को तो आँख उठा कर भी कभी नहीं देखते । किन्तु हे पुत्र ! मैंने जब श्रीराम के अभिषेक की बात सुनी, ॥ ४९ ॥

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।
स स्ववृत्ति[1] समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत् ॥५०॥

तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामचन्द्र के लिये वनवास माँगा । अतः अपनी सत्यप्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया ॥ ५० ॥

रामश्च सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।
तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥ ५१ ॥

उन्होंने श्रीरामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण सहित वन में भेज दिया और महायशस्वी महाराज दशरथ उन प्रियपुत्र श्रीराम को न देखने के कारण ॥ ५१ ॥

पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ।
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

पुत्रशोक से पीड़ित हो, पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मर गये) । हे धर्मज्ञ ! अब तुम राजकाज सँभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिये इस प्रकार ये सब काम मैंने किये हैं ॥ ५२ ॥

---

१ स्ववृत्तिं—स्वप्रतिज्ञारूपांवृत्तिं । (गो०)

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्* ॥ ५३ ॥

हे वत्स ! तुम दुःखी मत हो और न सन्ताप ही करो । तुम धीरज रखो । क्योंकि यह अयोध्यापुरी और बिना राजा का यह राज्य अब तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।
सङ्कल्प्य[1] राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

अतः तुम इस घड़ी विधि जानने वाले वशिष्ठादि ब्राह्मणों के साथ शीघ्र यथाविधि महापराक्रमी अपने पिता की प्रेतक्रिया समाप्त कर, राज्यासन ग्रहण करो और अपने मन को हिरास मत करो ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिसप्ततितमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ ।
भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ सङ्कल्प्य—संस्कृत्य । (गो०) * पाठान्तरे—"अनामयं ।"

पिता का मरण, और दोनों भाइयों के वन में निकाले जाने का वृत्तान्त सुन, भरत दुःख से सन्तप्त हो, कैकेयी से यह वचन बोले ॥ १ ॥

किन्नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्राता पितृसमेन च ॥ २ ॥

पिता और पिता के समान भाई से रहित होने के कारण मेरा, तो सर्वनाश हो गया । ऐसी शोच्य दशा में मैं राज्य ले कर करूँगा ही क्या ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवादधाः ।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

तूने महाराज दशरथ को मार और श्रीराम को तपस्वी बना, मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिया, मानों घाव पर निमक छिड़का ॥३॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगूह्य*त्वां पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

तू कालरात्रि के समान इस कुल का सत्यानाश करने को यहाँ आई है । मेरे पिता ने जलते हुए अंगारे को समान अनजाने तुझे घर में रखा ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि ।
सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसिनि ॥ ५ ॥

अरी पापिष्ठे ! तूने महाराज को मार डाला । अरी कुल-नाशिनी ! तूने मोहवश हो सहसा ही इस घराने का सारा सुख नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

---

* पाठान्तरे—"गृह्यस्म" ।

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः ।
तीव्रदुःखाभिसन्तप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञ एवं महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ ने तुझे पा कर, बड़ा दुःख और सन्ताप भोगा ॥ ६ ॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।
कस्मात्त्वयाजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

तूने क्यों उन धर्मवत्सल मेरे पिता महाराज दशरथ को मार डाला और क्यों श्रीरामचन्द्र को वनवास दिलवाया और वे क्यों वन में चले गये ? ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाग्निपीडिते ।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

तुझ जैसी मेरी जननी के साथ रह कर, कौशल्या और सुमित्रा का पुत्रशोक से पीड़ित हो कर, जीवित रहना बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

ननु त्वार्योऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिं[1]मनुत्तमाम् ।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई श्रीरामचन्द्र, जो गुरुजनों की सेवा करना जानते हैं, तेरी भी तो वैसी ही सेवा करते थे, जैसी कि वे अपनी जननी कौशल्या की किया करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी[2] ।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

---

१ वृत्तिं—शुश्रूषां । (गो०) २ दीर्घदर्शिनी—दूरकालभाव्यनर्थदर्शिनी । (गो०)

मेरी बड़ी माता कौशल्या जो भावी विपत्ति को जानती थी, धर्मपूर्वक तेरे साथ सगी बहिन जैसा व्यवहार करती थी ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥ ११ ॥

उसीके महात्मा पुत्र को चीर और वल्कल पहिना कर, तूने वन में भिजवा दिया। अरी पापिन ! तिस पर भी तुझे दुःख क्यों नहीं होता ? ॥ ११ ॥

अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।
प्रव्राज्य चीरवसनं किन्नु पश्यसि कारणम्[1] ॥ १२ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र ने कभी दुःख नहीं देखा, ऐसे शूर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र को चीर पहना कर और वन में भिजवा कर, तूने क्या फल पाया ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति ।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥१३॥

मेरी श्रीरामचन्द्र में कैसी भक्ति है—यह बात तूने न जानी। इसीसे तूने लालच में फँस, राज्य के लिये यह महाअनर्थ कर डाला ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन्रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्तिप्रभावेन राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

मैं उन पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण को देखे बिना, किस शक्ति के प्रभाव से इस राज्य की रक्षा कर सकूँगा ॥ १४ ॥

---

१ कारणम्—फलं । (गो०)

तं हि नित्यं महाराजो वलवन्तं महावलः ।
अपाश्रितोऽभूद्धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥ १५ ॥

मेरी तो गिनती ही किसमें है, महाराज दशरथ जी उन्हीं वल-वान और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र का उसी प्रकार सदा भरोसा रखते थे जिस प्रकार मेरु पर्वत निकटस्थ वन पर भरोसा रखता है ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्धृतम् ।
[1]दम्यो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥

अतएव मैं क्यों कर और किसके भरोसे इस बड़े भारी राज्य-भार को उठा सकूँगा । जिस भार को बड़ा बलवान बैल खींच सकता है, उसे छोटी उम्र का बछड़ा क्यों कर खींच सकता है ? ॥ १६ ॥

अथवा मेऽभवेच्छक्तिः [2]योगैर्बुद्धि बलेन[2] वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम्[4] ॥१७॥

यदि मैं सामदानादि उपायों से अथवा बुद्धिवल से इस राज्य-भार को उठा भी सकूँ, तो भी पुत्र के राज्य की अभिलाषा करने वाली तेरी यह कुत्सित साध मैं कभी पूरी न होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुंत्वां पापनिश्चयाम् ।
यदि रामस्य *नापेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा ॥१८॥

---

१ दम्भः—तरुणवत्सइव । (गो०) २ योगैः—सामादानाद्युपायैः । (गो०) ३ बुद्धिबलेन—ग्रहणधारणाद्यर्थं युक्तबुद्धिबलेनवा । (गो०)
४ पुत्रगर्धिनीम् —पुत्र प्रयोजनाभिलाषवती । (गो०)
* पाठान्तरे—" नावेक्षा " ।

यदि श्रीराम को तुझमें माता के समान श्रद्धा न होती, तो मैं तुझ पापिन को अवश्य त्याग देता ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

अरे पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करने वाली यह बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हुई ॥ १९ ॥

अस्मिन्कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
[1]अपरे भ्रातरस्तस्मिन्प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

क्योंकि इस राजवंश में पीढ़ियों से यह चाल चली आती है कि, सब भाइयों में जो बड़ा होता है वही राजगद्दी पर बैठता है और (छोटे) सब भाई उसके अधीन रहते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं [2]राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं[3] वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥२१॥

अरे नृशंसे ! तेरी दृष्टि राजधर्म की ओर नहीं है और न तू राजधर्म से सनातन विविध प्रकारों ही को जानती है ॥ २१ ॥

सततं राजवृत्ते[4] हि ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

राजधर्मानुसार जो ज्येष्ठ होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है । यही प्रथा सब राजाओं में है । तिसमें भी इक्ष्वाकुकुल में तो इसका विशेष आग्रह है ॥ २२ ॥

---

१ अपरे—कनिष्ठाभ्रातरः । (गो०) २ राजधर्मं—राज्ञांविहितं धर्मं । (गो०) ३ गतिं—प्रकारंवा । ४ राजवृत्ते—राजधर्मे । (रा०)

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्र[1]शोभिनाम् ।
अत्र चारित्रशौण्डिर्यं[2] त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥

आज तूने, धर्म प्रतिपालक एवं अच्छे चरित्र से सुशोभित इक्ष्वाकुवंश का सदाचार सम्बन्धी गर्व धूल में मिला दिया ॥२३॥

तवापि सुमहाभागा[2] जनेन्द्राः[3] कुलपूर्वगाः[4] ।
बुद्धेर्मोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

तेरा भी तो एक सुचरित्र कुलीन राजवंश में जन्म हुआ है। फिर क्यों कर तेरी बुद्धि में ऐसा गर्हित मोह उत्पन्न हुआ—अर्थात् कैसे तेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गयी ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
त्वया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

हे पापिन ! याद रख, चाहे जो कुछ हो मैं तेरी साध कभी पूरी न करूँगा। क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपञ्च का सूत्रपात किया है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।
निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

मैं तो तुझे खिजाने के लिये स्वजनों के प्यारे एवं निर्दोष बड़े भाई श्रीरामचन्द्र को अब वन से लौटा लाता हूँ ॥ २६ ॥

---

१ कुलचरित्र—कुलक्रमागतचरित्रं । (गो०) २ चारित्रशौडीर्यं—चरित्रगर्वितत्वं । (गो०) ३ जनेन्द्राः—राजानः । (गो०) ४ कुलपूर्वगाः—कुलज्येष्ठाः । (गो०)

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

मैं श्रीराम जी को केवल वन से लौटा ही न लाऊँगा, प्रत्युत उनका दास बन कर और मन लगा कर उनकी सेवा भी करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैः[1]वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकातुरश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा पर्वतगह्वरस्थः ॥ २८ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भरत जी अनेक कठोर वचनों से कैकेयी को मर्माहत करते हुए और स्वयं शोक से कातर हो, मन्दराचल की कन्दरा में बैठे हुए सिंह की तरह पुनः गरज कर बोले ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

---

१ प्रियेतरैर्दुःखकरैः । (रा०)

इस प्रकार भरत जी माता को धिक्कार कर और अत्यन्त कुपित हो, फिर अपनी माता कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्ता च धर्मेण [1]मामृतं रुदती भव ॥ २ ॥

हे निष्ठुर हृदये ! हे दुष्टे ! तू राज्यभ्रष्ट हो, (अर्थात् तू भी वन में चली जा) क्योंकि तू अधर्मिन है। अब मैं मरता हूँ, तू मेरे लिये रो, अथवा तू पतिव्रताधर्म को जब त्याग ही चुकी ; तब तुझे उचित है कि, तू मृतपति के लिये मत रो ॥ २ ॥

किन्नु तेऽदूषयद्राजा रामो वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्य[2]मागतौ ॥ ३ ॥

भला बता तो कि, महाराज ने और परमधार्मिक श्रीरामचन्द्र ने तेरा क्या बिगाड़ा था जो तूने एक ही समय में महाराज को तो मार डाला और श्रीरामचन्द्र को वन में निकाल दिया ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! इस प्रकार वंश का नाश करने से तुझे गर्भस्थ बालक को मार डालने जैसा पाप लगा है (गर्भ गिराने जैसा) अतः तू नरक में गिर । क्योंकि तू मेरे पिता के लोक में जाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ ४ ॥

---

१ मामृतं रुदती भव—प्राणहानिकरकार्यकरणान्ममृतंमत्वारोदनं कुर्वित्यर्थः । यद्वामृतं भर्तारं उद्दिश्य रुदती च मा भव पतिआर्यामावस्यगतत्वादिति भावः । (गो०) २ तुल्यं—युगपत् । (गो०)

यत्त्वया हीदृशं[1] पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

क्योंकि तूने घोर कर्म कर ऐसा पाप कर्म किया है। तूने सर्व-लोक-प्रिय श्रीरामचन्द्र का त्याग कर, मेरे लिये केवल राज्य सम्पादन ही नहीं किया, प्रत्युत भय भी उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरी ही करतूत से मेरे पिता को जान गयी और भाई श्रीराम वनवासी हुए और इस संसार में मुझे बदनाम किया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

तू बड़े ही कठोर हृदय की है; तुझे राज्य का लालच है, तू मेरी माता नहीं, बल्कि माता के रूप में मेरी शत्रु है। अरी दुष्ट! अरी पतिघातिनि! तू मुझसे बोलने योग्य नहीं है अर्थात् मुझसे मत बोल ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥

अरे कुल में बट्टा लगाने वाली! तेरी ही करतूत से, कौशल्या, सुमित्रा तथा मेरी अन्य माताएँ, बड़े दुःख में पड़ी हुई हैं ॥ ८ ॥

---

१ इदृशं—रामविवासनेभर्तृमरण रूपं । (गो०)

न त्वमश्वपतेः[1] कन्या धर्मराजस्य[2] धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

तू बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा महाराज अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं है। तू तो मेरे पिता के कुल का नाश करने के लिये अश्वपति के घर में राक्षसी पैदा हुई है ॥ ९ ॥

यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥१०॥

तूने उन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र को, जो सदा सत्य में तत्पर रहते हैं, वन में भिजवा दिया और उनके वियोगजनित शोक से पीड़ित कर, पिता को परलोक भेजा ॥ १० ॥

यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विनाकृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

यह पापकर्म तो तू ने किया और इसका फल भुगतना मुझको पड़ा कि, मैं पिताहीन हो गया, दोनों भाइयों से बिछुड़ गया और सब लोगों का बुरा बन गया ॥ ११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां[3] पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे त्वद्य लोकं[4] निरयगामिनि ॥१२॥

---

१ नत्वमश्वपतेःकन्या—तत्कुलोचितकन्यानभवति । (गो०) २ धर्मराजस्य—धर्मप्रधानराजस्य । (गो०) ३ वियुक्तां—पतिपुत्रवियुक्तां । (रा०) ४ कंलोकं—कं नरकलोकम् । (रा०)

अरी पापिन ! अरी नरक में जाने वाली, यह तो बतला कि धर्मचारिणी कौशल्या का पति और पुत्र से विद्रोह करवा तू अब किस नरक में गिरेगी ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं[1] बन्धुसंश्रयम्* ।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्ट ! क्या तुझे यह नहीं मालूम था कि, श्रीराम बन्धु बान्धवों के सदा आधारभूत हैं तथा ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण मेरे लिये पिता के समान हैं और महारानी कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि[2] जायते ।
तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रियत्वान्न तु बान्धवः ॥१४॥

यों तो देखा जाय तो बन्धुबान्धव सभी प्रिय होते हैं, किन्तु सब से अधिक पुत्र ही माता को प्रिय होता है—क्योंकि वह माता के अङ्ग प्रत्यङ्ग से और हृदय कमल से भी जन्म ग्रहण करता है अर्थात् ऐसी परम वस्तु का वियोग एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है—उसे तो तूने ज़रा विचारा होता ॥ १४ ॥

[उक्त श्लोक में "अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । आत्मावैपुत्र नामासि ।" श्रुति का अर्थ गर्भित है ।]

अन्यदा[3] किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता[4] ।
वहमानौ[5] ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ[6] ॥ १५ ॥

---

१ नियतं—नितरां । (शि०) २ हृदयात्—हृदयपुण्डरीकात् । (गो०) ३ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०) ४ सुरसंमता—देवपूजिता । ५ वहमानौ हलमितिशेषः । (गो०) ६ विगतचेतसौ मूर्छितावित्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—"बुद्धिसंश्रया" ।

तावर्धदिवसे श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन वाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ १६ ॥

(पुत्र शोक एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है इसका दृष्टान्त भरत जी देते हैं ।) यह दृष्टान्त धर्मज्ञों का कहा हुआ है। पूर्वकाल में एक दिवस, देवताओं की पूज्या कामधेनु ने देखा कि, उसके दो पुत्र हल खींचते दोपहर के समय, थक जाने के कारण मूर्छित हो गये हैं। पुत्रों के दुःख से दुःखी कामधेनु आंखों से आँसू गिराती हुई, रोने लगी ॥ १५ ॥ १६ ॥

अधस्ताद्व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
विन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥१७॥

उसी समय किसी काम के लिये देवराज इन्द्र भूलोक में यात्रा कर रहे थे। उस समय उनके शरीर पर सुगन्धित और सूक्ष्म कामधेनु के आंसुओं की बूंदें पड़ीं ॥ १७ ॥

इन्द्रोप्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं[1] तां सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

इन्द्र के शरीर पर कामधेनु के जो आंसू गिरे थे, उनमें से सुगन्धि निकलती देख, इन्द्र ने जान लिया कि, कामधेनु सब से उत्तम है ॥ १८ ॥

निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥१९॥

---

१ भूयसीं श्रेष्ठाम् । (गो०)

तब चौंक कर इन्द्र ने ऊपर की ओर देखा तो आकाश में खड़ी और अत्यन्त दुःखित हो रोती हुई बिचारी कामधेनु को पाया ॥ १९ ॥

तां दृष्ट्वा शोकसन्तप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥ २० ॥

उस यशस्विनी कामधेनु को शोकसन्तप्त देख वज्रधारी सुरराज इन्द्र बहुत घबड़ाये और हाथ जोड़ कर कामधेनु से कहने लगे ॥ २० ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् ।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २१ ॥

हे सब लोकों की हितैषिणी ! तू क्यों रो रही है ? क्या हम लोगों के ऊपर कोई महा विपत्ति पड़ने वाली है, जिससे तू इतनी दुःखी हो रही है । अपने दुःख का कारण तो बतला ॥ २१ ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २२ ॥

बुद्धिमान इन्द्रराज ने जब ऐसा कहा, तब बात कहने में चतुर कामधेनु ने धीरज धर कर यह उत्तर दिया ॥ २२ ॥

शान्तं पापं न वः किञ्चित्कुतश्चिदमराधिप ।
अहं तु मन्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥२३॥

हे देवराज ! नहीं नहीं, तुम लोगों के भय की कोई बात नहीं है । मुझे तो अपने इन दो पुत्रों को दुःखी देख, दुःख हो रहा है ॥ २३ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
अर्द्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण सुराधिप ॥ २४ ॥

देखो ये दोनों बैल कैसे दुबले हो रहे हैं, तिस पर भी सूर्य के ताप से सन्तप्त हो, ये बेचारे दीन हो रहे हैं। हे सुरराज! किसान ने इन दोनों को मारा पीटा भी है ॥ २४ ॥

मम कायात्मसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २५ ॥

ये दोनों मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनको दुःखी और हल में जुतने के भार से पीड़ित देख, मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है —क्योंकि माता के लिये अपने पुत्र से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ २५ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान्मन्यते परम् ॥ २६ ॥

जिसके सहस्रों पुत्रों से यह समस्त जगत भरा पड़ा है, उसे अपने दो पुत्रों के लिये रोते हुए देख, इन्द्र ने जाना कि, माँ को पुत्र से बढ़ कर और कोई वस्तु प्यारी नहीं है ॥ २६ ॥

सदाऽप्रतिमवृत्तायाः लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या[1] गुणनित्यायाः स्वभावपरिवेषया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि साऽपि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति ॥२८॥

---

१ श्रीमत्या—समृद्धिमत्याः । (गो०)

कामधेनु लोकों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से सब के साथ एक सा वर्ताव करती है और सबके मनोरथ पूर्ण करने की सामर्थ्य भी रखती है, उसके अनन्त पुत्र रहते हुए भी, जब वह कामधेनु मातृ-स्वभाव-सुलभ पुत्र-स्नेह-वश दो पुत्रों के दुःख से दुःखित हो गयी, तब हे कैकेयी ! बतला तो, कौशल्या अपने एकमात्र पुत्र के बिना क्यों कर जीवित रह सकेगी ॥ २७ ॥ २८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवित्सेयं त्वया कृता ।
तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥२९॥

इस समय तूने एक पुत्र वाली एवं साध्वी कौशल्या से उसके पुत्र का विद्रोह करा दिया है, अतः तू इस लोक और परलोक में सदा ही दुःख भोगेगी ॥ २९ ॥

अहं ह्यपचितिं[1] भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

मैं तो अब पिता का और्द्धदेहिक कृत्य कर और भाई की सेवा कर, निस्सन्देह सम्पूर्ण रूप से उनका सम्मान करूँगा और उनके यश को बढ़ाऊँगा ॥ ३० ॥

आनाययित्वा तनयं कौसल्याया महाबलम् ।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम् ॥ ३१ ॥

मैं उन महाबली कौशल्यानन्दन को वन से लौटा कर, स्वयं मुनिसेवित वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

न ह्यहं पापसङ्कल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥

---

१ अपचितिं—पूजां । (गो०)

क्योंकि हे दुष्ट विचारोंवाली पापिष्ठा ! जब पुरवासी मेरी ओर आंसू भरे नेत्रों से देखेंगे, तब मैं तेरे इस पापपूरित कृत्य को कैसे सहन कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान्विश ।
रज्जुं वधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥३३॥

अब तो तुझे यही उचित है कि, या तो तू अग्नि में गिर कर भस्म हो जा, या दण्डकवन में चली जा या गले में फांसी लगा क्योंकि बिना मरे तेरे लिये और कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनिं[1] प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।
कृतकृत्यो भविष्यामि विमत्रासितकल्मषः ॥ ३४ ॥

मेरे मन की कसक तभी मिटेगी और मैं अपने को तभी कृतकृत्य मानूँगा, जब सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र लौट आवेंगे ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशचोदितः ।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३५ ॥

भरत जो इस प्रकार विलाप करते करते तोमर और अंकुश के मारने से उत्तेजित हाथी की तरह, क्रोध में भर, पृथिवी पर गिर, सर्प की तरह फुँफकारने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परन्तपः ।

---

१ अवनिं—अयोध्याभूमिं । (शि०)

बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय भरत के (मारे क्रोध के) नेत्र लाल हो गये। शरीर पर जो वस्त्र वे पहिने हुए थे, वे ढीले हो गये। सब गहने खिसक पड़े। जिस प्रकार उत्सव के अन्त में इन्द्र की ध्वजा पृथिवी पर गिरती है, वैसे ही राजकुमार भरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पराक्रमी भरत जी ने बहुत देर बाद सचेत हो, नेत्रों में आँसू भर तथा माता को दीन देख ॥ १ ॥

सोमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।
राज्यं न कामये जातु[1] मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥

और मंत्रियों के बीच बैठ, माता की निन्दा की, (इसलिये कि; मंत्रियों को बतावें कि, उनको माता ने जो कुछ किया उसमें उनकी सम्मति नहीं थी) वे बोले, मेरी तो कभी यह अभिलाषा नहीं है

---

१ जातु—कदाचिदपि। (गो०)

कि, मैं राज्य करूँ और न इस विषय में कभी माता से मैंने परामर्श ही किया (अथवा दिया) ॥ २ ॥

अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः ।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ ३ ॥

न मुझे इसकी कुछ भी खबर थी कि, महाराज ने श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना विचार था। क्योंकि मैं तो शत्रुघ्न सहित यहाँ से बहुत दूर पर था ॥ ३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।
विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत् ॥ ४ ॥

अतः मुझे महात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का भी हाल न मिला कि, वह किस प्रकार से हुआ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः ।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रोते चिल्लाते हुए भरत जी का कण्ठस्वर पहिचान कर, कौशल्या जी सुमित्रा जी से यह बोलीं ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्[1] ॥ ६ ॥

जान पड़ता है—निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है। मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है ॥ ६ ॥

---

१ दीर्घदर्शिनम्—अतिज्ञानवन्तं । (शि०)

एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कृशा ।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना ॥ ७ ॥

श्रीराम के विछोह के शोक से अति दुर्बल गात, कान्तिहीन मुख वाली कौशल्या थरथर काँपती हुई और अचेत सी भरत जी की ओर चलीं ॥ ७ ॥

स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उधर श्रीराम के छोटे भाई भरत जी भी शत्रुघ्न को साथ ले कौशल्या के भवन की ओर चले ॥ ८ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥

कौशल्या को दुःखी और बहकी बहकी देख, दोनों भाई—भरत और शत्रुघ्न अत्यन्त दुःखित हो कौशल्या से लिपट कर रोने लगे ॥ ९ ॥

रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्या[1] मनस्विनीम् ।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

ज्येष्ठामाता कौशल्या उस समय अत्यन्त दुःखित हो, शोक के मारे रोते हुए भरत जी को लिपटा कर, कहने लगी ॥ १० ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
सम्प्राप्तं वत कैकेय्या क्षिप्रं क्रूरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

---

[1] आर्यां—ज्येष्ठां मातरं । (गो०)

तुमने राज्य पाने की कामना की थी सो क्रूर कर्म करने वाली तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म कर के, तुम्हें निष्कण्टक राज्य दिला दिया ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् ।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

और मेरे पुत्र को चीर पहिना कर और वन में भेज कर, इस क्रूरदर्शिनी ने क्या लाभ उठाया । (क्योंकि बिना ऐसा किये भी तो वह तुझे राज्य दिला सकती थी) ॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।
[1]हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

कैकेयी को उचित है कि, जहां मेरे सुवर्ण जैसे शरीर के रंग-वाले महायशस्वी श्रीराम हैं, वहां मुझे भी तुरन्त भेज दे ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।
अग्निहोत्रं[2] पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को अपने साथ ले और अग्निहोत्र की आग को आगे कर, वहां चली जाऊँगी, जहां मेरे श्रीराम हैं ॥ १४ ॥

[महाराज दशरथ अग्निहोत्र करते थे । महारानी कौशल्या उनकी प्रधान ज्येष्ठा रानी थी । अतः पति के साथ अग्निहोत्र करने का अधिकार उन्हींको था । इसीसे कौशल्या ने यह कहा कि, अग्निहोत्र की आग को ब्राह्मण के ऊपर रखवा उसके पीछे मैं चली जाऊँगी ।]

---

१ हिरण्यनाभः—हिरण्यवत्स्पृहणीयनाभियुक्तः । नाभिग्रहणं शरीरस्योपलक्षणं । (गो०) २ अग्निहोत्रं—राजाग्निहोत्रं । (गो०) अग्निहोत्रस्थज्येष्ठा भार्याधीनत्वात् दशरथेन भरतसंस्कार प्रतिषेधाच्चेतिभावः । (गो०)

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥ १५ ॥

अथवा तू ही मुझे वहाँ कर आ, जहाँ पुरुषसिंह मेरा पुत्र तप करता या दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं[1] तया ॥ १६ ॥

तुझे तो कैकेयी ने ये धनधान्य से परिपूर्ण तथा हाथी, घोड़ों और रथों से भरा पूरा राज्य दिलवा ही दिया है ॥ १६ ॥

इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः ।
विव्यथे भरतस्तीव्रं वणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥

जब कौशल्या ने इस प्रकार के कठोर वचनों के ताने मारे, तब भरत जी को वैसा ही क्लेश हुआ, जैसा कि, घाव में सुई चुभाने से होता है ॥ १७ ॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः ।
विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततः स्थितः ॥ १८ ॥

कौशल्या जी की बातें सुन भरत जी का मन उद्विग्न हो गया । अतः उनको कर्त्तव्य विषयक ज्ञान न रहा । जब उन्हें चेत हुआ तब बहुत विलाप कर, वे कौशल्या जी के चरणों में गिर पड़े ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा ।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥

---

१ निर्यातितं—दापितं । (गो०)

इस प्रकार विलाप करती हुई तथा महाशोकग्रस्त कौशल्या से वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्बिषम् ।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥ २० ॥

हे माता ! तुम जानती हो कि, श्रीरामचन्द्र में मेरी कितनी अधिक दृढ़ प्रीति है। मैं इस मामले में नितान्त अनभिज्ञ और निर्दोष हूँ । ऐसा होने पर भी तुम मेरी निन्दा क्यों करती हो ॥ २० ॥

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत्तस्य कदाचन ।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

सत्यसन्ध और सज्जनों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जिसकी सम्मति से वन भेजे गये हों, वह पढ़े हुए शास्त्रों को भूल जाय। इसका भाव यह है, कि यदि श्रीराम के वन भेजने में मेरी अनुमति रही हो, तो मेरा श्रुति स्मृति सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाय ॥ २१ ॥

प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।
हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, वह पापात्मा नीच जाति का सेवक हो ; सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र त्याग करने का और सोती हुई गौ के लात मारने का पाप उसे लगे ॥ २२

[नोट—इससे सिद्ध होता है कि सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र विसर्जन न करे और गाय के लात न मारे, जो ऐसा करते हैं वे पाप के भागी होते हैं।]

कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२३॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप लगे, जो बड़ा काम करा लेने पर भी नौकर का वेतन न देने के कारण मालिक को होता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भृतानि पुत्रवत् ।
सततं दुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पुत्र की तरह प्रजापालन करने वाले राजा से विद्रोह करने पर होता है ॥ २४ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य[1] नृपस्यारक्षतः प्रजाः ।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२५॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हैं, उसे वह पाप हो, जो उस राजा को होता है, जो प्रजा से छठवाँ अंश कर का ले कर भी, प्रजा की रक्षा नहीं करता ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् ।
तां विप्रलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों उसे वह पाप हो, जो पाप ऋत्विजों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा कर, पीछे दक्षिणा न देने वाले को होता है ॥ २६ ॥

---

१ उद्धृत्य—आदाय । (गो०)

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।
मा स्म कार्षीत्सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२७॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो हाथी घोड़ों और रथों सहित एवं शस्त्रास्त्रयुक्त युद्धक्षेत्र में सद्वीरों का धर्म न पालने से योद्धाओं को होता है ॥ २७ ॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं[1] यत्नेन[2] धीमता[3] ।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह दुष्टात्मा, अच्छे बुद्धिमान् गुरु से परलोकसाधक एवं रहस्य-युक्त उपदिष्ट वेदान्तादि शास्त्रों को भूल जावे ॥ २८ ॥

मा च तं व्यूढवाङ्सं चन्द्रार्कसमतेजसम् ।
द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह उन विशालबाहु और ऊँचे कंधों वाले तथा चन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक न देख पावे। (अर्थात् तब तक वह जीवित न रहै, मर जाय) ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथा[4] सोऽश्नातु निर्घृणः ।
गुरूंश्चाप्यवजानातु[5] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

---

१ शास्त्रं—वेदान्तादिविशिष्टार्थं । (गो०) २ यत्नेनोपदिष्टं—सुसूक्ष्मार्थं, परलोकसाधकरहस्यार्थयुक्तं । (गो०) ३ धीमता—गुरुणा । (गो०) ४ वृथाऽश्नातु—देवतापित्रतिथिनिवेदनमन्तरेणभुक्तामित्यर्थः । (गो०) ५ अवजानातु—प्रत्युत्थानाभिवादिनादिकंनकरोतित्यर्थः । (गो०)

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किये बिना खीर, तिल, चाँवल, अथवा मांस खाने वाले को और गुरु को देख खड़े न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[नोट—अर्थात् बिना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किये कोई वस्तु खानी नहीं चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—"भुञ्जतेतेत्वघंपापं ये पचन्त्यात्मकारणात्" अर्थात् जो अपने लिये रसोई बनाते हैं, वे अन्न नहीं ; किन्तु पाप भक्षण करते हैं ।]

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून्परिवदेत्स्वयम् ।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यन्तं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥ ३१ ॥

विश्वासात्कथितं किञ्चित्परिवादं मिथः क्वचित् ।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका विश्वास कर उससे किसी का कोई दोष कहा जाय (और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा मित्र पर भी उस दोष को प्रकट कर दे ।) अर्थात् जो पाप विश्वासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा[1] निरपत्रपः ।
लोके भवतु विद्वेष्यो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उपकार न करने वाले, सज्जनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सब से वैर करने वाले को होता है ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, स्त्री, पुत्रों को न दे कर, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है। अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आश्रित जनों को कदन्न खिलाने से होता है ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सदृशान्[2] दारानननपत्यः प्रमीयताम् ।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां[3] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥३५॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किये विना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।
आयुः समग्रमाप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

---

१ त्यक्तात्मा—सद्भिः परिहृतः । (गो०) २ सदृशान्—समान कुलान् । (गो०) ३ धर्म्यां क्रियां—अग्निहोत्रादिकं च । (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तति को विना देखे, दुःखी हो, पूर्णायु न पावे ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।
भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

जो पाप राजा, स्त्री, बालक और बूढ़े का वध करने से होता है, अथवा जो पाप निरपराध (स्वामि-भक्त नौकर को त्यागने से होता है; वह पाप उस पुरुष को हो, जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों ॥ ३७ ॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।
सदैव विभृयाद्भृत्यान्[1] यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो मांस शहद अथवा मद्य, लाख, लोहा और विष की विक्री की आमदनी से अपने आश्रित जनों—घरवालों तथा नौकर चाकरों का सदा पालन करने वाले को होता है ॥३८॥

[नोट—मांस, मदिरा, लाख, लोहा और विष का व्यापार करना निषिद्ध है । स्मृतियों में भी लिखा है—

" लाक्षा लवण मांसानि वर्जनीयानि विक्रये "

अर्थात् लाख, नोंन मांस का वेचना वर्जित है ।]

संग्रामे समुपोढे[2] तु *शत्रुपक्षभयङ्करे ।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

---

१ भृत्यान्—भर्त्तव्यान् पुत्रादीन् । (शि०) २ समुपोढे—निकटे । (गो०) प्राप्ते । (रा०) * पाठान्तरे—" शतपक्ष । "

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह पुरुष युद्ध में शत्रु का भयङ्कर सैन्यदल देख भागता हुआ मारा जाय। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी को वन भेजने की सलाह देने वाले को वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्र से शत्रु से डर कर भागने वाले को होता है अथवा भागे हुए शत्रु को मारने वाले को होता है ॥ ३९ ॥

[युद्ध से डर कर भागना भी पाप है, और भागते हुए, निःशस्त्र और अधीन हुए शत्रु का मारना भी पाप है ।]

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः ।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह चिथड़े लपेटे, पागल की तरह मुर्दे की खोपड़ी हाथ में लिये द्वार द्वार भीख मांगता हुआ, पृथिवी पर घूमे ॥ ४० ॥

[नोट—इस श्लोक में अघोरियों और कापालिकों को निन्द्य ठहराया है ।]

*मद्ये प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।
कामक्रोधाभिभूतस्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए हों, वह पुरुष सदा मद्य पीने में, स्त्रीमैथुन में और जुआ खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और काम व क्रोध के कारण उसका सदा निरादर होता रहे अथवा वह काम व क्रोध से सदा सताया जाय ॥ ४१ ॥

मा स्म धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।
अपात्रवर्षी[1] भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

---

१ अपात्रवर्षी—अपात्रे बहुदायी । (गो०) * पाठान्तरे—" पाने " ।

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों-वह स्वधर्म में मन न लगा कर सदा अधर्म कार्य ही किया करे और कुपात्र को बहुत सा दान दे। अथवा जिस मनुष्य की सलाह से श्रीराम वनवासी हुए हों, उसे वही पाप हो, जो स्वधर्म-त्यागी और अधर्म अनुरागी एवं कुपात्र को बहुत दान देने वाले को होता है ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।
[1]दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों उसकी गाढ़ी कमायी का विपुल धन चोर चुरा ले जायँ ॥ ४३ ॥

[2]उभे सन्ध्ये शयानस्य यत्पापं परिकल्प्यते ।
तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों, उसे वह पाप लगे जो साँझ सवेरे सोने वाले को लगता है ॥ ४४ ॥

[प्रातःसन्ध्या=रात बीतने और दिन उगने के समय ; सायं सन्ध्या=दिन डूबने और रात्रि होने के समय. सोना निषिद्ध है—क्योंकि सन्ध्याओं में सोने से आयुक्षीण और पुण्यक्षय होते हैं। कहीं कहीं यह भी लिखा है—"आसेमुहूर्तें या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी।"]

यदग्निदायके पापं यत्पातं गुरुतल्पगे ।
मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

---

१ दस्युभिः—तस्करैः। (गो०) २ उभे—उभयोः सन्ध्योः। (गो०)

अथवा जो पाप घर में आग लगाने वाले को, गुरु की स्त्री के साथ संभोग करने वाले को और मित्र से द्रोह करने वाले को होता है, वह पाप उस मनुष्य को लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ४५ ॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च ।
मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने की सम्मति दी हो वह देवता, पितृ और माता पिता की पूजा, श्राद्ध और सेवा शुश्रूषा से वञ्चित हो। अथवा जो पाप—देवपूजन, पितृश्राद्ध और माता पिता की सेवा न करने वाले को लगता है, वह पाप श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह देने वाले को हो ॥४६॥

सतां लोकात्सतां[1] *कीर्त्याः सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा ।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह दी हो, वह पुरुष इसी घड़ी सज्जनों के लोक से, सज्जनों की कीर्ति से और सत्कर्मों से भ्रष्ट हो जाय। अर्थात् ऐसे पुरुष को न तो कोई ऐसा लोक प्राप्त हो, जैसा कि, सत्पुरुषों को मिलता है, न उसे वह कीर्ति उप-लब्ध हो, जो साधु पुरुषों को मिलती है (अथवा उस पुरुष की साधु लोग प्रशंसा न करें) और न उसका मन उन कर्मों में लगे, जो साधुओं के लिये अनुष्ठेय हैं ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।
दीर्घबाहुर्ममहावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

---

१ सतांकीर्त्यात्—सद्भिः क्रियमाणश्लाघनात् । (गो०)

* पाठान्तरे—"कीर्त्यासंजुष्टात्कर्मणस्तथा" ।

अथवा जिसको सलाह से दीर्घबाहु और चौड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे। अर्थात उसे मातृ सेवा से विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥ ४८ ॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।
स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसको सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह बहु सन्तति वाला हो कर दारिद्र हो, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥ ४९ ॥

[नोट—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है। स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कानज हैं।]

आशामाशंसमानानां[1] दीनानामूर्ध्वचक्षु[2]षाम् ।
अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसको सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वनवासी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुछ प्राप्ति की आशा से आये हुए दीन याचक को कोरा जवाब दे कर और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥ ५० ॥

[3]मायया रमतां[4] नित्यं पशुनोऽशुचिः ।
राज्ञो प्रीतस्तथर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५१॥

---

१ आशानाशंसमानानां—स्तुवतां । (गो०) २ ऊर्ध्वचक्षुषां—दत्तवासनस्यदानुत्तरनिरीक्षकाणां । (गो०) ३ मायया—वञ्चनया । (गो०) ४ रमतां—सन्तोषवतु । (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह पुरुष कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) चेईमान और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से त्रस्त रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालाऽनुरोधिनीम् ।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, वह दुष्टात्मा ऋतुस्नाता (रजस्वला स्त्री के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता स्त्री को, जो ऋतुस्नानान्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट आयी हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो ऋतुस्नाता पतिव्रता स्त्री को रतिदान न देने वाले को होता है ॥ ५२ ॥

[नोट—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है ।]

धर्मदारान्परित्यज्य परदारान्निषेवताम् ।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग देता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई स्त्री से मैथुन करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य[3] दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यम् ।
तदेव प्रतिपद्येत यस्यार्योऽमते गतः ॥ ५४ ॥

---

१ ऋतुकालानुरोधिनीं—ऋतुस्नानदिवसेस्वसंनिहितां । (गो०) २ अतिवर्तेत—स्वीकारनकुर्यात् । (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टापत्यस्य, सन्ततिहीनस्येत्यर्थः । (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जो वन में गये हों उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है, जिसके पुत्र मारे भूखों के मर जाय और वह उनका पालन न कर सके ॥ ५४ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।
यत्तदेकः[1] स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो पाप पानी में विष आदि घोल कर बिगाड़ देने से अथवा किसी को विष दे कर मार डालने से होता है। इन दोनों दुष्कर्मों का पापरूप फल उसे प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

[2]ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः ।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसकी सब इन्द्रियाँ कलुषित हो जायँ। उसे वही पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो किसी ब्राह्मण के होने वाले सत्कार को, उस ब्राह्मण की निन्दा कर, रुकवा दे, तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दुहे ॥ ५६ ॥

[नोट—ब्राह्मण के लाभ में भांजी मारना और जब तक बछड़ा छोटा हो, तब तक गौ का दूध दुहना, पाप हैं।]

तृषार्तं सति पानीये विप्रस्तम्भेन[3] योजयेत् ।
लभेत तस्य यत्पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

---

१ यत्रदेकः—द्वयं एको लभतां । (रा०) २ ब्राह्मणयोद्यतांपूजांविहन्तु—ब्राह्मणायउद्यतांकेनचितगतिनां पूजां सत्कृतिं विहन्तुब्राह्मणनिन्दादिनावारयतुः । (शि०) ३ विप्रस्तम्भेन—वञ्चनया । (गो०)

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सम्मति दी हो, उसे वही पाप हो, जो जल के रहते भी, प्यासे आदमी को बहाना कर, टाल देने वाले को होता है ॥ ५७ ॥

[1]भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः[2] ।
तस्य पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप हो जो पाप उस मनुष्य को होता है जो एक दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ बन, पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है। अर्थात् जो पाप पक्षपात करने वाले मध्यस्थ को होता है। रामामिरामी टीकाकार ने इस श्लोक पर यह टीका की है कि जहाँ पर वैष्णव और शैवों में विष्णुपरत्व और शिवपरत्व के ऊपर विवाद होता हो, उसे शान्त न कर, उसे बढ़ाने वाले को जो पाप होता है, वह पाप उसको लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ५८ ॥

विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ।
एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तो निपपात ह ॥ ५९ ॥

राजपुत्र भरत इस प्रकार पति पुत्र विहीन कौशल्या को समझाते और अपनी सफाई देते हुए, आर्त्त हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।
भरतं शोकसन्तप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

---

१ भक्त्या—जयोपायमाश्रित्य । (गो०) २ पश्यतः—भुवस्तस्यपापेन युज्येतेतिसम्बन्धः । (गो०)

तब भरत से जो इस प्रकार की कठिन शपथें खा कर, शोक से सन्तप्त हो, ज्ञानशून्य हो गये थे—कौशल्या जी बोलीं ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।
शपथैः शपमानो हि माणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

हे वत्स ! तुम जो तरह तरह की शपथें खा रहे हो, सो इससे तो मुझ दुखियारी का दुःख और भी अधिक बढ़ता है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या[1] न चलितो [2]धर्मादात्मा[2] ते सहलक्ष्मणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

यह सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलायमान नहीं हुआ और तुम लक्ष्मण की तरह सत्य-प्रतिज्ञ हो । अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे, जिसे सज्जन प्राप्त करते हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

यह कह महारानी कौशल्या, महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोद में ले और हृदय से लगा, अत्यन्त दुःखित हो, रोने लगीं ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
मोहाच्च शोकसंरोधाद्बभूव कुलितं मनः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार रोते हुए और दुःख से पीड़ित भरत का मन शोक उमड़ने से उत्पन्न मोह के वशवर्ती हो, उद्विग्न हो गया ॥ ६४ ॥

---

१ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) २ आत्मा—अन्तःकरणं । (गो०) २ धर्मात्—ज्येष्ठानुवर्तनधर्मात् । (गो०)

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च धर्मं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

महारानी कौशल्या द्वारा लाड किये गये, बारंबार विलाप करते हुए, चेतनाशून्य, पृथिवी पर पड़े छटपटाते हुए, बारंबार निश्वास लेते और शोक करते हुए भरत ने वह रात बिताई ॥ ६५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

षड्सप्ततितमः सर्गः

—:०:—

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकयीसुतम् ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

कैकेयीसुत भरत जी को इस प्रकार शोकाकुल देख, बोलने वालों में श्रेष्ठ ऋषि वशिष्ठ जी उनसे उत्तम वचन बोले ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । बस, बहुत हुआ, अब शोक मत करो । अब समय हो चुका ; अतः अब विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि क्रिया करो ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धारणां गतः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

पृथिवी पर पड़े हुए धर्मात्मा भरत जी ने वशिष्ठ जी के वचन सुन, महाराज के प्रेतकर्मों का आरम्भ किया ॥ ३ ॥

उद्धृतं तैलसंरोधात्स तु भूमौ निवेशितम् ।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम् ॥ ४ ॥

(लोगों ने) महाराज के शव को तेल के कड़ाह से निकाल कर, ज़मीन पर लिटाया। यद्यपि कई दिनों तक तेल में पड़े रहने से महाराज का शव पीला पड़ गया था, तथापि यही जान पड़ता था कि, मानों महाराज सो रहे हैं। अर्थात् उनके मुख की चेष्टा बिगड़ी न थी ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते ।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

अनन्तर शव को विविध रत्नजटित बिस्तरे पर लिटा कर, अत्यन्त दुःखी हो भरत जी महाराज के लिये विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

हे राजन्! न मालूम आपने क्या सोचा, जो मेरे आये बिना ही आपने धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया ॥ ६ ॥

क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अमानुषिक कर्मकर्त्ता पुरुषसिंह श्रीराम विहीन मुझ दुखिया को छोड़ आप कहां जाते हैं ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु ते राजन्कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे ।
त्वयि प्रयाते [1]स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

हे महाराज ! आपकी इस पुरी की राज्यव्यवस्था, स्थिरचित्त से अब कौन सँभालेगा । क्योंकि आप तो स्वर्गवासी और श्रीराम वनवासी हैं ॥ ८ ॥

विधवा पृथिवी राजस्त्वया हीना न राजते ।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम्* ॥ ९ ॥

हे महाराज ! आपके विना यह विधवा पृथिवी शोभा नहीं पाती । यह अयोध्यापुरी तो मुझे चन्द्रहीन रात्रि जैसी शोभाहीन जान पड़ती है ॥ ९ ॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् ।
अब्रवीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

भरत जी को इस प्रकार दीन मन से विलाप करते देख, महर्षि वशिष्ठ फिर उनसे बोले ॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशांपतेः ।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियन्तामविचारितम् ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हे पृथिवीनाथ ! अब तुम व्यग्रता त्याग कर महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया के जो कर्म करने चाहिये, सो करो । अब सोच विचार करने का समय नहीं है ॥ ११ ॥

---

१ स्वः—स्वर्गे । (गो०) * पाठान्तरे—"मा" "मे" ।

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब भरत जी ने वशिष्ठ जी की बात मान ऋत्विज, पुरोहित और आचार्यों से महाराज के प्रेतकर्म करवाने के लिये शीघ्रता की ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यगाराद्बहिष्कृताः ।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते* यथाविधि ॥ १३ ॥

महाराज के अग्न्यागार में जो अग्नि में स्थापित थी, उन सब को बाहिर निकाल कर, ऋत्विज और याचक यथाविधि होम करने लगे ॥ १३ ॥

शिविकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम् ।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूहुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर परिचारकगण महाराज के शव को पालकी में रख, अत्यन्त उदास और रोते हुए पालकी उठा कर चले ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

लोग महाराज की पालकी के आगे आगे मोहरें रुपये अथवा सोने चांदी के फूल और तरह तरह के वस्त्र सड़कों पर बरसाते हुए चले जाते थे अर्थात् लुटाते हुए चले जाते थे ॥ १५ ॥

[1]चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं[2] पद्मकं तथा ।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ १६ ॥

---

१ चन्दनागरुनिर्यासान्—निर्यासोगुग्गुलः । (गो०) २ सरलं—धूपसरलं । (गो०) * पाठान्तरे—"तेऽहूयन्त" "आहियन्त" ।

कुछ लोग चन्दन, अगर, गुग्गुल की धूप (पालकी के इधर उधर) जलाते जाते थे। (जब पालकी सरयूतट पर पहुँची तब) देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्र कर चिता बनायी गयी ॥ १६ ॥

गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाऽथ भूमिपम् ।
ततः संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

चिता में और भी अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ डाले गये। तदनन्तर ऋत्विजों ने चिता के (पास पालकी लेजा कर तथा उसमें से महाराज के शव को निकाल,) ऊपर शव को लिटा दिया ॥ १७ ॥

तथा हुताशनं दत्त्वा [1]जेपुस्तस्य[2] तमृत्विजः ।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

तदनन्तर ऋत्विज लोग महाराज की परमगति के लिये प्रेत्याग्नि में आहुति दे कर, पैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने सामवेद का गान किया ॥ १८ ॥

शिविकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तदा ॥ १९ ॥

महाराज की शोकसन्तप्त सब रानियां भी यथायोग्य पालकी रथ आदि सवारियों में बैठ, वृद्ध रक्षकों के साथ नगर के बाहिर, जहाँ महाराज की चिता बनाई गयी थी, पहुँचीं ॥ १९ ॥

---

१ जेपुः—पैतृमेधिकमंत्रविशेषानितिशेषः । (गो०) २ तस्य परम गत्यर्थमितिशेषः । (गो०)

प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।
स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

फिर ऋत्विजों ने और कौशल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक-सन्तप्त हो, जलते हुए महाराज के शव की प्रदक्षिणा की ॥ २० ॥

क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय करुण स्वर से रोती हुई और शोक से व्याकुल होने के कारण चिल्लाती हुई, उन सहस्रों स्त्रियों का चिल्लाना सुनने से ऐसा जान पड़ता था, मानों क्रौंच पक्षी की मादाएँ चिल्ला रही हों ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्वराङ्गनाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर सब रानियाँ रोती और विलाप करती हुईं, अपनी अपनी सवारियों से उतर, सरयू नदी के तट पर पहुँचीं ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च ।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

उन स्त्रियों ने भरत, मंत्री, और पुरोहितों के साथ महाराज को जलाञ्जलि दी । तदनन्तर सब लोग आँसू बहाते हुए नगर में आये

और दस दिन तक भूमि पर लेट कर बड़े दुःख से समय बिताया ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—:*:—

सप्तसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥

दस दिन बीत जाने पर ११वें दिन भरत जी शुद्ध हुए और बारहवें दिन सपिण्डी आदि कर्म किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्नं धनमन्नं च पुष्कलम् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥ २ ॥

और ब्राह्मणों को बहुत सा रत्न, धन और अन्न तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य विविध उत्तम वस्तुएँ दीं ॥ २ ॥

वास्तिकं[1] बहुशुक्लं[2] च गाश्चापि शतशस्तदा ।
दासीदासं च यानं च वेश्मानि सुमहान्ति च ॥३॥
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकम् ।
ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ त्रयोदशे ॥ ४ ॥

---

१ वास्तिकं—छागानांसमूहोवास्तिकं । (गो०) २ बहुशुक्लं—छागविशेषणं । (गो०)

भरत जी ने बहुत से सफेद बकरे, सैकड़ों गौएँ, अनेक दास दासी, सवारियाँ और बड़े बड़े मकान महाराज के मृत-कर्म में ब्राह्मणों को दान दिये। तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातः-काल ॥ ३ ॥ ४ ॥

विललाप महाबाहुर्भरतः शोककर्शितः ।
शब्दापिहितकण्ठस्तु शोधनार्थमुपागतः ॥ ५ ॥

चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ।
तात यस्मिन्निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ॥ ६ ॥

महाबाहु भरत जी शोक से मूर्छित हो, विलाप करने लगे और चिता से अस्थि बीनने के लिये चिता के समीप जा गद्गद वाणी से अत्यन्त दुखी हो और पिता को पुकार कर कहने लगे—हे तात ! जिन भाई श्रीरामचन्द्र के भरोसे आपने मुझे छोड़ा था ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्मिन्वनं प्रव्रजिते शून्ये[1] त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।
यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ॥ ७ ॥

उनको वन में भेज, आपने भी मुझे अनाथ की तरह त्याग दिया। जिन अनाथिनी का पुत्र वन में निकाल दिया गया ॥ ७ ॥

तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ।
दृष्ट्वा भस्मावृतं तच्च दग्धास्थिस्थानमण्डलम् ॥ ८ ॥

---

१ शून्ये—स्वजनरहिते । (शि०)

उन माता कौशल्या को छोड़ कर, हे तात ! तुम कहाँ चले गये ? भरत जी पिता के शरीर को जली हुई श्वेत रंग की राख चिता स्थान पर देख ॥ ८ ॥

पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन्विषसाद सः ।
स तु दृष्ट्वा रुदन्दीनः पपात धरणीतले ॥ ९ ॥

और पिता के शरीर को नष्ट हुआ देख, निरन्तर रो कर तथा दीन हो कर, विलाप करते हुए, भूमि पर गिर पड़े ॥ ९ ॥

उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज[1] इव च्युतः ।
अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् ॥ १० ॥

फिर लोगों द्वारा उठाये जाने पर भरत जी उसी प्रकार गिर पड़े जिस प्रकार डोरी से बंधी इन्द्र की ध्वजा, डोरी टूट जाने से गिर पड़ती है । शुचिव्रत भरत को गिरा देख, मंत्रियों ने दौड़ कर उनको उठाया ॥ १० ॥

[2]अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ॥ ११ ॥

मंत्रियों ने भरत को उसी प्रकार उठाया जिस प्रकार ऋषियों ने राजा ययाति को पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरते समय उठाया था । शत्रुघ्न जी भी भरत जी को शोक में डूबा हुआ देख ॥ ११ ॥

विसंज्ञो न्यपतद्भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ।
उन्मत्त इव निश्चेता विललाप सुदुःखितः ॥ १२ ॥

---

१ शक्रस्य यंत्रध्वजः—रज्जुयुक्तो ध्वजइवपपात । (गो०) २ अन्तकाले —पुण्यक्षयकाले । (गो०)

महाराज का स्मरण करते हुए अचेत हो, भूमि पर गिर पड़े और अत्यन्त दुःखी होने के कारण बेसुध और उन्मत्त की तरह विलाप करने लगे ॥ १२ ॥

स्मृत्वा पितुर्गुणाञ्जानि तानि तानि तदा तदा ।
मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसङ्कुलः ॥ १३ ॥

वह पिता के गुणों को एक एक कर स्मरण करते जाते थे। उस समय शत्रुघ्न जी कहने लगे कि, मन्थरा की करतूत से उत्पन्न, और कैकेयी रूपी मगर से युक्त ॥ १३ ॥

वरदानमयोक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ।
सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ॥ १४ ॥

वरदान रूपी स्थिर महासागर में हम सब डूब गये। हे पिता जी! जिस सुकुमार बालक का लाड प्यार आपने सदा किया, ॥ १४ ॥

क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।
ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च ॥ १५ ॥

इस विलाप करते हुए भरत को छोड़, आप कहाँ चल दिये? भोजन के योग्य पदार्थ वस्त्र और आभूषण ॥ १५ ॥

[1]प्रवारयसि नः सर्वांस्तन्नः कोऽन्यः करिष्यति ।
अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ॥ १६ ॥
या विहीना त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ।
पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ॥ १७ ॥

---

१ प्रवारयसि—प्रकर्षेण स्वयं ग्राहयसि । (गो०)

आप आग्रह पूर्वक हम लोगों को स्वयं दिया करते थे—सो ये सब वस्तुएँ हमें अब कौन देगा? इस दारुण काल में, आप जैसे महात्मा और धर्मज्ञ महाराज से रहित होने पर यह पृथिवी फट क्यों नहीं जाती। पिता जी तो स्वर्ग चले गये और श्रीरामचन्द्र वनवासी हो गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।
हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ॥१८॥

अब मैं किस प्रकार प्राण धारण करूँ। मैं तो अब अग्नि में कूद पड़ूँगा। अब मैं भाई और पिता से हीन इस इक्ष्वाकुपालित सूनी ॥ १८ ॥

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम्।
तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चान्ववेक्ष्य तत् ॥ १९ ॥

अयोध्या में न जा कर, तपोवन में जाऊँगा। इस प्रकार उन दोनों भाइयों का विलाप सुन, और उनका कष्ट देख, ॥ १९ ॥

भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः।
ततो विषण्णौ *शोचन्तौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ २० ॥

सब नौकर चाकर बहुत दुःखी हुए। दोनों भाई विषादयुक्त एवं दुःखी हो ॥ २० ॥

धरण्यां संव्यचेष्टेतां[1] भग्नशृङ्गाविवर्षभौ।
ततः[2]प्रकृतिमान्वैद्य[3] पितुरेषां पुरोहितः ॥ २१ ॥

---

१ व्यचेष्टेतां—व्यलुण्ठेतां। (गो०) २ प्रकृतिमान्—प्रशस्तस्वभावः। (गो०) ३ वैद्यः—वेदान्तविद्याधिगतपरावरतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानः सर्वज्ञ-इतियावत्। (गो०) * पाठान्तरे—"विश्रान्तौ," "श्रान्तौच"।

सींग कटे हुए बैल की तरह, पृथिवी पर गिर कर, छटपटाने लगे। उस समय प्रधान मन्त्री सुमन्त्र और उनके पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।
त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य[1] ते विभो ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जी, भरत जी को उठा कर कहने लगे। हे विभो! आपके पिता का अग्निसंस्कार हुए आज तेरह दिन हो चुके॥ २२ ॥

सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।
त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥ २३ ॥

अतः अब भस्म सहित अस्थि सञ्चयन करने में क्यों देर करते हो। प्रत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व (जोड़े) रहा करते हैं—अर्थात् (१) भूख प्यास (२) शोक मोह, और (३) जरा (बुढ़ापा) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ।
सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥ २४ ॥

इन छः को दूर करना सम्भव नहीं। अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं। (वशिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार समझाया और) तत्वज्ञ सुमन्त्र ने भी शत्रुघ्न को उठा कर और प्रसन्न कर सब प्राणियों को उत्पत्ति एवं विनाश के तत्व को समझाया ॥ २४ ॥

---

१ वृत्तस्य—संस्कृतस्य । (गो०)

श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ।
उत्थितौ च नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।
वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

जब वे दोनों पुरुषसिंह एवं यशस्वी भाई उठ कर खड़े हुए, तब वे ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा और घाम के कारण मलिन भाव धारण किये हुए, दो इन्द्र की ध्वजाएँ अलग अलग खड़ी हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्गन्तौ[1] रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥२६॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मंत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आँखें लाल हो गयी थीं और जो आँखों के आँसुओं को पोंछ रहे थे तथा जो दीन वचन बोल रहे थे, आगे का कृत्य करने के लिये, शीघ्रता करने लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
भरतं शोकसन्तप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ परिमृद्गन्तौ—मार्जयन्तौ । (गो०)

भरत जी से, जो शोकसन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने का विचार कर रहे थे, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न बोले ॥ १ ॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥२॥

भाई ! जो श्रीरामचन्द्र दुःख और सङ्कट में प्राणि मात्र के एक मात्र अवलंब हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—वे ही जब स्त्री सहित वन में निकाल दिये गये, तब हम अपने दुःखों की बात ही क्या कहैं ॥ २ ॥

बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

(यदि मान लिया जाय कि, श्रीरामचन्द्र ने सङ्कोचवश उस समय कुछ न कहा तो) बलवान् और वीर्य सम्पन्न लक्ष्मण ने पिता को रोक कर, श्रीरामचन्द्र को क्यों न बचाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

क्योंकि महाराज जब स्त्री के वशवर्ती हो, अथवा स्त्री के आग्रह से अन्याय करने को उद्यत हुए थे, तब ही लक्ष्मण को उचित था कि, नीति अनीति का भली भाँति विचार कर, पहिले ही महाराज को इस कर्म करने से रोक देते ॥ ४ ॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।
प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न जी इस प्रकार भरत जी से बात चीत कर ही रहे थे कि, इतने ही में कुबड़ी मन्थरा सब गहने पहिने हुए पूर्वद्वार पर देख पड़ी ॥ ५ ॥

लिप्ता चन्दनसारेण[1] राजवस्त्राणि[2] बिभ्रती ।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उस समय मन्थरा गाढ़े चन्दन से अपना शरीर पोते हुए थी, कैकेयी के दिये रानियों के पहनने योग्य वस्त्रों से सजी हुई थी और अनेक प्रकार के रानियों के पहिनने योग्य आभूषण धारण किये हुए थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च शुभभूषणैः ।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुबद्धेव वानरी ॥ ७ ॥

उसकी कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी थी तथा अन्य अंगों पर भी बड़े बढ़िया और सुन्दर अनेक जड़ाऊ आभूषण थे। (यद्यपि उसने अपने शरीर का शृङ्गार करने में कोई कोर कसर नहीं रखी थी ; तथापि) वह अनेक आभूषणों को धारण किये हुए डोरी से बँधी हुई बंदरिया जैसी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्था *भृशं पापस्य कारिणीम् ।
गृहीत्वाऽकरुणां कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

उस समय उस महापापिन को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयता पूर्वक पकड़, शत्रुघ्नजी को सौंप दिया ॥ ८ ॥

---

१ चन्दनसारेण—चन्दनपङ्केन । (गो०) २ राजवस्त्राणि—राज्ञार्हवस्त्राणि कैकेयीदत्तानि । (गो०) * पाठान्तरे—" सुभृशं पापकारिणीम् । "

यस्याः कृते वने रामो न्यग्रहीद्देहरक्षणम् ।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु[1] यथामति ॥ ९ ॥

और शत्रुघ्न से बोले कि, जिसके कहने से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए और आपके पिता को शरीर त्यागना पड़ा, वह यही पापिन और कसाइन है। सो जैसा तुम उचित समझो वैसा इसे दण्ड दो ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।
अन्तःपुरचरान्सर्वानित्युवाच धृतव्रतः[2] ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जो यह बात सुन अत्यन्त ही दुःखित हो तथा कर्त्तव्य-कर्म निश्चय कर, सब अन्तःपुरचारियों से यह बोले ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः ।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

जिसने मेरे सब भाइयों और पिता के लिये महान् दुःख उत्पन्न किया, यह वही घात करने वाली है—अतः यह अपने किये का फल भोगे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तेनाशु सखीजनसमावृता ।
गृहीता बलवत्कुब्जा सा तद्गृहमनादयत् ॥ १२ ॥

यह कह कर, शत्रुघ्न ने सखियों से घिरी हुई मन्थरा को तुरन्त ऐसे ज़ोर से पकड़ा कि, उसके चीत्कार से सारा भवन भर गया ॥ १२ ॥

---

१ कृतशिक्षणमितिशेषः । (गो०) २ धृतव्रतः—कर्तव्यत्वेनावधृत व्रतः । (रा०)

ततः सुभृशसन्तप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः ।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं विपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्थरा की यह दशा देख उसके साथ की सखियाँ बहुत सन्तप्त हुईं और शत्रुघ्न को क्रुद्ध हुआ जान, वे सब इधर उधर भाग गयीं ॥ १३ ॥

आमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषान्नः करिष्यति ॥ १४ ॥

और दूर जा कर सब आपस में कहने लगीं कि, इस समय शत्रुघ्न ने जैसा कार्य आरम्भ किया है, उससे तो यह जान पड़ता है कि, शत्रुघ्न हम सब को मार ही डालेंगे ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।
कौसल्यां शरणं याम सा हि नोऽस्तु ध्रुवा गतिः ॥१५॥

अतएव इस समय हमें उन दयालु, परमोदार, धर्मज्ञ एवं यशस्विनी कौशल्या जी का आश्रय ग्रहण करना उचित है । क्योंकि वे ही हमको आश्रय देंगी ॥ १५ ॥

स च रोषेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं धरणीतले ॥ १६ ॥

उधर मारे क्रोध के लाल लाल आँखें किये हुए, शत्रुओं के दमन करने वाले शत्रुघ्न ने, चीत्कार करती हुई मन्थरा को, भूमि पर पटक कर कढ़ोरा ॥ १६ ॥

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं[1] पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥

---

१ भाण्डं—भूषणं । (गो०)

घसीटा घसीटी में मन्थरा के सब गहने तितर बितर हो गये और टूट फूट कर चारों ओर बिखर गये ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन *संस्तीर्णं श्रीमद्राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

उस समय वह परम सुन्दर राजभवन उन टूटे फूटे बिखरे हुए गहनों से उसी प्रकार शोभित हुआ, जिस प्रकार शरद्ऋतु का आकाशमण्डल तारागण से सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

स बली बलवत्क्रोधात्[1] गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य वभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, बलवान शत्रुघ्न जी मन्थरा को अत्यन्त क्रुद्ध हो, पकड़े हुए थे । यह देख कैकेयी ने मन्थरा को छुड़ाना चाहा । इस पर शत्रुघ्न जी ने कैकेयी को भी अत्यन्त कड़वी बातें सुनायीं ॥ १९ ॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्न के उन कड़ुवे वचनों से कैकेयी अत्यन्त दुःखित हो और शत्रुघ्न से भयभीत हो, अपने पुत्र भरत के शरण गयी ॥ २० ॥

तां प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

तब शत्रुघ्न को कुपित देख, भरत ने उनसे यह कहा, भाई ! प्राणिमात्र के लिये स्त्रियां अवध्य हैं, अतएव अब इसे क्षमा करना चाहिये अर्थात् छोड़ देना चाहिये ॥ २१ ॥

---

१ बलवत्क्रोधन्—अतीवक्रोधात् । (गो०) * पाठान्तरे—"सङ्कीर्णं" ।

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥ २२ ॥

(यदि स्त्रियां अवध्य न होतीं और) यदि धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझे मातृघाती समझ, मुझ पर क्रुद्ध न होते, तो मैं तो इस पापिन दुष्टा कैकेयी को (कभी का) मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥२३॥

यदि इस कुब्जा का मारना कहीं श्रीरामचन्द्र जी जान पाये, तो वे धर्मात्मा निश्चय ही तुमसे और मुझसे बात तक न करेंगे ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
न्यवर्तत ततो रोषात्तां मुमोच च मन्थराम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार भरत के कहने पर, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप च ॥ २५ ॥

तब मन्थरा जा कर कैकेयी के पैरों पर गिर पड़ी और अत्यन्त दुखी हो श्वांसे छोड़ती हुई, करुणस्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।

शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

शत्रुघ्न जी के कढ़ोरने से अचेत और पीड़ित मन्थरा को जाल-पाश में बंधी क्रौंची पक्षिणी की तरह देख, भरतमाता कैकेयी ने धीरे धीरे उसे समझाया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे ।
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

चौदहवें दिन प्रातःकाल होने पर राज-कर्मचारी लोग इकट्ठे हुए और भरत जी से कहने लगे ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी और महाबलवान् लक्ष्मण जी को वन भेज स्वयं स्वर्ग पधारे ॥ २ ॥

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।
सङ्गत्या नापराध्नोति सज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

अतएव हे महायशस्वी राजकुमार ! अब आप हमारे राजा हों। क्योंकि यह राज्य विना राजा का है और जब पिता आपको यह राज दे गये हैं, तब आपका इसे ग्रहण करना न तो असङ्गत है और न आपको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है ॥ ३ ॥

अभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव ।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः[1] श्रेणयश्च[2] नृपात्मज ॥ ४ ॥

हे रघुवंशसम्भूत राजकुमार ! यह कथन केवल हम राजकर्मचारियों ही का नहीं है—बल्कि आपके मंत्रीगण और पुरवासी लोग अभिषेक की सामग्री लिये आपकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्नरर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने इस पिता पितामह के राज्य को अवश्य ग्रहण करें और अपना अभिषेक करवा, हम सब का पालन करें ॥ ५ ॥

[एवमुक्तः शुभं वाक्यं द्युतिमान्सत्यवाक्शुचिः ।]
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन सब का यह शुभ वचन सुन तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिषेक की सामग्री से भरे हुए सब पात्रों की प्रदक्षिणा की ॥ ६ ॥

भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ।
ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः ॥ ७ ॥

---

१ स्वजनः—अमात्यादिः । (गो०) २ श्रेणयः—पौराः । (रा०)

तदनन्तर व्रतधारी भरत जी उन सब लोगों से बोले—देखो हमारे कुल में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही राजसिंहासन पर बैठता आया है ॥ ७ ॥

नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ।
रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः ॥ ८ ॥
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ।
युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ॥ ९ ॥

अतः यह बात जान कर भी, आप लोग मुझसे ऐसी बात न कहिये । श्रीरामचन्द्र जी मेरे बड़े भाई हैं, वे ही राजा होंगे । मैं (उनके बदले) वन में जा कर चौदह वर्ष वनवास करूँगा । अतः चतुरङ्गिणी सेना तैयार करो ॥ ८ ॥ ९ ॥

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ।
आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ॥ १० ॥

मैं वन में जा कर भाई श्रीरामचन्द्र को यहाँ लिवा लाऊँगा । यह जो अभिषेक का[illegible] है ॥ १० ॥

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ।
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ॥ ११ ॥

उसको साथ ले कर, मैं श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करने को वन में जाऊँगा और वहीं उनका अभिषेक कर, ॥ ११ ॥

आनेष्यामि तु वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ।
न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् ॥१२॥

श्रीरामचन्द्र जी को यहाँ उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है। मैं अपनी इस नाममात्र की माता को साथ पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १२ ॥

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ।
क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च ॥१३॥

प्रत्युत मैं स्वयं दुर्गम वन में जा कर रहूँगा और श्रीरामचन्द्र राजा होंगे। इस लिये मैं आज्ञा देता हूँ कि, सड़क की मरम्मत करने वाले कारीगर लोग (आगे जा कर) ऊँचे नीचे रास्ते को ठीक करें ॥ १३ ॥

रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः[1] ।
एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् ।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्गों के शोधक भी जायँ। इस प्रकार राजकुमार भरत ने श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिये कहा, तब सब लोग भरत जी से यह मनोहर एवं अति उत्तम वचन कहने लगे ॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम् ।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

आप इस पृथिवी का राज्य ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देना चाहते हैं—आपका यह वचन मनोहर और उत्तमोत्तम है। अतः आपके समीप सदा पद्मासना लक्ष्मी देवी निवास करें ॥ १५ ॥

---

१ विचारकाः—शोधकाः। (शि०)

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मज-
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च ।
प्रहर्षजास्तं प्रति वाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे, वे सब भरत जी के कहे हुए उत्तम वचन सुन, नेत्रों से आनन्द के आँसू टपकाने लगे ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।
पन्थानं नरवर भक्तिमाञ्जनश्च
व्यादिष्टास्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

यह बात सुन, मंत्रिगण नौकरों चाकरों सहित प्रसन्न हो और शोक रहित हो कहने लगे, हे नरश्रेष्ठ ! आपके वचन के अनुसार शिल्पियों को आज्ञा दे दी गयी है ॥ १७ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अशीतितमः सर्गः

—:०:—

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः[1] ।
[2]स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा[2] ॥ १ ॥

कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा[4] यन्त्रकोविदाः ।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥

कूपकाराः सुधाकारा[5] वंशकर्मकृतस्तथा ।
[6]समर्था ये च द्रष्टारः[7] पुरतस्ते प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर भरत जी के आज्ञानुसार भूमि के भेदों के जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनी दूर पर है अथवा है कि नहीं, अपने काम में सदा सावधान रहने वाले एवं परिश्रमी बेलदार तथा जल को बाँध कर रोकने वाले अथवा पुल बनाने वाले मज़दूर, राजथवई, निरीक्षक, कलपुर्जों के जानने वाले, बढ़ई, मार्गों के ज्ञाता और वृक्ष काटने वाले, कुआ खोदने वाले, दीवालों पर अस्तर करने वाले, बंसफोड़ा, अन्य कामों के करने में समर्थ और वे लोग जो उन मार्गों को पहिले से देखे हुए थे ; ये सब लोग आगे हो चल दिये ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

---

१ विशारदाः—समर्थाः । (गो०) २ स्वकर्माभिरताः स्वकर्मसावधानाः । (गो०) ३ यन्त्रकाः—जलप्रवाहादियन्त्रण समर्थाः । (रा०) ४ पुरुषाः—अध्यक्षराजपुरुषाः । (गो०) ५ सुधाकाराः—प्रसादस्थलक्षित्यादिलेपनकराः । (गो०) ६ समर्थाः—कार्यान्तरेऽपि समर्थाः । (गो०) ७ द्रष्टारः—पूर्वानुभूतमार्गाः—मार्गप्रदर्शकाः । (गो०)

स तु हर्षोत्तमुद्देशं जनौघो विपुलः ययान् ।
अशोभत महावेगः समुद्र इव पर्वणि ॥ ४ ॥

इन लोगों के झुंड जो प्रसन्न होते हुए चले जाते थे, ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र शोभायमान देख पड़ता है। अर्थात् जैसे समुद्र उमड़ता है, वैसे ही मनुष्यों की भीड़ उमड़ी हुई जा रही थी ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

मार्ग बनाने में चतुर लोग अपने दल में मिल कर, फावड़े कुल्हाड़ी इत्यादि बहुत सा उपयोगी सामान साथ ले, आगे आगे चले ॥ ५ ॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान्द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग रास्ता साफ करने के अभिप्राय से लता, वल्ली, झाड़, खूँटी, पत्थर और अनेक प्रकार के वृक्षों को, जो रास्ते में पड़ते थे, काटकूट कर, रास्ता बनाते जाते थे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद्वृक्षानरोपयन् ।
केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन्कचित्कचित् ॥ ७ ॥

जहाँ कहीं वृक्ष नहीं लगे थे, वहाँ वृक्ष लगाते जाते थे और जहाँ कहीं वृक्षों की घनी डालियाँ रास्ता रोके हुए थीं, वहाँ उनको कुल्हाड़ी फरसे आदि से काट कूट कर एकसा करते जाते थे ॥ ७ ॥

अपरे [1]वीरणस्तम्बान्[2]बलिनोबलवत्तराः ।
विधमन्ति[3] स्म दुर्गाणि[4] स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुछ बलवान लोगों ने अत्यन्त मज़बूत ठूंठों को, जो उखाड़े नहीं उखड़ सकते थे, जला कर साफ कर दिया और जितने ऊँचे नीचे रास्ते और दुर्गम स्थान थे, उन सब को ठीक पीट कर तथा मिट्टी से पाट कर ठीक कर दिया ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन्कूपान्पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।
निम्नभागांस्ततः केचित्समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

कुछ लोग बीच रास्ते में जो कुएँ और गड्ढे आते, उनको मिट्टी से पाटते और नीची भूमि को मिट्टी से भर बराबर करते चले जाते थे ॥ ९ ॥

बबन्धु[5]र्बन्धनीयांश्च [6]क्षोदनीयांश्च चुक्षुदुः* ।
विभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान्देशान्नरास्तदा ॥ १० ॥

वे लोग, रास्ते की छोटी नदियों या नालों पर पुल बनाते जाते थे, जहां कहीं गोखरू या कंकड़ी आदि पाते उनको बटोर कर फैंक देते थे, जहां कहीं जल के आने में रुकावट देखते वहां के बांध को तोड़ कर जल निकाल देते थे ॥ १० ॥

अचिरेणैव कालेन परिवाहान्बहूदकान् ।
चक्रुर्बहुविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून् ॥ ११ ॥

---

१ वीरणस्तम्बान—वीरणतृणकाण्डान् । (गो०) २ बलिनः—रूढमूलान् । (गो०) ३ विधिमन्तिस्म—अहन् । (गो०) ४ दुर्गाणि—गन्तुमशक्यानि । (गो०) छेत्तुमशक्यान् । (रा०) ५ बन्धनीयान्—जलप्रदेशान् । (गो०) ६ क्षोदनीयान्—शर्करा भूयिष्ठ प्रदेशान् । (गो०) * पाठान्तरे—" क्षोद्यान्सञ्चुक्षुस्तदा" ।

बहुत जल्द ही उन लोगों ने थोड़े पानी के सोतों का जल रोकने के लिये बांध बांध दिये और कई एक जगहों के तालाबों को खोद कर सागर की तरह अगाध जलयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान् ।
[1]उदपानान्बहुविधान्वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

और जहां जल का अभाव था, वहां अनेक नये कुएँ तालाब खोदे और उनके समीप लोगों के विश्राम करने के लिये चबूतरे बना दिये ॥ १२ ॥

स सुधाकुट्टिमतलः सपुष्पितमहीरुहः ।
मत्तोद्धुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के रास्ते को चूने की गचों से ठीक कर, सड़क के इधर उधर ऐसे वृक्ष लगा दिये, जिन पर पक्षी बोला करते थे और जगह जगह सड़कों की दोनों ओर पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १३ ॥

चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः ।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

चन्दन के जल के छिड़काव और अनेक प्रकार की फूली हुई लताओं से वह सेना का रास्ता देवमार्ग की तरह सजा दिया गया था ॥ १४ ॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्ति[2] युक्तास्तेऽधिकृता[3] नराः ।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

---

१ उदपानान्—कूपान् । (गो०) २ यथाज्ञप्ति—यथामति । ३ अधिकृताः—मार्गशिबिरादिकरणेनियुक्ताः । (गो०)

जो लोग पड़ावों पर शिविर आदि बनाने के लिये नियुक्त किये गये थे, उन लोगों ने, यथामति रमणीय और अत्यन्त स्वादिष्ट फल वाले वृक्षों से युक्त जगहों पर ॥ १५ ॥

यो निवेशस्त्वभिमतो*भरतस्य महात्मनः ।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥

सेना के उतरने के लिये वैसे ही स्थान बना दिये, जैसे कि महात्मा भरत जी चाहते थे। फिर उन स्थानों को अनेक प्रकार की सामग्री से सजा भी दिया ॥ १६ ॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः[1] ।
निवेशान्[2] स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

वास्तुशास्त्र (मकान बनाने के शास्त्र के) ज्ञाताओं ने शुभ नक्षत्र युक्त मुहूर्त्त में महात्मा भरत के लिये शिविर बनाये ॥ १७ ॥

बहुपांसुचया[3]श्चापि परिखापरिवारिताः ।
तवेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोली[4]वरशोभिताः ॥ १८ ॥

शिविर, इन्द्रनील पर्वत की तरह ऊँचे रेतीले धुस्सों से तथा जलयुक्त खाइयों से घिरवा दिये गये थे और जगह जगह गलियाँ बनाई गयी थीं ॥ १८ ॥

प्रासादमालावितताः सौध[5]प्रकारसंवृताः ।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥

---

१ तद्विदः—वास्तुशास्त्रज्ञाः । (गो०) २ निवेशान्—शिबिराणि । (गो०) बहुपांसुचयाः—पांसुशब्देनासूक्ष्मसिकता उच्यन्ते । (गो०) ४ प्रतोली—वीथिः । (गो०) ५ सौधा—राजगृहाणि यद्वासुधाधवलिताः । (गो०)

* पाठान्तरे—" अभिप्रेतो । "

सफेद रंग के बड़े ऊँचे ऊँचे देवगृहों के सदृश मकानों की पाँति बनाई गयी थी। जितने रास्ते थे, वे सब पताकाओं से सुशोभित किये गये थे ॥ १९ ॥

विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।
[1]समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

वहाँ पर सात सात खण्डों के गृहों के ऊपर जो अटारियाँ थीं, वे कबूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। ऊँचे ऊँचे भवनों को देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में देवताओं के आवासस्थान बने हों। उस समय उन पड़ावों की शोभा इन्द्र की अमरावती पुरी की शोभा जैसी हो रही थी ॥ २० ॥

जाह्नवीं तु समासाद्य[2] विविधद्रुमकाननाम् ।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

भरत जी के लिये, (अयोध्या से लेकर) निर्मल एवं शीतल जल वाली उस गङ्गा तक, जिसमें बड़ी बड़ी मछलियाँ रहती हैं, जो मार्ग बनाया गया था, उसके अगल बगल तरह तरह के वृक्षों से युक्त अनेक कानन थे। अर्थात् यह मार्ग जङ्गलों में हो कर गया था ॥ २१ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते ।
नरेन्द्रमार्गः स तथा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः ॥ २२ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

---

१ समुच्छ्रितैः—उच्चैः । (गो०) २ समासाद्य—अवधीकृत्य । (गो०)

चतुर शिल्पियों द्वारा बनाये गये इस रमणीक राजमार्ग की ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी रात में निर्मल आकाश की चन्द्रमा सहित तारागण से होती है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अस्सीवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

एकाशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततो नन्दीमुखीं[1] रात्रिं भरतं सूतमागधाः ।
तुष्टुवुर्वाग्विशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंहितैः ॥ १ ॥

[अब फिर अयोध्या का वृत्तान्त आदिकवि वर्णन करते हैं ।]

जब वह आनन्दमयी (इसलिये कि श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का उद्योग आरम्भ हुआ था) रात थोड़ी बाकी रही, तब मागधों ने माङ्गलिक स्तुतियों से भरत की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १ ॥

[2]सुवर्णकोणाभिहतः [3]प्राणदद्यामदुन्दुभिः ।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो नादांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥

पहर भर रात रहने पर जो नगाड़े बजाये जाते थे, वे सोने की चोवों (डंडों) से बजाये जाने लगे । शङ्खध्वनि होने लगी और नाना स्वर युक्त सैकड़ों बाजे बजने लगे ॥ २ ॥

स तूर्यघोषः सुमहान्दिवमापूरयन्निव ।
भरतं शोकसन्तप्तं भूयः शोकैरवर्धयत्* ॥ ३ ॥

---

१ नान्दीमुखीं—रामानयनाभ्युदयप्रारम्भयुक्तां । (गो०) २ सुवर्णकोणः—सुवर्णदण्डः । (रा०) ३ प्राणदत्—नदतिस्म । (गो०) * पाठान्तरे—"शोकैरन्ध्रयत्" ।

उन बाजों के बजने का शब्द, आकाश में व्याप्त हो, शोक से सन्तप्त भरत जी के शोक को और भी अधिक बढ़ाने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सन्निवर्त्य च ।
नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भरत जी उस शब्द को सुन जागे और यह कह कर कि, मैं राजा नहीं हूँ, उन बाजों का बजना बंद करवाया और शत्रुघ्न से यह बोले ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी के कहने से इन सूत मागधों ने कैसा अनुचित काम किया है, अथवा हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी ने इसलोक का बड़ा अपकार किया है कि, जो महाराज दशरथ मुझे दुःख में डाल, आप स्वयं स्वर्गवासी हो गये ॥ ५ ॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

उन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी इस समय नाकीहीन नाव की तरह समुद्र में इधर उधर मारी मारी फिर रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वनम् ।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥७॥

---

१ कैकेय्या हेतुभूतया अयनानलोक्स्य सूतमागधादिः । (गो०)
१ अपकृतं—अनुचितं कर्म । (गो०)

पिता की वह दशा हुई, तिस पर, मेरे जो बड़े रक्षक श्रीरामचन्द्र जी थे, उनको भी इसने (कैकेयी ने) धर्म को त्याग स्वयं वन में भिजवा दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं प्रेक्ष्य विलपन्तं विचेतनम् ।
कृपणं रुरुदुः सर्वाः सस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

इस प्रकार भरत को चेतना रहित प्रलाप करते देख, सब स्त्रियाँ करुणा स्वर से रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन्विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार से विलाप हो रहा था कि, इतने में राजधर्म के ज्ञाता महायशस्वी वशिष्ठ मुनि इक्ष्वाकुनाथ की सभा में आये ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं[1] रम्यां मणिरत्नसमाकुलाम् ।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः[2] प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

उस सभाभवन में सुनहला सुन्दर नक्काशी का काम किया था और जगह जगह पद्मरागादि मणियाँ जड़ी हुई थीं । जिस प्रकार सुधर्मा नाम के सभाभवन में इन्द्र अपने अनुयायियों सहित प्रवेश करते हैं, वैसे ही इक्ष्वाकुनाथ की सभा के भवन में वशिष्ठ जी ने अपने अनुयायी शिष्यों सहित प्रवेश किया ॥ १० ॥

स काञ्चनमयं पीठं *पराध्यास्तरणावृतम् ।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

---

१ शातकुम्भमयीं—स्वर्णमयीं । (गो०) २ सगणः—सशिष्यगणः । (गो०) * पाठान्तरे—" सुखास्तरणसंवृतम् " ।

और वहां सोने के एक सिंहासन पर, जिस पर स्वस्तिकाकार अर्थात् गोल आसन पड़ा था, जा बैठे, और दूतों को आज्ञा दी ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यानमात्यान्गणवल्लभान्[1] ।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

कि तुम लोग जा कर, बहुत शीघ्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों और मंत्रियों सेनापतियों को लिवा लाओ । क्योंकि एक बड़ा ज़रूरी काम है ॥ १२ ॥

स राजभृत्यं[2] शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।
युधाजितं[3] सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥१३॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निज के नौकरों सहित, युधाजित सुमंत्र आदि मंत्रियों को, तथा और जो कोई वहां हितू हों, उनको भी शीघ्र बुला लाओ ॥ १३ ॥

ततो हलहलाशब्दः सुमहान्समपद्यत ।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

कुछ ही देर में दूतों के बुलाये लोग रथों, घोड़ों, और हाथियों पर सवार हो कर आने लगे । उनकी सवारियों के आने का एक प्रकार का महाशब्द उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।
प्रत्यनन्दन्प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

---

१ गणवल्लभान्—गणाध्यक्षान् । (गो०) २ सराजभृत्यं—राज्ञान्त रङ्गभृत्य सहितं । (गो०) ३ युधाजितं—युधाजिरितिविजयाख्यमंत्रिणो नामान्तरंसुमंत्रशब्दसाहचर्यात् । (गो०)

देवता जिस प्रकार इन्द्र को देख प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार भरत को आते देख मंत्री आदि ऐसे प्रसन्न हुए, मानों वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों ॥ १५ ॥

ह्रद[1] इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः[2] ।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभौ यथा पुरा ॥ १६ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत की उपस्थिति से वह राजसभा उसी प्रकार शोभित हुई, जिस प्रकार समुद्र का स्थिर जल बड़े बड़े मच्छ, नाके, मणियों, शङ्खों, और बालू से सुशोभित होता है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, मानों महाराज दशरथ स्वयं सभा में आ कर बैठे हों ॥ १६ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

द्व्यशीतितमः सर्गः

—: # :—

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां[3] सभाम् ।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रो निशामिव ॥ १ ॥

---

१ ह्रदश्च—समुद्रसमीपस्थः । (गो०) २ शर्कराशब्देनात्रस्थूलवालुका उच्यते । (गो०) ३ प्रग्रहा—नियमवर्ती । (गो०) ४ घनापाये—शरदि । (रा०)

वशिष्ठादि श्रेष्ठ पुरुषों से भरी, भरत द्वारा नियंत्रित सभा को, शुद्धि सम्पन्न भरत जी ने देखा कि, वह पूर्णमासी की रात की तरह शोभायमान है ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा ।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

यथायोग्य आसनों पर बैठे हुए तथा अंगराग लगाये और चमकीली भड़कीली पोशाकें पहिने हुए श्रेष्ठ जनों से, वह श्रेष्ठ सभा चमक रही थी । अर्थात् सुशोभित थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तदा ।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

शरद् ऋतु में जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है, उसी प्रकार विद्वज्जनों के सम्मिलित होने से वह सभा परम शोभायुक्त दिखलाई पड़ती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः समग्राः प्रेक्ष्य धर्मवित् ।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मज्ञ पुरोहित वशिष्ठ जी ने, महाराज के सब मंत्रिआदि प्रधानों को देख, भरत जी से ये मधुर वचन कहे ॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन् ।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! इस धन धान्ययुक्त और समृद्धशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें दे कर, महाराज दशरथ धर्माचरणपूर्वक स्वर्ग सिधार गये ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यधृतिः सतां[1] [2]धर्ममनुस्मरन् ।
नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

सत्यव्रतधारी श्रीरामचन्द्र ने पितृआज्ञाकारी सज्जनों के पितृ-वचन-पालन रूपी धर्म का पालन कर, महाराज की आज्ञा का त्याग वैसे ही नहीं किया, जैसे चन्द्रमा चाँदनी का त्याग नहीं करता ॥ ६ ॥

[नोट—पुत्र की पुत्रता नीचे के श्लोक में बतलायी गयी—

" जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यब्दं भूरिभोजनात् ।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥ "

अर्थात् पुत्रोत्पादन करने की आवश्यकता यही है कि, (१) जब तक पिता जीवित रहे तब तक पुत्र अपने पिता की आज्ञा माने (२) पिता के मरने पर प्रतिवर्ष पिता की मरणतिथि को पिण्डदान कर अनेक ब्राह्मणों को भोजन करावे और (३) गया में जा कर पिण्ड दे कर पिता का उद्धार करे । पुत्र के ये ही तीन मुख्य कर्त्तव्य है ।]

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।
तद्भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥

अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस निष्कण्टक राज्य को तुम भोगो और तुरन्त अपना अभिषेक करवा, अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः[3] ।
कोट्यापरान्ताः[4] सामुद्रा रत्नान्यभिहरन्तु ते ॥ ८ ॥

---

१ सतां—पितृनिदेशवर्तिनाम् । (गो०) २ धर्मं—पितृवचनपरिपालन रूपं । (गो०) ३ केवलाः—सिंहासनादिरहिता इत्यपरान्तादि विशेषणं । ४ अपरान्ताः—अपरान्तदेशवासिनोयवनाः । (गो०)

उत्तर पश्चिम और दक्षिण देशवासी राजा तथा अन्य वेतिलक के ज़मीदार तथा पश्चिमान्त सीमावासी यवनादि, तथा द्वीपों के राजा लोग तुमको करोड़ों रत्न भेंट करेंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः ।
जगाम मनसा रामं[1] धर्मज्ञो[2] धर्मकाङ्क्षया[3] ॥ ९ ॥

भरत जी गुरु वशिष्ठ के ये वचन सुन, बहुत दुःखी हुए। वंश-परम्परागत ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है—इस कुलधर्म को जानने वाले, भरत जी ने बड़े भाई का अनुगमन करने की आकांक्षा से, श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण किया ॥ ९ ॥

स वाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा ।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

उस समय कलहंस की तरह स्वर वाले युवा भरत का गला भर आया, वे विलाप करने लगे और उन्होंने कुलपुरोहित वशिष्ठ जी के इस कथन को सर्वथा अनुचित बतलाया ॥ १० ॥

[4]चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य[5] धीमतः[6] ।
धर्मे [7]प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो[8] हरेत् ॥ ११ ॥

---

१ रामं मनसा जगाम्—संस्मारेत्यर्थः । (गो०) २ धर्मज्ञः—कुलक्रमागत ज्येष्ठाभिषेचनरूपधर्मज्ञः । (गो०) ३ धर्मकाङ्क्षया—ज्येष्ठानुवर्तन रूप धर्म-लिप्सया । (गो०) ४ चरितब्रह्मचर्यस्य—अनुष्ठितगुरुकुलवासस्य । (गो०) ५ विद्यास्नातस्य—निखिलवेदाध्ययनानन्तरभाविस्नानकर्मयुक्तस्य । (गो०) ६ धीमतः—तदर्थज्ञस्य । (गो०) ७ धर्मे प्रयतमानस्य—तदर्थानुष्ठान वतः । (गो०) ८ मद्विधः—शास्त्रवश्योनाहशः । (गो०)

भरत जी कहने लगे—हे ब्रह्मन्! जो श्रीरामचन्द्र जी गुरु-कुल में रह कर, निखिल साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़े हुए हैं और उनका अर्थ भी भली भाँति जानते हैं और तदनुसार अनुष्ठान भी करते रहते हैं, उन श्रीरामचन्द्र जी का राज्य भला मुझ जैसा शास्त्र के मत का जानने वाला, क्योंकर हरण कर सकता है ॥ ११ ॥

[नोट—शिरोमणि टीकाकार ने धर्मेप्रयतमानस्य का अर्थ किया है—"पितृप्रतिज्ञा पालने प्रयतमानस्य"]

कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः ।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्म वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ से उत्पन्न कोई क्योंकर धर्मानुमोदित दूसरे के राज्याधिकार को अपहृत कर सकता है। केवल यह सारा राज्य ही नहीं, बल्कि मैं स्वयं भी श्रीरामचन्द्र का हूँ। हे पुरोहित जी! आप जो कुछ कहें, सो धर्मानुमोदित ही कहें ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः ।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥

दिलीप और नहुष की तरह जैसे महाराज दशरथ, इस राज्य के अधिकारी थे, वैसे ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ही इस राज्य को पाने के अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि ।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥

यदि मैं आपके कथनानुसार इस राज्य को ग्रहण कर, असाधु सेवित और स्वर्गविरोधी महापाप करूँ, तो सब लोग मुझे इक्ष्वाकु-कुल का नाश करने वाला बतलावेंगे ॥ १४ ॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये ।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

मेरी माता जो पापकर्म कर बैठी है—वह भी मुझे पसन्द नहीं है । मैं (इसके लिये) वन में बैठे हुए श्रीरामचन्द्र को हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ—अर्थात् माता के अनुचित कर्म के लिये क्षमा माँगता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदांवरः ।
त्रयाणामपि लोकानां राज्यमर्हति राघवः ॥ १६ ॥

और उनका अनुगामी होता हूँ । नरों में श्रेष्ठ वे ही राजा हैं । वे तीनों लोकों का राज्यशासन करने योग्य हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्यशासन करना कौन बड़ी बात है ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरत जी के ऐसे धर्मानुमोदित वचन सुन सब के सब सभासद जिनका मन श्रीरामचन्द्र जी में लगा था, आनन्द के आँसू गिराने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरत जी फिर कहने लगे—यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से न लौटा सका, तो मैं उसी वन में श्रीरामचन्द्र जी के पास लक्ष्मण जी की तरह रहूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं च वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात्* ।
समक्षमार्यमिश्राणां[1] साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से लौटाने के लिये, (आप सब) सभासदों और अच्छे गुण वाले साधु जनों की उपस्थित ही में, सब प्रकार के उपाय करूँगा । (अर्थात् आप लोग मेरे साथ चलें और देखें कि, मैं श्रीरामचद्र जी को लौटाने के लिये उपाय करने में कोई कोरकसर नहीं करता) ॥ १९ ॥

[2]विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकतक्षकाः ।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्राऽपि मम रोचते ॥ २० ॥

मैंने पहिले ही बेगारी तथा पारिश्रमिक ले कर काम करने वाले चतुर मार्गशोधकों और बढ़इयों को, रास्ता ठीक करने के लिये भेज दिया है ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

यह कह भ्रातृवत्सल एवं धर्मात्मा भरत ने सलाह देने में चतुर और पास बैठे हुए सुमंत्र से कहा ॥ २१ ॥

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् ।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

तुम उठ कर शीघ्र जाओ और सेना को यह जना कर कि, मेरी आज्ञानुसार उनका यहाँ से प्रस्थान करना होगा, तुरन्त अपने साथ लिवा लाओ ॥ २२ ॥

---

१ आर्यमिश्राणां—सदृत्तानां । (गो०) २ विष्टिकर्मान्तिकाइति—विष्टयो भृतिमन्तरेण जनपदेभ्यः समानीताः कर्मकराः । (गो०) * पाठान्तरे—"बलात्" ।

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।
*प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरत जी के ये वचन सुन, सुमंत्र ने प्रसन्न हो भरत जी के आज्ञानुसार सब काम किया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

भरत जी की इस आज्ञा को कि, श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिये चलना होगा, सुन कर प्रजाजन, तथा सेनापति लोग बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन्सर्वान्गृहे गृहे ।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

घर घर, योद्धाओं की स्त्रियां, हर्षित हो कर, अपने अपने पतियों से, श्रीरामचन्द्र को लौटा लाने के लिये वन में जाने की, जल्दी मचाने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रैः स्यन्दनैश्चमहाजवैः ।
सह योधैर्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सब सेनाध्यक्षों ने घोड़ो बैलों से खींचे जाने वाले और तेज चलने वाले रथों पर सवार हो समस्त सेना को शीघ्र चलने की आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद्बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसन्निधौ ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

---

* पाठान्तरे—"हृष्टस्तदादिशत्सर्वं" ।

सेना को यात्रा के लिये तैयार देख, गुरुवशिष्ठ की सन्निधि में और अपनी बग़ल में बैठे हुए सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तुरन्त लाओ ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां प्रतिगृह्य च हर्षितः ।
रथं गृहीत्वा प्रययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

सुमंत्र जी "जो आज्ञा" कह और उनके आदेशानुसार प्रसन्न होते हुए गये और बड़े अच्छे घोड़े जोत कर, एक रथ भरत जी के सामने ला खड़ा किया ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः[1] प्रतापवान्
ध्रुवन्सुयुक्तं[2] दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन्भरतोऽब्रवीत्तदा ॥ २९ ॥

वे धैर्यवान्, प्रतापी, दृढ़प्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी भरत जी, महावन में गये हुए यशस्वी श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न कर लौटा लाने का विचार कर, सुमंत्र जी से बोले ॥ २९ ॥

तूर्णं समुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

---

१ सत्यधृतिः—अप्रच्युतधैर्यः । (गो०) २ सुयुक्तंध्रुवन्—गुरुंप्रसादयिष्यन् । (गो०)

हे सुमंत्र ! तुम तुरन्त सेनानायकादि, सुहृदों तथा अन्य मुख्य मुख्य प्रजाजनों को तैयार होने की आज्ञा दो। मैं जगत् के कल्याण के लिये श्रीरामचन्द्र को वन से लौटाने के लिये वन जाना चाहता हूँ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-
ग्ाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।
शशास सर्वान्प्रकृतिप्रधाना-
न्बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरत जी के वचन सुन, पूर्णकाम सूत सुमंत्र ने प्रजा के मुखियों, सेनाध्यक्षों, तथा सुहृद जनों से, भरत जी की आज्ञा समझा कर, कह दी ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले[1] कुले ते
राजन्यवैश्या वृषलाश्च[2] विप्राः ।
अयूयुजन्नुष्ट्रखरान्बलांश्च
नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

इति द्व्यशीतितमः सर्गः ॥

अनन्तर घर घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने ऊँट, रथ, खच्चर और अच्छे जाति के हाथी और घोड़ों को तैयार करने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का व्यासीवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ कुले कुले—गृहे गृहे । (गो०) २ वृषलाः—शूद्राः । (गो०)

त्र्यशीतितमः सर्गः

—: o :—

ततः समुत्थितः काल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

तदनन्तर सवेरा होते ही भरत जी उठे और सुन्दर रथ पर सवार हो कर, श्रीरामचन्द्र के दर्शन की कामना किये हुए शीघ्रता से रवाना हुए ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधसः ।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान्रथान्सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

भरत जी के रथ के आगे आगे सब मंत्रि और पुरोहित घोड़ों के रथों में, जो सूर्य नारायण के रथ के समान चमकीले थे, बैठ कर चले ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

और अच्छी तरह सजे हुए ९ हज़ार हाथी इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत जी के रथ के पीछे चले ॥ ३ ॥

षष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

और साठ हज़ार रथों में बैठ कर विविध अस्त्रधारी, धनुर्द्धर यशस्वी राजकुमार भरत जी के पीछे चले ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम् ।
अन्वयुर्भरतं यान्तं सत्यसन्धं जितेन्द्रियम् ॥ ५ ॥

और घोड़ों पर चढ़े हुए, एक लाख घुड़सवार जितेन्द्रिय एवं सत्यप्रतिज्ञ भरत जी के साथ चले ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंहृष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र जी को लौटा लाने के लिये प्रसन्न हो, परम दीप्तिमान् रथों पर चढ़ कर चलीं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसङ्घाता[1] रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम् ।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

द्विजातियों के झुण्ड के झुण्ड श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये (अयोध्या से) रवाना हुए । वे लोग आपस में श्रीरामचन्द्र जी ही का विचित्र वृत्तान्त कहते सुनते और प्रसन्न होते हुए चले जाते थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

वे कहते थे कि, हम लोग उन मेघश्याम, महाबाहु, दृढ़व्रत, स्थिरव्यवसायी और जगत का शोक नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र को कब देखेंगे ॥ ८ ॥

---

१ आर्यसंघाताः—त्रैवार्णिकसंघाः । (गो०)

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य उदय होते ही त्रिभुवन के अन्धकार को नाश कर देते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जो महाराज अपने दर्शन मात्र से हम लोगों के शोक को दूर करेंगे ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिका जनाः ॥ १० ॥

उस समय नगर के रहने वाले, सब लोग आपस में इस प्रकार शुभ कथा कहते और मारे हर्ष के एक दूसरे के गले से भेंटते हुए, चले जाते थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता[1] ये च नैगमाः ।
रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः [2]प्रकृतयस्तथा ॥ ११ ॥

अयोध्यावासी जिन प्रसिद्ध वनियों को भरत जी ने चलने की आज्ञा दी थी और जिनको आज्ञा नहीं दी थी, वे भी, वनिये तथा अन्य सब प्रजाजन प्रसन्न मन से श्रीरामदर्शनार्थ चले जाते थे ॥११॥

मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः[3] ।
[4]सूत्रकर्मकृतश्चैव ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥

प्रजाजनों में से कोई चतुर जड़िया थे, कोई चतुर कुम्हार थे, कोई कपड़ा बिनने वाले कोरी थे और कोई हथियार बनाने वाले कारीगर थे ॥ १२ ॥

---

१ संमताः—प्रसिद्धाः । (रा०) २ प्रकृतयः—श्रेण्यः । (रा०)
३ शोभनाः—स्वकार्यदक्षाः । (गो०) ४ सूत्रकर्मकृतः—तन्तुवायादयः । (गो०)

मायूरकाः क्राकचिका रोचका[1] वेधकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

कोई मोरपङ्खी बनाने वाले, कोई आरी से लकड़ी चीरने वाले और कोई कलईगर थे, अथवा कोई काच की शीशी बनाने वाले, कोई मणियों और मोतियों को वेधने वाले, कोई हाथी दाँत का काम बनाने वाले, कोई अस्त्रकारी करने वाले, और कोई गँधी थे ॥ १३ ॥

९

सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलधावकाः ।
[2]स्नापकोच्छादका[2] वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥१४॥

कोई प्रसिद्ध सुनार थे, कोई कंबल बनाने वाले या धोने वाले थे, कोई शरीर में तेल उबटन कर गर्म जल से स्नान कराने वाले थे, कोई पगचप्पी (पैर दबाने वाले) थे, कोई वैद्य थे, कोई घर में धूप दे कर घर का वायु शुद्ध करने वाले थे और कोई कलार (शराब बेचने वाले) थे ॥ १४ ॥

रजकास्तुन्नवायाश्च[4] [5]ग्रामघोषमहत्तराः ।
शैलूषाश्च[6] सह स्त्रीभिर्ययुः कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥

उनमें कोई धोबी थे, कोई दर्ज़ी थे, कोई गाँवों के मुखिया थे, कोई अहीरों के मुखिया थे, कोई नट अपनी स्त्रियों सहित थे (ये नट

---

१ रोचकाः—काचकुप्यादिकर्तारः इति कतकः । २ स्नापकाः—तैलाभ्यङ्गादिस्नानकारिणः । (गो०) ३ उच्छादकाः—अङ्गमर्दकाः । (गो०) ४ तुन्नवायाः—सूच्यासीवनकर्तारः । (रा०) ५ ग्रामघोषमहत्तराः—ग्राममहत्तराः घोषमहत्तराश्च । (गो०) ६ शैलूषाः—नृमिकाधारिणः स्त्रीजीविनोवा । (गो०)

स्त्रीजीवी होने के कारण ही स्त्रियों सहित गये थे) और कोई मल्लाह थे ॥ १५ ॥

[1]समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।
[2]गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

सहस्रों सदाचारी वेदपाठी ब्राह्मण जिनका मन श्रीराम में लगा था, छकड़ों पर बैठ भरत जी के पीछे हो लिये थे ॥ १६ ॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रसृष्टानुलेपनाः ।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥

सब ही सुन्दरवेश बनाये, सुन्दर वस्त्र पहिने और लाल चन्दन लगाये और तरह तरह की सवारियों पर सवार, धीरे धीरे भरत जी के पीछे चले जाते थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात्कैकयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब कैकेयीनन्दन एवं भ्रातृवत्सल भरत, श्रीरामचन्द्र को लौटा लाने के लिये चले, तब सैनिक लोग भी हर्षित होते हुए भरत जी के साथ चले जाते थे ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गिवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

वे लोग, रथों, पालकियों, छकड़ों आदि सवारियों तथा घोड़ों और हाथियों पर सवार हो, बहुत दूर चलने के बाद, शृङ्गवेरपुर में गङ्गा जी के तट पर पहुँचे ॥ १९ ॥

---

१ समाहिताः—रामावेशतचित्ताः । (शि०) २ गोरथैः—शकटैः । (गो०)

यत्र रामसखो वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का मित्र गुह, अपनी जाति के लोगों के साथ, सावधानी के साथ, उस देश का पालन करता हुआ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवातिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

भरत जी के पीछे चलने वाली वह सेना चक्रवाकों से सुशोभित भागीरथी गङ्गा के तट पर पहुँच कर, वहीं ठिक रही ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान्सर्वानब्रवीद्वाक्य कोविदः ॥ २२ ॥

वचन बोलने में चतुर भरत जी अपने साथ चलने वाली सेना को टिकी हुई देख व सुखद गङ्गाजल को निहार सब मंत्रियों से कहने लगे ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इदानीमिमां नदीम् ॥२३॥

मैं चाहता हूँ कि, मेरी सेना आज यहीं पर अपने लिये अनुकूल स्थान देख टिके, कल सब इस नदी के पार उतरेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मैं स्वर्गवासी महाराज दशरथ को, उनकी और्द्धदेहिक क्रिया के निमित्त, कल इस नदी को पार करने के समय जल दूँ अर्थात् गङ्गाजल से तर्पण करूँ ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन[1] स्वेनस्वेन पृथक्पृथक् ॥ २५ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा, तब मंत्रियों ने "जो आज्ञा" कह, बड़ी सावधानी से सब लोगों को उनकी इच्छानुसार अलग अलग टिका दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिवर्हशोभिनीम्[2] ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तयानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

इति त्र्यशीतितमः सर्गः ॥

महात्मा भरत जी, महानदी गङ्गा के तट पर यथाविधान पात्रोपयुक्त (अथवा तंबू, खीमों में) अपनी सेना को टिका, श्रीरामचन्द्र जी के लौटाने की चिन्ता करते हुए, वहाँ निवास करते हुए ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ छन्देन—इच्छया । (गो०) २ परिवर्हशोभिनीम्—परिवर्हो यात्रोपयुक्त-पटवेश्माद्युपकरणं । (गो०)

चतुरशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततो निविष्टां ध्वजिनीं[1] गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन्सन्त्व[2]रितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जी की चतुरङ्गिनी सेना को गङ्गा जी के किनारे टिकी हुई देख और सशङ्कित हो गुह ने अपनी जाति वालों से कहा ॥१॥

महतीऽयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।
*तस्यान्तं नाधिगच्छामि मनसाऽपि विचिन्तयन् ॥ २ ॥

यहाँ पर यह बड़ी सेना समुद्र के समान पड़ी हुई देख पड़ती है । मैं कल्पना कर के भी इसका अन्त नहीं पा सकता अर्थात् गणना नहीं कर सकता ॥ २ ॥

यथा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

मैं समझता हूँ कि, निश्चय ही भरत बुरे विचार से स्वयं आये हैं, क्योंकि इस महाकाय रथ पर, कोविदार (कचनाराकार) इक्ष्वाकुकुल की ध्वजा, फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा दाशानथ[3] वाऽस्मान्वधिष्यति ।
अथ[4] दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद्विवासितम्[5] ॥४॥

---

१ ध्वजिनीं—सेनां । (गो०) २ संत्वरितः—ससंभ्रमः । (गो०) ३ दाशानस्मान् । (गो०) ४ अथ—अथवा । (गो०) ५ विवासितं—दुर्बलं । (गो०) * पाठान्तरे—" नास्यान्तमधिगच्छामि " ।

अतः या तो भरत जी मुझे गिरफ्तार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे। अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए असहाय दुर्बल श्री-रामचन्द्र जी का वध करेंगे ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।
भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं तमुपगच्छति ॥ ५ ॥

सो क्या कैकेयी के पुत्र भरत यह परमदुर्लभ राजश्री को भली भाँति अपने अधिकर में कर लेने के विचार से, कहीं श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये तो नहीं जा रहे ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम ।
तस्यार्थकामाः[1] सन्नद्धा[2] गङ्गानूपे प्रतिष्ठत ॥ ६ ॥

परन्तु वह दशरथनन्दन श्रीराम, मेरे स्वामी, अथवा सखा सभी कुछ हैं, अतएव तुम सब लोग श्रीराम के प्रयोजन के लिये, कवच पहिन और हथियार ले, गङ्गा के कछार में तैयार रहो ॥ ६ ॥

तिष्ठन्तु सर्वे दाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।
बलयुक्ता[3] नदीरक्षा[4] मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥

मेरे अधीन के सब नौकर, सेना सहित, फल, मूल एवं मांस खाते हुए, गङ्गा जी के पास उतारे के घाटों की रक्षा करते रहें ॥७॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम् ।
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ॥ ८ ॥

---

१ अर्थकामाः—प्रयोजन सिद्धिविषयकेच्छावन्तः । (शि०) २ सन्नद्धा—धृतकवचाः । (शि०) ३ बलयुक्ताः—सेनायुक्ताः । (गो०) ४ नदीरक्षाः—नदीतरणमार्गरक्षन्तः । (गो०)

घाटों की रखवाली के लिये गुह ने कहा कि, पाँच सौ नावें रहैं और उनमें से प्रत्येक नाव पर सौ सौ जवान मल्लाह कवच पहिन और हथियार ले, तैयार रहैं ॥ ८ ॥

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।
सेयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

यदि भरत जी, श्रीरामचन्द्र के विषय में मुझे सन्तुष्ट जान पड़ेंगे, तो ही उनकी सेना, सकुशल गङ्गा को पार कर सकेगी ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च ।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

इस तरह अपने नौकरों और सैनिकों को सावधान कर, निषादपति गुह मछलियाँ, मांस, और शहद भरत जी को भेंट करने के लिये अपने साथ ले कर, चला ॥ १० ॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
भरतायाचचक्षेऽथ विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

प्रतापी और विनीतवान् सुमंत्र ने निषाद को आते देख, विनीत भाव से भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः[1] परिवारितः ।
कुशलो दण्डकारण्ये[2] वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ॥ १२ ॥

यह गुह यहाँ का राजा है और अपने सहस्रों बिरादरी के लोगों को साथ लिये हुए आता है । यह वृद्ध गुह दण्डकारण्य का घूमने

---

१ स्थपतिः—प्रभुः । (गो०) २ दण्डकारण्येकुशलः—तत्रसञ्चरण समर्थइत्यर्थः । (गो०)

फिरने वाला होने के कारण, वहाँ का रत्ती रत्ती हाल जानता है और तुम्हारे भाई श्रीरामचन्द्र का मित्र है ॥ १२ ॥

तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः ।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! तुम निषादों के राजा गुह से भेंट करो । क्योंकि निश्चय ही यह वह स्थान जानता है, जहां वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण वन में निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्भरतः शुभम् ।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमंत्र से ये शुभ वचन सुन, भरत बोले कि, अच्छा, गुह से तुरन्त जा कर कहो कि, वह मुझसे मिले ॥ १४ ॥

लब्ध्वाभ्यनुज्ञां संहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

भरत की आज्ञा पा, गुह अपने जाति बिरादरी के लोगों के साथ, भरत जी के पास आ, प्रसन्न होता हुआ बोला ॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव[1] देशोऽयं वञ्चिताश्चापि[2] ते वयम् ।
निवेदयामस्ते सर्वं स्वके दासकुले वस ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! यह देश आपके घर की वाटिका (नजरबाग़) के तुल्य है । आपने अपने आने की सूचना हमें नहीं दी ; अतः हम

---

१ निष्कुट—गृहारामभूतः । (गो०) २ वञ्चिताः—अत्र गमनानिवेदनेन वञ्चिता इत्यर्थः । (गो०)

लाग आपका यथाविधि स्वागत करने से वञ्चित रहे। यह सम्पूर्ण राज्य आपका है और हम सब भी आपके हैं। अतः आप अपने दास के घर में वास कीजिये ॥ १६ ॥

अस्ति मूलं फलं चैव निषादैः समुपाहृतम्।
आर्द्रं च मांसं शुष्कं च वन्यं चोच्चावचं महत् ॥१७॥

निषाद लोगों के लाये हुए फल मूल, ताज़ा और सूखा मांस तथा वन में उत्पन्न होने वाली अन्य थोड़ी बहुत भक्ष्य वस्तुएँ ये उपस्थित हैं ॥ १७ ॥

आशंसे[1] स्वाशिता[2] सेना वत्स्यतीमां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥१८॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः ॥

मेरी प्रार्थना है कि, आज सेना मेरे यहां अच्छी तरह (मेरे अर्पण किये हुए) भोजन कर, रात भर यहीं रहे और हम लोग यहां हर तरह से सेवा करें। तदनन्तर आप सेना सहित कल यात्रा करें ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरासीवां सर्ग समाप्त हुआ।

—:※:—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—:०:—

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥

---

१ आशंसे—प्रार्थयामि। (गो०) २ स्वाशिता—सुष्ठुभोजिता। (गो०)

निषादाधिपति गुह के वचन सुन, महाप्राज्ञ भरत ने अपना अभिप्राय जनाने के लिये युक्तियुक्त वचन कहे ॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे ।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामेकोऽभ्यर्चितुमिच्छसि ॥ २ ॥

हे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र ! तुम जो अकेले ही मेरी इतनी बड़ी सेना की पहुनाई करना चाहते हो—सो यह तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा भारी मनोरथ है । (अर्थात् तुम्हारे इस आदर से ही हम अपने को सत्कारित मानते हैं) ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा तु महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।
अब्रवीद्भरतः श्रीमान्निषादाधिपतिं पुनः ॥ ३ ॥

परम तेजस्वी श्रीमान् भरत जो गुह से इस प्रकार श्रेष्ठ वचनों द्वारा बातचीत कर, फिर बोले ॥ ३ ॥

कतरेण[1] गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह ।
गहनोऽयं भृशं[2] देशो गङ्गानूपो[3] दुरत्ययः ॥ ४ ॥

हे निषादराज ! भला यह तो बतलाओ कि, हम किस मार्ग से भरद्वाज के आश्रम को जायँ । क्योंकि हम देखते हैं कि, यह गङ्गा का जलप्रायदेश अत्यन्त दुष्प्रवेश्य अथवा दुर्गम है ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

---

१ कतरेण—केनमार्गेण । (गो०) २ भृशंगहनः—अत्यन्तदुष्प्रवेशः । (गो०) ३ अनूपोदेशः—जलप्रायोदेशः । (गो०)

बुद्धिमान राजकुमार भरत का यह प्रश्न सुन, सब दुर्गम स्थानों का रास्ता जानने वाला गुह, हाथ जोड़ कर, भरत जी से बोला ॥ ५ ॥

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुसमाहिताः ।
अहं त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः ॥ ६ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! आप इसके लिये कुछ भी चिन्ता न करें। जो इस प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल जानते हैं, वे आपकी रखवाली के लिये धनुष बाण ले, बड़ी सावधानता पूर्वक आपके साथ जायँगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

किन्तु, आपकी इस विशाल सेना को देख, मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि, कहीं आप अक्लिष्टकर्मा श्रीराम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

गुह के ऐसा कहने पर आकाश की तरह निर्मल स्वभाव के भरत जी निषाद से (ऐसा सन्देह करने के लिये नाराज़ हो कर कड़े वचन नहीं बोले, प्रत्युत) मधुर वचन बोले ॥ ८ ॥

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

हे गुह ! वह बुरा समय न आवे, जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो जाय। तुमको भी मेरे सम्बन्ध में ऐसा अनुचित सन्देह करना उचित नहीं। क्योंकि मैं तो अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी को अपने पिता के तुल्य मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।
बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

हे गुह ! मैं तो वनवासी श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये जा रहा हूँ। इस सम्बन्ध में तुमको अन्यथा न समझना चाहिये। मैं यह बात तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।
पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरत जी के यह वचन सुन, गुह प्रसन्न हो गया और प्रसन्न हो, पुनः भरत जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२॥

हे भरत ! आप धन्य हैं। आपके समान इस धराधाम पर मुझे दूसरा कोई नहीं देख पड़ता। क्योंकि, आप बिना प्रयत्न किये हाथ लगे हुए राज्य का, त्याग करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्त्तिर्लोकाननुचरिष्यति ।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

निश्चय ही आपकी यह कीर्ति सदा इस लोक में बनी रहेगी। क्योंकि आप कष्ट पाते हुए श्रीराम को लौटा लाना चाहते हैं ॥१३॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।
ववौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

इस प्रकार गुह की भरत से बातचीत हो रही थी कि, इतने में सूर्य का प्रकाश नष्ट हो गया (अर्थात् सूर्य अस्त हो गये) और रात हो गई ॥ १४ ॥

सन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।
शत्रुघ्नेन सह श्रीमाञ्शयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुह की बातचीत और ख़ातिरदारी से सन्तुष्ट हो भरत जी, अपनी सेना को टिका कर, शत्रुघ्न सहित पुनः लेटने को चले गये ॥ १५ ॥

["शयनं पुनरागमत्" से जान पड़ता है कि, गुह से भेंट करने के पूर्व भी भरत जी लेटे हुए आराम कर रहे थे ।]

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः[1] ।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य[2] धर्मप्रेक्षस्य[3] तादृशः[4] ॥ १६ ॥

परन्तु दुःखी न होने के योग्य उन भरत जी को भी, जो बड़े धैर्यवान् थे, तथा शोकमूलक पाप से शून्य थे, श्रीरामचन्द्र जी के चिन्तारूपी अति दुस्सह शोक ने घेर लिया ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः सन्तापयति राघवम् ।
वनदाहाभिसन्तप्तं[5] गूढोऽग्निरिव[6] पादपम् ॥ १७ ॥

---

१ महात्मन—महाधीरस्यापि । (गो०) २ अनर्हस्य—नशोकयोग्यस्य । (शि०) ३ धर्मप्रेक्षस्य—शोकमूलपापशून्यस्य । (गो०) ४ तादृशः—अतिदुस्सहः । (शि०) ५ सन्तप्तं—शुष्कं । (गो०) ६ गूढोऽग्निरिव—कोटराग्निरिव । (गो०)

और वह शोकरूपी आग भरत जी को भीतर ही भीतर उसी प्रकार दग्ध करने लगी, जिस प्रकार वनाग्नि से सूखे हुए पेड़ को उसके खोड़र की आग दग्ध करती है ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।
यथा सूर्यांशुसन्तप्तो हिमवान्प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

शोकाग्नि से उत्पन्न पसीना, भरत जी के सारे शरीर से उसी प्रकार निकलने लगा, जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से पिघल कर हिमालय से बर्फ़ गिरता है ॥ १८ ॥

[आदि कवि ने भरत के शोक की उपमा पर्वत से दी है—वे कहते हैं]

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना ।
दैन्यपादपसङ्घेन [1]शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥ १९ ॥

भरत के शोक रूपी पर्वत को, श्रीरामचन्द्र जी का उत्सुकता पूर्वक ध्यान ही मानों छिद्ररहित शिलाएँ हैं, बारबार लिये हुए दीर्घ श्वास मानों गेरुआदि की धाराएँ हैं, दीनता मानों पेड़ों का समूह है, और शोक से उत्पन्न हुई मन की थकावट, मानों उस पर्वत के शृङ्ग (चोटियाँ) हैं ॥ १९ ॥

प्रमोहानन्तसत्त्वेन[2] सन्तापौषधिवेणुना ।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः ॥ २० ॥

और अत्यन्त मोह ही मानों अनेक वनैले जीव जन्तु हैं, तथा सन्ताप उस पर्वत की औषधियाँ तथा बाँस हैं। ऐसे दुःखरूपी पर्वत के नीचे कैकेयीनन्दन भरत दब गये ॥ २० ॥

---

१ शोकायासाधि—शोकजाचित्तश्रान्तयः । (रा०) २ अनन्तसत्त्वानि—वन्यप्राणिनोयस्मिंस्तेन । (रा०)

विनिःश्वसन्वै भृशदुर्मनास्ततः
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथगतो यथर्षभः ॥ २१ ॥

इस प्रकार भरत जी के ऊपर बड़ी भारी विपत्ति आयी—वे ऊँची साँसे लेने लगे और बहुत उदास हो गये। उनको अपने शरीर की सुध न रही। वे मानसिक शोकज्वर से अत्यन्त पीड़ित थे। वे, अपनी हेड़ से बिछुड़े हुए बैल की तरह, किसी प्रकार भी शान्ति न पा सके ॥ २१ ॥

[1]गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः[2] समाहितः[3] ।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः
गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

गुह से आलिंगन किये हुए भरत को, जो श्रीरामचन्द्र जी के वनगमन के कारण बहुत उदास थे, गुह ने अपने भाईबंदों सहित एकाग्रचित्त हो, पुनः धीरे धीरे समझाया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

१ गुहेनसार्धं समागतः—गुहेनआलिङ्गितोयोभरतः । (शि०) २ सज्जनः—सपरिवारः । (गो०) ३ समाहितः—एकाग्रचित्तः । (गो०)

षडशीतितमः सर्गः

—:०:—

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

अनन्तर दुर्गम वन में रहने वाले गुह, अमित गुणशाली भरत जी से, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति महात्मा लक्ष्मण जी का जो सद्भाव (प्रीति) था वह कहने लगे ॥ १ ॥

तं जाग्रतं [1]गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम् ।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रवम् ॥ २ ॥

हे प्रभो ! जब भाई की रखवाली के लिये तीर और कमान लें कर, भ्रातृभक्त लक्ष्मण जाग कर पहरा दे रहे थे, तब मैंने उनसे कहा ॥ २ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥

हे तात ! आपके सोने के लिये यह सुख की देने वाली सेज तैयार है, हे राघवनन्दन ! आप सुख से इस पर सोइये ॥ ३ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः ।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

आप तो सुख पाने के योग्य हैं । दुःख तो सहने योग्य हम लोग हैं । सो हम लोग श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये जागते रहेंगे ॥४॥

---

१ गुणैः—भ्रातृभक्त्यादिगुणैः । (गो०)

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।
मोत्सुकोऽभूर्ब्रवीम्येतदप्यसत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

(यह मत समझना कि, हम रखवाली करने में असावधानी करेंगे, क्योंकि) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर प्रिय मेरे लिये और दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके सामने यह बात सत्य ही कहता हूँ। आप श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये ज़रा भी किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थावाप्तिं च केवलाम्[1] ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ही की कृपा से मैं इस लोक में बड़े यश की और विपुल धर्म तथा कामोपार्जित धन पाने की आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥७॥

अतः हे लक्ष्मण ! मैं धनुष ले कर अपने प्रिय सखा श्रीरामचन्द्र जी की, जो सीता सहित सो रहे हैं, अपने बिरादरों के साथ रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

इस प्रान्त का रत्ती रत्ती हाल मुझे मालूम है। क्योंकि मैं यहाँ के बन में सदा घूमा फिरा ही करता हूँ। कदाचित् श्रीराम के

---

१ केवलान्—न्यायप्राप्तानितियावत् । (गो०)

ऊपर आक्रमण करने को चतुरङ्गिनी सेना भी आ जाय, तो भी मैं युद्ध में एक वार उसे रोक सकता हूँ ॥ ८ ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! मेरी ये वातें सुन, धर्म में निष्ठा रखते हुए महात्मा लक्ष्मण जी, हम सब को यह सिखाने लगे ॥ ९ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥१०॥

जब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी सहित पृथिवी पर पड़े सो रहे हैं, तब मैं किस तरह इस सुखसेज पर सो सकता हूँ। मैं प्राणों को कैसे रख सकता हूँ (और प्राणों को सुख देने वाले) सुखों को कैसे भोग सकता हूँ। ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

देखो न जिन श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में क्या देवता और क्या असुर कोई भी नहीं ठहर सकता, वे ही श्रीराम, सीता सहित घासफूस के विस्तरे पर पड़े हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥

बड़ी तपस्या करने के बाद और विविध प्रयत्न करके महाराज दशरथ ने अपने जैसे लक्षणों वाला यह एकमात्र पुत्र पाया है ॥ १२ ॥

अस्मिन्प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

अतएव मैं कह सकता हूँ कि, इनको वन में भेज, महाराज बहुत दिनों जीवित न रह सकेंगे और निश्चय ही यह पृथिवी शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १३ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषोपरतं नूनमद्य राजनिवेशनम् ॥ १४ ॥

स्त्रियां उच्चस्वर से रोते रोते थक कर अब चुप हो गयी होंगी और अब राजभवन में सन्नाटा छाया होगा ॥ १४ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि जीवेयुः सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

मुझे आशा नहीं कि, महाराज, कौशल्या और मेरी माता आज की रात में जीवित बच जांय ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता भ्रातुरस्यान्वपेक्षया ।
दुःखिता या तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥१६॥

सम्भव है भ्रातृ के आने की प्रतीक्षा करती हुई मेरी माता जीती रहे, परन्तु वीरप्रसविनी माता कौशल्या का इस दुःख से जीवित रहना असम्भव है ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

महाराज पिता जी का कितने ही दिनों से मनोरथ था कि, श्रीरामचन्द्र को राज्य सिंहासन पर बैठावें, किन्तु अब उनका यह मनोरथ उनके मन ही में चला जायगा ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते ।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

जब मेरे पिता जी प्राणत्याग देंगे, तब जो उनके शव को दग्ध करेंगे, वे अपना जन्म सफल करेंगे ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥

जिस पुरी के चबूतरे और बैठक बड़े सुन्दर बने हैं, जिसमें मनोहर राजमार्ग हैं और जिसमें अच्छे अच्छे ऊँचे मकान सुशोभित हैं और जो सर्वप्रकार के रत्नों से भूषित हैं ॥ १९ ॥

गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥

जो हाथी, घोड़ों और रथों से परिपूर्ण है, जिसमें विविध भाँति के तुरही भेरी आदि बाजे बजा करते हैं और जिसमें सब प्रकार का सुख है और जो हृष्ट पुष्ट जनों से भरी है ॥ २० ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

जो वाटिकाओं और उपवनों से भूषित है, सभाएँ और उत्सव जहाँ सदा होते ही रहते हैं—ऐसी मेरे पिता की राजधानी में, जो लोग सुखी हो कर विचरेंगे, वे ही लोग धन्य हैं ॥ २१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन्सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

हे गुह ! चौदहवर्ष बीतने पर इस व्रत को पालन कर, क्या हम लोग भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक अयोध्या-पुरी में सुख से प्रवेश करेंगे ? ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं सुमहात्मनः ।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी साऽत्यवर्तत ॥ २३ ॥

गुह ने कहा—हे भरत ! राजकुमार और महात्मा लक्ष्मण जी तीर कमान हाथ में ले, खड़े रहे और इस प्रकार विलाप करते ही करते व खड़े ही खड़े सबेरा हो गया ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।
अस्मिन्भागीरथीतीरे सुखं सन्तारितौ मया ॥ २४ ॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर दोनों भाइयों ने, इन्हीं भागीरथी के तट पर, जटा बनाई । तब मैंने बड़े आराम से उनको पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ ।
वरेषुचापासिधरौ परन्तपौ
व्यवेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

महाबली, तेजस्वी और शत्रुओं के दमन करने वाले वे दोनों भाई, सीता को साथ ले और मस्तक पर जटा बनाये, वृक्ष के

छिलकों के वस्त्र पहिने हुए, तरकस और धनुष धारण किये हुए तथा मेरी ओर देखते हुए, गजराज की तरह चले गये ॥ २५ ॥

अयोध्याकाण्ड का त्र्यासीवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—:०:—

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र[1] तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

भरत जी ने ज्योंही गुह के ऐसे दुःखप्रद वचन सुने त्योंही, वे श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करने लगे ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

तदनन्तर सुकुमार, बड़ी भुजाओं वाले, केहरी के समान कंधे वाले, महाधैर्यवान्, कमलनयन, तरुण और मनोहर दर्शन वाले ॥२॥

प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।
पपात सहसा [2]तोत्रैर्ह्य[3]तिविद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत जी, जब दो घड़ी बाद सचेत हुए, तब बहुत उदास हो, हृदय में अङ्कुश खाये हुए हाथी की तरह अचानक मूर्छित हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

---

१ यत्रतत्रैव—यत्रक्षणेअप्रियं श्रुतं तत्रैवेत्यर्थः । (गो०) २ तोत्रैः—अङ्कुशैः । (रा०) ३ हृदि—हृदयदेशे । (रा०)

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽ[1]नन्तरस्थितः ।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ४ ॥

भरत जी की ऐसी दशा देख, निरन्तर भरत जी के पास रहने वाले शत्रुघ्न जी अत्यन्त दुखित एवं संज्ञाहीन हो, भरत जी के शरीर से लिपट कर, उच्चस्वर से विलाप कर रोने लगे ॥ ४ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः ।
उपवासकृशा दीना भर्तुर्व्यसनकर्शिताः ॥ ५ ॥

तब भरत जी की सब माताएँ, जो उपवास करने के कारण शरीर से कृश और पति की मृत्यु होने से शोकातुर हो रही थीं, (भरत जी को मूर्छित हुआ सुन) उनके पास दौड़ी हुई गयीं ॥ ५ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदन्त्यः पर्यवारयन् ।
कौसल्या [2]त्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिषस्वजे ॥ ६ ॥

और भरत जी को भूमि पर (मूर्छित) पड़ा देख, वे उनको चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गयीं। कौशल्या ने भरत जी के निकट जा और अधिक विकल हो, भरत जी को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया ॥ ६ ॥

वत्सला स्वं यथा [3]वत्समुपगूह्य तपस्विनी ।
परिपप्रच्छ भरतं रुदन्ती शोककर्शिता ॥ ७ ॥

---

१ अनन्तरंस्थितः—निरन्तरसमीपेस्थितः । (रा०) २ अनुसृत्यं—समीप प्राप्य । (गो०) ३ उपगूह्य—परिष्वज्य । (गो०)

तदनन्तर पुत्रवत्सल एवं तपस्विनी कौशल्या, अपने निज गर्भजात पुत्र के समान, भरत जी को अपने हृदय से लगा, शोकाकुल हो, रो रो कर उनसे पूँछने लगीं ॥ ७ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं परिवाधते ।
अद्य राजकुलस्यास्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ८ ॥

बेटा ! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी उठ खड़ी हुई है ? देखो, अब इस राजकुल का जीना मरना तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है ॥ ८ ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते ।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ ९ ॥

हे वत्स ! लक्ष्मण जी को साथ ले श्रीरामचन्द्र तो वन में चले ही गये, अब तो मैं तुम्हारा ही मुख देख कर जी रही हूँ । अब महाराज दशरथ के बाद, एक तुम्हीं हम लोगों के रक्षक हो ॥ ९ ॥

कच्चिन्नु लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किञ्चिदप्रियम् ।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ १० ॥

हे बेटा ! लक्ष्मण जी के बारे में तो तुमने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी ? अथवा मेरे एकमात्र पुत्र, जो स्त्री सहित वन में गया है, उसके विषय में तो कोई अमङ्गल समाचार नहीं सुना ? ॥ १० ॥

स मुहूर्तात्समाश्वस्य* रुदन्नेव महायशाः ।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

महायशस्वी भरत जी दो घड़ी बाद सचेत हुए । तब उन्होंने रुदन करती हुई कौशल्या को धीरज बंधाया और गुह से कहने लगे ॥ ११ ॥

---

* पाठान्तरे—"स मुहूर्तं समाश्वस्य" ।

भ्राता मे क्वावसद्रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः ।
अस्वपच्छयने कस्मिन्किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १२ ॥

हे गुह ! मेरे भाई श्रीराम ने रात कहाँ बिताई थी, उन्होंने भोजन क्या किया था और किस बिछौने पर वे सोये थे ; सीता और लक्ष्मण कहाँ रहे थे ? तुम ये सब वृत्तान्त मुझसे कहो ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीद्भरतं हृष्टो[1] निषादाधिपतिर्गुहः ।
यद्विधं[2] प्रतिपेदे[3] च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १३ ॥

निषादराज गुह ने, प्रसन्न हो, (प्रसन्न इसलिये कि उसे श्रीराम जी के गुणगान करने का अवसर प्राप्त हुआ) श्रीराम जैसे प्रिय और हितैषी अतिथि का जैसा सत्कार किया था—सो कहा ॥ १३ ॥

अन्नमुच्चावचं[4] भक्षाः फलानि विविधानि च ।
रामायाभ्यवहारार्थं बहु चोपहृतं मया ॥ १४ ॥

हे भरत ! मैंने तरह तरह के अन्न, भक्ष्य, और बहुत से फल मूल ला कर भोजन करने के लिये श्रीराम के आगे रखे थे ॥ १४ ॥

तत्सर्वं [5]प्रत्यनुज्ञासीद्रामः सत्यपराक्रमः ।
न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्म[6]मनुस्मरन् ॥ १५ ॥

---

१ गुहः हृष्टः—रामवृत्तान्तकीर्तनस्यावकाशोलब्धइतिसंजातहर्षःसन् । (गो०) २ रामे यद्विधं—यादृशमुपचारादिकं । (गो०) ३ प्रतिपेदे—अकरोदिति । (गो०) ४ उच्चावचं—अनेकविधं । (शि०) ५ प्रत्यनुज्ञासीत्—मदनुग्रहार्थमेवलमङ्गीकृत्यपुनर्मह्यमेवदत्तवान् । (रा०) ६ क्षत्रधर्मं—भागीरथी तीरं तत्रयोधर्मः अन्यदीयवस्तुग्रहणान्निवृत्तिस्तं । (शि०)

किन्तु सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने मुझ पर अनुग्रह करने के लिये सब चीज़ें वचन मात्र से ग्रहण कीं और मुझे क्षत्रिय धर्म का स्मरण करा कर (कि गङ्गा के तट पर क्षत्रियों को किसी की दी हुई वस्तु ग्रहण करना अनुचित है) वे सब वस्तुएँ मुझीको लौटा दीं ॥ १५ ॥

[नोट—किसी किसी टीकाकार का मत है कि, श्रीरामचन्द्र के उपवास करने का कारण तीर्थविधि का पालन था—अर्थात् तीर्थ में जा कर प्रथम दिन उपवास करना चाहिये। इसी लिये उन्होंने गुह की भेंट ग्रहण नहीं की थी। किन्तु आगे के श्लोक से यह अनुमान सिद्ध नहीं होता।]

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा।
इति तेन वयं राजन्[1]नुनीता महात्मना ॥ १६ ॥

और मुझसे कहा—हे सखे ! हम क्षत्रिय हैं, हमारा धर्म है कि, सदा सब को सब कुछ दिया तो करें, किन्तु लें कुछ भी नहीं। हे राजन् ! उन महात्मा श्रीराम ने हम लोगों से यह कहा ॥ १६ ॥

लक्ष्मणेन समानीतं पीत्वा वारि महामनाः* ।
औपवास्यं तदाऽकार्षीद्राघवः सह सीतया ॥ १७ ॥

महामना श्रीराम, लक्ष्मण जी का लाया हुआ जल, सीता सहित पी कर, उस रात उपवास करके रह गये ॥ १७ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा ।
[2]वाग्यतास्ते त्रय सन्ध्यां[3]ः समुपासत संहिताः[4] ॥१८॥

---

१ अनुनीता—प्रयुक्ता । शि०) २ वाग्यतः—नियतवाचः । (गो०) ३ सीतायाअपिसन्ध्यायांध्यानजपादिकमत्स्येव । (गो०) ४ संहिताः—समाहिताः । (गो०) * पाठान्तरे—" महायशः " ।

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने भी, जो जल बच रहा था, सो पी लिया। तदनन्तर तीनों ने मौन और एकाग्रचित्त हो, सन्ध्यावन्दन किया ॥ १८ ॥

[नोट—तीनों ने सन्ध्योपासन किया। तीन की संख्या में किसी किसी ने तो श्रीराम, लक्ष्मण और सुमंत्र की गणना की है, और किसी ने श्रीराम, लक्ष्मण और सीता की। जिस प्रकार सूतजातीय होने के कारण सुमंत्र को शास्त्रतः वैदिक सन्ध्योपासन करने का निषेध हो सकता है, उसी प्रकार स्त्रीजाति की होने के कारण सीता जी भी वैदिक सन्ध्योपासन करने की अधिकारिणी नहीं हैं। अतः जो समाधान सुमंत्र के लिये है, वही जानकी जी के लिये भी। श्रीगोविन्दराज जी का मत है कि, सीता ने जो सन्ध्योपासन किया उसमें केवल परमात्मा का ध्यान और उनके नाम का जप किया था। स्त्रियों तथा शूद्रों के लिये, परमात्मा का ध्यान करने और उनका नाम जपने का निषेध नहीं है। यहाँ पर एक शङ्का और उठती है। वह यह कि, जलपान के बाद सन्ध्योपासन कैसा? इसका समाधान भूषणटीका में इस प्रकार किया गया है कि, गुह ने भरत के इस प्रश्न के उत्तर में कि, श्रीराम ने क्या खाया था, कहा कि, मेरे लाये हुए फलादि को खाकर-लक्ष्मण के लाये हुए जल को पी कर, श्रीराम रहे। यह प्रसङ्गानुसार प्रश्न का उत्तर है। इससे यह न समझना चाहिये कि, जल पीने के अनन्तर श्रीरामचन्द्र ने सन्ध्योपासन किया था।]

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत्स्वास्तरं शुभम् ।
स्वयमानीय वर्हींषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महात्मा लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र के सोने के लिये तुरन्त कुश ला कर बिछा दिये ॥ १९ ॥

तस्मिन्समाविशद्रामः स्वास्तरे सह सीतया ।
प्रक्षाल्य च तयोः पादावपचक्राम लक्ष्मणः ॥ २० ॥

और जब उन पर श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित लेटे, तब लक्ष्मण उन दोनों के पैर धो कर, वहां से कुछ दूर हट कर, चले आये ॥ २० ॥

एतत्तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत्तृणम् ।
यस्मिन्नरामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥२१॥

हे राजकुमार ! देखो यही तो वह इंगुदी का पेड़ है और यही वह तृणशय्या है । इसी पर उस रात में श्रीराम और सीता—दोनों सोये थे ॥ २१ ॥

[1]नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवा-
ञ्शरैः सुपूर्णाविषुधी[2] परन्तपः ।
महद्धनुः सज्यमुपोह्य[3] लक्ष्मणो
[4]निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥ २२ ॥

उस रात में शत्रुओं का दमन करने वाले लक्ष्मण, तीर से भरे दो तरकस बांध, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहिन और हाथ में रोदा चढ़ा हुआ बड़ा धनुष ले, श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिये उनकी तृणशय्या (से कुछ हट) उसके चारो ओर घूम घूम कर पहरा देते रहे ॥ २२ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमवाणचापधृ-
त्स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।

---

१ नियम्य—बध्वा । (गो०) २ इषुधी—तूणीरद्वयं । (गो०)
३ उपोह्य—धृत्वा । (गो०) ४ अस्तपरितोतिष्ठत्—सर्वतो रक्षणार्थं प्रदक्षिणं
चचारेत्यर्थः । (गो०)

अतन्द्रिभिर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैः
सहेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २३ ॥

इति सप्तशीतितमः सर्गः ॥

मैं भी एक वढ़िया धनुष हाथ में ले, अपनी विरादरी के धनुष-धारी लोगों के साथ, उन इन्द्र तुल्य श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली करता हुआ लक्ष्मण जी के साथ यहां रात भर जागता रहा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तासीवां सर्ग समाप्त हुआ ।

अष्टाशीतितमः सर्गः

तच्छ्रुत्वा निपुणं[1] सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्ष्य ताम् ॥ १ ॥

गुह के वचन सुन भरत जी मंत्रियों सहित, सावधानतापूर्वक इंगुदी वृक्ष के नीचे गये और श्रीरामचन्द्र जी की तृणशय्या को देखने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तेन[2] महात्मना ।
शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

और अपनी माताओं से बोले कि, महात्मा श्रीरामचन्द्र ने उस रात, इसी पर यहां शयन किया था । यह कुश उन्हींके शरीर से मर्दन किये हुए हैं ॥ २ ॥

---

१ निपुणं—सावधानं । (गो०) २ तेन—रामेण । (गो०)

महाभागकुलीनेन महाभागेन धीमता ।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥

परम भाग्यवान्, कुलीन और बुद्धिशाली महाराज दशरथ से उत्पन्न हो, श्रीरामचन्द्र ने पृथिवी पर शयन किया सो यह अत्यन्त अनुचित हुआ ॥ ३ ॥

[1]अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंवृते* ।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

जो श्रीराम, सदा ही राजाओं के सोने योग्य केले की छाल के बने अति कोमल बिछौने से युक्त सेजों पर सोते रहे हैं, वे भला, किस तरह भूमि पर सोते होंगे ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु[2] च सर्वदा ।
हैमराजतभौमेषु [3]वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

[4]पुष्पसञ्चयचित्रेषु चन्दनागरुगन्धिषु ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसङ्कुलेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः ।
मृदङ्गध्वरशब्दैश्च सततं प्रतिवोधितः ॥ ८ ॥

---

१ अजिन—शब्देन कदल्याद्यजिनं विवक्षितं । (गो०) २ वलभीषु—कूटागारेषु । (गो०) ३ वरास्तरणशालिषु—चित्रकम्बलशालिषु । (गो०)

* पाठान्तरे—"सञ्चये ।"

जिस सातखने राजभवन की चौखण्डी की भूमि सोने और चाँदी की बनी हुई है और जिस पर अच्छे अच्छे रंग बिरंगे ऊनी गलीचे बिछे हुए हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र विचित्र रचनाएँ की जाती हैं और जो शयनगृह चन्दन और अगर की सुगन्ध से सुवासित हैं, जो सफेद उजले बादल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ पर तोता मैना आदि पक्षी बोलते, जो राजभवनों में सब से श्रेष्ठ हैं, जहाँ पर आवश्यकतानुसार ठंडक पहुँचायी जा सकती है (अर्थात् जब चाहो तब कमरे में ठंडक हो जाय) अथवा जिसमें सदा शीतल और सुगन्धित पवन का सञ्चार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवालें सोने चाँदी के काम से खचित होने के कारण मेरु पर्वत जैसी जान पड़ती हैं—ऐसे उत्तम शयनागार में सोने वाले श्रीरामचन्द्र जी जो मधुर गान और उत्तम मृदङ्गादि बाजों के शब्दों से तथा सुन्दर स्त्रियों की पायजेब, नूपुर आदि गहनों के झुमझुम शब्द से जगाये जाते थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

वन्दिभिर्वन्दितः काले[1] बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तपः ॥ ९ ॥

और जागने के बाद, प्रातःकाल शत्रुओं के दमन करने वाले श्रीराम, जिनकी अनेक सूत, मागध और वंदीगण अनेक प्रकार की सुन्दर (पूर्व पुरुषों की) गाथाओं और स्तुतियों से वंदना करते थे ॥ ९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मे* ।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

---

१ काले—प्रातःकाले । (गो०) * पाठान्तरे—"ना ।"

वे ज़मीन पर सोवें, और शृगाल एवं वन्य जन्तुओं का भयङ्कर चीत्कार सुन जागें—इस बात पर मुझे न तो विश्वास ही होता है और न यह मुझे सत्य ही जान पड़ती है। क्योंकि इसकी कल्पना मात्र से मुझे भ्रम होने लगता है और स्वप्न सा जान पड़ता है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन[1] बलवत्तरम् ।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेव शयीत सः ॥ ११ ॥

निश्चय ही परमात्मा की इच्छा से बढ़ कर कोई देवता नहीं है। नहीं तो महाराज दशरथ के पुत्र हो कर भी श्रीराम ज़मीन पर क्यों सोते ॥ ११ ॥

विदेहराजस्य सुता सीता च प्रियदर्शना ।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

राजा जनक की बेटी, महाराज दशरथ की बहू जो अति सुन्दरी है और जिस पर महाराज दशरथ की बड़ी कृपा थी, हाय ! ज़मीन पर सोती है !! ॥ १२ ॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदं हि परिवर्तितम् ।
स्थण्डिले[2] कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

हे माता ! देखो मेरे भाई की यह सेज है! देखो, जैसे जैसे उन्होंने करवटें बदली हैं, वैसे ही वैसे कड़ी भूमि पर बिछे हुए तृण उनके शरीर से दब दब कर कुचल गये हैं ॥ १३ ॥

---

१ कालेन—कालात् परमात्मेच्छया । (शि०) २ स्थण्डले—भूतले । (गो०)

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयनोत्तमे ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

मुझे जान पड़ता है, गहने पहिने हुए सीता सोई थी। इसीसे तो जहां तहां सोने के दाने (दाने) पड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

हे माता ! जान पड़ता है, यहां पर सीता की ओढ़नी उलझ गयी थी—क्योंकि यहां रेशम के धागे उलझे हुए हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

पति की सेज (कैसी ही क्यों न हो अर्थात् चाहे वह कोमल हो चाहे कठोर) स्त्रियों के लिये सदा सुखदायिनी होती है, देखो ! इसीसे तो उस सुकुमारी तपस्विनी पतिव्रता बाला सीता को इस पर सोने से कुछ भी कष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽहं यत्सभार्यः कृते मम ।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

हा ! मैं तो जीते जी ही मर गया। मैं बड़ा निर्दयी हूँ। मेरे ही पीछे तो श्रीरामचन्द्र को अपनी स्त्री सहित, अनाथ की तरह, ऐसी शय्या पर सोना पड़ा ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकस्य सम्मतः ।
सर्वलोकप्रियस्त्यक्त्वा राज्यं सुखमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

सम्राट् के कुल में जन्म ले कर, सब को सुख देने वाले और सर्वप्रिय हो कर भी वे उत्तम राज्यसुख से वञ्चित किये गये ॥१८॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥१९॥

हा ! नील कमल के समान श्यामल शरीर वाले तथा रक्तवर्ण नेत्र वाले, देखने में मनोहर, जिन्होंने सदा सुख ही भोगा है और जो कभी दुःख भोगने योग्य नहीं है—वे श्रीरामचन्द्र किस प्रकार ज़मीन पर सोये ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

इस समय तो शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण जी ही धन्य हैं और इन्हींको बड़भागी समझना चाहिये कि, जो ऐसे बुरे समय में भी अपने भाई श्रीराम का साथ दे रहे हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं याऽनुगता वनम् ।
वयं संशयिताः[1] सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

और वैदेही जानकी का भी जन्म सफल है जो अपने पति के साथ वन में गयी । हम लोग श्रीरामचन्द्र जी से केवल हीन ही नहीं हैं, किन्तु हमें इस बात का भी सन्देह है कि, श्रीराम हम लोगों की सेवा अङ्गीकार करें या न करें ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति माम्* ।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

---

१ संशयिताः—अस्मत्सेवांरामोऽङ्गीकरिष्यतिनवेतिसंशयवताः । (गो०)

* पाठान्तरे—" मा " ।

महाराज दशरथ के स्वर्गवासी होने से तथा श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने से, विना मांझी की नाव की तरह, यह पृथिवी, मुझे सूनी दिखलायी पड़ती है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसाऽपि वसुन्धराम् ।
वनेऽपि वसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी वनवास कर रहे हैं तो क्या हुआ, यह पृथिवी उन्हींके भुजबल से रक्षित होने के कारण, दूसरा इसे लेने की, अपने मन में कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अपावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

यद्यपि इस समय अयोध्या की चहारदीवारी को रक्षा जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं हो रही, हाथी घोड़े भी जहाँ तहाँ छूटे हुए घूम रहे हैं, उन्हें पकड़ कर कोई बाँधने वाला नहीं है। पुर के फाटक भी खुले पड़े हैं अतएव राजधानी अरक्षित है ॥ २४ ॥

[1]अप्रहृष्टबलां न्यूनां[2] [3]विषमस्थामनावृताम्[4] ।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्षान्विषकृतानिव ॥ २५ ॥

क्योंकि वहां की सेना उदास है, उसे पुरी की रक्षा करने की सुधि नहीं है। अतः अयोध्यापुरी इस समय साधनहीन है, दुर्दशापन्न है और बाहिर से भी उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है;

---

१ अप्रहृष्टबलत्वमरक्षितत्वेहेतुः । (गो०) २ न्यूनां—साधनविहीनां । (गो०) ३ विषमस्थां—दुर्दशापन्नां । (गो०) ४ अनावृतां—बाह्यरक्षकरहितां । (गो०)

तथापि शत्रुलोग, श्रीरामचन्द्र के प्रताप के कारण, उसकी ओर देखते हुए वैसे ही डरते हैं, जैसे कोई मिर्चैले भोजन को देख कर डरता है ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥२६॥

आज से मैं भी ख़ाली ज़मीन पर अथवा चटाई पर ही सोऊँगा, और नित्य फल मूल ही खाऊँगा और जटा चीर धारण करूँगा ॥ २६ ॥

तस्यार्थमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने ।
तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र को वन से लौटा कर उनके बदले मैं वन में बसूँगा—क्योंकि वनवास की जो अवधि अभी शेष है, उसे मैं पूरी करूँगा जिससे बड़े भाई की चौदह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पावे ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुऽवत्स्यति ।
लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति ॥२८॥

भाई के बदले वन में वास करने पर शत्रुघ्न जी मेरे साथ वन में रहेंगे और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या में जा राज्यशासन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।
[1]अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

---

१ अपि—संभावनायामपिशब्दः । (गो०)

ब्राह्मण लोग अयोध्या में श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक करेंगे। देवताओं से मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ कि, वे मेरा मनोरथ पूरा करें ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं[1]
बहुप्रकारं यदि नाभिपत्स्यते[2]।
[3]ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वने वसन्नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

चरणों में सीस रखने तथा अनेक प्रकार से मेरे स्वयं मनाने पर भी, यदि श्रीरामचन्द्र मेरी बात अंगीकार न करेंगे (और पिता की आज्ञा का स्वयं पालन ही करेंगे) तो मैं भी चिरकाल तक श्रीरामचन्द्र जी का सेवक बन उनके साथ वन में वास करूँगा। पर मुझे विश्वास है कि, श्रीरामचन्द्र जी भक्तवत्सल हैं, अतः वे अपने दास की उपेक्षा कभी न करेंगे ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्ठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:※:—

१ स्वयंनतुमंत्रिमुखेन। (रा०) २ नाभिपत्स्यते—नाङ्गीकरिष्यति। (गो०) ३ अनुवत्स्यामि—तदनुचरोभवामि। (गो०)

एकोननवतितमः सर्गः

—:०:—

[1]व्युष्य रात्रिं[2] तु तत्रैव[3] गङ्गाकूले स राघवः ।
भरतः [4]काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रघुकुलोत्पन्न भरत जी ने उसी स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी सोये थे, रात्रि व्यतीत की और जब सवेरा हुआ तब उठ कर शत्रुघ्न से कहा ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम् ।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

शत्रुघ्न उठो ! सवेरा हो चुका। अब क्यों पड़े सो रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जा कर तुरन्त निषादराज गुह को यहाँ बुला लाओ, जिससे वह हमारी सेना को पार उतारे ॥ २ ॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तमेवार्यं विचिन्तयन् ।
इत्येवमब्रवीद्भ्रात्रा शत्रुघ्नोऽपि प्रचोदितः ॥ ३ ॥

यह सुन शत्रुघ्न ने भी कहा—हे भ्राता ! मैं सो नहीं रहा—जाग रहा हूँ और जिस प्रकार आप श्रीरामचन्द्र जी का चिन्तन करते हैं, वैसे ही मैं भी उन्हींका चिन्तन कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो भरतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

---

१ व्युष्य—उषित्वा । (गो०) २ रात्रिं—रात्रौ । (गो०) ३ तत्रैव यत्रारामेऽशयिष्टतत्रैव । (गो०) ४ काल्यं—प्रत्यूषः । (गो०)

इस प्रकार दोनों पुरुषसिंह बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में निषादराज गुह ठीक समय पर पहुँच और हाथ जोड़ कर भरत जी से बोला ॥ ४ ॥

कच्चित्सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चित्ते सहसैन्यस्य तावत्सर्वमनामयम् ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! आप नदी के तट पर रात को सुखपूर्वक तो रहे। आपको या आपकी सेना में से किसी को किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं हुआ ॥ ५ ॥

गुहस्य तत्तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
[1]रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुह के ऐसे स्नेह-सने वचन सुन, भरत जी ने भी गुह से यह कहा ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी राजन्पूजिताश्चापि ते वयम् ।
गङ्गां तु नौभिर्वह्वीभिर्दाशाः[2] सन्तारयन्तु नः ॥ ७ ॥

हे राजन् ! यह रात हम सब की सुख से बीती और तुमने हमारा भली भाँति आदर सत्कार भी किया । अब तुम अपने मल्लाहों को आज्ञा दो कि, बहुत सी नावों द्वारा हम लोगों को उस पार पहुँचा दें ॥ ७ ॥

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

---

१ रामस्यअनुवशः—रामस्यअनुचरः । (शि०) २ दाशाः—कैवर्तिकाः । (शि०)

भरत जी की ऐसी आज्ञा पा कर गुह ने बड़ी शीघ्रता से पुनः अपने नगर में प्रवेश किया और वहां जा कर अपनी जातिवालों (मल्लाहों) से कहा—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु च वः सदा ।
नावः समनुकर्षध्वं तारयिष्याम वाहिनीम् ॥ ९ ॥

भाइयो ! उठो ! जागो ! सदा तुम्हारा मङ्गल हो । नावों को किनारे पर ला कर, सेना को पार उतारो ॥ ९ ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।
पञ्च नावां शतान्याशु समानिन्युः समन्ततः ॥१०॥

गुह द्वारा ऐसा कहे जाने पर मल्लाह लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आज्ञानुसार उन लोगों ने इधर उधर से जोड़ बटोर कर ५००नावें ला कर, घाट पर लगा दी ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।
शोभमानाः पताकाभिर्युक्तवाताः[1] सुसंहताः[2] ॥११॥

इनके अतिरिक्त राजाओं के चढ़ने योग्य "स्वस्तिक" नामक कई एक बजरा नावें भी लायी गयीं । इन स्वस्तिक नावों में घण्टे टंगे हुए थे । पताकाएँ शोभायमान थीं । हवा आने जाने के लिये खिड़कियां बनी थीं, और नाव की तली में कीलें आदि ऐसी सावधानी से जड़ी थीं कि, उनमें एक बूँद भी जल नाव के भीतर नहीं आ सकता था ॥ ११ ॥

---

१ युक्तवाताः—फलककुड्यकरणेन मध्ये मध्येगवाक्षनिर्माणेतच महावात-निवारणादुचितवाताः । (गो०) २ सुसंहिताः—राजारोहणस्थानत्वेनायसकीलादिभिर्दृढसन्धिबन्धाः । (गो०)

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् ।
[1]सनन्दिघोषां [2]कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥१२॥

उन स्वस्तिक नाम के बजरों में सफेद ऊनी कालीन बिछे हुए थे। जब वे चलायी जाती थीं, तब उनमें छोटी छोटी घंटियां बजती थीं, वे देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थीं। ऐसी एक नाव को गुह स्वयं लाया था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशाः* ।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥१३॥

इस बजरे पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, तथा अन्य जो रानियां थीं, सवार हुईं ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत्पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

भरत आदि के नाव में बैठने के पूर्व पुरोहित तथा अन्य गुरुजन ब्राह्मण पहिले ही चढ़ चुके थे। तदनन्तर कौशल्यादि रानियां नाव में बैठी थीं। उनके बैठने के बाद सामान से लदे छकड़े नावों पर बोझे गये थे ॥ १४ ॥

[3]आवासमादीपयतां[4] तीर्थं[5] चाप्यवगाहताम् ।
[6]भाण्डानि चाददानानां घोषस्त्रिदिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

---

१ सनन्दिघोषां—हर्षजनकक्विङ्किण्यादिघोषयुक्तं । (गो०) २ कल्याणीं—शोभनां । (गो०) ३ आवास—सेनानिवेशं । (गौ०) ४ आदीपयतां—अग्निनाज्वलयतां । (गो०) ५ तीर्थं—अवतरणप्रदेशं । (गो०) ६ भाण्डानि—उपकरणानि । (गो०) * पाठान्तरे—"महाबलः" ।

चलते समय छावनी में जो घास फूस था वह जला दिया गया। फिर गङ्गा जी में स्नान करने वालों का कोलाहल, तथा नावों पर सामान लादने वालों का चीत्कार शब्द ऐसा हुआ कि, आकाश प्रतिध्वनित हो उठा। अर्थात् वहां से सेना के कूँच के समय और नावों में सामान लादते समय बड़ा ही हल्ला हुआ ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

वे पालवाली नावें, जिन पर माझी लोग बैठे हुए रखवाली कर रहे थे, नावों पर सवार लोगों को लिये हुए, बड़े वेग से चली जाती थीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित्काश्चिच्च वाजिनाम्।
काश्चिदत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं[1] महाधनम्[2] ॥ १७ ॥

कितनी ही नावों में तो स्त्रियां ही स्त्रियां बैठी थीं और कितनी ही नावों में घोड़े ही घोड़े भरे थे। कई एक नावों पर रथ बैल छकड़े, घोड़े, खच्चर—जो बड़े बड़े मोल के थे भरे थे ॥ १७ ॥

ताः स्म गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम्।
निवृत्ताः [3]काण्डचित्राणि[4] क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥१८॥

धीरे धीरे ये सब नावें गङ्गा के दूसरे पार पर जा लगीं और आरोहियों को उतारा। लौटते समय, गुह के बन्धु मल्लाह लोग, नौका ले जल में विविध प्रकार के खेल करते जाते थे ॥१८॥

---

१ यानयुग्यं—यानानिरथशकटादीनि युग्यानि—अश्वतरबलीवर्दादीनि। (गो०) २ महाधनं—बहुमूल्यं। (गो०) ३ काण्डे—वारिणि। (गो०) ४ चित्राणि—चित्रगमनानि। (गो०)

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः ।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजा[1] इव पर्वताः ॥ १९ ॥

महावत लोग ध्वजा सहित हाथियों को जल में पैरा कर पार उतारते थे। उस समय वे हाथी चलते फिरते पर्वतों की तरह जान पड़ते थे ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुश्चान्ये प्लवैस्तेरुस्तथा परे ।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कोई कोई तो छोटी नावों पर बैठ कर पार उतरे, कोई बांस आदि के बेड़ों के सहारे, कोई घरनई से और कोई स्वयं तैर कर उस पार पहुँचे ॥ २० ॥

सा पुण्या[2] ध्वजिनी[3] गङ्गां दाशैः सन्तारिता स्वयम् ।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

गुह के नौकर मल्लाहों ने स्वयं गङ्गास्नान से पवित्र हुई सेना को पार उतार दिया। वह सेना सूर्योदय से तीसरे मैत्र नामक मुहूर्त में परम मनोहर वन को प्रस्थानित हुई ॥ २१ ॥

[4]आश्वासयित्वा च चमूं[5] महात्मा[6]
निवेशयित्वा च यथोपजोषम्[7] ।

---

१ सध्वजाः—सगमनाः । (गो०) २ पुण्या—गङ्गास्नानादिनापूता । (गो०) ३ ध्वजिनी—सेना । (गो०) ४ आश्वासयित्वा—सान्तयित्वा । (गो०) ५ चमं—महाजनं । (गो०) ६ महात्मा—महामतिः । (गो०) ७ यथोपजोषम्—यथासुखं । (गो०)

द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
[1]मृत्विग्वृतः सन्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

प्रयाग में पहुँच, महामति भरत ने सब सेना तथा साथियों को मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान कर, जहाँ जिसको सुविधा जान पड़ी, वहाँ टिकाया। तदनन्तर भरत जी, वशिष्ठादि ऋषियों को साथ ले, भरद्वाज जी के दर्शन करने को उनके आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २२ ॥

स [2]ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
[3]महात्मनो [4]देवपुरोहितस्य ।
ददर्श रम्योटजवृक्षषण्डं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

उन वेदवित् महाज्ञानी देवपुरोहित बृहस्पतिपुत्र भरद्वाज के आश्रम में पहुँच, भरतादि ने भरद्वाज जी की रमणीय पर्णशाला और सघन वृक्षों से सुशोभित बड़े वन को देखा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

१ ऋत्विग्भिः—वशिष्ठादिभिः। (रा०) २ ब्राह्मणस्य—ब्रह्मवेदः तदधीते ब्राह्मणः। (गो०) ३ महात्मनो—महाज्ञानस्य। (गो०) ४ देवपुरोहितस्य—बृहस्पति पुत्रत्वेनदेवपुरोहितत्वं "आत्मावै पुत्र नामासि" इतिन्यायात्। (गो०)

नवतितमः सर्गः

—:०:—

भरद्वाजाश्रमं दृष्ट्वा क्रोशादेव नरर्षभः ।
बलं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥

पद्भ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः ।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम् ॥ २ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत आश्रम से कोस भर के अन्तर पर सेना आदि को टिका कर, मंत्रियों को साथ ले, अस्त्र शस्त्र छोड़ एवं राजसी पोशाक उतार, केवल रेशमी वस्त्र धारण कर, तथा पुरोहितों को आगे कर, पैदल ही, भरद्वाज जी के दर्शन करने को गये ॥ १ ॥ २ ॥

ततः सन्दर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर जब भरत जी ने दूर से भरद्वाज जी को देखा तब मंत्रियों को भी पीछे छोड़ आप अकेले ही वशिष्ठ जी के पीछे पीछे जाने लगे ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः ।
[1]सञ्चचालासनात्तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति[2] ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महातपस्वी भरद्वाज ने वशिष्ठ जी को देखते ही शिष्यों को अर्घ्यादि लाने की आज्ञा दी और वे तुरन्त आसन छोड़ खड़े हो गये ॥ ४ ॥

---

१ संचचाल—उदतिष्ठत् । (गो०) २ अर्घ्यं आनयतेतिशेषः । (गो०)

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।
अबुध्यत[1] महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

और आगे बढ़ वशिष्ठ जी से मिले। भरत जी ने भरद्वाज को प्रणाम किया। मुनि भरद्वाज ने जान लिया कि, वे महातेजस्वी (भरत) दशरथनन्दन हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च ।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले[2] ॥ ६ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज जी ने उनके लिये भी अर्घ्य सामग्री मँगवा कर, उन दोनों को अर्घ्य और पाद्य दिया। तदनन्तर भोजन के लिये फल दिये। पीछे क्रमपूर्वक उनसे उनके घर का कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु ।
जानन्दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

अयोध्या में भी सेना, धनागार, मित्रों और मंत्रियों के सम्बन्ध में कुशलप्रश्न पूँछा, तदनन्तर महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार मालूम होने के कारण उनका नाम न लिया ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।
शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

तदनन्तर वशिष्ठ जी और भरत जी ने भी भरद्वाज से उनके शरीर, अग्नि, शिष्य, मृग और पक्षियों के विषय में कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ८ ॥

---

१ अबुध्यतेति वसिष्ठसाहचर्यादितिभावः। (गो०) २ कुलं—गृहे। (गो०)

तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः ।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥

तब महातपस्वी भरद्वाज ने अपना सब का कुशल मङ्गल वृत्तान्त बतला, श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह के कारण (न कि भरत जी के दोष दिखाने के उद्देश्य से) भरत जी से कहा ॥ ९ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते[1] मनः ॥ १० ॥

हे राजकुमार ! तुम तो राज्य का शासन कर रहे हो । फिर यहाँ आने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी । यह सब मुझसे कहो । क्योंकि इस सम्बन्ध में मुझे विश्वास नहीं होता ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्या *नन्दवर्धनम् ।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ।११
नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥
कुच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

महायशस्वी कौशल्या के आनन्द बढ़ाने वाले जिस श्रीराम को, स्त्री के कहने से, महाराज दशरथ ने भार्या सहित चौदह वर्ष के लिये वनवास दिया, उस निर्दोष राजकुमार के बारे में और उसके छोटे भाई के विषय में, निष्कण्टक राज्य भोग की

---

१ न शुध्यते—शुद्धिं न प्राप्नोति । नविश्वसीतियावत् । (गो०)

* पाठान्तरे—"नन्दिवर्धनम्" ।

इच्छा से, क्या आप उन दोनों का कुछ अनभल तो करना नहीं चाहते ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।
पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया[1] ॥ १४ ॥

भरद्वाज जी के ऐसा कहने पर, भरत जी ने दुःखी होने के कारण आंखों में आंसू भर और गद्गद कण्ठ हो कहा ॥ १४ ॥

[2]हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि[3] मन्यते ।
मत्तो न दोषमाशङ्के नैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

हे भगवन्! सब कुछ जान कर भी (भूत भविष्य वर्तमान के ज्ञाता हो कर भी) यदि आप ऐसा समझ रहे हैं, तो मेरा जीना वृथा है। मेरा तो इस उपस्थित विपत्ति से कुछ भी लगाव नहीं है। मेरे मन में तो इसकी कभी कल्पना भी नहीं थी। अतः आप मुझसे ऐसा कठोर वचन न कहिये ॥ १५ ॥

'न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे ।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे[4] ॥ १६ ॥

मेरी माता ने भी जो मेरे बारे में महाराज से कहा, वह भी न तो मेरा इष्ट था और न मैं उससे सन्तुष्ट हूँ और न उसका कहना मुझे स्वीकार ही है ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।
प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

---

१ संसज्जमानया—स्खलन्त्या । (गो०) २ हतोस्मि—व्यर्थजन्मास्मि । ३ भगवानपि—भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञोपीत्यर्थः । ४ नाददे—नाङ्गीकृतवानस्मि । (गो०)

मैं तो उस पुरुषसिंह को प्रसन्न कर अयोध्या में लौटा लाने तथा उसको प्रणाम करने को जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वं मामेवं गतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
शंस मे भगवन्रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! मेरा इस प्रकार का मनोभिप्राय जान कर, आप मुझ पर प्रसन्न हो और मुझे बतावें कि, वे पृथ्वीनाथ श्रीरामचन्द्र जी इस समय कहां हैं ? ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्भरतं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीरामचन्द्र जी का पता बतलाने की प्रार्थना की, तब भगवान् भरद्वाज जी भरत की बातों से प्रसन्न हो बोले ॥ १९ ॥

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।
[1]गुरुवृत्तिर्दमश्चैव[2] साधूनां चानुयायिता[3] ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम्हारा जन्म सुप्रसिद्ध रघुकुल में हुआ है। अतः बड़ों के कहने में चलना, इन्द्रियों का निग्रह और साधुजनों का अनुगामी होना। ये तीनों बातें तुम में होनी ही चाहिये ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्त्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

---

१ गुरुवृत्तिः—ज्येष्ठानुवर्तनं (गो०) २ दम—इन्द्रियनिग्रहः । (गो०)
३ साधूनांचानुयायिता—सच्चित्तानुवर्तनं । (गो०)

यद्यपि योगद्वारा मैं जानता था कि, तुम्हारा ऐसा मनोगत भाव है, तथापि लोगों के सामने प्रकट होने पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाय और इसके द्वारा तुम्हारी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो, इस अभिप्राय से मैंने तुमसे वैसा प्रश्न किया था ॥ २१ ॥

जाने च रामं[1] धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।
असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित धर्म के जानने वाले श्रीरामचन्द्र, जहां रहते हैं, मुझे मालूम है। वे इस समय चित्रकूट नामक महा-पर्वत पर वास करते हैं ॥ २२ ॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं[2] कामार्थकोविद[3] ॥ २३ ॥

हे इष्टप्रद कोविद ! आप कल वहां जाना । आज मंत्रियों के सहित यहीं ठहरिये । आपको मेरी यह बात अवश्य माननी होगी ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
[4]प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद्वचः ।
चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

---

१ रामंजाने—देशविशेषेस्थितंरामंजानमित्यर्थः । (गो०) २ कामं—अभीष्टं । (गो०) ३ कामार्थकोविदः—काँक्षितार्थप्रदानदक्षेत्यर्थः । (गो०) ४ प्रतीतिरूपः—प्रसिद्धकीर्तिः । (गो०)

जब भरद्वाज ने इस प्रकार कहा तब उदारदर्शन एवं प्रसिद्ध कीर्ति वाले राजकुमार भरत जी ने ऋषि का कहना मान रात भर ऋषि के आश्रम में रहने का विचार प्रकट किया ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—※—

एकनवतितमः सर्गः

—: ० :—

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।
भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब कैकेयीनन्दन भरत ने वहाँ टिकना निश्चय कर लिया, तब भरद्वाज ने उनको आतिथ्य ग्रहण के लिये निमंत्रण दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद्भरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् ।
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

तब भरत जी बोले—आप तो अर्घ्य, पाद्य तथा वन के फल मूलों से मेरा यथोचित आतिथ्य कर ही चुके । मैं इससे सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥

यह सुन भरद्वाज ने मुसक्या कर कहा कि, यह तो मैं जानता हूँ कि, प्रीतिपूर्वक दी हुई किसी भी वस्तु से आप प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजाधिप ॥ ४ ॥

किन्तु हे नरनाथ ! मैं तो आपकी समस्त सेना की पहुनई करना चाहता हूँ । अतः मुझे जिससे सन्तोष हो, आपको वह करना उचित है ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषप्रवर ! आप अपनी सेना को दूर छोड़, अकेले क्यों मेरे पास आये । सेना सहित मेरे आश्रम में न आने का क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।
ससैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन्भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

यह सुन भरत जी ने हाथ जोड़ कर भरद्वाज जी से कहा—हे भगवन् ! आप कहीं कुपित न हों—इसी भय से मैं सेना सहित नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा च भगवन्नित्यं राजपुत्रेण वा सदा ।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु[1] तपस्विनाम्* ॥ ७ ॥

राजा हो वा राजपुत्र हो, उसे यही उचित है कि, अपने राज्य में बसने वाले ऋषियों के आश्रमों को यत्नपूर्वक छोड़ दे अर्थात् आश्रमों से दूर रहै ॥ ७ ॥

---

१ विषयेषुतपस्विनां—स्वकीयदेशेषुवर्तमानान्ऋषयः । (गो०)

* पाठान्तरे—" तपस्विनः " ।

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः ।
प्रच्छाद्य भगवन्भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! मेरे साथ बड़े बड़े घोड़े बहुत से मनुष्य और मतवाले हाथी हैं, जिनके टिकने के लिये बहुत सी जगह अपेक्षित होती है ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषू[1]टजांस्तथा ।
न हिंस्युरिति तेनाहमेकएव समागतः ॥ ९ ॥

वे आश्रम के वृक्षों को तालाब अथवा कुएँ के जल को, आश्रम भूमि को और पर्णशाला को कहीं नष्ट न कर डालें, यह विचार कर मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ ॥ ९ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।
ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तब महर्षि भरद्वाज जी ने कहा—आप अपनी सेना को यहीं बुला लीजिये । महर्षि की आज्ञा पा कर, भरत जी ने अपनी सेना वहीं बुलवा ली ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ [2]पीत्वाऽपः परिमृज्य[3] च ।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भरद्वाज जी ने अग्निशाला में जा तीन बार आचमन किया और यथाविधि मार्जन कर (जल को मंत्र पढ़ते हुए शरीर पर छिड़का) भरत जी की पहुनाई करने के लिये विश्वकर्मा का आवाहन किया ॥ ११ ॥

---

१ उटजान्—पर्णशालाः । (गो०) २ अपःपीत्वा त्रिरितिशेषः । (गो०) "त्रिराचामेत्" इतिश्रुतेः । (गो०) ३ परिमृज्य— यथाविधि मार्जनं कृत्वा । (शि०)

आह्वये विश्वकर्माणमहं[1] त्वष्टारमेव[2] च ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

(आवाहन करते समय) वे कहने लगे कि, मैं भरत का आतिथ्य करने के लिये विश्वकर्मा और त्वष्टा का आवाहन करता हूँ। अतः वे आ कर सेना आदि के लिये घर आदि बनावें ॥ १२ ॥

आह्वये लोकपालास्त्रीन्देवाञ्शक्रमुखांस्तथा ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

मैं भरत की पहुनाई करना चाहता हूँ। अतः मैं तीनों लोकपाल यम, वरुण तथा कुवेर एवं इन्द्रादि देवताओं का आवाहन करता हूँ। वे आ कर पहुनाई की तैयारी करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्श्रोतस एव च ।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

पृथिवी और आकाश में पूर्व से पश्चिम को और पश्चिम से पूर्व को बहने वाली जो नदियां हैं, वे सब आज यहां आवें ॥ १४ ॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

वे नदियां आ कर कोई तो मैरेय नाम की शराव, कोई सुरा नाम की उत्तम शराव और कोई शीतल और ऊख के रस जैसे मीठे जल को यहां बहा कर प्रकट करें ॥ १५ ॥

---

१ विश्वकर्मा—सर्वशिल्पकर्त्ता । (गो०) २ त्वष्टातु तक्षणेनगृहादि निर्माता । (गो०) ३ त्रींल्लोकपालान्—यमवरुणकुबेरान् । (गो०)

आह्वये [1]देवगन्धर्वान्विश्वावसुहहाहुहून् ।
तथैवाप्सरसो [2]देवीर्गन्धर्वीश्चापि[2] सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वावसु, हाहा, हूहू नामक देवगन्धर्वों को और देव जाति में उत्पन्न गन्धर्वियों को तथा सब अप्सराओं का भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुसाम् ।
नागदन्तां च हेमां च हिमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलंबुसा, नागदन्ता, हेमा, और हिमालयवासिनी (सोमा) ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः ।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

और इन्द्र की सभा तथा ब्रह्मा की सभा में नाचने वाली सब अप्सराओं को, अच्छे वस्त्र धारण किये हुए तुम्बुरु के साथ, मैं आवाहन करता हूँ ॥ १८ ॥

वनं कुबेरस्य यदिव्यं नागोभूषणपत्रवत् ।
दिव्यनारीफलं शश्वत्तत्कौबेरमिहैतु च ॥ १९ ॥

कुबेर का चैत्ररथ नामक, उत्तरकुरु वाला दिव्य वन, जिसके वृक्षों के पत्ते, दिव्य वस्त्र और दिव्यनारी रूप हैं, यहाँ प्रकट हों ॥ १९ ॥

---

१ देवगन्धर्वान्—मनुष्यगन्धर्वनिह्नान् । (गो०) २ देवीः—देवजातीः । (गो०) ३ गन्धर्वीः—गन्धर्वजातीः ।

इह मे भगवान्सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥२०॥

इनके अतिरिक्त विविध भांति के और बहुत से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्यादि अन्न, भगवान् चन्द्रदेव यहाँ आ कर उत्पन्न करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि[1] च ।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

(वं) ताज़े फूलों की चित्र विचित्र पुष्प मालाएँ, सुरा आदि पीने के पदार्थों को और तरह तरह के मांसों को शीघ्र ही प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना[2] [3]युक्तस्तेजसाऽप्रतिमेन च ।
शीक्षास्वरसमायुक्तं [4]तपसा चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुपम शापानुग्रह समर्थ भरद्वाज मुनि ने योगबल से और ज्ञानबल से उपयुक्त स्वर और यथाविधि वर्णोच्चारणपूर्वक सब का आवाहन किया ॥ २२ ॥

[5]मनसा ध्यायतस्तस्य[6] प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः[7] ।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक्पृथक् ॥२३॥

---

१ पादपप्रच्युतानि—नवानीति भावः (गो०) २ समाधिना—योगेन । (गो०) ३ तेजसा—अनागमेदण्डनसामर्थ्येन च युक्तेन । (गो०) ४ तपसा—ज्ञानेन । (गो०) ५ मनसा—अनन्य परेणेत्यर्थः । (गो०) ६ ध्यायतः—निरन्तरचिन्तयतः । (गो०) ७ कृताञ्जले—आह्वानमुद्रोक्ताः । (गो०)

भरद्वाज जी के पूर्व की ओर मुख कर बैठ कर आवाहन मुद्रा से, एकाग्रमन हो और कुछ काल तक निरन्तर चिन्तवन करते ही, वे सब देवता एक एक कर भरद्वाज जी के सामने आ उपस्थित हुए ॥ २३ ॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः[1] ॥२४॥

उस समय मलय और दर्दुर पर्वतों को स्पर्श करता हुआ सुखद पवन, शीतल मंद और सुगन्धयुक्त हो, गरमी को नाश करता हुआ चलने लगा ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्तन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।
दिव्यन्दुदुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

दिव्य मेघों ने पुष्पों की वर्षा की । देवताओं के नगाड़ों का शब्द सब दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा ॥ २५ ॥

ववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
अजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

सुखद समीर के झोके आने लगे । अप्सरायें नाचने लगीं । देव गन्धर्वों का गाना और वीणाओं की झनकार सुनाई पड़ने लगी ॥ २६ ॥

स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।
विवेशोच्चारितः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥२७॥

---

१ शिवः—शीतलः । (गो०)

इस प्रकार से मधुर, सम, और लय युक्त शब्द से आकाश, भूमि और प्राणियों के कान पूर्ण हो गये ॥ २७ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

सुनने में मधुर ये शब्द हो हो रहे थे कि, इतने में भरत की सेना विश्वैकर्म्मा की कारीगरी देखने लगी.॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजना ।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैडूर्यसन्निभैः ॥ २९ ॥

उन्होंने देखा कि, वहां की भूमि चारों ओर पांच योजन तक बराबर एकसी और नील वैडूर्य मणि की तरह चमकीली हरी हरी दूब से ढकी हुई है ॥ २९ ॥

तस्मिन्विल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषणाः ॥ ३० ॥

और जगह जगह बेल, कैथा, कटहर, बिजौरा, आमला और आम के वृक्ष फलों से लदे हुए सुशोभित हैं ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।
आजगाम नदी दिव्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

स्वर्गस्थ लोगों के उपभोग के योग्य, उत्तर कुरुदेश से, वहां एक वन भी उपस्थित हो गया । एक दिव्य नदी भी वहां बहने लगी । इस नदी के उभय तटों पर बहुत से वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।
हर्म्यप्रासादसम्बाधास्तोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

वहाँ पर अनेक सुन्दर श्वेतवर्ण घर, हस्तिशालाएँ और अश्व शालाएँ बनी हुई देख पड़ने लगीं। महल और अटारियों से युक्त मङ्गल रूपी मनोहर तोरण देख पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।
दिव्यमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम्[१] ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद वंदनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की माला से सुशोभित, सुवासित जल से छिड़के हुए अनेक राजभवन वहां देख पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

[२]चतुरश्रमसम्बाधं[३] शयनासनयानवत् ।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं [४]दिव्यभोजनवस्त्रवत्[५] ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने, बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे। कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिठान चाँवल आदि अन्न और मिठान कपड़े भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

[६]उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम् ।
कॢप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पुड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथा मंजे धुले साफ बरतन रखे हुए थे। यथास्थान पूजन एवं

---

१ समुक्षितं—सिक्तं। (गो०) २ चतुरश्र—चतुष्कोणं। (गो०) ३ असम्बाधं—विशालं। (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशाल्यन्नादीनि। (गो०) ५ दिव्य वस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि। (गो०) ६ उपकल्पितानि—सर्वाण्यनि नानाविधा पूपादीनियस्मिंस्तत्। (गो०)

करने के लिये आसन बिछे हुए थे। सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं कोमल बिस्तरे बिछे हुए थे ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।
वेश्म तद्धनसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम सामग्री से भरे पूरे घर में, कैकेयीनन्दन महाबाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनुजग्मुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
बभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्ट्वा तं वेश्मसंविधिम् ॥३७॥

भरत जी के पीछे मंत्री तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी बनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये ॥ ३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत[1] राजवत्[2] ॥ ३८ ॥

उस घर में राजाओं के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीप दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे । मंत्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन की प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥ ३९ ॥

(उस राजसिंहासन पर मानों श्रीरामचन्द्र जी विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन को प्रणाम कर उसका पूजन किया । तदनन्तर एक छोटा पङ्खा हाथ में ले भरत जी

---

१ अभ्यवर्तत—प्रदक्षिणं कृतवान् । (गो०)

राजसिंहासन के नीचे मंत्री के बैठने योग्य एक आसन पर बैठ गये ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।
ततः सेनापतिः[1] पश्चात्प्रशास्ता[2] च निषेदतुः ॥ ४० ॥

उनके बैठते ही मंत्री, पुरोहित, सेनापति और शिविर-नियन्ता (छावनी का शासक अर्थात् कैंटोंमेंट मेजिस्ट्रेट) ये सब भी यथा-क्रम अपने अपने स्थानों पर बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र [2]मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः ।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

सब लोगों के बैठ चुकने के थोड़ी ही देर बाद भरद्वाज मुनि की आज्ञा से गाढ़ी गाढ़ी खीर की नदियाँ वहाँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तासामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः ।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्रह्मणस्तु प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

भरद्वाज के अनुग्रह से, उन नदियों के दोनों तटों पर, अनेक रमणीय एवं अच्छे सफेद चूने से पुते घर देख पड़ने लगे ॥ ४२ ॥

तैनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरमहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी समय चतुर्मुख ब्रह्मा की भेजी हुई बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहनों से सजी हुई बीस हज़ार स्त्रियाँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

---

१ सेनापतिः—दण्ड-नायकः । (गो०) २ प्रशास्ता—शिविरनियन्ता । (गो०) २ मुहूर्तेन—अल्पकालेन । (गो०)

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर बीस ही हज़ार स्त्रियाँ, जो सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूगों से अपने शरीर को सजाये हुए थीं, और जिन्हें कुबेर ने भेजा था, वहाँ आयीं ॥ ४४ ॥

याभिर्गृहीतः[1] पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।
आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥

नन्दनवन से आयी हुईं बीस हज़ार अप्सराएँ ऐसी सुन्दरी थीं कि, जिस पुरुष को वे आलिङ्गन करतीं, वह पुरुष पागल सा देख पड़ने लगता था ॥ ४५ ॥

नारदस्तुम्बुरुर्गोपश्चवराः सूर्यवर्चसः ।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

नारद, तुम्बुरु और गोप ये सब जो सूर्य के तुल्य तेजस्वी हैं और गन्धर्वराज कहलाते हैं, भरत के सामने जा गाने लगे ॥ ४६ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।
उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

भरद्वाज जी की आज्ञा से अलंबुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना नाम की अप्सराएँ, भरत के आगे जा कर नाचने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि मल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा[2] ॥ ४८ ॥

---

१ गृहीतः—आलिङ्गितः । (गो०) २ तेजसा—प्रभावेन । (गो०)

जो फूल देवताओं के बगीचों में और चैत्ररथ नामक वन में फूलते हैं, वे सब महर्षि भरद्वाज के प्रभाव से प्रयाग में देख पड़ते थे ॥ ४८ ॥

विल्वा मार्दङ्गिका आसन्कांस्यग्राहाः* विभीतकाः ।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

महर्षि भरद्वाज के तपोबल से बेल के पेड़ों ने पखावजियों का, बहेड़े के पेड़ों ने मजीरा बजाने वालों का और पीपल के वृक्षों ने नाचने वालों का रूप धरा ॥ ४९ ॥

ततः [1]सरलतालाश्च तिलका नक्तमालकाः[2] ।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाऽथ वामनाः ॥ ५० ॥

इनके अतिरिक्त देवदारु, ताल, चुरक, करंज के पेड़ हर्षित हो, कुबड़े और बौने का रूप धर वहाँ उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशुपामलकीजम्ब्वो याश्चान्याः काननेषु ताः ।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ॥५१॥

शीशम, आँवला, जामुन के पेड़ तथा वन की मालती, मल्लिका आदि लताएँ, ॥ ५१ ॥

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन्† ।
सुराः सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः ॥ ५२ ॥

स्त्रियों का रूप धर भरद्वाज के आश्रम में जा बसीं और पुकार पुकार कर लोगों से कहने लगीं, हे मद्य पीने वालो ! तुम मदिरा पियो ! हे भूख के सताये लोगो ! तुम खीर खाओ ॥ ५२ ॥

---

१ सरलाः—देवदारुविशेषाः । (गो०) * पाठान्तरे—"आसन्भ्याम्राश्च" । † पाठान्तरे—"ऽवदन्" ।

मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यावदिच्छथ ।
उच्छाद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु ॥ ५३ ॥

अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ।
संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः ॥ ५४ ॥

सुन्दर और खाने योग्य मांस जितनी जिसकी इच्छा हो उतना खाओ। एक एक पुरुष को सात सात आठ आठ स्त्रियां मिल कर तेल की मालिश कर मनोहर नदियों के तट पर स्नान करातीं और अनेक बड़े बड़े नेत्र वाली स्त्रियां पुरुषों के शरीरों को मलती थीं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ।
हयान्गजान्खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः[1] सुतान् ॥ ५५ ॥

जब वे स्नान कर चुकते, तब कितनी ही सुन्दर स्त्रियां मिल कर उनके गीले शरीर को पोंछती थीं और उनको अमृत तुल्य शरबत पिलाती थीं। घोड़ों, हाथियों, खिच्चरों, ऊँटों और बैलों को ॥ ५५ ॥

अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ।
इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान् ॥५६॥
इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ।
नाश्ववन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः ॥ ५७ ॥

उनके रखवाले दाना चारा यथाविधि खिला रहे थे। इनमें इक्ष्वाकुवंशीय प्रधान योद्धाओं की सवारी के जो पशु थे, उनके

---

१ सुरभेः सुतान् —वृषभान्। (गो०)

महावली मालिकों ने ऊँख की गड़ेरियां और मीठी खीलें उनके खाने के लिये भेजी थीं, जो उनको खिलायी जा रही थीं। सईस व चरकट अपने अपने घोड़ों और हाथियों को पहचान तक न सके ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मत्तप्रमत्तमुदिता चमूः सा तत्र संम्वभौ ।
तर्पिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूषिताः ॥ ५८ ॥

क्योंकि उस समय वह सेना नशा पी कर मतवाली हो आनन्द में मग्न हो रही थी। सब लोग इच्छानुसार तृप्ति लाभ कर लाल चन्दन शरीर में लगाये ॥ ५८ ॥

अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदैरयन् ।
नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ॥५९॥

और अप्सराओं से रमण कर मतवालों जैसी बातें कहने लगे। वे कहते अब हम न तो यहाँ से अयोध्या ही जायंगे और न दण्डकवन ही जायंगे ॥ ५९ ॥

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ।
इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ॥ ६० ॥

भरत जी भी मौज करें और श्रीरामचन्द्र जी भी सुखपूर्वक वन में रहें। पैदल सैनिक, चरकटे और सईस ॥ ६० ॥

अनाथास्तं[1] विधिं[2] लब्ध्वा वाचमेतामुदैरयन् ।
संम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते[3] नरास्तत्र सहस्रशः ॥ ६१ ॥

---

१ अनाथाः—स्वतंत्रा इति । (गो०) २ तंविधिं—सत्कारं । (गो०)
३ विनेदुः—जगर्जुः । (गो०)

भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ।
नृत्यन्ति स्म हसन्ति स्म गायन्ति स्म च सैनिकाः ॥६२॥

इस प्रकार की पहुनई से, स्वतंत्र हो, ऊँटपटाँग बकने लगे। भरत जी की सेना के हज़ारों आदमी अतिशय हर्षित हो यह कह कर गर्ज रहे थे कि, बस—यही स्वर्ग है। सैनिकों में कोई कोई तो नाच रहे थे, कोई गा रहे थे और कोई हँस ही रहे थे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

समन्तात्परिधावन्ति माल्योपेताः सहस्रशः ।
ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ॥ ६३ ॥

हज़ारों सैनिक गले में मालाएँ पहिने हुए, इधर उधर दौड़ रहे थे। यद्यपि अमृत समान स्वादिष्ट भोजन कर वे लोग तृप्त हो गये थे ॥ ६३ ॥

दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद्भक्षणे मतिः ।
[1]प्रेष्याश्चेट्यश्च[2] वध्वश्च[3] बलस्थाश्च सहस्रशः ॥६४॥

तथापि उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख उनकी इच्छा पुनः भोजन करने की होती थी। उस सेना में जो सहस्रों दास दासी और सिपाहियों की स्त्रियां थीं ॥ ६४ ॥

बभूवुस्ते भृशं दृप्ताः सर्वे चाहतवाससः[4] ।
कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोश्वाश्च मृगपक्षिणः ॥ ६५ ॥

वे सबको सब नये नये वस्त्र धारण कर अत्यन्त गर्वीली हो गयी थीं। हाथी, खच्चर, ऊँट, बैल, घोड़े, मृग और पक्षी (सैनिक लोग अपने पालतू मृग पक्षी अपने साथ ले गये थे) ॥ ६५ ॥

---

१ प्रेष्याः—परिचारकाः । (गो०) २ चेट्योदास्यः । (गो०) ३ वध्वो-योधाङ्गनाः । (गो०) ४ 'अहतवाससः—नूतनवस्त्राः । (गो०)

बभूवुः [1]सुभृतास्तत्र नान्यो ह्यन्यमकल्पयत् ।
नाशुक्लवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा ॥६६॥

सब के सब मुनि के दिये हुए पदार्थों से अघाए हुए थे। किसी को अपनी आवश्यकता की कोई वस्तु स्वयं जुटानी न पड़ी। उस समय भरत की सेना में मैले कपड़े पहने अथवा भूखा अथवा मैला कुचैला ॥ ६६ ॥

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ।
आजैश्चापि च वाराहैर्निष्टानवरसंचयैः ॥ ६७ ॥

अथवा धूलधूसरित केशों वाला एक भी आदमी नहीं देख पड़ता था। वहाँ बकरों और शूकरों के माँसों के तथा अन्य अच्छे अच्छे व्यञ्जनों के ढेरों से, ॥ ६७ ॥

फलनिर्व्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ।
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ॥६८॥

ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ।
बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ॥ ६९ ॥

जो फलों के रसों में बनाये गये थे; हींग, लौंग, जीरा आदि सुगंधित मसालों से छौंकी हुई दालों से और अत्युत्तम प्रकार के भातों से भरी, सहस्रों ऐसी कढ़ाइयों का, जिनमें शोभा के लिये फूलों की झंडियाँ लगायी गयी थीं—देख देख कर लोग चकित हो रहे थे। उस पाँच योजन घेरे में जितने कुएँ थे, वे सब गाढ़ी गाढ़ी खीर से भरे हुए थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

---

१ सुभृताः—सुतृप्ताः। (गो०) २ निष्टानवरसंचयैः—व्यञ्जनश्रेष्ठसमूहैः। (गो०)

ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन्मधुस्रुतः ।
वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ॥ ७० ॥
मतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ।
[1]पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां[2] नियुतानि[3] च ॥७१॥

जितनी गौवें थी, वे कामधेनु के समान जो मांगो सो देती थीं। जितने वृक्ष थे, वे सब शहद चुआ रहे थे। कुण्ड या बावली मैरेय नाम की शराब से भरी हुई थीं। हिरन, मोर और मुर्गे के अच्छी तरह पकाये और साफ किये हुए मांस के ढेर लगे हुए थे। अन्न भरने के लिये हज़ारों बरतन थे और भोज्य पदार्थ रखने के लिये लाखों थाल थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

न्यर्बुदानि च पत्राणि[4] शातकुम्भमयानि च ।
स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृता ॥७२॥

दस करोड़ सोने के थाल और कलसे थे तथा थाली, लुटिया दही रखने के कलई किये बरतन जिनमें दही भरा हुआ था, वहां मौजूद थे ॥ ७२ ॥

[5]यौवनस्थस्य गौरस्य[6] कपित्थस्य[7] सुगन्धिनः ।
ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे ॥ ७३ ॥
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च सञ्चयाः ।
कल्कांश्चूर्णकषायाश्च स्नानानि विविधानि च ॥ ७४ ॥

---

१ पात्रीणां—अन्नधानकुम्भीनां । (गो०) २ स्थालीनां—व्यञ्जनपात्राणां । (गो०) ३ नियुतानि—लक्षाणि । ४ पात्राणि—भोजनपात्राणि । ५ यौवनस्थस्य—नातिनूतनस्य नातिपुराणस्येत्यर्थः । (गो०) ६ गौरस्य—शुभ्रस्य । (गो०) ७ कपित्थस्य—तक्रस्य । (रा०)

बहुत से बरतनों में कुछ देर का तैयार किया हुआ सफेद (सादा) मट्ठा भरा हुआ था, बहुतों में ज़ीरा लौंग सोंठ आदि सुगन्धित मसालों से युक्त मट्ठा भरा हुआ था। वहां के अनेक कुण्डों में शिखरन, दही और दूध भरा हुआ था। चीनी की ढेरियां देख पड़ती थीं। स्नानोपयोगी विविध प्रकार के सूखे मसाले तथा मसालों के क्वाथ, ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

दद्दशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ।
[1]शुक्लानंशुमत[2]श्चापि दन्तधावनसञ्चयान् ॥ ७५ ॥

नदियों के घाटों पर बरतनों में भरे हुए लोगों ने देखे। (घाटों पर) साफ और कूचो बनी हुई दतौनों के ढेर लगे थे ॥ ७५ ॥

शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च [3]समुद्गेष्ववतिष्ठतः ।
दर्पणान्परिमृष्टांश्च वाससां चापि सञ्चयान् ॥७६॥

घिसा हुआ सफेद चन्दन कटोरों में भरा हुआ रखा था। साफ दर्पणों और कपड़ों के ढेर लगे थे ॥ ७६ ॥

पादुकोपानहां चैव युग्मानि च सहस्रशः ।
[5]आञ्जनीः [6]कङ्कतान्कूर्चाञ्शस्त्राणि च धनूंषि च ॥७७॥

खड़ाऊओं और जूतों की हज़ारों जोड़ियां रखी थीं। सुरमादानियां, कंघे, ब्रुश, छुरे, धनुष ॥ ७७ ॥

---

१ शुक्लान—निर्मलान्। (गो०) २ अंशुमतः—कूर्चवतः। (गो०) ३ चन्दनकल्कान्—चन्दनपङ्कान्। (गो०) ४ समुद्गेषु—संपुटकेषु। (गो०) ५ आञ्जनीः—अञ्जनयुक्ताःकरण्डिकाः। (गो०) ६ कङ्कतान्—केशमार्जनान्। (गो०)

[1]मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिपानह्रदान्पूर्णान्खरोष्ट्रगजवाजिनाम् ॥ ७८ ॥

कवच तथा तरह तरह की बैंचे और स्टूल कुर्सियाँ यथास्थान सजा कर रखे हुए थे। खाये हुए अन्न को पचाने के लिये ओषधि रूपी जल से भरे हुए कुण्ड भी थे। गधे, ऊँट हाथी और घोड़े ॥ ७८ ॥

अवगाह्य सुतीर्थांश्च ह्रदान्सोत्पलपुष्करान् ।
आकाशवर्णप्रतिमान्स्वच्छतोयान्सुखप्लवान् ॥ ७९ ॥

जहाँ सुख से उतर कर स्नान कर सकें अथवा जल पी सकें ऐसे घाटों वाले तथा फूले हुए कमल के फूलों से भरे आकाश की तरह निर्मल जल से पूर्ण अनेक तालाब भी थे ॥ ७९ ॥

नीलवैडूर्यवर्णांश्च मृदून्यवससञ्चयान् ।
निर्वापार्थान्पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥ ८० ॥

नील और वैडूर्य मणियों के रंग जैसे रंग की कोमल घास की ढेरियाँ लगी थीं और जगह जगह पशुओं के विश्राम के लिये स्थान देख पड़ते थे ॥ ८० ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।
दृष्ट्वातिथ्यं कृतं ताद्गभरतस्य महर्षिणा ॥ ८१ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने भरत जी की पहुनाई के लिये जो ये सब स्वप्न सदृश चमत्कार पूर्ण तैयारियाँ की थीं, इनको देख देख, भरत के साथ वाले लोग विस्मित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

---

१ मर्मत्राणानि—कवचादीनि । (गो०)

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने ।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तते ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह, रमणीय भरद्वाज के आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना ने वह रात बिताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होते ही वे सब नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि से विदा हो, अपने अपने स्थान को चली गयीं ॥ ८३ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नराः
तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः ममर्दिताः ॥ ८४ ॥

इति पकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी वे सब मतवाले लोग वैसे ही गर्वीले और मदमत्त थे और उसी प्रकार शरीर में चन्दन लगाये हुए थे। तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प, जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक्यानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:※:—

द्विनवतितमः सर्गः

—:०:—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम[1] ह ॥ १ ॥

सपरिवार भरत जी, भरद्वाज जी की पहुनाई में वह रात बिता,
सबेरा होते ही, श्रीरामदर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास
गये ॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम् ।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरत को हाथ जोड़े अपने समीप खड़ा देख, अग्नि-
होत्र पूरा कर, भरद्वाज जी ने भरत जी से कहा ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।
समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! मेरे आश्रम में यह रात तुम्हारी सुख से तो कटी ?
तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आतिथ्य से भली भाँति सन्तुष्ट तो
हुए ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।
आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जब आश्रम से बाहिर
आये, तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर उनको प्रणाम किया और
बोले ॥ ४ ॥

---

१ कामात्—रमप्राप्तीच्छया । (गो०)

सुखोषितोऽस्मि भगवन्सभग्रबलवाहनः ।
तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो [1]बलवत्त्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! मैं सेना सहित इस आश्रम में सुख से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय तृप्त किया ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसन्तापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अच्छे अच्छे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किये । रास्ते में जो कष्ट थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम ।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! यह बतलाइये कि, उन महात्मा धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिये कौनसा मार्ग है ॥ ८ ॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् ।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

---

१ बलवत्तर्पितः—अतीवतर्पितः । (गो०)

भरत जी का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा रखने वाले भरत से महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज जी बोले ॥ ९ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।
चित्रकूटो गिरिस्तत्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत ! यहां से अढ़ाई योजन के अन्तर पर टूटेफूटे पत्थरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ मन्दाकिनी नदी बहती है । इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः ।
तयो पर्णकुटी तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तात ! उसीसे मिला हुआ चित्रकूट पर्वत है । उसी पर्वत पर एक पर्णकुटी में तुम दोनों भाइयों को निश्चय ही वास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणेनैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव वा ।
गजवाजिरथाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।
प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वाराजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! हे वाहिनीपते ! यमुना के दक्षिण वाले मार्ग से कुछ दूर जाने वाले दो मार्ग मिलेंगे । आप दहिनी ओर वाले मार्ग से हाथी घोड़ों से युक्त अपनी सेना को यदि ले जाओगे तो तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन हो जायगा । प्रस्थान करने का विचार सुन महाराज दशरथ की रानियों ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।
वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।
असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥

अपनी अपनी सवारियाँ छोड़ दीं और जो रानियाँ सदा सवारी पर ही चला करती थीं, वे पैदल चल कर आयीं और भरद्वाज को घेर कर खड़ी हो गयीं । उनमें से थरथर काँपती हुई दीन और दुर्बल महारानी कौशल्या ने सुमित्रा सहित भरद्वाज जी के पैर छुए । तदनन्तर असफल मनोरथ और लोकनिन्दित ॥ १५ ॥ १६ ॥

कैकेयी तस्य जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा[1] ।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने लज्जित हो महर्षि के चरण छुए और उन ऐश्वर्यवान महर्षि की परिक्रमा कर ॥ १७ ॥

अदूराद्भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।
ततः पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः ॥ १८ ॥

---

१ सव्यपत्रपा—सलज्जा । (गो०)

द्विनवतितमः सर्गः

दुःखित चित्त हो भरत जी के निकट जा खड़ी हुई। तब दृढ़-
व्रतधारी भर : ने भरत से पूँछा ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातॄणां तव राघव ।
एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

'हे भरत ! मैं तुम्हारी माताओं का परिचय जानना चाहता हूँ ।
जब धार्मिक भरद्वाज ने यह पूछा ॥ १९ ॥

उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः ।
यामिमां भगवन्दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥

तब वचन कहने में चतुर भरत जी ने हाथ जोड़ कर कहा—
हे भगवन् ! जो यह दीन, शोक और उपवास के कारण
दुर्बल ॥ २० ॥

पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।
एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

मेरे पिता की पटरानी तथा देवता के समान देख पड़ती हैं, सो
यही उन पुरुषसिंह एवं विक्रमयुक्त सिंह की तरह चलने वाले ॥२१॥

कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा ।
अस्या वामभुजं श्लिष्टा यैषा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र को प्रसव करने वाली कौशल्या हैं। जैसे अदिति
ने प्रजापति को उत्पन्न किया था वैसे ही इन्होंने नरश्रेष्ठ श्रीराम
को उत्पन्न किया है और इनकी बाईं भुजा से लपटी हुई (अर्थात्
सहारा लिये हुए) जो उदास खड़ी हैं ॥ २२ ॥

कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ।
एतस्यास्तु सुता देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ॥ २३ ॥
उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ।
यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ॥ २४ ॥

और जो कनेर वृक्ष की पुष्पहीन शाखा की तरह देख पड़ती हैं, देवताओं के समान दोनों वीर एवं सत्यपराक्रमी राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी (सुमित्रा) हैं। हे मुनि ! जिसकी करतूत से उन दोनों पुरुषसिंहों का जीवन सङ्कट में पड़ा हुआ है ॥ २३ ॥ २४ ॥

राजापुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ।
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां [1]सुभगमानिनीम् ॥ २५ ॥

तथा महाराज दशरथ पुत्रवियोग जनित शोक के कारण स्वर्गवासी हुए हैं । वह यही क्रोधयुक्त स्वभाव वाली, बुद्धिहीन, गर्वीली, अपने को सुभगा मानने वाली ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्[2] ।
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य प्राप्ति की चाह रखने वाली और असती हो कर भी अपने को सती समझने वाली इस निष्ठुरा और पापिन कैकेयी को आप मेरी माता समझिये ॥ २६ ॥

---

१ सुभगमानिनीम्—सुभगांसुन्दरोमात्मानंमन्यत इति । २ आर्यरूपिणीं—सतीमिव प्रतिभासमानां । (रा०)

यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ।
इत्युक्त्वा नरशार्दूलो वाष्पगद्गदया गिरा ॥ २७ ॥
स निश्श्वास ताम्राक्षो नागः क्रुद्ध इव श्वसन् ।
भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा ॥ २८ ॥
अत्युवाच [1]महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवत् ॥
न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ॥ २९ ॥

इसीके कारण मुझको इस महादुःख में पड़ना पड़ा है। यह कह पुरुषसिंह भरत जी गद्गद वाणी हो और लाल नेत्र कर, क्रुद्ध हुए नाग की तरह ज़ोर से सांसे लेने लगे। तब महर्षि और भावी को जानने वाले भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख भरत जी से यह अर्थयुक्त वचन बोले—हे भरत ! तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्क[2] भविष्यति ।
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥३०॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चल कर सुखकारी होगा। देखो, देव, दानव और बड़े बड़े महर्षियों की ॥ ३० ॥

हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ।
अभिवाद्य तु संसिद्धः[3] कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र के वनगमन से भलाई ही होगी। यह सुन, भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर, उनकी परिक्रमा की ॥ ३१ ॥

---

१ महाबुद्धिः—भाविज्ञः । (गो०) २ सुखोदर्कं—सुखोत्तरं । (गो०)
३ संसिद्धः—लब्धाशीर्वादः । (गो०)

आमन्त्र्य[1] भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत् ।
ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान् ॥ ३२ ॥
अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून्बहुविधो जनः ।
[2]गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः[3] पताकिनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर भरत जी ने महर्षि से विदा माँग प्रस्थान के लिये तैयारी करने की सेना को आज्ञा दी। भरत जी आज्ञा पा कर सब सैनिक घोड़ों पर तथा सुनहले रथों पर सवार हो, यात्रा करने लगे। सोने की जंज़ीरों से कसी हुई अंबारियों से तथा पताकाओं युक्त हथिनियों और हाथियों पर, वे लोग सवार हो कर जा रहे थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः[4] सम्प्रतस्थिरे ।
विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ॥ ३४ ॥
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरेव पदातयः ।
अथ [5]यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वर्षा के अन्त में बादलों की गड़गड़ाहट होती है, उसी प्रकार हाथी हथिनियों के चलते समय, उनकी पीठ पर लटकते हुए घंटों का शब्द होता हुआ चला जाता था। इनके अतिरिक्त बड़ी छोटी तथा बहुमूल्य की और भी बहुत सी अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं, जिन पर सवार हो लोग चले जाते थे। पैदल चलने वाले बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिने हुए पैदल ही चले जा रहे थे। कौसल्या आदि सब स्त्रियाँ यानप्रवेकों पर सवार हो कर चल रही थीं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

---

१ आमन्त्र्य—आप्रच्छ्य । (गो०) २ गजकन्याः—करेणवः । (गो०) ३ हेमकक्ष्याः—हेममयबन्धनरज्जवः । (गो०) ४ सघोषाः—घण्टाघोष युक्ताः । (गो०) ५ यानप्रवेकैः—यानोत्तमैः । (गो०)

जो पैदल चला करते थे, वे पैदल ही रवाना हो गये थे। तदनन्तर कौशल्यादि रानियां उत्तम उत्तम सवारियों में बैठ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ।
चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिविकां शुभाम् ॥३६॥
आस्थाय प्रययौ श्रीमान्भरतः सपरिच्छदः ।
सा प्रयाता महासेना गजवाजिरथाकुला ।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देखने की इच्छा से प्रसन्न होती हुई चली जाती थीं। सूर्य अथवा चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त पालकी में बैठ सपरिवार भरत जी चले जाते थे। हाथी घोड़ों से युक्त वह महासेना वहां से दक्षिण दिशा को मेघ की घटा की तरह ढकती हुई, आगे चली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥ ३८ ॥

उस समय वह सेना हिरनों और पक्षियों से भरे हुए वनों को तथा भागीरथी गङ्गा के पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और नदियों को झकाती हुई, चली जाती थी ॥ ३८ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियोधा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसङ्घान् ।
महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ३९ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

उस सेना के हाथी और घोड़े बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे, किन्तु वनवासी मृग पक्षी इस सेना को देख कर, भयभीत हो गये थे। उस समय भरत जी को वह सेना वन में प्रवेश कर, बड़ी शोभित हुई ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का बानवेवां सर्ग समाप्त हुआ।

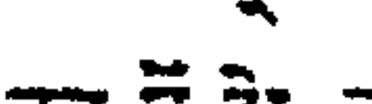

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

जब उस महासेना ने वन में हो कर, प्रस्थान किया ; तब वनवासी मतवाले यूथपति हाथी पीड़ित हो, अपने अपने यूथों (झुंडों) को साथ ले, चारों ओर भागने लगे ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च रुरवश्च समन्ततः।
दृश्यन्ते वनराजीषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

नदियों के तटों पर, पर्वतों के शिखरों पर तथा वनों में, रीछ, चित्तल, आदि वनवासी जन्तु विकल हो कर, इधर उधर भागते हुए देख पड़े ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा गर्जन्निव दशरथात्मजः।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन महात्मा भरत जी गर्जन करते हुए विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ प्रसन्न मन हो चलने लगे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।
महीं संच्छादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार वर्षाऋतु में मेघमण्डल आकाश को ढक लेता है, उसी प्रकार महात्मा भरत जी की सागरोपम सेना, लहरों की तरह उमड़ती हुई पृथिवी को आच्छादन करती हुई चली जाती थी ॥ ४ ॥

तुरङ्गौघैरवतता वारणैश्च महाजवैः ।
अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन्काले बभूव भूः ॥ ५ ॥

वहाँ की भूमि उन घोड़ों और बड़े बड़े हाथियों से ऐसी ढक गयी थी कि, बहुत देर तक दिखलाई नहीं पड़ती थी ॥ ५ ॥

स यात्वा दूरमध्वानं सुपरिश्रान्तवाहनः ।
उवाच भरतः श्रीमन्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

भरत जी जब बहुत दूर निकल गये, तब वाहनों को थके हुए देख, वे मंत्रिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया ।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

इस स्थान का जैसा रूप देख पड़ता है और जैसा कि, इसके विषय में, मैंने सुन रखा है, इससे तो यही जान पड़ता है कि, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गये, जो भरद्वाज जी ने बतलाया था ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चित्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी ।
एतत्प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

देखिये वह तो चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है और यही वन है जो दूर से नील मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति ।
वारणैरवमृद्यन्ते[1] मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

यही चित्रकूट पर्वत के रमणीय शिखर हैं, जो मेरे पर्वत सदृश ऊँचे हाथियों द्वारा मर्दित हो रहे हैं। (अर्थात् साथ के हाथी उस रमणीयता को नष्ट कर रहे हैं) ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु ।
नीला इवातपापाये[2] तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

यह देखिये, जिस प्रकार वर्षाकाल में सजल श्यामज मेघ-मण्डल जल बरसाता है, वैसे ही चित्रकूट के वृक्ष, हाथियों की सूंड़ों के आघात से हिल कर, पर्वत के शिखरों पर फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ १० ॥

[3]किन्नराचरितं देशं* पश्य शत्रुघ्न पर्वतम् ।
मृगैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुघ्न ! किन्नरों से सेवित स्थान की तरह इस चित्रकूट पर्वत को देखो। जिस प्रकार समुद्र में मगर घूमा करते हैं, वैसे ही इस पर्वत पर जिधर देखो उधर मृग समूह शोभायमान् हो रहा है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः ।
वायुप्रविद्धा शरदि मेघराजिरिवाम्बरे ॥ १२ ॥

---

१ अवमृद्यन्ते—भज्यन्ते । (गो०) २ आतपापाये—वर्षाकाले । (गो०) ३ किन्नराचरितंदेशं—किन्नराचरितदेशरूपं पर्वतं । (गो०) * पाठान्तरे—"किन्नराचरितोद्देशं" ।

शरत्काल में जिस प्रकार वायु के वेग से प्रेरित मेघसमूह आकाश में सुशोभित होता है, उसी प्रकार हमारी सेना से प्रेरित हो, ये मृगसमूह शोभायमान हो रहा है ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति [1]कुसुमापीडाञ्शिरःसु सुरभीनमी[2] ।
मेघप्रकाशैः [3]फलकैर्दाक्षिणात्या यथा नराः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दक्षिणी लोग अपने मस्तकों को फूल की मालाओं से सजाया करते हैं—उसी प्रकार हमारे सैनिकों ने कुसुम के गुच्छों से अपने मस्तक सजा लिये हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरमदर्शनम् ।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो यह भयानक वन पहले कैसा सांय सांय करता था, किन्तु इस समय मेरी सेना की भीड़भाड़ से यह अयोध्या जैसा देख पड़ता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

घोड़ों के सुमों और बैलों के खुरों से उड़ाई हुई धूल आकाश में छा जाती है । किन्तु पवन उसे शीघ्र ही हटा देता है, मानों मेरी आँखों के सामने की रुकावट दूर कर, (श्रीरामचन्द्र की पर्णशाला दिखा कर) मुझे प्रसन्न करना चाहता है ॥ १५ ॥

---

१ कुसुमपीडान्—कुसुमशेखरान् कुर्वन्ति । (गो०) २ अभी—भटाः । (गो०) ३ मेघप्रकाशैः—फलकैः केशबन्धविशेषैः । (गो०)

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्भूतमुख्यैरधिष्ठितान् ।
एतान्सम्पततः[1] शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, ये घोड़े सारथी सहित रथों को लिये हुए इस वन में कैसी तेज़ी से दौड़े चले जा रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान्वित्रासितान्पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान् ।
एतमाविशतः शीघ्रमधिवासं पतत्रिणः[2] ॥ १७ ॥

यह देखो, सुन्दर और बड़े पर वाले मोर डर के मारे दौड़ कर इस पर्वत पर अपने निज स्थानों में कैसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मा ।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथो[3] यथा ॥१८॥

हे अनघ ! तपस्वियों के रहने का यह स्वर्ग जैसा स्थान, मुझे बड़ा मनोहर जान पड़ता है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता[4] वने ।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

बहुत से चित्तीदार नरहिरन अपनी मादाओं के साथ घूमते हुए कैसे सुन्दर मालूम पड़ते हैं, मानों फूलों से इनकी चित्र विचित्र रचना की गयी है ॥ १९ ॥

---

१ सम्पततः—सम्यगाच्छन्तः । (गो०) २ पतत्रिणः प्रशस्तपक्षानितिबर्हिविशेषणं । (गो०) ३ स्वर्गपथोयथा—स्वर्गप्रदेश इव । (गो०) ४ पृषताः—बिन्दुमृगाः । (गो०)

[1]साधुसैन्याः प्रतिष्ठन्तां[2] विचिन्वन्तु च कानने ।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

योग्य सैनिक वन में जा कर पता लगावें जिससे वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम लक्ष्मण जिस जगह रहते हों वह स्थान मिल जाय ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं[3] ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरत जी का ऐसा वचन सुन, अपने अपने शस्त्रों को हाथ में लिए हुए वीरों ने वन में प्रवेश किया और कुछ ही दूर जा कर एक स्थान पर उन्होंने धुआँ निकलता हुआ देखा ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः ।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धुएँ को देख उन लोगों ने लौट कर भरत जी से कहा, इस स्थान में मनुष्य को छोड़ अग्नि कौन जला सकता है । अतः जान पड़ता है, वे दोनों भाई यहाँ रहते हैं ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परन्तपौ ।
अन्ये* रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

यदि शत्रुदमनकारी पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र तथा बलवान् लक्ष्मण न भी हों, तो श्रीराम के समान कोई अन्य तपस्वी यहाँ रहते हैं (अर्थात् यदि श्रीराम न भी हों तो वहाँ चलने से श्रीराम के रहने के स्थान का पता तो अवश्य ही चल जायगा) ॥ २३ ॥

---

१ साधुसैन्याः—उचिताः सैनिकाः । (गो०) २ प्रतिष्ठन्तां—गच्छन्त्वित्यर्थः ॥
,, ०) ३ धूमाग्रं— धूमशिखां । (गो०) * पाठान्तरे—" मन्ये "

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

शत्रुओं के बल को मथन करने वाले भरत जी, उन सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुन, उन सब से कहने लगे ॥ २४ ॥

यत्ता[1] भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च ॥ २५ ॥

अच्छा अब आप लोग चुपचाप यहीं ठहरे रहिये। यहां से आगे न जाइये। सुमंत्र और गुरु वशिष्ठ जी को साथ ले, मैं ही आगे जाऊँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे तत्र तस्थुः समन्ततः ।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधे* ॥ २६ ॥

जब भरत जी ने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे सब उसी स्थान पर इधर उधर ठहर गये। भरत जी ने उस ओर देखा जिस ओर धुआँ उठता दिखलाई पड़ता था ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः
निरीक्षमाणाऽपि च धूममग्रतः ।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती ।
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत जी के कहने से वे सब सैनिक वहीं टिक रहे और उस धुएँ को उठते देख, वे जान गये कि, अब परम प्रीति

---

१ यत्ताः—निःशब्दाः। (गो०) * पाठान्तरे—"समादधौ"; "समादधात्"।

भाजन श्रीरामचन्द्र जी के साथ समागम होने में बहुत विलम्ब नहीं है। यह विचार कर, वे हर्षित हो गये ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—※—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:o:—

दीर्घकालोषितस्तस्मिन्गिरौ गिरिवनप्रियः।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन्स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥१॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।
भार्याममरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः ॥ २ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी को उस पर्वत पर रहते बहुत दिन हो चुके थे। वे सीता का तथा अपना मन बहलाने के लिये, सीता को चित्रकूट की शोभा दिखला रहे थे। उस समय उन दोनों की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र और इन्द्राणी की होती है ॥ १ ॥ २ ॥

न राज्यादभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बोले—हे भद्रे! इस रमणीय पर्वत की शोभा देखने से, राज्यनाश एवं सुहृद्वियोग जन्य दुःख मुझे अब नहीं सताता ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥

हे भद्रे ! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण, और गगनस्पर्शी एवं तरह तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत की शोभा को देखो ॥ ४ ॥

केचिद्रजतसङ्काशाः [1]केचित्क्षतजसन्निभाः ।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के कोई कोई शृङ्ग तो चांदी जैसे सफेद और चमकीले हैं और कोई कोई रक्त की तरह लाल वर्ण हैं, कोई कोई पीले और मजीठ के रंग जैसे देख पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों की प्रभा जैसे प्रभायुक्त देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पार्क[2]केतकाभाश्च[3] केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

इस पर्वत के धातुओं से विभूषित शृङ्ग पुष्पराग, स्फटिक, केतकी और पारे के समान रंगवाले और नक्षत्रों की तरह चमकीले देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

नानामृगगण[4]द्वीपितरक्षु[5]क्षगणैर्वृतः ।
[6]अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमायुतः ॥ ७ ॥

यद्यपि यह पर्वत अनेक प्रकार के छोटे बड़े व्याघ्रों और रीछों से परिपूर्ण है, तथापि तपस्वियों के तपःप्रभाव से इन भयङ्कर जन्तुओं ने अपना दुष्ट हिंसालु-स्वभाव त्याग दिया है। इस पर्वत पर तरह तरह के पक्षी अपने अपने घोंसले बना कर निवास कर रहे हैं ॥ ७ ॥

---

१ क्षतज—रुधिर । (गो०) २ अर्कः—स्फटिकः । (गो०) ३ केतकाभाः—ईषत्पाण्डुराः । (गो०) ४ द्वीपी—महाव्याघ्रः । (गो०) ५ तरक्षुः—क्षुद्रव्याघ्रः । ६ अदुष्टैः—हिंसादिदोषरहितैः । (गो०)

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्विल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरुणैर्मधूकैस्तिलकैस्तथा ।
वदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः ।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

आम, जामुन, असना, लोध, चिरौंजी, कटहर, ढाक, अंकोल, भव्य, तिमिश, विल्व, तिन्दुक (तेंदुआ) बाँस, काश्मीरी नीम, सखुआ, महुआ, तिलक, बैर, आँवला, कदम्ब, बेत, बिजौरा, नीबू आदि ले कर और अनेक प्रकार के फूल फलों वाले और छायायुक्त मनोहर वृक्षों के समूहों से भरा पूरा यह पर्वत शोभायमान् है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान्रोमहर्षणान् ।
किन्नरान्द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान्मनस्विनः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! इस पर्वत के रमणीय शिखरों पर शरीर पुलकित करने वाले स्थानों को देखो । यहाँ मनस्वी किन्नर लोग अपनी अपनी किन्नरियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शोणावसक्तान्खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च ।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान्मनोरमान् ॥ १२ ॥

देखो उन्हींकी ये तलवारें और सुन्दर रंग बिरंगे पहिनने के कपड़े वृक्षों की डालियों में लटक रहे हैं । इन विद्याधरों की स्त्रियों के मनोहर क्रीड़ास्थलों को देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्यन्दैश्च क्वचित्क्वचित् ।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

स्थान स्थान पर जल के झरने और ज़मीन से निकले हुए जल के सोते बह रहे हैं। इनसे यह पर्वत मद चुआने वाले गजेन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान्वहन् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

पर्वत की कन्दराओं से निकलता हुआ नाना पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पवन जो नासिका को तृप्त कर रहा है, वह किस के मन को हर्षित नहीं करेगा ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधक्ष्यति ॥१५॥

हे अनिन्दिते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मण के साथ बहुत वर्षों तक भी मुझे यहाँ रहना पड़े तो भी मुझे ज़रा सा भी शोक सन्ताप नहीं सतावेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन्रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

हे भद्रे ! अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों से सम्पन्न, अनेक जाति के पक्षियों से परिपूर्ण और विचित्र शिखरों से युक्त यह रमणीय चित्रकूट मुझे बड़ा पसन्द है (अर्थात् चित्रकूट में रहने से कभी मेरा जी नहीं ऊबेगा) ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् ।
पितुश्चानृणता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

इस वनवास से मुझे दो फल मिले। एक तो धर्म सम्बन्धी फल पिता के ऋण से उऋण होना और दूसरा फल भरत जी को प्रसन्न करना ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह।
पश्यन्ती विविधान्भावान्मनोवाक्कायसंयतान् ॥ १८ ॥

हे वैदेही! मेरे साथ इस चित्रकूट पर्वत पर मन, वचन और देह को वश में कर लेने वाले इन विविध साधनों को देख, तेरा मन प्रसन्न होता है कि, नहीं? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं[1] प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे।
वनवासं भवार्थाय[2] प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

हे राज्ञि! इस प्रकार नियमपूर्वक वनवास राजाओं के लिये मोक्ष का साधन कहा जाता है। यही नहीं वल्कि हमारे मन्वादि पूर्वपुरुषों ने देवादि की देह प्राप्ति के लिये भी, वनवास ही को उत्कृष्ट साधन माना है॥ १९ ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥ २० ॥

देखो, इस पर्वत की सैकड़ों विशाल शिलाएँ जो नीली, पीली, सफेद आदि विविध रंगों की हैं; चारों ओर कैसी शोभा दे रही हैं ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥ २१ ॥

---

१ अमृतप्राहुः—मोक्षसाधनं प्राहुः। (रा०) २ प्रेत्यभवार्थाय—देवादि-देहान्तरपरिग्रहरूपप्रयोजनाय च प्राहुः। (गो०)

रात के समय इस पर्वत पर उत्पन्न हज़ारों जड़ी बूटियाँ, अपनी प्रभा से दीप्त हो, अग्निशिखर की तरह प्रकाश कर शोभायमान होती हैं ॥ २१ ॥

केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसन्निभाः ।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

हे भामिनी ! देखो इस पर्वत पर कोई स्थान तो घर जैसा, कोई फुलवाड़ी जैसा और कोई स्थान एक ही शिला का दिखलाई पड़ता है । ये सभी इस पर्वत की शोभा बढ़ाने वाले हैं ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।
चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथिवी को फोड़ कर निकला हो । इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा सुहावना देख पड़ता है ॥ २३ ॥

कुष्ठपुन्नागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।
कामिनां [1]स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥२४॥

हे भद्रे ! कामी लोगों के इन बिछौनों को तो देखो । इनके नीचे तो कमलों के पत्ते बिछे हैं और पत्तों के ऊपर कूट, पुत्रजीवक और भोजपत्र की छालें बिछी हुई हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः ।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

---

१ स्वास्तरान्—शयानानीत्यर्थः । (गो०)

यह देखो कामी जनों की पहनी हुई कुम्हलाई और त्यागी हुई कमल के फूलों की मालाएँ इधर उधर पड़ी हैं और उन लोगों के खाये हुए अनेक प्रकार के फल पड़े हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीम[1]त्येतीवोत्तरान्कुरून् ।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

विविध प्रकार के मूल, फल और स्वच्छ जल सम्पन्न चित्रकूट पर्वत ने, कुवेर की अलकापुरी. इन्द्र की अमरावती और उत्तर कुरुदेश को रमणीयता में मात कर दिया है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजह्विवां-[2]
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन च ।
[3]रतिं प्रपत्स्ये [4]कुलधर्मवर्धनीं'
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

इति चतुर्नवतितमः सर्गः ॥

हे सीते ! यदि मैं सज्जनों के मार्ग पर स्थित हो अपने श्रेष्ठ नियमों का पालन करता हुआ तुम्हारे और लक्ष्मण जी के साथ, चौदह वर्ष तक यहाँ रह पाया तो पीछे प्रजापालन रूपी धर्म को बढ़ाने वाला राज्यसुख मुझे अवश्य प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:※:—

१ अत्येत्योव—रमणीयतयाअतिक्रामतीव । (गो०) २ विजह्विवान्—विहृतवान् । (गो०) ३ रतिं—राज्यसुखं । ४ कुलधर्मः—प्रजापालनं । (गो०)